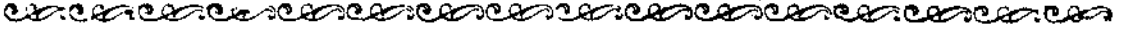


श्रीमुक्तिकमलजैनमोहनमाला पुष्प-८६



॥ नमोऽर्हत्परमेष्ठराय ॥

दर्भावती [डभोई] मण्डन अर्धपद्मासनस्थश्रीमल्लोढणपार्श्वनाथाय नमोन्मः ।

पूज्यपादशासनप्रभावकजैनाचार्यश्रीमद् विजयमोहन-प्रताप-धर्मसूरीश्वरेभ्यो नमः ।

चारहवीं शताब्दिमें विद्यमान—

सिद्धान्तमहोदधि पूज्यपाद श्रीमद्-चन्द्रसूरीश्वर विरचित-

संग्रहणीरत्न-प्रकरण

प्रचलित नाम—

बृहत्संग्रहणी सूत्र-

हिन्दी भाषांतर सहित ।

卐



गुजराती भाषान्तर लेखन वर्ष-१९८७

: हिन्दी भाषांतर वर्ष, २०४१-४२ :

प्रेरक, पू. आचार्य श्री यशोदेवसूरिजी

*



अनुवादक मुनिश्रीके विषयमें प्रकाशककी ज्ञातव्य—

—पूर्वभूमिका—

जैन समाजमें संग्रहणी नामक अति विख्यात ग्रन्थकी रचना बारहवीं सदीके महान् आचार्य भगवंत श्रीमद् चन्द्रसूरिजीने, जो साधु-साध्वियाँ और गृहस्थ, आगमशास्त्रोंका अध्ययन न कर सकें अथवा तीव्र बुद्धि न हों, और संक्षेपमें जैन तत्त्वज्ञान और विराट् विश्वका ज्ञान प्राप्त करना हो तो एक ही ग्रन्थसे कर सकें, अनेकानेक विषयोंकी जानकारी प्राप्त हो, इसी कारण उपकारक बुद्धिसे आगममेंसे उपयोगी विषयोंको चुन-चुनकर, प्राकृतभाषाकी गाथाओं द्वारा संकलन करके इस ग्रन्थकी रचना की है। यह ग्रन्थ जैनसंघमें इतना प्रिय हो गया था कि उसका अध्ययन सैकड़ों वर्षोंसे हजारों व्यक्ति करते आएँ, इसी कारण सैकड़ों प्रतियाँ आज जैन ज्ञानभंडारोंमें मिलती हैं। और उसकी सचित्र प्रतियाँ चौदहवीं सदीसे लेकर २० वीं सदी तकमें सैकड़ोंकी संख्यामें उपलब्ध हैं।

विशिष्ट प्रकारकी चित्रकला द्वारा निर्मित चित्रोंवाला मूर्धन्य ग्रन्थ जैन समाजमें प्रथम कल्पसूत्र है, जिसकी सुवर्णाक्षरी, रौप्याक्षरी बहुमूल्य कृतियाँ मिलती हैं और जैन भंडारोंमें सैकड़ोंकी संख्यामें प्राप्त हैं। ऐसी ही सचित्र प्रतियाँ जैन भंडारमें जो दूसरी गिनी जाती हो तो वह संग्रहणी की है।

इस संग्रहणीकी मात्र संक्षिप्त शब्दार्थकी प्रतियाँ (टवा) थोड़ी कुछ उपलब्ध हैं, लेकिन विस्तृत भाषांतरवाली एक भी प्रति मुझे नहीं मिली और इस युगमें विस्तृत भाषांतरवाली तो एक भी मुद्रित पुस्तक न थी। मुनिजीको बड़ा आश्चर्यजनक दुःख हुआ और स्वपर ज्ञानके लिए एक महान् ग्रन्थके अनुवादका भगीरथ कार्य करनेका निर्णय किया, गुरु आदेश लेकर अनुवाद किया। यह अनुवाद कब किया? उस समय कितनी उम्र थी? छपा कब? यह सब घटना रोमहर्षक, और प्रेरक है। इसलिए कई लोगके आग्रहसे यह घटना यहाँ प्रस्तुत करते हैं, जिससे मुनिजीके एक अकल्पनीय साहसकी अनुमोदना होगी। विद्यार्थियोंका ऐसा काम करनेके लिए उत्साह बढ़ेगा।

संग्रहणी ग्रन्थका गुजराती भाषांतर मुनिजीने दीक्षाके पहले ही वर्षमें अर्थात् संवत् १९८७ में, जब उम्र सिर्फ १५ वर्षकी थी तब महुवा (सौराष्ट्र)में शुरु किया, दो वर्ष बंद रहा, फिर शुरु किया और सं. १९९१ के अंतमें पूर्ण किया। पूरा भाषांतर करनेमें करीब दो वर्ष लगे। १९ वर्षकी उम्रमें समाप्त किया। लेखकके विद्वान् गुरुदेव, तत्त्वज्ञ पूज्य मुनि श्री धर्मविजयजी महाराजने संशोधन कर दिया और पूज्य प्रवर उपाध्यायजी श्री प्रतापविजयजी महाराजने भी सिंहावलोकन कर लिया। अन्तमें तीनों गुरुदेवने

अनुमोदन-अनुमतिरूप आशीर्वाद देकर, बड़ी भारी प्रसन्नता व्यक्त की। बादमें सं. १९९३में भावनगरके नये सुप्रसिद्ध 'महोदय' प्रेसमें छापनेके लिए धर्मात्मा श्री गुलाबचन्दभाईको प्रेसकोपी दी। मुद्रणका कार्य तीव्र गतिसे चला और क्लिष्ट मुद्रण होते हुए भी प्रेसने बड़ी लगनेसे यह दलदार ग्रन्थ संवत् १९९५ में पूरा छाप दिया और फिर तीर्थक्षेत्र पालीताणा चंपानिवास धर्मशालास्थित पूज्य गुरुदेवके नेतृत्वमें सानन्द प्रकाशित हुआ।

जब ग्रन्थ प्रकाशित हुआ तब अनुवादक मुनिजीकी उम्र सिर्फ २२ वर्षकी छोटी थी। यह धीचन्द्रीयासंग्रहणीकी क्षेपक गाथाओं सह ३४९ मूलगाथाएँ, चौदह वर्षकी उम्रमें, अपने गुरुदेवके पास गृहस्थावस्थामें, सोलह दिनमें कण्ठस्थ की थी।

* * * * *

इस भाषांतरमें भूगोल, खगोल और चौहदराजके स्थानचर्ची, एक कलरसे लेकर चार कलरके ६४ चित्र थे। ये चित्र भी ज्यादातर मुनिजीने खुद अपने हाथसे किये हुए हैं। इतनी छोटी उम्रमें भूगोल, खगोल आदि विषयक चित्रकी कल्पना साकार करना, हाथसे बनाना कितना मुश्किल कार्य था, फिर भी पूर्ण किया ॥

१२ वर्षकी उम्रसे ही विना सीखे गतजन्मका कलाका थोडा संस्कार स्वाभाविक था और अपने कलारसिक विद्वान् गुरुदेव आदिका पूरा साथ सहकार था, इसी कारण अपनी सूझ-बूझके मुताबिक चित्र भी बनाये, जैन समाजके इतिहासमें पहली बार ऐसे चित्र बने। १५ से १९ वर्ष तककी छोटी उम्रमें ३४९ गाथाओंके महान, सुप्रसिद्ध ग्रन्थका भाषांतर, अभूतपूर्व ७० चित्र, अनेक यन्त्र और पंचपाठी मुद्रण तथा तत्त्वज्ञानके गणितानु-योगप्रधान विषयका अपरिपक्व उम्रमें, बहुत कम समयमें भाषांतर करना, यह क्या कोई साधारण बात थी? लेकिन गतजन्मकी ज्ञानसाधना, शासनदेव और गुरुरूपासे प्राप्त विचक्षण बुद्धिवैभवसे अतिपरिश्रमसाध्य, भव्य कार्य पूर्ण हुआ। अन्यथा अति दुर्बल शरीरवाले मुनिजी कैसे कर पाते? मुनिजीको भाषांतर करनेके लिए १५० से ज्यादा अजैन-जैन ग्रन्थोंका अवलोकन करना पड़ा था।

ग्रन्थका सुन्दर और आकर्षक मुद्रण, श्रेष्ठ कागज और सरल और संस्कारी गुजरातीभाषा, विविध पदार्थों-विषयोंका विस्तृत विवेचन तथा हजारों वर्षमें पहली ही बार बने हुए रंग-बिरंगी चित्र आदि देखकर जैन समाजके आचार्य, विद्वान् मुनिवर पू. साधु-साध्वियाँ और विद्वान् गृहस्थ इतनी छोटी उम्रवाले मुनिजीका आश्चर्यकारी साहस देखकर भारी मुग्ध हुए थे और मुनिजी पर अभिनंदनकी वर्षा हुई थी। भावनगरके सुप्रसिद्ध विद्वान् कुंवरजीभाई जो वर्षोंसे साधु-साध्वियोंको पढ़ाते थे उन्होंने लिखा था कि

४० वर्षसे जिन शंकाओंका समाधान नहीं हुआ था, वह मुनिजीके भाषांतरसे हुआ। यह लिखकर अति धन्यवाद लिखा था। ८-१० दैनिक-साप्ताहिक पत्रोंने भी ग्रन्थका विस्तृत अभिप्राय छापकर बहुत भारी प्रशंसा की थी। ये अभिप्राय इसी पुस्तकमें अन्तमें देंगे।

उसी गुजराती भाषांतर परसे यह हिन्दी भाषांतर किया है जो यहाँ छप रहा है ॥

—प्रकाशक

*

*

*

सूचना—यहसि सही ग्रन्थकी शुरुआत होती है। आगे आनेवाली प्रथम गाथाके अनुसन्धानमें यहां लम्बे अवतरणके बाद नमिऊं यह प्रथम गाथाका प्रारम्भ होगा।

१. ग्रन्थभूमिका—

वीर संवतकी ११ वीं और विक्रम संवतकी छठी शताब्दिमें विद्यमान, पूज्य प्रवर भाष्यकार भगवान् श्रीमान् जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणजी महाराजने श्रीपद्मवर्णासूत्र तथा श्रीजीवाभिगमसूत्र आदि आगमग्रन्थोंमेंसे सार और उपयोगी विषयका संग्रह करके, भव्य जीवोंके कल्याणके लिए संग्रहणी अथवा प्रसिद्ध नाम 'श्री बृहत् संग्रहणी' नामका एक अति उपयोगी द्रव्यानुरयोग-गणितानुरयोगप्रधान महान् ग्रन्थकी जो रचना की है,

१. यह मूलगाथाप्रमाण क्षेपक गाथाओंके कारण बढ़कर ३४९ गाथाका हो गया है।

२. यद्यपि वर्तमानमें जंबूद्वीप संग्रहणीको लघुसंग्रहणी मानी जाती है। परंतु वास्तविक रूपमें उस संग्रहणीमें जंबूद्वीपका ही वर्णन आनेके कारण 'जंबूद्वीप संग्रहणी' नाम उस ग्रन्थके लिए उचित है। जब कि 'दंडक प्रकरण'को लघु संग्रहणी कहनेमें कुछ भी बाधा नहीं दिखती, क्योंकि बृहत्संग्रहणीमें जो विषय विरोधरूपसे वर्णित किया है उसी विषयको संक्षिप्तमें सरलताके लिए चौबीस दंडकका अपेक्षा रखकर इस ग्रन्थमें वर्णन किया गया है। और श्री दंडक प्रकरणके वृत्तिकार महर्षि श्री रूपचन्द्रमुनिके प्रारंभके—

प्रणम्य परया भक्त्या, जिनेन्द्रचरणाम्बुजं ।

लघुसंग्रहणीटीकां, करिष्येऽहं मुदा वराम् ॥१॥

और बृहत्संग्रहणीकी 'चन्द्रीय' टीकामें 'गाथाद्वयप्रमाणा संक्षिप्ततरा संग्रहणीः' इस उल्लेखसे भी दंडकको संग्रहणी कह सकते हैं। इसश्लोकसे 'दंडकका असल नाम 'लघुसंग्रहणी' था वह स्पष्ट हो जाता है। कतिपय आचार्य इस दंडक प्रकरणको 'श्री विचारपट्टविशिका'के नामसे भी संबोधित करते हैं।

२-मङ्गल शब्दस्य कोऽर्थः-पूर्णांतां मङ्गति गच्छति-वा (मङ्गेरलचू-सूत्रात् पा० उ० पञ्चमपाद, चरमसूत्र) मंगति दूरदृष्टमनेन-अस्माद् वेत्ति मंगलम् अथवा मां-धर्मं लतीति मङ्गलम् धर्मोपादानहेतुः, अथवा मां गालयति पापादिति मङ्गलं । जिससे पापका नाश हो उसका नाम मंगल ।

उस बृहत्संग्रहणी ग्रन्थका कद कुछ बड़ा अर्थात् ३५३ गाथाओंसे अधिक होनेके कारण, इस विषयकी और भी संक्षिप्त रचना हो तो बालजीवोंको विशेष लाभदायी हो' इस अभिप्रायसे जीवोंके आयुष्य, अवगाहना आदि विषयों पर २७३ गाथाओंसे, बारहवीं शताब्दिमें जन्मे हुए, मलधारगच्छोय आराध्यपाद श्रीमान् चंद्रसूरीश्वरजी महाराजने इस संग्रहणीरत्न अथवा अपर-प्रसिद्धनाम 'श्री बृहत्संग्रहणी' नामके ग्रन्थकी रचना की हो ऐसा स्पष्ट समझमें आता है। यद्यपि श्री दडकप्रकरण [लघु संग्रहणी] आदि ग्रन्थोंकी तरह, इस ग्रन्थमें चौबीस दडकोंके नाम लेनेपूर्वक परिभाषा नहीं की है, परंतु देवादिक चार गति आश्रितकर आयुष्य, शरीर परिमाण इत्यादि प्रथम गाथामें निर्दिष्ट किये द्वारोंका, बहुत सरल और सुन्दर, व्यवस्थित और आकर्षक पद्धतिसे वर्णन किया है।

२. शिष्टाचार पालन—

मंगल करनेका प्रयोजन आदि।

इस 'संग्रहणी' अपरनाम बृहत्संग्रहणी अथवा त्रैलोक्य दीपिका—नामक प्रकरण ग्रन्थके कर्ता बारहवीं शताब्दिमें हुए परमकारुणिक श्रीमान् मलधारगच्छोय श्रीमान् चन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने सकलशास्त्रके निस्यन्द वा नवनीतरूप इस ग्रन्थकी रचना करते प्रारंभमें ही 'नमिउं अरिहंत' इस पदसे अरिहंतको और 'आई' शब्दसे सिद्ध आचार्यादि परम पुरुषोंको नमस्कार किया है। नमस्कार करनेका प्रयोजन क्या? इस प्रश्नके समाधानमें यह समझनेका है कि आप्तपुरुष किसी भी ग्रन्थके प्रारंभमें भावमंगल अवश्य करते हैं, और वह भावमंगल मुख्यतः इष्टदेवको नमस्कार रूप होता है। यह भारतीय प्राचीन परंपरानुसार पूर्वसे चला आया जो शिष्टाचार है उसका पालन भी होता है।

सर्वज्ञ, श्रीतीर्थकर परमात्मा जैसे पुरुष भी अमृतझरनी, वैराग्यवाहिनी, भव्यात्माओंको संसार सागरसे उत्तीर्ण करनेवाली, सर्वविरति—प्रधान देशनारूप अमोघ मेघधारा बरसाते प्रारंभमें ही 'नमोतिथस्स'का पदोच्चारण करते हैं।

किसी भी प्रकारके दिनोंका जिसको संभव होता ही नहीं है, इतना ही नहीं लेकिन जो त्रिकालज्ञानी होनेके साथ वे सर्वदर्शी पुरुष शुभाशुभ सर्वभावोंको देखते रहते हैं, ऐसे तद्भव मोक्षगामी परमात्मा भी उक्त नमस्कार करनेरूप भावमंगल विधिका आचरण करते हैं, इसमें कारण कुछ भी हो—कोई हो तो वह शिष्टाचारके पालनके सिवा अन्य कुछ नहीं है। यह शिष्टाचार पालन अनादिसिद्ध है क्योंकि अतीत कालमें

हो गये अनंतज्ञानी और अनागतकालमें होनेवाले अनंत जिनेश्वरदेव, वे सब उक्त शिष्टाचारका पालन अवश्य करनेवाले हैं, तो फिर छद्मस्थ महर्षि आत्माएँ उसी जिनेश्वरके मुखारविंदसे प्रकट हुई सूत्रात्मक उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वरूप त्रिपदी और उस पर रचित सारी द्वादशांगिके आधार पर भव्यात्माओंके कल्याणके हेतु शास्त्ररचना करें, और ऐसे शुभ कार्यमें इष्टदेवादिको नमस्कार करनेरूप मंगल करें, इसमें सोचनेका अवकाश भी क्या है एवं हम देख सकेंगे कि प्रायः सकलसाधुशिरोमणि शिष्टपुरुषोंने सिद्धांतादि उन उन ग्रन्थोंके प्रारंभमें जगह-जगह पर मंगलाचरणरूप शिष्टाचारका जो पालन किया है वह इसीलिए है कि “शिष्टाचारका पालन यह शिष्टता प्राप्त करनेका हेतु है” ! कहा है कि ‘शिष्टानां शिष्टत्वमायाति शिष्टमार्गानुपालनात्’ और इसीलिए ही उनकी शिष्टता भी चमक उठती है ।

‘महाजनो येन गतः स पन्थाः’ इस कथनके अनुसार महापुरुष जिस मार्गपर चले वही मार्ग सही है यह समझकर उत्तमपुरुष शिष्टपुरुषोंके मार्गका आचरण अवश्यमेव करते हैं । इस नियमानुसार इस ग्रंथकर्ताने भी उसका अनुकरण किया है, क्योंकि पुण्यात्माएँ इष्टदेवादिको किये गये नमस्काररूप नौकासे संसारसागरको (साथ ही साथ किसी भी कार्यको) आसानीसे पार कर सकती हैं । अरे ! हम निरंतर आवश्यक क्रिया करते समय भक्तिभावपूर्वक उच्चार करते हैं कि—

इको वि नमुकारो, जिणवरवसहस्सवद्धमाणस्स ।

संसारसागराओ तारेई नरं वा नारिं वा ॥

भावार्थ—जिनेश्वरोंमें वृषभ समान ऐसे वर्धमानस्वामीको किया गया एक ही नमस्कार अगर नर या नारीको, संसार समुद्रसे पार करता है, तो फिर ग्रन्थकारने सकल अरिहंतादि देवोंको किया नमस्कार क्या फल न दें ?

इसीलिए ही नमस्कार करनेवाली आत्मा विघ्नोंकी परम्पराको पार करें यह तो सहज है, क्योंकि अरिहंतदेवको नमस्कार करनेरूप भावमंगल तो इष्टकार्यकी सिद्धि देनेवाला है, यह कथन सर्वमान्य और सुप्रसिद्ध है, और इसीलिए ही वह मंगल ग्रंथके आदिमें अवश्य किया जाता है । कहा है कि—

‘मङ्गलं चैव शास्त्रादौ, वाच्यमिष्टार्थसिद्धये ।’ इसका अर्थ सरल है ।

इसी बातकी पुष्टि करते हुए भगवान जिनभद्रगणीक्षमाश्रमणमहाराज भी लिखते हैं कि एकबार नहीं तीनबार मंगल करना जरूरी है ।

जे मंगलमादीए मज्जे पज्जंतए य सत्थस्स ।

पढमं सत्थत्था विग्घंपारगमणाय निदिट्ठ ।।

“ वह मंगल, सूत्रके आदिमें, मध्यमें और ग्रंथके अंतमें भी करना चाहिए । सूत्रार्थकी रचना निर्विघ्नतासे पूर्ण हो यह कारण प्रथम मंगलका है ”

३. नमस्कारका प्रयोजन

इस नमस्कार^३ करनेरूप शिष्टाचारके पालनके बिना किया गया कार्य इष्टसिद्धि नहीं दे सकता, अतः अरिहंतादि, पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करनेरूप मंगलाचरण सर्वत्र करनेका शास्त्रोंमें बारबार बताया है, इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि किसी भी ग्रंथके प्रारंभसे लेकर परिसमाप्ति पर्यन्त आते विघ्नोंको दूर करने अर्थात् ग्रंथकी निर्विघ्न समाप्ति रूप फलकी सिद्धिके लिए नमस्काररूप मंगल ऋषि-महर्षि-यावत् परमर्षि सभीको यथासंभव अवश्य करना पड़ता है, क्योंकि कल्याणकारी कार्योंमें विघ्न होते रहते हैं । कहा है कि ‘श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि’ ।

कल्याणकारी कार्योंमें महात्मा पुरुषोंको भी विघ्न आते हैं ।

साथ ही नमस्कारात्मक मंगल यह विघ्नोपशामक होनेके साथ शास्त्रोंमें श्रद्धा-आदर-कर्मनिर्जराकी उत्पत्ति और परंपरासे यावत् मोक्षप्राप्ति आदिमें कारणभूत है ।

इस तरह ग्रंथकी रचना करना यह भी एक उत्तमोत्तम कल्याणकारी मंगल कार्य होनेसे श्रीमान् ग्रन्थकार महर्षिने प्रारम्भमें ही ‘अरिहंताई’ इस पदसे अरिहंतादि पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करनेरूप मंगलका आचरण किया है, ऐसा इस ग्रंथकार महर्षि द्वारा किया गया भावनमस्काररूप ‘भावमंगल’ करनेका कारण बताया ।

शंका :—आपने ऊपरकी सारी बातें कहकर तात्पर्य यह दिखाया कि विघ्नोंकी शान्तिके लिए ग्रंथके प्रारम्भमें अवश्य मंगल करना चाहिए, इस विधानका तो हमने स्वीकार किया, परन्तु अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओंको उद्देश्य करना चाहिए उसका क्या कारण ? और उनको नमस्कार करनेसे कौनसे फलकी प्राप्ति होती है ?

४. नमस्कार मंत्र क्यों मंगलरूप है ?

समाधान :—अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु, ये पंचपरमेष्ठी-

३. कोई शंका करता है कि—आप मंगल करते हैं तो रचना किये हुए वे ग्रन्थ क्या अमंगलरूप है ? तो—नहीं । ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप है ।

उत्तम गिने जाते हैं। विश्वकी महापवित्र व्यक्तियाँ ये पाँच ही हैं। जिस तरह गुण गुणवान् बिना रह नहीं सकते, उसी तरह सारे जैन सिद्धांतका तत्त्व इन पाँचोंमें समाया हुआ है, इसीलिए यह महामंत्ररूप है। जैव इष्टसिद्धि हेतु जो चाहे वैसे मंत्र भले ही गिने—बोले परन्तु इस नवकार मंत्रसे अधिक कोई मंत्र नहीं है। यदि सापेक्ष भावसे कहें तो अन्य स्तोत्र, मन्त्र—तन्त्रादि तो इस मंत्रके प्रकाररूप हैं। इस नवकार मंत्रका माहात्म्य जैनशास्त्रमें कूटकूटकर भरा है। यह मन्त्र सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ होनेसे ही श्री भगवतीसूत्र जैसे महान ग्रंथके प्रारम्भमें उसका आदर किया गया है। साथ ही यह परमेष्विमंत्र चौदहपूर्वके साररूप है। इसीलिए मंगल है। जिसके लिए कहा है कि—

‘जिणसासणस्स सारो चउदसपुन्वस्स जो समुदारो ।

जस्स मणे नवकारो, संसारो तस्स किं कुणइ ? ॥’

अर्थ :—“चौदह पूर्वमेंसे उद्धृत [अथवा १४ पूर्वके उद्धार स्वरूप] जिनशासनका सार, ऐसा नवकार मंत्र जिसके हृदयमन्दिरमें गुंजन करता है, उसे संसार क्या कर सके ?” अर्थात् कुछ भी करने समर्थ नहीं है। फिर भी शिष्टाचार पालन आदि अनेक कारणोंसे मंगल करनेकी आवश्यकता है। इस सम्बन्धी विशेष वर्णनके लिए ‘विशेषावश्यकभाष्य’ महाग्रंथ देखें।

संसारसागरमें डूबती हुई आत्मा, इस नवकार मन्त्रकी ध्यानरूपी नौकासे उद्धार पाती है, इतना ही नहीं किन्तु चाहे कैसे भी दुःखी संयोगमेंसे बचनेके लिए इस नवकार मन्त्रका स्मरण कोई अद्भुत प्रकाश देनेवाला हो जाता है। चौदह पूर्वधर भी मरणान्तकालमें, चौदहपूर्वके नवनीत समान नवकार मन्त्रका ही ध्यान करते हैं। इस मन्त्रके प्रभावसे कितनी ही आत्माएँ संसारसागरको पार कर गईं और पार करेंगीं। कितनी ही आत्माएँ तो संसारके दुःखदायी पाशको इस मन्त्रके स्मरणद्वारा छेदनेके साथ आधि, व्याधि और उपाधिरूप संसारव्यथाको नष्ट करके सुखानन्दका अनुभव ले चुकी हैं। कितनी ही आत्माएँ इस मन्त्रके स्मरणरूप प्रबल साधनसे आत्मसिद्धियाँ भी पा रही हैं। यह मंत्र उभयलोकमें अर्थात् इस लोक और परलोकमें हितकारी है। कहा है कि—

‘हरइ दुहं कुणइ सुहं, जणइ जसं सोसए भवसमुहं ।

इहलोए परलोए, सुहाणमूलं नमुक्कारो ॥ १ ॥’

अर्थ :—दुःखको हरता है, सुख देता है, यश उत्पन्न करता है, भवस्सुदको शोषता है। ज्यादा क्या कहें ? इस लोक और परलोकमें सारे सुखोंका मूल नवकार मंत्र ही है।

५. नवकारमन्त्र माहात्म्य

यह पंचपरमेष्ठी नवकारका स्मरण गौणरूपसे बाह्य कार्यसिद्धि भी करता है। परन्तु मुख्यतया संसाररूपी व्याधिको मिटानेके लिए मुख्य औषधरूप है। जिस तरह किसान अनाजकी फसल तैयार करनेके लिए अनेक प्रकारके बीज बोकर, वृद्धि-विकासके लिए जल सींचता है, उससे उसे अन्नकी प्राप्ति तो होती है ही, लेकिन साथ साथ घास आदिकी प्राप्ति जिस तरह बिना प्रयत्न सहज ही होती है, उसे उत्पन्न करनेके लिए किसी अन्य प्रयत्न करनेकी जरूर नहीं होती। वैसे मोक्षसिद्धिके हेतु स्मरण किये जाते इस मन्त्रसे बाह्य उपद्रव सहज ही दूर हों उसमें सोचने-विचारनेकी कुछ जरूर नहीं। परन्तु शुद्धभावसे त्रिकरणयोगकी एकाग्रतासे आराधित यह महामंत्र मुक्ति सुखका तो अवश्य साधन बनता है। यह मन्त्र किसी भी कार्यके प्रारम्भमें भी गिना जाता है, यह मन्त्र सर्व कल्याणकारी होनेसे जरूरत पड़ने पर किसी भी काल या स्थान पर किसी भी स्थितिमें गिननेकी महापुरुषोंने आज्ञा दी है। जैसे कि—

भोयणसमये सयणे, विबोहणे पवेसणे भए वसणे ।

पंचनमुक्कारो खलु, समरिज्जा सव्वकालेऽपि ॥

अर्थः—भोजनके समय, शयनके समय, जागते, प्रवेश करते, भयके समय, निवास करते वक्त, ऐसे सर्व समय पर इस पंचनमस्काररूप मन्त्रकी अवश्य याद करना चाहिए। जिससे इष्टकी सिद्धि प्राप्त हो।

इस नवकार मन्त्रके महान प्रभावकी सूचित करते हुए एक महर्षि लिखते हैं कि—

अपुत्रोक्तपतरु, चिंतामणी कामकुम्भकामगवी ।

जो ज्ञ्जायई सयलकालं सो पावइ सिवसुहं विउलं ॥१॥

नासेई चोरसावथ-विसहरजलजलणबंधणभयाइं ।

चिंतिज्जंतो हरकस्सरणरायभयाई भावेण ॥२॥

अर्थः—यह मन्त्र अपूर्व कल्पवृक्ष, चिंतामणि, कामकुम्भ और कामधेनु समान है। जो मनुष्य सदाकाल उसका ध्यान करता है, वह विपुल शिवसुखको प्राप्त करता है।

(१) साथ ही भावपूर्वक उसका स्मरण चोर, सिंह, सर्प, जल, अग्नि, बन्धनके भय आदि तथा

राक्षस, रण, राज्यादि भयोंका नाश करता है । (२)

नवकार मन्त्रके बारेमें बहुत लिखा जा सकता है । साथ ही नवकार मन्त्रके प्रभावसे सर्प भी फूलकी^४ मालारूप बन जानेका और तदुपरांत दूसरे अनेक दृष्टांत भी प्रसिद्ध हैं, लेकिन यहां वह सब अप्रस्तुत है । तो ज्यादा अन्य ग्रन्थोंसे जान लेना ।

६. सर्वविघ्नविदारक मन्त्र

अतः इतना तो स्पष्ट ही है कि ' एसो मंगल निलयो ' वचनसे यह मन्त्र सर्व मंगलोंका स्थान है और श्रेष्ठ है, यह सिद्ध होता है । ऐसे ऐसे अनेक कारणोंसे इस पंच-परमेष्ठी महामन्त्रका अनेक परमर्षि-पुरुषोंने जिस तरह (प्रायः) प्रत्येक ग्रन्थके प्रारम्भमें स्मरण किया है वैसे इस ग्रन्थके रचयिता महर्षि श्री चन्द्रसूरि महाराजने भी उस विघ्नविदारक मन्त्रका प्रारम्भमें ही मंगलरूपमें आदर किया है ।

७. मंगलके प्रकार

यह मंगल दो प्रकारसे हैं । द्रव्य और भाव, इसमें भाव-मंगल, यह अनेक मंगलोंमेंसे एक सर्वप्रधान मंगल है । इसीलिए हरएक पूज्य ग्रन्थकारोंने उस भावमंगलका अवश्य

४. किसी एक नगरमें एक श्राविका है । उसका पति मिथ्यादृष्टि है । वर्तमान पत्नीको पुत्र न होनेसे वह अन्य स्त्रीको घरमें लाना चाहता है । किन्तु जबतक एक पत्नी विद्यमान है, तबतक अन्य स्त्रीकी प्राप्ति दुर्लभ होनेके कारण, अपनी पत्नीको मार डालनेका उपाय सोचता है—कि किस तरह इसको मार डालूँ ? एक दिन किसी स्थानसे काले रंगके सर्पको पकड़ाकर एक घटमें उस सर्पको बन्द करके उस घटको घरके कोनेमें रख दिया । भोजन करनेके बाद अपनी पत्नीसे कहा कि—कोनेमें रखे घटमेंसे पुष्पमाला ला ? पत्निका वचन सुनकर अन्दरमें टटोलती और भय दूर करने मनमें नवकार मन्त्रका स्मरण करती हुई वह स्त्री सोचती है कि " अन्दरमें किसी जहरीली जन्तुके काटनेसे अगर मेरी मृत्यु होगी तो भी नवकार मन्त्रके प्रभावसे मेरी वैमानिक देवगति होगी " स्त्रीसे स्मरित इस नवकार मन्त्रके प्रभावसे पासमें उपस्थित किसी देवताने घटमें रहे सर्पके स्थान पर पुष्पमाला स्थापित कर दी, उस स्त्रीने भी घटमेंसे उस पुष्पकी मालाको लेकर अपने पतिको दी । पतिको अत्यन्त आश्चर्य हुआ । जिस घटमें सर्प रखा था उसी घटसे पुष्पमाला लेनेके सम्बन्धमें और नवकार मन्त्रके स्मरणके विषयमें सारा वृत्तांत पत्नीसे जानकर पति पत्नीके चरणोंमें पड़ा और मनमें सोचे हुए अपने अशुभ विचारके लिए क्षमा मांगने लगा । फिर उन दोनोंका संसार सुखी हुआ । [नवकार कथावली अपभ्रंश] विशेष जानकारीके लिए नवकार मन्त्र विषयक ' नमस्कार स्वाध्याय ' आदि मुद्रित, अमुद्रित अनेक क्लरो, मन्त्रो, दन्त्रो और स्तोत्रोंके साहित्यका अवलोकन करना ।

५. मंगलकी चतुर्भंगी भी पड़ती है, वह गुणगमसे जान लेना ।

स्वीकार किया है। इष्टदेवको नमस्कार यह भी एक भावमंगलका प्रकार है। और द्रव्यमंगल तो प्रसिद्ध है। उसमें इष्टदेवको भावमंगलरूप किया नमस्कार अवश्य फलसिद्धिदायक है, जिसको हम पहले जान चुके हैं। परन्तु द्रव्यमंगलसे अर्थात् कि किसी भी गुड़-कंसार, दही आदि वस्तुसे किये लौकिक मंगलोंसे, इष्टसिद्धिके लिए की जाती। कार्यसिद्धिमें संशय है। प्रायः प्रत्यक्ष अनुभव किया जाता है कि इष्टसिद्धिके लिए प्रस्थान करनेवाली व्यक्ति दही, आदि अच्छे अच्छे मांगलिक रूपमें माने गये-कहे गये द्रव्योंका-पदार्थोंका भोजन करके प्रस्थान करने पर भी, अच्छे शकुन लेने पर भी अतिशय आहारदिके कारण मार्गमें ही अजीर्णादि व्याधि हो जानेसे इष्ट कार्यसिद्धि होती नहीं देखी जाती।

८. सुभूम चक्रवर्ती

अरे ! एक सामान्य उदाहरण लीजिये। सोचे, वादी और प्रतिवादी दोनों विजय पानेकी आशासे अच्छे अच्छे द्रव्यमंगल करके न्यायालयमें जाने पर भी विजय तो वादी और प्रतिवादी दोमेंसे एककी ही होती है। यह बताता है कि द्रव्यमंगल कार्यसिद्धि करे या न भी करे। चक्रवर्ती छह खण्डोंकी साधना अवश्य करे और उससे सार्वभौमत्व प्राप्त भी हो, छह खण्डोंकी यह साधना उसी चक्रवर्तीकी सार्वभौमत्व सम्बन्धकी उत्कृष्ट मर्यादा ! फिर भी इस मर्यादाका उल्लंघन करके अठारहवें और उन्नीसवें तीर्थकरके बीचके कालमें हुए सुभूम नामके चक्रवर्ती लोभके कारण सातवाँ खण्ड जीतनेको तैयार हुए। सचमुच लोभ सर्व दुःखोंका मूल है। लोभके कारण परवश बने हुए सुभूमने 'जान बुझकर ओखलीमें सिर देने जैसा' धातकीखण्डके भरतखण्डको साधनेका कार्य करनेका प्रारम्भ किया और सोचा कि किसीने जब इस तरह हिंमत नहीं की और मैं करनेको तैयार हुआ हूँ तो सबसे अच्छे मंगल करनेके लिए प्रस्थान करूँ और कार्यसिद्धि पाऊँ। ऐसी मनोगत विचारणा की स्फुरणासे अच्छेसे अच्छे (सबसे अच्छे) मांगलिक पदार्थोंका उसने आहार किया। उसके बाद भाट-चारण जयपताका सूचन करती बुलन्द आवाजसे बिरदावली-प्रशंति गाने लगे। अनेक मनोहर कार्यसिद्धिके बीजसूचक सौभाग्यवती सन्नारियोंने तिलकादि सब मंगलकार्य भी किये। तदनन्तर छह खण्डोंकी साधकर धातकी खण्डके सप्तम भरतखण्डको साधनेके लिए उत्सुक हुआ और देवाधिष्ठित चर्मरत्नसे लवणसमुद्र तैरनेके लिए रत्नके तल पर सारे सैन्यको बिठाकर, चर्मरत्नरूपी जहाज जब चलने लगा और थोड़ी दूर गये, तब यकायक उस रत्नको ढोनेवाले देवोंके मनमें ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई कि 'इस रत्नको दूसरे बहुतसे देव उठाते हैं तब मैं क्षणभर विराम-विश्राम ले लूँ' ऐसी बुद्धि समकालमें उस रत्नको उठानेवाले सभी देवोंकी होनेसे सर्व विराम लेने गये और उसी समय चक्रवर्तीके अन्य रत्नादिकके कारण उसकी सेवामें रहनेवाले दूसरे सोलह हजारको भी वैसी ही भावना प्रकट हुई, अतः वे भी चर्मरत्नको छोड़कर चले गये। जिससे निराधार बना हुआ चर्मरत्न समुद्रमें डूब गया और उसके

साथ ही उसके उपर बैठा चक्रवर्ती सुभूम और उसकी सेना भी डूब गई और मृत्यु शरण हुई। चक्री मरकर नरकमें गया।

लोभके वश बने इस चक्रवर्त्तिनि बिना सोचे गलत कदम उठाया और की हुई भूलकी सजा भोगनी पड़ी। सचमुच लोभका अन्त नहीं है। लोभके वश बनी कई आत्माएँ भूतकालमें दारुण-भयंकर दुःख-दुर्गतिमें फँस गई और कई आत्माएँ वर्तमानमें भी फँस रही हैं। जिससे शास्त्रोंमें कहा है कि—

‘आकरः सर्वदोषाणां गुणघसनराक्षसः ।
कन्दो व्यसनवल्लीनां, लोभः सर्वार्थबाधकः ॥’

“लोभ सर्व दोषोंकी खान, सद्गुणोंको खा जानेवाला राक्षस, सप्त व्यसनरूप लताका मूल और सर्व सम्पत्तिका प्रतिबन्धक है।”

लोभके परवश बने सुभूमकी कार्यसिद्धि तो न हुई किन्तु असंख्य मंगल करने पर भी वापस न आ सका और कालमहाराजकी प्रबल लपेटमें बह गया।

अतः कहनेका तात्पर्य यह है कि-द्रव्यमंगलमें कार्यसिद्धिका संशय है, जब कि तथा प्रकारका भावमंगल अवश्य कार्यसिद्धि करनेवाला है। इसीलिए हमारे शिष्टपुरुष किसी भी कार्यके प्रारंभमें भावमंगल अवश्य करते हैं। अतः ग्रन्थकार भगवानने भी ‘भावमंगल-रूप’ ‘भाव नमस्कार’ किया।

वह नमस्कार भी द्रव्य-पदार्थसे और भावसे दो प्रकारके हैं। उस द्रव्यभावनमस्कारकी चउभंगी अन्य ग्रन्थोंसे जानने लायक है। इस प्रकार मंगल करनेका प्रयोजन बतानेके साथ द्रव्य और भाव ऐसे दो भेद जतानेपूर्वक भावमंगलकी महत्ताका दिग्दर्शन करके अब मूल गाथाका प्रारंभ किया जाता है—

नमिउं अरिहन्ताई, ठिड भवणोगाहणा य पत्तेयम् ।
सुर-नारयाणं वुच्छं, नर-तिरियाणं विणा भवणं ॥ १ ॥
उववाय-चवण-विरहं, संखं इगसमइयं गमागमणे ॥ १-२ ॥

भावार्थ—अरिहन्तादि पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करके देव एवं नारकीके सम्बन्धमें प्रत्येककी स्थिति, भवन और अवगाहना, साथ ही मनुष्य तथा तिर्यचकी भवनके अतिरिक्त केवल स्थिति एवं अवगाहनाके बारेमें कहूंगा। साथ ही उपपातविरह तथा च्यवनविरह और एक समयमें कितने जीव च्यवित—मृत्यु होते हैं, तथा एक ही समयमें कितने जीव उत्पन्न होते हैं? यह कहते हुए गति एवं आगति द्वार भी कहूंगा।

विशेषार्थ—आर्य महापुरुषोंकी प्राचीन पद्धतिके अनुसार इस बृहत् संहणी-सूत्रके

कर्ता परमोपकारी प्रातःस्मरणीय श्रीमान् चन्द्रसूरीश्वरजी महाराज प्रस्तुत ग्रन्थके प्रारम्भमें 'निर्मिर्तुं अरिहंताई' पदसे इष्टदेवको भावनमस्काररूप^१ भावमंगल करते हुए 'श्री संग्रहणीरत्न सूत्र'का आरम्भ करते हैं। राग, द्वेष और मोह नामके दुर्धर शत्रुओंका जिन्होंने निर्मूल नाश किया है, अठारह दूषणोंसे जो रहित हैं, 'अशोकवृक्षादि अष्ट-महाप्रातिहार्यकी शोभासे जो विभूषित हैं, चौतीस अतिशय और वाणीके पैंतीस गुणोंको जो धारण करते हैं, केवलज्ञान [त्रैकालिक ज्ञान]के बलसे जिन्होंने लोक और अलोकके समस्त भावोंको हस्तामलकवत् यथार्थरूपमें देखा है 'अरिहन्त' परमात्माको तथा 'अ' शब्दसे ज्ञानावरणीयादि अष्टकर्मोंका सम्पूर्ण क्षय करके, अनन्त ज्ञानादि महान् 'अष्टगुणोंको प्राप्त करके जिन्होंने शाश्वत, अव्याबाध, अनन्तसुखके स्थानरूप मोक्ष प्राप्त किया है, अब जिनको १० जन्मजरामरणका अभाव हो गया है। संसारमें पुनर्जन्म लेनेका रहा नहीं है। ऐसे सिद्ध परमात्माओंको, साथ ही ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपोचार और वीर्याचार इन पंच प्रकारके आचारोंको स्वयं पालनेवाले, इन पंचाचारका पालन करनेके लिए अन्य भव्य आत्माओंको उपदेश देनेवाले तीर्थंकरादि अतिशयशाली पुरुषोंके अभावमें शासनके नायकके समान।

६. भावमंगलका विशेष वर्णन आवश्यादिक बहुतसे ग्रंथोंमें दिया गया है इसीलिए वही देखें।

७. अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिं दिव्य-ध्वनिश्चामरमासनं च ।

भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥ १ ॥

८. अरिहन्त किसे कहा जाए ?

अरिहन्ति वंद्य-तमंस्त्राणि, अरिहन्ति पूय-सकारं ।

सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति ॥ १ ॥

अट्ठविहं पि थ कम्मं अरिभूअं होइ सयलजीवाणं ।

ते कम्ममरिहन्ता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ २ ॥ [श्री भगवती टीका]

९. सिद्धके आठ गुण कौनसे ?

अथाष्टसिद्धगुणाः :- नार्णं च दंसणं चिय, अक्वावाहं तदेव संमत्तं ।

अक्खपट्ठिई-अरूवी अगुरुल्लहू-वीरियं हवई ॥ १ ॥

१०. रोगमृत्युजरावर्ति हीना अपुनरुद्धवाः ।

अभावात्कर्महेतूनां दग्धे बीजे हि नाङ्कुरः ॥ १ ॥ लो० प्र०

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।

कर्मबीजे तथा दग्धे नारोहति भवाङ्कुरः ॥ १ ॥ [त० भा० सम्बन्धकारिका]

गच्छकी घुराको धारण करनेवाले आचार्यपदके ३६^१ गुणोंसे विभूषित ऐसे पूज्यप्रवर^२ आचार्य-
देव, जो^३ शासनप्रभावक होते हैं उन्हें। तथा (वर्तमानमें) ग्यारह अंग, बारह उपांग
आदि आगमोंके ज्ञाता, भव्यजनोंको सूत्रार्थके उपदेशक, ^४२५ गुणोंसे युक्त पाठक प्रवर

११. आचार्यके ३६ गुण—

पंचिदिय संवरणो ५, तह नवविहवंभचेरगुत्तिधरो ९ ।
चउविहकसायमुक्को ४, इअ अह्जारस गुणेहिं संजुत्तो १८ ॥ १ ॥
पंचमहव्यजुत्तो ५ पंचविहादार ५ पालगसमत्थो ।
पंचसमिओ ५ तिगुत्तो ३ छत्तीसगुणो गुरु मञ्ज ॥ २ ॥ १८-३६.

१२. आचार्यके लक्षण इस प्रकार हैं ?—

मुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेदिभूओ अ ।
गणतत्तिविण्णमुक्को, अत्थं वाएइ आयरिओ ॥ १ ॥
पंचविहं आयारं आयरमाणं तह्य पयासंता ।
आचारं दंसंता, आयरिया तेण बुच्चंति ॥ २ ॥

१३. आठ प्रभावक नीचे लिखे अनुसार हैं—

सम्महं सणजुत्तो सहसामत्थे पभावगो होइ ।
सो पुण इत्थ विसिट्ठो, निदिट्ठो अट्ठहा सुत्ते ॥ १ ॥
१ पावयणी, २ धम्मकही, ३ वाई ४ नेमित्तओ ५ तपस्वी य ।
विज्जा ६ सिद्ध य कई, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥ २ ॥

१४. उपाध्याय शब्दकी व्युत्पत्ति—

उप-समीपमेत्य अधीयते छात्रा यस्मादिति उपाध्यायः [सम्य० सप्ततिका]

उपाध्यायके २५ गुण—

द्वादश अंगों तथा बारह उपांगोंका अध्ययन करें और अध्यायन करावें वे उपाध्याय कहलाते हैं।

द्वादश अंग—आचारंग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायंग, भगवती, ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपातिकदशांग, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत। दृष्टिवाद जो नाम पाक्षिक सूत्रमें भी कहे गये हैं।

‘आचारो, सुअगडो, ठाणं, समवाओ, विवाहपन्नन्ति, नायाधम्मकहाओ, उवासगदसाओ, अन्तगडदसाओ, अणुत्तरोववाइअदसाओ, पण्हावागरणं, विवागसुअं। दृष्टिवाद नष्ट हो जानेसे आज ११ अंग विद्यमान हैं। और २७ गुणमें ११ अंगको लेते हैं।

१^५ उपाध्याय-महाराजको साथ ही स्वपरकल्याण साधक, पंच महाव्रत और छठे रात्रिभोजन-व्रतके पालक, छह कायजीवोंके रक्षक, अष्ट प्रवचन मातापालक, बाह्याभ्यन्तर प्रगिरहित, इन्द्रियविषयोंके निग्रह करनेवाले, परिषह-उपसर्गोंको सहन करनेवाले, संयमयोगके साधक, जिनाज्ञाके अखण्डपालक, इत्यादि^{१६} सत्ताईस गुणोंसे^{१७} युक्त साधु महाराजोंके, इस तरह १०८^{१८} गुणोंसे युक्त पंचपरमेष्ठीको त्रिकरण शुद्धिपूर्वक नमस्कार करके श्री संग्रहणीरत्न अपरनाम बृहत्संग्रहणी, अथवा

हैमकोशमां ११ अंग बताया है—आचारांगं सूत्रकृतं स्थानांगं समवादयुक्तं ।

पञ्चमं भगवत्यंगं ज्ञाताधर्मकथाऽपि ॥ १ ॥

उपासकान्तकृदनुत्तरोपयात्किञ्चिद् दशाः ।

प्रश्रव्याकरणं चैव विपाकश्रुतमेव च ॥ २ ॥

बारह उपांग—औपपातिक, राजप्रश्रीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, जंबूद्रीप्रश्रुति, सूर्यप्रश्रुति चंद्र-प्रश्रुति, निरियावल्किा, (कदिका) कल्पावतंसिका, पुष्किका, पुष्कचूलिका और वृष्णिगदशा । सिद्धान्तरूप शरीरके वर्तमानमें ग्यारह अंग और उसके हस्तपादरूप बारह उपांग-ऐसे सिद्धान्तरूप शरीर बना है । इस शरीरको अंगोपांगरूपी और भी ग्रंथ हैं । उसे पढे और पढाये । ११ अंग, १२ उपांग मिलकर २३ गुण हुए और 'चरण सित्तरी' 'करणसित्तरी' ऐसे २ गुण पुनः जोड़नेसे २५ गुण उपाध्याय भगवानके जानना ।

१५. उपाध्यायके लक्षण निम्न लिखित हैं—

बारसंगो जिणक्त्वाओ, सञ्ज्ञाओ कहिओ बुहे ।

तं उवइसंति जम्हा, उवञ्ज्ञाया तेण बुच्चंति ॥ १ ॥

१६. साधु महाराजके २७ गुण—

ऊवय ६ छकायरक्त्वा ६ पञ्चेदिय लोह ५ निगोह खन्ती,

१ भावविसुद्धो १ पडिलेहणाइकरणे विसुद्धी अ ॥ १ ॥

१. संजम जोए जुत्तो १ अकुसलमण- १ वपण- १ कायसंरोहो,

१ सीआइपीड सहणं च १ मरणंतुवसग्गसहणं च ॥ २ ॥

१७. साधु लक्षण—

निवागसाहए जोए, जम्हा साहंति साहुणो ।

समा य ख्वभूएसु, तमहा ते भावसाहुणो ॥ १ ॥

असहाए सहायत्तं, करेति मे संयमं करैतस्स ।

एएण कारणेणं णमामि हं सच्चसाहुणं ॥ २ ॥

१८. पंच परमेष्ठीके १०८ गुण—

बारसगुण अरिहंता, सिद्धा अट्ठेव सूरिच्छत्तीसं,

उवञ्ज्ञाया-पणवीसं, साहु सगवीस अट्ठसयं ॥ १ ॥

त्रैलोक्यदीपिका नामक ग्रन्थके इस ग्रन्थमें वर्णन करने योग्य द्वारोंका संक्षिप्तमें विवरण करूंगा।

चौदह राजलोकवर्ती देहधारी सभी संसारी जीवोंका देव, नारकी, तिर्यच और मनुष्य इन चार विभागोंमें समावेश हो जाता है।

देवोंमें भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक आदि भेद हैं। धर्मा, वंशा, श्रेय, अंजना, रिष्टा, मघा और माघवती इस तरह सात नरक पृथ्वीमें, सर्व नारकीय जीवोंका समावेश है।

जलचर, स्थलचर, खेचर, उरःपरिसर्प, भुजपरिसर्प, एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी तिर्यचपंचेन्द्रिय और संज्ञी तिर्यचपंचेन्द्रिय ये सर्व भेद तिर्यच गतिके हैं।

मनुष्य भी कर्मभूमि, अकर्मभूमि, तथा अन्तरद्वीपके होते हैं और वे संमूर्च्छिम और गर्भज, ऐसे भिन्न भिन्न विभागोंमें विभक्त हैं। इस तरह इन जीवोंका समावेश देव, नारक, मनुष्य और तिर्यच ऐसे चार विभागोंमें होनेके कारण ये चार विभाग [और उनके उप विभाग]—इनके आश्रय पर किस जीवकी कितनी आयु स्थिति है? कितनी अवगाहना और शरीरप्रमाण आदि हैं? इत्यादी मुख्य ९ और गौण ३४ द्वारोंकी परिभाषा एवं 'च' शब्दसे दूसरी भी कुछ उपयोगी और प्रासंगिक जानने लायक परिभाषाएँ ग्रन्थकर्ता करनेवाले हैं जो इस प्रकार हैं—

—: मुख्य (नी) ९ द्वार और गौण ३४ द्वार :—

१. स्थिति—उस, निश्चित भवमें प्रवर्तमान जीवोंका जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य प्रमाण।
२. भवन—देव तथा नरक गतिके जीवोंके उत्पन्न होनेके स्थान।
३. अवगाहना—जीवोंका जघन्य [कमसे कम] और उत्कृष्ट शरीरप्रमाण।
४. उपपातविरह—एक जीव उत्पन्न होनेके बाद दूसरा जीव कब उत्पन्न हो? उसके सम्बन्धमें जघन्य और उत्कृष्ट अवधि।
५. च्यवनविरह—एक जीवकी मृत्यु [च्यवन] होनेके बाद दूसरा जीव कब च्यवित हो (मृत्यु हो) उस सम्बन्धमें जघन्योत्कृष्ट अवधि।
६. उपपातसंख्या—देवादिक विवक्षित गतिमें एक समयमें एक साथ कितने जीव उत्पन्न होते हैं वह।
७. च्यवनसंख्या—देवादि गतियोंमेंसे एक समय पर कितने जीव एक साथ च्यवित हो (मृत्यु हो) वह।
८. गति—किस किस गतिके जीव मृत्यु पाकर किस किस गति-स्थानकोंमें जाए वह।

९. आगति — देवादिक गतियोंमें किस किस गतिमेंसे जीव उत्पन्न होते हैं ।

इस तरह मुख्य नौ द्वार हुए । वे नौद्वार देव, नरक, तिर्यच और मनुष्य इस तरह चारोंगति—आश्रयी वर्णन हेतु नौ गुना चार [९ × ४ = ३६] छत्तीस द्वार होते हैं; परन्तु मनुष्यों और तिर्यचोंके उत्पन्न होनेके जो स्थान हैं वे उपपातशय्या और नारकोंके नरकावासकी तरह शाश्वत न होनेसे मनुष्य और तिर्यचके सम्बन्धमें 'भवन' द्वारका विवेचन नहीं किया जाएगा, इसलिए इन दो [मनुष्यभवन और तिर्यचभवन] द्वार [३६ मेंसे] कम करने पर कुल चौतीस द्वारोंकी व्याख्या इस संग्रहणी ग्रन्थमें की जाएगी ।

इन चौतीस द्वारोंकी सुलभताके लिये सरल कोषक—

	१	२	३	४	५	६	७	८	९
१ देव	स्थिति	भवन	अव- गाहना	उपपात द्विरह	च्यवन द्विरह	उपपात संख्या	च्यवन संख्या	गति	आगति
२ नारकी	”	”	”	”	”	”	”	१	”
३ तिर्यच	१	०	२	३	४	५	६	७	८
४ मनुष्य	”	०	”	”	”	”	”	”	”

भारतीय परम्पराके अनुसार प्रत्येक ग्रन्थके प्रारंभमें मंगल, विषय प्रयोजन और संबंध इसे अनुबन्धचतुष्टय कहनेका नियम है । यद्यपि इस ग्रन्थकारने इन्हें स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहा, फिर भी हम दूसरी तरहसे सोच लें ।

ऊपर बताये ३४ द्वारोंकी व्याख्या, यह इस ग्रन्थका विषय है । और इन चौतीस द्वारोंका वर्णन और 'च' शब्दसे प्रासंगिक देवादिकके वर्ण, चिह्न इत्यादि प्रकीर्णक विषय यह अभिधेय है ।

प्रश्न :— इस ग्रन्थरचनाका प्रयोजन क्या है ?

उत्तर :— प्रयोजन दो प्रकारका है । एक कर्त्ताके सम्बन्धमें और दूसरा श्रोताके सम्बन्धमें, वे प्रत्येक भी पुनः दो प्रकारके हैं । कर्त्ताका अनन्तरप्रयोजन और ^{१७}परम्पर-प्रयोजन । उसमें ग्रन्थकर्त्ताका अभिप्रेत अनन्तरप्रयोजन भव्यात्माओंका उपकार करना वह है । (अर्थात् शुभ कर्मका आश्रव तथा अशुभ कर्मकी निर्जरारूप) और परम्परप्रयोजनमें मोक्षकी प्राप्ति है ।

शास्त्रमें कहा है कि—

‘ सर्वज्ञोकोपदेशेन यः सत्त्वानाममनुग्रहम् ।

करोति दुःखतप्तानां, स प्राप्नोत्यचिराच्छिवम् ॥ ’

१९. अनन्तर तथा परम्पर ये दोनों प्रयोजन श्रोताके यथायोग्य घटा लेना ।

अर्थ :—संसारके त्रिविध तापसे तप्त, दुःखी बने प्राणियोंको सर्वज्ञभगवान् कथित उपदेश द्वारा जो उपकार करता है, वह शीघ्र मोक्षसुख पाता है ।

अब ग्रन्थका श्रवण करनेवाले श्रोताके लिये अनन्तरप्रयोजन देवादि जीवोंके आयुष्य आदिकी जानकारी और परम्परप्रयोजन मोक्षकी प्राप्ति है । जिसके लिए कहा है कि—

‘सम्यग्भावपरिज्ञानाद्, विरक्ता भवन्ति ज्ञानाः ।

क्रियासक्ता अविधेनेन, गच्छन्ति परमां गतिम् ॥’

अर्थ :—जो वस्तु जैसी हो उस वस्तुकी वैसी जानकारी होनेसे विरक्त आत्माएँ संवरक्रियाके योगसे विघ्नरहित परमगति-मोक्षको पाती हैं ।

इस तरह इस ग्रन्थके प्रणेता श्री चन्द्रसूरि महाराजने भी त्व-परप्रयोजन आश्रयी इस ग्रन्थकी रचना की है ।

प्रश्न :—यह ग्रन्थरचना श्रीमान् चन्द्रसूरि महाराजने क्या स्वबुद्धि-कल्पनासे की है या भगवान्की द्वादशांगीके सम्बन्धसे की है ?

उत्तर :—सम्बन्ध दो प्रकारका है । उपाय-उपेय (उपायोपेय) और गुरुपर्वक्रम, इसमें यह ग्रन्थ वह ‘उपाय’ और उसमें रहा सर्वप्रकारका तत्त्वज्ञान-रहस्य वह ‘उपेय’ है । दोनोंके सहयोगसे ‘उपायोपेय’ सम्बन्ध सूचित होता है । दूसरा गुरुपर्वक्रम, अनन्तज्ञानी परमात्मा महावीरदेवने देव, नारकी आदि जीवोंका आयुष्य, शरीरप्रमाण इत्यादि किस तरह कितना होता है ? यह देव, मनुष्यरूप बारह पर्षदाके समक्ष योजनगामिनी, सुधास्यन्दिनी धीर-गम्भीर वाणीके द्वारा अर्थरूपमें प्रकाशित किया, श्री सुधर्मास्वामी आदि २^०गणधर भगवन्तोने इस अर्थकी द्वादशांगीरूपमें (बारह शास्त्रों)में सूत्ररचना की । तदनन्तर उनकी परम्परामें हुए श्रीमान् आर्यश्याम आदि महर्षियोंने इस अर्थका प्रज्ञापनादि सूत्र-ग्रन्थोंमें उद्धार किया, और उनमेंसे साररूप बातें ग्रहण कीं । श्री जिनभद्रगणिश्रमाश्रमणजीने श्री बृहत्-संग्रहणी २^१ग्रन्थकी रचना की । यह रचना अधिक ५०० गाथा प्रमाण विस्तारवाली होनेसे बालजीवोंके बोध हेतु, उससे भी संक्षिप्त करके श्रीमान् चन्द्रसूरिजीने इस अनुवाद किये गये संग्रहणीसूत्रकी रचना होनेसे यह ग्रन्थ भी परम्परासे श्री भगवंतकी द्वादशांगीस्वरूप सूत्ररचनाके साथ सम्बन्ध बताता है । अर्थात् यह ग्रन्थ भगवन्तकी द्वादशांगीके आधार पर रचित है, परन्तु स्वमतिकल्पनासे रचित नहीं है, ऐसा स्पष्ट होता है । इसलिए गुरुपर्वक्रम-गुरुकी परम्परारूप सम्बन्ध भी इस ग्रन्थकी रचना करनेमें बराबर रक्षित हुआ है ।

इस तरह मंगल, अभिधेय, प्रयोजन और सम्बन्ध ये अनुबन्धचतुष्टय जो कि ग्रन्थके प्रारंभमें अवश्य कहना चाहिए, उसका दिग्दर्शन कराया है । [१ ३]

अवतरण—जैसा ‘उद्देश हो वैसा ही निर्देश’ हो सके इस न्यायके अनुसार देवोंके

स्थितिप्रमुख द्वारोंकी शुरुआत करते ग्रन्थकार भगवान प्रथम चार प्रकारके^{२२} देवोंमेंसे भवनपति देवोंकी जघन्य स्थितिका अर्धभाथासे वर्णन करते हैं—

दसवाससहस्रां भवणवर्षाणं जहन्नठिई ॥ २ ॥

गाथार्थः—भवनपति देवोंकी जघन्य आयुष्यस्थिति दसहजार वर्ष प्रमाण होती है ॥२॥

विशेषार्थ—असुरकुमारादि दसों प्रकारके भवनपति देवोंकी तथा उनकी देवियोंकी जघन्य आयुष्यस्थिति दस हजार वर्षकी होती है । इससे न्यून आयुष्यस्थिति भवनपति-निकायमें नहीं होती ।

प्रथम भवनपति ' भवनवसनशीला इति भवनपतयः '—अर्थात् भवनोंमें बसनेवाले

२२. प्रश्न—देव अर्थात् क्या ? कारण कि सिद्धान्तमें देव पांच प्रकारके कहे गये हैं तो यहां आप किस देवके सम्बन्धमें वर्णन करना चाहते हैं ?

उत्तर—यद्यपि सिद्धान्तमें द्रव्यदेव, नरदेव, धर्मदेव, देवाधिदेव और भावदेव इस तरह पांच प्रकारसे देव कहे गये हैं । उनमें—

- (१) **द्रव्यदेव**—अर्थात् शुभकर्मके द्वारा देवगतिके संबन्धमें आयुष्य—बंध कर दिया हो, वह मनुष्य अथवा तिर्यक् फलचेन्द्रिय जीव ।
- (२) **नरदेव**—वह सार्वभौम चक्रवर्ती राजा, जिसको चौदहरत्न, नवनिधि तथा छह खण्डोंका स्वामित्व प्राप्त हुआ हो । अन्य मनुष्योंकी अपेक्षा जो पौद्गलिक ऋद्धिमें सर्वोत्तम होते हैं ।
- (३) **धर्मदेव**—जो श्रीतारक जिनेश्वरदेवके पावन प्रवचनके अर्थका अनुसरण करनेवाले और उत्तम प्रकारके शास्त्रोंके आचारको पालनेवाले हैं, वे आचार्य महाराजादि ।
- (४) **देवाधिदेव**—तीर्थकरनामकर्मके उदयसे जो अपनी सुधासम वाणी द्वारा भग्नात्माओं पर असीम उपकार करते हैं वैसे परमपूज्य सर्वोत्तम आत्माए ।
- (५) **भावदेव**—जो विविध प्रकारकी क्रीडा करनेमें लुब्ध हैं और देवगति नाम-कर्मका उदय और देवायुष्यको भोग रहे हैं वे । प्रथम जो चार देव हैं वे आपेक्षिक देव हैं । परंतु यहाँ तो उपर बताये अनुसार भावदेव ही अभिप्रेत हैं । अर्थात्—

' दीव्यन्तीति देवाः स्वच्छन्दचरित्वात् अनवरत क्रीडासक्तचेतसः क्षुत्पिपासादिभिर्नात्यन्तमाप्राता इति ।

द्योतन्ते वा भास्वरशरीरत्वाद्यस्थिमांसासृक्प्रबन्धरहितत्वात् सर्वाङ्गोमाङ्गसुन्दरत्वाच्च देवाः ॥

' जो स्वच्छन्दरूपसे निरन्तर क्रीडामें आसक्त चित्तवाले हैं, जिनको क्षुधातृषा बहुत कम लगती है, देदीप्यमान और अस्थि मांस-रुधिरादि धातुओंसे रहित वैक्रिय शरीर होनेके साथ जो सर्वाङ्गसुन्दर हैं, वे ही देव कहलाते हैं, और यहाँ वैसे ही देवोंकी ध्याय्यताका प्रकरण है ।

वे भवनपति कहलाते हैं; यद्यपि असुरकुमार प्रथम निकायके देव ^{२३}बहुलतासे स्वकायमान प्रमाणवाले परमरमणीय चारों ओर भित्त्यादि आवरण रहित खुले महामण्डप होते हैं उनमें रहनेवाले हैं, भवनोंमें तो क्वचित् निवास करते हैं और शेष नागकुमारादि निकायके देव प्रायः भवनोंमें विशेषतः रहते हैं और कदाचित् आवासोंमें रहते हैं, तथापि सामान्यतः विशेषतया भवनोंमें बसनेवाले होनेसे वे भवनपति देवोंके रूपमें वर्णित हैं । [२]

अवतरणः—निम्न दो गाथाओंसे भवनपति देव-देवियोंकी उत्कृष्ट आयु-स्थितिका वर्णन करते हैं—

चमर-बलि-सारमहिअं, तदेवीणं तु तिन्नि चत्तारि ।

पलियाइं सड्डाइं, सेसाणं नव-निकायाणं ॥ ३ ॥

दाहिण-दिवड्डे-पलियं, उत्तरओ हुंति दुन्नि देसणा ।

तदेवी-मद्वपलियं, देसणं आउमुक्कोसं ॥ ४ ॥

गाथार्थः—चमरेन्द्र और बलीन्द्रका अनुक्रमसे सागरोपम तथा सागरोपमसे कुछ अधिक उत्कृष्ट आयुष्य । उन दोनों इन्द्रोंकी देवियोंका क्रमसे सादेतीन पत्योपम तथा सादेचार पत्योपम, शेष रहे नौ निकायोंके दक्षिण दिशामें रहे भवनपति देवोंका डेढ़ पत्योपम और उत्तरदिशाके भवनपति देवोंका कुछ न्यून दो पत्योपम और उनकी देवियोंका अनुक्रमसे आधा पत्योपम और कुछ न्यून एक पत्योपम-प्रमाण उत्कृष्ट आयुष्य है ॥ ३-४ ॥

विशेषार्थः—भवनपति देव दस प्रकारके हैं, जो बात १९ वीं गाथा-प्रसंग पर ग्रन्थकार कहनेवाले हैं । भवनपतिकी उन दसों निकायोंमें दक्षिण दिशाकी तरफका और उत्तरदिशाकी

२३. प्रश्नः—क्या स्वर्गवास प्राप्त कोई भी जीव मनुष्यअवतारमें शीघ्र ही अवतरित हो सकता है ?

उत्तरः—स्वर्गशोक अर्थात् देवभूमिमें गये हुए जीव कमसे कम दस हजार वर्षकी जघन्यस्थिति भोगे बिना निश्चयरूप मरता नहीं । आजकल 'अमुक आत्मा देवलोकमें गई' ऐसा लोग कहनेको तैयार होते हैं और उन्हीं स्वर्गमें गये हुआका जन्म तुरंत ही अमुक स्थान पर अमुकके वहाँ हुआ इत्यादि भविष्याभिप्राय सम्बन्धमें चर्चाका उद्घोष अखबारोंमें भी छपता है, परन्तु यह बिल्कुल अज्ञानताका मिथ्या प्रलाप है । यदि उनका 'स्वर्गगमन', वह देवलोक स्थान समझकर कहा जाता हो तो उस देवलोकमें जानेवाले जीवको देवशय्यामें उत्पन्न होनेके बाद कमसे कम दस हजार वर्ष तो रहना ही पड़ता है । वैसी भवनपति या ध्वंस्तरकी जातिमें उत्पन्न हुआ हो तो, मनुष्यरूपमें तुरन्त कहाँसे जन्म ले सके ? हाँ, मनुष्यलोकमेंसे यदि उसने पूर्वमें मनुष्यगतिके योग्य आयुष्यादिका बन्ध पड़ा हो तो मनुष्यभवमें किसी भी स्थानपर वह जीव उत्पन्न हो सके यह बात संभवित मानना योग्य है, परन्तु मनुष्यभवमेंसे स्वर्गमें गई आत्मा मृत्यु पाकर तत्काल (दस हजार वर्ष पहले) ही मनुष्यस्वरूप जन्म ले सके, इस बातको परमतारक श्री सर्वश्रमभगवन्तका सिद्धांत मान्य नहीं रखता ।

तरफका, इस तरह हर एक निकायमें दो दो विभाग जोड़ (युग्म) में रहे हैं । इस तरह दसों निकायोंके मिलकर बीस विभाग हैं । प्रत्येक विभागके मध्यमें इन्द्रका एक एक निवास है । इस प्रकार बीस विभागके मिलकर कुल बीस इन्द्र भवनपति-निकायके कहे हैं । उसमें पहले असुरकुमार निकायमें दक्षिण दिशाके विभागमें रहनेवाले असुरकुमार देवोंके अधिपति चमरेन्द्रका उत्कृष्ट आयुष्य एक सागरोपमका है । उसी असुरकुमार निकायकी उत्तरदिशाके इन्द्र-बलीन्द्रका उत्कृष्ट आयुष्य एक सागरोपमसे कुछ विशेष है । चमरेन्द्रकी इन्द्राणीका उत्कृष्ट आयुष्य साढेतीन $2\frac{1}{2}$ पल्योपमका है और बलीन्द्रकी देवीका उत्कृष्ट आयुष्य साढेचार पल्योपमका है ।

इस तरह पहले निकायके दक्षिणेन्द्र तथा उत्तरेन्द्रकी आयुष्यस्थिति कही । शेष नौ निकायके दक्षिणेन्द्रों तथा उत्तरेन्द्रोंकी स्थिति कहते हैं । दक्षिणदिशाकी तरफके नवों निकायोंके धरणेन्द्र-प्रमुख नवों इन्द्रोंका उत्कृष्ट आयुष्य डेढ़ पल्योपमका जाने, अर्थात् उनमेंसे प्रत्येक इन्द्रकी आयु-स्थिति समान है । इस तरह उत्तरदिशाकी तरफके नवों निकायोंके भूतानन्देन्द्र-प्रमुख नवों इन्द्रोंकी उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति देशे अर्थात् कुछ न्यून दो पल्योपमकी जाने ।

भवनपति निकायके देव-देवियोंके जघन्य-उत्कृष्ट आयुष्यका यंत्र

निकाय	दिशाके देव-देवी	जघन्य-आयुष्य	उत्कृष्ट-आयुष्य
असुरकुमार	दक्षिण दिशाके देवका	दस हजार वर्ष	१ सागरोपम
	,, दिशाकी देवीका	,,	$2\frac{1}{2}$ पल्योपम
	उत्तर दिशाके देवका	,,	१ सागरोपमसे कुछ अधिक
	,, दिशाकी देवीका	,,	$3\frac{1}{2}$ पल्योपम
नागकुमार आदि नव निकाय	दक्षिण दिशाके देवका	दस हजार वर्ष	$1\frac{1}{2}$ पल्योपम
	,, दिशाकी देवीका	,,	$\frac{2}{3}$ पल्योपम
	उत्तर दिशाके देवका	,,	देशे न्यून दो पल्योपम
	,, दिशाकी देवीका	,,	,, एक पल्योपम

२४. हर एक निकायका पर्यालोचन करेंगे तो देवोंसे देवियोंका आयुष्य बहुत कम मालूम होगा । इसका कारण सोचते लगता है कि देवलोक यह भोगलोक है, अतः उत्कृष्टायुषी देवोंके जीवनकाल दरम्यान अनेक नूतनतम देवियोंके संयोग और वैषयिक सुखोंके भोगके लिए वह आवश्यक होगा और उसके द्वारा देव पूर्वके पुण्यको भोग द्वारा समाप्त कर डालते हैं ।

साथ ही दक्षिणदिशाके धरणेन्द्र प्रमुख नवों इन्द्रोंकी देवियोंका उत्कृष्ट आयुष्य आधे पल्योपमका है। उत्तरदिशाकी तरफके भूतानन्देन्द्र-प्रमुख नवों इन्द्रोंकी इन्द्राणियोंका आयुष्य देशे न्यून एक पल्योपमका जाने।

इस तरह उस उस निकायमें रहनेवाले इन्द्र और इन्द्राणीके सिवा अन्य भवनपति देवों तथा उनकी देवियोंका जघन्य तथा उत्कृष्ट आयुष्य उपलक्षणसे पूर्वोक्त कथनानुसार यथायोग्य समझ लें। [३-४]

पल्योपम तथा सागरोपमका सविस्तर स्वरूप

सूचना—इस ग्रन्थमें भवनपति आदि देवोंके आयुष्यके प्रसंग पर तथा अन्य पदार्थोंके विवरणके प्रसंग पर पल्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, पुद्गल-परावर्त आदि शब्दोंका उल्लेख आता है, परन्तु उनको समझानेवाली मूल गाथाएँ इस चन्द्रिया संग्रहणीमें नहीं हैं।

यद्यपि सामान्यतः असंख्यातां वर्षका एक पल्योपम और दस कोडाकोड़ी पल्योपमका एक सागरोपम होता है। परन्तु असंख्य संख्या कितनी बड़ी है और पल्यकी उपमाके द्वारा और सागरकी उपमाके द्वारा वे काल प्रमाण कैसे लाया जाता है उसे समझना अत्यन्त जरूरी होनेसे ग्रन्थान्तरसे उसका विस्तृत स्वरूप यहाँ दिया जाता है।

सर्वसे अल्प [जघन्यमें जघन्य] काल एक समयका है जिसे सर्वज्ञ भगवन्त ही जान सकते हैं। और उसी अत्यन्त सूक्ष्मकालको 'समय' कहा जाता है। एक निमेष [आंख बन्द करके खोलने जितना समय] मात्रमें असंख्याता समय व्यतीत होता है, ऐसा सर्वदर्शी परमर्षि पुरोधने प्रकाशित किया है। महानुभावो! सोचो, एक निमेषमात्रमें असंख्याता समय चला जाए तो समयरूप काल कितना सूक्ष्म होगा? यह बात सामान्य बुद्धिवालोंको आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली है, परन्तु वीतराग परमात्माओंका वचन अन्यथा होता ही नहीं है।

“ वीतरागा हि सर्वज्ञा मिथ्या न भुवतेकचित् ।

यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थदर्शनम् ॥ ”

अर्थ — “ रागद्वेष रहित सर्वज्ञ परमात्मा कदापि, असत्य प्रतिपादन करनेके कारणोंसे रहित होनेसे असत्यका प्रतिपादन करते ही नहीं, इसलिए उनका वचन^{२५} यथार्थ-सच है। ”

२५. आजके वैज्ञानिक एक मिनटके करोड़वें भागका ज्ञान रखते हैं तो क्षणभर विचार करें कि सामान्य मानव जड़यंत्रकी मददसे मिनटका करोड़वाँ भाग समझ सकें, तो त्रिकालदर्शी पुरुष उससे अति सूक्ष्म समयको ज्ञानसे जानें और कहें तो उसमें शंकाको जरा भी स्थान नहीं है।

यह काल वह द्रव्य है तथापि प्रदेशोंके समुदायरूप न होनेसे उसे धर्मास्तिकायकी तरह ^{२६}अस्तिकाय कहा नहीं है। वास्तविकतासे सोचने पर यह काल, भेदोंके अभाववाला है। अतः कालके भेद नहीं हैं, तो भी निश्चय और व्यवहार रूपमें दो भेद शास्त्रोंमें कहे हैं। गत्युपकारक धर्मास्तिकाय और स्थित्युपकारक अधर्मास्तिकायकी तरह यह काल द्रव्य भी उपकारी है। और इसी बातको श्री तत्त्वार्थसूत्रके पाँचवें अध्यायमें 'वर्तना परिणाम क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य' इस सूत्र पर समर्थ टीकाकार श्री सिद्धसेनगणि महाराजने सविस्तर व्याख्यासे सिद्ध की है। जिसका स्वरूप प्रारंभके अभ्यासीके लिए अति कठिन होनेसे यहाँ नहीं दिया है। जिज्ञासुओंको उसमें देख लेना आवश्यक है। यहाँ तो व्यावहारिक काल दर्शानेका प्रयोजन होनेसे व्यावहारिक कालका स्वरूप ही संक्षेपमें दिया है।

व्यावहारिक काल अर्थात् क्या ? कहा है कि—

‘ज्योतिः शास्त्रे दस्य मानम्, उच्यते समयादिकम् ।

स व्यावहारिककालः, कालवेदिभिरामतः ॥’

यह व्यावहारिक काल ^{२७}समयसे लेकर शीर्षप्रहेलिका (संख्य), असंख्य और अनन्त तक अथवा शीर्षप्रहेलिकासे पत्योपम, सागरोपम, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कालचक्र, पुद्गल-परावर्तीदि अनेक प्रकारसे है।

२६. तस्मात् मानुषलोक-व्यापी इह कालोऽस्ति समय एक इह ।
एकत्वाच्च स कायो, न भवति कायो हि समुदायः ॥ १ ॥

२७. ‘समयाद्याश्च कालस्य, विशेषाः सर्वसंमताः ।
जगत् प्रसिद्धाः संसिद्धाः, सिद्धान्तादिप्रमाणतः ॥ १ ॥’

‘लोगाणु भाव-जणिअं जोइस-चकं भणंति अरिहंता ।
सब्बे कालविसेसा, जस्स गइ विसेसनिष्पन्ना’
[ज्योतिष्करंडक]

‘लोकानुभावतो ज्योतिष्चक्रं भ्रमति सर्वदा ।
नृक्षेत्रे तद्गतिभवः, कालो नानाविधः स्मृतः ॥’

‘सूर्यादिक्रियया व्यक्तोद्धृतो नृक्षेत्रगोचरः ।
गोदोहादिक्रियानिर्व्यंशोऽद्वाकाल उच्यते ॥’

‘यावत्क्षेत्रं स्वकिरणैश्चरन्नुद्योत्येदृशविः ।
दिवसस्तावति क्षेत्रे परतो रजनी भवेत् ॥’

[लोकप्रकाश]

यह व्यावहारिक काल मनुष्य क्षेत्रवर्ती तिच्छ ४५००००० पैतालीस लाख योजन प्रमाण और ऊर्ध्वाधः १८०० योजन-प्रमाण क्षेत्रमें होनेका शास्त्रोंमें प्रतिपादन किया है। व्यावहारिक-कालके सम्बन्धकी इस मर्यादाका कथन इसीलिए है कि जिस क्षेत्रमें सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिष्यचक्र चर होनेके साथ अपनी देदीप्यमान किरणोंसे प्रकाश देते हैं, उस क्षेत्रमें व्यावहारिककी गिनती करनी है और समय आदिक सर्वकालको करनेवाला चर सूर्य ही है, इसीलिए उसे आदित्य कहा जाता है। श्री भगवतीसूत्रमें प्रश्न हुआ है कि—‘से केणद्वेणं भंते ! एवं बुच्चई (सूरे) आइच्चे सूरे ? गोयमा ! सूरादिया णं समयाइ वा आवलियाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा अवसप्पिणीइ या से तेणद्वेणं जाव आइच्चे ।’ (पंचमांग-श्री भगवतीजी श० १२, उ० ६)

शंका—कालका क्षेत्र ऊपर अनुसार अगर मर्यादित है तो देवलोक आदि अन्य स्थानोंमें देवों आदिके आयुष्यका प्रमाण किस अपेक्षासे गिने ? क्योंकि उन स्थानोंमें व्यावहारिक कालका तो अभाव होता है।

उत्तर—देवलोक आदि स्थानोंमें वर्तित जीवोंके आयुष्य आदिकी गणना ऊपर बताये मर्यादित क्षेत्रमें वर्तित व्यावहारिक कालसे ही करनी है। वहाँ सूर्य-चन्द्रके परिभ्रमणके अभावमें समय, आवलि, मुहूर्त, दिवस, मास, वर्ष आदि कालकी उत्पत्ति नहीं है; परंतु वहाँ वर्तित व्यावहारिक कालसे ही वहाँके जीवोंका आयुष्य आदि गिननेका शास्त्रोंमें अनेक स्थलों पर प्रतिपादन किया है।

देवलोकमें सूर्य-चन्द्रादिके अभावमें अन्धकार हो ऐसी शंका करनेकी भी जरूरत नहीं है, क्योंकि देवोंके दिव्य विमानोंमें रहे मणिरत्नोंकी अद्भुत कांति, साथमें देवोंका अपना भी पुण्यप्रकर्ष [उद्योतनामकर्मका उदय] होता है कि वहाँ सर्वदा उद्योत ही होता है। यहाँ साथमें इतना समझना आवश्यक है कि ऊपर बताये मर्यादित क्षेत्रमें जिस तरह व्यावहारिक काल होता है उसी तरह नैश्रयिक (वर्तनापरिणाम-स्वरूप) काल उस मर्यादित क्षेत्रमें और अन्यत्र देवलोक आदि सर्वस्थानोंमें भी होता है।

यह व्यावहारिक काल ^{२८}अतीत, अनागत और वर्तमान भेदको लेकर तीन प्रकारका है। उसमें अतीत और अनागतकाल अनंतसमयात्मक है।

२८. ‘अवर्ध.कृत्य समयं, वर्तमानं विवक्षितम् ।

भूतः समयराशिर्यः कालोऽतीतः स उच्यते ॥’

‘अवधीकृत्य समयं वर्तमानं विवक्षितम् ।

भावी समयराशिर्यः कालः स-स्यादनागतः ॥’

‘वर्तमानः पुनर्वर्तमानैकसमयात्मकः ।

असौ नैश्रयिकः सर्वोऽप्यन्यस्तु व्यावहारिकः ॥’

[काललोकप्रकाश, सर्ग २८]

वर्तमानकाल एक समयरूप ही है, क्योंकि कालकी वर्तना एक समयरूप व्यवहारवाली है। प्रत्येक द्रव्य-पर्यायोंमें रहनेवाली तथा एक समय जितने ही कालमें स्वसत्ताका अनुभव करनेवाली जो वर्तना वह उत्पन्न होते और विनाश पाते भावोंके प्रथम समय सम्बन्ध-विषयक संव्यवहाररूप है। और वह तंदुल (चावल)के विकारवत् अनुमानसे समझने योग्य है। तात्पर्य यह है कि उत्पन्न होते और व्यय पाते हुए पदार्थोंके प्रथम समयका व्यवहार अर्थात् जिस समय पर पदार्थकी उत्पत्ति हुई तथा जिस समय विनाशभाव हुआ उस प्रथम समय पर ही वर्तनाका संव्यवहार है। वह वर्तनाकाल, समय प्रमाण अति-सूक्ष्म होनेसे सर्वज्ञ पुरुषोंसे ही ग्राह्य है। जिसके कारण कहा है कि—

‘बिसस्य बाला इव दह्यमाना, न लक्ष्यते विकृतिरिहाग्निपाते ।

तां वेदयन्ते मित सर्वभावाः, सूक्ष्मो हि कालोऽनुमितेन गम्यः ॥ १ ॥

अर्थः—कमल नालके तंतु अग्नि-संयोगसे दहमान होने पर भी हमें ज्ञात नहीं होता, साथ ही उसका विकाररूप जो भस्म है वह भी चर्मचक्षुसे दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, तथापि सर्व भावोंको जाननेवाले सर्वज्ञ-परमात्मा तो उन धिकाण्डिको जानते हैं। उसी तरह सूक्ष्मकालको सर्वज्ञ तो जानते ही हैं, लेकिन हमारे लिए तो वह अनुमानसे ही जानने योग्य है।

उस सूक्ष्मसे सूक्ष्म कालका ज्ञान करानेके लिए शास्त्रमें नीचे अनुसार दृष्टांत दिये हैं।

निमेष (आँखकी पलक) मात्र होनेमें जितना समय लगता है, उस कालके असंख्यात-भागको समय कहते हैं, अर्थात् आँखकी एक पलकमें असंख्यात समय होते हैं।

इसके लिए दृष्टान्त दिया है कि किसी ^{२८}तरुण पुरुषने किसी अतिजीर्ण वस्त्रको शीघ्रतासे फाड़ डाला, उस समय उस वस्त्रके एक तन्तुसे दूसरे तन्तुको फाड़नेमें असंख्य-

२९. ‘जीर्णं पटे भिद्यमाने, तरुणेन धलीयसा ।

कालेन यावता तन्तुस्तुट्येको जरातुरः ॥’

‘असंख्येयतमो भागो, यः स्यात्कालाय तावतः ।

समये समयः सैष, कथितस्तत्त्वेवदिभिः ॥’

‘तस्मिँस्तन्तौ यदेकस्मिन्पक्ष्माणि स्युरनेकशः ।

प्रतिपक्ष्म च सङ्घाताः, क्षणच्छेद्या असङ्ख्यशः ॥’

‘तेषां क्रमाच्छेदनेषु भवन्ति समयाः पृथक् ।

असंख्यैः समयैस्तत् स्यात्तन्तोरैकस्य भेदनम् ॥’ [लोकप्रकाश, सर्ग २८]

‘एवं पत्रशतोद्वेधे चक्षुसन्मेष एव च ।

भाव्याश्चपुट्टिकायां चासंख्येयाः समया बुधैः ॥’ [काललोक]

समय बीता होता है तो कल्पना करो कि उस जीर्णवस्त्रको पूरा पटनेमें कितना समय बीता होगा ?

अथवा दूसरी तरहसे सोचे तो सैकड़ों कमलके पत्रोंको कोई बलवान् पुरुष स्वसामर्थ्यसे तीक्ष्ण-भाला उठाकर उन सौ पत्रोंको एक साथ छेद डाले, उसमें वह भाला एक पत्तेको छेदकर दूसरे पर्णमें गया, उतनेमें असंख्यात समय चला जाता है। तब छेदनेवालेको स्थूलदर्शसे ऐसा ही लगता है कि मैंने एक ही साथमें पत्र छेद किया, परन्तु सूक्ष्मदृष्टिवाले सर्वज्ञ उसमें असंख्यात समय व्यतीत हुआ है, ऐसा ज्ञानसे जान लेते हैं।

ऐसा सूक्ष्मसे सूक्ष्म काल वह समय है।

पूर्व कथित वर्णनवाले समय चौथे जघन्ययुक्त असंख्याताकी संख्या जितने होते हैं, तब एक आवलिका होती है। ऐसी २५६ आवलिका जितना आयुष्य सूक्ष्म-निगोदादि जीवोंका होता है, इससे अल्प आयुष्य किसी भी जीवका होता ही नहीं है। इस कारण २५६ आवलिका जितना काल एक क्षुल्लक-भवरूप आँका जाता है। एक मुहूर्तमें ऐसे ६५५३६ क्षुल्लक भव होते हैं, क्योंकि एक मुहूर्तमें ^{३०}१,६७,७७,२१६ आवलिकाएँ होती हैं।

४४४६ ^{३४५५} आवलिका जितना काल एक प्राण या श्वासोच्छ्वास कहलता है। यहाँ श्वासोच्छ्वास नीरोगी, सुखी तथा युवावस्थाको प्राप्त हो ऐसे पुरुषका लेना, परन्तु रोगी या दुःखी ^{३१}मनुष्यका श्वासोच्छ्वास नहीं लेना; क्योंकि उसके श्वासोच्छ्वास अनियमितरूपसे चलते होते हैं।

उच्छ्वासको ऊर्ध्वगमनशील और नीचे रखने पर अधोगमनशील ^{३२}निःश्वास समझना। वह उच्छ्वास और निःश्वास दोनों मिलकर प्राण [श्वासोच्छ्वास] होता है। [इस एक श्वासोच्छ्वासमें अथवा एक प्राणमें १७ से अधिक १७ ^{३३}क्षुल्लक भव होते हैं।] ऐसे सात प्राण जितने कालको १ स्तोक कहा जाता है, ऐसे ७ स्तोकोंसे [४९ प्राणोंसे] १ ^{३३}लव होता है। ऐसे ७७ लव हों तब १ मुहूर्त हुआ कहा जाता है। ये मुहूर्त

३०. उक्तं च—एग कोडी सतसद्वी लक्खा सत्तहुत्तरी सहस्सा य ।

दोष सया सोलहिया आवलिया इग मुहुत्तमि ॥

३१; 'हट्टस्स अणवगल्लमस, निरुवकिट्टस्स जंतुणो ।

एग उसास नीसासे एस पाणुत्ति बुच्चई ॥

३२. 'तोऽन्तर्मुख उच्छ्वासः' 'बहिर्मुखस्तु निःश्वासः' । [हैमकोप]

३३. कालका विरोध वर्णन 'तंदुलवैचारिक, काललोक, जंबूद्वीपप्रशान्ति, ज्योतिषकरंडक' इत्यादि ग्रन्थोंमें विस्तारमें दिया है। जिज्ञासु वहाँ देखे ।

^{३४}चन्द्रमुहूर्त और सूर्यमुहूर्त ऐसे दो प्रकारके हैं। इस मुहूर्तमें एक समय कम होने पर उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहलाता है और लघुमें लघु (जघन्य) अन्तर्मुहूर्त ९ समयका होता है। १० समयसे लेकर उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्तमें एक समय न्यून पर्यन्त मध्यम अन्तर्मुहूर्त गिना जाता है। अतः यह 'अन्तर्मुहूर्त असंख्य प्रकारसे' है ऐसा सिद्धान्तोंमें कहा गया है, यह बराबर घटित होता है। ३० मुहूर्त [६० घड़ी]का १ सूर्यदिवस होता है, ऐसे १५ सूर्यदिवसका १ सूर्यपक्ष होता है और १५ चान्द्र-दिवसका भी १ चान्द्र-पक्ष कहा जा सकता है, जिसे व्यवहारमें पक्ष-‘पखवाड़ा’ कहते हैं। ऐसे दो पखवाड़ोंसे एक मास होता है, १२ मासोंसे १-सूर्य-संवत्सर होता है, पाँच सूर्यसंवत्सरोंका १ युग होता है, ८४ लाख सूर्यसंवत्सरोंसे १ पूर्वांग, ८४ लाख पूर्वांगोंसे १ पूर्व तथा ८४ लाख पूर्वोंसे १ त्रुटितांग होता है, [इतना आयुष्य श्री ऋषभदेव स्वामीका था।] ८४ लाख त्रुटितांगोंसे १ त्रुटित, ८४ लाख त्रुटितोंसे १ अडडांग, ऐसे चौरासी लाख चौरासी लाखसे गुना करते हुए शीर्षप्रहेलिका तक आये।

जैसे कि—^{३५}अडडांग, ^{३६}अडड, अववांग, अवव, हुहुकांग, हुहुक, उत्पलांग, उत्पल, पदांग, पदा, नलिनांग, नलिन, अर्थनिपूरांग, अर्थनिपूर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका। इस तरह शीर्षप्रहेलिका ^{३७}तककी संख्या हुई। पश्चात् असंख्यात वर्षका एक पत्योपम होता है, जिसका स्वरूप इस प्रकार है।

३४. चन्द्रमुहूर्तके बाद रात्रिके मुहूर्तोंके नाम अलग-अलग प्रकारकाले हैं, उनका तथा सूर्यायन-दक्षिणायनादि प्रकारोंका विस्तृत स्वरूप 'काललोकप्रकाश' में देखें।

३५. “पुष्वतुडियाडडाववहुहुव, तह-उप्पले य-पउमेय।

अट्टावीसुं च ठाणा, चउणउ यं होइ ठाण-सयं ॥”

३६. ज्योतिष्करण्डकादि अन्य ग्रन्थोंमें इस संख्याके नाम अलग प्रकारसे कहे हैं।

३७. आजके प्रचलित गणितकी तरह जैनशास्त्रमें १८ अंक पर्यन्त ही संख्या या उनके नाम नहीं हैं, परन्तु १९४ अथवा मतान्तरसे २५० अंक तककी संख्याएँ उनके नामोंके साथ हैं। उनमें एक मतके अनुसार शीर्षप्रहेलिकाका अंक ७५८२६३२५३०७३०१०२४११५७९७३५६९९७५६९६४०६२१८९६६८४८०८०१८३२९६, इन ५४ अंकों पर १४० शून्य लगाने जितना होता है, अर्थात् कुल १९४ अंक-प्रमाण हैं। इस तरह माधुरीवाचना-प्रसंग पर अनुयोगद्वारमें कहा गया है। श्री भगवतीजी, जंबूद्वीपप्रज्ञपति और स्थानगादि आगम ग्रन्थोंमें यही अभिप्राय व्यक्त हुआ है।

जब कि अन्य ज्योतिष्करण्डकादिग्रन्थोंमें उससे भी बृहत् संख्या गिनवाई है, अर्थात् ७० अंकोंको १८० शून्य लगानेसे २५० अंकप्रमाण संख्या प्राप्त होती है। जो यह रही—१८७९५५१७९५५०११२

^{३८}पल्योपमके छह प्रकार हैं—१. उद्धारपल्योपम, २. अद्धारपल्योपम तथा ३. क्षेत्र-पल्योपम और प्रत्येकके सूक्ष्म और बादर ऐसे दो भेद हैं ऐसे कुल छह भेद हुए । उसी प्रकारसे ^{३९}सागरोपमके भी छह प्रकार समझें, जिन्हें आगे बतलाया गया है ।

समयसे लेकर पुद्गल-परावर्तनकी कालसंख्याका कोष्ठक

निर्विभाज्य काल प्रमाण	१ समय
९ समयका	१ जघन्य अंतर्मुहूर्त
४० चौथा ज०यु० असंख्याताकी संख्या प्रमाण समयोंकी	१ आवलिका
२५६ आवलिकाका	१ क्षुल्लक भव
२२२३ $\frac{३३३६}{३३३६}$ आवलिकाका	१ उच्छ्वास अथवा निःश्वास
४४४६ $\frac{३४४६}{३४४६}$ आवलिकाका अथवा साधिक १७ क्षुल्लक-भवन अथवा उच्छ्वास निःश्वास मिलकर	} १ प्राण (श्वासोच्छ्वास)
७ प्राणोंका	
७ स्तोकसे	१ लव
३८ $\frac{१}{३}$ लवोंसे (२४ मिनटकी जो घड़ी होती है वह)	१ घड़ी

५९५४१९००९६९९८१३४३०७७०७७७४६५४९४२६१९७७७४७६५७२५७३४५७१८६८१६
(कुल ७० अंक संख्या) और ऊपर १८० शून्य रखें, जिससे २५० अंक संख्या आती है इस तरह 'वलभी' (वलभीपुर नगरमें हुई) वाचनमें कहा गया है ।

इसके अतिरिक्त दूसरोंने भी दूसरी बहुतसी अलग-अलग रीतियाँ बताई हैं, इसके लिए 'श्री महावीराचार्य-वृत्त-गणित० संग्रह' आदि देखनेका अनुरोध है ।

३८. पल्य—अर्थात् बाँसकी सलाइयोंसे बना प्याला अथवा पल्य अर्थात् कुआँ, अथवा गड्ढा भी कहा जाय, उस उपमासे दिया जाता प्रमाण 'पल्योपम-प्रमाण' कहा जाता है ।

३९. सागरोपम—अर्थात् सागर (समुद्र)का पार जिस तरह नहीं पाया जाता, उसी तरह इस प्रमाणका भी पार नहीं पा सकते, जिससे सागरकी उपमावाला ऐसा काल वह सागरोपम काल कहा जाए ।

४०. चौथे जघन्ययुक्त असंख्याताकी जो संख्या है वह संख्या-प्रमाण समयोंसे मिलकर १ आवलिका होती है, २५६ आवलिकाका १ क्षुल्लक-भव होता है, ४४४६ $\frac{३४४६}{३४४६}$ आवलिका-कालसे १ स्तोक होता है, ७ स्तोकसे १ लव होता है, ७७ लवोंसे एक मुहूर्त होता है । साथ ही एक मुहूर्तमें ६५५३६ क्षुल्लक भव भी होते हैं । मुहूर्तके भेद बहुत होनेसे ३७७३ भव भी कम पड़ते हैं ।

७७ लवोंसे अथवा २ घड़ियोंसे अथवा ६५५३६	}	१ (चान्द्र) मुहूर्त होता है ।
शुक्लक भवोंसे अथवा १६७७७२१६ आवलिकाओंसे		(एक सामायिक-काल)
अथवा ३७७३ प्राणोंसे		
समयोन २ घड़ियोंका		१ उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होता है ।

अन्य प्रकारसे—

निर्विभाज्य असंख्य समयका	१ निमेष
१८ निमेषोंसे	१ काष्ठा
२ काष्ठाओंसे	१ लव
१५ लवोंसे	१ कला
२ कलाओंसे	१ लेश
१५ लेशोंसे	१ क्षण
६ क्षणोंकी	१ घटिका

[असंख्याता समयोंका एक निमेष प्रमाण भी होता है । अष्टादश निमेषसे एक काष्ठा, २ काष्ठासे एक लव, १५ लवोंसे १ कला, २ कलासे १ लेश, १५ लेशोंसे १ क्षण, ६ क्षणोंसे १ घटिका (नाडिका), २ घटिकासे १ मुहूर्त]

३० मुहूर्तोंसे एक अहोरात्र (दिवस), १५ अहोरात्रोंसे १ शुक्लपक्ष, वैसे ही दूसरे १५ अहोरात्रोंका १ कृष्णपक्ष, २ पक्ष मिलकर १ मास होता है, २ मास मिलकर १ ऋतु होती है । [बारह मासोंकी—२ मासकी एक ऋतुके हिसाबसे ६ ऋतुएँ होती हैं । १. हेमंत, २. शिशिर, ३. वसंत, ४. ग्रीष्म, ५. वर्षा, और ६. शरद ऋतु] । तीन ऋतुएँ मिलकर १ अयन, २ अयनोंसे १ संवत्सर, ५ संवत्सरोसे १ युग, २० युगोंसे एक शत (१००) वर्ष, दशशत (१००) वर्षोंसे एक सहस्र (१०००) वर्ष, शतसहस्र वर्षोंसे एक लक्ष वर्ष, ८४ लाख वर्षोंसे एक पूर्वांग, ७० लाख करोड़ ५६ हजार करोड़ वर्षोंसे १ पूर्वं होता है, ८४ लाख पूर्वोंसे १ त्रुटितंग होता है तथा इस त्रुटितंगकी संख्याको ८४ लाखसे २५ बार गुणान करनेसे शीघ्र-प्रहेलिकाका प्रमाण आ जाता है । ये सब और इनसे आगेका प्रमाण ऊपरसे चाद् विवरणमें देखें ।

‘अष्टादश निमेषाः स्युः काष्ठा काष्ठाद्वयं लवः ।

कलाः तैः पञ्चदशभिल्लेशस्तद्वितयेन च ॥

क्षणस्तैः पञ्चदशभिः, क्षणैः षडभिस्तु नाडिका ।

सा धारिका-घटिका च मुहूर्तस्तद्वयेन च ॥

त्रिंशता तैरहोरात्रः, ... पञ्चदशाहोरात्रः स्यात् पक्षः, स बहुलोऽसितश्च ।

पक्षौ मासः । द्वौ द्वौ मार्गदिकावृत्तः ॥

शिशिरावैश्विभिः त्रिभिः अयनम्, अयने द्वे वत्सरः । [हैमकोष]

२ घटिकाओंसे	१ मुहूर्त
३० मुहूर्तका	१ दिवस (अहोरात्र)
१५ दिवसका	१ पक्ष (पक्षवारा)
२ पक्षोंका	३ दिवसोंका १ मास
२ मासोंसे	१ ऋतु
३ ऋतुओंसे [१८३ दिवस, वा ६ मास]	१ अयन [६ मास]
२ अयनोंसे [१२ मास] अथवा ^{४१} छह ऋतुओंसे-	१ वर्ष
५ (सौर) वर्षोंसे	१ युग
२० युगोंसे	१ शत वर्ष [१००]
दस शत वर्षोंसे	१ सहस्र वर्ष
शत सहस्र वर्षोंसे	१ लक्ष वर्ष
८४ लक्ष वर्षोंसे	१ पूर्वांग
८४ लाख पूर्वांगसे [७० लाख कोड़ ५६ हजार कोड़ सूर्य-वर्षोंसे]	१ पूर्व
८४ लाख पूर्वसे	१ त्रुटितांग [प्रथम प्रभुका आयुष्य]
८४ लाख त्रुटितांगोंसे	१ त्रुटित
८४ लाख त्रुटितोंसे	१ ^१ अडडांग
८४ लाख अडडांगोंसे	१ ^२ अडड
८४ लाख अडडोंसे	१ ^३ अववांग
८४ लाख अववांगोंसे	१ ^४ अवव
८४ लाख अववोंसे	१ इहकांग
८४ लाख इहकांगोंसे	१ इहक
८४ लाख इहकोंसे	१ उत्पलांग
८४ लाख उत्पलांगोंसे	१ उत्पल
८४ लाख उत्पलोंसे	१ पद्मांग
८४ लाख पद्मांगोंसे	१ पद्म
८४ लाख पद्मोंसे	१ नलिनांग
८४ लाख नलिनांगोंसे	१ नलिन
८४ लाख नलिनोंसे	१ ^१ अर्थनिपूरांग

४१. जिसके विषयोंमें कहा है कि—'पाउस वासारत्तो सरओ हेमंत वसंत गिम्हाय ।

एए खलु छपि उऊ, जिगवर-दिट्टा मए सिट्टा ॥'

१. अथवा-अट्टांग । २. अट्ट । ३. अयवांग । ४. अयव । ५. अचलनिपूरांग ।

८४ लाख अर्थ निपूरांगोंसे	१ अर्थनिपूर
८४ लाख अर्थ निपूरोंसे	१ अयुतांग
८४ लाख अयुतांगोंसे	१ अयुत
८४ लाख अयुतोंसे	१ प्रयुतांग
८४ लाख प्रयुतांगोंसे	१ प्रयुत
८४ लाख प्रयुतोंसे	१ नयुतांग
८४ लाख नयुतांगोंसे	१ नयुत
८४ लाख नयुतोंसे	१ चूलिकांग
८४ लाख चूलिकांगोंसे	१ चूलिका
८४ लाख चूलिकाओंसे	१ शीर्ष प्रहेलिकांग
८४ लाख शीर्ष-प्रहेलिकांगोंसे	१ *शीर्ष-प्रहेलिका (संख्यात वर्ष)
असंख्याता वर्षका (पल्य प्ररूपणासे)	१ पल्योपम (छह भेदोंका)
१० कोडाकोडी पल्योपमका	१ सागरोपम (कुल छह प्रकारका)
	१ उत्सर्पिणी अथवा इतने ही
१० कोडाकोडी अद्धा-सागरोपमकी	कालकी
	१ अवसर्पिणी छः छः आरा प्रमाण
२० कोडाकोडी अद्धा-सागरोपमकी	१ कालचक्र होता है
अथवा १ उत्सर्पिणी अथवा	१ पुद्गल-परावर्त होता है
१ अवसर्पिणी मिलकर अनन्ता कालचक्रका	और वह चार प्रकारका है ।

॥ बादर-उद्धार-पल्योपम १ ॥

*उत्सेधांगुलके प्रमाण द्वारा निष्पन्न १ योजन [चार कोस] गहरा घनवृत्त कुआँ [लंबाई, चौड़ाई और गहराई तीनोंका प्रमाण समान होनेसे घनवृत्त कहा जाता है] जिसकी परिधि $3\frac{1}{2}$ योजन व्यापक होती है, वह कुआँ सिद्धान्तोक्त अभिप्रायसे

* जैन धर्ममें सबसे बड़ी और संख्याताकी गिनतीमें यह संख्या है। जिसमें ५४ अंक १४० शून्य है। सब मिलकर १९४ अंकात्मक संख्या सबसे बड़ी है। शीर्षप्रहेलिका अंशोंमें इस प्रकार है। ७६८२ ६३२६३०७३०११२४११५७७३६९९७५६९६४०६२१८१६६८४८०८०१८३२९६ इसके आगे १४० शून्यांक होते हैं।

ज्योतिकरंडमें २५० अंक बताये हैं। इतर ग्रन्थोंमें दूसरे प्रकारसे संख्यामान बताया है।

४२. यह हमारा चालू माप है।

महाविदेहक्षेत्रवर्ती मेरुके समीप आये देवकुरु और ^{४३}उत्तरकुरु-क्षेत्रके युगलिक मनुष्योंके मुंडन किये हुए ^{४४}मस्तकों पर एकसे सात दिन तक उगे हुए ^{४५}बालार्थसे भरना ।

प्रवचन सारोद्धार तथा संप्रहणीवृत्तिमें तो मस्तक मुंडानेके बाद एक, दो यावत् उत्कृष्टसे सात दिनके उगे हुए बालाग्र लेना केवल इतना ही कथन हुआ है । अर्थात् अमुक क्षेत्राश्रयी लेनेका सूचन नहीं है ।

क्षेत्रसमासस्वोपश्रवृत्तिके अभिप्रायसे देवकुरु-उत्तरकुरुमें उत्पन्न [इन क्षेत्रवर्ती युगलिकोंके बाल सूक्ष्म हैं इसलिए] सात दिवसके ^{४६}मोटेके एक उत्सेधांगुल प्रमाण एक ही रोमके सात बार आठ-आठ खण्ड करें तब १ उत्सेधांगुल मापके एक बालके सब मिलकर २०,९७,१५२ रोम-खण्ड हों । ऐसे अति सूक्ष्म किये हुए रोम-खंडोंसे इस पल्यको भरना, इत्यादि सांप्रदायिक [गुरु-परम्पराका] अर्थ है ।

इस तरह एक उत्सेधांगुलप्रमाण बालके सात-सात बार आठ-आठ टुकड़े करके, उस पल्यको परिपूर्ण भरनेसे, एक उत्सेधांगुलप्रमाण मोटे पल्यके तलवेके क्षेत्रमें २०,९७,१५२ रोमखंड समा सकते हैं । एक एक अंगुलके किये रोमखंडोंकी राशिको चौबीस अंगुलोंका एक हाथ होनेसे, २४ गुने करें तो एक हाथ जितनी जगहमें ५,०३,३१,६४८ [५ करोड़, ३ लाख, ३१ हजार, ६ सौ और ४८] रोम खंड समा जाते हैं, पुनः उसे ही चार हाथका धनुष्य होनेसे चारगुने करें तो २०,१३,२६,५९२ [बीस करोड़, १३ लाख, २६ हजार, ५ सौ ९२] रोमखंड १ धनुष्य पल्यक्षेत्रमें समाते, हैं, पुनः उसे ही २००० दंड [अथवा धनुष्य] का एक कोस होनेके कारण २००० गुना करें तब ४,०२,६५,३१,८४,००० [४ खर्व, २ अरब ६५ करोड़, ३१ लाख ८४ हजार] रोम-राशि १ कोस जितने पल्यके क्षेत्रमें समा जाती है । चार कोसका एक योजन होनेसे उक्त संख्याको चार गुना करें तब १,६,१०,६१,२७,३६,००० [१ निखर्व, ६ खर्व, १० अरब, ६१ करोड़, २७ लाख,

४३. यह अभिप्राय क्षेत्रसमास और जम्बूद्वीप प्रजातिकी वृत्तिका है । और जिनभद्राणि क्षमाश्रमणका भी यही अभिप्राय है ।

४४. युगलिकोंको मुंडन नहीं होता है लेकिन दृष्टांतके लिये बताया है ।

४५. बालाग्र अर्थात् बालका अग्र भाग नहीं है किन्तु 'अमुक प्रमाण बाल' लेना अर्थात् १ से ७ दिन तकका बढ़ा हुआ बाल वह बालाग्र ।

४६. निवक्षित १ रोमके प्रथम बार ८ खंड किये, उसके दूसरी बार हरएक ८ खंडके आठ आठ बार टुकड़े किये तब ६४, ६४ खंडमें प्रत्येक खंडके तीसरी बार आठ-आठ खंड करें तब ५१२ चौथी बार ४०१६, पांचवीं बार ३२७६८, छठी बार २६२१९४ और सातवीं बार करें तब २०९७१५२ खंड, १ उत्सेधांगुल-प्रमाण एक बालके हों ।

३६ हजार] रोमखंड केवल पत्थकी एक योजन लंबी श्रेणिमें समा जाएं जब कि दूसरी अनेक श्रेणियाँ भरें तब मात्र कुँका तलभाग ही ढँका जाए। अतः उस समग्र तलवेको बालाग्रोंसे संपूर्ण भरनेके लिए १६१०६१२७३६००० की उक्त संख्याका वर्ग करें अर्थात् पुनः उतनी ही संख्यासे गुने तब २५९४०७३३८५३६५४०५६९६ रोमखंडोंसे केवल तलवा ही पूरित हों। इतनी बाल-संख्यासे एक ही प्रस्तररचना हुई कही जाय। पूर्वोक्त संख्या-प्रमाण दूसरे बालोंकी परतोंको भरें तो समग्र कुआँ भर जाए। यह गिनती 'घनवृत्त' करनेकी थी, परंतु यहां घनचौरस कुँकी हुई। तो अब उस रोमखंडको उतने ही रोमखंडोंसे पुनः गुने तो ४१७८०४७६३२५८८१५८४२७७८४५४०२५६००००००००० इतने रोमखंडोंसे 'घनचौरस' कुआँ भर जाए। 'घनवृत्त' कुआँ भरनेके लिए प्रस्तुत संख्याको १९^{४०} गुनी करके २४ से भाग करे तो ३३ करोड़, ७ लाख, ६२ हजार, १०४ कोडाकोडी कोडाकोडी; २४ लाख, ६५ हजार, ६२५ कोडाकोडी कोडी, ४२ लाख, १९ हजार, ९६० कोडाकोडी, ९७ लाख, ६५ हजार, ६०० करोड़^{४८} (३३०७६२१०४ कोडाकोडी कोडाकोडी २४६५६२५, कोडाकोडी कोडी,, ४२११९६० कोडाकोडी, ९७५३६००,०००००००) इतने बालाग्रोंकी राशियोंसे संपूर्ण कुआँ भर जाए। इन बालोंको खचाखच भरना और उन्हें ऐसा निबिड भरना की उन बालाग्रोंको अग्नि जला न सके, पानी भिगो न सके और चक्रवर्ती जैसे कि महासेना उस बालाग्र पर स्पर्श करती हुई निकल जाए, तो भी वह बालाग्र झुकता नहीं (दबता नहीं) इस तरह बालाग्रोंसे ठसाठस भरे हुए कुँमेंसे हरएक समय पर एकएक बालाग्र समुद्धृत करना अर्थात् निकालना, ऐसे समय समय पर बालाग्र निकालते हुए जितने समयमें वह पत्थ सर्वथा बालाग्रसे रहित हो जाए उतने समयको 'बादर उद्धारपत्थोपम' कहा जाए।

कुँके बाहर उद्धार करनेकी मुख्यतासे यह नाम दिया गया है। इस पत्थोपमका काल-मान संख्यात समयमात्र है, क्योंकि एक एक समय पर बालाग्र निकालना है। बालाग्रोंकी संख्या मर्यादित ही है और निमेष-मात्रमें असंख्यात समय हो जाता है। इस निमेष-कालसे

४७. शतक कर्मग्रन्थ टीकामें चौरसका वृत्त करनेके लिए इस विषयमें १९ से गुना करके २२ से भाग देना बताया है।

४८. जिसके लिए लोकप्रकाशमें कहा है कि—

त्रिन्त्रिंशत्संख्याशावाद्द्वयक्ष्यन्धिरसेन्द्रियाः ।

षट्द्विपञ्चचतुद्वयैकांकांकषट्कांकाजिनः ॥ १ ॥

पञ्च त्रीणि च पट् किञ्च नवत्वानि ततः परम् ।

आदितः पत्थरोमांशाराशिसंख्यांक संग्रहः ॥ २ ॥

भी इस पल्योपमका काल अतिअल्प है। यह काल-प्रमाण जगत्की किसी भी ^{४९}वस्तुका काल बतानेमें उपयोगी नहीं है। केवल आगे कहा गया 'सूक्ष्म-उद्धार पल्योपम' सुखसे जाना जा सके इसीलिए बादर उद्धार पल्योपमका स्वरूप बतानेमें आया है। इति बादर-उद्धार-पल्योपम-स्वरूपम् ॥

१. ऐसे दस कोडाकोडी बादर-उद्धार-पल्योपमसे एक 'बादरउद्धारसागरोपम' होता है।

सूक्ष्मउद्धार पल्योपमम् ॥ २ ॥

सूक्ष्म-उद्धारपल्योपम — पहले बादर उद्धार पल्योपमके निरूपणमें जिस तरह कुआँ भरा है उसी तरह यहाँ भरा हुआ समझें। अब उस कुएँमें पहले जो सूक्ष्म बालग्र भरे थे, उनमेंसे प्रत्येक बालग्रोंके बुद्धिमान् पुरुष बुद्धिकी कल्पनासे असंख्य असंख्यखंड कल्पित करें। द्रव्यप्रमाणसे वे रोमखंड कैसे हों? तो विशुद्ध लोचनवाला छद्मस्थ जीव जैसे सूक्ष्म [आपेक्षिक सूक्ष्म] पुद्गल-स्कंधको देख सकता है, उसके असंख्यातवें भाग जितने सूक्ष्म ये बालग्र होते हैं। क्षेत्रसे इस बालग्रका प्रमाण बताते हुए कहते हैं कि सूक्ष्म-साधारण वनस्पतिकवय (निगोद)के जीवका शरीर जितने क्षेत्रमें सिमटकर रहता है, उसकी अपेक्षा असंख्यगुण अधिकक्षेत्रमें ये रोमखंड सिमट सकते हैं।

साथ ही अन्य बहुश्रुत भगवन्त कथन करते हैं कि-असंख्यातवें भागके प्रमाणानुरूप जो बालग्र हैं वे पर्याप्त बादर पृथ्वीकायके शरीर-तुल्य होते हैं। ये सर्व रोमखंड परस्पर समान प्रमाणवाले और सर्व अनन्त-प्रदेशात्मक होते हैं।

इस तरह पूर्वकी रीतिसे पूर्वप्रमाणवाले उस पल्यके अंदर रहे जो बालग्र जिनके सूक्ष्म उद्धार पल्योपमका प्रमाण निकालनेके लिए (प्रत्येक) के असंख्य असंख्य खंड कल्पित किये हैं, उन कल्पित बालग्रोंमेंसे प्रतिसमय, एक एक बालग्रको पल्यमेंसे बाहर निकाले, ऐसा करते हुए जितने समयमें-कालमें वह पल्य बालग्रोंसे निःशेष हो जाए, उस कालको 'सूक्ष्म-उद्धार-पल्योपम' कहा जाता है। यह पल्योपम संख्याता करोड़ वर्ष प्रमाणका है।

ऐसे दस कोडाकोडी सूक्ष्म-उद्धार-पल्योपमसे एक २. 'सूक्ष्म-उद्धार-सागरोपम' होता है।

इस सूक्ष्म-उद्धार पल्योपम और सूक्ष्म-उद्धार-सागरोपमसे तिच्छालोकवर्ती असंख्यात द्वीप-समुद्रोंकी संख्याकी तुलना हो सकती है, क्योंकि पचीस कोडाकोडी [२५००००००००-०००००००] सूक्ष्म उद्धार पल्योपमके जितने समय हैं उतने ही द्वीपसमुद्र हैं, इसीलिए

४९. जिसके लिए अनुयोगद्वारमें कहा है कि—“एएहिं वावहारिय-उद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं कि पउ [ओ] यणं? एएहिं वावहारिय-उद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं णरिथ किंनिपओयणं, केवलं पन्नवणा, पन्नविज्जई।” [गा. १०७]

सूक्ष्म बालग्रोंसे उद्धार करते समय कालप्रमाण निकलनेसे यह नाम सान्वर्थक है।

तो २५^{५०} कोडाकोडी कुओंमें पूर्वरीतिसे किये असंख्य-असंख्य खण्डोंवाले रोमखण्डोंकी जितनी संख्या हो उतने द्वीप-समुद्र हैं अर्थात् सागरोपमसे ^{५१} ढाई सूक्ष्मउद्धार सागरोपमके जितने समय है उतने ही द्वीपसमुद्र हैं ।

इति सूक्ष्म-उद्धार-पल्योपमस्वरूपम् ॥

बादर-अद्वापल्योपमम् ॥ ३ ॥

पहले 'बादर उद्धार पल्योपम' के समय जिस मापके पल्पमें जिस तरह बालाग्र भरे थे, उसी तरह यहाँ भी कल्पना करें। उस समय, उस पल्पमेंसे प्रथम प्रतिसमय-उद्धार क्रिया की थी, तब यहाँ बादर अद्वापल्योपम निकालनेके लिए, हर सौ वर्षमें एक एक बालाग्र मात्र निकालना, अर्थात् सौ वर्ष हों तब एक बार एक बालाग्र कम करना। दूसरे सौ वर्ष हों तब एक दूसरा बालाग्र बाहर निकालना। इस तरह क्रिया करते जब वह पल्प बालाग्रोंसे रहित हो जाए तब बादर-अद्वा-पल्योपम होता है। यह पल्योपम संख्यात्ता एक करोड़ वर्ष प्रमाण है और इसका निरूपण आगे कहे जानेवाले 'सूक्ष्मअद्वापल्योपम' को समझनेके लिये ही है।

ऐसे दस कोडाकोडी सूक्ष्म अद्वापल्योपमसे एक ३. 'सूक्ष्मअद्वासागरोपम' होता है। यहाँ 'अद्वा' अर्थात् समयके साथ तुलना किया हुआ काल।

सूक्ष्म-अद्वापल्योपमम् ॥ ४ ॥

पहले सूक्ष्म उद्धार पल्योपमके प्रसंग पर प्रत्येक बादर रोमखण्डोंका जिस तरह असंख्यात असंख्यात खण्ड कल्पित किये थे वैसे ही यहाँ पर कल्पित करें, (पल्पप्रमाण पूर्ववत् समझना) कल्पना करके प्रतिसमय नहीं निकालकर हर सौ वर्ष पर एक एक बालाग्र

५०. कोडाकोडी अर्थात् किसी भी मूल संख्याको एक करोड़से गुना करनेसे जो संख्या प्राप्त हो, वह समझना। जिस तरह १०००००००० दस करोड़को १०००००००० एक करोड़से गुना करे तो १०००००००००००००००० (दस कोडाकोडी) संख्या होती है, परन्तु वर्गगणितकी तरह उतनी संख्याको उतनी संख्यासे गुना करना ऐसा नहीं।

५१. 'एएहिं सुदुमउद्धारपलिओवमसागरोवमेहिं दीप समुद्धानं उद्धारो धेप्यई ॥' सिद्धान्तेऽप्युक्तं—
“केवइया णं भंते । दीव-समुद्दा उद्धारेणं पन्नता ? गोयमा । जावइआणं अइदाइज्जाणं उद्धार सागरोवमाणं उद्धार, समया, एवइयाणं दीवसमुद्दा उद्धारेणं पन्नत्त ! ॥” अन्येऽप्याहुः—

“जावइओ उद्धारो, अइदाइज्जाण सागराण भवे ।

तावइया खलु लोए, हवंति दीवा-समुद्दा य ॥” [प्र. सारो. द्वा. १५९]

निकालना और निकालते निकालते जब वह कुआँ खाली हो जाए तब एक 'सूक्ष्मअद्वापत्योपम' होता है ।

ऐसे दस कोडाकोडी सूक्ष्मअद्वापत्योपमसे एक ४. 'सूक्ष्मअद्वासागरोपम' होता है ।

इस सूक्ष्म-अद्वा-पत्योपम अथवा सागरोपम द्वारा नरक आदि चारों गतिथोंके जीवोंकी ^{५२}आयुःस्थिति [भवस्थिति] तथा जीवोंकी स्वकाय-स्थितियाँ आदि मापी जाती हैं ।

बादर-क्षेत्र पत्योपमम् ॥ ५ ॥

जिस मापके बालाघोंको सात बार, आठ-आठ खंड करनेसे कुआँ भरा है, उसी पत्यमें स्थित प्रत्येक रोमखण्डोंमें, असंख्य असंख्य आकाश-प्रदेश अन्दर और बाहरसे भी स्पर्श करके रहे हैं और अस्पर्श रूपमें भी रहे हैं, उनमें स्पर्श करके रहे हुए आकाश-प्रदेशोंकी अपेक्षा अस्पृष्ट आकाशप्रदेश असंख्यात हैं । उन बालाघोंसे स्पृष्टबद्ध आकाश-प्रदेशोंको प्रत्येक समय एक-एककर बाहर निकालें और निकालते-निकालते स्पर्शित सर्व आकाशप्रदेश जब खाली हो जाएँ तब उतना समय बादर-क्षेत्र-पत्योपम कहा जाए । यह पत्योपम असंख्य कालचक्र प्रमाण है ।

ऐसे दस कोडाकोडी बादरक्षेत्र पत्योपमसे एक ५. 'बादरक्षेत्रसागरोपम' होता है । इस बादर पत्योपम-सागरोपमके कथनका प्रयोजन सूक्ष्मक्षेत्रपत्योपम समझनेके लिए ही है ।

सूक्ष्म-क्षेत्र पत्योपमम् ॥ ६ ॥

सूक्ष्मबादरक्षेत्रपत्योपमके प्रसंग पर जिन प्रकारके बालाघोंसे उक्त प्रमाण पत्य भर था, उसी प्रकारसे भरे पत्यमें प्रत्येक रोमखण्डोंके अन्दर स्पर्श किये हुए और नहीं स्पर्श किये आकाश-प्रदेशका विवरण किया गया था । वर्तमान प्रसंगमें इतना विशेष रुमझना चाहिये कि बालाघ इतने तो खचाखच भरे हुए हैं कि, वे प्रचण्डवायुसे भी उड़ नहीं सकते, अगाध ज्ञानदृष्टिवाले त्रिकालदर्शी ज्ञानी पुरुषोंने यथार्थ देखा है और इसलिए यथार्थ प्रकाशित किया है । निबिड रीतिसे भरे और असंख्यवार खण्डित करके कल्पित उन बालाघोंमें भी एक बालाघसे दूसरा बालाघ, दूसरेसे तीसरा, ऐसे सर्भके अन्तरालमें असंख्यात असंख्यात आकाशप्रदेश हैं । अतः सचमुच देखे तो स्पृष्टके बदले अस्पृष्ट आकाश प्रदेश बहुत (असंख्यगुणा) मिल जाएँगे । इस तरह स्पृष्टास्पृष्ट आकाश प्रदेश दो प्रकारके हुए, एक स्पर्शित और दूसरे अस्पर्शित । दोनों प्रकारके आकाशप्रदेशोंमेंसे प्रतिसमय स्पृष्ट और अस्पृष्ट आकाशप्रदेशको कम करते हुए जब वह पत्य ज्ञानीकी दृष्टिसे स्पृष्टास्पृष्ट दोनों प्रकारके आकाशप्रदेशोंसे निःशेष हो जाय तब 'सूक्ष्मक्षेत्रपत्योपम' होता है ।

५२. जिसके लिये कहा है कि—“एएहिं सुहुमअद्वापलिओवमसागरोवमेहिं नेरइयतिरिक्खजोणिदमणुय-देवाणं आउयाइं माविज्जंति” इति ।

यद्यपि यहाँ बालाप्रोक्ता असंख्यवार खण्ड करनेका कुछ भी प्रयोजन नहीं है, क्योंकि सारे पल्यमें स्थित सर्व आकाशप्रदेशोंको तो निकालना है ही, तथापि बालाप्रोक्ते असंख्यात खण्ड करनेके साथ भरनेका क्या कारण है ? इस शंकाके समाधानमें यह समझें कि दृष्टिवाद नामके बारहवें सूत्रांगमें कुछ द्रव्यप्रमाण स्पृष्ट आकाशप्रदेशोंसे, कुछ मात्र अस्पृष्ट आकाश-प्रदेश-प्रमाणसे और कुछ स्पृष्टास्पृष्ट आकाशप्रदेशोंसे—इस तरह तीनों रीतियोंसे माप होनेसे तीनों रीतियोंसे—कालका मान समझनेके लिए उक्त ^{५३}प्ररूपणा की है ।

प्रश्न—इस पल्यमें स्थित बालाप्र इस प्रकार निबिड भरे होते हैं कि चक्रवर्त्तीका सैन्य एक बार शायद चला जाए तो भी वे बालाप्र जरा भी दब नहीं सकते, तो ऐसे पल्यमें भी अस्पृष्ट आकाशप्रदेश क्या सम्भव है ?

उत्तर—हाँ ! पल्यमें स्थित रोमखण्ड चाहे जैसे खचाखच भरे हों तब भी वह रोमखण्ड वस्तु ही औदारिक वर्गणाकी होनेसे ऐसे बादर परिणामवाली है कि जिसका स्कन्ध ऐसे प्रकारका घन-परिणामवाला नहीं हो सकता कि जो स्कन्ध स्व-स्थानवर्ती आकाश-प्रदेशोंमें व्यावृत्त (व्याप्त) हो जाय, अतः हरएक बालाप्र अनेक छिट्टोंवाला है । वह छिट्टोंमें भी आकाशप्रदेशसे अस्पृष्ट होता है । किसी भी औदारिकादि शरीर स्कन्धके अवयव सर्वथा निःछिद्रक नहीं होते, इसी कारण स्पृष्टकी अपेक्षा अस्पृष्ट आकाश-प्रदेश असंख्यगुण भी संभवित हो सकते हैं । साथ ही, रोमखण्ड बादरपरिणामवाले हैं तो आकाशप्रदेश तो अति सूक्ष्म-परिणामवाले और अरूपी हैं । इसलिए बादर परिणामवाली वस्तुमें अति सूक्ष्मपरिणामी अस्पृष्ट आकाशप्रदेश संभवित हो उसमें किसी भी प्रकारका विसंवाद है ही नहीं ।

एक बाह्य उदाहरण द्वारा इसे समझ सकेंगे कि ^{५४}कुम्हड़ोंसे भरी कोठीमें परस्पर पोलेपन होता है और उस पोलेपनमें बहुतसे बिजौरेके फल समा सकते हैं, उन बिजौरेमें प्रवर्तमान पोलेपनमें हरे रह सकते हैं, हरे के पोले भागोंमें झरवेर रह सकते हैं, बेरोंके पोलेपनमें चने समा सकते हैं, चनेके अन्तरमें तिल, उसके आंतरमें सरसों आदि सूक्ष्म-सूक्ष्मतर वस्तुएँ समा सकती हैं; तदनन्तर एक अति सूक्ष्मपरिणामी आकाश-प्रदेश बालाप्रोक्ते

५३. उसके लिए देखें बृहत्संग्रहणी, अनुयोगद्वारसूत्र, पंचम-कर्मग्रन्थ वृत्ति आदि ।

५४. 'तथ णं चोअए पण्णवसं एवं वयासी-अत्थि णं तस्स पल्लस्स आगास-पएसा जे णं तेहिं वाल्मोहिं अणाप्फुण्णा ? हंता अत्थि, जहाको दिट्ठतो ? से जहानामणाए कोट्ठए सिथा कोहंडाणं भरिए । तथ णं माउल्लिगा पक्खित्ता ते वि माया, तथ णं त्रिल्ला पक्खित्ता तेवि माया, तथ णं आमल्ला पक्खित्ता तेवि माया, तथ णं बवरा पक्खित्ता ते वि माया, तथ णं चण्णा पक्खित्ता ते वि माया, तथ णं तिल्ल (मुग्गा) य पक्खित्ता ते वि माया, तथ णं गंगावालुआ पक्खित्ता सा वि माया, एवमेव एएणं दिट्ठतेणं अत्थि णं तस्स पल्लस्स आगासपएसा जे णं तेहिं वाल्मोहिं अणाप्फुण्णा ' इति । [अनुयोगद्वार सूत्र १४०]

भरे हुए प्यालेमें अस्पृष्टरूपसे रहे यह कैसे सम्भव नहीं हो सकता है ? दूसरा उदाहरण लें—स्थूलदृष्टिसे अत्यन्त घन-ठोससे ठोस ऐसे स्तम्भमें भी सैकड़ों कीलियोंका समावेश खुशीसे हो सकता है, तदनन्तर इस पल्पमें अस्पृष्ट आकाश प्रदेशोंकी स्थिति किस प्रकार सम्भव नहीं हो सकती है ? अर्थात् सम्भवित है ही ।

ऐसे दस कोडाकोडी सूक्ष्म क्षेत्र-पल्पोपमसे ६. 'सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम' होता है । ये सूक्ष्म-क्षेत्र पल्पोपम तथा सागरोपम, बादर क्षेत्रपल्पोपम-सागरोपमसे असंख्य गुण प्रमाणवाले हैं । ये सूक्ष्मक्षेत्रपल्पोपम और सागरोपम त्रसादि अर्थात् चलते-फिरते जीवोंका परिमाण दिखानेमें उपयोगी बताये हैं ।

—इति सूक्ष्मक्षेत्रपल्पोपमस्वरूपम् ॥

इस प्रकार पल्पोपम-सागरोपमका विवरण समाप्त हुआ ॥

इस तरह समयसे प्रारंभ करके पल्पोपम तथा सागरोपम तकका स्वरूप बताया गया । अब सागरोपमसे अधिक महत्त्वपूर्ण जो उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीरूप काल है उसे दिखाते हैं और साथ ही साथ उसमें प्रवर्तमान भावोंका किंचित् स्वरूप भी कहा जाता है,—

॥ अवसर्पिणी स्वरूपम् ॥

दस कोडाकोडी सागरोपमकी एक अवसर्पिणी और उतने ही काल प्रमाणकी एक उत्सर्पिणी होती है; ऐसा शास्त्रकारोंने कहा है ।

यह अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी अनादि-संसिद्ध ऐसे छः छः प्रकारके आरों (युग)के भेदसे परिपूर्ण होती हैं । अवसर्पिणीके छः आरे क्रमशः हीन-हीन भाववाले होते हैं । ऐसी अवसर्पिणियाँ और उत्सर्पिणियाँ भूतकालमें अनन्त बह गईं और भविष्यमें भी अनन्त बितेंगीं । यह घटनाक्रम वैसे जगत् स्वभावसे चालू ही है ।

उन अवसर्पिणी-उत्सर्पिणियोंमेंसे प्रथम अवसर्पिणीके छः^{५५}आरोंका स्वरूप दिखाया जाता है ।

१. सुषम-सुषम आरा—सुख सुख ! जिसमें केवल सुख ही बना रहता हो । यह आरा सूक्ष्मअद्धा ४ कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है । इस आरेके प्रारम्भमें मनुष्यका आयुष्य ३ पल्पोपम और शरीरकी ऊँचाई ३ कोसकी होती है । इस आरेके मनुष्य हर तीसरे दिन एक अरहरके दानेके जितना कल्पवृक्षके पत्र-पुष्पफलादिका आहार करते हैं और

५५. सुषम-सुषमा य सुषमा, सुषम-दुसमा य दुसम-सुसमाय ।

दुसमा य दुसम-दुसमा-वसर्पिणुसर्पिणुक्रमओ ॥ १ ॥ [काल सप्ततिका]

उतने ही प्रमाणके आहारके तथाविध ^{५६}सत्त्वसे उनको तीन दिन तक क्षुधा भी लगती नहीं है। इस आरेमें प्रवर्तमान मनुष्योंकी पसलियाँ २५६ होती हैं।

२. सुषम आरा—जो आरा सुखमय है। अर्थात् प्रथम आरेकी अपेक्षा सुख अल्प होता है तो भी इस 'आरे'में दुःखका अभाव है। यह आरा तीन कोडाकोडी (सू० अ०) सागरोपमका है। इस आरेके प्रारम्भमें मनुष्यका आयुष्य २ पल्योपम, शरीरकी ऊँचाई २ कोस और पसलियोंकी संख्या १२८ होती है। इस आरेमें उत्पन्न मनुष्योंको हर दो दिनोंके बाद खानेकी इच्छा होती है; और इच्छाके साथ बेर जितने प्रमाणकी वस्तुओंका आहार करके तृप्ति पाते हैं।

३. सुषम-दुषम आरा—जिसमें सुख और दुःख दोनों हों वह अर्थात् सुख अधिक और दुःख कम हो ऐसा काल, उसे अवसर्पिणीका तीसरा आरा समझना। इस आरेका काल दो सागरोपमका है। इस आरेके प्रारम्भमें उत्पन्न मनुष्योंका आयुष्य १ पल्योपम, देहकी ऊँचाई १ कोसकी और पसलियोंकी संख्या ६४ होती है। ये मनुष्य बेरसे विशेष प्रमाणवाला जो आँवला (आमलक) होता है, उतने प्रमाणका आहार एक-एक दिनके अन्तरालमें ग्रहण करते हैं।

इन तीनों 'आरों'में अहिसकवृत्तिवाले गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यच (चतुष्पद और खेचर) तथा मनुष्य युगलधर्मी होते हैं। इसलिए तथाविध कालबलसे ही स्त्री-पुरुष [नर-मादा] दोनों जोड़ेमें ही उत्पन्न होते हैं और उन क्षेत्रयोग्य दिनोंके व्यतीत होने पर, वही युगल पति-पत्नीके रूपमें सर्व व्यवहार करते हैं। तथाविध कालप्रमाणसे युगलिक मनुष्यका यही धर्म होता है परन्तु कभी भी कोई दो पुरुष या दो स्त्रियाँ अथवा अकेला पुरुष या अकेली स्त्री उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार उत्पन्न हुए बालक-बालिकाका पति-पत्नीके रूपमें सम्बन्ध या प्रेम बिना विवाहके भी टिका रहता है, अतः वह 'युगलिकधर्मी' कहलता है। ये युगलिक वक्त्रवृषभनागाचसंघयणके धारक और समचतुरस्रसंस्थानवाले होते हैं। अनेक प्रकारके धान्यका सद्भाव होने पर भी उसका उपयोग नहीं करके दस प्रकारके कल्पवृक्षसे वे अपने सर्व व्यवहार चलानेवाले होते हैं। इस युगलिकक्षेत्रकी भूमि क्षुद्रजन्तुओंके उपद्रवसे तथा ग्रहणादि सर्व उल्कापातोंसे रहित है और वे शरीरसे बिलकुल नीरोगी होनेके साथ अलग अलग दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे सर्व प्रकारका निर्वाह करते हैं।

इन कल्पवृक्षोंके १. मतांग, २. भृतांग, ३. तुटितांग, ४. ज्योतिरंग, ५. दीपांग, ६. चित्रांग, ७. चित्ररसांग, ८. मप्यंग, ९. गृहाकार १०. अनियत-कल्पवृक्ष इत्यादि ^{५७}ये

५६. वर्तमान युद्धमें भी सैनिकोंको इस प्रकारके सत्त्ववाली गोलियाँ दी जाती हैं कि जिससे उनको एक सप्ताह तक क्षुधा नहीं लगती तो फिर प्राकृतिक शक्तिका पूछना ही क्या ?

५७.इन दस जातियोंमें प्रतिजातीय कल्पवृक्ष भी बहुत होते हैं। ये कल्पवृक्ष

दस नाम हैं, जिसका कुछ स्वरूप इस अनुसार है ।

१. 'मन्तांग' अर्थात् इस कल्पवृक्षके पास याचना करते ही उसके फल और पुष्प, यहाँके स्वादसे अनेकगुण विशेष स्वादवाली मदिराकी तथा आरोग्य-तुष्टि-पुष्टि देनेवाले मधुर रसोंको पूर्ण करनेवाला ।

२. 'भृतांग' सप्तधातुके और लकड़ी आदिके इच्छित प्रकारके सभी तरहके भाजनों-पात्रोंकी पूर्ति करनेवाला कल्पवृक्ष ।

३. 'तूयांग' [त्रुटितांग] इस कल्पवृक्षके फल वीणा, सारंगी आदि सर्व प्रकारके वाद्योंका काम करते हैं ।

४. 'दीपशिखांग' जहां ज्योतिरंगका प्रकाश न पड़ता हो, उस स्थानमें दीपकका काम देनेवाले दीपांग कल्पवृक्ष प्रकाश दे रहे हैं ।

५. 'ज्योतिषिकांग' प्रकाश देनेवाले ये कल्पवृक्ष सब प्रकारके देदीप्यमान तेजका स्वार्थको सिद्ध करनेवाले होते हैं, इनमें कुछ तो रात्रिके समय किसी महान् तेजको देनेवाले होनेसे वहाँके निवासियोंका गमनागमनविहार आदि सुखसे हो सकता है ।

६. 'चित्रांग' कल्पवृक्ष चित्र-विचित्र पुष्पोंकी मालाएँ देनेमें उपयोगी है ।

७. 'चित्ररसांग' विचित्ररससे युक्त भोजन देनेवाले और साथ ही अनेक प्रकारकी मिठाईयाँ देनेवाले हैं । इस मिठाईका स्वाद चक्रवर्तीके लिए बनती गई मिठाई जैसा होता है ।

८. 'मण्यंग' कल्पवृक्ष मणि आदि सर्व प्रकारके आभूषणोंको देनेवाले हैं ।

९. 'गृहाकार' कल्पवृक्ष-विविध आकारके इच्छित मंजिलवाले गृहोंके लिए उपयोगी है ।

१०. 'अनियत' कल्पवृक्ष-अभावग्रस्त किसी भी प्रकारकी वस्तुकी पूर्ति करनेवाले और सर्व प्रकारके वस्त्रादि देनेवाले होते हैं ।

इस दसवें कल्पवृक्षका 'अनग्न' ऐसा भी नाम है और वह विविध प्रकारके वस्त्र आदि देनेके कारण सान्त्वर्ध है । और इसलिए युगलियोंको नग्न रहना पड़ता नहीं है ।

देवाधिष्ठित नहीं किन्तु, तथा प्रकारके स्वाभाविक प्रभावयुक्त होते हैं । इसके सिवा दूसरी बहुत प्रकारकी उत्तम वनस्पतियाँ भी होती हैं ।

५८. 'तेसि मत्तंग-भिगा, तुडिअंगा-जोइ-दीव-चितंगा ।

चित्तरसा-मणिअंगा, गेहागारा-अणिअयक्खा ॥'

' पाणं-भायण-पिच्छण, रवि-पह दीव-पह कुसुममाहारो ।

भूसण गिह वत्थासण, कप्पदुमा दसविहा दिति ॥' [लघु क्षेत्रसमास गाथा ९६-९७]

ये युगलिक अपनी सन्तानोंका निर्वाह पहले आरेमें ४९, दूसरे आरेमें ६४ और तीसरे आरेमें ७९ दिन पर्यंत करते हैं, उसके बाद उन्हें अपत्य-परिपालनकी आवश्यकता नहीं होती ।

तीसरे आरेके अन्तमें ८४ लाख पूर्व और ८९ पखवाड़े शेष रहने पर कुलकर्णोंकी उत्पत्ति होती है, उस नियमके अनुसार इस अवसर्पिणीमें श्री ऋषभदेवजी गर्भमें आये ।

जब युगलिकोंमें कालक्रमसे ममत्वादि दोष विशेषतः बढ़ जाते हैं, तब कुलकी मर्यादा रखनेवाले जो विशिष्ट पुरुष उत्पन्न होते हैं उन्हें 'कुलकर' कहा जाता है ।

ये पुरुष ^{५७}परिभाषणादि चार प्रकारकी दंडनीतिका प्रवर्त्तन करते हैं । तीसरे आरेके अन्तमें श्री ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर स्वरूप उत्पन्न हुए । वे ८४ लाख पूर्वका आयुष्य पूर्ण करके तद्भव मोक्षगामी हुए । तीर्थंकर श्री ऋषभदेवस्वामीने २० लाख पूर्व कुमार अवस्थामें व्यतीत किये, ६३ लाख पूर्व राज्य अवस्थामें और १ लाख पूर्व श्रमण-साधु पर्यायका पालन कर, तीसरे आरेके ८९ पखवाड़े शेष रहे तब सिद्धपदको प्राप्त किया । देशविरति ^{६०} ^{६१} सर्व-विरतिकी उत्पत्ति क्षेत्रके कालदोषसे विच्छिन्न हुई वह चालू अवसर्पिणीमें श्री ऋषभदेव प्रभुसे प्रारम्भ हुई और अवधिज्ञान आदिकी भी उत्पत्ति हुई ।^{६२}

पुरुषकी ७२ ^{६३}कलाओं तथा स्त्रीकी चौसठ ^{६४}कलाओंका भी उन प्रभुने ही प्रवर्त्तन

५९. तथा चोक्तम्—'दुदु-तिग कुल्यारनीई-ह-म-धिकारा तओ विभासाई । चउहा सामाईया-- बहुहा, लेहाइ ववहारो ॥ १ ॥ हकार, मकार, धिकार और फिर शब्दताडन ।

६०-६१ देशसे (अमुक अंशमें) त्याग वह देशविरति और सर्वांश प्राणातिपात-मृषावाद-अदत्तादान-मैथुन-परिग्रहके पापका विरमण-त्याग वह सर्वविरति, देशविरति, पंचमगुणस्थानसे और सर्वविरति छठवें प्रमत्त-गुणस्थानसे होती है, देशविरतिवाले श्राद्ध-ग्रहस्थ होते हैं और सर्वविरतिवाले साधुपुरुष होते हैं ।

६२. 'अवधि' उस रूपका-पदार्थ विषयक मर्यादावाला ज्ञान । आदि शब्दसे मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञानको भी ग्रहण करना । 'मनःपर्यव' ज्ञान वह दार्ष्टीपवर्ती संज्ञी-पंचेन्द्रिय जीवोंके मनोगतभावोंको दर्शानेवाला ज्ञान और केवलज्ञान वह लोकालोकवर्ती अतीत, अनागत और वर्तमानके अनन्त द्रव्यों और पर्यायोंको बतानेवाला ज्ञान ।

६३. पुरुषोंकी ७२ कलाएँ—^१लिखितं ^२गणितं ^३गीतं ^४नृत्यं ^५वाद्यं ^६च ^७पठनशिक्षे ^८च । ज्योति-
^९शब्दोऽलङ्कृति-^{१०}व्याकरणनिरुक्ति-^{११}काव्यानि ॥ १ ॥ कात्यायनं ^{१२}निषण्डुर्गजतुरमारोहणं ^{१३}तयोः ^{१४}शिक्षा ^{१५}शस्त्राऽभ्यासो

किया, अनेक प्रकारकी कला-कारीगरियाँ (शिल्प) उस कालमें प्रथम उन्हीं प्रभुने गृहस्था-वस्थामें जगत्को दिखलाई । यह अवसर्पिणी आश्रयी सर्वप्रकारका प्रथम व्यवहार उन्हींने ही प्रकट किया और उन्हींने उत्तम नैतिक नियमों और आचरणोंका सारे जगत्के समक्ष प्रवर्तन किया । हजारों प्रकारके व्यवहार, सर्व प्रकारके गणित, कुम्भकारकी कलाएँ, मूल पांच प्रकारके (उत्तर भेदसे सौ) शिल्प आदि वर्तमानमें जो जीवनोपयोगी वस्तुएँ हम देखते हैं वे सभी तथा सर्व प्रकारकी मूल भाषा ^{६५}लिपियाँ भी उनसे (पुत्री-ब्राह्मी-सुन्दरीसे) प्रवर्तमान जानें । अवसर्पिणीके तीसरे आरेके अन्तमें तीर्थकरदेवकी उत्पत्तिका प्रारम्भ होता

२० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५
रसमन्त्रयन्त्रविषसन्त्रयन्त्रधवादाश्च ॥ २ ॥ प्राकृतसंस्कृतपैशाचिकाऽपभ्रंशाः स्मृतिः पुराणविधी । सिद्धान्तकव्यञ्चक-
३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७
वेदाऽऽगमसंहितेतिहासाश्च ॥ ३ ॥ सामुद्रिकविज्ञानाऽऽचार्यकविद्या रसादनं कपटम् । विद्यानुवादो दर्शन-संस्कारौ
४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६
धूर्त्तशम्बलकम् ॥ ४ ॥ मणिकर्मतश्चिकित्सा, खेचर्यमरीकलेन्द्रजालं च । पातालसिद्धियन्त्रक-रसवत्यः सर्वकरणी च ॥ ५ ॥
५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७
प्रासादलक्षणं पण-चित्रोपल्लेपचर्मकर्मणि । पत्रच्छेदनखच्छेद-पत्रपरीक्षा वशीकरणम् ॥ ६ ॥ काष्ठघटनदेशभाषा,
६८ ६९ ७० ७१ ७२
गारुडयोगाङ्गा धातुकर्मणि । केवलिविधिसाकुन स्ते..., इति पुरुषकला द्विसप्ततिर्ज्ञेयाः ॥ ७ ॥

६४. स्त्रियोंकी चौसठ कलाएँ—ज्ञेया नृत्यौचित्ये, चित्रं वादित्रमन्त्रतन्त्राश्च । धनशुद्धिफलशुद्धी,
८ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९
संस्कृतजल्पः क्रियाकल्पः ॥ १ ॥ ज्ञानविज्ञानदम्भाबुस्तम्भा गीततालयोर्मानम् । आकार-गोपनारामरोपणे काव्यशक्ति-
२० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८
वक्रोक्ती ॥ २ ॥ स्त्री-नरलक्षणे गजहयपरीक्षणे वास्तुसिद्धिपटुबुद्धी । शकुनविचारो धर्माचारोऽञ्जनचूर्णयोर्योगाः ॥ ३ ॥
२९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७
गृहिधर्मसुप्रसादनकर्म कनकसिद्धिवर्णिकाबुद्धी । वाक्पाठवकरलाधवललितचरण-तैलसुरभिताकरणम् ॥ ४ ॥ भूल्योपचार
३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७
गेहाचारी, व्याकरणपरनिराकरणे । वीणानाद वितण्डावादोऽङ्कस्थितिजनाचाराः ॥ ५ ॥ कुम्भभ्रमसारिभ्रमरत्नमणिभेदलिपि-
४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६
परिच्छेदाः । वैद्यक्रिया च कामाविष्करणं रन्धनं चिकुरगन्धः ॥ ६ ॥ शालीखण्डन मुलमण्डने, कथाकथनकुसुमसुप्रथने ।
५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३
वस्त्रेषसर्वभाषा-विशेषवाणिज्यभोज्यानि ॥ ७ ॥ अभिवानपरिज्ञानाऽऽभरण यथास्थान-विविधपरिधाने । अन्त्याश्रयिका
६४
प्रश्नप्रहेलिका स्त्रीकलाश्चतुःषष्टिः ॥ ८ ॥

६५. 'हंसलिकी भूयलिकी, जम्बूवा तह रम्बूवा अ बोधवा । उडुी जवणि तुडुकी, कीरी दविडी या सिंधविय ॥ १ ॥ मालविणी नडि नगरि, लाडलिकी पारसी य बोधवा । तह अ निमित्ती य लिकी चाणकी मूलदेवी य ॥ २ ॥

है। इस तीसरे आरेके मनुष्य वज्र-ऋषभ-नाराच-संघयणवाले, समचतुरस्र-संस्थानवाले और इस आरेके प्रारम्भमें एक पत्योपमके आयुष्यवाले होते हैं। तीसरे आरेसे चौथे आरेमें, चौथे आरेसे पांचवेंमें, पांचवेंसे छठेमें अनुक्रमसे ^{६६}संघयण, संस्थान, ऊँचाई वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्श-हीन, हीनतर, हीनतम समझना। जब कि राग-द्वेष, कषायोंकी क्रमशः वृद्धि समझना। अतः अभी पंचमकालमें अपनेको अन्तिम 'सेवार्त'—छेवदृठा संघयण (हड्डीकी संधिका बन्धन-विशेष) वर्तमान है, जिससे शरीरके भागको स्वल्प उपद्रव होनेसे हड्डी तूट जाती है और अनेक प्रकारके तेल आदिके सेवनसे मूलस्थितिमें लानेके प्रयत्नका सेवन करना पड़ता है। साथ ही कषायोंका उदय भी सविशेष देखा जाता है।

४. दुःषमसुषमः—इस आरेके प्रारम्भमें दुःख विशेष और सुख अल्प होता है। यह आरा ४२००० वर्षन्यून १ कोडाकोडी ^{६७}सागरोपम प्रमाण है। इस आरेमें उत्कृष्ट आयुष्य १ ^{६८}पूर्वकरोड़का होता है। पूर्व (पहले) तीसरे आरेके अन्तमें ऋषभदेव स्वामी हुए, उन्हें केवल-संपूर्ण ज्ञान होनेके बाद उनकी माताजी मरुदेवा, तीर्थस्थापित होनेके पहले ही ^{६९}अन्तकृत केवली होकर मोक्षमें गईं। तबसे मोक्षमार्ग शुरु हुआ।

वर्तमान जगतमें सातसौसे अधिक संख्यामें महत्त्वकी भाषाएँ प्रवर्तमान हैं, वे साथ ही जो नवीन नवीन लिपियाँ-भाषाएँ निकली हैं, उन मूललिपियोंका अमुक अंशमें अपभ्रंशरूप होनेके साथ उस उस देशमें नवीन प्रवर्तमान होती भी हैं। अतः अमुक कालमें ही उन लिपियोंका चलन होता है जब कि उपर्युक्त मूल सभी भाषाएँ तथा लिपियाँ न्यूनाधिकतासे यदा-तदा चलती होती हैं।

६६. 'संघयणं संघाणं, उच्चत्तं आउअं च मणुआणं। अणुसमयं परिहायइ, ओसपिणी काल-दोसेण ॥ १ ॥ कोह-मय-माय-लोहा, ओसनं वइदए मणुआणं। कूडतूल-कुडमाणं तेणाणुमाणेण सव्वेपि ॥ २ ॥

[जंबूदीव-पन्नती]

६७. 'जिसके लिये हैमकोषमें कहा है कि—तत्रैकान्तसुषमारश्चतस्रः कोटिकोटयः। सागराणां सुषमा तु तिस्रस्तस्त्रोटिकोटयः ॥ १ ॥ सुषमदुःषमा ते द्वे दुःषमसुषमा पुनः। सैकासहस्रैर्वर्षाणां द्वित्रिचवारिंशतोनिता ॥ २ ॥ अथ दुःषमैकविंशतिरब्दसहस्राणि तावति तु स्यात्। एकान्तदुःषमापि ह्येतत्—संख्याः परेऽपि विरताः ॥ ३ ॥ प्रथमेऽरत्रये मर्त्यस्त्रिद्वयेकपत्यजीविताः त्रिद्वयेकगव्यूतोच्छ्रयास्त्रिद्वयेकदिनभोजनाः ॥ ४ ॥ कदाहुफलसंतुष्टाश्चतुर्थे स्वर्के नराः। पूर्वोत्थायुषः पञ्चधनुःशतसमुच्छ्रयाः ॥ ५ ॥ पञ्चमे तु वर्षशतायुषः सप्तकरोच्छ्रयाः। षष्ठे पुनः षोडशा-व्यायुषो हस्त समुच्छ्रयाः ॥ ६ ॥ एकान्तदुःखप्रचिता उत्सर्पिण्यामपीदृशाः। पश्चानुपूर्व्या विज्ञेया अरेषु किल पटस्वपि ॥ ७ ॥

६८. 'पुव्वस्स उ परिमाणं सयरिं खलु वासकोडिलक्खाओ। छप्पन्नं च सहस्सा बोधन्वा वासकोडीणं ॥'

६९. मरुदेवा माताके सुपुत्र ऋषभदेव स्वामीजीने दीक्षा ग्रहण की, तब उनके वियोगमें एक हजार

यह मार्ग चौथे आरेमें चालू रहा । प्रथम तीर्थकरके सिवा १० श्री अजितनाथ प्रमुख २३ तीर्थकर इस चौथे आरेमें ही मोक्षमें गये हुए हैं और उस उस अवसर्पिणीमें होनेवाले २४ तीर्थकरोंमेंसे २३ तीर्थकरोंका तो इस कालमें ही सिद्धि गमन होता है ।

साथ ही प्रथम चक्रवर्ती श्री भरतमहाराज तीसरे आरेमें हुए हैं और शेष ११ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव, ९ बलदेव ये सर्व चतुर्थ आरेमें उत्पन्न हुए हैं । ये सब ६३ शलाका पुरुष कहलाते हैं । इन शलाका पुरुषोंके सिवा जो नव नारद, ग्यारह रुद्र आदि विशिष्ट पुरुष हुए हैं वे भी चतुर्थ आरेमें हुए हैं ।

इस अवसर्पिणीमें ही इस तरह हुआ है ऐसा नहीं, परंतु जिस तरह इस अवसर्पिणीके तीसरे और चौथे आरेमें जितने तीर्थकर, चक्रवर्ती आदि महान् पुरुष होते हैं, उतने ही प्रत्येक अवसर्पिणीमें समझना ।

५. ७^१ दुःषम—जिसमें केवल दुःख हो वह । यह दुःषम आरा २१००० वर्ष वर्ष तक रो-रोकर, माताकी आँखोंमें परदे आ गये । इतनेमें वे ही प्रभु चार घातिकर्म क्षीण कर केवलज्ञान प्राप्त करके जिस नगरमें माता रहती है उसी नगरके बाहर पधारे । देवोंने प्रवचनके लिये समवसरण-सिंहासनकी रचना की, उस समय पौत्र-प्रेरणा होनेसे मरुदेवा माता अपने पुत्रकी समवसरणकी ऋद्धि देखने वन्दनार्थे हाथीके पीठ पर बैठकर नगरके बाहर आईं, वहाँ भाते ही प्रभुके प्रबल अतिशय प्रभावसे और उसके हर्षानन्दसे आँखोंके परदे शीघ्र ही दूर हो गये, पुत्रकी साक्षात् ऋद्धिका निरीक्षण करते हुए अत्युत्तम भावनाके योगमें ही अंतकृत केवली हुए और वहीं मोक्षगमन हुआ । सचमुच भावनायोगकी महिमाका वर्णन करते हुए कलिकालसर्वज्ञ भगवान् श्री हेमचन्द्रसूरि योगशास्त्रमें ठीक ही कहते हैं कि—

पूर्वमप्राप्तधर्माऽपि परमानन्दनन्दिता । योगप्रभावतः प्राप मरुदेवा परं पदम् ॥

७०. एतस्यामवसर्पिण्यामृषभोऽजितशंभवौ । अभिनन्दनः सुमतिस्तः पद्मप्रभाभिधः ॥

सुपार्श्वश्चन्द्रप्रभश्च सुविधिश्चायशीतलः । श्रेयांसो वासुपूज्यश्च विमलानन्तधर्मतीर्थकृतं ॥

धर्मः शान्तिः कुन्धुरो मल्लिश्च मुनिसुव्रतः । नमिर्नेमिः पार्श्वो वीरश्चतुर्विंशतिरहंताम् ॥ ३ ॥

इसी तरह उत्सर्पिणीमें भी २४ तीर्थकरादि होते हैं । इस तरह दोनों कालमें अनादि कालसे तीर्थकरादि शलाका-पुरुषोंकी उत्पत्ति चली आई है और चलेगी, सिर्फ उस उस कालके शलाका-पुरुष अलग अलग नामवाले होते हैं ।

७१. इस कालमें वीरनिर्माणसे अमुक वर्षके बाद कलंकी नामका राजा होनेवाला है । जो महाअधर्मी, महापापी, महाघातकी और समग्र पृथ्वीके नगर-ग्राम, सबको उखाड़कर फेंकता हुआ लोगोंको हेरान-परेशान करेगा । यहां तक कि साधुओंसे भी कर माँगेगा, इस क्रमसे क्रमस्त साधु तथा श्रावक जब इन्द्रमहाराजका आराधन करेंगे तब संतुष्ट बना हुआ इन्द्र इस पृथ्वी पर वृद्धब्राह्मणके रूपमें आकर कलंकीको मारकर उसके पुत्र दत्तको गद्दी देगा, तत्पश्चात् पुनः सर्वत्र शांति फैलेगी ।

कलंकी एक ही पैदा हाता है या अनेक ? कलंकी हुआ या अब होगा ? आदि बातोंमें इतिहासविद् भिन्न-भिन्न मत रखते हैं; इसलिए विशेष स्पष्टीकरण तद्विदोंसे जान लें ।

प्रमाणका है। इस आरेके प्रारंभमें मनुष्यकी ऊँचाई उत्कृष्ट सात हाथकी है और उत्कृष्ट आयुष्य बहुलतासे १३०^{७२} वर्षका होता है। चौथे आरेके अन्तमें उत्पन्न हुए श्री महावीरपरमात्मा चौथे आरेके तीन वर्ष और साढे आठ महीने शेष रहे तब ७२ वर्षका आयुष्य भोगकर सिद्धिपद प्राप्त किया। तदनंतर उनकी तीसरी पाटपर श्रीजंबूस्वामिजी हुए। उनके सिद्धिगमनके बाद इस पंचमकालमें मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, ^{७३}मोक्षगमन इत्यादि १० वस्तुओंका विच्छेद हुआ।

अर्थात् तद्भव मोक्षगामीत्वका अभाव हुआ, यह विच्छेद भरत, ऐश्वर्य क्षेत्राश्रयी जानना। परंतु महाविदेहक्षेत्र जहाँ कि हमेशा चतुर्थ आरेके प्रारंभके भाव वर्तमान हैं,

७२. इस पंचम आरेमें विशेषकर पाश्चात्य देशोंमें स्वचित् २०० वर्ष तकके आयुष्य भी जाहिर हुए सुने हैं। इसलिए भड़कनेकी कुछ भी जरूरत नहीं; क्योंकि उक्त १३० वर्षका वचन है यह प्रायः समझना, अतः वैसे मनुष्य अल्प हों और कदाचित् किसी जीव विशेषने पूर्वभवमें तथाप्रकारका उत्तमोत्तम जीवदया-रक्षादिका कार्य तन्मयरूपसे किया हो तो अधिक आयुष्य भी संभवित हो सकता है। जिसके लिए योगशास्त्रमें कहा है कि—

“ दीर्घमायुः परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता ।

अहिंसायाः फलं सर्वं किमन्यत्कामदैव सा ॥ ”

साथ ही हम यदि श्रीवीरनिर्वाणसे पांचवीं शताब्दीके इतिहासकी ओर दृष्टिपात करेंगे तो जाननेको मिलेगा कि जब इंद्र महाराज, पंचमीकी संवत्सरी चतुर्थीको फरनेवाले श्रीमान् कालिकाचार्य महाराजकी परीक्षाके निमित्त मनुष्यलोकमें वृद्ध ब्राह्मणका रूप धारण करके आचार्य भगवतके पास उपस्थित हुए थे, तब उनके ज्ञानकी परीक्षाके लिए अपना हस्त (हाथ) दिखाकर ‘ हे गुरुदेव !’ मेरा आयुष्य कितना वर्तमान है यह मेरी रेखा देखकर कहिए ऐसा जब कहा तब विज्ञप्तिसे कालिकाचार्य महाराज आयुष्य रेखा देखते देखते ३०० वर्ष तक पहुँचे, तबतक उन्होंने शंका भी नहीं की, कि यह मनुष्य है कि अन्य कोई ? लेकिन रेखामें जब ज्ञानदृष्टिसे ३०० से आगेका आयुष्य देखा तब उन्होंने श्रुतके उपयोगसे कहा कि, ‘ हे आत्मन् ! तू मनुष्य नहीं, परन्तु सौधर्मदेवलोक का स्वयं इन्द्र है।’

इससे हमें तो यह सार लेना है कि ३०० वर्षका आयुष्य इस कालमें सुना जाए तब तक कुछ भी आश्चर्य करने जैसा नहीं है। वर्तमानमें विदेशमें एक मनुष्य २५० वर्ष जीवित रहा, ऐसा समाचार अखबारमें प्रसिद्ध हुआ था, साथ ही गुजरात-काठियावाड (सौराष्ट्र)में १५० वर्षकी आयुके मनुष्य वर्तमानमें भी जीवित हैं ऐसा सुना है। दीर्घ आयुष्यवाले मनुष्योंके उल्लेख अनेक बार सुननेको मिलते हैं; परन्तु ३०० वर्षसे उपरकी आयुवाले मनुष्यकी बात अभी जाननेमें नहीं आई है।

वे क्या क्या ? तो

७३. “^१मणपरमोहि^२ पुल्लाए, ^३परिहारविमुद्धी^४ उक्त्समे कण्ये ।

संजम-तिग-केवल-सिज्जाणा य जंभुमिनुच्छिन्ना ॥ ”

वहाँ मोक्षमार्ग सदा चालू ही है। यद्यपि इस कालमें इस क्षेत्रमेंसे सीधा मोक्षगमन नहीं है तथापि यहाँ आत्मकल्याणके हेतु या पुण्योपाजन हेतु किये गये सर्व आचरणोंका फल आगामी भवमें होनेवाली सिद्धिप्राप्तिमें प्रबल कारणरूप बनता है। इस कालके जीव अल्पायुषी, प्रमादी, शिथिलचारी और शरीरबलमें निर्बल होते हैं। अनेक प्रकारकी अनीतियाँ-प्रपंचादि पापकर्मोंके करनेवाले और ममत्वादिभावोंमें आसक्त और धर्माधर्मका विवेक नहीं रखनेवाले होते हैं। ७४ इस पंचम आरेके अंतमें क्षार, अग्नि, विषादिकी मुख्य पांच प्रकारकी कुवृष्टियाँ सात सात दिन ७५ तक पड़ती हैं, इससे बिजलीके भयंकर त्रास उत्पन्न होते हैं और भयंकर व्याधियोंकी उत्पन्न करनेवाली जहरीली जलकी वृष्टि होती है। तथा पृथ्वी पर स्थित वस्तुओंको नष्ट कर देनेवाली भयंकरसे भयंकर हवा बहती है। और इससे लोग महान् त्रास पाकर करुणस्वरसे आक्रंद करते हैं। पृथ्वी पर रहनेके लिए या पहननेके लिए गृह-वस्त्रादि कुछ भी वस्तुएँ, जमीनसे पैदा होते हुए धान्य-फल आदि भी नष्टप्राय हो जाते हैं। साथ ही सर्व नदियोंका जल भी सूख जाता है, केवल शश्वती होनेके कारण गंगा और सिंधु नदीका प्रवाह बैलगाड़ीके पहियोंके बीच प्रमाण विस्तारमें और गहराईमें पैरका तलवा डूबे इतना ही होना है। उस समय मनुष्य अपना रक्षण करनेके लिए गंगा और सिंधु नदीके तट प्रदेश पर वर्तमान टीलोंमें जहाँ गुफा जैसे बिलोंके स्थान होते हैं, वहाँ जाकर रहते हैं, और वहाँ दुःखी अवस्थामें, वस्त्राभावमें, स्त्री-पुरुषकी मर्यादा रहित नग्नअवस्थामें विचरण करते हैं। तथा गंगा नदीके प्रवाहमें अवशिष्ट मत्स्योंका भक्षण करके जीवन-निर्वाह करते हैं। उस समय चंद्र भी अत्यंत शीतल किरणोंको और सूर्य अति उष्ण किरणोंको फेंकता है।

ये सर्व भाव पंचम आरेके अन्तमें क्रमानुसार प्रारंभ होते हैं। साथ ही चतुर्विध संघ, गण, इतर दर्शनोंके सर्व धर्म, राजनीति, बादर, अग्नि, पकाना आदि पाक (रसोई) व्यवहार, चारित्रधर्म सभी क्रमसे विच्छेद पाते हैं।

तथा चरम तीर्थपति श्री महावीरप्रभुका शासन जो कि अविच्छिन्नरूपसे चला आया

७४. इस कालमें कालप्रवासे और अपनी उस प्रकारकी साधना-शक्तिके अभावमें देवदर्शन दुर्लभ होता है। अचिन्त संभवित भी हो, परन्तु वैसी सात्त्विकता और श्रद्धा कहाँ है कि जिससे देवोंका आकर्षण हो सके? इस हुंडा अवसर्पिणी कालके विशेष भावोंके लिए 'चन्द्रगुप्त' नृपतिके आये १६ स्वप्न और उन पर रचित स्वप्नप्रबन्ध 'व्यवहार-चूिका' में तथा 'उपदेश-प्रासाद' में जानने योग्य वर्णन हैं।

७५. कलिकालके कारण वर्तमानमें भी रुधिर, मत्स्य, पत्थर तथा चित्र-विचित्र पंचवर्णी मत्स्यादिकी वर्षा बहुत स्थानों पर होती है, ऐसा अनेकशः अखबारोंमें प्रगट हुआ है। किन्हीं-किन्हीं अनार्यदेशोंमें आकाशमेंसे अग्नि आदि चित्र-विचित्र पदार्थोंकी वृष्टि होनेकी घटनाएँ भी क्या नहीं सुनते?

है, जिसके अंतिम समय पर भी श्री दुष्पसहसूरि, फल्गुश्री साध्वी, नागिलनामा श्रावक और सत्यश्री नामकी श्राविकारूप चतुर्विध संघ जो विद्यमान रहेगा, उस शासन और चतुर्विधसंघका भी इस पंचम आरेके अंतिम दिवसका प्रथम प्रहर पूर्ण होने पर विच्छेद होगा। अर्थात् पूर्वाह्नकालमें श्रुतधर्म आचार्य, संघ और जैनधर्मका विच्छेद होगा; मध्याह्न समय पर विमलवाहन राजा, सुधर्म मंत्री और उसके राजधर्मका विच्छेद होगा और संध्याकालमें बादर अग्निका विच्छेद होगा।

अभी पांचवें आरेका प्रारंभ है, जिसे लगभग २५०० वर्ष हुए हैं अभी लगभग १८५०० वर्ष बाकी हैं, उनके पूर्ण होनेके कालमें उपर्युक्त घटनाएँ घटेंगी। अभी तो क्रमशः प्रत्येक-क्षेत्रमें हास होता रहेगा।

६. दुःषमदुःषम—जिसमें केवल दुःख ही दुःख हो, अर्थात् सुखका बिलकुल अभाव हो। यह आरा भी २१००० वर्ष प्रमाणका है। इस आरेके मनुष्योंका उत्कृष्ट शरीर प्रमाण दो हाथका, आयुष्य पुरुषका २० वर्षका और स्त्रीका १६ वर्षका होता है। पंचम आरेके अंतमें कहे गये सर्व दारुण उपद्रव विशेष प्रमाणमें छठे आरेमें वर्तित हैं। इस आरेमें स्त्रियाँ अत्यन्त विषयासक्त और शीघ्र यौवनको पानेवाली होती हैं। छठे वर्षमें गर्भको धारण करनेवाली और छोटी उम्रमें ही अनेक बालक-बालिकाओंको दुःखपूर्वक जन्म देनेवाली होती हैं।

इस तरह ये बेचारे, निष्पुण्य जीव इस आरेका समय दुःखसे महान् कष्टसे पूर्ण करते हैं।

—इति अवसर्पिणीषडारकस्वरूपम् ॥

—०—

॥ उत्सर्पिणीका स्वरूप ॥

पहले अवसर्पिणीके छह 'आरों'का स्वरूप संक्षिप्तमें बताया, उससे विपरीत पश्चानुपूर्वीसे उत्सर्पिणीके छह 'आरों'का स्वरूप बताया जाता है।

१. दुःषम-दुःषमआरा—जिसमें दुःख बहुत हो वह। यह आरा २१००० वर्ष प्रमाणका है। अवसर्पिणीके छठे आरेके प्रारंभसे पर्यंत तक सभी पदार्थोंके भाव क्रमसे

७६. 'तह सम्नुओ सूरि दुष्पसहो, साहुणी अ फल्गुसिरि ।

नाइलसड्ढो-सड्ढी सच्चसिरि अंतिमो संघो ॥'

'सुअ-सूरि-संघ-धम्मो-पुव्वहे छिज्जही अगणि सायं ।

निवविमलवाहणो सुह-म्मति नयधम्मज्जाहे ॥' [कालसप्ततिका]

हीन होते जाते हैं, जब कि उत्सर्पिणीके प्रथम आरेमें दिनप्रतिदिन वर्ण-गन्धादि-रस-स्पर्श, आयुष्य, संघयण, संस्थानादिमें क्रमसे शुभत्वकी वृद्धि होती जाती है ।

यह आरा सभी प्रकारके कालभेदोंके आद्य समय पर ही प्रारंभ होता है, अतः प्रथम उत्सर्पिणी, पश्चात् अवसर्पिणी ऐसा क्रम वर्तित है ।

२. दुःषम आरा—इस आरेमें दुःख होता है परन्तु अतिशय दुःखका अभाव होता है । अवसर्पिणीका पांचवाँ आरा और उत्सर्पिणीका दूसरा आरा बहुत-सी बातोंमें समानता रखता है । इस आरेके प्रारम्भमें 'पुष्करवर्तमहामेघ' ^{७०} मूसलधार सात दिन तक अखण्ड बरसता है, और उसकी शीतलतासे पृथ्वी पर सभी महात्माओंको अत्यन्त शान्ति पैदा होती है । उसके बाद 'क्षीरमहामेघ' सात दिन तक अखण्ड बरसकर जमीनमें शुभ वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शादि उत्पन्न करता है । उसके बाद 'घृतमेघ' सात दिन बरसकर पृथ्वीमें स्निग्धता उत्पन्न करता है । तत्पश्चात् 'अमृतमेघ' भी उतने ही दिनों तक गरजके साथ बरसकर औषधियोंके और वृक्ष-लताओंके अंकुरोंको उत्पन्न करता है । तत्पश्चात् 'रसमेघ' सुन्दर रसवाले जलकी वृष्टि सात दिन तक करके वनस्पतियोंमें तित्तादि पांच प्रकारके रसोंको उत्पन्न करता है । इस तरह सम्पूर्ण भरतक्षेत्रमें एकसाथ बरसते मेघसे अनेक प्रकारकी वनस्पतियाँ अनेक प्रकारसे सुन्दर-सुन्दर रीतिसे खिलती हैं और पृथ्वी रसकससे भरपूर बन जाती है । [अवस०के छठे आरेके अन्तमें यद्यपि सर्व वस्तुओंका विनाश कहा है किंतु बीजरूप अस्तित्व तो सर्वका रहता ही है ।] इस मेघके बरस चुकनेके बाद सभी बिलवासी जन बिलसे बाहर निकलकर अत्यन्त हर्षित होते हुए भाँतिभाँतिकी सुन्दर वनस्पति आदिकी लीलाओंका अनुभव पाकर परस्पर एकत्र होकर "अबसे हमें दारुण दुर्गतिके हेतुरूप मांसाहारको छोड़कर वनस्पत्यादिकका आहार करना चाहिये" इत्यादि विविध नियम बनाते हैं । यह आरा अवसर्पिणीके पाँचवें आरेके समान होनेसे इसमें आयुष्य बढ़कर १३० वर्षका होता है । संघयण, संस्थान, शरीरको ऊँचाई आदि सर्व क्रमानुसार वृद्धिमय होते हैं ऐसा समझें ।

३. दुःषम-सुषम आरा—जिसमें दुःख अधिक, सुख कम हो वह । दूसरे आरेके २१००० वर्ष बीतनेके बाद तीसरा आरा प्रवर्तमान होता है । इस आरेमें आयुष्य बढ़ते बढ़ते तीसरे आरेके अन्तमें पूर्व करोड़ वर्ष प्रमाण और मनुष्योंकी ऊँचाई ५०० धनुषोंकी होती है । इस आरेके मनुष्योंको अनुकूल सामग्री पाकर सिद्धिगमन-मोक्ष प्राप्त करना हो तो कर सकनेका सिद्धि-मार्ग खुला रहता है । यह आरा अवसर्पिणीके चौथे आरेके समान होनेसे सभी भाव उस प्रकारके समझें । इस आरेमें सर्व नीतिकी शिक्षा, शिल्पकलादि सर्व व्यवहारोंको जिनेश्वर प्रवर्तित नहीं करते, परन्तु लोग उस प्रकारकी व्युत्पन्नवृद्धिवाले

होनेसे ही पूर्वके क्षयोपशमसे और साथ ही उस क्षेत्रके अधिष्ठाताके तथाविध प्रभावसे सर्व अनुकूल व्यवहार प्रवर्तमान होते हैं। इसीलिये 'अवसर्पिणीवत् उत्सर्पिणीमें सर्व-व्यवहार कुलकर प्रवर्तित नहीं करते' ऐसा जो शास्त्रीय कथन है वह योग्य ही है।

यद्यपि कुलकर उस उत्सर्पिणीके चौथे आरेके प्रथम विभागमें उत्पन्न होते हैं, किन्तु व्यवहार प्रवर्तित करनेका उस कालमें कुलकरो को प्रयोजन नहीं रहता है, क्योंकि सर्व व्यवहार तीसरे आरेसे ही शुरू हो चुके होते हैं। यहाँ कुछ आचार्य उत्सर्पिणीके चौथे आरेमें १५ कुलकरोकी उत्पत्ति मानते हैं और इसलिए उस समय 'धिकार' आदि तीन दंड नीतियाँ प्रवर्तित करते हैं ऐसा कहते हैं। यदि कुलकरकी उत्पत्ति न मानी जाए तो संपूर्ण उत्सर्पिणी कुलकर रहित हो जाए और कुलकरकी उत्पत्तिवाली मात्र अवसर्पिणी ही रहे! अतः कुलकरोकी उत्पत्ति मानना कथमपि अनुचित नहीं है।

उत्सर्पिणीके तीसरे आरेमें प्रथम तीर्थकर ७८ पद्मनाभादि २३ ७८ तीर्थकरोकी उत्पत्ति कही गई है।

अवसर्पिणीके जो अन्तिम तीर्थकर होते हैं, उनके समान उत्सर्पिणीके प्रथम तीर्थकर होते हैं। इस प्रकार शास्त्रोंमें जिस तरह क्रम कहा है उसी तरह यथासंभव सोचें।

इस उत्सर्पिणी कालमें भी २४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव, ९ बलदेव, ९ नारद और ११ रुद्र उत्पन्न होते हैं। उनमें ११ रुद्र और ९ नारदके अतिरिक्त ६३, ८० शल्यका पुरुष गिने जाते हैं। उनमें २३ तीर्थकर इस आरेमें ही उत्पन्न होते हैं।

७८. भाविन्यां तु पद्मनाभः शूरदेवः सुपार्श्वकः ॥ स्वयंप्रमश्च सर्वानुभूतिदेवश्रुतोदयौ । पेतालः
पोडिल्लश्चापि शतकीर्तिश्च सुव्रतः ॥ १ ॥ अममो निष्कषायश्च निष्पुलाकोऽथ निर्ममः । चित्रगुप्तः समाधिश्च
संवरश्च यशोधरः ॥ २ ॥ विजयो मल्लदेवौ चानन्तवीर्यश्च भद्रकृत् । एवं सर्वावसर्पिण्युत्सर्पिणीषु जिनोत्तमाः ॥ ३ ॥
[है० को० सर्ग १]

७९. उक्तं च—'गुणनवइ पत्रखसेसे, इह वीरो निष्पुओ चउत्थारे ।

उत्सर्पिणीतइयारे, गए उ एवं पउमजम्मो ॥' [का० स० ३०]

८०. इस ग्रन्थमें तो प्रसंगके अनुरूप ही अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीका स्वरूप बताया है। तबिस्तर स्वरूप ग्रन्थान्तरोसे देख लें।

४. सुषमदुःषम आरा—सुख अधिक, दुःख कम वह । यह आरा अवसर्पिणीके तीसरे आरेके समान समझें । इस आरेमें तीन भागकी कल्पना करें । उनमें पहले विभागमें राजधर्म, चारित्र, अन्य दर्शनानुचार्याके सर्व धर्म तथा बादर अग्नि विच्छेद होंगे । इस आरेके प्रारंभके ८९ पखवाड़े बीतने पर उत्सर्पिणीके २४वें तीर्थकर तथा अन्तिम चक्रवर्ती उत्पन्न होते हैं । बादके दूसरे और तीसरे दोनों भागोंमें जैसा अवसर्पिणीमें कहा है वैसे युगलिक धर्मकी प्रवृत्ति पुनः शुरू होती है ।

५. सुषम आरा—यह आरा अवसर्पिणीके दूसरे आरेके समान भावोंवाला समझें । इस आरेमें केवल सुख ही होता है ।

६. सुषमसुषम आरा—यह आरा जिसमें केवल बहुत सुख हो वह अवसर्पिणीके प्रथम आरेके समान सर्व प्रकारसे विचारें—समझें, जिसके स्वरूपके बारेमें अवसर्पिणीके वर्णन—प्रसंगमें कहा गया है । पांचवें—छठे दोनों आरेमें युगलिक मनुष्यों और तिर्यचोंका अस्तित्व विचार लें । इस तरह उत्सर्पिणीके ६ आरोंका स्वरूप बतलाया गया है ।

इस प्रकार दस कोडाकोडी सागरोपमकी अवसर्पिणी और दस कोडाकोडी सागरोपमकी उत्सर्पिणी मिलकर एक कालचक्र ^१होता है । जिसके लिए कहा है कि—

“ कालो द्विविधोऽवसर्पिण्युत्सर्पिणीविभेदतः ।

सागरकोटिकोटीनां, विंशत्या स समाप्यते ॥ १ ॥

अवसर्पिण्यां षडश उत्सर्पिण्यां त एव विपरीताः ।

एवं द्वादशभिररैर्विवर्तते कालचक्रमिदम् ॥ २ ॥ ”

[हैम० को० का० २]

॥

॥ पुद्गलपरावर्तका संक्षिप्त स्वरूप ॥

अवतरण—पहले अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीका स्वरूप दिखाया है, अब उससे बढ़कर काल 'पुद्गलपरावर्त' नामका है । और वह चार अथवा सूक्ष्म-बादर भेदसे आठ प्रकारका है, उसका यत्किंचित् स्वरूप दर्शित किया जाता है—

॥ बादर-‘द्रव्य’—पुद्गल-परावर्त ॥ १ ॥

पुद्गलपरावर्त अर्थात् पुद्गलानां परावर्तः यस्मिन् कालविशेषे सः पुद्गल-परावर्तः ।

८१. 'सुहुमद्वायरदसकोडाकोडी, छअराऽवसर्पिण्युत्सर्पिणी ।

ता दुन्नि कालचक्रं; वीसायरकोडिकोडीओ ॥ १ ॥' [कालसप्ततिका]

पुद्गलानां अर्थात् चौदहराज प्रमाण लोकवर्ती समस्त पुद्गलोंका परावर्तः—अर्थात् औदारिकादि शरीररूपसे ग्रहण करके वर्त्यरूप परावर्तन, जिसमें वह पुद्गलपरावर्तः^{८२} कहलाता है ।

उसके^{८३} द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव ऐसे चार प्रकार हैं । पुनः उस हरएकके सूक्ष्म और बादर ऐसे दो-दो भेद हैं । उनमें हरएक पुद्गलपरावर्त स्थूलदृष्टिसे अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण होता है ।

संसाररूपी भयंकर अटवीमें भ्रमण करती हुई कोई भी आत्मा जब चौदहराज लोकवर्ती जो सर्व पुद्गल वर्तमान हैं उन सर्व पुद्गलोंको अनन्त जन्म-मरण करनेसे स्व-स्वयोग्य औदारिकादि शरीररूपसे अनुक्रमपूर्वक, ग्रहण करके छोड़े, उसमें जितना समय-काल लगे उसे 'बादर-द्रव्य-पुद्गलपरावर्त' कहते हैं ।

[इस पुद्गलपरावर्तमें एक समय औदारिकरूपसे जो पुद्गल ग्रहण किये गये उन्हें औदारिककी गिनतीमें गिने । वैक्रियरूपसे ग्रहण किये उन्हें वैक्रियमें, पुनः तैजसकार्मणके प्रतिसमय जो पुद्गल ग्रहण किये जायँ उन्हें तैजसकार्मणमें गिन लें । इनमें नवीन-नवीन ग्रहण किये जाते (अगृहीत) औदारिकादिपुद्गलोंकी गिनती लेनेकी है । लेकिन गृहीतकी-नहीं ।]

॥ सूक्ष्म-‘द्रव्य’-पुद्गल-परावर्त ॥ २ ॥

ऊपरि कथित बादर पुद्गलपरावर्तमें बिना क्रम सर्व पुद्गल ग्रहण था, और यह गिनतीमें लिया जाता था । परन्तु इस दूसरे भेदमें तो औदारिक, वैक्रिय, ^{८४}तैजस, भाषा,

८२. यह अर्थ यद्यपि केवल 'द्रव्यपुद्गलपरावर्त' के लिए ही लागू होता है, तो भी क्षेत्रादि भेदवाले शेष तीनों अनन्तकाल प्रमाणोंमें भी 'पुद्गलपरावर्त' शब्दके रूढ होनेसे वास्तविक रूपमें क्षेत्रादि भेदमें तो क्षेत्रपरावर्त, कालपरावर्त, भावपरावर्त शब्दका प्रयोग होना चाहिए, परन्तु वैसा न करके क्षेत्रपुद्गलपरावर्त, कालपुद्गलपरावर्त और भावपुद्गलपरावर्त ऐसा व्यवदेश किया जाता है ।

८३. जिसके लिए शतकर्मग्रन्थमें कहा है कि—

“ द्रव्ये खित्ते काले भावे, चउह दुह वायरो सुहुमो ।

होइ अर्णतुस्सधिणीपरिमाणो पुगलपरट्टो ॥ १ ॥ ” (गाथा-८६)

८४. वैक्रियके बाद आहारकर्माणा ग्रहण क्यों नहीं की ? तो इस प्रश्नके उत्तरमें सम्प्रक्षणा कि आहारक शरीर [एक जीवाश्रयी] समग्र भवचक्रमें सिर्फ चार ही बार प्राप्त होता है (अनन्तर वह जीव मोक्षमें जानेवाला होता है), अतः इस वर्गणारूपसे सर्व पुद्गल ग्रहण ही नहीं हो सकते, इसलिए उसे ग्रहण नहीं किया है ।

भासोच्छ्वास, मन और कर्मण इन सात^{८५} वर्गणाओंमेंसे किसी एक वर्गणारूपसे, सर्व पुद्गलोंको ग्रहण करें और छोड़े, तभी यह सूक्ष्म द्रव्यपुद्गलपरावर्त हो सकता है परन्तु अमुक समय पर विवक्षित वर्गणाके पुद्गलोंको स्पर्श करके दूसरी वैक्रियादि भिन्न-भिन्न वर्गणासे पुद्गल ग्रहण करने लगा, साथ ही पुनः प्रथमकी [जो विवक्षित हो वह] वर्गणासे पुद्गल ग्रहण शुरू किया। इस तरह बीच-बीचमें दूसरी वर्गणाके पुद्गल ग्रहण करें तो गिनतीमें न लिये जाँय अर्थात् वह गिनती गलत सिद्ध हो। लेकिन लोकाकाशवर्ती सर्व पुद्गल परमाणुओंको विवक्षित किसी भी एक ही वर्गणारूपसे परिणीत करके छोड़े तो उसे^{८६} 'सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त' कहते हैं।

इस तरह वैक्रियवर्गणासे पुद्गलोंको ग्रहण करके छोड़े तब 'वैक्रिय-द्रव्य-पुद्गल' कहते हैं। ऐसे जिस जिस वर्गणासे लोकाकाशवर्ती पुद्गलोंको ग्रहण करनेपूर्वक छोड़े तब उस उस प्रकारका 'पुद्गलपरावर्त' काल होता है।

॥ बादर-क्षेत्र-पुद्गल-परावर्त ॥ ३ ॥

'क्षेत्र'से लोकाकाश लेनेका है और उसके प्रदेश श्रेणिवद्ध और असंख्य है। अर्थात् एक कोई जीवविशेष, चौदहराजलोकके सर्व आकाशप्रदेशोंको मृत्युकालमें मृत्युकालसे इस प्रकार स्पर्श करे कि वह एक आकाशप्रदेश गिनतीमें आये, लेकिन इतना विशेष है कि प्रथम जिन आकाशप्रदेशों पर मृत्यु हुई हो उन्हींसे किसी आकाशप्रदेश पर पुनः मृत्यु हो तो वह आकाशप्रदेश गिनतीमें न आवे। ऐसे क्रमसे या उत्क्रमसे [किसी भी स्थान पर] लोकका कोई भी आकाशप्रदेश मृत्युसे स्पर्श किये बिना न रहे तब 'बादरक्षेत्रपुद्गल-परावर्त' होता है।

प्रश्न—जीवकी अवगाहना असंख्य आकाशप्रदेशप्रमाण है, अतः जीव मृत्यु-काल पर असंख्य-आकाशप्रदेशोंको स्पर्श करता है तो फिर आप एक आकाश-प्रदेशकी स्पर्शनासे गिनती किस तरह गिनते हैं ?

उत्तर—यद्यपि मरण-काल पर अवगाहनाश्रयी जीव असंख्यआकाशप्रदेशोंको स्पर्श करता है, परन्तु यहां तो उनमेंसे किसी भी एक ही आकाशप्रदेशकी गिनती करना, लेकिन सर्व स्पृष्टप्रदेश नहीं गिनना। और साथ ही मृत्युकाल पर स्पर्शित आकाशप्रदेशोंमेंसे जो पूर्वका विवक्षित स्पृष्टआकाशप्रदेश हो उसे यहाँ गिनतीमें न लेकर पूर्व अस्पृष्ट [किसी भी मृत्यु-

८५. सातों वर्गणाओंका अल्पबहुत्व शतककर्मग्रन्थादि वृत्तिके द्वारा जानें।

८६. अन्य आचार्य सात वर्गणासे पुद्गलपरावर्त नहीं गिनकर औदारिक, वैक्रिय, तैजस, और कर्मण इन चारोंको ही वर्गणाश्रयी 'सूक्ष्मद्रव्यपुद्गलपरावर्त'का प्रमाण बताते हैं।

कालमें अस्पृष्ट] ऐसा अपूर्व ही आकाशप्रदेश लें । यह पंचसंग्रहका मत है ।

‘शतककर्मग्रन्थवृत्ति’के मत तो मृत्यु-कालकी अवगाहना प्रमाण सर्वप्रदेश गिनतीमें लेना ऐसा बताता है, इससे काल अल्प होता है और प्रथमके मतसे बहुत काल होता है ऐसा यथायोग्य स्वतः सोच लें ।

॥ सूक्ष्म‘क्षेत्र’पुद्गल-परावर्त्त ॥ ४ ॥

पूर्व बादरक्षेत्रपुद्गलपरावर्त्तमें तो, किसी भी स्थानवर्ती नवीन नवीन जिस आकाश-प्रदेशमें जीवका मरण होता था, उस आकाशप्रदेशकी गिनती होती थी, परन्तु इसमें तो एक जीव प्रथम जिस आकाशप्रदेशमें मरण पाकर पुनः “किसी भी स्थानके आकाशप्रदेश पर मरण प्राप्त करे तो उसकी गणना न करके” जब प्रथम मृत्यु पाये हुए आकाशप्रदेशके साथके ही (दूसरे) आकाशप्रदेशमें मृत्यु पाये तब उस आकाशप्रदेशकी गणना की जाय, अर्थात् अनेक मरणोंसे दूरदूरके स्पृष्टआकाशप्रदेशोंकी गणना न करके, आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिमें प्रवर्त्तमान आकाशप्रदेशों पर पहल, दूसरा, तीसरा ऐसे क्रमशः आकाशप्रदेशको मृत्युसे स्पर्श करे इस प्रकार अनुक्रमसे मरे, इस तरह आकाशप्रदेशोंको स्पर्श करते करते समग्र आकाशप्रदेश जब क्रमशः मृत्युसे स्पर्शित हो जाए तब ‘सूक्ष्मक्षेत्रपुद्गलपरावर्त्त’ हो ।

॥ बादर-‘काल’-पुद्गल-परावर्त्त ॥ ५ ॥

कोई भी एक जीव उत्सर्पिणी अथवा अवसर्पिणीके आरंभके प्रथम समयमें मरण पाकर, वही जीव दूसरी बार दूरके अर्थात् १०० वें, समय पर मरण पाकर, फिर पुनः उससे दूरके ५०० वें, समय पर मरण पाया, इस तरह अनुक्रमसे अस्पृष्ट (स्पर्शित नहीं) अपूर्व समयोंमें मरण पाये, ऐसे एक कालचक्रके (उत्सर्पिणी अवसर्पिणीके) सर्व समय मरणसे (बिना क्रमके) स्पर्शित हो जाए तब बादर-‘काल’-पुद्गल-परावर्त्त हो ।

॥ सूक्ष्म-‘काल’-पुद्गल-परावर्त्त ॥ ६ ॥

पूर्व अनुक्रमसे कालचक्रके समयोंकी स्पर्शनामें गणना की । इस भेदमें तो उत्सर्पिणी अथवा अवसर्पिणीके प्रथम समय पर एक जीवका मरण हुआ, पुनः कुछ समयके बाद उसी उत्सर्पिणी अथवा अवसर्पिणीके दूसरे समय फिर मरण हुआ, तीसरी बार कतिपय कालके बाद तीसरे समय पर मरण हुआ, इस तरह यहाँ तीन समयोंकी गणना की जाय । परन्तु पहल, दूसरा, तीसरा आदि समय वर्ज्य करके कालचक्रके किन्हीं समयोंमें जितनी बार मरण पाया, उन सबकी गणना न करें । एक जीवाश्रयी कमसे कम एक समय गणनामें लेते एक कालचक्र तो अन्तमें होता ही है । ऐसा करते जब वह जीव कालचक्रके समग्र समयोंको अनुक्रमसे स्पर्श कर ले तब ‘सूक्ष्म-काल-पुद्गलपरावर्त्त’ हो ।

॥ बादर-‘भाव’-पुद्गल-परावर्त्त ॥ ७ ॥

संयमके असंख्यात स्थानकोंसे तीव्र मंदादिभेदोंसे ‘रसबन्ध’के अध्यवसायस्थानक (अध्यवसाय = उद्यम, उत्साह) असंख्यातगुने [असंख्य लोकादेशप्रदेशप्रमाण] हैं, उनमें प्रत्येक अध्यवसाय-स्थानकमें मरता हुआ जब रस-बन्धके सर्व-अध्यवसायोंको बिना क्रमके मरणसे जीव स्पर्शित हो जाए तब ‘बादर-भाव-पुद्गल-परावर्त्त’ होता है।

॥ सूक्ष्म-‘भाव’-पुद्गल-परावर्त्त ॥ ८ ॥

पूर्व, क्रमके बिना मरण-स्पर्शन अध्यवसायोंकी गणना करते हुए काल वक्तव्यता बताई गई, परंतु सूक्ष्म-भाव-पुद्गल-परावर्त्तकालमें तो जिस समय जीवको प्रथम सर्वमन्द (सर्वजघन्य) अध्यवसाय-स्थानकमें मरण हुआ था, पुनः कालांतरमें वह उससे अधिक कषायांशवाले (दूसरे अध्यवसाय) स्थानकमें मरता है। ऐसे कुछ कालांतरमें उससे अधिक कषायांशवाले तीसरे अध्यवसायमें वह मरता है। ऐसे क्रमशः रसबन्धके अध्यवसाय-स्थानकोंको मरणसे स्पर्श करे उनकी गणना करें। (आगे-पीछे अध्यवसायमें मरे उनकी गणना न करें) ऐसा करते हुए सर्व-अध्यवसाय-क्रमशः स्पर्श कर लें तब ‘सूक्ष्म-भाव-पुद्गल-परावर्त्त’ हो।

ये पुद्गलपरावर्त्त अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण समझे, परन्तु अनन्तमें अनन्त भेद होनेसे बादर पुद्गलपरावर्त्तसे सूक्ष्मपुद्गलपरावर्त्त अनन्तगुणादिक समझे। (अर्थात् बादर-द्रव्य-पुद्गल-परावर्त्तकी अपेक्षा सूक्ष्म-द्रव्य-पुद्गल-परावर्त्तकी अनन्ती उत्सर्पिणी अवसर्पिणी पूर्वसे अनन्तगुनी समजना।)।

अपर क्या क्या वस्तुस्वरूप कह गये हैं? उसके संहाररूप गाथा—

‘समयावलि य मुहुत्ता, दिवसमहोरत्त-पक्ख-मासा य।

संवच्छर-जुग-पलिया-सागर-ओसप्पि-परियद्दा ॥ १ ॥’

इस तरह समयसे प्रारंभ करके पुद्गल-परावर्त्त तकके कालका संक्षिप्त विवेचन किया गया।

॥ इति समयादिकं पुद्गल-परावर्त्तान्तं कालस्वरूपं समाप्तम् ॥

अवतरण—अब व्यंतर देव-देवियोंकी जघन्य और उत्कृष्ट आयुःस्थिति कहकर ज्योतिषी देवदेवियोंका जघन्योत्कृष्ट आयुष्यका वर्णन करता है—

८७. ‘उत्सर्पिणी अर्णता ! पुमालपरियद्दो मुणेक्खो ।

तेऽर्णताती—अद्दा, अणामयद्दा अर्णतगुणा ॥ १ ॥’ [नवतत्त्व]

व्यंतरयाण जहन्नं, दस-वास-सहस्स-पलियमुक्कोसं ।
 देवीणं पलिअद्धं, पलियं अहियं ससि-स्वीणं ॥ ५ ॥
 लक्खेण सहस्सेण य, वासाण गहाण पलिय मेएसिं ।
 ठिइ अद्धं देवीणं, कमेण नक्खत्त-ताराणं ॥ ६ ॥
 पलिअद्धं चउभागो, चउ-अडभागाहिंगाउ देवीणं ।
 चउजुअले चउभागो, जहन्नमडभाग पंचमए ॥ ७ ॥

गाथार्थ—व्यंतर देवों तथा देवियोंका जघन्य आयुष्य दस हजार वर्ष प्रमाण है और व्यंतरदेवोंका उत्कृष्ट आयुष्य पल्योपम प्रमाण है, व्यंतरदेवोंकी देवीका उत्कृष्ट आयुष्य अर्ध-पल्योपम जितना है। चन्द्रका एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम और सूर्यका एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम प्रमाण उत्कृष्ट आयुष्य है। ग्रहोंका उत्कृष्ट आयुष्य प्रमाण एक पल्योपम है। साथ ही चन्द्र, सूर्य और ग्रहोंकी देवियोंका उनसे आधा है। नक्षत्र और तारेका अनुक्रमसे, आधा पल्योपम तथा पल्योपमका चौथा भाग प्रमाण उत्कृष्ट आयुष्य है और उन दोनोंकी देवियोंका अनुक्रमसे कुछ अधिक पल्योपमका चौथा भाग, कुछ अधिक पल्योपमका आठवाँ भाग उत्कृष्ट आयुष्य है। साथ ही चार युगलके विषयमें जघन्य आयुष्य पल्योपमका चौथा भाग है और पांचवें युगलमें जघन्य आयुष्यका प्रमाण पल्योपमका आठवाँ भाग है ॥ ५-६-७ ॥

विशेषार्थ—व्यंतर निकायके देवों तथा उनकी देवियोंका जघन्य आयुष्य भवनपति-निकायके समान दस हजार वर्षका होता है, जब कि उत्कृष्ट आयुष्य एक पल्योपमका होता है। और उन्हीं व्यंतरदेवोंकी देवियोंका उत्कृष्ट-आयुष्य आधे पल्योपमका है।

प्रश्न—व्यंतरदेवों तथा देवियोंकी जघन्य तथा उत्कृष्ट-आयुष्य स्थिति तो कही लेकिन मध्यम स्थिति कितनी समझें ?

उत्तर—जघन्य स्थिति जो दस हजार वर्षकी कही गई है अतः एक समयाधिकसे प्रारंभ करके [एक पल्योपमप्रमाण] उत्कृष्ट-आयुष्य संपूर्ण न हो तब तक यथायोग्य जो बीचकी स्थिति हो उसे मध्यम स्थिति जानें।

जहाँ जहाँ मध्यम स्थिति समझनी हो वहाँ यह स्पष्टीकरण समझ लें।

८८. 'श्री हीं धृति' आदि देवियोंको कोई व्यंतरनिकायकी मानते हैं, किन्तु वैसा मानना उचित नहीं, क्योंकि उन देवियोंका आयुष्य एक पल्योपमप्रमाण होनेसे उन देवियोंको व्यंतरनिकायकी न मानकर भवनपति-निकायकी मानें यही उचित है, क्योंकि व्यंतरकी देवियोंका उत्कृष्ट आयुष्य भी आधे-पल्योपमका है।

—व्यन्तरनिकायके देवोंकी उत्कृष्ट आयुष्यस्थितिका यन्त्र—

निकायोंके नाम	दक्षिणेन्द्रोंका .: उत्कृष्ट-आयुष्य	उत्तरेन्द्रोंका .: उत्कृष्ट-आयुष्य
१ पिशाच नि०	१ कालेन्द्रका	१ पल्योपम
२ भूत नि०	२ स्वरूपेन्द्रका	१० प्रतिरूपेन्द्रका
३ यक्ष नि०	३ पूणभद्रका	११ मणिमद्रेन्द्रका
४ राक्षस नि०	४ भीमेन्द्रका	१२ महाभीमेन्द्रका
५ किन्नर नि०	५ किन्नरेन्द्रका	१३ किंपुरुषेन्द्रका
६ किंपुरुष नि०	६ सत्पुरुषेन्द्रका	१४ महापुरुषेन्द्रका
७ महोरग नि०	७ अतिकायेन्द्रका	१५ महाकायेन्द्रका
८ गन्धर्व नि०	८ गीतरतीन्द्रका	१६ गीतयशेन्द्रका

इस यन्त्रमें यद्यपि व्यन्तरेन्द्रोंका आयुष्य कहा है, तो भी उस निकायके विमानवासी देवोंका भी उत्कृष्ट आयुष्य उपर्युक्त रीतिसे समझ लें ।

—ज्योतिषी निकायके देवोंकी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति—

ज्योतिषी शब्दका तात्पर्य क्या है ?—द्योतनं ज्योतिः, तदेषामस्तीति ज्योतिष्काः । ज्योति अर्थात् प्रकाश, वह प्रकाश जिनका हो अर्थात् जो प्रकाश करनेवाले हों वे ज्योतिषी विमान और उनमें रहनेवाले वे ज्योतिष्कदेव कहलाते हैं ।

ज्योतिषी देवता दो प्रकारके होते हैं, चर और स्थिर । उनमें ढाईद्वीपमें स्थित १ उत्तरदिशावर्ती ध्रुवताराचक्रके अतिरिक्त ज्योतिषीके विमान मेंसुकी प्रदक्षिणा करते रहनेसे "चर हैं अर्थात् जो घूमते ही रहनेके स्वभाववाले हैं वे चर और जो सदा एक ही स्थान पर रहें वे स्थिर । जो ढाईद्वीपके बाहरके हैं वे "स्थिर ज्योतिषी कहलाते हैं अर्थात् सदाकालके लिए वे एक ही स्थान पर रहकर नियतक्षेत्रमें ही प्रकाश देनेवाले होते हैं, परंतु ढाईद्वीपमें रहे हुए चर चन्द्र-सूर्यादिके विमानोंकी तरह घूमते नहीं रहते हैं । अब वे सर्व (चर और स्थिर) ज्योतिषीमें बिराजमान चन्द्रेन्द्र तथा चन्द्र-विमानवासी देवोंका उत्कृष्ट आयुष्य एक पल्योपम और एक लाख वर्ष अधिक होता है, तथा सूर्येन्द्र और सूर्य-विमानवासी देवोंका उत्कृष्ट आयुष्य एक पल्योपम और एक हजार वर्ष अधिक होता है । प्रहोके अधिपतिका तथा ग्रह-विमानवासी देवोंका उत्कृष्ट आयुष्य एक पल्योपमका होता है । नक्षत्रके

८९. चरन्तीति चराः—जो चरे-घूमा करे उनको चर कहते हैं ।

९०. तिष्ठन्ति तच्छीलानि स्थिराणि ।

अधिपति तथा नक्षत्र-विमानवासी देवोंका उत्कृष्ट आयुष्य एक पल्योपमके आधे भागका होता है और तारेके अधिपति और तारा-विमानवासी देवोंका उत्कृष्ट आयुष्य $\frac{1}{2}$ पल्योपमका है ।

ज्योतिषी निकायकी देवियोंकी क्रमशः उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति

पूर्वकथित चन्द्रेन्द्र तथा सूर्येन्द्र तथा प्रहाधिपति इन तीनों तथा इन सर्व विमानवासी देवोंकी देवियोंका आयुष्य अनुक्रमसे आधे भागका जानें अर्थात् चन्द्रेन्द्र तथा चन्द्र-विमानवासी देवोंकी देवियोंका उत्कृष्ट आयुष्य आधा पल्योपम और पचास हजार वर्ष ऊपर होता है ।

सूर्य-विमानके सूर्येन्द्र तथा सूर्य-विमानवासी देवोंकी देवियोंकी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति आधा पल्योपम और ऊपर पांचसौ वर्षप्रमाण होती है ।

तथा प्रहाधिपतिकी देवीका तथा प्रह-विमानवासी देवोंकी देवियोंका उत्कृष्ट आयुष्य आधे पल्योपमका होता है ।

नक्षत्राधिपति तथा नक्षत्रके विमानवासी देवोंकी देवियोंका उत्कृष्ट आयुष्य एक पल्योपमका चौथा भाग और उसके ऊपर कुछ अधिक होता है ।

और तारेके अधिपति और तारेके विमानवासी देवोंकी देवियोंका उत्कृष्ट आयुष्य एक पल्योपमका आठवाँ भाग और ऊपर कुछ विशेष प्रमाण होता है ।

इस प्रकार ज्योतिषी निकायके देवोंके पांचों युगलोंकी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति कही गई । अब—

ज्योतिषी निकायके पांचों युगलोंकी जघन्यस्थिति

ज्योतिषी देव पांच प्रकारके हैं, उनमें चन्द्र और सूर्य ये दो तो स्वयं इन्द्र हैं और उनके पास इन्द्रके समान सर्व रिद्धि-सिद्धि होती है । अपने नामके अनुसार ही उनके विमानोंकी पहचान है; शेष तीनों विमानोंमें अधिपति होते हैं । 'दो इन्द्र तथा तीन अधिपति' ऐसे इन पांचोंका जघन्य तथा मध्यम आयुष्य है ही नहीं । उनसे वर्जित उन पांच प्रति (१) प्रथम चन्द्रके विमानवासी देव और उन देवोंकी देवियोंका, (२) सूर्यके विमानवासी देव और उन देवोंकी देवियोंका, (३) प्रहके विमानवासी देव और उन देवोंकी देवियोंका, (४) नक्षत्रके विमानवासी देव और उन देवोंकी देवियोंका, इस तरह उन चारों युगलोंका जघन्य आयुष्यप्रमाण एक पल्योपमका चौथा भाग होता है और पांचवें तारेके विमानवासी देव और उन देवोंकी देवियोंका जघन्य आयुष्य एक पल्योपमके आठवें भाग जितना होता है ।

इस तरह ज्योतिषी निकायके पांच युगलोंकी उत्कृष्ट और जघन्यस्थिति कही और मध्यमस्थितिके लिए तो पहले जो स्पष्टता की है, उसके अनुसार सुज्ञजन यहाँ भी समझ लें ।

सूर्य-चन्द्रकी आयुष्यस्थितिके अनुसार सामानिकादि देवोंकी आयुष्यस्थिति भी जानें ।
[५-६-७]

॥ ज्योतिषी निकायगत देव-देवियोंके जघन्य-उत्कृष्ट आयुष्यका यंत्र ॥

ज्योतिषी नाम	जघन्य आयुष्य	उत्कृष्ट आयुष्य
चन्द्र-इन्द्रका	नहीं है ।	१ पल्योपमके ऊपर १ लाख वर्ष
चन्द्रकी इन्द्राणीका	०। पल्योपम ($\frac{1}{8}$ प०)	(उससे आधा) ०॥ पल्योपम ऊपर ५० हजार वर्ष
चन्द्रकी प्रजा-देवोंका	"	१ पल्योपम ऊपर १ लाख वर्ष
चन्द्रकी प्रजा-देवीका	"	(उससे आधा) ०॥ पल्योपम ऊपर ५० हजार वर्ष
सूर्य इन्द्रका	नहीं है	१ पल्योपम उपरांत १००० वर्ष
सूर्यकी इन्द्राणीका	०। पल्योपम	०॥ पल्योपम ऊपर ५०० वर्ष
सूर्यके प्रजा-देवका	"	१ पल्योपम ऊपर १००० वर्ष
सूर्य प्रजा-देवीका	"	०॥ पल्योपम ऊपर ५०० वर्ष
ग्रह अधिपतिका	"	१ पल्योपम
ग्रहाधिपतिकी इन्द्राणीका	"	०॥ पल्योपम
ग्रहप्रजा-देवका	"	१ पल्योपम
ग्रहप्रजा-देवीका	"	०॥ पल्योपम
नक्षत्र अधिपतिका	"	०॥ पल्योपम
नक्षत्राधिपतिकी देवीका	"	०। पल्योपम-साधिक
नक्षत्र देवका	"	०॥ पल्योपम
नक्षत्र देवीका	"	०। पल्योपम-साधिक
तारा अधिपतिका	पल्योपमका आठवाँ भाग	०। पल्योपम
ताराधिपतिकी देवीका	$\frac{1}{8}$ "	$\frac{1}{8}$ पल्योपम-साधिक भाग
तारा देवका	"	०। पल्योपम
तारा देवीका	"	$\frac{1}{8}$ पल्योपम

अवतरण—पहले भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी इन तीनों निकायोंकी आयुष्यस्थितिका

वर्णन किया। अब डेढ़ गाथासे चौथी वैमानिक निकायके देवोंकी उत्कृष्ट आयुष्य स्थितिका वर्णन करते हैं,

दोसाहि-सत्तसाहिय, दस-चउदस-सत्तर-अयर जा सुक्को ।

इक्किक्कमहियमित्तो, जा इगती सुवरि गेविज्जे ॥ ८ ॥

तितीसणुत्तरेसुं, सोहम्माइसु इमा ठिई जिट्ठा ॥ ८½ ॥

गाथार्थ—दो सागरोपम, साधिक दो सागरोपम, सात सागरोपम, साधिक सात सागरोपम, दस सागरोपम, चौदह सागरोपम और सत्रह सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति अनुक्रमसे सौधर्म-देवलोकसे आरम्भ करके शुक्र देवलोकपर्यन्त जानें। यहाँसे एक एक देवलोकमें एक एक सागरोपमप्रमाण आयुष्य स्थितिमें वृद्धिसे ऊपरकी नवम ग्रंथेयकमें ३१ सागरोपम-प्रमाण उत्कृष्ट स्थिति हो तब तक करें, पश्चात् अनुत्तर विमानमें तैंतीस सागरोपमप्रमाण उत्कृष्ट स्थिति समझें। इस तरह सौधर्मादि देवलोकमें उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण कहा है ॥ ८-८½ ॥

विशेषार्थ—चौथे वैमानिक निकायके देव दो प्रकारके हैं। १. कल्पोपपन्न और २. कल्पातीत।

१ कल्पोपपन्न यह पद दो शब्दोंसे संकलित है। एक 'कल्प' और दूसरा 'उपपन्न', उनमें 'कल्प' अर्थात् आचार-स्थिति-जित-मर्यादा अथवा स्पष्ट अर्थमें व्यवस्था और 'उपपन्न' अर्थात् युक्त-प्राप्त अर्थात् व्यवस्थासे युक्त वह, अर्थात् इन्द्र, सामानिक और आत्मरक्षकादि दसों प्रकारकी व्यवस्थाएँ जिसके अन्दर रही हैं वह 'कल्पोपपन्न' कहलाता है।

जैसे मनुष्यलोकमें राजा और प्रजा विषयक राजकीय और प्रजा सम्बन्धी सर्व प्रकारकी आचार-व्यवस्थाएँ होती हैं, लगभग वैसे ही व्यवस्थाएँ देवलोकमें भी विद्यमान हैं और वे दसों प्रकारके देव अपने अपने कर्तव्यानुसार समग्र देवलोकका तंत्र चलाते हैं।

ये दस प्रकारके देव कौन हैं? यह ४५ वीं गाथामें कहा जाएगा। ये कल्पोपपन्न देव सौधर्मादि देवलोकसे लेकर बाहरवें अच्युत देवलोक तक होते हैं। इन बारहों देवलोकोंमें परस्पर स्वामित्व, सेवकत्व, छोटे बड़ेका सब प्रकारका व्यवहार इत्यादि सर्व जातिके स्वामि-सेवक आदि भाव-व्यवहार (मनुष्यलोकमें राजा और प्रजाके बीच हो वैसे) होता है।

२ कल्पातीत—यह शब्द भी 'कल्प' और 'अतीत' ऐसे दो शब्दोंसे संकलित है, उसमें 'कल्प' अर्थात् कल्पोपपन्न शब्दकी परिभाषामें कहे गये सर्व प्रकारके मर्यादा आदि

११. 'कल्पेन-आचारेण उपपन्ना उपेता इति कल्पोपपन्नाः ॥'

१२. 'कल्पमाचारमतीता उल्लङ्घिता इति कल्पातीताः ॥'

आचारोंसे 'अतीत' अर्थात् रहित यह ^{६३}'कल्पातीत' कहा जाय ।

अर्थात् जहाँसे परस्पर स्वामि-सेवकभाव चला गया है, वहाँ परस्पर छोटे-बड़ेकी मर्यादा होती नहीं है, जिनको जिनेश्वरोंके कल्याणकादि प्रसंगोंमें आनेकी मर्यादा निभानी नहीं होती, वे 'कल्पातीत' कहलाते हैं ।

यह कल्पातीतत्व नव प्रवेयक और पांच अनुत्तरमें है अर्थात् सभीका समानस्व [अहमिद्रत्व] है ।

देवलोकमें एक व्यवस्था-व्यवहारवाले देव और दूसरे व्यवस्था-हीन देव होते हैं ।

इससे यह निश्चित हुआ कि वैमानिक निकायमें दो प्रकारके देव हैं । जहाँ अशांति, क्लेश या परस्पर संघर्षण आदि होनेकी संभावना हो वहाँ सुलह-शांतिकी स्थापनाके लिए सर्वविध व्यवस्थाकी आवश्यकता उपस्थित होती है और वहाँ वैसी व्यवस्था होती ही है ।

अतः (भवनपतिसे लेकर) वैमानिक निकायमें बारहों देवलोकके देवोंको परस्पर मिलने जुलनेके साथ ही अन्यत्र गमनागमन करनेके प्रसंग बने रहते हैं । साथ ही देवांगनाओंके साथके स्नेहसंबंध भी रहते हैं और उनके आकर्षण भी रहते हैं । इस तरह जहाँ परस्पर समागम हों वहाँ रागद्वेष-विषयक संघर्षण उपस्थित होते हैं और संघर्षणमेंसे ही संक्लेशोंकी चकमक झरती है और युद्धोंके वरनगोड भी गड़गड़ा उठते हैं । ऐसा बनने न पाये, इसलिए सारी व्यवस्था होनी चाहिए, अतः मनुष्यलोकके राजतंत्रकी तरह वहाँ भी दस प्रकारकी व्यवस्था होनेसे वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं । 'कल्प' अर्थात् 'आचार' और 'उपपन्न' अर्थात् 'युक्त, आचारसहित' वह । बारह देवलोकोंसे आगे वैमानिक-निकायके ही दूसरे नव प्रवेयक और अनुत्तर देवलोकोंमें यह व्यवस्था नहीं है, क्योंकि उन देवोंको अपना समग्र जीवन अपने ही विमानोंमें बिताना होता है । विमानमेंसे कभी बाहर निकलना होता ही नहीं है । इतना ही नहीं, परलोकसे आकर जिस शय्यामें उत्पन्न हुए थे तब सोये हुए ही हों ऐसे आकारमें उत्पन्न हुए थे, तत्पश्चात् कभी उठना भी नहीं होता ऐसे ये महाभागी होते हैं और उन्हें वैसी जरूरत भी नहीं होती ।

वहाँ सर्व क्लेश और सर्वोपाधिके मूलरूप न तो देवांगनाएँ और न उनके साथ रहनेवाले स्नेहसम्बन्ध तथा उन्हें उठना ही नहीं होता, अतः नौकर, चाकर या सलाहकार जैसे देव भी नहीं होते ।

अतः सभी देव अपनी-अपनी शय्यामें ही जीवन व्यतीत करते हैं । अतः देवियाँ तो हैं ही नहीं और देवोंका परस्पर मिलन भी नहीं है इसलिए किसीका समागम भी नहीं है, अतः संघर्ष नहीं है और इसलिए व्यवस्थाकी जरूरत नहीं रहती है ।

९३. इसीलिए बारह देवलोकोंको कल्प [सौधर्म 'कल्प' आदि] की तरह संबोधित कर सकते हैं लेकिन प्रवेयक तथा अनुत्तरको कल्प विशेषण नहीं लगाते हैं ।

परम कारुणिक सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवन्तोंके कल्याणकादि प्रसंगोंमें उन्हें आनेकी जरूरत नहीं। केवल जो सम्यग्दृष्टि देव हों वे शय्यामें सोते सोते ही सिर्फ दोनों हाथ ऊँचे करके नमस्कार करते हैं।

अनुत्तर देवोंको तो हाथ भी ऊँचे करनेकी आवश्यकता नहीं। जन्मांतरमें की हुई चारित्रकी उत्तम कक्षाकी आराधनाके प्रतापसे ही ऐसी उत्तम कक्षाकी स्थिति प्राप्त किये हुए हैं, कि जहाँ अपने ऊपर किसीका स्वामित्व ही नहीं। वैसे स्वयं भी किसीके स्वामी नहीं हैं। साथ ही क्लेश, झगड़ा, अशांति भी नहीं हैं। तमाम देव समान, सर्व स्वतंत्र रूपमें होनेसे वहाँ व्यवस्थाकी जरूरत नहीं होती।

अनुत्तरवासी देव एक करवटसे शय्यामें लेटे हुए द्रव्य-गुण-पर्यायके चिंतनकी गंभीर विचारणामें समय व्यतीत करते हैं। उनमें (सर्वार्थसिद्धके) ३३ सागरोपमके आयुष्यवाले देव साढ़े सोलह सागरोपम तक एक ही करवटसे सोये रहते हैं। तत्पश्चात् एक बार करवट बदलकर शेष आधा आयुष्य पूर्ण करते हैं। ऐसी तो महान् पुण्यके प्रतापसे अति सुखरूप आयुष्यको भोगनेकी महत्ता प्राप्त की है, उसमें कारणरूप केवल उत्तम कक्षाके चारित्रकी आराधना है।

अब उन दोनों प्रकारके वैमानिक निकाय देवोंकी प्रथम उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति कहनी है—

[यहाँ जो आयुष्य कहा जाता है वह हरएक देवलोकके अंतिम प्रतरमें निवास करनेवाले देवोंका जानें और शेष प्रतरोंमें बसनेवालोंकी स्थिति तथा उन प्रतरोंका स्वरूप आगे कहा जाएगा।]

वैमानिक निकायके देवोंकी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति

प्रथम सौधर्म देवलोकमें सामान्यसे (उत्कृष्टमें उत्कृष्ट) सर्वोत्कृष्ट दो सागरोपमकी आयुष्य स्थिति है। यह जो स्थिति कही गई वह समुच्चयसे कही है और इन दो सागरोपमकी स्थिति उस सौधर्म देवलोकके अंतिम (तेरहवें) प्रतरकी जानें।

दूसरे ईशान देवलोकमें उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति समुच्चयसे दो सागरोपम और एक पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग अधिक जानें। यह स्थिति भी सौधर्म देवलोककी तरह ईशान देवलोकके अंतिम प्रतरमें होती है। इस तरह तीसरे सनत्कुमार देवलोकमें उत्कृष्ट आयुष्य-स्थिति सात सागरोपम, चौथे माहेन्द्र देवलोकमें सात सागरोपम और एक पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग अधिक, पाँचवें ब्रह्म देवलोकके देवताका उत्कृष्ट आयुष्य दस सागरोपम, छठे लांतक देवलोकमें चौदह सागरोपम, सातवें शुक्र देवलोकमें उत्कृष्ट आयुष्य सत्रह सागरोपम, आठवें सहस्रार देवलोकमें अठारह सागरोपम, नौवें आनत देवलोकमें उन्नीस

सागरोपम, दसवें प्राणत देवलोकमें बीस सागरोपम, ग्यारहवें आरण देवलोकमें इक्कीस सागरोपम और बारहवें अच्युत देवलोकमें बाईस सागरोपमकी आयुष्य स्थिति होती है ।

‘प्रैवेयक’का तात्पर्य क्या है ? समग्र चौदह राजलोक ‘वैशाख’ संस्थानमें स्थित पुरुषके आकारमें है । जिस तरह पुरुषोंके गलेमें, वक्षःस्थलमें, कटि आदि स्थानोंमें आभूषण होते हैं, वैसे चौदह राजलोकरूपी पुरुषके आभूषण कौनसे हैं । तो जो विमानादि हैं वे ही उसके आभूषणरूप हैं, उनमें नव प्रैवेयकके विमान चौदह राजलोकरूपी पुरुषके गलेके स्थानमें आभूषणरूपमें विद्यमान होनेसे उसे ‘प्रैवेयक’ कहा जाता है । प्रैवेयक “शब्दकी व्युत्पत्ति भी वही प्रकट करती है ।

ये नव (नौ) प्रैवेयक खड़े किये गये दण्डकी तरह एकके ऊपर एक स्थित हैं । अन्य ग्रन्थकार इन नौ प्रैवेयकोंका तीन विभागोंमें परिचय कराते हैं । इनमें पहले तीनको ‘अधस्तन तीन’, मध्यम तीनको ‘मध्यम तीन’ और उनके ऊपरके तीनको ‘उपरितन तीन’ इस तरह परिचय कराते हैं ।

उनमें पहली त्रिपुटीमेंसे पहले (८^५अधस्तन अधस्तन) सुदर्शन प्रैवेयकमें तेईस सागरोपम, दूसरे (अधस्तन-मध्यम) सुप्रतिष्ठित प्रैवेयकमें चौबीस सागरोपम, तीसरे [अधस्तन-ऊर्ध्व] मनोरम प्रैवेयकमें पचीस सागरोपम ।

दूसरी त्रिपुटीमें-चौथे [मध्यमाधस्तन] सर्वभद्र प्रैवेयकमें छब्बीस सागरोपम, पाँचवें [मध्यममध्यम] सुविशाल प्रैवेयकमें सताईस सागरोपम और छठे [मध्यमोर्ध्व] सौमनस प्रैवेयकमें अठाईस सागरोपम ।

तीसरी त्रिपुटीके पहले अर्थात् क्रमसे सातवें सुमनस प्रैवेयकमें उन्तीस सागरोपम, आठवें प्रियंकर प्रैवेयकमें तीस सागरोपम और नौवें आदित्य प्रैवेयकमें एकतीस सागरोपमकी उत्कृष्ट-आयुष्यस्थिति होती है ।

इन नौ प्रैवेयकोंसे ऊपर स्थित पांच अनुत्तर देवलोकोंमेंसे (१) विजय (२) वैजयंत (३) जयंत और (४) अपराजित इन चारों विमानोंमें और पांचवें सर्वार्थसिद्ध नामके विमानमें देवोंकी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति तैतीस सागरोपमकी जानें ।

१४. प्रैवेयकास्तु-लोकपुरुषस्य ग्रीवाभरणभूताः उपचारालोक एव पुरुषस्तस्य ग्रीवेव ग्रीवा तस्यां भवा ग्रीवा प्रैवेया प्रैवेयका वा ॥ अथवा ग्रीवेव ग्रीवा, चतुर्दशरज्ज्वात्मलोकपुरुषस्य त्रयोदश्या रज्जोर्भागस्तन्निविष्टतया अतिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूता प्रैवेयाः इस तरह भी व्युत्पत्ति होती है ।

१५. अन्यत्र अन्य महर्षि इन प्रैवेयकोंके नामोंकी पहचान मागधी-प्राकृत भाषाके शब्दोंमें देते हैं, जैसे कि १-हिट्टिम, २-हिट्टिम-मध्यम, ३-हिट्टिमउवरिम, ४-मध्यमहिट्टिम, ५-मध्यम-मध्यम, ६-मध्यम-उवरिम, ७-उवरिमहिट्टिम, ८-उवरिममध्यम, ९-उवरिमउवरिम । ये केवल भाषाके कारण अलग दंगसे बोले जाते हैं, लेकिन मतान्तर न समझे । ये नाम उन प्रैवेयकोंके स्थान-सूचक हैं ।

इस प्रकार सौधर्म देवलोकसे लेकर पांचों अनुत्तर विमानों तकके देवोंकी अर्थात् वैमानिक निकायके देवोंकी ऊपर बताये अनुसार उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति कही गई। [८-८ $\frac{1}{2}$]

अवतरण—पूर्व गाथामें वैमानिक देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कही गई। अब दो गाथाओंसे उन्हीं वैमानिक देवोंकी जघन्य स्थिति कही जाती है—

सोहम्मे ईसाणे, जहन्न-ठिइ पलियमहिअं च ॥ ९ ॥

दो-साहिसत्तदस चउ-दस, सत्तर अयराइं जा सहस्सारी ।

तत्परओ इक्किं, अहियं जाऽणुत्तरचउके ॥ १० ॥

इगतीस सागराइं, सव्वट्टे पुण जहन्न-ठिइ नत्थि ॥ १० $\frac{1}{2}$ ॥

गाथार्थ—सौधर्म तथा ईशान देवलोकमें अनुक्रमसे पल्योपम^{६६} और साधिक पल्योपम-प्रमाण जघन्यस्थिति है। तत्पश्चात् सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, शुक्र तथा सहस्वार देवलोकमें अनुक्रमसे दो सागरोपम, साधिक दो सागरोपम, सात सागरोपम, दस सागरोपम, चौदह सागरोपम तथा सत्रह सागरोपम-प्रमाण जघन्यस्थिति कही है। तत्पश्चात् आनतादि चार देवलोकोंमें, नौ ग्रैवेयकोंमें तथा विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन चार अनुत्तर विमानोंमें अनुक्रमसे एक-एक सागरोपम अधिक जघन्यस्थिति है। इस प्रकार समग्र अनुत्तर देवलोकके चारों विमानोंमें इकतीस सागरोपमप्रमाण जघन्यस्थिति जानें।

सर्वार्थसिद्धमें जघन्यस्थिति नहीं है ॥ ९-१०-१० $\frac{1}{2}$

विशेषार्थ—वैमानिक निकायके पहले सौधर्म देवलोकके^{६७} देवताओंकी जघन्य आयुष्य स्थिति एक पल्योपमकी है, यह स्थिति सौधर्म देवलोकके तेरहों प्रतरोंमें निवास करनेवाले देवोंकी जानें। ईशान देवलोकके देवताओंकी जघन्य आयुष्य स्थिति एक पल्योपम और एक पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग अधिक होता है। यह जघन्य स्थिति सौधर्म देवलोककी

९६. सौधर्म-ईशानमें जघन्यस्थिति पल्योपम तथा अधिक पल्योपम मात्र कही है और सनत्कुमारमें तुरन्त ही दो सागरोपम जैसी बड़े प्रमाणवाली जघन्यस्थिति कही, उससे जरा आश्चर्य होगा, किन्तु ज्ञानीका कथन यथातथ्य होता है।

९७. जघन्यस्थिति सर्वत्र समान है, लेकिन उत्कृष्टस्थितिमें अन्तर है। सौधर्म इन्द्रका निवास अंतिम (तेरहवें) प्रतरमें ही होता है, इससे पूर्व समुच्चयरूपमें सौधर्मादि प्रत्येक देवलोकश्रेणी जो उत्कृष्टस्थिति कही है वह अंतिम प्रतरमें रहनेवाले इन्द्र तथा अन्य सामानिक आदि देवोंकी भी उतनी ही समझे। मात्र उनको आज्ञा-पेशव्यादि भाव नहीं होता है।

पूर्व कही गई सामुदायिक उत्कृष्टस्थिति हरएक देवलोकके अंतिम प्रतरकी समझे, उसी देवलोकके अन्यान्य प्रतरोंमें तो अन्तरवाली होती है।

तरह ईशान देवलोकके “सर्व प्रतरमें समझ लें। तीसरे सनत्कुमार देवलोकमें जघन्य आयुष्य दो सागरोपमका, चौथे माहेन्द्रमें सर्व प्रतरमें जघन्य आयुष्य दो सागरोपमसे कुछ अधिक, पांचवें ब्रह्म देवलोकमें जघन्य आयुष्य सात सागरोपमका, छठे लांतक देवलोकमें जघन्य आयुष्य दस सागरोपमका, सातवें शुक्र देवलोकमें जघन्य आयुष्य चौदह सागरोपम, आठवें सहस्रार देवलोकमें जघन्य आयुष्य सत्रह सागरोपम, नवें आनत देवलोकमें जघन्य आयुष्य अठारह सागरोपम, दसवें प्राणत देवलोकमें जघन्य आयुष्य उन्नीस सागरोपम, ग्यारहवें आरण देवलोकमें जघन्य आयुष्य बीस सागरोपम, बारहवें अच्युत देवलोकमें जघन्य आयुष्य इक्कीस सागरोपम, तत्पश्चात् नौवें प्रवेयकमें एक-एक सागरोपमकी संख्या बढ़ाते जाना, अर्थात् पहले प्रवेयकमें बाइस सागरोपम और नौवें आदित्य प्रवेयकमें तीस सागरोपमकी जघन्य स्थिति आ जाएगी।

तत्पश्चात् पांच अनुत्तर विमानोंकी जघन्य स्थितिका प्रमाण कहते हैं उनमें अनुत्तरसे क्या तात्पर्य है? तो जिसके उत्तरमें अब किसी भी प्रकारका विशिष्ट पौद्गलिक सुख नहीं है अर्थात् दस देवलोकके आगे किसी भी प्रकारका पौद्गलिक सुखका अधिक आस्वाद वर्तमान नहीं है। अतः वह देवलोक अनुत्तर देवलोकके नामसे पहचाना जाता है। उस “अनुत्तर देवलोकके विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित इन चारों विमानोंके विषयमें जघन्य आयुष्यस्थिति एकतीस सागरोपमकी है। परन्तु पाँचवें सर्वार्थसिद्ध नामके विमानके विषयमें १०० जघन्य आयुष्यस्थिति नहीं है। यह उस स्थानके लिये विशिष्ट प्रभावसूचक है।

९८. अन्य आचार्य हरएक प्रतरकी जघन्यस्थिति अन्य प्रकारसे भी बताते हैं जो १५-१६वीं गाथामें कही जायेगी। चालू गाथामें जो जघन्यस्थिति कही है वह उस देवलोकके समग्र प्रतरश्रयी समुच्चयने कही है।

९९. अथवा अनुत्तर तात्पर्य है—‘अविद्यमानमुत्तरद् विमानादि येषां तेऽनुत्तराः’ अर्थात् विद्यमान नहीं है अन्य विमानादि जिसके उत्तरमें वह अनुत्तर। अथवा ब्राह्मसुखकी अपेक्षामें जिससे श्रेष्ठ स्थान चौदह राजलोकमें अन्य नहीं है। चौदह राजलोकमें संसारी जीवकी अपेक्षासे सर्वोत्तम आयुष्यको धारण करनेवाला स्थान वही है और सबसे ऊँचा देवलोक भी वही है अतः उसे अनुत्तर कहा जाता है।

१००. प्र०—तत्त्वार्थसूत्रके अ० ४. सू० ४२ का भाष्य सर्वार्थसिद्धके देवोंकी जघन्यस्थिति ३२ सागरोपमकी और उत्कृष्ट ३३ सागरोपमकी है ऐसा दोनों प्रकारसे कहते हैं। किन्तु यह बात सिद्धान्तकारके अनुरूप नहीं है। अतः टीकाकार श्री सिद्धर्षिर्जनि भी वहाँ प्रश्न उठाया है। किन्तु सत्य क्या है? यह तो ज्ञानिगम्य है।

परन्तु सिद्धान्तकार तो सर्वार्थसिद्धकी अजघन्योत्कृष्ट ३३ सागरोपमकी एक ही स्थिति कहते हैं।

प्र०—‘सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं भंते। केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?

उ०—गोयमा ! अज्जहन्नमणुक्कोस तेत्तीसं सागरोवमाई ठिई पन्नत्ता ॥

(पन्नवणा सूत्र० पद ४. सू० १०२.)

वैमानिकनिकायमें जघन्य-उत्कृष्ट आयुष्यस्थितिका यंत्र ।।

	देवलोकके नाम	जघन्य आयुष्य	उत्कृष्ट आयुष्य
१.	सौधर्म देवलोकमें	१ पल्योपम	२ सागरोपम
२.	ईशान "	१ पल्योपमसे अधिक	२ सागरोपम साधिक
३.	सनत्कुमार "	२ सागरोपम	७ सागरोपम
४.	माहेन्द्र "	२ सागरोपम साधिक	७ सागरोपम साधिक
५.	ब्रह्म "	७ "	१० सागरोपम
६.	लांतक "	१० "	१४ "
७.	शुक "	१४ "	१७ "
८.	सहस्रार "	१७ "	१८ "
९.	आनत "	१८ "	१९ "
१०.	प्राणत "	१९ "	२० "
११.	आरण "	२० "	२१ "
१२.	अच्युत "	२१ "	२२ "
१.	सुदर्शन त्रैवेयकमें	२२ "	२३ "
२.	सुप्रतिबद्ध "	२३ "	२४ "
३.	मनोरम "	२४ "	२५ "
४.	सर्वभद्र "	२५ "	२६ "
५.	सुविशाल "	२६ "	२७ "
६.	सुमनस "	२७ "	२८ "
७.	सौमनस "	२८ "	२९ "
८.	प्रियंकर "	२९ "	३० "
९.	आदित्य "	३० "	३१ "
१.	विजय विमानमें	३१ "	३३ "
२.	वैजयन्त "	" "	" "
३.	जयन्त "	" "	" "
४.	अपराजित "	" "	" "
५.	सर्वार्थसिद्ध "	-नहीं है, [मतांतरसे ३२]	३३. "

सर्वार्थसिद्ध विमानके देवोंको सिद्धान्तकारोंने निश्चयपूर्वक एकावतारी बताये हैं ।
[९-१०-१०^१]

अवतरण—अब वैमानिक देवियाँ कितने प्रकारकी हैं ? तथा उनकी जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य-स्थिति कितनी है यह कहा जाता है—

परिगृहीताणियराण य, सोहम्मीसाण-देवीण ॥ ११ ॥

पलियं अहियं च कमा, ठिई जहन्ना इओ य उकोसा ।

पलियाइं सत्त-पन्नास, तह य नव पंचवन्ना य ॥ १२ ॥

गाथार्थ—सौधर्म तथा ईशान देवलोककी परिगृहीता तथा अपरिगृहीता देवियोंका जघन्य आयुष्य अनुक्रमसे पल्योपम तथा साधिक (कुछ अधिक) पल्योपम प्रमाण जानें । उनका उत्कृष्ट आयुष्य सौधर्म देवलोककी परिगृहीता देवीका सात पल्योपम और अपरिगृहीता देवीका पचास पल्योपम प्रमाण उत्कृष्ट आयुष्य जानें । ईशान देवलोककी परिगृहीता देवीका नव पल्योपम और अपरिगृहीताओंका पचपन पल्योपम प्रमाण उत्कृष्ट आयुष्य समझें ॥१२॥

विशेषार्थ—देवगतिमें देवियोंकी उत्पत्ति भवनपति निकायसे लेकर ईशान देवलोक तक अर्थात् भवनपति निकाय, व्यन्तर निकाय, ज्योतिषी निकाय और वैमानिक निकायमें सौधर्म तथा ईशान इन दो ^{१०१}देवलोकों तक ही होती है । सनत्कुमासे आगेके देवलोकोंमें देवियोंकी उत्पत्ति होती नहीं है, क्योंकि ऊपरके निकायके देव अल्पविषयी हैं, अतः वहाँ देवियोंकी उत्पत्ति नहीं होती ।

वैमानिक निकायके प्रथम दो देवलोकोंमें देवियाँ दो प्रकारकी होती हैं । एक 'परिगृहीता' और दूसरी 'अपरिगृहीता' । परिगृहीताको ^{१०२}कुलांगना अर्थात् कुलीन

१०१. एक इन्द्रके भवमें इन्द्रकी अपनी कितनी देवियाँ उत्पन्न होकर मृत्यु पाती हैं ? इस सम्बन्धमें कहा गया है कि—

‘दो कोडाकोडीओ, पंचासी कोडी लक्खणसयरी ।

कोडीलहस्स चउकोडी, सयाण अडवीस कोडीण ॥ १ ॥

सत्तावन्नं लक्खा चउदस, सहस्सा य दुसय, पंचासी ।

इय संखा देवीओ चयंति इंदस्स जम्मंमि ॥ २ ॥

अर्थ—एक इन्द्रके भवमें दो करोड़ाकरोड़, पचासी लाख करोड़, इकहत्तर हजार करोड़, चारसौ करोड़, अठाईस करोड़, सत्तावन लाख, चौदह हजार, दो सौ पचासी—(२८,५७१४२८,५७,१४,२८५) इतनी देवियोंकी संख्या उत्पन्न होकर ज्वन-मृत्युको प्राप्त करती हैं ।

१०२. कुलांगना समान, अर्थात् कुलीनी भूषणरूप । जिस तरह मनुष्यलोकमें जो स्त्रियाँ स्वकीय जीवनकी

परिणत स्त्रीके सदृश मर्यादाशील समझें तथा अपरिगृहीताको गणिका (वेश्या)के समान स्वेच्छाचारिणी जानें ।

उन देवियोंकी जघन्य आयुष्यस्थिति कही जाती है—

सौधर्म देवलोकमें परिगृहीता और अपरिगृहीता देवियोंकी जघन्य आयुष्यस्थिति एक पल्योपमकी है और ईशान देवलोकमें परिगृहीता और अपरिगृहीता देवियोंकी आयुष्यस्थिति एक पल्योपमसे कुछ अधिक समझें ।

अब उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति कही जाती है—

सौधर्म देवलोकमें परिगृहीता देवियोंकी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति सात पल्योपमकी और अपरिगृहीता देवियोंकी पचास पल्योपमकी होती है । तथा दूसरे ईशान देवलोकमें परिगृहीता देवियोंकी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति नौ पल्योपमकी और अपरिगृहीता देवियोंकी पचपन पल्योपमकी होती है ।

इससे ऊपरके देवलोकोंमें देवियोंकी ^{१०३}उत्पत्ति नहीं है । विशेषमें भवनपतिसे लेकर व्यन्तर, ज्योतिषी तथा सौधर्म-ईशान निकार्योंमें देवोंकी अपेक्षा देवियाँ बत्तीसगुनी, बत्तीस अधिक कही गई हैं । (१२)

सौधर्म-ईशान देवलोकस्थित परिगृहीता-अपरिगृहीता देवियोंका जघन्य-उत्कृष्ट आयुष्य-स्थिति यन्त्र—

देवलोक नाम	देवीकी जाति	जघन्य आयुष्य	उत्कृष्ट आयुष्य
१. सौधर्म देवलोकमें	परिगृहीता	१ पल्योपम	७ पल्योपम
” ”	अपरिगृहीता	”	५० ”
२. ईशान देवलोकमें	परिगृहीता	१ पल्योपम साधिक	९ ”
” ”	अपरिगृहीता	” ”	५५ पल्योपम
मध्यमस्थिति-जघन्योत्कृष्टकी विचकी यथासंभव सोचें			

अवतरण—देवियोंके अधिकारमें प्रासंगिक असुरकुमारादि इन्द्रोंकी अग्रमहिषियोंकी संख्या बताते हैं—

पवित्र रखकर स्व-पतिमें सन्तोष मानकर, कुलाचारकी मर्यादाके अनुसार वर्तन करनेवाली सुशील हो, उसे कुलांगना कहते हैं, उसी तरह देवलोकमें भी वैसे ही रहन-सहनवाली जो देवियाँ होती हैं वे कुलांगना कहलाती हैं ।

१०३. तीसरे सनकुमार देवलोकसे लेकर अच्युत देवलोक तक अपरिगृहीता देवियोंका सम्भोगादिके

१०४ पण—छ—चउ—चउ—अडु य, कमेण पत्तेयमग्गमहिसीओ ।

असुर—नागाइवंतर—जोइसकप्पदुगिदाण ॥ १३ ॥

विशेषार्थ—जिस तरह मनुष्यलोकमें जिन राजाओंके अनेक रानियाँ होती हैं, उनमें अमुक रानियाँ मुख्य होती हैं, और उसी प्रधानताके कारण ही उन्हें 'पटरानी' कही जाती हैं, उसी तरह देवलोकमें भी मुख्य पटरानीको 'अग्रमहिषी' [मुख्य देवी] शब्दसे संबोधित किया जाता है ।

उनमें भवनपतिनिकायोंमें पहले असुरकुमार निकायके दक्षिणेन्द्र—चमरेन्द्रके तथा उत्तरेन्द्र—बलीन्द्रके प्रत्येकके पांच—पांच अग्रमहिषियाँ होती हैं । शेष नागकुमारादि नवों निकायोंके धरणेन्द्र तथा भूतानन्देन्द्र प्रमुख अठारह इन्द्र हैं, उन हरएक इन्द्रके छः छः अग्रमहिषियाँ होती हैं ।

आठ प्रकारके व्यन्तर, आठ प्रकारके वाण व्यन्तर—इस तरह व्यन्तरके सोलह निकायोंके उत्तरेन्द्र तथा दक्षिणेन्द्र कुल मिलाकर बत्तीस इन्द्र हैं, उन प्रत्येकके चार अग्रमहिषियाँ होती हैं ।

तीसरे उद्योतिषी देवलोकके चन्द्र और सूर्य इन दो इन्द्रके भी चार चार अग्रमहिषियाँ होती हैं । और चौथे वैमानिक देवलोकमें सौधर्म देवलोकके सौधर्मेन्द्रकी और दूसरे ईशान देवलोकके ईशानेन्द्रकी आठ-आठ अग्रमहिषियाँ होती हैं ।

ऊपरके सनत्कुमारादि देवलोकोंमें देवियोंकी उत्पत्ति होती ही नहीं है, अतः वहाँ परिगृहीता देवी नहीं है परन्तु उस-उस देवलोकके इन्द्रोंको अथवा देवोंको जब विषयसुखकी इच्छा अद्भूत होती है तब उनके उपभोगके लिए सौधर्म और ईशान देवलोक की ही अपरिगृहीता देवियाँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपमें उपयोगी होती हैं ।

पहलेके दो देवलोकोंसे ऊपरके देवलोकमें देवियोंकी उत्पत्तिका अभाव होनेसे अग्रमहिषियोंका होना संभव नहीं है । [१३]

अवतरण—वैमानिक देवों और देवियोंकी प्रति देवलोकमें यथासम्भव आयुष्यस्थिति कही । अब प्रतिदेवलोकके प्रत्येक प्रतरमें जघन्योत्कृष्ट आयुष्यस्थिति बतानेके लिए प्रथम किस देवलोकमें कितने प्रतर होते हैं ? उसका वर्णन करते हैं—

कारण जाना-आना होता है, कितने आयुष्यवाली किस-किस देवलोकमें जाकर देवोंके साथ किस तरह, विषयादि सुकवा व्यवहार करती हैं ? यह आगे १६८ वीं गाथाके प्रसंग पर कहा जाएगा ।

१०४. आयुष्यस्थिति द्वारके प्रकरणमें यह गाथा थोड़ी अग्रस्तुत लगती है, किन्तु मूल ग्रन्थोंमें इसी तरह प्रस्तुत हुई है इसलिए हमें भी स्वीकार करनी चाहिए ।

दुसु तेरस दुसु बारस, छ प्पण चउ चउ दुगे दुगे य चउ
गेविज्ज-णुत्तरे दस, विसट्ठि पयरा उवरि लोए ॥ १४ ॥

गाथार्थ—सौधर्म तथा ईशान देवलोकमें तेरह प्रतर हैं। तत्पश्चात्के तीसरे और चौथे—इन दो देवलोकोंमें बारह प्रतर हैं। पाँचवें देवलोकमें छह प्रतर, छठेमें पाँच प्रतर, सातवेंमें चार प्रतर, आठवेंमें चार प्रतर, नवम तथा दशम देवलोकमें चार और ग्यारह तथा बारहवें देवलोकमें भी चार प्रतर हैं। तत्पश्चात् नौ प्रवेयकके नौ और अनुत्तर विमानका एक मिलकर कुल दस प्रतर हैं। इस तरह ऊर्ध्वलोकके देवलोकमें बयासठ प्रतर हैं ॥ १४ ॥

विशेषार्थ—प्रतर अर्थात् क्या? तो मनुष्यलोकमें प्रवर्तमान घरोंमें १०^५सौ-सौसे अधिक मंजिलें होती हैं। इन मंजिलोंकी गिनती करानेवाली अथवा विभाग करनेवाली जो तलप्रदेश-वस्तु है वह देवलोकश्रेणी शास्त्रीय परिभाषामें 'प्रतर' शब्दसे संबोधित होती है। परन्तु विशेष यह है कि—मनुष्यलोककी मंजिलें-लकड़ी आदिकी सामग्रीके आलम्बनसे स्थित हैं, जब कि देवलोकमें स्थित प्रतर-स्तर स्वाभाविक रूपसे बिना आलम्बनके ही स्थित हैं।

परन्तु इतना विशेष ज्ञातव्य है कि—देवलोकके प्रतर अलग और विमान भी अलग (अर्थात् पीढे पर विमान अलग) इस तरह दो अलग-अलग वस्तुएँ नहीं हैं किन्तु समग्र कल्पना विमानके नीचेसे समान सतह पर होनेसे उस विमानके अधःस्तन तलभागसे ही (विमानके कारण ही) विभाग पड़नेसे पाथडे (पीढे) समझना। ऐसे पाट-पीढे या स्तर कुछ कुछ दूरी (आंतर-आंतर)से तेरहकी संख्यामें स्थित हैं। उनमें प्रथम सौधर्म तथा ईशान देवलोकके मिलाकर तेरह प्रतर (तलप्रदेश) बलयाकारमें हैं, इसलिए दोनों देवलोक एक समान सतहमें बिना व्याघातके जुड़े हुए हैं और इसलिए वे संपूर्ण बलयाकार बनते हैं। यह देवलोक पूर्णन्दुके आकारका होनेसे कहे गये तेरह प्रतर बलयाकार हैं और यह भी तभी लिये जा सकते हैं कि जब दोनों देवलोकके प्रतर साथमें गिने जाएँ, इसलिए यह देवलोक महाविदेह-क्षेत्रकी ऊर्ध्वदिशामें सीधी सतहमें होनेसे उस क्षेत्रकी अपेक्षासे पूर्व महाविदेहकी तरफका और पश्चिम महाविदेहकी तरफका और मध्यभागसे आधा-आधा विभाग करें तो एक मेरुसे दक्षिण दिशाका और एक मेरुसे उत्तरदिशाका इस तरह दो विभाग होते हैं, उनमें दक्षिण-

१०५. भारतवर्षमें बम्बई आदि बड़े शहरोंमें सात, आठ और उनसे अधिक मंजिलोंके मकान हैं। विदेशमें बड़े बड़े देशोंकी राजधानियों—लंडन, पेरिस, मोस्को, बर्लिन, बोशिंगटन आदि-में तो ५०, ७५, ८०, १००, १२५, मंजिलोंकी गगनस्पर्शी इमारतें हैं। न्यूयार्क शहरमें न्यू एम्पायर स्टेट नामका बिल्डिंग १२५ मंजिलकी आज विद्यमान है।

विभागके अर्ध वलयाकार खण्डके तेरह प्रतर सौधर्मके और उत्तर-विभागके अर्धवलयाकार खण्डके तेरह प्रतर ईशानेन्द्रके जानें ।

इसी प्रकार सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोकके लिए समझें अर्थात् यहाँ भी दोनों देवलोकके मिलकर बारह प्रतर वलयाकार लेने हैं, इनमें दक्षिण विभागके बारह प्रतरोंके स्वामी सनत्कुमारेन्द्र और उत्तर दिशाके बारह प्रतर माहेन्द्रके समझें ।

पाँचवें ब्रह्म देवलोकमें खण्ड-विभाग नहीं है अतः यहाँ छह प्रतर वलयाकारमें जानें ।

इसी तरह लांतकमें पाँच, शुक्र देवलोकमें चार प्रतर और सहस्रारमें चार प्रतर वलयाकारमें समझना । आनत और प्राणत देवलोकमें सौधर्म देवलोकवत् दोनोंके मिलकर चार प्रतर वलयाकारमें समझना ।

आरण और अच्युत इन दोनोंके मिलकर आनत प्राणतवत् चार प्रतर वलयाकारमें जानना ।

इस तरह बारह देवलोक तकके बावन प्रतर हुए । आगे चलते प्रत्येक प्रैवेयकका एक एक प्रतर गिनने पर नौ प्रैवेयकके नौ प्रतर होते हैं और पाँच अनुत्तर देवलोकका एक ही प्रतर, अतः कुल मिलाकर दस प्रतर पूर्वके बावन प्रतरोंमें मिलाएँसे बासठ प्रतर वैमानिक देवलोकमें जानें ।

प्रत्येक देवलोकके प्रतरोंका परस्पर अन्तर प्रायः हर एक कल्पमें समान है [कि सौधर्मसे ईशान कल्पके विमान ऊर्ध्वभागमें किंचित् ऊँचे रहते हैं, इस कारण यहाँ प्रायः कहा है] परन्तु ऊपर-ऊपरके देवलोकमें प्रतरोंकी संख्या कम और विमानोंकी ऊँचाई अधिक होनेसे नीचेके देवलोकके प्रतर सम्बन्धी अन्तरकी अपेक्षा ऊपरके देवलोकके प्रतरका अन्तर अधिक होता है । [१४]

वैमानिक निकायके प्रतरोंकी संख्याका यंत्र—

वैमानिक निकायनाम	प्रतर संख्या	वैमानिक निकायनाम	प्र. सं.
१. सौधर्म देवलोकमें	१३	८. सहस्रार देवलोक	४
२. ईशान		९. आनत	
३. सनत्कुमार	१२	१०. प्राणत	४
४. माहेन्द्र		११. आरण	
५. ब्रह्म	६	१२. अच्युत	४
६. लांतक	५	९. प्रैवेयक	९
७. महाशुक्र	४	५. अनुत्तर	१

अवतरण—सौधर्म तथा ईशानदेवलोकके प्रतरोमें जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य जाननेके लिये 'करण' (उपाय) प्रदर्शित करते हैं—

सोहम्मुकोसठिई, नियपयरविहत्त इच्छसंगुणिआ ।

पयरूकोसठिओ, सव्वत्थ जहन्नओ पलियं ॥ १५ ॥

गाथार्थ—सौधर्म देवलोकवासी देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको सौधर्म देवलोकके प्रतरकी संख्यासे बांटकर जिस प्रतरका आयुष्य निश्चित करना हो उस प्रतरसे पूर्वोक्त संख्याको गुना करनेसे इष्ट प्रतरकी उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। जघन्य स्थिति तो सब प्रतरोमें पत्योपम प्रमाण है ॥ १५ ॥

विशेषार्थ—अब आयुष्य-स्थितिका तेरहों प्रतरोमें बँटवारा करना होनेसे, दैमानिक निकायके प्रथम सौधर्म देवलोकमें उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति (तेरहवें प्रतरमें) दो सागरोपमकी है, उसे तेरह प्रतरोंके बीच बाँट देनी चाहिये। अतः एक सागरोपमके तेरह भाग करें, तो दो सागरोपमके छब्बीस भाग होंगे। इन छब्बीस भागोंको सौधर्मकल्पके तेरह प्रतरोंके साथ बाँटनेसे सौधर्मके पहले प्रतरमें एक सागरोपमके तेरहवें-दो भागका आयुष्य आता है, (अर्थात् दो सागरोपमके किये छब्बीस भागोंमेंसे दो भागका आयुष्य कम होनेसे शेष चौबीस भागोंका रहा।) वैसे ही दूसरे प्रतरका आयुष्य निकालना हो तब उसे उतनेसे गुननेसे तेरहवें चार भागका आयुष्य आता है। (प्रथमके अवशिष्ट २४ भागोंमेंसे दो भाग आयुष्य कम होनेसे २२ भागका रहा।) इस तरह हरएक प्रतरमें निकालना।

जिससे तीसरे प्रतरमें तेरहवें-(छह) ६ भाग आये। (पूर्वके २२ भागोंमेंसे २ कम होनेसे २० रहे।) चौथे तेरहवें-आठ भाग, (२०मेंसे २ कम होनेसे १८ भाग रहे।) पाँचवें प्रतरमें गुना करनेसे तेरहवाँ-दस भागायुष्य आये, (१८मेंसे २ कम करनेसे १६ रहे) छठे प्रतरमें तेरहवें-बारह भाग, (१६मेंसे २ कम होनेसे १४ भाग रहे।) सातवें में तेरहवें-चौदह भागका आयुष्य होता है। अपनी रीतिके अनुसार १ सागरोपमके तेरह भाग हों तो पूर्ण सागरोपम गिन लें, अतः सातवें प्रतरमें १ सागरोपम और तेरहवाँ-१ भागका आयुष्य कहा जाये, (पूर्वके १४मेंसे २ भाग कम होनेसे १२ रहे।) आठवेंमें १ सागरोपम और तेरहवाँ-तीन भागका, (१२मेंसे २ कम होनेसे १० भाग रहे।) नौवेंमें एक सागरोपम और तेरहवाँ-पाँच भागायुष्य आये, (१०मेंसे २ भाग कम हुए ८ भाग बाँटनेको रहे।) दसवेंमें १ सागरोपम और तेरहवें-सात भाग आये, (८मेंसे २ गये छ रहे।) ग्यारहवेंमें १ सागरोपम और तेरहवें-९ भागका (६मेंसे २ कम हुए ४ रहे।) बारहवेंमें १ सागरोपम और तेरहवाँ ११ भागका, (४मेंसे २ भाग गये तथा २ भाग ही बाँटनेको बाकी रहे।) तेरहवें प्रतरमें १ सागरोपम १३ भाग, तेरहवें भागमें एक सागरोपम होनेसे २ सागरोपम

उत्कृष्ट स्थिति अन्तिम प्रतरमें आई । (और अवशिष्ट बाँटनेको रखे गये २ भाग भी बँट गये ।) इस तरह सौधर्मकल्पके तेरहों प्रतरोंमें उत्कृष्ट स्थिति दिखाई ।

सौधर्म देवलोकके सर्व प्रतरोंमें जघन्य स्थिति १ पत्योपमकी समझे ।

इस तरह ईशान देवलोककी उत्कृष्ट स्थितिका प्रमाण निकालें । केवल अन्तर इतना समझे कि ईशानके पहले प्रतरमें, सौधर्मके पहले प्रतरमें जो स्थिति वर्णित की हो उससे कुछ अधिकांश समझे । ऐसे सौधर्मके जिस प्रतरमें जो स्थिति हो उससे 'अधिक' शब्द उस-उस प्रतर प्रसंगमें लगायें । इससे क्या होगा कि ईशान देवलोकके अन्तिम प्रतरमें दो सागरोपमसे अधिक आयुष्यस्थिति उत्कृष्ट आयुष्य धारण करनेवाले इन्द्र आदि देवोंकी प्राप्त होगी । [१५]

अवतरण—अब सनत्कुमारादि देवलोकके प्रतरोंमें जघन्य उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति जाननेके लिए भी 'करण' उपाय कहते हैं:—

सुरकप्पठिई विसेसो, सगपयरविहत्तइच्छसंगुणियो ।

हिड्डिल्लिठिईसहिओ, इच्छियपयरम्मि उकोसा ॥ १६ ॥

गाथार्थ—सनत्कुमार आदि कल्पोपपन्न देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिकी अपने-अपने देवलोक सम्बन्धी प्रतरकी संख्यासे भाग दें । जो संख्या आये उसे इष्टप्रतरकी संख्यासे गुणित करे, जो उत्तर आये वह और नीचेके प्रतरकी स्थिति दोनोंके मिलानेसे इष्टप्रतरमें उत्कृष्ट-स्थिति प्राप्त होगी ॥ १६ ॥

विशेषार्थ—पूर्व गाथामें सौधर्मके तेरहों प्रतरोंमें उत्कृष्ट स्थिति बताकर अब सनत्कुमार देवलोकके प्रतरोंमें उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति जाननेका कारण बताते हैं—

सौधर्म देवलोकके तेरहवें प्रतरमें उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति दो सागरोपमकी आई है । अब सनत्कुमार देवलोकके पहले प्रतरकी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति निकालनी है—सनत्कुमारमें उत्कृष्ट स्थिति ७ सागरोपम है और सौधर्म देवलोकके १३ वें प्रतरमें २ सागरोपम की है उसका विद्वेष—[कम] करना अर्थात् सात सागरोपममेंसे दो सागरोपम कम करना । अतः पांच सागरोपम आये, उसे १२ प्रतरोंमें भाग करनेके लिये १ सागरोपमके १२ भाग करनेसे ५ सागरोपमके ६० भाग हुए, उन ६० भागोंको प्रत्येक प्रतरमें समान भागमें बाँटनेसे प्रत्येक प्रतरमें बारहवें पांच भाग ($\frac{5}{12}$) आता है । अब सौधर्मके तेरहवें प्रतरमें २ सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति आई है, उसमें उक्त रीतिसे सनत्कुमारके पहले प्रतरमें बारहवें-पांच भाग जोड़ना इससे २ सागरोपम और बारहवें-पांच भाग आये, (६० भागमेंसे पांच भाग कम होनेसे ५५ भाग आयुष्य शेष रहा,) दूसरे प्रतरमें २ सागरोपम और बारहवें १० भाग आये, (५५ मेंसे ५ (पांच) भाग कम होनेसे ५० रहे ।) तीसरे

प्रतरमें २ सागरोपम और बारहवें १५ भाग आये, यहाँ १२ भागसे १ सागरोपम बनता होनेसे तीसरे प्रतरमें ३ सागरोपम और ३ भाग कहे जा सकते (५० मेंसे पांच भाग कम होनेसे ४५ भाग रहे,) चौथे प्रतरमें ३ सागरोपम और $\frac{१३}{३}$ भागका उत्कृष्ट आयुष्य जानें। (४५ मेंसे ५ जानेसे ४० रहे,) पांचवें प्रतरमें ३ सागरोपम $\frac{१३}{३}$ भाग अथवा ४ सागरोपम और $\frac{१३}{३}$ भाग प्रमाण आयुष्य जानें, (४० मेंसे ५ गये ३५ भाग रहे,) छठे प्रतरमें ४ सागरोपम $\frac{१३}{३}$ भागका उत्कृष्ट आयुष्य जानें। (३५ मेंसे ५ जानेसे ३० रहे,) सातवें प्रतरमें ४ सागरोपम और $\frac{१३}{३}$ भागका जानें। (३० मेंसे पांच गये २५ रहे) आठवें प्रतरमें ८ सागरोपम और $\frac{१३}{३}$ भागका अर्थात् पुनः पूर्वके नियम अनुसार ५ सागरोपम और $\frac{१३}{३}$ भाग प्रमाण आयुष्य जानें। (२५ मेंसे ५ गये और २० भाग बाँटनेको रहे) नौवें प्रतरमें ५ सागरोपम और $\frac{१३}{३}$ भागका उत्कृष्ट आयुष्य आता है। (२० मेंसे ५ कम होनेसे १५ भाग रहे) दसवें प्रतरमें ५ सागरोपम १४ भागका अथवा ६ सागरोपम और

॥ सौधर्म-ईशानकल्पके प्रत्येक प्रतरमें जघन्योत्कृष्ट आयुष्यका यन्त्र ॥

प्रतर	उत्कृष्ट स्थिति		जघन्य स्थिति	
	सौधर्ममें	— ईशानमें	सौधर्ममें	— ईशानमें
	सागरो०	— तेरहवाँ भाग	१ पत्योपम	वही साधिक
१.	० — २	— वही साधिक		
२.	० — ४	— "	"	"
३.	० — ६	— "	"	"
४.	० — ८	— "	"	"
५.	० — १०	— "	"	"
६.	० — १२	— "	"	"
७.	१ — १	— "	"	"
८.	१ — ३	— "	"	"
९.	१ — ५	— "	"	"
१०.	१ — ७	— "	"	"
११.	१ — ९	— "	"	"
१२.	१ — ११	— "	"	"
१३.	२ — ०	— "	"	"

१/३ भागका उत्कृष्ट आयुष्य जानें। (१५ मेंसे ५ गये १० भाग रहे,) ग्यारहवें प्रतरमें ६ सागरोपम और १/३ भागका आयुष्य जानें। (१० मेंसे ५ भाग आयुष्य कम करनेसे ५ भाग रहे,) बारहवें प्रतरमें ६ सागरोपम और १/३ भाग अथवा संपूर्ण ७ सागरोपमकी स्थिति सनत्कुमारके अन्तिम प्रतरमें आई।

इसी तरह अगले देवलोकके लिए ऊपरके अनुसार विद्लेष करके प्रतरके साथ भाग देने पर इच्छित प्रतरमें उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति प्राप्त होती है। [१६]

सनत्कुमार तथा माहेन्द्र कल्पके प्रत्येक प्रतरमें—

प्रतर	उत्कृष्ट स्थिति		जघन्य स्थिति	
	सनत्कुमारमें	माहेन्द्रमें	सनत्कुमारमें	माहेन्द्रमें
	सागरो०	बारहवाँ भाग	२ सागरो०	वही साधिक
१.	२	५	२	वही साधिक
२.	२	१०	"	"
३.	३	३	"	"
४.	३	८	"	"
५.	४	१	"	"
६.	४	६	"	"
७.	४	११	"	"
८.	५	४	"	"
९.	५	९	"	"
१०.	६	२	"	"
११.	६	७	"	"
१२.	७	०	"	"

॥ ब्रह्म देवलोकमें ॥

॥ लांतक देवलोकमें ॥

प्र०	उत्कृष्ट स्थिति सा० छठवाँ भाग	जघन्य स्थिति	प्र०	उत्कृष्ट स्थिति सा० पाँचवाँ भाग	जघन्य स्थिति
१.	७ — ३	७ सागरो०	१.	१० — ४	१० सागरो०
२.	८ — ०	" "	२.	११ — ३	" "
३.	८ — ३	" "	३.	१२ — २	" "
४.	९ — ०	" "	४.	१३ — १	" "
५.	९ — ३	" "	५.	१४ — ०	" "
६.	१० — ०	" "			

॥ महाशुक्र देवलोकमें ॥

॥ सहस्रार देवलोकमें ॥

प्र०	उत्कृष्ट स्थिति सा.चारहवाँभाग	जघन्य स्थिति	प्र.	उत्कृष्ट स्थिति सा.चतुर्थांशभाग	जघन्य स्थिति
१.	१४ — ३	१४ सागरो०	१.	१७ — १	१७ सागरो०
२.	१५ — २	" "	२.	१७ — २	" "
३.	१६ — १	" "	३.	१७ — ३	" "
४.	१७ — ०	" "	४.	१८ — ०	" "

॥ आनत देवलोकमें ॥

प्राणत देवलोकमें

प्र.	उत्कृष्ट स्थिति सा.चतुर्थांशभाग	जघन्य स्थिति	प्र.	उत्कृष्ट स्थिति सा.चतुर्थांशभाग	जघन्य स्थिति
१.	१८ — १	१८ सागरो०	१.	१९ — १	१९ सागरो०
२.	१८ — २	" "	२.	१९ — २	" "
३.	१८ — ३	" "	३.	१९ — ३	" "
४.	१९ — ०	" "	४.	२० — ०	" "

॥ आरण देवलोकमें ॥

॥ अच्युत देवलोकमें ॥

प्र.	उत्कृष्ट स्थिति सा.चतुर्थांशभाग	जघन्य स्थिति	प्र.	उत्कृष्ट स्थिति सा.चतुर्थांशभाग	जघन्य स्थिति
१.	२० — १	२० सागरो०	१.	२१ — १	२१ सागरो०
२.	२० — २	" "	२.	२१ — २	" "
३.	२० — ३	" "	३.	२१ — ३	" "
४.	२१ — ०	" "	४.	२२ — ०	" "

॥ नव प्रवैयकमें ॥

प्र.	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति		
१.	२३ सागरो०	२२ सागरो०		॥ अनुत्तर देवलोकमें ॥
२.	२४ " "	२३ " "		उत्कृष्ट स्थिति
३.	२५ " "	२४ " "		जघन्य स्थिति
४.	२६ " "	२५ " "	ज.	३२ सागरो०
५.	२७ " "	२६ " "	वि.	३२ " "
६.	२८ " "	२७ " "	ज.	३२ " "
७.	२९ " "	२८ " "	अ.	३२ " "
८.	३० " "	२९ " "	स.	३३ " "
९.	३१ " "	३० " "		

[यह गाथा चन्द्रिया संहणीमें नहीं है अतः 'प्रक्षेपक गाथा' समझें]

अवतरण—बारह देवलोकके इन्द्रोंके रहनेके स्थल बताये हैं—

कप्पस्स अन्तपयरे, नियकप्पवडिसयाविमाणाओ ।

इन्द्र निवासा तेसिं, चउडिसिं लोमपालाणं ॥१७॥

[प्रश्ने. गा. सं. १]

गाथार्थ—प्रत्येक देवलोकके अंतिम प्रतरमें अपने-अपने नामवाले कल्पावतंसक विमान होते हैं, उनमें इन्द्रके निवासस्थान होते हैं, और उनके चारों ओर लोकपाल देवोंके निवासस्थान होते हैं ॥१७॥

विशेषार्थ—देवलोकमें प्रतर सम्बन्धी जो व्यवस्था है वह वैमानिक निकायमें ही है, १०६परंतु अन्य निकायोंमें नहीं है ।

वैमानिक निकायके प्रत्येक देवलोकमें कितने-कितने प्रतर होते हैं यह पहले बताया गया है ।

इस कल्पोपपन्न देवलोकके अंतिम प्रतरके अर्थात् जिस देवलोकके जिस प्रतरमें इन्द्रनिवास है, उस उस विभागके प्रतरके दक्षिण-विभागके मध्यभागमें अपने अपने कल्पके

१०६. अन्य निकायोंमें प्रतर न हों यह आसानीसे समझा जा सकता है, क्योंकि भवनपति और व्यन्तरोको रहनेके लिए तो भवन और नगर हैं । और वे सर्व विप्रकीर्ण (खिलरे हुए) अर्थात् अलग अलग हैं । और ज्योतिषीके विमान भी पृथक् पृथक् हैं ।

नामसे अंकित ऐसे अवतंसक (विमानोंमें श्रेष्ठ) नामके विमान रहे हैं । वे पंक्तिगत नहीं अपितु पुष्पावकीर्णकी तरह है और वे मध्यके इन्द्रक विमानसे असंख्य योजन दूर और पंक्तिगत विमानोंके प्रारम्भसे पूर्वमें स्थित हैं । जैसे कि—सौधर्म देवलोकके तेरह प्रतर, उस तेरहवें प्रतरके दक्षिण विभागमें सौधर्मावतंसक नामका विमान है और उस विमानमें रहनेवाला इन्द्र-सौधर्म है । वैसे ईशान देवलोकके अन्तिम प्रतरके उत्तर विभागमें ईशानावतंसक नामका विमान है, उसमें रहनेवाला इन्द्र ईशानेन्द्र कहलाता है ।

इसके अनुसार सर्वत्र आगे आगे समझना, तथापि नौवें तथा दसवें देवलोक—(आनत, प्राणत)का इन्द्र एक है । यह इन्द्र प्राणत देवलोकके चौथे प्रतरमें प्राणतावतंसक नामका विमान है उसमें रहता है । वैसे ही आरण और अच्युतके लिये जानें ।

इस तरह वे सर्व अवतंसक विमानोंमें इन्द्रोंके निवास हैं । और उन अवतंसक विमानोंकी चारों दिशाओंमें सोम आदि लोकपालोंके विमान स्थित हैं, ऐसा सर्वत्र समझ लें ।

*

[१७] (प्र० गा० सं० १)

[प्रक्षिप्त गाथा संख्या २]

अवतरण—इन्द्र और लोकपालके निवासोंका स्थान बताकर अब सौधर्मेन्द्रके चार लोकपालोंका उत्कृष्टायुष्य कहते हैं—

सोम—जमाणं सतिभाग, पलिय वरुणस्स दुन्निदेस्सणा ।

वेसमणे दो पलिया, एस ठिई लोग पालाणं ॥ १८ ॥

[प्रक्षे० गा० सं० २]

गाथार्थ—सोम तथा यम नामके लोकपालकी आयुष्य-स्थिति तीसरे भाग सहित एक पल्योपम (१ $\frac{१}{३}$) प्रमाण है । वरुण लोकपालकी स्थिति कुछ न्यून दो पल्योपम और वैश्रमण लोकपालकी दो पल्योपमकी है । इस प्रकार लोकपाल देवोंकी स्थिति जानें ॥ १८ ॥

विशेषार्थ—स्वस्व देवलोकके इन्द्र अपने अपने देवलोकके अन्तिम प्रतरमें देवलोकके नामसे अंकित अवतंसक विमानोंमें रहते हैं और उन विमानोंकी चारों दिशाओंमें इन्द्रोंके रक्षणार्थ लोकपाल होते हैं ।

उनमें पहले सौधर्म-देवलोकके अन्तिम प्रतरमें रहे, सौधर्मावतंसक नामके विमानकी पूर्व दिशाका लोकपाल सोम है और दक्षिण दिशाका लोकपाल यम है, उन दोनोंका उत्कृष्ट-आयुष्य एक पल्योपम और एक पल्योपमके तीसरे भाग सहित अर्थात् १ $\frac{१}{३}$ पल्योपमका होता है । पश्चिम दिशाका लोकपाल वरुण है, उसका उत्कृष्ट-आयुष्य देशे-उना दो पल्योपमका

है, और उत्तरदिशाके वैश्रमण नामके लोकपालका उत्कृष्ट-आयुष्य दो पल्लोपमका है। इस तरह सौधर्म देवलोकके लोकपालोंकी स्थितिका वर्णन किया।^{१०७}

अन्य निकायोंमें भी लोकपाल होते हैं, उनकी स्थिति, उनके नाम, उन लोकपालोंकी पर्षदा, उनका ऐश्वर्य, उनका नित्य-कर्त्तव्य आदि स्वरूप अन्य ग्रन्थोंसे जानने योग्य है। [१८] (प्र० गा० सं० २)

इस तरह देवोंका प्रथम 'स्थितिद्वार' समाप्त हुआ।

इति देवानां प्रथमं स्थितिद्वारं समाप्तम् ॥

द्वितीय भवनद्वार

अवतरण—अब देवगतिके विषयमें दूसरा 'भवनद्वार' वर्णित होता है, उसमें प्रथम भवनपति-निकायमें कितने प्रकारके देव होते हैं? उसके वर्णनके साथ उसमें इन्द्र कितने होते हैं? उसका भी निरूपण करते हैं—

१०८ १ २ ३ ४ ५ ६ ७
असुरा नाग-सुवन्ना, विज्जू अग्नी य दीव उदही अ ।

८ ९ १०
दिसि-पवण-थणिय दसविह, भवणवई तेसु दु दु इंदा ॥ १९ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ १९ ॥

विशेषार्थ—ग्रन्थकार महर्षिने प्रथम स्थिति-द्वारका उद्देश किया था उसके अनुसार उन देवोंकी स्थितिके संबन्धमें निर्देश हो चुका। अब दूसरा जो 'भवनद्वार' आरम्भ किया जाता है उसमें भवनपति-निकायके देवोंके भवनके बारेमें कहनेके लिये, प्रथम उस भवनके दसों निकायके देवोंके नाम उनके सामान्य वर्णनके साथ बताते हैं—

१०७. जिस जिस देवलोकमें लोकपाल हैं वहाँ वहाँ आयुष्यस्थिति तथा उनके नाम भिन्न भिन्न होते हैं। हरएक लोकपालके तीन प्रकारका पर्षदा होती है, उसकी जानकारीके लिए, देविये श्री जीवाभिगाम तथा श्री लोकप्रकाशादि ।

१०८. तुलना कीजिये—

'असुरा नामास्तडिताः, सुपर्णका बह्वयोऽनिलाः स्तनिताः ।

उदधि-द्वीप-दिशोदश, भवनाधीशाः कुमारान्ताः ॥ १ ॥ [हैमकोष]

१. ' असुरकुमार ' ये देव सर्वांगोपांगसे परम लवण्यवाले, सुन्दर, देदीप्यमान मुकुटको धारण करनेवाले, बड़ी कायावाले और श्याम-कान्तिवाले होते हैं ।
२. ' नागकुमार ' मस्तक तथा मुख पर अधिक शोभा युक्त, मृदु और ललित गतिवाले श्वेतवर्णी होते हैं ।
३. ' सुवर्णकुमार ' गरदन तथा उदरसे शोभायमान, कनक गौरवर्णमय होते हैं ।
४. ' विद्युत्कुमार ' स्निग्ध-अवयवोंसे सुशोभित, जित-स्वभावी, ज्योति-स्वभावी, तपे हुए सुवर्णवर्णमय होते हैं ।
५. ' अग्निकुमार ' सर्वांगोपांगसे मनोमान प्रमाणवाले, विविध प्रकारके आभूषणोंको धारण करनेवाले, तप्त सुवर्णके समान वर्णयुक्त होते हैं ।
६. ' द्वीपकुमार ' स्कन्ध और वक्षःस्थल, बाहु और अग्र हस्तमें विशेष करके शोभा सहित, उत्तम हेमप्रभाके समान वर्णवाले होते हैं ।
७. ' उदधिकुमार ' उरु और कटिभाग-में अधिक शोभावाले, श्वेतवर्णी होते हैं ।
८. ' दिक्कुमार ' जंघा और पैरोंमें अत्यन्त शोभावाले, जातिशाली स्वर्णसमान गौर-वर्णवाले होते हैं ।
९. ' वायुकुमार ' स्थिर-पुष्ट-सुन्दर और गोल गात्रोंवाले, गम्भीर और नत उदरयुक्त, निर्मल ऐसे प्रियंगु वृक्षके जैसी श्यामकान्तिवाले होते हैं ।
१०. ' स्तनितकुमार ' स्निग्धावयवी, अति गम्भीर नादवाले, जातिवान् सुवर्णके समान कान्तिवाले गौर होते हैं ।

ये भवनवासी देव सदैव विविध प्रकारके आभूषण तथा शास्त्रोंसे अत्यन्त शोभायमान होते हैं ।

प्रश्न—भवनपतिके दसों प्रकारके देवोंको ' कुमार ' शब्दसे क्यों संबोधित किये गये ?

उत्तर—लोकमें मौज-शौकमें, अढ़खेलीमें, छेड़छाड़में और क्रीडा करनेमें जो आनन्द माने उसे कुमार या बालक कहते हैं ।

ऐसे बालक रास्ते चलते जानवरोंकी बिना दोषके पत्थर मारें, लकड़ी मारें, कुत्तेके कान पकड़े, बकरीके सींग और ढोरके पूंछोंके साथ चेष्टाएँ भी करें । ऐसे कुतूहलसे जैसे वे अनेक प्रकारसे रमत-गमत खेल-कूद करके खुश होते हैं । उसी तरह ये देव भी बाल-किशोरवयके योग्य चेष्टा अर्थात् खेलना, कूदना, अच्छे अच्छे वस्त्रादि पहनना, साथ ही

१०० नारकीके जीवोंको मारना-पीटना, छेदन-भेदन करना आदिमें आनन्द मानते हैं ।

क्योंकि ये जन्मान्तरके संस्कार देवगतिमें साथ ही लेकर आये हैं । अरे ! उसके प्रभावसे ही तो यह स्थान पाया है । [१९]

अचनरण—पूर्वोक्त दसों निकायके दक्षिण-उत्तर विभागके इन्द्रोंके नाम कहते हैं—

चमरे बली अ धरणे, भूयाणंदे य वेणुदेवे य ।

तत्तो य वेणुदाली, हरिकंते हरिस्सहे चव ॥ २० ॥

अग्गिसिह अग्गिमाणव, पुन्न विसिट्ठे तहेव जलकंते ।

जलपह तह अमियगई, मियवाहण दाहिणुत्तरओ ॥ २१ ॥

वेलंबे य पभंजण, घोस महाघोस एसिमन्नयरो ।

११० जंबुदीवं छत्तं, मेहं दंडं प्हू काउं ॥ २२ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ २०-२१-२२ ॥

विशेषार्थ—भवनपतिके प्रत्येक निकाय दक्षिण तथा उत्तरविभागमें बाँटे हुए हैं, अतः दस दक्षिणविभाग तथा दस उत्तरविभाग कुल मिलाकर (२०) बीस विभाग हैं । प्रत्येक विभागमें एक एक इन्द्र स्थित है अतः कुल बीस इन्द्र हुए ।

उन इन्द्रोंके नाम हैं—प्रथम असुरकुमार निकायके दक्षिणदिशाके विभागमें चमरेन्द्र और उत्तरदिशामें बलीन्द्र, दूसरे नागकुमार निकायकी दक्षिणदिशाका धरणेन्द्र और उत्तरदिशाका भूतानन्देन्द्र और तीसरे सुवर्णकुमार निकायकी दक्षिणदिशाका वेणुदेवेन्द्र और उत्तरदिशाका

१०९. किसीको शंका हो कि यह तो देवता जैसी अत्यन्त समझदारीकी अवस्था है फिर भी ऐसी बाल-चाँटा क्या करते होंगे तो राजाका कुत्ता हल्का भोजन न करे, किन्तु कुत्तेकी जाति है इसलिए जूता तो काटेगा ही इसी तरह देवत्व मिल जाने पर भी नरकके निराधार, निर्बल, पराधीन और दुःखी जीवों पर सत्ता और बलका क्रूर उपयोग करके क्रीडा-कुतूहल द्वारा मनमें आनन्द मनाते हैं ।

११०. तुलना करें— जम्बूदीवं काऊण छत्तयं मंदरं च से दंडं ।

पभू अन्नयरो इंदो, एसो तेलिं बलविसेसो ॥

पभू अन्नयरो इंदो जम्बुदीवं तु वामहत्थेण ।

छत्तं जहा धरिज्जा, अन्नयओ मंदरं धित्तुं ॥ १ ॥

भवनपतिके प्रत्येक इन्द्रकी शक्तियाँ कैसी हैं, उनकी सामान्य जानकारी पानेके लिये उपरकी गाथा संग्रहणी-सूत्रकी टीका तथा देवेन्द्रस्तव देखिये ।

वेणुदालीन्द्र, चौथे विष्णुकुमार निकायकी दक्षिणदिशाका हरिकान्तेन्द्र और उत्तरदिशाका हरिस्सहेन्द्र, पांचवें अग्निकुमार निकायके दक्षिणदिशाका अग्निशिखेन्द्र और उत्तरदिशाका अग्निमानवेन्द्र, छठे द्वीपकुमार निकायके दक्षिण विभागका पूणेन्द्र और उत्तर विभागका विशिष्टेन्द्र और सातवें उदधिकुमार निकायके दक्षिण विभागका जलकान्तेन्द्र और उत्तरविभागका जलप्रभेन्द्र, आठवें दिशिकुमार निकायके दक्षिणविभागका अमितगतीन्द्र और उत्तरविभागमें अमितवाहनेन्द्र, नौवें पवनकुमार निकायके दक्षिणविभागका वेल्म्बेन्द्र और उत्तरविभागका प्रभञ्जनेन्द्र, दसवें स्तनितकुमार निकायके दक्षिण विभागमें घोषेन्द्र और उत्तर विभागमें महाघोषेन्द्र इस प्रकार कुल बीस इन्द्र कहे गये हैं ।

श्रीष्मऋतुमें अथवा चातुर्मासमें जिस तरह कोई मनुष्य हाथमें दण्ड पकड़कर अपने मस्तकको छत्रसे ढँकता है उसी तरह इन इन्द्रोंमेंसे किसी भी इन्द्रकी एक साधारण शक्तिमें एक लाख योजन लम्बा और चौड़ा गोलकारमें स्थित—ऐसे जम्बूद्वीपको छत्राकार करना हो और एक लाख योजन ऊँचा और दस हजार योजनके घेरेवाला महान् मेरुपर्वतका दण्ड करके छातेकी तरह मस्तक पर धारण करना हो तो, इतनी शक्ति-सामर्थ्य उनमें हैं । ऐसा महान् प्रयत्न करने पर भी उसे तनिक भी थकान नहीं लगती । यद्यपि ऐसा कार्य करते नहीं और करेंगे भी नहीं । लेकिन ऐसी शक्तियाँ उनमें रही हैं । यह तो उनकी साधारण-शक्तिमें भी कितनी सामर्थ्य है, यह बताया गया ।

अरे ! एक महर्द्धिक देवकी शक्तिका वर्णन करते हुए सिद्धान्तकार बताते हैं कि—एक महर्द्धिकदेव, एक लाख योजनका जम्बूद्वीप जिसकी परिधि (घेरा) ^{१११} ३१६२२७ योजन, ३ कोस, १२८ धनुष, १३½ अंगुल, ५ यव, १ यूका जितना है; ऐसे विशाल जम्बूद्वीपकी भी एक मनुष्य तीन चुटकी बजाये उतने समयमें तो इक्कीस बार प्रदक्षिणा—[परिक्रमा] कर ले । इतना ही नहीं, लेकिन ये इन्द्रादिक देव अगर समग्र जम्बूद्वीपको वैक्रियशक्तिके द्वारा बालकों और बालिकाओंसे भर देना चाहें तो वैसी भी शक्ति सामर्थ्य रखते हैं । परन्तु वे यह शक्ति ^{११२} प्रकट नहीं करते ।

१११. “ परिही तिलम्ब्व भोल्ससहस्स दो थ सय सत्तवीसहिया ।

कोसत्तिगट्टावीसं धणुसय तेरंगुलद्धहियं ॥ १ ॥ ” [लघु संग्रहणों]

११२. १९वीं सदीमें वैज्ञानिकोंने तेजकी गती मापी, तो एक सेकण्डमें १,८६,००० मील थी । हमारी पृथ्वीका व्यास २५,००० मीलका है, अतः तेजकी एक ही किरण अपनी दृश्य शक्तिसे पृथ्वीके आसपास घूमे तो एक सेकण्डमें सात बार प्रदक्षिणा करे इससे भी अधिक गतिवाली घटनाएँ सिद्ध हुई हैं और वे भी जड़ पदार्थमें, तब फिर चैतन्यशक्तिकी गतिके लिए तो पूछना ही क्या ?

इसके अतिरिक्त श्री भगवती सूत्रमें [श-१४, उ. ८]—‘अन्धिणं भंते’ इत्यादि सूत्रके विवरणमें भी बताया है कि—एक देव एक पुरुषकी बरौनी पर दिव्य और अति उत्तम बत्तीसबद्ध ऐसा नाटक रच सकते हैं। कितनी दिव्य शक्ति? यह सोचें! फिर भी उस पुरुषको तनिक भी बाधा नहीं होती, ऐसी-ऐसी शक्तिवाले वे देव हैं।

इस कथनकी पुष्टि करता हुआ प्रसंग दशार्णभद्रराजा आदिके दृष्टान्तोंमेंसे भी जान सकते हैं।

प्रत्येक इन्द्रकी क्या-क्या और कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं? यह सिद्धान्तोंसे जान लें। ग्रन्थविस्तार हो जानेके कारण यहाँ नहीं दिया। [२२]

भवनपति निकायके बीस इन्द्रोंके नामका यंत्र।

निकायके नाम	दक्षिणेन्द्र	उत्तरेन्द्र
१. असुरकुमार निकाय	१. चमरेन्द्र	२. बलीन्द्र
२. नाग " "	३. धरणेन्द्र	४. भूतानंदेन्द्र
३. सुवर्ण " "	५. वेणुदेवेन्द्र	६. वेणुदालीन्द्र
४. विद्युत् " "	७. हरिकान्तेन्द्र	८. हरिस्सहेन्द्र
५. अग्नि " "	९. अग्निशिखेन्द्र	१०. अग्निमानवेन्द्र
६. द्वीप " "	११. पूर्णेन्द्र	१२. विशिष्टेन्द्र
७. उदधि " "	१३. जलकान्तेन्द्र	१४. जलप्रभेन्द्र
८. दिशि " "	१५. अमितगतीन्द्र	१६. अमितवाहनेन्द्र
९. पवन " "	१७. बेलंबेन्द्र	१८. प्रभंजनेन्द्र
१०. स्तनित " "	१९. घोषेन्द्र	२०. महाघोषेन्द्र

अवतरण—असुरकुमारादि भवनपतिदेवोंके दक्षिणदिशामें प्रवर्तमान भवनोंकी संख्या कहते हैं।

चउतीसा-चउचत्ता, अद्वुतीसा य चत्त-पंचणहं।

पन्ना-चत्ता कमसो, लक्खा भवणाण दाहिणओ ॥ २३ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ २३ ॥

विशेषार्थ—पूर्व कहे गये दसों निकायोंमें दक्षिण तथा उत्तर विभागमें-देवोंके रहनेके भवन हैं। जिस तरह एक राजा किसी एक नगरका स्वामी होता है, उसी तरह हर एक

निकायके भवनोंके स्वामी भी होते हैं । उनमें दक्षिण भागके असुरकुमारके तांबेके भवनोंकी संख्या चौतीस लाख हैं । नागकुमार निकायमें चुवालीस लाख, तीसरे सुवर्णकुमार निकायमें अड़तीस लाख, चौथे विद्युत्कुमार निकाय, पांचवें अग्निकुमार निकाय, छद्दटे द्वीपकुमार निकाय, सातवें उदधिकुमार निकाय और आठवें दिशिकुमार निकाय इन पांचों निकायोंमें प्रत्येकके चालीस-चालीस लाख भवन होते हैं । नौवें पवनकुमार निकायमें पचास लाख भवन और दसवें स्तनितकुमार निकायमें चालीस लाख भवन होते हैं ।

इस तरह क्रमशः दक्षिण दिशाके निकायोंके लाखों भवनोंकी संख्या कही गई । [२३]

अवतरण—अब उत्तरदिशाके भवनोंकी संख्याका वर्णन करते हैं—

चउ-चउलख-विहूणा, तावइया चव उत्तर दिसाए ।

सव्वेवि सत्तकोडी, बावत्तरी हुंति लक्खा य ॥ २४ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ २४ ॥

विशेषार्थ—पहले दक्षिण दिशाके निकायोंके भवनोंकी जो संख्या बतलाई है उन प्रत्येकमेंसे चार-चार लाख कम करनेसे जिस-जिस निकायके जितने-जितने भवन अवशिष्ट रहें वह संख्या उसके उत्तरदिशाके निकायके भवनोंकी निश्चयपूर्वक जानें ।

वे इस तरह;—

उत्तर विभागके असुरकुमार निकायमें तीस लाख, नागकुमारमें चालीस लाख, सुवर्णकुमारमें चौतीस लाख, विद्युत्कुमार, अग्निकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार और दिशिकुमार निकाय इन पांचों निकायोंमें प्रत्येकके छत्तीस-छत्तीस लाख भवन होते हैं । नौवें पवनकुमार निकायमें छियालीस लाख और अन्तिम स्तनितकुमार निकायमें छत्तीस लाख उत्तर विभागमें समाविष्ट हैं ।

इस तरह पूर्व गाथामें कहे गये दक्षिण निकायके और चालू गाथामें कथित उत्तर निकायके, इन दोनों श्रेणियोंने सब मिलाकर सात करोड़ और अधिक बहत्तर लाख भवन होते हैं ।

‘श्री सकलतीर्थ’में हम बोलते हैं कि, “सात करोड़ और बहत्तर लाख भवनपतिमें देवल (देवालय) भाख ।” [२४]

भवनपतिके प्रत्येक निकायकी भवनसंख्याका यंत्र ।

क्रम	निकायके नाम	दक्षिणश्रेणी संख्या	उत्तरश्रेणी संख्या
१	असुरकुमार निकाय	३४ लाख	३० लाख
२.	नाग " "	४४ लाख	४० लाख
३.	सुवर्ण " "	३८ लाख	३४ लाख
४.	विद्युत् " "	४० लाख	३६ लाख
५.	अग्नि " "	४० लाख	३६ लाख
६.	द्वीप " "	४० लाख	३६ लाख
७.	उदधि " "	४० लाख	३६ लाख
८.	दिशि " "	४० लाख	३६ लाख
९.	वायु " "	५० लाख	४६ लाख
१०.	स्तनित " "	४० लाख	३६ लाख
		४०६ लाख	३६६ लाख

अवतरण—दक्षिण-उत्तरदिशाके दसों निकायोंके भवनोंकी कुल संख्या कहते हैं;—

चत्तारि य कोडीओ, लक्खा छचेव दाहिणे भवणा ।

तिण्णेव य कोडीओ, लक्खा छावट्टि उत्तरओ ॥ २५ ॥

[प्र. गा. सं. ३]

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ २५ ॥

विशेषार्थ—पूर्व गाथामें दक्षिण-उत्तर भवनोंकी कुल संख्या बतलाई परन्तु दक्षिण विभागकी कुल संख्या कितनी? और उत्तर विभागकी कितनी? यह अलग-अलग नहीं बताया, इसके लिए कहते हैं कि—दक्षिण विभागके दसों निकायोंके मिलकर कुल चार करोड़ और छः लाख भवन होते हैं ।

और उत्तर-विभागके दसों निकायोंके भवनोंकी कुल जोड़ करें तो तीन करोड़ और छियासठ लाखका होता है ।

चार करोड़ और छः लाख तथा तीन करोड़ और छियासठ लाख इन दोनोंका जोड़ करनेसे सात करोड़ और बहत्तर लाखकी भवन संख्या बराबर हो जाती है ।

[४,०६,००००० + ३,६६,००००० = ७,७२,०००००]

शंका—भवनपति निकायमें हर समय प्रथम दक्षिण-विभाग और फिर उत्तर-विभाग ऐसा क्रम क्यों रक्खा ?

उत्तर—उत्तरदिशामें रहे देवोंकी आयुष्यादि स्थितियोंकी विशेषता है इसलिए अथवा तो ग्रन्थकारकी विवक्षा यही प्रमाण है ॥ २५ ॥ [प्र० गा० सं० ३]

अवतरण—ये पूर्वोक्त भवन कहाँ रहे हैं ? उस स्थानका निरूपण करते हैं;—

रयणाए हिट्टुवरिं, जोयण सहसं विमुत्तु ते भवणा ।

जंबुदीवसमा तह, संखमसंखिज्ज वित्थारा ॥ २६ ॥

गाथार्थ—रत्नप्रभा नारकीके पिंडमेंसे, ऊपर और नीचेके हजार-हजार योजन छोड़कर बाकी बचे हुए बीचके अंतरमें, भवनपतिके भवन हैं, वे भवन जघन्यसे जम्बूद्वीप जितने, मध्यम प्रमाणसे संख्ययोजन विस्तारवाले और उत्कृष्ट प्रमाणसे असंख्ययोजन विस्तारवाले होते हैं ॥ २६ ॥

विशेषार्थ—अधोलोकमें रत्नप्रभादि सात पृथ्वियाँ हैं । उनमें भवनपति, व्यन्तर, परमाधामी देव तथा नरकावासाओंमें उत्पन्न होते नारक आदि वस्तुओंका समावेश होता है ।

उनमें प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी है और रत्नप्रभा पृथ्वीके पिंडमें ही भवनपति और व्यन्तरादि देवोंके निवासस्थान हैं । इस रत्नप्रभापृथ्वीका पिंड मोटाईमें (स्थूलता) एक लाख और अस्सीहजार योजन होता है ।

इस प्रमाणमेंसे ऊपर और नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर अवशिष्ट रहे ^{११३} एक लाख और अठत्तर हजार [१,७८,०००] योजनमें उन भवनपतिदेवोंके भवन आये हैं ।

अर्थात् रत्नप्रभापृथ्वीके एक लाख और अस्सीहजार योजनमें तेरह प्रतर हैं । ये प्रतर अर्थात् पाथडे तीन तीन हजार योजन ऊँचे, (मध्यमें पोले) हैं । इन पाथडोंके पोले भागकी दीवारोंमें नरकावास हैं । जिनमें नारक जीव उत्पन्न होते हैं । उनमेंसे महाकष्टसे बाहर निकलकर पोले भागमें पड़ते हैं । वहाँ परमाधामी देव आदिके द्वारा कष्ट भोगते हैं । उन तेरह पाथडोंके बारह अन्तर और उन बारह आन्तरोंमेंसे ऊपर नीचेका एक एक आंतरा छोड़कर बाकीके १० आंतरोंमें भवनपति देव होते हैं, उनमें एक पाटडेसे दूसरे पाटडे तकके विभागमें उन भवनपतिदेवोंके भवन स्थित हैं । उनमें सबसे छोटे भवन एक लाख योजन प्रमाणवाले

११३. कुछ आचार्य रत्नप्रभापृथ्वीके पिंडप्रमाणमें, रुचकसे नीचे नब्बेहजार योजन जाने पर भवनपति देवोंके निवास-स्थान हैं ऐसा कहते हैं ।

(अर्थात् जम्बूद्वीप जितने बड़े) हैं, मध्यम भवन संख्याता कोटि योजन प्रमाणवाले और सबसे उत्कृष्ट प्रमाणवाले भवन असंख्याता कोटानुकोटि योजनके होते हैं । [२६]

अवतरण—असुरकुमार—नागकुमारादि देवोंको पहचाननेके लिए, उनके मुकुट आदि आभूषणोंमें आये हुए चिह्नोंका निरूपण करते हैं—

चूडामणि—फणि—गरुडे, वज्जे तह कलस—सीह—अस्से य ।

गय—मयर—वद्धमाणे, असुरार्इणं मुणसु चिंधे ॥२७॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ २७ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार बहुत जनसंख्यावाले एक बड़े शहरमें बसनेवाले मनुष्योंको अपने-अपने देशके शिरोवेष्टन अर्थात् पगड़ीसे हम जल्दी पहचान सकते हैं कि—यह गुजराती, यह सूरती, यह मारवाड़ी, यह काठियावाड़ी है; उसी प्रकार राजकीय क्षेत्रमें देखें तो अमुक विभागके पुलिसोंकी टोपी पर अमुक प्रकारके बिल्लोंके चिह्न, अमुक विभागवालोंके लिए अमुक निशानियाँ होती हैं उसके अनुसार देवलोकमें भी देव असंख्याता हैं; उनमें किस निकायका कौन है? यह आसानीसे पहचाननेके लिए प्रत्येक निकायके देवोंके मुकुटादिमें चिह्न होते हैं ।

प्रथम असुरकुमारके मुकुटमें चूडामणि अर्थात् मुकुटमें रत्नमणिका चिह्न होता है । दूसरे नागकुमारके आभूषणमें फणि-धर-सर्पका चिह्न होता है । तीसरे सुवर्णकुमारके आभूषणमें गरुडका चिह्न होता है; चौथे विद्युत्कुमारके मुकुटमें वस्त्र (शक्रायुध)का चिह्न होता है, उसी तरह पांचवें अग्निकुमारके आभूषणमें पूर्ण कलशका चिह्न होता है, छठे द्वीपकुमारके आभूषणमें सिंहका चिह्न होता है, सातवें उदधिकुमारके मुकुटमें अश्वका चिह्न होता है, आठवें दिशिकुमारके मुकुटमें हाथीका चिह्न होता है, नवें पवनकुमारके आभूषणमें मगरमच्छका चिह्न होता है और दसवें स्तनितकुमार निकायके देवोंके मुकुटमें ११ शराव-सम्पुट अर्थात् ऊपर-नीचे सम्पुट अर्थात् दो जोड़े हुए दीप दानपात्रके आकारका चिह्न होता है । इस तरह दसों निकाय अलग-अलग रूपमें पहचाने जाँए इसलिए मुकुटादिमें चिह्न बताये हैं ।

कुछ ग्रन्थकार मुकुटमें नहीं लेकिन दसों निकायोंके देवोंके आभूषणोंमें चिह्न बताते हैं । [२७]

अवतरण—अब भवनपति देवोंके शरीरका वर्ण कहते हैं;—

११४. शरावका अर्थ मिट्टीका दीप दानपात्र तथा रामपात्र होता है, उसका सम्पुट अर्थात् दोनोंको जोड़ना, उससे जो आकार बनता है, उसका दूसरा नाम 'वर्धमान' है ।

असुरा काला नागु-दहि पंडुरा तह सुवन्न-दिसि-थणिया ।

कणगाभ विज्जु-सिहि-दीव, अरुण वाउ. पियंगुनिभा ॥२८॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥२८॥

विशेषार्थ—कई बार देहके रंगके आधार पर भी असुक मनुष्य किस जातिका—किस देशका है यह हम कह सकते हैं। जैसे अति गौरवर्णसे बहुतायत युरोपियन-गोरे लोग, गेहूँ जैसे वर्णसे भारतीय जन, पीले वर्णसे चाइनीज, जापानीस, अति काले वर्णसे निग्रो (ऑफ्रिकन) लोग इत्यादि पहचाने जाते हैं, उसी तरह देवलोकमें भी देह-वर्णसे निकाय बतानेसे जाति पहचानी जाती है। जो इस प्रकार है—

असुरकुमार निकायके देवोंके शरीर श्याम वर्णवाले होते हैं, नागकुमार—उदधिकुमार इन दोनोंके शरीर अति श्वेत वर्णके हैं।

तथा तीसरे सुवर्णकुमार, आठवें दिशिकुमार, दसवें स्तनितकुमार इन तीनोंके शरीर सुवर्णकी कान्तिके समान गौर-तेजस्वी होते हैं, चौथे विशुन्कुमारों, पाँचवें अग्निकुमारों और छठे द्वीपकुमारोंके शरीर उदित होते बालसूर्य जैसे, अथवा उबलते सुवर्णकी कान्ति जैसा कुछ रक्त वर्णका होता है।

और नौवें वायुकुमारके शरीरकी कान्ति ^{११५}प्रियंगु वृक्षके वर्ण समान श्याम है अथवा ^{११६}मयूरकी विद्यमान रंग जैसा भी कह सकते हैं, क्योंकि वह भी श्याम कहलता है।

यह वर्ण स्वाभाविक भवधारणीय शरीरके लिए समझे। उत्तरवैक्रिय शरीरकी रचनामें शरीरका चाहे जैसा वर्ण कर सकनेमें वे समर्थ होते हैं। [२८]

अवतरण—अब असुर-कुमारादि भवनपति देवोंके वस्त्रोंका वर्ण कहते हैं—

असुराण वत्थ रत्ता, नागुदही-विज्जु-दीव-सिहिनीला ।

दिसि-थणिय-सुवन्नाणं, धवला वाऊण संझरुई ॥२९॥

११५. 'प्रियङ्गु' से श्याम, हरा और भूरा इन तीनों रंगोंके सम्मिश्रणका आधार कोषग्रन्थों, स्तोत्रों, चन्द्रपटों आदिके आधार पर प्राप्त होता है। यह चर्चा विस्तृत होनेसे यहाँ तो इतना समझे कि श्री जिनभद्र-गणि क्षमाभ्रमणने संग्रहणी गाथा ४६ में 'सामा तु प्रियङ्गुवन्ना' और चन्द्रिया टीकाकार श्री देवमद्रसूरिजीकी गाथा २५ की टीकामें 'वायवः प्रियङ्गुवत् श्यामा' के किये गये उल्लेखसे यहाँ श्याम अर्थ लेना घटित है।

११६. 'मेचकः शिखिकण्ठाभः' (दुर्गाकोष) मेचक अर्थात् श्यामवर्ण, वह किसके जैसा है तो मयूरके कण्ठके वर्ण जैसा। इस कथनसे मयूरकण्ठको श्याम कहा है, जब कि कोपादि अनेक ग्रन्थोंमें भूरा (नीला) वर्ण कहा है।

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥२९॥

विशेषार्थ—मनुष्य लोकमें उनके पहनावेसे भी लोग पहचाने जाते हैं। जैसे श्वेत वस्त्रवाले हों वे अमुक सम्प्रदायके साधु, रक्त वस्त्रवाले अमुक सम्प्रदायके, काली अचकन (कंचुक) वाले हों तो वे फकीर आदि।

इसी प्रकारसे देवोंको भी उनके वस्त्रों द्वारा पहचाननेका एक प्रकार है। उनमें पहले असुरकुमारके वस्त्र रक्तवर्णके होते हैं।

दूसरे नागकुमारों, सातवें उदधिकुमारों, चौथे विद्युत्कुमारों, छठे द्वीपकुमारों और पांचवें अग्निकुमारों इन पांचोंके वस्त्रोंका वर्ण श्याम होता है।

आठवें दिशिकुमार निकाय, दसवें स्तनितकुमार निकाय और तीसरे सुवर्णकुमार इन तीनों निकायोंके देवोंके वस्त्र उज्ज्वल वर्णवाले होते हैं, और नौवें वायुकुमार निकायके देवोंके वस्त्रोंका वर्ण सूर्यास्त होनेके बाद खिली हुई विविधरंगकी संध्याका जैसा रंग होता है वैसा है। अर्थात् जैसे वर्णके वस्त्रोंका परिधान करते हैं।

इस तरह बहुलतासे देवोंके चिह्न, शरीर, वस्त्र, वर्ण आदिका वर्णन किया।

यहाँ भी यह वर्ण व्याख्या भवधारणीय शरीरके लिए पहने जाते वस्त्रोंके लिए समझें और वह सामान्यतया समझें, हेतुपूर्वक अथवा उत्तरवैक्रियमें उनसे अन्य वर्णके वस्त्र भी होते हैं ॥२९॥

भवनपति देवोंके चिह्न तथा देह-वस्त्रके वर्णका यन्त्र।

नाम	मुकुटमें चिह्न	देह-वर्ण	वस्त्र-वर्ण
१. असुरकुमार	चूडामणिका	श्याम-वर्ण	लाल
२. नाग ”	सर्पका	गौर ”	नीला
३. सुवर्ण ”	गरुडका	सुवर्ण ”	उज्ज्वल
४. विद्युत्कुमार	वज्रका	रक्त ”	नीला
५. अग्नि ”	कलशका	” ”	”
६. द्वीप ”	सिंहका	” ”	”
७. उदधि ”	अश्वका	गौर ”	”
८. दिशि ”	हाथीका	सुवर्ण ”	उज्ज्वल
९. (पवन) वायुकुमार	मगरका	नील ”	संध्यावर्ण
१०. स्तनितकुमार	शरावसम्पुटका	सुवर्ण ”	उज्ज्वल

अवतरण—अब इस भवनपति निकायके इन्द्रोंके सामानिक देवों तथा आत्मरक्षक देवोंकी संख्या कहते हैं;—

चउसट्टि सट्टि असुरे, छच्च सहस्साइं धरणमाईणं ।

सामाणिया इमेसिं, चउग्गुणा आयरक्खा य ॥ ३० ॥

गाथार्थ—असुरकुमार निकायके, चमरेन्द्र तथा बलीन्द्र इन दो इन्द्रोंके क्रमशः ६४ हजार तथा ६० हजार सामानिक देव हैं। अवशिष्ट धरणेन्द्र आदि इन्द्रोंके छः-छः हजार सामानिक देव हैं।

और सामानिक देवोंकी जो संख्या कही है उससे चारगुनी संख्या आत्मरक्षक देवोंकी है ॥ ३० ॥

विशेषार्थ—प्रथम सामानिक अर्थात् क्या ? 'इन्द्रेण सह समाने तुल्ये शुतिविभवादी भवाः सामानिकाः' अर्थात् इन्द्रके समान कान्ति-वैभवादि-ऋद्धिसिद्धिवाले सामानिक देव कहल्यते हैं।

इन देवोंमें मात्र इन्द्रत्व अर्थात् उस देवलोकका आधिपत्य नहीं होता, शेष सर्व ऋद्धि इन्द्रके समान होती है।

साथ ही 'इन्द्राणाममात्यपितृगुरुपाध्यायमहत्तरवत् पूजनीयाः स्वयं' राजा होने पर भी राजाको जिस तरह मन्त्रीश्वर, पिता, गुरुवर्ग-उपाध्याय (पाठक) और गुरुजन पूजनीय होते हैं, उसी तरह इन्द्रको ये सामानिक देव पूजनीय (आदर देने योग्य) होते हैं। चाहे इन्द्र महाराजा ऐसा आदर रखें फिर भी वे देव तो इन्द्रको स्वामीरूप मानकर उनकी आज्ञाका पालन करते हैं। सारांश यह है कि इन्द्रोंको ये देव आदर देने योग्य हैं ऐसा व्यक्त करनेके लिये उनकी महत्ता दिखाते हैं, फिर भी ये देव उन्हें स्वामी स्वरूप ही मानते हैं ऐसा व्यक्त करके परस्पर स्वामी-सेवकभाव भी बताया है।

आत्मरक्षक अर्थात् क्या ? इन्द्राणामात्मानं रक्षन्तीत्यात्मरक्षकाः इन्द्रकी आत्माकी रक्षा करे वह। यहाँ आत्म शब्दसे इन्द्रका अंग-शरीर समझे।

आत्मरक्षक देव धनुष आदि सर्वशस्त्र ग्रहण करके इन्द्र-महाराजोंकी रक्षाके लिए सर्वदा सज्ज रहते हैं। जिस तरह राजा-महाराजोंके यहाँ अंगरक्षक (बाँडीगार्ड-Body Guard) शस्त्रसज्ज बनकर अपने मालिककी दत्तचित्त होकर सतत रक्षा किया करते हैं वैसे ही इन्द्रकी-आत्माकी रक्षाके लिये वे आत्मरक्षक देव भी, इन्द्रमहाराज सभामें बैठे हों, विचरण करते हों अथवा चाहे किसी भी स्थानमें हों, तब भी वे अनेक प्रकारके शस्त्रादिसे युक्त होकर अपने स्वामी इन्द्रकी रक्षामें सतत परायण रहते हैं। वे आयुध कवचसे सज्ज होकर

इन्द्र महाराजकी सतत (एक समान) रक्षामें ही तत्पर रहते हैं । शत्रुदेव उन सुदृढ़ आत्मरक्षकोंके देखते ही क्षुब्ध-त्रस्त हो जाते हैं और वे देव अपने कर्तव्यमें मग्न रहनेसे इन्द्रके प्रेमका भाजन भी होते हैं ।

ऊपर लिखे विवरणको पढ़ते ही शंका उत्पन्न होती है कि इन्द्र जैसे समर्थ और देवोंमें सर्वोत्तम पुरुषको भी क्या आत्मरक्षकोंकी आवश्यकता होती है ? उसका समाधान यह है कि—महाशक्ति, समर्थ इन्द्रको रक्षणकी कोई अपेक्षा ही नहीं है, क्योंकि शत्रुओंकी ओरसे उपद्रवोंकी तो कोई विशेष सम्भावना नहीं है, परन्तु 'इन्द्र उस देवलोकका सर्व सत्ताधीश स्वामी है, साथ ही यह हमारा महान् स्वामी है ।' स्वामित्वकी यह मर्यादा, उसका परिपालन और स्वामीकी प्रीतिका सम्पादन करनेके लिये वे सदा शस्त्रसज्ज बनकर उपस्थित रहते हैं । साथ ही सेवकका धर्म-पालन करना यह भी उनका कर्तव्य है ।

जैसे वर्तमानकालमें राजा-महाराजा या सत्ताधीश जो प्रबल शक्तिसम्पन्न होने पर भी उनकी श्रेष्ठता या महत्ता प्रदर्शित करने, अपना गौरव बढ़ाने और स्वामित्वका सूचन करनेकी दृष्टिसे जिस तरह बड़े बड़े शूवीर अंगरक्षक उनके साथ ही रहते हैं वैसे ही यहाँ भी समझें ।

सामानिक तथा आत्मरक्षक देवोंकी संख्या

भवनपति निकायोंमें प्रथम असुरकुमार निकायकी दक्षिणदिशाके चमरेन्द्रके चौसठ-हजार और उत्तरदिशानिवासी बलीन्द्रके साठ हजार सामानिकदेवोंका परिवार है । अवशिष्ट सभी नौ निकायोंके धरणेन्द्रादि प्रमुख अठारहों इन्द्रोंमें प्रत्येक इन्द्रको छः-छः हजार सामानिक देवोंका परिवार वर्तित है ।

ऊपर जिस-जिस इन्द्रके सामानिक देवकी जो संख्या कही गई है उस संख्याको चार गुनी करनेसे जो संख्या आये, वह संख्या उस-उस इन्द्रके आत्मरक्षक देवोंकी समझनी चाहिये ।

जैसे कि चमरेन्द्रके सामानिकदेव ६४००० हैं उसे चार गुना करें तो २,५६,००० आत्मरक्षकोंकी संख्या होती है । इस तरह सर्वत्र जानें ।

इस तरह चार निकायोंमेंसे पहले भवनपति निकायके देवोंकी आयुष्यस्थिति, निकायोंके नाम, इन्द्रोंके नाम, भवनसंख्या, उनके चिह्न, देह-वर्ण, वस्त्रवर्ण, सामानिक और आत्मरक्षककी संख्या कही गई है ।

अब ग्रन्थकार भवनपति निकायकी तरह क्रमप्राप्त दूसरे व्यन्तर निकायका वर्णन आरम्भ करते हैं । (३०)

भवनपतिके इन्द्रोंके सामानिक तथा आत्मरक्षक देवोंकी संख्याका यन्त्र

नाम	दक्षिणेन्द्र नाम	सामा० सं.	आत्म० सं.	उत्तरेन्द्र नाम	सामा० सं.	आत्म० सं.
१. असुरकुमार निकाय	चमरेन्द्रके	६४ हजार	२ लाख	बलीन्द्रके	६० हजार	२ लाख
२. नागकुमार निकाय	धरणेन्द्रके	६ हजार	५६ ह.	भूतानेन्द्रके	६ हजार	४० ह.
३. सुवर्णकुमार निकाय	वेणुदेवेन्द्रके	" "	" "	वेणुदालीन्द्रके	" "	" "
४. विशुक्कुमार निकाय	हरिकान्तेन्द्रके	" "	" "	हरिरसहेन्द्रके	" "	" "
५. अग्निकुमार निकाय	अग्निशिखेन्द्रके	" "	" "	अग्निमानवेन्द्रके	" "	" "
६. द्वीपकुमार निकाय	पूर्णन्द्रके	" "	" "	विशिष्टेन्द्रके	" "	" "
७. उदधिकुमार निकाय	जलकान्तेन्द्रके	" "	" "	जलप्रमेन्द्रके	" "	" "
८. त्रिशिकुमार निकाय	अमीतगतीन्द्रके	" "	" "	अमितवाहनेन्द्रके	" "	" "
९. पवनकुमार निकाय	वेणुदेवेन्द्रके	" "	" "	प्रभंजनेन्द्रके	" "	" "
१०. स्तनितकुमार निकाय	द्यौषेन्द्रके	" "	" "	महाघोषेन्द्रके	" "	" "
	कुल संख्या	१,१८०००	४,७२०००	कुल संख्या	१,१४०००	४,५६०००

उपसंहार—

इति भवनपतीतामायुराख्येन्द्रसंख्या-भवनगणनवासो देहवर्णद्विवर्णः ।

अपि च समविभूतीनां तथा ह्यात्मरक्षा-प्रवणसुरवराणां वर्णानं चाभिरामम् ॥ १ ॥
[अनुवादक कृत संग्रहस्थलीक]

अथ प्रस्तुत द्वितीय भवनद्वार प्रसंग पर व्यन्तरोके भवन आदिका वर्णन

अवतरण—अब व्यन्तरदेवोंके सम्बन्धमें वक्तव्य प्रारम्भ करते हुए प्रथम व्यन्तरदेवके भवनों (नगरों)का स्थान बताते हैं;—

रयणाए पद्मजोयण, —सहस्से हिट्टुवरिसय—सय विहूणे ।

वन्तरयाणं रम्मा, भोमा नगरा असंखेज्जा ॥ ३१ ॥

गाथार्थ—रत्नप्रभानारकीमें प्रथम अर्थात् ऊपरके हजार योजनमें नीचे तथा ऊपर सौ सौ योजन छोड़कर, अवशिष्ट आठसौ योजनमें व्यन्तरदेवोंके भूमिके अन्दर वर्तित असंख्याता सुन्दर नगर हैं ॥ ३१ ॥

विशेषार्थ—“व्यन्तर” इस शब्दका अर्थ क्या? “विविधमन्तरं वनान्तरादिकमाश्रयतया येषां ते व्यन्तराः”—

अर्थात् अलग अलग प्रकारके वन आदिके जो अन्तर हैं वे ही अन्तर जिनके आश्रयरूप हैं अर्थात् जैसे वन आदिके अन्तरोमें विशेष करके जो रहते हैं, वे व्यन्तर कहलाते हैं। व्यन्तर वनके अन्दर और पर्वत तथा गुफा आदि स्थानोंमें रहते हैं, यह बात लोकमें भी प्रसिद्ध है।

अथवा यदि दूसरा अर्थ लें तो ‘नरेभ्यो विगतमन्तरं ते व्यन्तराः’ अर्थात् ‘मनुष्य-रूपमें वर्तित चक्रवर्ती आदिकी सेवामें, देव होने पर भी जिन्हें रहना पड़ता है, मनुष्य और देवके बीचका जो अन्तर चला गया है जिनका’ इससे भी वे व्यन्तर कहलाते हैं। क्योंकि देव होने पर भी मनुष्योंके साथ वे हिलते-मिलते-जुलते रहनेवाले हैं।

चौदह राजलोकमें ऊर्ध्वलोक, तिच्छीलोक और अधोलोक ऐसे तीनलोक हैं। ऊर्ध्व-लोकमें देव-निवास विशेष है। तिच्छीलोकमें मनुष्य तिर्यचका निवास विशेष है और अधोलोकमें नारक जीव जिनमें हैं—वे रत्नप्रभादि नरक-पृथिवियाँ हैं। उनमें पहली रत्नप्रभानारकीके एक लाख अस्सी हजार (१,८०,०००) योजन मोटे पिण्ड-प्रमाणमेंसे ऊपर और नीचे एक एक हजार योजन छोड़कर अवशिष्ट एक लाख अठत्तर हजार पृथ्वीपिण्डमें भवनपतिदेवोंके भवन हैं।

अब ऊपर छोड़ दिये गये उन एक हजार योजनोंमेंसे ही पूर्वकी तरह उभयस्थानोंसे (नीचे-उपरसे) सौ सौ योजन छोड़ दें, क्योंकि अवशिष्ट आठसौ योजनोंमें व्यन्तरदेवोंके रत्नप्रभापृथ्वीके अन्दर रमणीय-सुन्दर ऐसे असंख्यात नगर हैं।

साथ ही मनुष्यक्षेत्रके बाहरके द्वीप-समुद्रोंमें इन्हीं व्यन्तरोकी असंख्यात नगरियाँ आई हैं, जिसका स्वरूप श्री जीवाभिगमादि शास्त्रोंसे जान लें।

बालक बड़ा होने पर भटकता फिरता है और जहाँ अच्छा लगे या अच्छा दिखाई दे वहाँ दौड़ता है अथवा बैठ जाता है। वैसे देवताकी जातिमें भी व्यन्तर ऐसे देव हैं कि जहाँ-तहाँ भटकते हैं और अच्छा लगे वहाँ घुस जाते हैं अथवा अड्डा जमा देते हैं। वृक्षों, बगीचों, खाली मुकामों, पहाड़ों-पर्वतों-गुफाओं पर अपना स्थान जमा देते हैं। इतना ही नहीं लेकिन मनुष्यकी बस्तीमें या जंगलमें जहाँ अच्छी जगह मिली कि बैठ जाते हैं और अधिकांशरूपसे अन्योके लिये (दुःखदायक) कष्टप्रद भी बन जाते हैं। (३१)

अवतरण—इन व्यन्तरोके नगरवर्ती भवनोंका और भवनपतिके भवनोंका बाह्य और भीतरी आकार कैसा होता है? यह बताते हैं—

बाहिं वड्डा अंतो, चउरंस अहो अ कण्णियायारा ।

भवण वर्ड्ढा तह वन्तराण, इन्द भवणा उ नायव्वा ॥ ३२ ॥

[प्र० गा० सं० ४]

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ ३२ ॥

विशेषार्थ—उन व्यन्तरदेवोंके भवन बाहरके हिस्सेमें गोलकारवाले होते हैं और अन्दरके हिस्सेमें चौ-कोन होते हैं, तथा अधोभागमें कमलपुष्पकी कर्णिकाके आकारमें रहते हैं।

उपर्युक्त आकृतिवाले भवन उस भवनपतिके इन्द्रोंके और व्यन्तरेन्द्रोंके जानें। इन भवनोंके चारों ओर किले और खाने होती हैं। उन नगरोंके भव्य दरवाजे होते हैं। किकरदेव उनकी सतत रक्षा करते हैं। [३२] (प्र० गा० सं० ४)

अवतरण—उन भवनोंमें व्यन्तरदेव कैसे आनन्दसे अपना काल व्यतीत करते हैं? यह बताते हैं:—

तहिं देवा वन्तरिया, वरतरुणी-गीय-वाइय-रवेणं ।

निच्चं सुहिय-पमुइया, गयंपि कालं न याणंति ॥ ३३ ॥

[प्र० गा० सं० ५]

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ ३३ ॥

विशेषार्थ—उन भवनोंमें व्यन्तरदेव—सतत गतिवाले अत्यन्त सुन्दर, तरुण देवांगनाओंके अति मधुर, कर्णप्रिय और आह्लादक गीत गानोंसे तथा भेरी, मृदंग, वीणा आदि अनेक प्रकारके, मनोरंजन द्वारा उत्तजित करनेवाले दिव्य वाद्योंके मधुर नादसे, प्रेमरसको पुष्ट करनेवाले, दिलको बहलानेवाले, विविध प्रकारके उत्तम और दिव्य नाटकोंके कारण निरन्तर सुखमें तल्लीन और आमोद-प्रमोदकी सामग्रीयोंसे आनन्दमें इतने निमग्न रहते हैं कि

अपना कितना काल बीत गया इसकी भी उन्हें प्रतीति नहीं होती है । जगतमें भी अत्यन्त सुखी लोगोंकी यही स्थिति होती है । [३३] (प्र० गा० सं० ५)

ते जम्बुदीव-भारह-विदेहसम गुरु-जहन्न-मजिहमगा ॥ ३३ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ ३३ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार मनुष्यलोकमें कतिपय शहर १०० मील अर्थात् ४ कोसका १ योजन इस हिसाबसे २५ योजन प्रमाणके हैं । न्यूयॉर्क, मोस्को, लंडन आदि शहर अस्सी-अस्सी, नब्बे-नब्बे, मीलसे अधिक विस्तारवाले सुनाई देते हैं, (माने जाते हैं) उसी प्रकार यहाँ देवलोकमें भी देवोंके नगरोंका प्रमाण दिखाया गया है ।

उनमें व्यन्तरदेवोंके सबसे बड़े नगरोंका प्रमाण उत्कृष्टसे जम्बूद्वीप जितना अर्थात् एक लाख योजन जितने-महातिमहाप्रमाणवाले हैं । जब कि छोटे-छोटे नगर भरतक्षेत्र जितने अर्थात् ५२६ १/४ योजन प्रमाणके और मध्यम नगर महाविदेहक्षेत्र समान अर्थात् ३३६ ८/४ १/४ योजन प्रमाणके हैं । [३३ ॥]

टिप्पणी—यहाँ एक योजन अर्थात् ४ कोसका माप नहीं, लेकिन १० कोसका अथवा अन्य मतसे ४०० कोसका एक योजन, ऐसा शास्त्रीय माप समझना चाहिये ।

२. हम रहते हैं उस पृथ्वीके नीचे एक अद्भुत सृष्टि विद्यमान है । वह असंख्य कोटानुकोटि योजन प्रमाण है । इसलिये ऐसे महान असंख्य नगर हों तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं है ।

अवतरण—अब व्यन्तरोंके भेद बताते हैं और उनके इन्द्रोंकी संख्या कहते हैं ।

वन्तर पुण अद्भुविहा, पिसाय-भूया तहा जक्त्वा ॥ ३४ ॥

रक्खस-किन्नर-किंपुरिसा, महोरगा अद्भुमा य गंधच्वा ।

दाहिण-उत्तरभेया, सोलस तेसि [सुं] इमे इंदा ॥ ३५ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ ३४-३५ ॥

विशेषार्थ—वे व्यन्तरदेव आठ प्रकारके हैं । उनके १. पिशाच, २. भूत, ३. यक्ष, ४. राक्षस, ५. किन्नर, ६. किंपुरुष, ७. महोरग और ८. गन्धर्व ये नाम हैं ।

इन आठों प्रकारके निकायोंके उत्तर-दक्षिण भेदसे सोलह इन्द्र हैं। जिनके नाम अग्रिमं गाथामें कहे जाएँगे।

इन आठों प्रकारके व्यन्तरोके प्रतिभेद कितने-कितने हैं। यह उनके वर्णनके साथ संग्रहणी टीकाके आधार पर बताया जाता है। १. पिशाच निकायके देव पन्द्रह प्रकारके हैं। १. कुष्माण्ड, २. पटक, ३. जोष, ४. आह्निक, ५. काल, ६. महाकाल, ७. चोक्ष, ८. अचोक्ष, ९. तालपिशाच, १०. मुखरपिशाच, ११. अधस्तारक, १२. देह, १३. महादेह, १४. तूभीकड और १५. वनपिशाच।

ये देव स्वाभाविक रूपमें ही अत्यन्त रूपवान, सौम्यदर्शनवाले, देखनेवालेको आनन्द उपजानेवाले, हस्त-कण्ठादि स्थानोंमें रत्नमय आभूषणोंको धारण करनेवाले होते हैं।

२. भूत निकायके देव नौ प्रकारके हैं। १. स्वरूप, २. प्रतिरूप, ३. अतिरूप, ४. भूतोत्तम, ५. स्कंदिक, ६. महास्कंदिक, ७. महावेग, ८. प्रतिछन्न और ९. आकाशग।

ये देव सुन्दर, उत्तम, रूपवान, सौम्य, सुन्दर मुखवाले और विविध प्रकारकी रचना तथा विलेपन करनेवाले हैं।

३. यक्ष निकायके देव तेरह प्रकारके हैं। १. पूर्णभद्र, २. माणिभद्र, ३. श्वेतभद्र, ४. द्र, ५. सुमनोभद्र, ६. व्यतिपाकभद्र, ७. रुभद्र, ८. सर्वतोभद्र, ९. मनुष्ययक्ष, १०. धनाधिपति, ११. धनाहार, १२. रूपयक्ष और १३. यक्षोत्तम।

ये देव स्वभावसे गम्भीर, प्रियदर्शनवाले, शरीरसे ^{११८}मानोन्मान प्रमाणवाले तथा इनके हस्तपादोंके तलवे, नाखून, तालु, जीभ, ओंठ लाल हैं। ये मरतक पर देदीप्यमान मुकुट तथा चित्र-विचित्र रत्नोंके आभूषणोंको धारण करनेवाले हैं।

४. राक्षस निकायके देव सात प्रकारके हैं। १. भीम, २. महाभीम, ३. विघ्न, ४. विनायक, ५. जलराक्षस, ६. यक्षराक्षस और ७. ब्रह्मराक्षस।

ये व्यन्तर देव भयंकर हैं। भयंकर रूपको धारण करनेवाले होनेसे देखनेवालेको भयंकर, लंबे और विकराल लगे ऐसे, रक्तवर्णके ओठ धारण करनेवाले, तेजस्वी आभूषणोंको पहननेवाले और शरीरको अलग-अलग प्रकारके रंगों और विलेपनोंसे सजाते हैं।

५. किन्नर निकायके देव दस प्रकारके हैं। १. किन्नर, २. किंपुरुष, ३. किंपुरुषोत्तम, ४. हृदयंगम, ५. रूपशाली, ६. अनिदित, ७. किन्नरोत्तम, ८. मनोरम, ९. रतिप्रिय और १०. रतिश्रेष्ठ।

११८. जलसे भरे कुंडमें प्रवेश करते समय जितना जल बाहर निकले और उस जलको मापनेसे 'द्रोण' प्रमाण हो तो वह देव मान प्रमाणका माना जाए और तण्डूसे तौलनेसे 'अर्धभार' हो तो उन्मान प्राप्त माना जाए।

ये देव शान्त आकृतिवाले, अधिक सुन्दर मुखाकृतिवाले और मस्तक पर जगमगाते मुकुटोंको धारण करनेवाले हैं ।

६. किंपुरुष निकायके देव—१. पुरुष, २. सत्पुरुष, ३. महापुरुष, ४. पुरुषवृषभ, ५. पुरुषोत्तम, ६. अतिपुरुष, ७. महादेव, ८. मरुत्, ९. मेरुप्रभ और १०. यशस्वन्त इस तरह दस प्रकारके हैं ।

ये देव भी अधिक सुन्दर और मनोहर मुखाकृतिवाले हैं, इनकी जंघाएँ और भुजाएँ अत्यन्त शोभायमान हैं एवं ये विविध प्रकारके आभूषणों और विचित्र प्रकारकी मालाओं और लेपको धारण करनेवाले होते हैं ।

७. महोरग निकायके देव भी १. भुजंग, २. भोगशाली, ३. महाकाय, ४. अतिकाय, ५. स्कंधशाली, ६. मनोरम, ७. महावेग, ८. महेश्वक्ष, ९. मेरुकांत और १०. भास्वन्त इस तरह दस प्रकारके हैं ।

ये देव महान् वेगवाले, महान् शरीरवाले, सौम्यदर्शन, महाकाय, विस्तृत और मजबूत गरदन—स्कंधवाले और चित्र-विचित्र आभूषणोंसे विभूषित हैं ।

८. गंधर्व निकायके देव—१. हाहा, २. हूह, ३. तुंबरू ४. नारद, ५. ऋषिवादक, ६. भूतवादक, ७. कादम्ब, ८. महाकादम्ब, ९. रैवत, १०. विश्वावसु, ११. गीतरति और १२. गीतयश ऐसे बारह प्रकारके हैं ।

ये देव भी प्रियदर्शनवाले, सुन्दर रूपवाले, उत्तम लक्षणोंवाले, सुन्दर मुखवाले, मस्तक पर मुकुट पहननेवाले और गलेमें हार धारण करनेवाले होते हैं । [३४-३५]

चौबीस तीर्थकरके यक्ष-यक्षिणियाँ यक्ष-निकायके होनेसे व्यन्तर जातिके होते हैं । साथ ही छप्पन ^{११८}दिक्कुमारिकाएँ और सरस्वती (श्रुतदेवी) ये भी व्यन्तर निकायकी कही जाती हैं ।

अवतरण—आठों प्रकारके व्यन्तर निकायके इन्द्रोंके नाम कहते हैं ।

काले य महाकाले, सुरूव पडिरूव पुण्णभदे य ।

तह चेव माणिभदे, मीमे य तहा महाभीमे ॥३६॥

किन्नर किंपुरिसे सप्पुरिसा, महापुरिस तह य अइकाए ।

महाकाय गीयरई, गीयजसे दुन्नि ^{१२०}दुन्नि कमा ॥३७॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ ३६-३७ ॥

११९. आवश्यकचूर्णिमें ' ब्रह्मि वाणमंतरेहि ' के पाठसे ज्ञात होता है । [स. प्र. ४३७]

१२०. दोन्नि दोन्नि इत्यपि पाठः ।

विशेषार्थ—पहले भवनपतिके दसों निकायोंके दक्षिण-उत्तरभेदसे जिस तरह बीस इन्द्र कहे गये हैं उसी तरह व्यन्तरोके आठों निकायोंके दक्षिणोत्तरभेदसे सोलह इन्द्र कौन-कौनसे हैं, यह बताते हैं ।

पहले पिशाचनिकायकी दक्षिणदिशाके इन्द्रका नाम काल और उत्तरदिशामें महाकाल, दूसरे भूतनिकायकी दक्षिणदिशामें सुरूप और उत्तरदिशामें प्रतिरूप, तीसरे यक्षनिकायकी दक्षिणदिशामें पूर्णभद्र और उत्तरदिशामें माणिभद्र, चौथे राक्षसनिकायकी दक्षिणदिशामें भीम और उत्तरदिशामें महाभीम, पांचवें किन्नरनिकायकी दक्षिणदिशामें किन्नर और उत्तरदिशामें किंपुरुष, छठे किंपुरुषनिकायकी दक्षिणदिशामें सत्पुरुष और उत्तरदिशामें महापुरुष, सातवें महोरगनिकायकी दक्षिणदिशामें अतिकाय और उत्तरदिशामें महाकाय और आठवें गान्धर्वनिकायकी दक्षिणदिशामें गीतरति और उत्तरदिशामें गीतयश है ।

इस तरह आठों निकायोंके दक्षिणोत्तरभेदसे सोलह इन्द्र बताये । ये सोलहों इन्द्र महापराक्रमी, संपूर्ण सुखी, अतिऋद्धिशाली, संपूर्णोत्साही और अपूर्व सामर्थ्यादिसे युक्त हैं । [३६-३७]

व्यन्तर निकायके १६ इन्द्रोंके नामका यन्त्र ।

निकाय	दक्षिणेन्द्र	उत्तरेन्द्र
१. पिशाचनिकाय	१. कालेन्द्र	२. महाकालेन्द्र
२. भूतनिकाय	३. स्वरूपेन्द्र	४. प्रतिरूपेन्द्र
३. यक्षनिकाय	५. पूर्णभद्रेन्द्र	६. माणिभद्रेन्द्र
४. राक्षसनिकाय	७. भीमेन्द्र	८. महाभीमेन्द्र
५. किन्नरनिकाय	९. किन्नरेन्द्र	१०. किंपुरुषेन्द्र
६. किंपुरुषनिकाय	११. सत्पुरुषेन्द्र	१२. महापुरुषेन्द्र
७. महोरगनिकाय	१३. अतिकायेन्द्र	१४. महाकायेन्द्र
८. गान्धर्वनिकाय	१५. गीतरतीन्द्र	१६. गीतयशेन्द्र

अवतरण—इन आठों निकायोंके देवोंकी ध्वजाके चिह्न कहते हैं;—

१२१. सरस्वतीदेवी इस इन्द्रकी अग्रमहिषी है ऐसा क्षेत्रसमास तथा भगवतीजीकी टीकामें कहा है ।

[से० प्र० २३६]

चिह्नं कलंब-सुलसे, वड-खट्वंगे असोग-चंपयए ।

नागे तुंबरु अ उज्जाए, खट्वंग विवज्जिया रुक्खा ॥ ३८ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् सुगम है । ॥ ३८ ॥

विशेषार्थ—पहले सत्रहवीं गाथामें भवनपतिनिकायके देवोंको पहचाननेके लिए जिस तरह मुकुटादिमें चिह्न बताये थे, उसी तरह व्यन्तरनिकायको पहचाननेके लिए स्वस्व-विमानोंकी ध्वजामें रहनेवाले चिह्नोंका वर्णन करते हैं ।

१. प्रथम पिशाचनिकायके देवोंकी ध्वजामें कदम्ब नामक वृक्ष जैसा आकार होता है और वैसे ही आकारका आलेख होता है । २. भूतनिकायके देवोंकी ध्वजामें सुलस नामके वृक्षविशेषका चिह्न होता है । ३. यक्ष निकायके देवोंकी ध्वजामें वटवृक्षका, चौथे राक्षसनिकायके देवोंकी ध्वजामें तपस्वी तापसका उपकरण विशेष खट्वांगका चिह्न, पाँचवें किन्नरनिकायके देवोंकी ध्वजामें अशोकवृक्षका, छठे किंपुरुषनिकायके देवोंकी ध्वजामें चंपक वृक्षका, सातवें महोरगनिकायके देवोंकी ध्वजामें नागनामक वृक्षका और आठवें गान्धर्व-निकायके देवोंकी ध्वजामें तुंबरु नामके वृक्षका चिह्न होता है ।

ऊपर कहे गए चिह्नोंमें केवल एक चौथे राक्षसनिकायके चिह्न खट्वांग-भिक्षापात्र विशेषके आकारके अतिरिक्त शेष निकायोंके चिह्न विविध प्रकारके वृक्षोंके हैं । [३८]

अवतरण—प्रस्तुत व्यन्तरदेवोंके शरीरोंका वर्ण बताते हैं—

जक्ख-पिसाय-महोरग-गन्धन्वा साम किन्नरा नीला ।

रक्खस-किंपुरुसा वि य, धवला भूया पुणो काला ॥ ३९ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ ३९ ॥

विशेषार्थ—पहले भवनपतिदेवोंके वर्णन-प्रसंगमें, जिस तरह उन देवोंके शरीरका वर्ण वर्णित किया था उसी तरह व्यन्तरनिकायके देवोंके शरीरका वर्ण वैसा होता है, यह बताते हैं—

प्रथम पिशाचनिकायके देवोंका, तीसरे यक्षनिकायके देवोंका, सातवें महोरग और आठवें गान्धर्व इन चारों निकायोंके देवोंका देहवर्ण श्याम अर्थात् कृष्णवर्ण समझना । पाँचवें किन्नरोंके शरीरका वर्ण श्याम, तथापि किंचित् नीलवर्णके आभाससहित जानना । चौथे राक्षसनिकाय और छठे किंपुरुषनिकायके देवोंका देहवर्ण उज्ज्वल होता है और दूसरे भूतनिकायके देवोंका देहवर्ण भी कृष्ण (श्याम) होता है । [३९]

व्यन्तरनिकायके चिह्न तथा देहवर्णका यन्त्र

निकाय नाम	ध्वजा चिह्न	देहवर्ण
१. पिशाचनिकाय	कदंब वृक्ष	श्याम
२. भूत ,,	सुलस वृक्ष	कृष्ण
३. यक्ष ,,	वट वृक्ष	श्याम
४. राक्षस ,,	तापस पात्र	उज्ज्वल
५. किनर ,,	अशोक वृक्ष	श्याम (नील)
६. किंपुरुष ,,	चंपक वृक्ष	उज्ज्वल
७. महोरग ,,	नाग वृक्ष	श्याम
८. गान्धर्व ,,	तुंबरु वृक्ष	श्याम

॥ व्यन्तरनिकायान्तर्वर्ति 'वाण-व्यन्तर' निकायका स्वरूप ॥

अवतरण—अब वाणव्यन्तरके आठ भेद बताते हैं और वे जहां हैं उस स्थानका निरूपण करते हैं—

अणपन्नी पणपन्नी, इसिवाई भूयवाइए चेव ।

कंदी य महाकंदी, कोहंडे चेव पयए य ॥ ४० ॥

इयपढम—जोयणसए, रयणाए अट्ट वन्तरा अवरे ।

तेसु इह सोलसिंदा, 'रुयग' अहो दाहिणुत्तरओ ॥ ४१ ॥

गाथार्थ—अणपन्नी, पणपन्नी, ऋषिवादी, भूतवादी, कंदित, महाकंदित, कोहंड और पतंग ये आठ वाणव्यन्तरके भेद हैं । ये आठों वाणव्यन्तरनिकाय रुचकप्रदेशके नीचे, रत्नप्रभा पृथ्वीके पहले १२२ सौ योजनमें आये हैं और उनमें दक्षिण-उत्तरभेदके कुल मिलाकर सोलह इन्द्र हैं । ॥ ४०-४१ ॥

१२२. योगशास्त्रकार महाराज श्रीमद् हेमचन्द्रानार्य योगशास्त्रमें तथा श्रीमान् जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण महागज संग्रहणी ग्रन्थमें वाणव्यन्तरोंका स्थान ऊपर छोड़े हुए सौ-सौ योजनमेंसे पुनः उसमें ही ऊपर-नीचे दस-दस योजन छोड़कर अवशिष्ट अस्सी योजनोंमें बताते हैं । इस 'चन्द्रीया संग्रहणी' का भी यही अभिप्राय है । जब कि प्रज्ञापनाउपाङ्गमें श्री गौतमस्वामी महाराजे किये प्रश्नके उत्तरमें त्रिकालज्ञानी परमात्मा महावीरदेवने ऐसा बताया है कि, प्रथम छोड़े गये ऊपरके हजार योजनमेंसे ही ऊपर-नीचे सौ-सौ योजन छोड़कर अवशिष्ट आठसौ योजनोंमें वाणव्यन्तर हैं । यहाँ पर गीतार्थ पुरुष ऐसा भी समन्वय करते हैं कि व्यन्तरोंके भी सिद्धान्तोंमें वाणव्यन्तर शब्दसे किसी-किसी स्थानमें वर्णित किया है । इस समन्वयसे शास्त्रीय विरोधका परिहार होता है ।

विशेषार्थ—पहले आठ प्रकारके व्यन्तरनिकायोंका अल्प वर्णन किया। उसी व्यन्तर-जातिमें एक अवान्तर (दूसरे प्रकारके) व्यन्तर भी हैं अतः वे वाणव्यन्तरके रूपमें जाने जाते हैं। व्यन्तरोंके स्थानसे इन वाणव्यन्तर देवोंका स्थान अलग है, अतः प्रत्येक निकायके नाम तथा स्थान आदिका वर्णन करते हैं।

‘वाणव्यन्तर’ अर्थात् क्या? बनानामन्तरेषु विशेषेण भवाः वनवन्तराः—वनों (जंगलों) के मध्यभागोंमें विशेष रूपमें होनेवाले (बसनेवाले) वे वाणव्यन्तर कहलाते हैं। वे आठ प्रकारके हैं—१. अणपत्री निकाय, २. पणपत्री निकाय, ३. ऋषिवादी निकाय, ४. भूतवादी निकाय, ५. कंदित निकाय, ६. महाकंदित निकाय, ७. कोहंड निकाय, ८. पतंग निकाय।

पहले व्यन्तरोंका स्थान बताते जो सौ सौ योजन छोड़े गये थे उनमें मात्र ऊपरकी सौ योजन पृथ्वीमें ही दस-दस योजन ऊपर और नीचे छोड़नेके बाद मध्यकी अस्सी योजन पृथ्वीमें ही वाणव्यन्तरदेव बसते हैं, जिनके निकायोंके नाम ऊपर बताये हैं।

इन आठों निकायोंके दक्षिण-उत्तरभेदसे १६ इन्द्र हैं। ये निकाय समभूतलाके रुचक स्थानसे दक्षिण-उत्तर दिशामें जायें।

१. प्रश्न—‘समभूतला’ अर्थात् क्या?

उत्तर—जिस तरह लौकिक व्यवहारमें विज्ञानियोंने प्रायः बहुत-सी [पृथ्वी-नदी-पर्वतादि] वस्तुओंकी ऊँचाई-नीचाईके मापके लिए समुद्रकी सतह निश्चित की है। अर्थात् उसका ‘समभूतलस्थान’ काल्पनिक दृष्टिसे दरियाई सतह रक्खा है, वैसे जैन सिद्धान्तोंमें ऊर्ध्वलोकमें, अधोलोकमें और तिच्छालोकमें विद्यमान (प्रायः) शाश्वती जिस-जिस वस्तुका जितनी-जितनी ऊँचाई-नीचाईका प्रमाण दिखाया है वह सब सर्वज्ञोक्त वचनानुसार इस समभूतलाकी अपेक्षासे रक्खा गया है।

२. प्रश्न—यह समभूतला पृथ्वी कहाँ आई है? रुचकप्रदेश कहाँ आये हैं? समभूतला और रुचकप्रदेश वे दोनों एक ही स्थान-स्थित हैं अथवा अन्य-अन्य स्थान-स्थित हैं?

उत्तर—एक लाख योजनकी लम्बाई-चौड़ाईवाले जम्बूद्वीपके मध्यभागमें आये महाविदेह-क्षेत्रमें मन्दर-मेरु नामका पर्वत आया है। जिसे इतर दर्शनकार भी मानते हैं। वह ऊँचाईमें मूलभागके साथ १ लाख योजनका है और कन्दसे लेकर ९९००० योजन बाहर है। जिससे अवशिष्ट एक हजार योजन मूलमें (रत्नप्रभा पृथ्वीमें) पहुँचा हुआ है। यह मेरु कन्द-भागमें अर्थात् रत्नप्रभाका पिण्ड पूरा हो वहाँ दस हजार योजनकी परिधिवाला है, फिर आगे क्रमशः घटता है।

[जिसका करणादि सविस्तर स्वरूप श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसे जानने योग्य है।]

पहले समझ लिया कि रत्नप्रभा पृथ्वीका पिण्ड १ लाख ८० हजार योजनका है। उसमें ऊर्ध्व-अधः एक हजार योजन छोड़कर, अवशिष्ट मध्यभागमें भवनपति देव और नारक जीव रहते हैं। पुनः छोड़े गये केवल ऊपरके ही हजार योजनमेंसे ऊपर-नीचे सौ-सौ योजन छोड़कर अवशिष्ट ८०० योजनमें व्यन्तर रहते हैं। और उन छोड़े हुए ऊपरके सौ योजनमेंसे पुनः ऊपर-नीचेसे दस दस योजन छोड़कर अवशिष्ट ८० योजन पृथ्वीमें प्रस्तुत वाणव्यन्तर देव बसते हैं।

अतः 'संग्रहणी' में जो 'रुचकस्थान' पद दिखाया वह उचित है; क्योंकि छोड़े हुए वे १० योजन, मेरुके कन्दसे वाणव्यन्तर स्थान तकके हैं और इन दस योजन ऊपरके ऊर्ध्वभागके मध्यमें रुचक स्थान आया है। तत्पश्चात् ८० योजनमें वाणव्यन्तर रहते हैं। यह मेरुपर्वत रत्नप्रभा पृथ्वीके पिण्डमें १००० योजन गहरा आया है अतः ठेठ ऊपरसे (कन्दभागसे) नीचे आने पर व्यन्तर स्थान पूर्ण होनेके बाद, सौ योजनके अन्तमें मेरु पूर्ण होता है और ज्यों-ज्यों नीचे जाता है त्यों-त्यों उसकी परिधि भी वृद्धि पाती जाती है यह भी स्पष्ट समझमें आता है।

अब दूसरे प्रश्नके समाधानके पूर्व यह भी निर्णय कर लेना आवश्यक है कि समभूतल स्थान वही रुचक स्थान है या अन्य? तो समझना कि समभूतल और रुचक स्थान एक ही वस्तु है, लेकिन अन्यान्य स्थानवाली वस्तुएँ नहीं हैं।

यह जो बात स्पष्टतासे—श्री भगवतीजी, स्थानाङ्ग, नन्दीवृत्ति, नन्दीचूर्णि, जंबूद्वीप-प्रज्ञप्ति, तत्त्वार्थवृत्ति, आवश्यक, विशेषावश्यक, लोकप्रकाश, क्षेत्रसमाप्त, संग्रहणी, जीवाभिगम, पत्रवणा, सूर्यप्रज्ञप्ति, चंद्रप्रज्ञप्ति, मंडलप्रकरणदि—अनेक सूत्र^{१२३}ग्रन्थोंमें समझाई गई है।

'समभूतल-रुचक' स्थान कहाँ आया है ?

समभूतल-रुचकस्थान, यह मेरुके दस हजार योजनके परिधिवाले कन्दभागके नीचे धर्मा-रत्नप्रभा पृथ्वीमें आये हुए दो क्षुल्लक प्रतर हैं उनका मध्यभाग है।

टिप्पणी—समभूतल वही रुचकस्थान है वह, और वह धर्माके क्षुल्लक प्रतरमें ही है, उन दोनों बातोंका कथन करनेवाले सिद्धान्तोंकी मुख्य मुख्य साक्षियाँ यहाँ दी गई हैं।

१२३. 'श्री भगवतीजी' सूत्रमें श्री गौतमस्वामीजीने पूछे चन्द्र-सूर्य सम्बन्धके उत्तर-प्रसंगमें चरमतीर्थ-पति श्री महावीरदेवने बताया है कि—

१. 'गोयमा ! जम्बुद्वीपे दीवे मन्दरस्स पक्वस्सदाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ उद्धं चन्दिमसूरियगहाण-नक्वत्त-तारारूवाणं'—इत्यादि [श्री भगवतीसूत्र]

२. 'कहिन्नं भंते तिरिल्लोगस्स आयाममज्जे पणत्ते ?' गोयमा ! जंबुद्वीपे दीवे मन्दरस्स पक्वस्स

ये प्रतर चारों ओरसे लोकान्तको स्पर्शकर रहे हैं। ये प्रतर चौदह राजलोकवर्ती सर्व प्रतरोंमें लम्बाई-चौड़ाईमें क्षुल्लक अर्थात् छोटे होनेसे क्षुल्लक प्रतरोंके रूपमें परिचित हैं। इसीलिये रुचकप्रस्तार ही प्रतरप्रस्तार है ऐसा भी कहा जाता है। ये दोनों प्रतर आमने-सामने (ऊपर-नीचे) स्थिर हैं। उनमें अधःस्थानसे ऊपर आते हुए जो क्षुल्लक प्रतर आये, उसके ऊपरके भागमें चार रुचक प्रदेश हैं और उसके सम्मुख (ऊर्ध्व)के दूसरे क्षुल्लक प्रतरमें (नीचेके भागसे सम्बद्ध) चार रुचकप्रदेश हैं। ये रुचक आमने-सामने देखते हुए मानो परस्पर स्पर्धा करते हुए न हों ऐसे दिखते हैं। इस स्थान धर्माप्रभवीमें गये हुए मेरुके कन्दके मध्यमें समझना।

बहुमज्जदेसभाए इमीसे रयणप्यभाए पुढवीए उवरिमहेट्टिठल्लेसु खुड्डुगपयरेसु एत्थणं तिरियलोगस्स मज्जे अट्टपए सिए स्यए पण्णत्ते, जओ णं इमाओ दम दिसओ हवंति [श्री भगवतीसूत्र]

३. “केवइयाणं भंते ! जोइसिया वासा पन्नता ? गोयमा ! इमीसे रयणप्यभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ सत्तणउइं सए उड्डुं उप्पइत्ता”...इत्यादि [श्री समवायांगसूत्र]

४. “कहिणं भंते ! जोइसिया देवा परिवसंति ? इमीसे रयणप्यभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ सत्तणउइं जोयणसए उड्डुं उप्पइत्ता”... [श्री पन्नवणासूत्र]

५. ‘अस्था रत्नप्रभापृथिव्या बहुसमरमणीयान् भूमिभागादूर्ध्वं सप्तयोजनशतानि उत्कृत्य गत्वा अत्रान्तरे अधस्तनं तारादिमानं चारं चरतीत्यादि।’ [श्री सूर्यप्रज्ञप्ति]

६. तत्र तिर्यग्लोकरयोर्ध्वाधोऽपेक्षयाऽष्टादशयोजनशतप्रमाणस्य मध्यभागे द्वौ लघुक्षुल्लकप्रतरौ, तयोर्मध्यभागे जम्बुद्वीपे रत्नप्रभाया बहुसमे भूमिभागे मेरुमध्येऽष्टप्रदेशिको रुचकः तत्र गोस्तनाकाराश्रत्वारउपरितनाः प्रदेशाश्रत्वारधस्तनाः एष एव रुचकः सर्वाणां दिशां विदिशां वा प्रवर्त्तकः, एतदेव च सकलतिर्यग्लोकमध्यम् [श्री नन्दीसूत्र-टीका]

७. इसी तरह ‘श्री नन्दीचूर्णि’में भी कथन है।

८. “स्थानाङ्गजी”के दूसरे भागमें भी इसी तरह समर्थन है।

९. विशेषावश्यकभाष्य पर बनी ‘शिष्यहिता’ टीकामें श्रीमान् मलधारि श्री हेमचन्द्रमुरिजति भी ऊपर बताये अनुसार ही उल्लेख किया है। [जिसके लिए देखिए गाथा २७०० उपरकी टीका]

१० “रत्नप्रभाया उपरि क्षुल्लकप्रतरद्वयौ।

मेर्वन्तः कन्दोर्ध्वभागे रुचकोऽष्टप्रदेशकः ॥ १ ॥

तस्मिंश्च लोकपुरुषकटीतपटीयसि ।

मध्यभागे समभूमिजापको रुचकोऽस्ति यः ॥ २ ॥

[श्री लोकप्रकाश क्षेत्र लोक सं० १२]

इन अष्टरुचक प्रदेशोंको ज्ञानी पुरुष चोरसरुचक^{१२४} इस नामसे संबोधित करते हैं ।
ये प्रदेश गोस्तनाकारमें हैं । इस स्थानको रुचकस्थान कहो या समभूतल कहो, यह एक ही है ।

एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि, किसी भी ग्रन्थमें किसी भी वस्तुके निर्देशमें 'समभूभागात्' शब्द मात्र कहा हो, तो उसमें रुचकस्थान अन्तर्गत होता है और जहाँ 'रुचकात्' केवल इतना ही कहा हो तो इससे समभूतल स्थान भी कहा जा सकता है, क्योंकि समभूतल और रुचक ये एक ही स्थानवाची शब्द हैं ।

इस तरह सारे^{१२५} सिद्धान्त "धर्मापृथ्वीमें (रत्नप्रभामें) ही क्षुल्लक प्रतर और अष्टरुचक प्रदेश मानना" ऐसा सूचन करते हैं और साथ-साथ वही समभूतल स्थान है, वही दिशा और विदिशाका प्रभवस्थान है तथा वही तिर्यग्लोकका मध्य है । अर्थात् रुचक-स्थान, समभूतलस्थान और दिशाभवस्थान इन तीनोंका स्थान एक ही है ऐसा स्पष्टरूपसे कहते हैं । यह समभूतल-रुचकस्थान उसी तिच्छीलोकका मध्य है । इतना ही नहीं लेकिन मेरुपर्वतके वनखण्डादिकी ऊँचाई आदि तथा 'अधोग्राम'की शुरुआत भी इस रुचकसे ही प्रारंभ हुई है और वहाँसे ही एक हजार योजन गहराई लेनेकी है । 'मंडलप्रकरण'में स्पष्ट बताया है कि—“समभूतलपेक्षया योजनसहस्रमधोग्रामाः”—और 'श्री लघुक्षेत्रसमास मूल'में भी इसी बातका समर्थन किया गया है ।

जोयणसयदसगंते, समधरणीओ अहो अहोगामा ।

बायालीससहस्सेहिं, गंतु, मेरुस्स पच्छिमओ ॥ [अर्थ सुगम है]

११. 'मेरुमध्यस्थिताष्टप्रदेशात्मकरुचकसमानाद्भूतलादध्याभ्यो दशोनयोजनशतेभ्य आरभ्योपरि दशोत्तर-योजनशते ज्योतिष्कास्तिष्ठन्तीति ।' [मण्डलप्रकरण]

ऐसे ही उल्लेख श्री जीवाभिगम, जम्बुद्वीपप्रशान्ति, तत्त्वार्थसूत्र, भाष्य-टीका, संग्रहणी-टीका, क्षेत्र-समास-टीका, लोकनालिका, ज्योतिष्करण्डक, देवेन्द्रस्तव, आवश्यककी टीकाएँ आदि अनेक ग्रन्थोंमें बताये हैं ।

१२४. यदाहुः—'रुचकेऽत्र प्रदेशानां यच्चतुष्कद्वयं स्थितम् ।

तत्समश्रेणिकं तच्च विशेषं प्रतरद्वयम् ॥'

१२५. तत्त्वार्थसूत्र अ० ३, सू० ६ की भिद्धसेनीय टीकामें 'समतलाद् भूभागाद्...' इस पंक्तिमें रत्नप्रभावर्त्ती क्षुल्लक प्रतरोंकी बात की है । लेकिन लगता है कि वह 'उपरितन अधस्तन' नामसे सूचित प्रतरोंकी बात है; नहि कि सबसे लघुक्षुल्लक प्रतरोंकी बात ।

यह ^{१२६}अष्टरुचक स्थान वही 'समभूतल-रुचकपृथ्वी' इन रुचकप्रदेशोंसे ऊर्ध्व-अधो दिशा तथा विदिशाओंकी उत्पत्ति है, जिसके लिए आवश्यकनिर्युक्तिमें कहा है कि—

‘अट्टपएसो रुअगो, तिरियलोगस्स मञ्जयारंमि ।

एस पभवो दिसाणं एसेव भवे अणुदिसाणं ॥ १ ॥ [४०-४१]

अवतरण—वाणव्यन्तर देवोंके सोलह इन्द्रोंके नाम कहते हैं ।

संनिहिए सामाणे, द्वाइ विहाए इसी य इसिवाले ।

ईसर-महेसरे वि य, हवइ सुवत्थे विसाले य ॥ ४२ ॥

हासे हासरई वि य, सेए य भवे तहा महासेए ।

पयमे पयगवई वि य, सोलस इंदाण नामाई ॥ ४३ ॥

(प्र० गा० सं० ६)

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ ४२-४३ ॥

विशेषार्थ—वाणव्यन्तरके आठों निकायोंके उत्तर भेदसे सोलह इन्द्र हैं । उनमें पहले अणपत्नी निकायके दक्षिण इन्द्रका नाम संनिहित इन्द्र है और उत्तरेन्द्रका नाम सामान इन्द्र है, दूसरे पणपत्नी निकायके दक्षिणेन्द्रका नाम धाता और उत्तरेन्द्रका विधाता, तीसरे ऋषिवादी निकायके दक्षिणेन्द्रका ऋषिइन्द्र और उत्तरेन्द्रका ऋषिपाल इन्द्र । चौथे भूतवादी निकायका दक्षिणेन्द्रका ईश्वरइन्द्र और उत्तरदिशाका महेश्वर इन्द्र । पाँचवें कंदित निकायका दक्षिणेन्द्र सुवत्स इन्द्र और उत्तरदिशाका विशाल इन्द्र, छठे महाकंदित निकायका दक्षिणेन्द्र हास्य और उत्तरेन्द्र हास्यरति, सातवें कोहंड निकायका दक्षिणेन्द्र श्वेत और उत्तरदिशाका महाश्वेत इन्द्र और आठवें पतंग निकायके दक्षिणेन्द्रका नाम पतंग और उत्तरदिशाका पतंगपति इन्द्र, इस तरह सोलह इन्द्र जानें । [४२-४३] (प्र० गा० सं० ६)

इस तरह भवनपतिके दसों निकायोंके मिलकर बीस इन्द्र तथा व्यन्तर और वाणव्यन्तरके आठ आठ निकायोंके मिलकर सोलह निकायोंके बत्तीस इन्द्र, ज्योतिषी निकायके दो इन्द्र और वैमानिक निकायके दस इन्द्र अर्थात् चारों निकायोंके कुल चौसठ इन्द्र हुए ।

ये इन्द्र अवश्य समकितवन्त होते हैं और परमकारुणिक जगत्जन्तुका कल्याण चाहनेवाले परमतारक तीर्थकर परमात्माओंके जन्मकल्याणकादि अवसरों पर की जाती उस उस प्रकारकी उचित भक्तिसेवामें सदा तत्पर होते हैं ।

—यहां वाणव्यन्तरनिकायका अधिकार समाप्त हुआ ।

१२६. रुचकोंकी स्थापना किस प्रकार है ? स्तनप्रभा पृथ्वीके दोनों लघुशुल्लक प्रतरांमें ऊर्ध्व और अधःस्थानवर्ती गोस्तनाकारमें विद्यमान अष्टरुचक-प्रदेशोंका स्वतंत्र संस्थान या परस्पर संस्थान किस तरह समझना ? क्या नीचे :: ऐसे चार रुचक स्थापित करके उसके ऊपर ही दूसरे ऊर्ध्ववर्ती चार रुचक स्थापित करें या दूसरी तरहसे ? यह विचारणीय है, अतः यहाँ स्पष्ट निर्णय लिया नहीं जा सकता ।

अवतरण—अब व्यन्तरेन्द्रोंके तथा (समान वक्तव्य होनेसे) चन्द्र-सूर्यके सामानिक देवों तथा आत्मरक्षक देवोंकी संख्याका निरूपण करते हैं—

सामाणियाण चउरो, सहस्स सोलस य आयरक्खाणं ।

पत्तेयं सन्वेसि, वंतरवइ-ससिरवीणं च ॥ ४४ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ ४४ ॥

विशेषार्थ—पहले भवनपति देवोंके सामानिक तथा आत्मरक्षक देवोंकी संख्या कही है उसी तरह व्यन्तरके इस निकायके बत्तीस इन्द्र तथा ज्योतिषी निकायके सूर्य और चन्द्र (ये दो ही इन्द्ररूप होनेसे) इस प्रकार चौतीस इन्द्र हुए। उसमें प्रत्येक इन्द्रके चार चार हजार सामानिक देव होते हैं और सामानिक देवोंसे चारगुने अर्थात् सोलह सोलह हजार आत्मरक्षक देव प्रत्येक इन्द्रके होते हैं और पूर्वोक्त कथनानुसार उनकी सेवामें वे देव निमग्न होते हैं । [४४]

॥ प्रत्येक व्यन्तरेन्द्राश्रयी^{१२७} सामानिक तथा आत्मरक्षक देवोंकी संख्याका यन्त्र ॥

निकाय नाम	उत्तरेन्द्र	सामानिक	आत्मरक्षक	दक्षिणेन्द्र	सामानिक	आत्मरक्षक
१. पिशाचनि०	काल	४०००	१६०००	महाकाल	४०००	१६०००
२. भूतनि०	स्वरूप	"	"	प्रतिरूप	"	"
३. यक्षनि०	पूर्णभद्र	"	"	मणिभद्र	"	"
४. राक्षसनि०	भीम	"	"	महाभीम	"	"
५. किन्नरनि०	किन्नर	"	"	किंपुरुष	"	"
६. किंपुरुषनि०	सत्पुरुष	"	"	महापुरुष	"	"
७. महोरगनि०	अतिकाय	"	"	महाकाय	"	"
८. गांधर्वनि०	गीतरति	चार हजार	सोलह ह.	गीतयश	चार हजार	सोलह ह.

॥ ज्योतिषी निकायके इन्द्राश्रयी सामानिक-आत्मरक्षक देवोंकी संख्याका यन्त्र ॥

ज्यो. नाम	सामानिक संख्या	आत्मरक्षक संख्या
१. सूर्येन्द्रको	चार हजार	सोलह हजार
२. चन्द्रेन्द्रको	चार हजार	सोलह हजार

॥ इति प्रस्तुत भवनद्वारे व्यन्तराधिकारः समाप्तः ॥

—०—

१२७. वाणव्यन्तरोकी सामानिकादि संख्या व्यन्तरेन्द्रोंके अनुसार समझे ।

॥ प्रासङ्गिक प्रकीर्णक-अधिकार ॥

[कल्पोपपन्न-देवोंके दस प्रकार और उनके स्वरूप]

अवतरण—ग्रन्थकार भवनपति तथा व्यन्तरनिकायाश्रयी देवोंके प्रकार, उनकी अवस्थाएँ तथा कल्पसम्बन्धित व्यवस्थाएँ जतानेकी इच्छासे, प्रस्तुत अधिकार चारों निकायोंमें होनेके कारण चारों निकायाश्रयी प्रकीर्णाधिकारका प्रारम्भ करते हुए प्रथम कल्पोपपन्न देवोंके कुल प्रकार कितने हैं ? ये बताते हैं—

इंद्र^१ सम^२ तायतीसा^३, परिस^४-तिया^५-रक्ख^६ लोगपाला य ।

अणिय^७ पइण्णा^८ अभिओगा^९, किन्डिसं^{१०} दस भवण वेमाणी ॥ ४५ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ ४५ ॥

विशेषार्थ—जैसे मनुष्यलोकमें राजा, जागीरदार, महामात्य, नगरसेठ, पुरोहित-राज्यगुरु, फौजदार, सभासद और चांडाल आदि अलग अलग प्रकारकी व्यवस्था और कर्तव्यों पूर्ण करनेवाले व्यक्ति होते हैं और उनके द्वारा राजा और प्रजाकी सारी व्यवस्था, संरक्षण और सर्व व्यवहार सुचारुरूपसे चलाया जाता है। उसी प्रकार देवलोकमें भी इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशक, तीन पर्षदांमें बैठने योग्य अधिकारी देव, आत्मरक्षक देव, लोकपाल देव, सेनाके देव, प्रकीर्ण, आभियोगिक और किल्बिषिक इस तरह दस प्रकारके देवोंसे भवनपति, वैमानिकादि चारों निकायोंके देवलोकका तन्त्र सुव्यवस्थित रूपसे चल रहा है। इनमें सभी देव नीचे बताये गये अपने अपने अधिकृत कर्तव्योंमें सदा परायण रहते हैं।

उन दसों प्रकारके देवोंकी संक्षिप्त व्याख्या और उनका कर्तव्य इस प्रकार हैं—

१. इन्द्र—जिस देवलोकका स्वामित्व स्वयं प्राप्त किया होता है और वहाके वर्तमान सर्व देव जिसे अपने स्वामीके रूपमें स्वीकार करते हैं वह 'इन्द्र' कहलाता है।

२. सामानिक—कान्ति-वैभव आदिमें इन्द्रके समान ऋद्धि जिन्हें प्राप्त हुई हो और जिनसे इन्द्र भी सलाह लेते हों वे 'सामानिक' कहलाते हैं। ये देव इन्द्रके समान रिद्धिवाले होते हैं, फिर भी ये इन्द्रोंको अपना स्वामी मानते हैं। ये देव भी अपने विमानोंमें रहते हैं।

३. त्रायस्त्रिंशक—(एक इन्द्रकी अपेक्षाके रूपमें) जिनकी तैतीसकी ही संख्या हो और जो इन्द्रके स्वामित्वके विमान, देव आदि सबकी चिन्ता करनेवाले होनेसे मन्त्रीके साथ शास्त्रिक-पौष्टिक कर्म और पुरोहित-राज्यगुरुका काम भी करनेवाले होते हैं। उनकी संख्या

तीस ही होनेसे वे 'त्रायस्त्रिंशक' कहलाते हैं। इन देवोंके भी स्वतन्त्र विमान होते हैं।

४. पार्षदा—पार्षदामें बिठाने योग्य इन्द्रके मित्रसमान देव 'पार्षद' कहलाते हैं।

यह पार्षदा अर्थात् सभा तीन प्रकारकी होती है। जघन्य, मध्यम और उत्तम, अथवा ब्राह्म, मध्यम और आभ्यन्तर। उनमें बैठनेवाले देव पार्षद कहलाते हैं। जिस तरह राजशासनमें भी वर्तमानमें लोकसभा, राजसभा और पार्लामेन्टकी व्यवस्था है उसी तरह।

५. आत्मरक्षक—जो इन्द्रोंका रक्षण करनेवाले हों अर्थात् इन्द्र स्वयं शक्तिसंपन्न होनेसे प्रायः निर्भय होते हैं, फिर भी ये आत्मरक्षक देव अपने आचारका पालन करनेके लिये हमेशा शस्त्र, बख्तर आदिसे सज्ज रहनेके साथ इन्द्रके पास हमेशा खड़े रहते हैं। जिन्हें देखते ही शत्रु त्रस्त होते हैं, उन्हें 'आत्मरक्षक' देव कहते हैं।

६. लोकपाल—इन्द्रमहाराजकी आज्ञाके अनुसार निश्चित विभागका रक्षण करनेवाले और चोरी, जारी आदि अपराध करनेवालोंको यथायोग्य दण्ड देनेवाले 'लोकपाल' कहलाते हैं। [जिसे मनुष्यलोकके 'सूबा'की उपमा दी जा सकती है]

७. अनीक—यह सैन्य, हाथी [गजानीक], घोड़ा [हयानीक], रथ [रथानीक], महिष—भैंसा [महिषानीक], पैदल [पदात्यनीक], गन्धर्व [गन्धर्वानीक], नाट्य [नाट्यानीक] इस तरह सात प्रकारकी सैन्यदल आवश्यकता होने पर वैक्रिय शक्तिद्वारा रूपोंको रचकर सैन्यका काम करनेवाले वे 'सैन्यके देव' कहलाते हैं।

यहाँ वैमानिकमें अर्थात् सौधर्मसे अच्युत देवलोकमें 'महिष'के स्थान पर 'वृषभ' समझना। इस हरएक सैन्यके अलग अलग अधिपति होनेसे सात अधिपति होते हैं। प्रथमके पांच सैन्य संग्राममें उपयोगी हैं और गन्धर्व तथा नाट्य ये दोनों उपभोगके साधन हैं।

८. प्रकीर्ण—मनुष्यलोकमें नागरिक लोगोंके समान, प्रजाके समान देव—'प्रकीर्ण' कहलाते हैं।

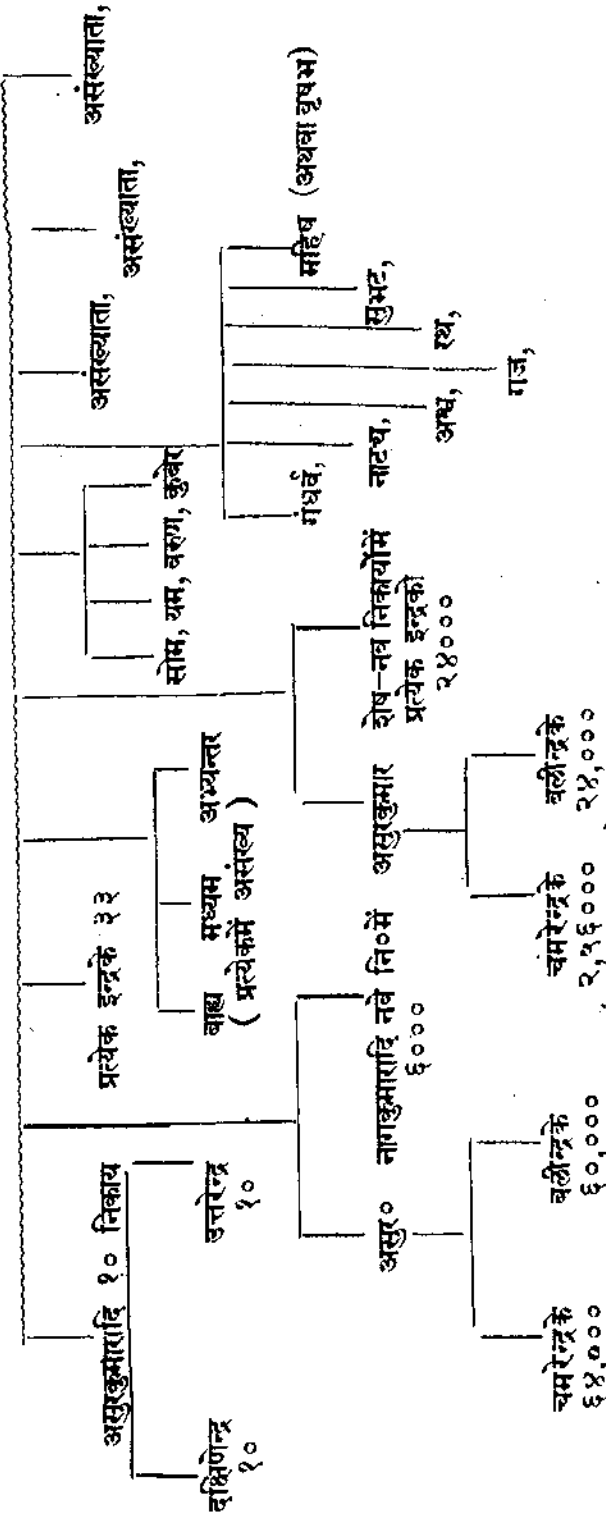
९. आभियोगिक—जो नौकर-चाकर आदिके योग्य काममें लगाये जाते हैं वे दासके समान 'आभियोगिक' देव हैं।

१०. किल्बिषिक—मनुष्यलोकके चाण्डालोंकी तरह अशुभ-निन्द्यकर्म करनेवाले 'किल्बिषिक' देव कहलाते हैं।

भवनपति और वैमानिकमें ये दस प्रकारके देव हैं, जब कि व्यन्तर तथा ज्योतिषीमें त्रायस्त्रिंशक और लोकपाल देवोंके अतिरिक्त आठ प्रकारके देव हैं, अर्थात् पहले बताये गये दस प्रकारमें समाविष्ट त्रायस्त्रिंशक और लोकपाल देव व्यन्तर और ज्योतिषीमें नहीं हैं। वहाँ वैसी व्यवस्थाकी अपेक्षा नहीं है। [४५]

॥ भवनपति [तथा प्रासङ्गिक चारों] निकायोंमें इन्द्र आदि दश प्रकारके देवोंका यन्त्र ॥

१. इन्द्र २. सामानिक ३- त्रायस्त्रिंशक ४. पार्षद्य ५. आत्सरश्चक ६. लोकपाल ७. अनीक ८. प्रकीर्ण ९. आभियोगिक १०. किल्बिषिक



सूचना:—व्यंतर और ज्योतिषी देवोंमें त्रायस्त्रिंशक और लोकपाल देवोंका विभाग नहीं है, ज्योतिषी देवोंको महिष (अथवा वृषभ)के अतिरिक्त छः प्रकारका सैन्य है, वैमानिक देवोंके (अनीक) विभागमें सातवों विभाग वृषभका है।

अवतरण—सैन्यसम्बन्धी सात प्रकारके देवोंके नाम कहते हैं ।

गन्धर्व-नट-हय-गज, रह-भड-अणियाणि सन्वहंदाणं ।

वेमाणियाण वसहा, महिसा य अहोनिवासीणं ॥ ४६ ॥

(प्र० गा० सं० ९)

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ ४६ ॥

विशेषार्थ—देवलोकके चारों निकायोंमेंसे तीन निकायोंमें सात प्रकारका कटक-सैन्य है और ज्योतिषीको छः प्रकारका कटक है, उनमें पहला प्रकार गन्धर्वका है ।

दूसरे प्रकारमें नृत्य करनेवाले देवोंका सैन्य, तीसरे प्रकारमें अश्वरूप सैन्य, चौथे प्रकारमें गजों (हाथियों)का सैन्य, पांचवां रथ सैन्य और छठा पैदल सैन्य; यह छः प्रकारका सैन्य तो मानो सामान्यतः सर्व इन्द्रोंके पास होता ही है । उनमें भी वैमानिक-निकायवर्ती इन्द्रोंके पास सात प्रकारका सैन्य होनेसे सातवां वृषभका सैन्य अधिक होता है और अधोलोकवासी भवन्पति तथा व्यन्तरेन्द्रोंका सातवां प्रकार महिष (भैंसों)के सैन्यका है । केवल ज्योतिषीके इन्द्रोंके पास छः प्रकारका सैन्य होता है ।

शंका—इन्द्र महाराजको सैन्यकी आवश्यकता ही क्या है ?

समाधान—जिस तरह राजाके समर्थ होने पर भी शत्रुके पराभवमें सैन्यकी सहायता आवश्यक है, उसी तरह इन्द्रमहाराजा भले ही समर्थ हों तथापि देवलोकमें देवांगना आदिके अपहरणके विषयमें होते हुए भयंकर युद्धोंके प्रसंग पर इस सैन्यकी आवश्यकता पड़ती है ।

शंका—देव किसी भी प्रकारका चाहे जैसा रूप लेनेमें समर्थ-शक्तिमान् होते हैं । फिर अमुक प्रकार रखनेका प्रयोजन क्या है ?

समाधान—एक राजाके राज्यमें गन्धर्व, नट, गज (हाथी), अश्वदि सभी होते हैं, परन्तु लड़ाईके प्रसंग पर तो राजाके जो अश्व, गजादि होते हैं वे ही उपयोगमें आते हैं । सेठ-साहूकारोंके या अन्योके छोड़े लड़ाईमें उपयोगी नहीं होते हैं, इसलिए सैन्यके लिए स्वतन्त्र देवोंकी अपेक्षा अवश्य होती है और वह इसलिए कि शीघ्र उपयोगी भी हो सकें । [४६] (प्र० गा० सं० ९)

अवतरण—प्रत्येक इन्द्रके त्रायस्त्रिंशक आदि देवोंकी कितनी संख्या होती है ? इसकी प्ररूपणा करते हैं—

तिच्चीस तायतीसा, परिसतिआ लोगपाल चत्तारि ।

अणियाणि सत्त सत्त य, अणियाहिव सन्वहंदाणं ॥ ४७ ॥

[प्र० गा० सं० १०]

नवरं वंतर-जोइस,—इंदाण न हुंति लोगपालाओ ।
तायत्तीसभिहाणा, तियसा वि य तेसि न हु हुंति ॥ ४८ ॥

[प्र० गा० सं० ११]

गाथार्थ—तैंतीस त्रायस्त्रिंशक देव, तीन-तीन पर्षदाएँ, चार-चार लोकपाल देव, सात प्रकारका सैन्य, सात सैन्योंके अधिपति—इतना परिवार सभी इन्द्रोंका होता है, परन्तु व्यन्तर तथा ज्योतिषीके इन्द्रोंके पास लोकपाल देव और त्रायस्त्रिंशक नामके देव नहीं होते हैं । ॥ ४७-४८ ॥

विशेषार्थ—पहले देवोंके प्रकारोंका वर्णन किया गया था, परन्तु संख्याकी वक्तव्यता नहीं कही थी, इसलिए अब संख्या बताते हैं ।

^{१२८}त्रायस्त्रिंशक नामके देव तैंतीस होते हैं, इन्द्रमहाराज प्रसंग-प्रसंग पर इन देवोंकी सलाह लेते हैं ।

हरएक देवलोकमें बाह्य, मध्यम और अभ्यन्तर इस तरह तीन-तीन पर्षदाएँ अर्थात् सभाएँ होती हैं । इन पर्षदाओंके नाम प्रत्येक निकायमें अलग-अलग होते हैं । जिस-जिस देवस्थानमें पर्षदा है, उस उस पर्षदामें प्रत्येक पर्षदाके देवों तथा देवियोंका आयुष्य अलग अलग होता है ।

प्रत्येक इन्द्रके आवासके चारों ओर चार लोकपाल होते हैं, इन लोकपालोंकी भी पर्षदाएँ होती हैं, उस प्रत्येक लोकपालके विमानोंके नीचे ही तिच्छीलोकमें अपने अपने नामकी उनकी नगरियाँ भी हैं । उनके विमानोंका प्रमाण पंक्तिबद्ध विमानोंसे आधा होता है । साथ ही सामानिक आदि देवोंका भी परिवार है । इन लोकपालोंके नाम अन्य निकायवर्त्ती अलग-अलग होते हैं । आयुष्य भी भिन्न भिन्न होते हैं वैसे ही पहले कहा था वैसे सात प्रकारका सैन्य हरएक इन्द्रके पास होता है ।

और प्रत्येक निकायके कटकके सात-सात सेनापति भी होते हैं, उनके निकायके अनुसार अलग-अलग नाम होते हैं ।

इस तरह ऊपर बताया गया परिवार सभी इन्द्रोंके पास सामान्यतः होता है ।

परन्तु इतना विशेष समझे कि ^{१२९}व्यन्तरेन्द्रों तथा ज्योतिषीके इन्द्रोंके पास लोकपाल

१२८. इन देवोंके स्वस्व स्थानाश्रयी वर्त्तित नाम तीनों कालोंमें शाश्वत (एक समान) होते हैं । पर्षदाका विस्तृतवर्णन श्रीजीवाभिगमादिसे जानें ।

१२९. तुलना करें—तत्त्वार्थचतुर्थाध्याये—

‘त्रायस्त्रिंशदलोकपालवर्जा व्यन्तरज्योतिष्काः’ ।

तथा त्रायस्त्रिंशक देव होते नहीं हैं । ॥ ४७-४८ ॥ (प्र० गा० सं० १०-११)

उपसंहार—

इति व्यन्तराणां सुराणां-सुरायु-नगर्यो वपुर्वस्त्रवर्णादिव्याख्या ।

अपि व्यन्तरेन्द्रात्मसंरक्षकाणां तथा सप्तसैन्याधिपानां च संख्या ॥ १ ॥

[इति संग्रहश्लोकः]

॥ इति प्रस्तुत-भवनद्वारे प्रकीर्णकाधिकारः समाप्तः ॥



॥ श्री शंखेश्वरपादर्वनाथाय नमः ॥

भवनपति तथा व्यन्तरनिकायाश्रयी लघुपरिशिष्ट

प्रथम भवनपतिनिकायाश्रयी, परिशिष्ट नं. १

१. भवनपतिके प्रत्येक इन्द्रकी किस-किस प्रकारकी शक्ति है ? तथा कौनसे निकायके देवोंका किस-किस द्वीप समुद्राश्रयी कहाँ कहाँ निवास है ? इसके लिए देखें—संग्रहणीकी 'जम्बुद्वीपं छत्त'—गाथाकी लघुटीका, बृहन्टीका तथा देवेन्द्रस्तव, लोकप्रकाश, जीवाभि-गमादि ग्रन्थ ।

२. भवनपति देवोंके भवन (आवास) पंक्तिबद्ध न समझे लेकिन विप्रकीर्ण अर्थात् अलग अलग समझे ।

३. भवनपतिदेवोंके चिह्नादिकका जो वर्णन किया है, उसके बारेमें कतिपय मतान्तर प्रवर्तमान हैं । देखिए, औपपातिक तथा प्रज्ञापनादि ग्रन्थ ।

४. नरकके जीवोंको तथाविध पीडा देनेवाले, पन्द्रह प्रकारके परमाधामी देवोंको भवनपति निकायान्तर्गत ही जानें ।

५. चमरेन्द्रादि इन्द्रोंकी बाह्य, मध्यम और अभ्यन्तर इस तरह तीन प्रकारकी पर्वदाएँ होती हैं, इनमें यदि किसी देवको अभ्यन्तर सभामें सन्देश पहुँचाना हो तो पहले वह बाह्यसभामें भेजा जाता है, वे उसे मध्यसभामें पहुँचाते हैं और मध्यसभावाले अभ्यन्तर पर्वदामें भेजें और वे उसकी योग्य व्यवस्था करें, साथ ही अभ्यन्तर सभामें पास किया हुआ कार्य मध्यसभाको कार्यान्वित करनेके लिये सौंपा जाय, मध्यसभावाले बाह्यसभावालेको (बाह्य सभासदोंको) सौंप दें और उस बाह्यसभाके देव आज्ञानुसार कार्यान्वित करें । इस तरह

हर एक देवलोकमें बताई गई पर्वदाका व्यवहार समझ लें। उनमें जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट आयुष्यवाले तथा तीनों प्रकारकी संख्यावाले देव होते हैं। और इस चमरेन्द्रादिकी राजधानीका वर्णन 'भगवती' आदि सूत्रमें तथा 'क्षेत्रलोकप्रकाश'मेंसे देख लें। यह चमरेन्द्र देव-देवियोंके परिवारसे समग्र जम्बूद्वीप तथा तिच्छा असंख्याता द्वीप समुद्रोंको भी भरनेको समर्थ है। अरे! यह सामर्थ्य तो उसके सामानिक तथा त्रायस्त्रिंशक देवोंमें भी रहता है। जाव य जम्बूद्वीवो जाव य चमरस्स चमरचंचाओ! असुरेहि असुरकन्नाहि अत्थि विसओ भरेओसे ॥ १ ॥ [देवेन्द्र० स्तव] कामक्रीडा विधिमें चतुर ऐसे ये इन्द्र लवण्य और सौन्दर्ययुक्त देवांगनाओंके साथ भोगसुखोंको भोगते हुए आनन्दमें विहरते हैं।



द्वितीय व्यन्तरनिकायाश्रयी, परिशिष्ट नं. २

१. इन व्यन्तरोकी भी असंख्याती विशाल नगरियाँ अढ़ाई द्वीपके बाहर विद्यमान हैं। जिनका विस्तृत वर्णन जीवाभिगमादि आगमग्रन्थोंसे जान लें।

२. व्यन्तरोके नगरोंकी चारों ओर बल्ल्याकारमें रक्षणके लिए गहरी खाई और सुन्दर प्राकार-परकोटा शोभायमान है, उसके कोठे पर तोपें आदि स्थापित हैं; मजबूत किश शत्रुओंसे दुष्प्रवेदय होता है। ये नगर जगमगाते, देदीप्यमान और महान् रत्नमय तोरणोंसे शोभायमान दरवाजोंसे युक्त हैं और दण्डधारी देवकिंकर नगरका रक्षण करनेमें दिन-रात सज्ज रहते हैं। साथ ही इन नगरोंमें पंचरंगी पुष्पोंकी महासुगन्धसे और अगरु तथा किंदरु-दशांगादि श्रेष्ठ धूपादिकी सुवासोंसे सुगन्ध ही सुगन्ध व्याप्त रहती है। ये देव अतिस्वरूपशाली स्वभावसे तथा दिखावेसे सौम्य, अंगोपांग आदि रत्नमय अलंकारोंसे विभूषित, गांधर्वोंके गीतोंमें प्रीतिवाले और कुतूहल देखनेकी प्रबल इच्छावाले होते हैं। इन देवोंको क्रीडा, हास्य, नृत्यादि पर अत्यन्त आसक्ति होनेसे ये अनवस्थितरूपसे जहाँ-तहाँ भटकते रहते हैं और कुतूहलके लिये शरीरप्रवेश आदि कार्यो द्वारा अन्य व्यक्तियोंको पीड़ा भी पहुँचाते हैं।

३. मनुष्यलोकमें भूत, पिशाच, राक्षसादि जो कहे जाते हैं, वे इन व्यन्तरनिकायके उस-उस निक्रयगत व्यन्तर ही होते हैं। ये देव विशेषतया जीर्णस्थानों (गृहमन्दिरादि)में निर्जन स्थान हो जानेसे निवास करके रहते हैं। अतः वे उस स्थानवर्त्ती निवास करनेवाले लोगोंको या अन्य लोगोंको पूर्वीय रागसे या द्वेषसे कई बार महाव्यथा उत्पन्न करते हैं। साथ ही इन लोकोंमें प्रायः क्रीडा और विनोदके लिये आते उन देवोंका विशेष समय क्रीडा, हास्यादिमें निर्गमन हो जानेसे वे अपने मूलस्थानोंको भी भूल जाते हैं, जिससे वे जहाँ-तहाँ जिस-किसी स्थानमें प्रवेश करके रहते हैं। ये देव विशेषतया स्वेच्छाचारी होते हैं।

४. प्रत्येक इन्द्रकी तीन प्रकारकी पर्षदाएँ होती हैं। तीनोंमें जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट आयुष्य संख्यावाली देव-देवियाँ होती हैं। यह पर्षदा-अग्रमहिषी लोकपालादि देवोंमें भी अपने-अपने प्रमाणाश्रयी यथायोग्य होती है।

५. अपनी इस पृथ्वीके नीचे एक अद्भुत जीवसृष्टि विद्यमान है। इस सृष्टिमें नरकगतिवर्ती नारकजीव तथा चार प्रकारके देवोंमें भवनपति और व्यन्तर इन दो प्रकारके देव और भवनपतिके उप-प्रकारके रूपमें परमाधामी भी नीचे ही रहते हैं।

आज जगतमें मन्त्रों और यन्त्रोंकी आराधना और उपासनाएँ चल रही हैं और उनमें सहायक स्वरूप जो जो देव-देवियाँ होती हैं, वे प्रायः इन दोनों निकायोंके होते हैं।

यक्ष-यक्षिणियाँ, घंटाकर्ण, माणिभद्र, क्षेत्रपाल, भैरव, सरस्वती, लक्ष्मी, चक्रेश्वरी, विद्यादेवियाँ आदि व्यन्तर निकायके ही हैं, सिर्फ पद्मावतीजी भवनपतिकी हैं।

—०—

तृतीय ज्योतिषी-निकायवर्णनम् ।

अवतरण—पहले भवनपति तथा व्यन्तरनिकायका यथायोग्य दिग्दर्शन कराया।

अब तीसरे ज्योतिषीनिकायके स्वरूपका वर्णन किया जाता है। इन ज्योतिषी देवोंका स्थान ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् इस प्रकार तीनों लोकके विभागसे विभाजित त्रासनाडीके तिर्यक्लोकमें है। यह तिर्यक्लोक ऊँचाइमें १८०० योजन प्रमाण गिना जाता है और उसकी गिनती समभूतलासे अधःस्थानमें ९०० योजन और उसी समभूतल भागसे ऊर्ध्वस्थानमें ९०० योजन इस तरह की जाती है। इसलिये ज्योतिषी देव तिच्छालोकवासी कहलाते हैं—

अब ये ज्योतिषी देव कहाँ और यहाँसे कितने योजन दूर हैं? यह दिखानेके लिए ग्रन्थकार महर्षि 'समभूतलाउ' इस गाथाकी रचना करते हैं।

समभूतलाउ अट्टहिं, दसृणजोयणसएहिं आरम्भ ।

उवरि दसुत्तरजोयण-सयंमि चिडुंति जोइसिया ॥ ४९ ॥

गाथार्थ—समभूतला पृथ्वीसे दस कम ऐसे आठसौ योजन (सातसौ नब्बे योजन)से आरंभ करके, ऊपर ऊर्ध्व आकाशमें एकसौ दस योजन तक ज्योतिषी देव रहते हैं। ॥ ४९ ॥

विशेषार्थ—ज्योतिषी अर्थात् 'अत्यन्तप्रकाशित्वाज्ज्योतिः शब्दाभिधेयानि विमानानि तेषु भवा ये देवास्ते ज्योतिष्काः ॥'

अत्यन्त प्रकाश करनेवाले होनेसे 'ज्योतिः' शब्दसे कहने योग्य विमान वह 'ज्योतिः' कहलाते हैं और उनमें बसनेवाले (देव) वे 'ज्योतिष्काः' कहलाते हैं ।

ये देव अत्यन्त प्रज्वलित तेजवाले, देदीप्यमान कान्तिवाले तथा दिग्मंडलको स्वप्रभासे उज्ज्वल तेजपूर्ण करनेवाले होते हैं । प्रथम उनका वर्णन किया गया है । वे मेरुके गोलाकार मध्यभागवर्ती, रत्नप्रभा पृथ्वीमें आई हुई समभूतला पृथ्वीसे लेकर सातसौ नब्बे योजन (७९०) तक उनका अस्तित्व नहीं है, उन सातसौ नब्बे योजनोंके छोड़नेके बाद तुरंत ही ज्योतिषी देवोंका स्थान आरम्भ होता है, इस आरंभसे लेकर ऊपरके एकसौ दस (११०) योजनोंमें (अर्थात् तिर्यक्लोकके अन्तभाग तक) पांच प्रकारके ज्योतिषी देव बसते हैं ।

७९०में ११० जोड़नेसे ९०० योजनप्रमाण तिर्यक्लोकका ऊर्ध्वभाग संपूर्ण आ जाता है । [४९]

अवतरण—ऊपरकी गाथामें ज्योतिषीदेवोंका वास ११० योजन क्षेत्रमें बताया । अब ५०वीं गाथासे सामान्यतः सूर्य-चन्द्रका स्थान बताकर जिन नक्षत्रोंकी गतिकी विशेषताएँ हैं उन्हें कहते हैं । और पश्चात् ५१वीं गाथामें पाँचों ज्योतिषीयोंका स्थान, उनका क्रम और परस्पर अन्तर कहते हैं ।

तत्थ ^{१३०}रवी दसजोयण, असीइ तदुवरि ससी य रिक्खेसु ।

अह भरणि-साइ उवरि, बहि मूलोऽभितरे अभिई ॥ ५० ॥

तार-रवि-चन्द्र-रिक्खा, बुह-सुक्का जीव-मंगल-सणिया ।

सगसयनउय दस-असिइ, चउ चउ कमसो तिया चउसु ॥ ५१ ॥

[प्र० गा० सं० १२]

गाथार्थ—समभूतला पृथ्वीसे (७९०) सातसौ नब्बे योजन दूर जानेके बाद दस योजनके अन्तर पर सूर्य है । वहाँसे अस्सी योजन दूर चन्द्र है और उसके बाद नक्षत्र हैं । उनमें सबसे नीचे भरणी और सबसे ऊपर स्वातिनक्षत्र है । सर्व बाह्य भागमें मूल और सर्व अभ्यन्तर भागमें अभिजित् नक्षत्र है ।

समभूतला पृथ्वीसे ७९० (सातसौ नब्बे) योजन पर तारे, उनके बाद दस योजनके अन्तर पर सूर्य, फिर अस्सी योजन जाने पर चन्द्र, वहाँसे चार योजन पर नक्षत्र मण्डल,

१३०. पचासवीं तथा इकावनवीं इन दोनों गाथाओंमें सूर्यादिका स्थान ग्रन्थकारने दो बार बताया है । दो बार बताया है इसलिए गाथाके कर्ता एक ही होंगे या दोमेंसे एक प्रक्षेप गाथा होगी ?

वहाँसे चार योजन पर बुध, उसके बाद तीन योजन पार करने पर गुरु, फिर तीन योजन पर मंगल और तदनन्तर तीन योजन पर शनिश्चर है । ॥ ५०-५१ ॥

विशेषार्थ—इक्कावनवीं प्रक्षिप्त गाथा द्वारा अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं कि रत्न-प्रभागत समभूतला पृथ्वीसे सातसौ नब्बे योजन पूर्ण होने पर तुरंत ही कोटानुकोटी ताराओंका मण्डल-प्रस्तर आता है, वहाँसे दस योजन दूर ऊँचा जाने पर (आठसौ योजन पूर्ण होने पर) वहाँ ^{१३१}सूर्येन्द्र आता है । वहाँसे आगे अस्सी योजन दूर जाने पर (८८० योजन पूर्ण होने पर) वहाँ चन्द्र आता है, साथ ही वहाँसे चार योजनकी ऊँचाई पर अट्ठावीस प्रकारका नक्षत्रगण आता है ।

इन नक्षत्रोंका जो परिभ्रमण क्रम है, उनमें भरणीनक्षत्र सर्व नक्षत्रोंसे अधःस्थानमें विचरता है, जब कि स्वातिनक्षत्र सर्व नक्षत्रोंसे ऊर्ध्वस्थानमें (ऊपर) चलता है । मूलनक्षत्र अन्य ११ नक्षत्रोंकी अपेक्षा सर्व नक्षत्रोंके दक्षिणमें बाह्य मण्डलमें चलता है और अभिजित् नामका नक्षत्र सर्व नक्षत्रोंसे अन्दरके भागमें उत्तरमें बाह्य मण्डलमें चलता है ।

इन नक्षत्रोंके स्थानसे चार योजन दूर ऊँचा जाने पर ग्रहोंकी संख्यामें मुख्य मुख्य माने जाते ग्रहोंमेंसे प्रथम बुधग्रहमंडल आता है, वहाँसे तीन योजन दूर ऊँचा शुक्रग्रहमण्डल है, वहाँसे तीन योजन दूर बृहस्पति-गुरुग्रहमण्डल है और वहाँसे पुनः तीन योजन ऊँचा ^{१३२}मंगलग्रहमण्डल है और वहाँसे तीन योजन ऊँचा ^{१३३}शनैश्चरग्रहमंडल आया है ।

१३१. इतर दर्शनकार प्रथम चन्द्र समझते हैं और फिर सूर्य मानते हैं, इतना ही नहीं लेकिन 'सूर्यनारायण' के रूपमें प्रायः बहुतेसे अनुष्ठानोंमें उन्हें पूजनीय स्वरूपमें विशेषतः मान्य करते हैं । प्रथम चन्द्र और फिर सूर्य, इस मान्यताके बारेमें आगे-'ज्योतिषी परिशिष्ट'में सोचेंगे ।

१३२. समभूतलापेक्षया मंगलग्रह-प्रमाणांगुलसे युक्त ऐसे ८८७ योजन अर्थात् चार कोसके योजनके मापसे ३५४८० योजन ऊँचा है, फिर भी उसके अनभ्यासी आजके पाश्चात्यवैज्ञानिक, उस मंगलस्थान पर पहुँचनेके बारेमें बातें करते हैं, इतना ही नहीं, लेकिन मंगलग्रह किस आकारका है ? कैसे रंगका है ? उस पर क्या क्या वस्तुएँ हैं ? अन्दर क्या क्या खर्या है यह सब हमने देखा ऐसा कहते हैं, साथ ही रोक्रेट नामके हवाई यान्त्रिक साधनद्वारा मनुष्योंको भेजनेके प्रयास वर्तमानकालमें हो रहे हैं, परंतु हजारों मील दूर पहुँचनेकी कोई संभावना-शक्यता तनिक भी दिखती नहीं है ।

१३३. व्यवहारमें बुध, शनैश्चरादि ग्रह होने पर भी जो शनैश्चरका तारा, इत्यादि 'तारा' शब्दसे संबोधित होता है इसका कारण ऐसा प्रतीत होता है कि—ताराग्रहण विमानोंमें आए हुए ग्रहविमानका आकार

इस सम्बन्धमें श्री हरिभद्रसूरिजी सबसे नीचे भरणी आदि नक्षत्र, तत्पश्चात् सबसे ऊँचे स्वाति आदि नक्षत्र जणाते हैं ।

श्री गंधहस्तीजी महाराज प्रथम मंगलग्रह सूर्यके नीचे होनेका बताते हैं । (५०-५१)
(प्र० गा० सं० १२)

ज्योतिषी निकायका स्थान, तथा ज्योतिश्चक्रकी ऊँचाई प्रमाणका यन्त्र ।

समभूतला पृथ्वीसे	७९० योजन ऊँचा-तारामंडल से १० योजन ऊँचा सूर्य
"	८०० योजन ऊँचे-सूर्य से ८० " " चन्द्र
"	८८० योजन ऊँचे-चन्द्र से ४ योजन ऊँचा नक्षत्रपरिमंडल
"	८८४ " " -नक्षत्रमंडल से ४ " " बुधग्रहादि
"	८८८ " " -बुधादिग्रहों से ३ " " शुक्रग्रहादि
"	८९१ " " -शुक्रादिग्रहों से ३ " " बृहस्पत्यादि
"	८९४ " " -बृहस्पत्यादिग्रहोंसे ३ योजन ऊँचा मंगलग्रहादि
"	८९७ " " मंगलादिग्रहोंसे ३ " " शनैश्चर
"	९०० " " -शनैश्चरादिग्रह —
"	आए हैं । कुल ११० योजन पूर्ण हुए ।

अवतरण—चरज्योतिषीके विमान, मनुष्यक्षेत्रमें जम्बूद्वीपके मेरुपर्वतसे कितने दूर रहे ? तथा स्थिर ज्योतिश्चक्र मनुष्यलोकके बाहर अलोकाकाशकी कितनी अबाधा पर स्थिर है ? इसका वर्णन करते हैं—

एकारसजोयणसय, इगवीसिकारसाहिया कमसो ।

मेरु अलोगा बाहं, जोइसचक्रं चरइ ठाइ ॥ ५२ ॥

गाथार्थ—ग्यारहसौ इक्कीस योजन तथा ग्यारहसौ ग्यारह योजन अनुक्रमसे मेरु तथा अलोककी अबाधा पर ज्योतिश्चक्र घूमता है और स्थिर रहता है । ॥ ५२ ॥

विशेषार्थ—पहले कह गये हैं कि अर्द्धद्वीपमें चरज्योतिषी हैं और तत्पश्चात्

तारा विमानाकार जैसा होनेसे और उस विमानकी तेजस्वी प्रभासे, दूरसे देखनेवालेको तारावत् आभास होता होनेसे वैसा कहनेकी प्रथा हो गयी हो तो वह सहज है । अधिक कहें तो सोम, मंगल आदि ग्रहोंके नामके आधारसे कहे जाते सोमवार, मंगलवार इत्यादि वार भी प्रसिद्ध हुए हैं ।

अढाईद्वीपके बाहर सर्वत्र स्थिरज्योतिषी हैं । उनमें अढाईद्वीपवर्ती चरज्योतिषी मेरुसे कितनी अबाधा वर्जन करके चलता है ? (अर्थात् अबाधा कितनी ?) इस प्रश्नके समाधानमें समझाते हैं कि-मेरुकी चारों ओर ग्यारहसौ इक्कीस (११२१) योजन क्षेत्रको छोड़कर (इतनी दूर) चरज्योतिषमण्डल मेरुपर्वतको प्रदक्षिणा करता हुआ घूमता है ।

अब अलोकसे अन्दर तिच्छालोकमें कितनी अबाधा पर सदाकाल स्थिर ऐसे ज्योतिष्क-विमान होते हैं ? तो लोकका छोर अथवा तो अलोकका प्रारम्भ अर्थात् लोकान्तसे अथवा तो अलोकके आरम्भसे अन्दरकी कोरसे चारों बाजू पर भ्रमण करते ग्यारहसौ ग्यारह योजन दूर (११११) स्थिर ज्योतिषी वर्तित हैं [५२]

अवतरण—ज्योतिषीदेवोंके विमानोंकी आकृति कैसी होती है ? ये विमान किससे बने होते हैं ? और कितनी संख्यामें होते हैं ? यह बताते हैं—

अद्भकविद्वागारा, फलिहमया रम्मजोइसविमाणा ।

वंतरनगरेहिंतो, संखिज्जगुणा इमे हुंति ॥ ५३ ॥

ताइं विमाणाइं पुण, सन्वाइं हुंति फालिहमयाइं ।

दग्गफालिहमया पुण, लवणे जे जोइसविमाणा ॥ ५४ ॥

[प्र० गा० सं० १३]

गाथार्थ—ज्योतिषीदेवोंके विमान अर्ध कोठेके आकारवाले, स्फटिकरत्नमय और बहुत सुन्दर होते हैं, साथ ही व्यन्तरदेवोंके नगरोंकी अपेक्षा इन ज्योतिषीदेवोंके विमान संख्याता गुने हैं, और इन ज्योतिषी देवोंके सारे विमान स्फटिकरत्नमय होते हैं ।

उनमें भी जो विमान लवण समुद्र पर विद्यमान हैं वे उदकस्फटिकमय अर्थात् पानीको भी फोड़कर-छेदकर प्रकाश दे सकें ऐसे-उदकस्फटिक रत्नके हैं ॥ ५३-५४ ॥

विशेषार्थ—ज्योतिषीदेव अर्द्धकपित्थाकारवाले विमानोंमें बसते हैं ।

शंका—ज्योतिषीदेवोंके विमान जब अर्ध कोठेके आकारवाले होते हैं, तो जब मस्तक पर (मध्याह्न) वे वर्तित हों तब उस कोठेके ऊपरका अर्ध भाग दिखाई न देनेसे नीचेका गोल भाग वर्तुलकार दिखता है, इस बातको तो मान लें लेकिन जब उदयास्तकालमें अथवा चन्द्र सूर्यका तिर्यक् परिभ्रमण हो तब वर्तुलकार न दिखता अर्द्धकपित्थाकार अवश्य उपलब्ध होना ही चाहिए, परंतु वैसा तो नहीं होता है तो उसका समाधान क्या है ?

समाधान—सचमुच ऊपरकी आशंका उचित है, परंतु ज्योतिषीयोंके प्रासाद जिस पीठ पर स्थित हैं, उस पीठका आकार अर्ध कोठेके समान है । लेकिन समग्र प्रासादका आकार अर्ध कोठे जैसा नहीं है और अतः उस पीठके लगभग सभी प्रासाद इस प्रकार

चट्टाई-उतराईमें स्थित हैं कि उस शिखरके भाग भी लगभग गोलाकार ^{१३४} बन जाते हैं अर्थात् (चित्र देखिए) और इसलिए दूर होनेके कारण उदयास्तसमय पर गोलाकार ही दिखता है ।

ये स्फटिकरत्नमय विमान अत्यन्त तेजस्वी, जगमगाते प्रकाशवाले, रमणीय, चक्षुओं तथा मनको अत्यन्त आह्लाद देनेवाले और पूर्व वर्णित व्यन्तरनगरोंकी संख्यासे संख्यागुने अधिक हैं ।

उन ज्योतिषीयोंके सर्व विमान स्फटिकरत्नमय होते हैं । और लवणसमुद्रमें विद्यमान ज्योतिषीयोंके विमान उदकस्फटिकमय कहल्यते हैं ।

प्रश्न—लवणसमुद्रमें कहनेका अथवा उदकस्फटिकमय कहनेका तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—जम्बूद्वीपके चारों ओर लवणसमुद्र है और उसकी चारों ओर धातकीखण्ड होनेसे लवणसमुद्रका जल इस भाग पर जम्बूद्वीपकी जगतीको और सामनेवाले भाग धातकीखण्डकी जगतीको अर्थात् दो द्वीपोंकी दोनों जगतीका स्पर्श करता है, उनमें जम्बूद्वीप द्वारा स्पर्शित जलवाला जो किनारा है वह अभ्यन्तर और धातकीखण्ड द्वारा स्पर्शित जो किनारा है वह बाह्य गिना जाता है । वहाँ जम्बूद्वीपकी जगतीसे स्पर्शित इस अभ्यन्तर किनारेसे ९५००० योजन समुद्रमें दूर जाने पर उस स्थानमें जगतीसे समुद्रकी भूमि अनुक्रमसे नीची नीची उतरती हुई १००० योजन गहरी हो जाती है । वैसे ही धातकीखण्डकी जगतीके ओरसे जम्बूद्वीपकी जगतीकी दिशाकी तरफ ९५००० योजन समुद्रमें आ जाने पर उस स्थानमें भी पूर्वकी तरह १००० योजन गहराई हो जाती है; यद्यपि जम्बूद्वीपकी तथा धातकीखण्डकी जगतीके पास स्पर्शित जल तो योजनके असंख्याता भागप्रमाण गहरा होता है, परंतु आगे बढ़ने पर गहराई बढ़ती जाती होनेसे मध्यके दस हजार योजनमें १००० योजन गहराई होती है । अतः लवणसमुद्रके दो लाख योजनके विस्तारमेंसे दोनों बाजूके ९५००० योजन कम करें तब अति मध्यभागमें १०००० योजन विस्तार शेष रहता है और उतने विस्तीर्ण-भागमें १००० योजनकी गहराई चारों बाजु पर समान रूपमें होती है । [चित्र देखिए]

अब दोनों बाजु पर जिस तरह ९५००० योजन भूमि उतार कहा है उसी तरह

१३४. इस विषयमें श्रीमान् जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण महाराजा विशेषणवर्तीमें शंका करके समाधान देते हैं कि:—

प्र०. ' अद्भकविट्ठागारा उदयत्थमणंमि किह न दीसंति ? ।

ससिसूराण विमाणा तिरिथक्खित्ते ठियाइं च ॥ १ ॥

उ० उन्नाणकद्धविट्ठागारं पीढं तदुवरिं च पासाओ ।

वड्डालेखेण तओ, समवट्टं दूरभावाओ ॥ २ ॥ '

दोनों बाजूकी जगतीसे (अभ्यन्तर तथा बाह्य किनारेसे) ९५००० योजन तक जलकी अनुक्रमसे समभूमिकी सतहसे चढ़ता हुआ जल ७०० योजन ऊँचा हो जाता है जिससे उस स्थान पर १००० योजन गहराई और ७०० योजन ऊपरकी जलवृद्धि होनेसे कुल १७०० योजन प्रमाण ऊँचा ^{१३५}जल समुद्रके तलवेकी अपेक्षासे होता है।

लवणसमुद्रमें मध्यके दस हजार योजनके विस्तारमें एक हजार योजनकी जो गहराई बताई उसी दस हजार योजनके विस्तारमें सामान्यतः जलकी सतह (सपाटी)से सोलह हजार (१६०००) योजन ऊँची जलशिखा खड़ी चुनी हुई दीवाल अथवा गढ़के आकारके समान बढ़ती है। इस तरह समुद्रके तलभागसे लेकर १७००० योजन ऊँचा जल हुआ। ऊपरसे लेकर १६००० योजन शिखा हुई, वह शिखा उक्त प्रकारसे नीचे और ऊपर दोनों स्थानों पर १०००० योजन चौड़ी होती है, इस शिखाका जल प्रतिदिन दो बार दो कोस ऊँचा चढ़ता है और भाटा (पानीका उतार)की तरह पुनः उतरता जाता है। ऐसा होनेका कारण लवणसमुद्रमें स्थित पातालकलशोंका वायु है।

पूर्व वर्णित ज्योतिषीदेवोंके विमान इस जलशिखामें विचरण करते हैं।

यहाँ शंका होगी कि विमान जब शिखामें विचरते हैं तो लवणसमुद्रकी शिखा समभूतलसे १६००० योजन ऊँची होती है और ज्योतिषी समभूतलसे ७९० योजनसे ९०० योजन तकमें होते हैं तो लवणसमुद्रगत शिखामें रहे हुए विमान शिखामें विचरणशील होनेसे उनका पानीमें किस तरह गमन होता होगा? इस शंकाके समाधानमें समझना चाहिए कि—लवणसमुद्रकी शिखामें विचरते विमान एक तो उदकस्फटिक रत्नोंके बने हैं, इस स्फटिकरत्नका स्वभाव पानीको काटनेका है जिससे वे उदकस्फटिकमय विमान शिखाके जलको काटते काटते, किसी भी व्याघातके बिना अस्खलित गतिसे जिस तरह अन्य स्फटिक-रत्नमय विमान गमन करते हैं, उसी तरह निर्विघ्नरूपसे शिखामें गति करते हैं।

तो क्या पानीके सदाकालिक स्पर्शसे स्फटिकरत्नको कुछ बाधा होती होगी सही? और उसमें पानी किसी समय भर जानेसे वह नुकसान भी करता होगा या नहीं? उसके स्पष्टीकरणमें उस रत्नके तेजको पानीसे किसी भी प्रकारकी हानि नहीं होती है साथ ही किसी भी समय उसमें ^{१३६}पानी भी नहीं भराता है। ये उदकस्फटिकमय विमान लवण-

१३५. जलका सहज स्वभाव तो सम-सतह (सपाटी)में रहनेका होता है, फिर भी जिसे जलका चढ़ाव कहते हैं वह कैसे उतर जाए? उस शंकाके समाधानमें समझना कि—प्राकृतिक रूपसे ही जल तथा-प्रकारके क्षेत्रस्वभावसे ही लवणसमुद्रमें क्रमशः चढ़ता रहता है।

१३६. इसमें दैवीशक्ति, तथाविध जगत्स्वभाव तथा स्फटिकरत्नादिककी विशिष्टताके योगमें कुछ भी सोचना शेष रहता नहीं है। वर्तमान युगका उदाहरण सेचें तो—पहले तथा दूसरे विषययुद्धमें Submarine

समुद्रमें ही हैं और वे ऊर्ध्वलेद्य (= प्रकाश) विशेषवाले हैं । [५३-५४]

(प्र० गा० सं० १३)

अवतरण—चन्द्र-सूर्य आदि ज्योतिषीयोंके विमानोंका प्रमाण कहते हैं—

जोयणिसद्विभागा, छप्पन्नऽडयाल गाउ-दु-इगद्धं ।

चन्दाइविमाणाया-मवित्थडा अद्रमुच्चत्तं ॥ ५५ ॥

गाथार्थ—एक योजनके छप्पन बटे इकसठवाँ भाग ($\frac{५६}{१००}$), एक योजनके अडतालीस बटे इकसठवाँ भाग ($\frac{५६}{१००}$), दो कोस, एक कोस और आधा कोस प्रमाण अनुक्रमसे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र तथा तारोंके विमानोंकी लम्बाई, चौड़ाई जानें और ऊँचाई उससे अर्धप्रमाण जानें । यह योजन प्रमाणांगुलका समझे । ॥ ५५ ॥

विशेषार्थ—अब उन ज्योतिषीयोंके विमानोंका आयाम-विष्कंभ और ऊँचाईके प्रमाणोंकी विशेषऋद्धिवन्ताके क्रमानुसार व्याख्या करनेसे एक योजनके इकसठ विभाग करें, उन इकसठ (६१) विभागोंमेंसे छप्पन (५६) भाग प्रमाण लम्बा चन्द्रका विमान है । वैसे ही एक योजनके अडतालीस बटे इकसठवाँ भाग प्रमाण लम्बा सूर्यका विमान है । ग्रहोंके विमान दो कोस लम्बे होते हैं । नक्षत्रोंके विमान एक कोस प्रमाण और पाँचवाँ तारोंके विमान अर्धकोस प्रमाण लम्बे होते हैं । चौड़ाई भी जितनी लम्बाई कही गई है, उतनी ही समझे, इससे ये विमान चारों ओरसे समान प्रमाणवाले होते हैं ।

उन विमानोंको ऊँचाईमें अपने-अपने आयाम तथा विष्कंभसे अर्ध प्रमाणवाले जानें । अर्थात् चन्द्रके विमान ऊँचाईमें एक योजनके २८ बटे ६१ ($\frac{३६}{१००}$), सूर्यके विमान ऊँचाईमें एक योजनके २४ बटे ६१ ($\frac{३६}{१००}$), ग्रहोंके विमान ऊँचाईमें एक कोस ऊँचे, नक्षत्रोंके विमान आधे कोस और तारोंके विमान १ बटे ४ ($\frac{१}{१००}$) कोस अर्थात् ०। (पाव) कोस ऊँचे होते हैं । यह तीनों प्रकारका प्रमाण मनुष्यक्षेत्रमें वर्तित चरज्योतिषीयोंका जानें ।

इतना विशेष समझे कि—अर्द्धद्वीपके बाहरके नक्षत्र भिन्न भिन्न आकारके तथा तपनीय (सुवर्ण) वर्णके हैं । [५५]

अवतरण—मनुष्य क्षेत्रका प्रमाण कहनेके साथ मनुष्यक्षेत्रमें ज्योतिषीयोंके विमान चर होते हैं यह बतानेके लिए मनुष्यक्षेत्रसे बाहर ज्योतिषीयोंके विमान स्थिर हैं वे तथा उनका प्रमाण कितना है ? इसका वर्णन करते हैं;—

(सबमरीन) नामसे परिचित युद्धटीमर समुद्रके अथाह जलमें डुबकी लगा-लगाकर तेजीसे सैकड़ों मील तय कर लेते थे । जलमें रहने पर भी उन स्टीमरोंके द्वारोंमें जलप्रवेश नहीं हो पाता । उनमें हवा, प्रकाश आदि सभी प्रकारकी अनुकूलता रहती है तो फिर इन शाश्वत विमानोंके लिये तो सोचना ही क्या ? जैसे वाटरप्रुफ वस्त्रों पर बरसातका असर नहीं होती ।

पणयाललकख जोयण, नरखेत्तं तत्थिमे सया भमिरा ।
नरखित्ताउ व्हिं पुण, अद्रूपमाणा ठिया निच्चं ॥ ५६ ॥

गाथार्थ—पैंतालीस लाख (४५०००००) योजन प्रमाण मनुष्यक्षेत्र है, उसमें इन ज्योतिषीयोंके विमान सदाकाल परिभ्रमण करनेवाले हैं और मनुष्यक्षेत्रके बाहर ज्योतिषीयोंके जो विमान हैं वे पूर्वोक्त लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाईकी अपेक्षासे अर्ध प्रमाणवाले तथा सदाकाल स्थिर हैं ॥ ५६ ॥

विशेषार्थ—गाथार्थमें पैंतालीस लाख योजनका मनुष्यक्षेत्र कहा गया, वह किस हिसाबसे है ? वह यहाँ बताया गया है ।

मालपुआके आकारमें विद्यमान एक लाख योजन प्रमाण जम्बूद्वीपके बाद दो लाख योजन विस्तारवाला लवण समुद्र है, तदनन्तर उससे दुगुना अर्थात् चार लाख योजन विस्तारवाला घातकीखण्ड आया है और तदनन्तर उससे दुगुना अर्थात् आठ (८) लाख योजन विस्तारवाला कालोदधिसमुद्र है; तदनन्तर उससे दुगुना अर्थात् सोलह (१६) लाख योजन विस्तारवाला पुष्करवरद्वीप आया है । हमें तो मनुष्यक्षेत्रका प्रमाण कहनेका होनेसे—मनुष्यक्षेत्र अर्ध पुष्करवरद्वीप तक है, जिससे आठ (८) लाख योजन प्रमाण अर्धपुष्करवरद्वीप पर्यन्त मनुष्यक्षेत्र कहा जाता है—अर्थात् जम्बूद्वीपसे एक तरफ कुल २२ लाख योजन अर्धपुष्करवरद्वीप तकके हुए, वैसे ही जम्बूद्वीपसे दूसरी बाजूके भी अर्धपुष्करवरद्वीप तक २२ लाख योजन हुए, दोनों बाजुका कुल मिलकर ४४ लाख योजन क्षेत्र हुआ, और एक लाख योजनप्रमाण क्षेत्र जम्बूद्वीपका, इस तरह सर्व मिलकर कुल ४५ लाख योजनका मनुष्यक्षेत्र है । इस मनुष्यक्षेत्रके चारों ओर अथवा पुष्करार्ध पूरा होते ही तुरन्त उसके चारों ओर मानुषोत्तर नामका पर्वत अर्ध यवाकारवाला अथवा सिंहनिषादी आकारवाला मानो मनुष्यक्षेत्रके रक्षणके लिए किलेके समान हो वैसे शोभायमान है ।

प्रसंगानुसार मानुषोत्तरपर्वतका यत्किंचित् स्वरूप यहाँ कहा जाता है ।

प्रश्न—मानुषोत्तर अर्थात् क्या ?

उत्तर—मानुषोत्तर अर्थात् जिसकी उत्तरमें मनुष्य हैं, इसीलिए वह मानुषोत्तर कहलाता है, अथवा जिस क्षेत्रके बाहर मनुष्योंका जन्म तथा मरण न हो उस क्षेत्रकी मर्यादा बाँधनेवाला जो पर्वत है, वह मानुषोत्तर कहलाता है । इस पर्वतकी चौड़ाई पूर्ण होनेके बाद अर्थात् उस पर्वतकी अन्तिम सीमासे लेकर प्रतिपक्षी दिशामें (परोक्ष दिशामें) तिच्छालोकके अन्तभाग तक मध्यके किसी भी स्थानमें मनुष्योंकी बस्ती नहीं है, अगर है

तो मात्र मानुषोत्तर पर्वतके अन्दरके क्षेत्रमें ही। जब बस्ती ही नहीं है तो फिर मनुष्यका जन्म-मरण तो कहाँसे संभव हो ? अस्तु।

शंका—भले ही बस्तीके अभावमें जन्म-मरण न हो, परन्तु यहाँसे कोई एक मनुष्य अढ़ाईद्वीपके बाहर किसी भी कारणवश गया हो और वहीं उसके आयुष्यकी समाप्तिका अवसर होनेका हो तो उतने अल्प समयमें मृत्यु होनेका प्रसंग क्या उपस्थित न होगा ?

समाधान—सामान्य मनुष्य तो यहाँसे वहाँ जानेका सामर्थ्य स्वयं रख नहीं सकता, परन्तु संभवतः यदि कोई देव, दानव तथाविध वैर-विरोधादिके कारण अपना वैर लेनेके लिए, उस मनुष्यको अपने स्थानसे उठाकर मनुष्यक्षेत्रके बाहर रख दे, क्योंकि वैसा करनेसे 'वह मनुष्य किसी भी प्रकारके सुखाश्रयोंके बिना सूर्यके प्रचण्ड तापसे अथवा विशेष ठण्डसे खड़े-खड़े ही शोषित होकर मृत्यु पाये अथवा अन्यविध प्राणघातक उपद्रव हों' इस प्रकारकी बुद्धिसे ¹³⁰मनुष्यक्षेत्रके बाहर वे ले जाए तथापि लोकानुभावसे और तथाविध क्षेत्रके प्रभावसे बाहर ले जानेवाले उस देवको अथवा अन्य किसी गमनागमन करते देव, दानव अथवा विद्याधरादिके दुःखसे पीड़ित इस मनुष्यको देखकर सद्बुद्धि जागे और आत्मामें दयाका प्रादुर्भाव होनेसे उसे पुनः मनुष्यक्षेत्रमें रख देता है।

पुनः शंका—आपका कहना ठीक है, परन्तु नन्दीश्वरादि द्वीपमें गए विद्याधर आदि नरक्षेत्रके बाहर अपनी पत्नियोंके साथ संभोग करते हैं तो क्या वहाँ मनुष्यका गर्भरूप जन्म नहीं होता ? साथ ही मनुष्यलोककी कोई भी स्त्री, कि जिसे तुरन्त प्रसूति होनेवाली है ऐसी स्त्रीको यदि कोई एक देव अपहरण करके नरक्षेत्रके बाहर रखे, ऐसा प्रसंग उपस्थित हो तो वहाँ क्या मनुष्यजन्म सम्भव नहीं हो सकता ?

समाधान—भले ही विद्याधर स्वभार्याओंके साथ संभोग व्यवहार करें, परन्तु गर्भ-धारणका संयोग तो क्षेत्रप्रभावसे प्राप्त ही नहीं होता। (अर्थात् गर्भ धारण ही नहीं होता)

अब स्त्रीकी प्रसूतिका प्रसंग प्रायः आये नहीं, तो भी कदाचित् जन्म होनेका अवसर समीप आ जाए तो, उसे लानेवाले देवका मन ही तथाविध क्षेत्रप्रभावसे विपर्यासभावको प्राप्त किए बिना रह सकता ही नहीं। कदाचित् वह निष्ठुर-हृदयवाला देव उस स्त्रीको नरक्षेत्रमें लाकर न रखे तो अन्य कोई भी देव या विद्याधर अचानक आ ही जाएँ और

१३७. अढ़ाईद्वीपमें मनुष्यक्षेत्र अमुक अमुक हैं उनमें भी अमुक समुद्र तथा वर्षधरादि पर्वत आदि स्थानोंमें जन्मका अभाव है। किसी विद्याधरादिके अपहरणसे अथवा स्वयं गया हुआ हो और वापस आ सकनेमें असमर्थ हो तो अढ़ाईद्वीपवर्ती उन उन क्षेत्रोंमें उनकी मृत्यु और जन्म पदाचित् संभवित हो सकते हैं।

उस गर्भवती स्त्रीको वहाँसे उठाकर मनुष्यक्षेत्रमें रख देता है । परन्तु मनुष्यक्षेत्रके बाहर किसीका जन्म तो कभी हुआ नहीं है, होता नहीं है और होगा भी नहीं ।

शंका—तो क्या मरण किसी तरह संभवित है ? अर्थात् अन्तर्मुहूर्तमें ही जिसका आयुष्य समाप्त होनेवाला है ऐसे किसी मनुष्यका कोई लब्धिधारी देव अपहरण करके उसे नक्षेत्रके बाहर रखे तो क्या मरण संभवित है या नहीं ?

समाधान—मरण किसी भी समय नहीं हो सकेगा । पूर्वके अनुसार अपहरण करनेवाले देवका चित्त अवश्य चलित हो जाता है और इसलिए उसका अथवा अन्य किसी देवादिकका सहयोग पाकर मनुष्यक्षेत्रमें तुरन्त ही आये और वहीं मृत्यु पाये, परन्तु इस अढाईद्वीपके बाहर किसी समय किसी भी मनुष्यका ^{१३८}जन्म या मरण^{१३९} हुआ नहीं, होता नहीं और होगा भी नहीं, ऐसा सर्वज्ञपरमात्माका त्रिकालाबाधित शासन कथन करता है ।

यद्यपि त्रिविधाधर, जंघाचरण तथा विद्याचारण मुनिवर और अन्य कोई लब्धिधारी उत्कृष्ट प्रकारके तपोनुष्ठानसे प्राप्त की हुई यथायोग्य लब्धिद्वारा नन्दीश्वरादि द्वीपमें परम पवित्र शाश्वती जिनप्रतिमाओंके दर्शनके लिए भक्तिसेवा करने जाते हैं । परन्तु उनके भी जन्म-मरण तो इस क्षेत्रमें ही होते हैं । ऐसे ऐसे अनेक कारणोंसे और उसकी उत्तरदिशामें ही मनुष्य बसनेसे उस पर्वतको मानुषोत्तर कहा जाता है । जिस तरह मनुष्यक्षेत्रके बाहर मनुष्योंके जन्म-मरण नहीं हैं उसी तरह मनुष्यक्षेत्रके बाहर आगे कहे जानेवाले पदार्थ-भाव भी होते नहीं हैं ।

जिस तरह अढाईद्वीपमें गंगा, सिंधु आदि महा नदियाँ शाश्वती ^{१४०}वर्तित हैं, वैसी

१३८-१३९. केवल महर्षिपुरुषोंके कथनानुसार एक ही अपेक्षासे—अर्थात् उपात और समुद्रघातके प्रसंग पर—मनुष्यक्षेत्रके बाहर भी जन्म या मरण सिद्ध होता है अर्थात् कोई आत्मा मरणसमय पर माणान्तिक-समुद्रघात करनेके लिए अपने बहुत आत्मप्रदेशोंको क्षेत्रके बाहर उत्पन्न होनेके स्थान पर फेंके, उस समय बहुत आत्मप्रदेश बाहर प्रक्षेपित हों तब वह समुद्रघात अवस्थामें मनुष्य-आयुष्य तथा मनुष्यगति भोगता है और इलिकागतिसे आत्मप्रदेशको वहाँ फेंकनेसे मनुष्यका मरण मनुष्य क्षेत्रके बाहर हुआ है ऐसा कहा जा सकता है । जैसे मनुष्यक्षेत्रके बाहर वर्तित कोई एक जीवकी अगर मृत्यु हुई और अब वक्रागतिसे उसे मनुष्यक्षेत्रमें मनुष्यरूपमें समुत्पन्न होना है, परन्तु वक्रागति एक समयसे अधिक समयवाली होनेसे मनुष्य क्षेत्रके बाहर दूसरे समय रहकर, फिर उसे जिस क्षेत्रमें उत्पन्न होना है वहाँ हो, ऐसा प्रसंग बने तब वक्रागतिमें परभवका आयुष्य (उत्पन्न होनेकी जो मनुष्यगति है उसका ही) गिनतीमें प्रयोजित होनेसे मनुष्यगतिका उद्भव अढाईद्वीपके बाहर स्वीकृत किया है ।

१४०. अशाश्वती नदियाँ होनेका निषेध संभवित नहीं, और अशाश्वता सुरोवर आदि जलाशय

शाश्वती नदियाँ, पद्मद्रह आदि शाश्वतद्रह, सरोवर, पुष्करावर्त्तादि ^{१४१}स्वाभाविक मेघ, मेघके अभावमें मेघकी स्वाभाविक गर्जनाएँ, बिजलियाँ, ^{१४२}बादरअग्नि, तीर्थकर, चक्रवर्त्ती, वासुदेव, बलदेव आदि उत्तमपुरुष तथा किसी भी मनुष्यका जन्म अथवा किसी भी मनुष्यका मरण और ^{१४३}समय-आवलि-मुहूर्त्त-दिवस-मास-अयन-वर्ष-युग-पत्योपम-सागरोपम-अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी आदि सर्व प्रकारका काल आदि पदार्थ अढाईद्वीपमें ही हैं, परन्तु अढाईद्वीपके बाहर होते नहीं हैं ।

तदुपरान्त अढाईद्वीपके बाहर भरतादि समान क्षेत्र, वर्षधर सदृश पर्वत, घर, गाँव, नगर, चतुर्विध संघ, खाँडियाँ, निधियाँ, चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषी दिमानोंका भ्रमण, ग्रहण नहीं हैं । जिससे चन्द्रसूर्यके परिवेष (मण्डल) भी नहीं हैं, इन्द्रधनुष, गांधर्व नगरादि [आकाशमें होते उत्पातसूचक चिह्न] नहीं हैं, परन्तु समुद्रमें द्वीप हैं और किसी-किसी द्वीप-समुद्रमें शाश्वता पर्वत भी हैं, परन्तु अल्प होनेसे यहाँ विवक्षा की नहीं है, और (अढाईद्वीपके बाहर) द्वीप बहुत होनेसे गाथामें द्वीपोंका अभाव कहा नहीं है । जिसके लिए लघुक्षेत्रसमासमें कहा है कि—

“ णड्-दह-घण-थणि-यागणि-जिणाइ, णरजम्म-मरणकालाई ।

पणयाललक्खजोयण-णरखिन्तं मुत्तु णो पु(प)रओ ॥ २५६ ॥ ”

इस तरह ऊपर कहे गए भावोंवाले ४५ लाख योजनके मनुष्यक्षेत्रमें विद्यमान चर-

सर्वथा न हों ऐसा भी नहीं; परन्तु शास्त्रमें जो नदी, सरोवर आदिका निषेध है, वे अढाईद्वीपमें जो व्यवस्था-पूर्वक शाश्वत नदियाँ, सरोवर आदि कहे हैं वैसे (वनवेदिका इत्यादि सहित) व्यवस्थापूर्वकके शाश्वत नदी, सरोवर न हों और अगर सर्वथा नदी, सरोवरादिका अभाव मानें तो द्वीपका स्वरूप ही अग्यबहुत होता है, इतना ही नहीं, परन्तु वहाँके निवासी पशु-पक्षी पानी कहां पीएँ ? और सर्वथा जलाशयोंके अभावमें द्वीन्द्रियादि विकलेन्द्रियों और सम्पूर्ण पंचेन्द्रियोंका भी अभाव होता है, इसलिए अंशाश्वत सरोवर, पानीके झरने और छोटी छोटी नदियाँ भी हों । तथा असंख्यातवें द्वीपमें उत्तरदिशामें असंख्य योजनका 'मानसरोवर' शाश्वत है, परन्तु वह अल्प (केवल एक ही) होनेसे अविवक्षित है ।

१४१. यहाँ 'स्वाभाविक' कहनेका कारण यह है कि अढाईद्वीपके बाहर असुरादि देवोंसे रचित (विकुर्वित) मेघगर्जना और बिजलियाँ तथा बरसात ये सब हो सकते हैं ।

१४२. 'बादर' कहनेका कारण यह है कि सूक्ष्म अग्नि तो चौदह राजलोकमें सर्वत्र व्याप्त होनेसे अढाईद्वीपके बाहर भी होती है ।

१४३. समय, आवलि आदि व्यावहारिक काल चन्द्र-सूर्यके भ्रमणसे है और वहाँ चन्द्र-सूर्यादि सब ज्योतिश्चक्र स्थिर हैं इसलिए व्यावहारिक काल नहीं है परन्तु वर्त्तनालक्ष्यवाला निश्चयकाल तो है ही ।

ज्योतिषी देवोंके विमान निरंतर जम्बूद्वीपके मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुए परिभ्रमण करते रहते हैं ।-

पहले अढाईद्वीपवर्ती चरज्योतिषीयोंके विमानोंका जो प्रमाण कहा है उससे सब प्रकारसे अर्ध अर्ध प्रमाणवाले स्थिरज्योतिषीका विमान समझें । वे इस तरह—

॥ मनुष्यक्षेत्रके बाहर स्थिरज्योतिषीके विमानोंका प्रमाण ॥

[लम्बाई-चौड़ाई]

[ऊँचाई]

१. चन्द्रविमान-एक योजनके अट्ठाइस बटे इकसठवें भागका	$\frac{1}{8}$ भाग
२. सूर्यविमान-एक योजनके चौबीस बटे इकसठवें भागका	$\frac{1}{2}$ भाग
३. ग्रहविमान-एक कोसका	०॥ कोस
४. नक्षत्रविमान-आधे कोसका	० [कोस
५. ताराविमान- $\frac{1}{8}$ (५०० धनुष) कोस लम्बा	$\frac{1}{8}$ कोस (२५० धनुष)

अवतरण—इस मनुष्यक्षेत्रमें स्थित चरज्योतिषी विमानोंकी गतिके सम्बन्धमें तरतमता और उन विमानोंको वहन करनेवाले देवोंकी संख्या तथा वहन करनेवाले देव कौनसा रूप धारण करते हैं उसका वर्णन करते हैं:—

ससि-रवि-ग्रह-नक्षत्रा, ताराओ हुंति जहुत्तरं सिग्धा ।

विवरीया उ महडिढआ, विमाणवहगा कमेषसिं ॥ ५७ ॥

सोलस-सोलस-अड-चउ, दो सुर सहससा पुरो य दाहिणओ ।

पच्छिम-उत्तर-सीहा, हत्थी-वसहा-हया कमसो ॥ ५८ ॥

गाथार्थ—चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र और तारे अनुक्रमसे एकके बाद एक शीघ्र गतिवाले होते हैं और ऋद्धिकी अपेक्षासे (अर्थात् महर्द्धिकपनेसे) विपरीत होते हैं अर्थात् एकके बाद एक अनुक्रमसे अल्प ऋद्धियुक्त होते हैं, उन पांचों ज्योतिषीदेवोंके विमानोंको वहन करनेवाले देवोंकी संख्या अनुक्रमसे सोलह हजार, सोलह हजार, आठ हजार, चार हजार और दो हजार देवोंकी होती है । और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तरदिशामें अनुक्रमसे सिंह, हाथी, वृषभ और अश्व (घोड़ा)के रूपको धारण करनेवाले देव होते हैं । ॥ ५७-५८ ॥

विशेषार्थ—सर्व ज्योतिषीयोंमें चन्द्र अति मन्द गतिवाला है, चन्द्रसे सूर्य त्वरित गतिवाला है, सूर्यसे ग्रह तेज गतिवाले हैं, (इस ग्रहमंडलमें परस्पर भी बुध नामका ग्रह शीघ्र गतिवाला, शुक्र उससे भी अधिक गतिवाला, इस तरह मंगल, बृहस्पति-गुरु, शनैश्चरदि ग्रह क्रमशः शीघ्र गतिवाले हैं) ग्रहसे नक्षत्र विशेष शीघ्र गतिवाले हैं, नक्षत्रसे तारों विशेष गति करनेवाले हैं :

अब महर्द्धिकपनका क्रम गतिसे विपरीत प्रकारका जानें अर्थात् जिसकी गति ज्यों ज्यों मन्द होती है त्यों त्यों उसमें महर्द्धिकपना विशेष होता है। गतिका क्रम चन्द्रसे लेकर आगे आगे बताया, वैसे ही यहाँ महर्द्धिकपनका क्रम पश्चानुपूर्वीसे लेनेका होनेसे तारेका गतिक्रम अति शीघ्र होनेसे तारे अल्पऋद्धिवाले हैं, उससे नक्षत्र अधिक ऋद्धिवान्, उससे ग्रह विशेष ऋद्धिवाले, उससे सूर्य अधिक ऋद्धिशाली है और उससे भी चन्द्र महाऋद्धिवान् है।

व्यवहारमें भी महान् पुरुष और राजामहाराजा और महालक्ष्मीवान् मन्द मन्द गमन करनेवाले, शुभविहायोगतिवाले प्रायः होते हैं, जब कि मध्यम और अल्पऋद्धिवाले प्रायः दौड़धूप करके चलनेवाले होते हैं।

विमानको वहन करनेवाले देव किस प्रकार होते हैं उनका क्रमशः वर्णन करते हैं।

चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषीदेवोंके विमान तथाविध जगत्स्वभावसे ही स्वयमेव निरालम्बरूपसे विचरते हैं, तथापि केवल आभियोगिक (दास) देव तथाविध नामकर्मके उदयसे स्वसमान-जातिमें अथवा तो अपनेसे हीनजातिके देवोंमें अपनी कीर्तिकला प्रकट करनेके लिए अत्यन्त प्रमोदरूपसे चन्द्रादिके विमानके नीचे सिंहादि रूपको धारण करके विमानोंका सतत वहन करते हैं।

ऐसा कार्य करने पर भी उन्हें तनिक भी दुःख नहीं होता है क्योंकि वे मनमें गौरव धारण करते हैं कि हम दासत्व करते हैं लेकिन किसका? सकल लोकप्रसिद्ध ऐसे चन्द्रसूर्य जैसे इन्द्रोंका, हम कुछ ऐसे-वैसेके सेवक नहीं हैं, इस तरह स्वजाति अथवा दूसरोंको स्वसमृद्धि दर्शनार्थे समस्त स्वोचितकार्य प्रमुदितरूपसे करते हैं। जिस तरह इस लोकमें भी कोई स्वोपार्जित कर्मोदयसे दासत्व अनुभव करता हो लेकिन यदि वह किसी समृद्धिवान्के यहाँ हो तो अपने दासत्वका शोक न करके उसके विपरीत खुशीसे गर्विष्ठ होकर सभी कार्य करता है, उसका कारण एक ही है कि मैं सेवक भले होऊँ लेकिन किसका? तो विख्यात नायकका हूँ, जिससे अन्य दासजनोंकी अपेक्षासे तो मैं विशेष सत्ताशाली हूँ। व्यवहारमें भी हम प्रसंगोपात बोलते हैं कि—‘भाई, नौकर भले ही सही लेकिन राजाके हैं।’

अब वहन करनेवाले वे देव किस रूपको धारण करनेवाले, कितने और किस दिशामें होते हैं? उनका वर्णन करते हैं।

चन्द्रके विमानको वहन करनेवाले सोलह हजार (१६०००) देव हैं। वे देव चतुर्दिशामें विभक्त होते हैं, अर्थात् हमारी कल्पनासे पूर्वदिशाके छोर पर ४००० देव

सिंहके रूपको धारण करते हैं । दक्षिणदिशामें बड़े शरीरवाले हाथियोंके रूपको धारण करनेवाले ४००० देव होते हैं । पश्चिमदिशामें वृषभका रूप धारण करनेवाले ४००० देव और उत्तरदिशामें अश्वका रूप धारण करनेवाले भी ४००० देव हैं ।

इस तरह सूर्य तथा ग्रहविमानोंके लिए भी समझें । केवल ग्रहके विमानोंके लिए चार हजार देवोंकी अपेक्षा दो दो हजार देव वहन करनेवाले होते हैं । नक्षत्रोंके विमानमें एक हजार देव और तारोंके विमानमें पांचसौ-पांचसौ (५००) देव प्रत्येक दिशामें, उपर्युक्त क्रमसे सिंहादिरूपको धारण करके विमानको वहन करने पर भी मत्तकामिनीकी तरह अर्थात् मदोन्मत्त बनी हुई स्त्री जिस तरह बहुत आभूषणोंको शरीर पर धारण करे तो भी भारको भाररूप नहीं मानकर लेकिन अधिक प्रमुदित होती है, उसी तरह ये देव विमानके भारको भाररूप न समझकर आनन्दसे वहन करते हैं । [५७-५८]

अवतरण—इन सर्व ज्योतिषी देवोंमें अतिसमृद्धिवान् चन्द्रमा है, अतः हम उसके परिवारका वर्णन करते हैं—

ग्रह अट्ठासी नक्षत्र, अडनीसं तारकोडिकोडीणं ।

छासट्टिसहस्रसनवसय, -पणसत्तरि एगससिसिन्नं ॥ ५९ ॥

गाथार्थ—अट्ठासी (८८) ग्रह, अट्ठाइस (२८) नक्षत्र और छियासठ हजार नौसौ पचहत्तर (६६,९,७५) कोडाकोडी तारे इतना एक चन्द्रमाका परिवार होता है । ॥ ५९ ॥

विशेषार्थ—मंगल, बुध इत्यादि १४४ ग्रह अठ्ठासी प्रकारके हैं । अभिजित् आदि नक्षत्र १४५ अठ्ठाईस हैं । और ताराओंकी संख्या छियासठ हजार नौसौ और पचहत्तर (इतने)

१४४. ग्रहोंके नाम—अंगारक-विकालक-लोहित्यक-शनैश्चर-आधुनिक-प्राधुनिक-कण-कणक-कणकर्णक-कणवितानक-कणसंतानक-सोम-सहित-अश्वसेन-कार्योपग-कर्बुरक-अजकरक-दुदुग्भक-शंख-शंखनाभ-शंखवर्णाभ-कंस-कंसनाभ-कंसवर्णाभ-नील-नीलावभास-रूपी-रूप्यावभास-भस्म-भस्मराशि-तिल-तिलपुष्पवर्ण-दक-दकवर्ण-काय-बंध्य-इन्द्राग्नि-धूमकेतु-हरि-पिंगलक-बुध-शुक्र-बृहस्पति-गह्व-अगस्तित-माणवक-कामस्पर्श-धुर-प्रमुख-विकट-विसंधिकल्प-प्रकल्प-जटाल-अरुण-अग्नि-काल-महाकाल-स्वस्तिक-सौवस्तिक-वर्धमान-प्रलंब-नित्यालोक-नित्येद्योत-स्वयंप्रभ-अवभास-श्रेयस्कर-क्षेमंकर-आभंकर-प्रभंकर-अरज-विरज-अशोक-वीतशोक-विमल-दितत-दिवस्त्र-विशाल-शाल-सुव्रत-अनिवृत्ति-एकजटी-द्विजटी-करकरिक-राजा-अर्गल-पुष्पकेतु तथा भावकेतु, इस प्रकार अठ्ठासी ग्रह हैं ।

१४५. अभिजित्-श्रवण-बनिष्ठा-शतभिषक्-पूर्वाभाद्रपदा-रेवती-उत्तराभाद्रपदा-अश्विनी-भरणी-कृत्तिका-रोहिणी-मृगशीर्ष-आर्द्रा-पुनर्वसु-पुष्य-आश्लेषा-मघा-पूर्वाफाल्गुनी-उत्तराफाल्गुनी-हस्त-चित्रा-स्वाति-दिशाखा-अनुराधा-ज्येष्ठा-मूल-पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा ।

कोडाकोडी अर्थात् छियासठ हजार कोडाकोडी, नौसौ पचहत्तर कोडाकोडी है। यह सर्व परिवार एक चन्द्रमाका है। चन्द्रमा अधिक ऋद्धिवान होनेसे उसका यह परिवार वर्णित किया गया है।

सूर्यका परिवार चन्द्रकी तरह अलग नहीं बताया गया अतः चन्द्रका जो परिवार है वही सूर्यका भी माना जाएगा। इस तरह चन्द्र सर्व प्रकारसे महर्द्धिक और विशेष ऋद्धिवान है, आकाशवर्ती नक्षत्रादि भी चन्द्रके परिवाररूप माने जाते हैं। सूर्य यह भी इन्द्र है अतः इन्द्र होनेके कारण, उसका दूसरा स्वतन्त्र परिवार होगा ऐसा न समझे, क्योंकि 'यह परिवार चन्द्रका ही है' ऐसे कथनका तात्पर्य यह है कि—नक्षत्रादि ज्योतिषियों पर स्वामित्वकी आज्ञा चन्द्रकी होती है। अन्यथा इन्द्र तो दोनों^{१४६} हैं। मात्र परिवारका स्वामित्व और महर्द्धिकत्वमें अन्तर है।

शंका—इतर ग्रन्थोंमें साथ ही ज्योतिषीगण प्रथम अश्विनीसे लेकर फिर भरणी इत्यादि क्रम मानते हैं और जैनागमोंमें अभिजित्से प्रारंभ करके नक्षत्रक्रम बताया जाता है, इसका कारण क्या है ?

समाधान—कारण एक ही है कि अवसर्पिणी युग आदि महान् कालभेदोंका परिवर्तन जब होता है तब उसके प्रारंभ समय पर अभिजित् नक्षत्रके योगमें ही चन्द्रका आगमन होता है।

पुनः शंका—जब अभिजित्से लेकर क्रम दिखाते हैं तो वह नक्षत्र व्यवहारमें प्रवर्तित क्यों नहीं है ?

समाधान—चन्द्रमाके साथ इस अभिजित् नक्षत्रका योग स्वल्पकाल रहकर चन्द्रमा तत्काल अन्य नक्षत्रमें प्रवेश करता है अतः स्वल्पकालीन होनेसे अव्यवहार्य^{१४७} माना है। ग्रहोंके नामों परसे अपने सात धारोंके नाम रखे गये हैं। जैसे कि सूर्यके रवि ग्रह परसे रविवार, चन्द्रके सोम ग्रह परसे सोम, मंगलग्रहसे मंगल, बुधग्रहसे बुधवार, गुरुसे गुरु, शुक्रसे शुक्र, शनि परसे शनिवार।

१४६. जैसे एक क्षेत्रके दो राजा हों, दोनोंको राज्यसुखका भुगतान हो, इससे राजा तो दोनों कहें जाएँ, परंतु प्रजा पर आन तो उसीकी होती है जो बड़ा और ऋद्धिवान-पुण्यशाली हो, वैसे।

१४७. इसके लिए 'श्री समवायांग-सूत्र' मुद्रित पत्र सत्ताइसवाँ देखें। [सूरत संस्करण]

॥ मनुष्यक्षेत्रवर्ती चरज्योतिषीयोकी संख्या तथा विमानोंके प्रमाण आदिका यन्त्र ॥

ज्यो०के नाम	आया० विष्कम्भ प्रमाण	ऊँचाई प्रमाण	वि० वा-हक सं०	गतिक्रम	ऋद्धिक्रम	जंबूद्वीप संख्या
१. चन्द्र विमान	१ यो०के ५६ बटे ६१ वाँ भाग	१ यो०के २८ बटे ६१ वाँ भाग	१६०००	मंद	अधिक	२
२. सूर्य विमान	१ यो०के ४८ बटे ६१ वाँ भाग	१ यो०के २४ बटे ६१ वाँ भाग	॥	अधिक	अल्प	२
३. ग्रह विमान	२ कोस	१ कोस	८०००	अधिक	अल्प	१७६
४. नक्षत्र ,,	१ कोस	०॥ कोस	४०००	॥	॥	५६
५. तारा ,,	०॥ कोस	०॥ कोस	२०००	॥	॥	१३३९५० कोडाकोडी

अवतरण—पहलेकी गाथामें कहे गए चन्द्रके परिवारके विषयमें सुनकर शिष्य प्रश्न करता है कि—मनुष्यक्षेत्र तो पैंतालीस लाख योजन प्रमाण है और ताराओंकी संख्या तो आप बहुत बताते हैं, उतने क्षेत्रमें उन ताराओंका समावेश किस प्रकार होगा ? शिष्यकी शंकाका समाधान करनेके लिए शास्त्रकार महाराजा गाथा कहते हैं—

कोडाकोडी सन्नं-तरंति मन्नंति खित्तथोवतया ।

केइ अन्ने उस्से-हंगुलमाणेण ताराणं ॥ ६० ॥

गाथार्थ—कोई आचार्य कोडाकोडीको संज्ञांतर-नामांतर कहते हैं, क्योंकि मनुष्यक्षेत्र कम है और कोई आचार्य ताराओंके विमानोंको उत्सेधांगुलसे मापनेको कहते हैं ॥ ६० ॥

विशेषार्थ—पूर्वकृत शंकाका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकार आचार्योंके अभिप्राय दिखाकर समन्वय करनेके लिए समाधान करते हैं—

१. कतिपय आचार्य भगवन्त ऐसा कहते हैं कि—वर्तमानमें तो एक करोड़को (१०००००००) करोड़से गुनने पर कोडाकोडी होता है, परन्तु करोड़की वर्तमान प्रसिद्ध संख्याको ग्रहण न करें, लेकिन जैसे व्यवहारमें बीसकी संख्याको भी कोड़ी कहा जाता है, वैसे यहाँ भी उसके जैसी अल्पसंख्याको कोड़ी गिने और उस प्रमाणसे ताराओंका कोडाकोडी संख्यापन ग्रहण करें, तो इस जम्बूद्वीपमें उतने तारे सुखसे समा सकते हैं । १४८

१४८. कोई आचार्य (जितभद्र गणि ४०) ताराओंकी संख्याको कोडाकोडी न मानते हुए कोड़ी ही मानते हैं और संशय दूर करते हैं । 'तत्त्वं केवलीगम्यम्' ।

२. साथ ही अन्य एक आचार्य ऐसा बताते हैं कि—कोडाकोडीकी प्रसिद्धि १४ शून्य- (Zero) वाली जो संख्या है वही लेना और ताराओंके विमानोंका प्रमाण 'नगपुढवीविमाणाइमिणसु पमाणंगुलेणं तु' इत्यादि पाठके अनुसार प्रमाणांगुलसे जो लिया जाता है, उस (प्रमाणांगुल)से न लेते हुए उत्सेधांगुलसे ग्रहण करें, जिससे जम्बूद्वीपका ७९०५६९४१५० योजन क्षेत्रफल है वह प्रमाणांगुलके हिसाबसे है और उत्सेधांगुलसे प्रमाणांगुल ^{१४}चारसौ गुना (अथवा हजार गुना) होनेसे जम्बूद्वीपका उपर्युक्त क्षेत्रफल (ताराओंके उत्सेधांगुल विमानोंसे) ४०० गुना अथवा हजारगुना करें तो उतने बड़े आकाशक्षेत्रमें प्रसिद्ध ऐसी कोडाकोडीकी संख्यावाले (६६९७५ कोडाकोडी) ताराओंके विमान सुखसे समा जाएँ, उसमें कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती । [६०]

अवतरण—चन्द्रके परिवारके वक्तव्यप्रसंग पर परिवारमें विद्यमान राहुग्रहके सम्बन्धमें अब वर्णन करते हैं—

किण्ढं राहुविमाणं, निञ्चं चंदेण होइ अविरहियं ।

चउरंगुलमप्पत्तं, हिट्ठा चंदस्स तं चरइ ॥ ६१ ॥

गाथार्थ—कृष्णवर्णके राहुका विमान निरंतर चन्द्रके साथ ही होता है इसलिए उससे दूर नहीं होता अर्थात् चार अंगुल अलग रहकर हमेशा चन्द्रके नीचे चलता है ॥ ६१ ॥

विशेषार्थ—गाथार्थवत् सुगम है, फिर भी प्रासंगिक कुछ कहा जाता है । चन्द्रमाके साथ राहुका संयोग होनेसे कैसी कैसी स्थितियाँ उत्पन्न होती हैं यह बताया जाता है ।

समग्र जम्बूद्वीपमें, दिवस और रात्रि ऐसा विभाग उत्पन्न करनेवाला, दो सूर्योंका प्रकाश है । और तिथियोंकी व्यवस्थाको उत्पन्न करनेवाला दो चन्द्रोंका प्रकाश है । उसमें सूर्यके बिंबकी हानि-वृद्धि हमेशा नहीं होती है, जिसका हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, क्योंकि उसे राहु जैसी सदा होनेवाली कोई बाधा नहीं है । यद्यपि लम्बे समयके बाद वह आयें यह अलग बात है, परन्तु चन्द्रके बिंबकी होती हुई हानि-वृद्धि तो हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं, जैसे कि (बीज) दूजके दिन सिर्फ धनुषकी डोरीके आकारवाला चन्द्रका बिंब होता है और उसके बाद क्रमसे बढ़ता हुआ सुदि पूर्णिमाको संपूर्ण चन्द्रबिंब दृष्टि-गोचर होता देखते हैं । यद्यपि मूलस्वरूपमें तो चन्द्रमा हमेशा अवस्थित स्वभाववाला ही है, उसमें कुछ भी घट-बढ़ होती ही नहीं, परन्तु अमुक आवरणके संयोगोंको पाकर ही उसमें हमेशा वास्तविक हानि-वृद्धि उत्पन्न होती ही रहती है । यह हानि-वृद्धि किस तरह और किससे होती है ? तथा कौन करता है ? और उससे किस तरहकी दिनमानादिकी

१४९. उत्सेधांगुलसे प्रमाणांगुल २॥ गुना, ४०० गुना और १००० गुना बढ़ा है । इसलिए खास ध्यान रखना चाहिये कि—जिस टिकाने पर जैसे प्रमाणके लिए जितना योग्य हो उतने गुना वहाँ वहाँ घटाना चाहिए ।

घटनाएँ उपस्थित होती है आदि प्रसंग पाकर ग्रन्थान्तरसे किञ्चित् उपलब्ध होता है ।

चन्द्रके बिंबकी शुक्लपक्षमें क्रमशः वृद्धि होना और कृष्णपक्षमें क्रमशः हानि होना उसका कारण राहुके विमानका आवरण और अनावरण मात्र ही है ।

ये राहु दो प्रकारके हैं—१. नित्यराहु और २. पर्वराहु ।

पर्वराहु—यह राहु किसी-किसी समय पर सहसा अपने विमानसे चन्द्र या सूर्यके विमानको ढँक देता है, अतः उस समय 'ग्रहण हुआ' ऐसा लोग कहते हैं । यह पर्वराहु जघन्यसे छ मास पर चन्द्रको तथा सूर्यको ग्रहण करता है । अर्थात् स्वविमानकी छायासे चन्द्र-सूर्यके विमानोंको आच्छादित कर देता है, और उत्कृष्टसे वही पर्वराहु चन्द्रको १५^० ब्यालीस मास पर और सूर्यको अडतालीस वर्ष पर आच्छादित करता है ।

नित्यराहु—इस राहुका विमान कृष्णवर्णका है । वह विमान तथाप्रकारसे स्वाभाविक-रूपमें ही चन्द्रमाके साथ ही अविरहित होता है । चन्द्रके विमानके नीचे निरन्तर चार अंगुल दूर रहकर चलते चन्द्रमाके बिंब (विमान)को अमुक अमुक प्रमाणमें धीरे धीरे क्रमशः प्रतिदिन ढँक देता है इससे कृष्णपक्षकी उत्पत्ति होती है और पुनः पहले जिस तरह चन्द्रमाके बिंबको प्रतिदिन जितने जितने प्रमाणमें ढँका उसी तरह उतने उतने ही भाग प्रमाण बिंबके आवरणवाले भागको क्रमशः छोड़ता जाता है, जिससे १५^१शुक्लपक्षकी उत्पत्ति मानी जाती है ।

उक्त गतिसे सदाकाल चन्द्रविमानका और राहुविमानका परिभ्रमण इन अढाईद्वीपवर्ती क्षेत्रोंमें हुआ करता है, और इसी कारणसे चन्द्रमाके विमान सम्बन्धित तेज द्वारा हानि-वृद्धिःवका वास्तविक आभास होता है । चान्द्रमास आदिका प्रभव भी इसीसे हुआ है ।

हानिवृद्धिकारण—चन्द्रमाके विमानके बासठ भागकी कल्पना करें और उन बासठ भागोंको पन्द्रह तिथियोंके साथ विभाजित करनेसे प्रत्येक तिथिको चार चार भाग मिलेंगे (बाकी जो दो भाग बचे, वे राहुसे आच्छादित होते ही नहीं हैं, जिससे उन्हें पन्द्रह तिथियोंके भागोंकी गिनतीसे बाहर ही समझें) ये चार चार भागप्रमाण चन्द्रमाका विमान हमेशा नित्यराहुके विमानसे आच्छादित होता जाता है अतः १५ दिन पर (१५ × ४ = ६०)

१५०. ससिमूराणं गहणं सङ्घटितवारिसाडयालवरिसेहि ।

उकोसओ कमेणं, जहन्नओ मासलकेणं ॥ ९ ॥ [मंडल प्रकरण]

१५१. उक्तं च—'राहुविअ पहादिअहं, ससिणो इक्किअ भाग मुज्झइ । आइअ चन्दो बीआइ, दिणेसु पयडो हवइ तम्हा ॥ १ ॥ वावट्ठिं वावट्ठिं, दिक्से उ मुक्कपक्खस्स । जं परिइइइ चन्दो खवेइ तं चेव कालेण ॥ २ ॥'

६० भाग आच्छादित होते हैं और शेष रहे दो भाग जितने चन्द्रविमानको राहुका विमान कभी आच्छादित ही नहीं कर सकता और इसीलिए वह भाग चन्द्रमाकी सोलहवीं कलके नामसे प्रसिद्ध है। अतः कहा है कि—“षोडशोऽशः कल चिह्नम्” अथवा दूसरी रीतिसे राहुके विमानके पन्द्रह भागकी कल्पना करें अर्थात् राहु अपने एक एक ^{१५२}भागसे निरंतर चन्द्रविमानको आच्छादित करे तो पन्द्रह दिवसमें, विमानके पन्द्रह भागसे जो पन्द्रह तिथियाँ आच्छादित होती हैं वह इस तरह हैं—

कृष्णपक्षव्यवस्था—चन्द्रमाके विमानके पूर्वकल्पित (अनावरणीय) ऐसे दो भागोंकी छोड़कर साठ भागोंमेंसे चार चार भागोंको (अथवा तो ^{१५}भागोंको) राहुके विमान अपने पूर्वकल्पित १५ भागोंके एक एक भागसे (^{१५}भागसे) कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको राहु आच्छादित करते हैं। दूजके दिन वही राहु अपने दो भागोंसे (^{१५}) चन्द्र विमानके आठ भागको (^{१५}भागको) आच्छादित करता है। इस तरह प्रत्येक दिन क्रमशः चन्द्रमाके विमानके चार चार भागोंको राहु अपने विमानके एक एक भागसे ढँकता जाता है। ऐसा करते करते अमावसके दिन चन्द्रमाके समग्र विंबको (विमानके ६० भागोंको) राहु अपने पन्द्रह भागोंसे आच्छादित करता है तब जगतमें सर्वत्र अन्धकार छा जाता है।

अमावसके दिन चन्द्रमाका (६० भागका) सकल विंब राहुने अपने विमानके पन्द्रह भागों द्वारा ढँक दिया, जिससे जगतमें अन्धकार फैल गया; शेष बचे दो भाग तो अनावृत्त ही होनेसे इन भागोंकी तिथियोंकी गिनतीमें गिनना नहीं है। इस तरह कृष्णपक्ष पूर्ण हुआ।

शुक्लपक्षव्यवस्था—अब इन ढँके हुए ६० भागोंमेंसे शुक्लपक्षकी प्रतिपदाके दिन राहुका विमान (चर स्वभावसे) पीछे खिसकता (हटता) जाए तो वह कितना खिसके (हटे)? तो पूर्ववत् एक दिनमें चार भाग जितना खिसककर चन्द्रमाके ^{१५}भागको राहु अपने ^{१५}भागसे प्रकट करे—इस तरह सुदि दूजके दिन दूसरे चार भागको प्रकट करे (अर्थात् ६२ भाग आश्रयीमेंसे तो दूजके दिन १० भाग जितना विंब प्रकट हो) जिसे हम भाषा-व्यवहारमें ‘(दूज उगी—) दूज निकली’ कहते हैं, और जिसके आधार पर मास, वर्ष आदिके शुभाशुभफलादिकी गिनती होती है। और दूजका चन्द्र क्रमशः वृद्धि पाता होनेसे, उसका दर्शन सर्व प्रकारसे वृद्धिकारक माना जाता है। इस तरह कृष्णपक्षमें प्रतिदिन चन्द्रमाके चार चार भागको राहु जिस तरह जितने-जितने भागोंको आवृत्त करता गया था, शुक्लपक्षमें वैसे ही, उतने भागोंको प्रतिदिन प्रकट करता जाता है। जिससे

१५२. एकम (प्रतिपदा), दूज, तीज इत्यादि तिथियोंका लोकव्यवहार चलता है, वह भी एक भागसे ढँक जाएँ तब प्रतिपदा, दो भागसे ढँक जाएँ तब दूज, इस तरह राहुके चौदह भागोंसे चन्द्र ढँक जाएँ तब चतुर्दशी इस आशयसे ही है।

प्रतिदिन चन्द्रमाका बिम्ब विशेष रूपमें खुला होता जाता है और तेजमें भी क्रमशः वृद्धि होती है। इस तरह राहुका आवरण खिसकता खिसकता सुदि ^{१५३} पूर्णिमाको चन्द्रमाके सकल बिम्बसे दूर हो जानेके कारण उसके ६२ भागरूप संपूर्ण बिम्बको प्रत्यक्ष देखकर हम आनन्दकी किसी अनुपम ऊर्मियोंका अनुभव करते हैं।

(चन्द्रमाका यह चार भाग प्रमाणअंश राहु जितने कालके लिए आवरित (आच्छादित) करे और वह जितना समय लोकमें प्रकट रूपमें रहे उतने समयको एक तिथि कहते हैं, राहु जिन चार चार भागोंको आवरित (आच्छादित) करता जाए वे सब तिथियाँ अनुक्रमसे कृष्णपक्षकी समझें और वही राहु पुनः आच्छादित भागोंमेंसे चार चार भागोंको नित्य प्रकट करता जाए तब वे प्रतिपदा आदि तिथियाँ शुक्लपक्षकी समझें।)

अथवा चन्द्रविमानके ^{१५४} सोलह भाग करें और उनमें प्रतिदिवस राहु एक एक भागको आच्छादित करता जाए तब एक एक भागको आच्छादित करे वह एक तिथि, इस तरह पन्द्रह भाग आच्छादित हो जाएँ तब अमावसका दिन आ जाए। सोलहवाँ भाग तो जगत् स्वभावसे आच्छादित होता ही नहीं है। अब वैसे शुक्लपक्षमें फिरसे एक एक भाग छूटता जाए ऐसा भी कहा है, अथवा तो जितने कालमें चन्द्रमाका सोलहवाँ भाग कम हो अथवा जितने कालमें उसकी वृद्धि हो, उस काल प्रमाणको एक तिथिप्रमाण कहा जाए। ऐसी तीस तिथियोंका एक चान्द्रमास होता है। इति तिथिप्रभवः।

शंका—अमावसके दिन राहु चन्द्रविमानको आच्छादित करता है इसलिए पृथ्वीके ऊपर सर्वत्र अन्धकार छा जाता है ऐसा पहले कहा गया, परन्तु राहुसे चन्द्रका विमान लगभग दुगुना होनेसे अवशिष्ट विमानभागका तेज तो किसी भी विभागमें अवश्य प्रकट होना ही चाहिए ?

१५३. 'सयलो वि ससी दिसइ राहुविमुक्तो अ पुण्णिमादिअहे ।

सूरत्यमगे उदओ, पुव्वे पुव्विल्लजुत्तीए' ॥ १ ॥ [मंडल प्रकरण]

कोई शंका करे कि चार चार भाग खुला करनेके हिसाबसे आठ भाग प्रकट हों तब तो सुदि दूज कहलाए यह सच है, परन्तु अनेक बार जब प्रतिपदाके दिन ही दूजका उदय होता है तो इसके बारेमें क्या ? साथ ही दूसरी तिथियोंकी होती घट-बढ़ तथा तिथिमान अमुक घड़ी तकके होते हैं, तो फिर चार चार भाग प्रमाणका नित्यावर्ण क्रम आदि कथन किस प्रकार संगत हो ? तो इसके समाधानके लिए जिज्ञासुओंको 'काललोकप्रकाश' आदि ग्रन्थ देखने चाहिए। यहाँ तो इतना विषय भी प्रासंगिक अभ्यासकोंके लिये उपयोगी होनेके कारण ही वर्णित किया गया है।

१५४. देखिए—'सोलसभागो काऊण, उडुवई हायएत्थ पन्नरसं ।

तत्तियमित्ते भागे, पुणोवि परिवडुट्टए जोष्हा ॥ १ ॥'

समाधान—राहुका विमान आधा योजन प्रमाण है और चन्द्रविमान $\frac{4}{5}$ योजन प्रमाण (लगभग दुगुना) है । अब राहुका विमान चन्द्रमाके नीचे जितने भागमें रहा हो उतने भागके नीचे अन्धकार छा जाता है इसके बारेमें किसीका भी विरोध नहीं हो सकता, परंतु अवशिष्ट रहे चन्द्रविमानका प्रकाश क्यों किसी भी दूसरे क्षेत्रमें अनुभूत नहीं होता ? इस प्रश्नके उत्तरमें यह समझना चाहिए कि, राहुका विमान चन्द्रविमानको संपूर्णतया आच्छादित तो नहीं कर सकता परन्तु 'जैसे दावानलसे उठे हुए धुएँके समूहसे महान् विस्तारवाला ऐसा आकाशमण्डल भी जिस तरह अन्धकारसे व्याप्त हो जाता है उसी तरह राहुविमान श्याम होनेसे अत्यन्त श्यामवर्णके ^{१५५}विस्तृत कान्तिसमूहसे महत् प्रमाणयुक्त ऐसा शशिमण्डल भी समग्र रूपमें आच्छादित हो जाता है, जिससे यहाँ सर्वत्र श्यामकान्ति दिखती है ।' ऐसा कतिपय प्राज्ञ पुरुष समाधान देते हैं ।

दूसरे विबुधजन (विद्वान् , चतुर) ऐसा समाधान करते हैं कि ग्रहके विमानका गव्यूत (आधा योजन) प्रमाण वह प्रायिक है । और प्रायः शब्द किसी निश्चित अर्थका दर्शक नहीं है जिससे गव्यूत प्रमाणसे भी राहुग्रहका विशेष प्रमाण लें अर्थात् १ योजन लम्बा-चौड़ा और बत्तीस भाग जितना मोटा लें तो किसी भी प्रकारकी प्रायः शब्दकी अपेक्षासे कठिनाई उपस्थित नहीं होती है । उक्त प्रमाण राहुके विमानका लेनेसे शशिमण्डलसे भी उसका प्रमाण बढ़ जानेसे शशिमण्डलको, स्वविमानसे सुखपूर्वक आच्छादित करे, उसमें किसी भी प्रकारका विरोध संभवित नहीं है । जिनभद्रगणी महाराज संहिताकी गाथामें राहुके विमानका प्रमाण देते हुए एक योजन आयाम-विष्कम्भ और उससे त्रिगुण परिधि और २५० धनुषकी मोटाई बताते हैं ।

॥ ग्रहणसम्बन्धी किञ्चित् स्वरूप ॥

ग्रहणकी उत्पत्ति पर्वराहुके ही संयोग पर आधार रखती है ।

चन्द्रग्रहण—पर्वराहु अपनी गतिमें चलता चलता चन्द्रमाकी कान्तिको आच्छादित करता यथोक्तकालमें चन्द्रके नीचे जब संपूर्ण आ जाए तब चन्द्रको वह यथायोग्य ढँकता है; तब लोकमें ग्रहण हुआ ऐसा कहा जाता है ।

सूर्यग्रहण—पूर्वोक्त रीतिसे पर्वराहु जब सूर्यकी लेश्याको यथोक्तकालमें आच्छादित करता है तब सूर्यका उपराग होनेसे सूर्यग्रहण होता है । यह सूर्यग्रहण जचन्यसे छः मास पर और उत्कृष्टसे अड़तालीस वर्ष पर होता है, ऐसा जैनशास्त्र कहता है ।

१५५. श्री भगवतीसूत्रके टीकाकार ग्रहके विमानका गव्यूत प्रमाण भी प्रायिक बतलाते हैं । और बारहवें शतकके पाँचवें उद्देशामें राहुका विमान चन्द्रविमानसे लघु है ऐसा सूचित करते हैं, इस सूत्रसे विमानसे नहीं लेकिन उस विमानकी विस्तृत श्यामप्रभाते ही आच्छादन जगाते हैं । सत्य सर्वज्ञगम्य ।

चन्द्रग्रहण पूर्णिमाके दिन होता है इससे और सूर्यग्रहणको अमावसको होनेसे पर्वराहुसे होते आच्छादनमें किसी भी प्रकारका विरोध दिखता नहीं है। जब कि ग्रहणसंयोग अमुक प्रमाणमें अमुक रीतिसे होता है तब उसे 'खप्रास' [खण्ड-ग्रह] आदि नाम दिये जाते हैं।

शंका—जम्बूद्वीपमें जब ग्रहण होता है तब एक साथ दोनों सूर्योका होता है या नहीं ? अगर होता हो तो समग्र क्षेत्रोंके चन्द्रादिका ग्रहण भी एक साथ हो सके या नहीं ?

समाधान—जब हमारे यहाँ ग्रहण होता है तब जम्बूद्वीपमें तो क्या लेकिन समग्र मनुष्यक्षेत्रोंमें स्थित १३२ चन्द्रोंका और १३२ सूर्योका भी ग्रहण एक साथ ही होता है क्योंकि १५^६ मनुष्यक्षेत्रमें अमुक नक्षत्रका योग आता है तब ग्रहण होता है। अतः सकल चलित चन्द्र-सूर्योका एक ही नक्षत्रके साथका योग सर्व स्थानोंमें समश्रेणीमें व्यवस्थित होनेसे चर-ज्योतिषियोंका चर क्रम व्यवस्थित रीतिसे ही आता है, अतः सबका ग्रहण भी एक साथ ही होता है। यह ग्रहण किसी भी क्षेत्रमें हो सकता है। इस ग्रहणकी शुभाशुभ स्थिति पर लोकोंमें भी सुखासुख आदि कैसा होगा ? इस सम्बन्धमें भविष्यका बहुत आधार रहता है।

शंका—युगलिकक्षेत्रमें ग्रहण होता हो और वहाँ अशुभ ग्रहण हो तब शुभभाववाले क्षेत्रोंमें भी क्या अशुभपन प्राप्त होता है ?

समाधान—यद्यपि उन क्षेत्रोंमें चन्द्रादिकी गति होनेसे ग्रहण होना संभव तो है, परन्तु उनके महान् पुण्यसे तथाप्रकारके क्षेत्रप्रभावसे अथवा कभी कभी ग्रहणदर्शनके अभावसे उन्हें किसी भी उपद्रवका कारण नहीं होता है। इस तरह 'श्री जीवाभिगमसूत्र' में स्पष्ट किया है। [६१]

अवतरण—जम्बूद्वीपमें एक तारेसे दूसरे तारेका अन्तर कितना होता है ?

तारस्स य तारस्स य, जम्बूद्वीपि अंतरं गुरुयं ।

वारस जोयणसहसा, दुन्नि सया चेव बायाला ॥ ६२ ॥

गाथार्थ—जम्बूद्वीपमें एक ताराविमानसे दूसरे ताराविमानके बीचका अन्तर बारह हजार दो सौ बयालीस योजनका है। ॥ ६२ ॥

विशेषार्थ—जम्बूद्वीपके मेरुपर्वतका समभूतला पृथ्वीके स्थानमें व्यास (घेरा-मोटाई) दस हजार योजनका है, वहाँसे ७९० योजन ऊँचा तारामण्डल फैला हुआ है। उस स्थानमें

१५६. चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, ताराके सम्बन्धमें होता विपर्यास क्रम, तिथिकी घट-बढ़, अधिकमास आदिका कारण आदि 'काल्लोकादि' ग्रन्थोंसे अथवा उस विषयके ज्ञाताओंसे जान लें।

भी मेरुके व्यासमें (मोटाईमें) ^{१५७}खास परिवर्तन नहीं होता है । अतः वहाँ मेरुपर्वतकी एक दिशाके सम्मुख ११२१ योजन दूर तारामण्डलका परिभ्रमण है वैसे ही उसके प्रतिपक्षी (विरुद्ध) दिशामें भी मेरुसे ११२१ योजन दूर तारामण्डल परिभ्रमण करता है । दोनों बाजूका ११२१ योजन अंतर और बीचके मेरुकी १०००० योजनकी चौड़ाई इन तीनोंका जोड़ करें अर्थात् पूर्वदिशाके तारोंके स्थानसे पश्चिमदिशाके सम्मुख ११२१ योजन दूर जाने पर मेरु आता है, मेरुके पुनः १०००० योजन पार करें, तदनन्तर ११२१ योजन दूसरे भाग पर (पश्चिमदिशाकी तरफ) जाँएँ तब तारोंके विमान आते हैं । इस तरह मेरुका और मेरुकी दोनों ओरके अंतर प्रमाणका जोड़ करनेसे १२२४२ योजन प्रमाण अंतर मेरुकी अपेक्षासे (व्याघातभावी) एक तारेसे दूसरे तारेके बीचका जाने । ^{१५८} [६२]

अवतरण—निषध और नीलवन्त पर्वत व्याघाताश्रयी अंतरको कहते हैं ।

निसढो य नीलवंतो, चत्तारि सय उच्च पंचसय कूडा ।

अद्दं उवरिं रिक्त्वा, चरंति उभयऽद्बुवाहाए ॥ ६३ ॥

[प्र० गा० सं० १४]

गाथार्थ—निषध और नीलवन्त पर्वत भूमिसे चारसौ योजन ऊँचे हैं और उनके ऊपर पांचसौ योजन ऊँचे (नौ) नव-नव शिखर-कूट हैं । ये कूट ऊपरके भागमें ढाईसौ (२५०) योजन चौड़े हैं और उन कूटोंसे आठ-आठ योजनकी अबाधा पर नक्षत्र, तारे आदि परिभ्रमण करते हैं । ॥ ६३ ॥

निषध—नीलवन्त आश्रयी व्याघात निर्व्याघात अंतर—

विशेषार्थ—जम्बूद्वीपके मध्यमें रहे महाविदेहक्षेत्रकी एक भाग पर निषध पर्वत आया है । और उसी क्षेत्रकी दूसरे भाग पर महाविदेहको स्पर्श करनेवाला तथा उसे सीमित करनेवाला नीलवन्त पर्वत आया है ।

ये दोनों पर्वत भूमिसे ४०० योजन ऊँचे हैं । इन ४०० योजन ऊँचे दोनों पर्वत पर पुनः ५०० योजनकी ऊँचाईवाले नौ-नौ कूट (शिखर) दूर दूर आए हैं ।

१५७. फिर भी जितना फर्क पड़ता है उसे जाननेके लिए जम्बू० प्रज्ञ० क्षेत्रस० लोक प्र० आदि ग्रन्थ देखें ।

१५८. एक तारेसे दूसरे ताराविमानके बिचमें इतना अन्तर होने पर भी यहाँसे आकाशमें देखें तो एक दूसरे बिल्कुल पास-पास दिखते हैं, यह कैसे ?

यह हमारा दृष्टिदोष है । दूर स्थित वस्तुएँ स्वतः बड़े अंतरवाली होने पर भी दूरसे पास पास ही दिखती है । जैसे किसी एक गाँवके वृक्ष या स्थान परस्पर दूर होने पर भी दूरसे तो मानो एक-दूसरेको स्पर्श करके ही स्थित न हों वैसे ही लगते हैं, तो फिर ७९० योजन दूर रही वस्तु पास-पास दिखें उसमें क्या आश्चर्य !

कूट अर्थात् पर्वतके ऊपरके भागमें ऊँचा गया हुआ और अलग दिखाई देनेवाला भाग ।

परम पवित्र शत्रुंजय पर्वतके ऊपर, ऊपरके तल भागके पास पहुँचनेके बाद नौ-टुककी जो टेकरी दिखती है, वह नीचेसे चौड़ी और उपर जाने पर संकरी बनी दिखती है वैसे ही, लेकिन ये टेकरियाँ प्रमाणमें अधिक बड़ी और नीचेसे ऊपर जानें पर दीपशिखा जैसे आकारवाली बनी होनेसे इन टेकरियोंको कूट कहते हैं । इन कूटोंके सहित पर्वतकी ऊँचाई ९०० योजन होनेसे तारोंके स्थानसे भी ऊँचाईमें यह पर्वत अधिक बना है । ये कूट ऊपरके-शिखर भागमें २५० योजन चौड़े हैं । इन कूटोंके दोनों ओर आठ आठ योजन दूर नक्षत्रके विमान हैं । [६३] (प्र० गा० सं० १४)

अवतरण—व्याघातसे जघन्य अन्तर कितना ? और निर्व्याघातसे जघन्य-उत्कृष्ट अन्तर कितना ?

छावट्टा दुन्निसया, जहन्नमेयं तु होइ वाघाए ।

निव्वाघाए गुरु लहु, दो गाउय धनुसया पंच ॥ ६४ ॥

गाथार्थ—व्याघातसे जघन्य अन्तर ($२५० + ८ + ८ = २६६$) दो सौ छियासठ योजन प्रमाण हुआ, निर्व्याघातमें उत्कृष्ट अन्तर दो कोसका और जघन्य अन्तर पांचसौ धनुषका होता है । ॥ ६४ ॥

विशेषार्थ—एक नक्षत्र विमानसे आठ योजनकी दूरी पर कूट और उस कूटकी चौड़ाई २५० योजन, उसके बाद (पार होने पर) दूसरे (परोक्ष) भागके आठ योजन दूर जाने पर नक्षत्रका विमान आता है । अतः तीनोंका जोड़ करे तो २६६ योजनका एक नक्षत्रसे दूसरे नक्षत्रका निषध और नीलवन्त पर्वतकी अपेक्षासे (व्याघातसे) जघन्य अन्तर समझें ।

वैसे ही तारा-विमानका अन्तर भी २६६ योजनका समझ लें ।

पर्वतादिकके व्याघातके बिना एक तारेसे अन्य तारेका तथा एक नक्षत्रसे अन्य नक्षत्रका उत्कृष्ट अन्तर दो कोसका और जघन्य अन्तर लें तो पांचसौ धनुष होता है ।

नक्षत्र ताराओंके समुदायसे ही बने होते हैं [६४]

॥ मेरु तथा निषधादिपर्वत व्याघातसे तथा व्याघातके बिना तारा-नक्षत्रोंका अन्तर—यन्त्र ॥

नाम	मेरु व्याघातसे	निषधादि व्या०	व्याघातके बिना	व्या० बिना ज० अं०
तारे-तारेका	१२२४२ यो०	२६६ यो०	२ कोस	५०० धनुष
नक्षत्र-नक्षत्रका	"	"	"	$\frac{१}{२}$ कोस

अवतरण—इस तरह तारे तथा नक्षत्रके बीचका व्याघातिक-निर्व्याघातिक जघन्योत्कृष्ट अन्तर कहकर, अब मनुष्यक्षेत्रके बाहर मानो लटकाए घण्टेकी तरह स्थिर लटकते हुए चन्द्र-सूर्योका परस्पर अन्तर कहते हैं ।

माणुसनगाउ बाहिं, चन्दा सूरस्स सूर चन्द्रस्स ।

जोयणसहस्सपन्ना-सऽणूणगा अन्तरं दिट्ठं ॥ ६५ ॥

गाथार्थ—मानुषोत्तरपर्वतसे बाहर विद्यक्षित चन्द्रसे सूर्यका तथा सूर्यसे चन्द्रका अन्तर संपूर्ण पचास हजार योजनका सर्वज्ञोने देखा है । ॥ ६५ ॥

विशेषार्थ—मनुष्यक्षेत्रकी मर्यादाको बनानेवाले, मानुषोत्तरपर्वतके बाहर विद्यमान चन्द्र, सूर्य और तारे आदि सर्व ज्योतिषीयोंके विमान तथाविध जगत् स्वभावसे अचल (स्थिर) रहकर सदा प्रकाश देते हैं । इन सूर्य और चन्द्रादिके विमानोंका चराचरपन न होनेसे परस्पर राहु आदिका संयोग उन्हें नहीं है । अतः ग्रहणकी उत्पत्तिका अभाव होनेसे किसी दिन उसके तेजमें और वर्णमें विकृति-परिवर्तन नहीं होता है । अतः सदैव उन विमानोंमेंसे सूर्यविमानोंका प्रकाश अग्निके वर्ण सदृश दिखता है, जब कि चन्द्रका प्रकाश बहुत ही उज्ज्वल होता है । और चर तथा स्थिर तारे आदिके विमान पांचों प्रकारके वर्णवाले होते हैं ।

इस तरह मनुष्यक्षेत्रके बाहर स्थित स्थिर चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषीका परस्पर अन्तर पचास हजार (५००००) योजनका है, ऐसा श्री जिनेश्वर देवोंने कहा है ।

चर और स्थिर दोनों प्रकारके विमानोंमेंसे सुन्दर कमलगर्भ समान, गौरवर्णके, विशिष्ट प्रकारके वस्त्राभरणभूषणोंको धारण करनेवाले चन्द्रमाके मुकुटके अग्रभागमें प्रभामण्डल स्थानीय चन्द्रमण्डलाकारका चिह्न होता है, सूर्यको सूर्यमण्डलाकारका चिह्न, ग्रहको ग्रहमण्डलाकारका, नक्षत्रको नक्षत्रमण्डलाकारका और ताराको तारामण्डलाकारका चिह्न होता है ।

ये सब विमान ही होते हैं । परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि 'प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले सूर्यादि पांचों स्वतः देवस्वरूप ही हैं,' तो यह समझ अज्ञान रूप है । साथ ही चन्द्रके विमानके नीचे विद्यमान चित्ररूप मृगचिह्नका भी लोग अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ करके अनेक रूपमें परिचय देते हैं ।

परन्तु प्रत्यक्ष रूपमें दिखते जिन ज्योतिषीयोंको आकाशमें हम देखते हैं वे सब तो विमान ही हैं । उनके तथाविधके कर्मोदयसे तेजस्वी होनेके कारण हम उन्हें दूरसे देख सकते हैं । सूर्य-चन्द्रादि देव और उनका अन्य देव-देवीपरिवार तो उन विमानोंमें स्थित है । सर्वज्ञ भगवन्तका शासन तो यही प्रतिपादन करता है कि चन्द्रमाके विमानकी पीठिकाके नीचे

स्फटिकमय ^{१५०} मृगाका ही चिह्न बना हुआ है, अतः हम भी उस मृगाकारको देखते हैं ।। ६५ ।।

॥ मनुष्यक्षेत्रके बाहर चन्द्रसे सूर्यका परस्पर तथा बीच-बीचका अन्तर प्रमाण ॥

नाम	अन्तरप्रमाण	नाम	अन्तरप्रमाण
चन्द्रसे सूर्यका	५०००० यो०	चन्द्रसे चन्द्रका	१ लाख यो० $\frac{५६}{६६}$
सूर्यसे चन्द्रका	„	सूर्यसे सूर्यका	१ लाख यो० $\frac{५६}{६६}$

अवतरण—मनुष्यक्षेत्रके बाहर चन्द्रसे सूर्यका और सूर्यसे चन्द्रका अन्तर बताया, अब चन्द्रसे चन्द्रका अन्तर तथा सूर्यसे सूर्यका अन्तर प्रदर्शित करते हैं ।

ससि ससि रवि रवि साहिय-जोयणलक्खेण अंतरं होइ ।

रवि अन्तरिया ससिणो, ससिअन्तरिया रवी दिता ॥ ६६ ॥

गाथार्थ—एक चन्द्रसे दूसरे चन्द्रका और एक सूर्यसे दूसरे सूर्यका अन्तर साधिक लक्षयोजन प्रमाण है, चन्द्र सूर्यसे अन्तरित हैं और सूर्य चन्द्रोंसे अन्तरित हैं ।। ६६ ।।

विशेषार्थ—मनुष्यक्षेत्रके बाहर एक चन्द्रसे दूसरे चन्द्रका परस्पर अन्तर एक लाख योजनसे एक योजनके अडतालीस बटे इकसठवें भाग जितना अधिक है; क्योंकि वहाँ स्थिर ज्योतिषी होनेसे पचास हजार योजन पूर्ण होने पर सूर्यविमान अवश्य होता है, इसलिए उस विमानकी $\frac{५६}{६६}$ भागकी चौड़ाई अधिक गिननेकी होती है ।

उसी तरह एक सूर्यसे दूसरे सूर्यका भी परस्पर अन्तर प्रमाण साधिक लक्ष योजन है अर्थात् एक सूर्यसे दूसरे सूर्य तक पहुँचते बीचमें (५०००० यो० पूर्ण होने पर पूर्व-गाथानुसार) चन्द्र विमान आता है, तदनन्तर सूर्यविमान आता है, अतः एक सूर्यसे दूसरे चन्द्रके पास ही पहुँचनेमें प्रथम ५०००० योजन अन्तर होता है । उस चन्द्रके $\frac{५६}{६६}$ भागकी चौड़ाई पार करनेके बाद पुनः ५०००० योजन पूर्ण हों तब सूर्यकी उपस्थिति होनेसे एक लाख योजन अधिक $\frac{५६}{६६}$ योजनका सजातीय अन्तर जानें ।। ६६ ॥

अवतरण—मनुष्यक्षेत्रके बाहरके चन्द्र तथा सूर्यके स्वरूपका वर्णन करते हैं ।

१५९. यहां एक बात सूचित करना अनुचित नहीं है कि—पूर्णिमाके दिन शमको चन्द्रका उदय होता है तब मृगचिह्न सीधा दिखता है । परन्तु रातके बढ़ते जानेसे मध्य-रात्रिको वह चिह्न उल्टा होनेसे पिल्लरी मुबहमें पूर्ण उल्टा अर्थात् पैर ऊचे और पीठ नीचे दिखता है । इसका क्या कारण ? अतः चन्द्रकी गति कैसे निश्चित करें ? यह बात विचारणीय है ।

बहियाउ माणुसुत्तर, चन्दा स्ररा अवट्टि-उज्जोया ।

चन्दा अभीइ-जुत्ता, स्ररा पुण हुंति पुस्सेहि ॥ ६७ ॥

[प्र० गा० सं० १५]

गाथार्थ—मानुषोत्तरपर्वतसे बाहर अवस्थित चन्द्र तथा सूर्य स्थिर प्रकाशवाले होते हैं अर्थात् एक स्थलमें स्थिर रहकर प्रकाश देते हैं और चन्द्र अभिजित् नक्षत्रसे युक्त होते हैं और सूर्य पुष्य नक्षत्रसे युक्त होते हैं । ॥ ६७ ॥

विशेषार्थ—गाथार्थवत् सुगम है । केवल 'नक्षत्रयुक्त' ऐसा कहनेका आशय यह है कि, मनुष्यक्षेत्रमें तो चरभाव होनेसे अट्टाईस नक्षत्रोंमेंसे प्रत्येकका यथावासरे (दिनके अनुसार) चन्द्रादिकके साथ संयोग होता रहता है, परन्तु मनुष्यक्षेत्रके बाहर तो ज्योतिषी स्थिर होनेसे वे अनादिसिद्ध ऐसे जिस नक्षत्रके योगमें पड़े हों उसी नक्षत्रका ही उसे सहयोग सदाके लिए कहा जाता है । (ये दोनों नक्षत्र ज्योतिषशास्त्र भी श्रेष्ठ माने जाते हैं ।) (प्र० गा० सं० १५) [६७]

इति ज्योतिषीनिकायाधिकारान्तर्वर्तीज्योतिषीणां विमानादि-विषयन्याख्या समाप्ता ॥



अथप्रासङ्गिकद्वीप-समुद्राधिकारः ॥

अवतरण—इस तरह मनुष्यक्षेत्रके बहिर्वर्ती चन्द्र-सूर्यादिका किंचित् स्वरूप बतानेके बाद, आगे प्रतिद्वीपमें कितने सूर्य होते हैं? यह और उसे जाननेका कारण तथा उन चन्द्र-सूर्य-ग्रहादिकी पंक्ति आदिका वर्णन करते हैं, उसके पहले यदि द्वीप समुद्रके स्थान और संख्यादिका वर्णन समझा जाए तो आनेवाला विषय सरल हो सके । इसलिए ग्रन्थकार-महर्षि प्रथम द्वीप-समुद्रका संख्या प्रमाण और विस्तारप्रमाण कितना है? यह युक्तिसे नीचे दी हुई गाथाओं द्वारा समझाते हैं ।

प्रथम द्वीप-समुद्र कितने और कितने बड़े हैं? इसका निरूपण करते हैं ।

उद्धारसागर दुगे, सइडे समएहिं तुल्ल दीबुदही ।

दुगुणादुगुणपवित्थर, वलयागारा पढमवज्जं ॥ ६८ ॥

पढमो जोयणलक्खं, वट्ठो तं वेढिउं ठिया सेसा ।

पढमो जम्बुदीवो, सयंभुरमणोदही चरमो ॥ ६९ ॥

गाथार्थ—अढ़ाई उद्धारसागरोपमके समयोंकी जितनी संख्या हो उतनी संख्यावाले द्वीप-समुद्र हैं और पूर्व-पूर्वसे पीछे-पीछेके द्वीप-समुद्र दुगुने-दुगुने विस्तारवाले हैं तथा प्रथम द्वीपको छोड़कर शेष समग्र द्वीप-समुद्र वलयाकारवाले हैं ।

प्रथम (जम्बूद्वीप) लाख योजन प्रमाणवाला है, तथा वह वृत्त-गोलाकारमें है और दूसरे सब द्वीप-समुद्र उसे घेरकर वलयाकारमें स्थित हैं । उनमें पहला जम्बूद्वीप और अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र है । ॥ ६८-६९ ॥

विशेषार्थ—पहले सूक्ष्म-बादर भेदोंसे छः प्रकारके पल्योपम और छः प्रकारके सागरोपमका सविस्तर स्वरूप दिखाया गया है ।

वैसे अढ़ाई उद्धारसागरोपम जितने कालमें जितने समय हों उतने द्वीप-समुद्रोंकी संख्या जिनेश्वरीने कही है ।

अथवा एक सूक्ष्मउद्धार ^{१६०}सागरोपमके १० कोडाकोडी सूक्ष्मोद्धार पल्योपम होते हैं, अतः अढ़ाई सूक्ष्म उद्धारसागरोपमके २५ कोडाकोडी सूक्ष्म उद्धारपल्योपम होते हैं । इन २५ कोडाकोडी पल्योपमोंमें पूर्व कथित कथनानुसार जितने वालाग्र समाएँ उतने ^{१६१}द्वीप-समुद्र (दोनों मिलकर) हैं ।

द्वीप-समुद्रोंका प्रमाण—

तेलपुल (मालपुआ)के आकारमें अथवा पूर्णिमाके चन्द्राकारमें सर्वद्वीप-समुद्राभ्यन्तरवर्ती स्थित पहले जम्बूद्वीपको वर्जित करके वलयाकारमें रहे शेष (सर्व) द्वीप-समुद्र पूर्व पूर्वसे द्विगुण विस्तारवाले हैं । जैसे कि—जम्बूद्वीप एक लाख योजनका, तदनन्तर आया हुआ लवणसमुद्र उससे द्विगुण दो लाख योजनका, उससे द्विगुण धातकीखण्ड ४ लाख योजनका ऐसे उत्तरोत्तर द्विगुण द्विगुण (दुगुने) विस्तारवाले सर्व द्वीप-समुद्र जानें ।

सकल द्वीप-समुद्रका आकार—

उत्सेधांगुल (अपना जो चालू अंगुलप्रमाण वह)से प्रमाणांगुल चारसौ गुना अथवा हजार गुना बड़ा है अर्थात् चारसौ उत्सेधांगुलका एक प्रमाणांगुल हो उस प्रमाणांगुलसे निष्पन्न एक लाख योजन प्रमाणवाला पहला जम्बूद्वीप आया है । यह जम्बूद्वीप जैनशास्त्रके मतानुसार वृत्त विष्कम्भवाला है अर्थात् थाली अथवा मालपुएके समान गोलाकार है, परन्तु

१६०. पल्योपम—सागरोपमका वर्णन पृष्ठ २२ से ३८ तकमें कथित है ।

१६१. द्वीप अर्थात् क्या ? जिसके चारों ओर पानी हो और बीचमें बसने योग्य भूमि हो उसे द्वीप कहते हैं ।

पादचात्य वैज्ञानिकोंके मतानुसार गेंद जैसा या नारंगी जैसा नहीं है। इस आकारको 'प्रतरवृत्त' कहा जाता है। प्रतरवृत्त वस्तुकी लम्बाई और चौड़ाई प्रमाणमें एक समान होती है। इसी लिए वृत्ति विष्कम्भ (प्रतरवृत्त)वाली वस्तुको मध्यबिन्दुसे किसी भी दिशा अथवा विदिशामें (आग्ने-सामने) मापें तो भी उसका एक समान प्रमाण आएगा। 'समप्रतरवृत्त' (समगोल) वस्तुका व्यास (विस्तार) समान होता है। अतः जम्बूद्वीप भी 'विषमप्रतरवृत्तादि' (लम्बगोल वा अर्धगोल) नहीं है लेकिन 'समप्रतरवृत्त' है।

इस 'समप्रतरवृत्त' जैसे जम्बूद्वीपके चारों ओर परिवृत्त परिमण्डलाकारमें (चूड़ीके समान आकारमें) 'लवणसमुद्र' आया है। अर्थात् चूड़ीमें चारों भागों पर किनारे और बीचमें पोख भाग हो जैसे जम्बूके परिवृत्त चूड़ीके समान वलयाकारमें लवणसमुद्र आया है। बीचमें पोखपन हो ऐसे गोलकारको 'परिमण्डल' अथवा 'वलय' कहा जाता है। यह लवणसमुद्र भी जैसे ही आकारमें है और उसका 'चक्रवालविष्कम्भ' अर्थात् वलयाकार वस्तुकी किसी एक दिशा(बाजू)की ओरकी चौड़ाई अर्थात् जम्बूद्वीपकी एक ओरकी जगतीसे लेकर ठेठ लवणसमुद्रकी जगती तक अथवा तो धातकीखण्डसे प्रारम्भके क्षेत्र तकका दो लाख योजन 'विष्कम्भ' प्रमाण होता है।

तदनन्तर लवणसमुद्रसे परिवृत्त धातकीखण्ड वलयाकारमें आता है। यह खण्ड चार लाख योजन विष्कम्भवाला है। उससे परिवेष्टित मण्डलाकारमें आठ लाख योजन प्रमाण वलय विष्कम्भवाला कालोदधि रहा है, और उस कालोदधिके चारों ओर परिवेष्टित होकर सोलह लाख योजन चक्रवालविष्कम्भवाला पुष्करद्वीप आया है। इस तरह जम्बूद्वीपको परिवेष्टित कर परिमण्डलाकारमें पूर्व पूर्वसे दुगुने विस्तार (विष्कम्भ)वाले द्वीप-समुद्र हैं, उनमें जिसमें हम रहते हैं वह सबसे प्रथम जम्बूद्वीप है। और सबसे अन्तिम तिच्छालोकके अन्तमें स्वयंभूरमण नामका समुद्र आया है। इस समुद्रकी जगती पूर्ण हुई कि (इसी समुद्रकी पूर्वदिशाकी वेदिकासे लेकर पश्चिम वेदिका पर्यन्त एक राज प्रमाणका) तिच्छालोक समाप्त हुआ, तदनन्तर दोनों बाजू पर अलोकाकाश आया है। [६८-६९]

अवतरण—अथ कतिपय द्वीपोंके नाम कहते हैं—(साथ साथ ग्रन्थान्तरसे उन उन द्वीपोंका किञ्चित् स्वरूप भी कहा जाता है)

जम्बू-धायइ-पुक्खर-वारुणि-खीर-धय-खोय-नन्दिसरा ।

अरुण-रुणवाय-कुण्डल-संख-रुयग-भुयग-कुस-कुंचा ॥ ७० ॥

१६२. यहाँ 'अरुणरुणवाय' शब्दकी व्युत्पत्ति चन्द्रिया टीकाकारने—'अरुणशब्दस्य उप-सामीप्येन प्राक्पातः—पतन् नाम्नि यस्येति' इस तरह की है। इस हिसाबसे तो 'अरुणोपपात' ऐसा स्वतंत्र द्वीपनाम नहीं है; जब कि ठाणगर्जामें यह नाम 'स्वतन्त्र द्वीप'से वर्णित है।

गाथार्थ—यहाँ मूलगाथामें द्वीपोंके विशेषनाम मात्रका ही उल्लेख किया है, परन्तु अर्थके लिए यथायोग्य उस नामके साथ क्रमशः 'द्वीप' 'खण्ड' तथा 'वर' शब्द प्रयुक्त करें। ॥ ७० ॥

विशेषार्थ—सर्वके विच-मध्यमें और सर्वसे प्रथम जम्बूद्वीप है। उसका नाम जम्बू कैसे पड़ा ? इस सम्बन्धमें जतानेका कि—सर्वद्वीपसमुद्राभ्यन्तरवर्ती जम्बूद्वीपके मध्यभागमें आए उत्तरकुक्षेत्रके पूर्वार्धभागमें जांबूनदसुवर्णकी जम्बूपीठ आई है। उस पीठके ऊपर दो योजनके मूलयुक्त और साधिक अष्ट योजन ऊँचा गया हुआ त्रिकाल शादवत् ऐसा 'सुदर्शन' नामका 'जम्बूवृक्ष' है। इस वृक्षके मूल-कन्द-तने-शाखाएँ आदि सर्व अवयव विविध रत्नोंके और उनसे भिन्न-भिन्न प्रकारके रंगविरंगी वर्णमय हैं। इस जम्बूवृक्षके विचकी जो विडिमाशाखा है उसके ऊपर एक जिनचैत्य आया हुआ है। इसके सिवा अवशिष्ट जो चार शाखाएँ हैं वे वृक्षमें विस्तीर्ण हैं। उनमें पूर्वदिशाकी शाखाके ऊपर 'अनादृत' देवका भवन होता है, जब कि शेष तीनों दिशाओंकी प्रत्येक शाखाके ऊपर प्रासाद होता है। उनमें इस जम्बूवृक्षकी पूर्वशाखाके मध्यभागमें इस द्वीपके अधिपतिका निवास होनेसे इस द्वीपका 'जम्बू' ऐसा शादवत् नाम कथित है। उस अधिपतिके योग्य ५०० धनुष विस्तारवाली और २५० धनुष ऊँची मणिपीठिकाके ऊपर व्यन्तरनिकायके ^{१६३}अनादृतदेवकी शय्या वर्तमान है। इस शय्यामें वर्तित (विद्यमान) अनेक सामानिक-आत्मरक्षक तथा देव-देवियोंके परिवारमें विचरता हुआ, पूर्वके पुण्योसे प्राप्त हुए सुखोंको पुण्यात्मा अनादृत देव भोगते हैं। इस जम्बूवृक्ष जम्बूद्वीपकी वेदिका प्रमाण ऐसी बारह वेदिकाओंसे वेष्टित है। इस वेदिकाके बाद उस वृक्षकी चारों ओर अन्य जम्बू नामके वृक्षोंके तीन (अथवा किसी मतसे दो) वलय आए हैं। 'इस तरह जम्बूद्वीपके अधिपतिका स्थान जम्बूवृक्ष^{१६४} के ऊपर होनेसे इस द्वीपका 'जम्बू' नाम सचमुच गुणवाचक है।' कहनेका आशय यह है कि—इस प्रकारके देवकुक्षेत्रमें 'शालमली' नामका वृक्ष भी आया है और उसके ऊपर भी अधिष्ठायक देवका निवास तो है परन्तु वह जम्बूद्वीपका अधिपति देव नहीं है।

२. धातकी खण्ड—धातकी जातिके सुन्दर पुष्पसे सदा विकसित बने हुए वृक्षोंके बहुत वनखण्ड होनेसे तथा पूर्व और पश्चिमदिशाके खण्डमें सुदर्शन तथा प्रियदर्शन देवका निवास धातकी नामके वृक्षके ऊपर होनेसे इस द्वीपका 'धातकीखण्ड' ऐसा नाम सान्वर्थ है।

३. पुष्करद्वीप—इस द्वीपमें तथाप्रकारके अतिविशाल 'पद्म' (पद्म-कमल)के

१६३. वर्तमानका 'अनादृत' देव उसे जम्बूस्वामीके काकाका जीव समझे।

१६४. इसका विशेष स्वरूप 'लोकप्रकाश' सर्ग १७ तथा 'क्षेत्रसमासादि' से जानें।

वनखण्ड होनेसे तथा महापद्म देवके निवाससे यह नाम भी गुणवाचक है ।

४. वारुणिवरद्वीप—(वारुण = मदिरा, वर = श्रेष्ठ) इस द्वीपवर्ती बावलियों आदिका जल उत्तम 'मदिरा' जैसा होनेसे यह नाम पड़ा है ।

५. क्षीरवरद्वीप—इस नामके द्वीपकी बावलियों आदिका जल भी विशेषतः 'क्षीर-दूध' जैसा होनेसे सफल लेखा जाता है ।

६. घृतवरद्वीप—इस द्वीपकी बावलियाँ भी विशेषतः 'घृत' समान स्वादवाले जलसे युक्त होनेसे उक्त नाम कहा गया है ।

७. इक्षुवरद्वीप—इस द्वीपकी बावलियाँ 'इक्षु-इख' रसके स्वादवाली विशेषतः होनेसे द्वीपका यह नाम रक्खा गया है ।

८. नन्दीश्वरद्वीप—नन्दी नाम 'वृद्धि-समृद्ध' इससे श्रेष्ठ होनेसे यह नाम योग्य है ।

॥ श्री नन्दीश्वरद्वीप विषयक किञ्चित् वर्णन ॥

नन्दी अर्थात् (सर्व प्रकारसे) वृद्धि उसमें 'ईश्वरः'—श्रेष्ठ, उसे नन्दीश्वर कहा जाता है ।

प्रथम १. जम्बूद्वीप, २. लवणसमुद्र, ३. धातकीखण्ड, ४. कालोदधि, ५. पुष्करद्वीप, ६. पुष्करसमुद्र, ७. वारुणीवरद्वीप, ८. वारुणीवरसमुद्र, ९. क्षीरवरद्वीप, १०. क्षीरवरसमुद्र, ११. घृतवरद्वीप, १२. घृतवरसमुद्र, १३. इक्षुवरद्वीप, १४. इक्षुवरसमुद्र, इस तरह सात द्वीप और सात समुद्र उल्लंघन करनेके बाद आठवाँ 'नन्दीश्वरद्वीप' आता है । इस द्वीपमें चारों दिशाओंके मिलकर बावन (५२) जिनालय [और आगे आते हुए कुण्डल तथा रुचक द्वीपके चार चार मिलकर कुल ६० ^{१६५}जिनालय मनुष्यक्षेत्रके बाहर] आए हैं ।

यह द्वीप १६३८४००००० योजन चौड़ा है । इस द्वीपके मध्यभागकी अपेक्षासे चारों दिशाओंमें श्यामवर्णके 'चार अञ्जनगिरि' आए हैं, वे ८४००० योजन ऊँचे हैं और चारोंके उपर एक-एक जिनभवन है । 'इति अञ्जनगिरिचैत्यानि ॥

इस अञ्जनगिरिके चारों दिशाओंकी तरफ एक एक लाख योजनके अन्तर पर एक-एक लाख योजन लम्बी चौड़ी इसीसे विराट् स्वरूपका दिग्दर्शन कराती बावलियाँ हैं । एक अञ्जनगिरिकी अपेक्षामें चार बावलियाँ होनेसे चार अञ्जनगिरिकी अपेक्षामें १६ बावलियाँ

होती हैं। इन बावलियोंकी चारों दिशाओंमें ५०० योजन दूर जाने पर एक लाख योजन लम्बा एक वन आता है, अर्थात् एक बावलिके चारों बाजू पर चार वन होनेसे एक अञ्जनगिरिकी चारों दिशाओंमें रहीं चार बावलियोंके १६ वन होते हैं, और चार चार अञ्जनगिरिकी सोलह बावलियोंके ६४ वन होते हैं। इस बावलिके मध्यकूपके ऊपर स्फटिक रत्नमय उज्ज्वल वर्णके ६४००० योजन ऊँचे, १००० योजन गहरे और धान्यके प्यालेकी तरह वर्तुल्यकारमें रहे 'दधिमुखगिरि' आए हैं। कुल सोलह बावलियाँ होनेसे 'दधिमुख' पर्वत भी सोलह होते हैं और प्रत्येकके ऊपर एक-एक शाश्वत् 'जिनचैत्य' होता है। इति १६ दधिमुखचैत्यानि।

इस अञ्जनगिरिकी चारों दिशाओंमें जो बावलियाँ कहीं उनमें एक बावलिसे दूसरी बावलि तक पहुँचते बिचके भागमें दो दो 'रतिकर' पर्वत आए हैं। १६ बावलियोंके आंतरेके ३२ 'रतिकर' होते हैं। प्रत्येकके ऊपर एकएक शाश्वत् 'जिनचैत्य' है। 'इति ३२ रतिकरशाश्वत्जिनचैत्यानि।'

इस तरह ४ अञ्जनगिरि, १६ दधिमुख, ३२ रतिकरचैत्यानि।

इस प्रकार (बावन) शाश्वत् जिनालय शाश्वती जिनप्रतिमाओंसे सुशोभित आए हैं, जिसका वर्णन सिद्धान्तमें सुन्दर रीतिसे दिया गया है।

प्रति संवत्सर पर आती शाश्वती अष्टाशुभके महामांगलिक प्रसंग पर अथवा कल्याणकका महोत्सव मनानेका हो उस अवसर पर सौधर्मदेवलोकका स्वामी सौधर्मन्द्र सुघोषा घण्टेके द्वारा सर्व देवोंको उत्सव प्रसंगका समाचार जणाकर इकट्ठा करता है। पश्चात् एक लाख योजनका 'पालक' नामका विमान रचकर आत्मकल्याणकी आकांक्ष रखनेवाले अनेक देव-देवियों सह परिवृत्त इन्द्रमहाराज नन्दीश्वरद्वीपमें आते हैं। वहाँ शाश्वतचैत्योंमें बिराजमान परमत्पराक श्रीजिनेश्वरदेवोंकी अनुपम प्रतिमाओंको तन-मन-धनके अत्यानन्दसे, हृदयोल्लासपूर्वक अनेक प्रकारकी भक्ति-सेवा करके स्वयं तथा अन्य परिवार भावना करते हैं कि— अविरतिवन्त-अत्यागी ऐसे हमें ऐसे अवसर सचमुच किसी पूर्व पुण्यके प्रतापसे ही प्राप्त होते हैं और अब भी प्राप्त हों। इत्यादि भावनाएँ करके वे आत्माएँ कृतकृत्य होती हैं। व्रत पचचरखाणादिकी विरति (नियम)को तथाविध भवमें ही नहीं पानेवाले ऐसे देव जब भक्तिभावनाके ऐसे सुरम्य और दुर्लभ अवसरको पाकर उस जगद्वन्द्य परमात्माओंकी भक्तिमें कोई कमी नहीं रखते, तो फिर हम अपने पूर्वके पुण्य प्रतापसे चौदह गुणस्थानकोके अधिकारवाले हुए हैं, अतः हमेशा शक्य न हो तो भी मुख्य मुख्य अवसरोंके प्रसंगोंमें अनेक प्रकारका धर्मानुष्ठान करनेमें पुण्यात्माओंको जरा भी कमी न रखना, यह सचमुच महापुण्यके प्रतापसे प्राप्त हुई सर्वानुकूल सामग्रीको, बिना सदुपयोग किये ही निष्फल वृ. सं. १९

बनानेके साथ साथ चिंतामणिरत्न तुल्य ऐसे इस मानवजीवनको अजस्तनवत् निरर्थक-बरबाद करने समान है ।

९. अरुणद्वीप—इस द्वीपमें सूर्यके प्रकाश जैसे रक्तकमल विपुल प्रमाणमें हैं इसलिए, और सर्व वज्ररत्नमय पर्वतादिकी प्रभासे रक्त होनेसे यह नाम गुणवाचक है । तदनन्तर दसवाँ 'अरुणवर' अरुणोपपातद्वीप और ग्यारहवाँ 'अरुणावरावभास' नामका द्वीप है ।

इसी तरह बारहवें कुण्डल द्वीपसे लेकर रुचक, भूजग, कुश, क्रौंच आदि द्वीप त्रिप्रत्यवतार समझने हैं । जैसे कि बारहवाँ कुण्डलद्वीप, तेरहवाँ कुण्डलवर, चौदहवाँ कुण्डलवरावभास, १५ रुचक, १६ रुचकवर, १७ रुचकवरावभास और १८ भूजग, १९ भूजगवर, २० भूजगवरावभास, इस तरह कुश और क्रौंचको त्रिप्रत्यवतार समझ लेना ।

इसमें इतना विशेष समझना कि १२ वें कुण्डलद्वीपके मध्यभागमें मानुषोत्तरकी तरह बलयाकारमें स्थित 'कुण्डलगिरि' है अतः इस द्वीपका 'कुण्डल' नाम योग्य है । इस गिरिके मध्यभागमें चारों दिशावर्ती ४-४ (चार-चार) शाश्वत् जिनालय हैं, जिनमें परम-तारक परमात्माकी शाश्वती प्रतिमाएँ शोभित हैं ।

इसी तरह मानुषोत्तरकी तरह १३ वें 'रुचकद्वीप'के अतिमध्यभागमें ८४ हजार योजन ऊँचा रुचकगिरि आया है, जिससे इस द्वीपका नाम भी सफल माना जाता है । उसके ऊपर मध्यभागमें चारों दिशाओंमें चार शाश्वत् जिनचैत्य हैं ।

इस तरह समग्र तिर्छालोकमें 'मानुषोत्तर-कुण्डल-रुचक'—ये तीन पर्वत ही बलयाकारमें हैं; शेष पर्वत अलग अलग संस्थानवाले हैं ।

इस तरह नन्दीश्वर द्वीपका वर्णन करनेके साथ मनुष्यक्षेत्रके बाहरके जिनचैत्योंकी संक्षिप्त व्यवस्था दिखाई ।

ऊपर बताये हुए गुणोंसे उन उन द्वीपोंके नाम सान्त्वर्थ हैं, अथवा तो हरएक द्वीप-समुद्रके नाम उन उन द्वीप-समुद्रोंमें रहनेवाले-निवास करनेवाले देवोंके नाम परसे रखे होनेसे उस प्रकार भी अन्वर्थक हैं ।

रुचकद्वीपसे आगेके भुजग, कुश और क्रौंचवर इत्यादि सर्व द्वीप-समुद्र उस विशिष्ट देवनिवासके नामसे ही प्रायः गुणवाचक है, ऐसा सर्वत्र सोचें । [७०]

अवतरण—कौनसा समुद्र किस द्वीपको घेरकर रहा है? यह बताते हैं—

पट्टमे लवणो जलहि, बीए कालो य पुक्खराईसु ।

दीवेषु हुंति जलही, दीवसमाणेहि नामेहि ॥ ७१ ॥

गाथार्थ—पहले जम्बूद्वीपको घेरकर-लपेटकर लवणसमुद्र रहा है। दूसरे धातकी-खण्डको लपेटकर कालोदधि आया है। तत्पश्चात् पुष्करवर आदि द्वीपोंको लपेटकर उन उन द्वीपोंके नाम समान ही नामवाले समुद्र आए हैं [७१]

विशेषार्थ—जम्बूद्वीपवेष्टित प्रथम लवणसमुद्र आया है, तत्पश्चात् धातकीखण्डको लपेटकर रहा हुआ कालोदधि समुद्र है, तत्पश्चात् आए समुद्र जिन जिन द्वीपोंको लपेटे हुए हैं वे सब उस उस द्वीपके समान नामवाले ही जानें। सिर्फ अढाई द्वीपमें आए दो समुद्रोंका क्रम वैसा नहीं है अर्थात् फर्कयुक्त है, अन्यथा पुष्करद्वीपके चारों ओरका पुष्करसमुद्र, वारुणिवरद्वीपके चारों ओरका वारुणिवरसमुद्र इस तरह असंख्याता समुद्र द्वीपके समान नामवाले हैं। यावत् अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीपको लपेटकर अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र आया है।

लवणसमुद्र—इस समुद्रका पानी क्षारसे युक्त और अतः गलेमें असर करनेवाला तीक्ष्ण, कटुक, ज्वार-भाटा आदिसे टकराती लहरोंसे कलुषित, कीचड़युक्त बना हुआ और उसमें बसनेवाले प्राणियोंके सिवा अन्योको पीनेलायक नहीं है, क्योंकि इस समुद्रका जल 'लवण-खारा' है इससे 'लवणसमुद्र' यह नाम भी सार्थक है।

कालोदधि—इस समुद्रका जल काले उरदके रंग जैसा दयाम होनेसे और उसकी पूर्व-पश्चिम दिशामें काल-महाकाल नामके देवोंका निवास होनेसे इस समुद्रका 'कालोदधि' नाम भी सार्थक है।

तत्पश्चात् आए समुद्र उनके साथ आए हुए द्वीपोंके समान ही नामों परसे परिचित होनेसे समुद्रोंके नामोंकी सफलता भी लगभग द्वीपके समान ही समझ लें। [७१]

अवतरण—द्वीप-समुद्रोंके अमुक नाम बताए, अब अवशिष्ट द्वीप-समुद्रोंके नाम कैसे हैं उनका निरूपण करते हैं—

आभरण-वत्थ-गंधे, उप्पल-तिलए य पउम-निहि-रयणे ।

वासहर-दह-नईओ, विजया वक्खार-कप्पिदा ॥ ७२ ॥

कुरु-मंदर-आवासा, कूडा नक्खत्त-चन्द-सुरा य ।

अन्नेवि एवमाई, पसत्थवत्थूण जे नामा ॥ ७३ ॥

तन्नामा दीवुदही, तिपडोयाराय हुंति अरुणाई ।

जम्बूलवणाईया, पत्तेयं ते असंखिज्जा ॥ ७४ ॥

ताणंतिम सूरवरा-वभासजलही परं तु इक्किा ।

देवे नागे जक्खे, भूये य सयंभूरमणे य ॥ ७५ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ ७२-७३-७४-७५ ॥

विशेषार्थ—जगत्में जिन जिन प्रशस्त वस्तुओंके नाम तथा जो जो उत्तम शाश्वत् पदार्थ आदि हैं उन सर्व नामवाले द्वीप-समुद्र हैं ऐसा श्री जिनेश्वरदेवका सिद्धान्त बोल्ता है—कहता है ।

सप्तधातुके नाम, रत्नोंके नाम तथा उनसे बने हुए सर्व आभरणों-आभूषणोंके नाम, जैसे कि रत्नावली, कनकावली, अंगूठियाँ इत्यादि, वस्त्र-अर्थात् रेशम, सूत-सर्व प्रकारके वस्त्रोंकी जातिके नाम तथा उनसे बनती सर्व वस्तुओंके नाम और गंध-सर्व प्रकारके धूप आदि गन्ध-द्रव्योंके नाम, उप्पल-सर्व प्रकारके कुमुदादि विविध कमलोंके नाम, तिलए-तिलक नामके वृक्षका नाम, पउम-पद्म अर्थात् शतपत्र-पुण्डरीकादि कमल विशेषके नाम, निहि-ये नौ प्रकारके वज्र-नीलादिरत्ननिधि तथा चक्रीके नौनिधानके नाम, रयणे-चक्रवर्त्ती सम्बन्धी चौदह प्रकारके रत्नोंके नाम, वासहर-हिमवन्तादि सर्ववर्षधर पर्वतोंके नाम, दह-पद्मद्रहादि, सर्वद्रह तथा पद्मसरोवरादि शाश्वत् सरोवरोंके नाम, नईओ-गंगा-सिंधु प्रमुख सर्व नदियोंके नाम, विजया-कच्छादि ३४ विजयोंके नाम, वक्खार-चित्रादि १६ वक्षस्कार पर्वतोंके नाम, कप्प-सौधर्मादि १२ कल्पोंके नाम, इन्दा-शक्रादि सर्व इन्द्रोंके नाम, कुरु-देवकुरु तथा उत्तरकुरु आदि क्षेत्रके नाम, मन्दर-मेरुपर्वतके पर्यायवाचक ११ नाम, आवास-तिर्यग्लोकमें भवनपति आदि पातालवासी देवोंके आवासोंके नाम, कूडा-हिमवन्तादि पर्वतोंके कूटों तथा ऋषभकूटोंके नाम, नक्खत्त-अश्विनी-कृतिका आदि २८ नक्षत्रोंके नाम, (उपलक्षणसे प्रहोंके नाम) चन्दा-सूरा-चन्द्र तथा सूर्यके नाम, इनसे पूर्व कहे गए सर्व नामोंवाले तथा इनके सिवा जगत्में जो जो प्रशस्त नामवाले पदार्थ हैं, वे सर्व नामवाले द्वीप-समुद्र हैं ।

त्रिप्रत्यवतार द्वीप-समुद्र विचार

अमुक द्वीप-समुद्रको वर्जित करके बाकीके सर्व द्वीप-समुद्र त्रिप्रत्यवतार हैं अर्थात् 'चर' नामवाला 'चरद्वीप' तत्पश्चात् वही नाम 'वर' पदसे युक्त वह दूसरा 'चरवर' द्वीप, तत्पश्चात् 'वरावभास' पदसे युक्त तीसरा 'चरवरावभास' द्वीप इस तरह हरएक द्वीप-समुद्र है, जैसे—'शंखद्वीप' मूलनाम, 'शंखवरद्वीप' दूसरा नाम और 'शंखवरावभासद्वीप' यह तीसरा नाम, इस तरह त्रिप्रत्यवतार अर्थात् मूलनामको कायम रखकर अन्य विशेषण ल्याकर तीन बार उस नामको लिखना यह । इस तरह समुद्रोंके लिये भी समझना चाहिए । ऐसे

त्रिप्रत्यवतार द्वीप-समुद्र दसवें अरुण-द्वीपसे लेकर अन्तिम देवादि पांच द्वीपोंसे अर्वाक् आए सुखरावभासद्वीप तक जानें ।

तात्पर्य यह है कि—ऊपरकी ७२-७३ गाथाओंमें कहे गए मतानुसार प्रशस्त सर्व वस्तुओंके नामवाले सर्वद्वीप ऊपर बताए पदानुसार त्रिप्रत्यवतार जानें, परन्तु यह नियम दसवें अरुण-द्वीपसे शुरू करके सुखरावभास समुद्र तक समझें । जैसे जम्बूद्वीप तथा खणसमुद्र, ये असंख्यात हैं अर्थात् जो पहला जम्बूद्वीप है उसी नामवाला त्रिप्रत्यवतार युक्त जम्बूद्वीप असंख्यात द्वीप-समुद्र व्यतीत होनेके बाद ही आता है, इस तरह दूसरा तीसरा आदि असंख्यात जम्बू, असंख्यात धातकी, असंख्यात पुष्करवर, असंख्यात घृतवर आदि सर्व द्वीपोंके लिए जानें ।

परन्तु इतना विशेष समझे कि असंख्यात अन्य नामवाले असंख्य द्वीप-समुद्र जब व्यतीत हों तब दूसरा जम्बू, दूसरा धातकी और दूसरा खण आता है अर्थात् ये समान नामवाले द्वीप अथवा समुद्र साथ-साथ ही होते नहीं हैं, परन्तु असंख्यात असंख्यात द्वीप-समुद्रोंके अन्तर पर होते हैं ।

इस तरह सर्व ^{१६७}द्वीपादि के लिये सोचें ।

द्वीपसमुद्रोंकी व्यवस्थामें विशेषता—

श्री 'जीवसमास' वृत्तिमें तो ऐसा बताया है कि—रुचकद्वीप तकके द्वीप-समुद्र तो ऊपर जो क्रम कहा उसी क्रमके अनुसार ही है । परन्तु तत्पश्चात् असंख्य द्वीप-समुद्र व्यतीत होने पर भुजगद्वीप आता है, उसके बाद असंख्य द्वीप-समुद्र व्यतीत होनेके बाद कुशद्वीप आता है, तत्पश्चात् असंख्यात द्वीप-समुद्रोंका उल्लंघन करने पर क्रौंचद्वीप आता है, उसके बाद असंख्य द्वीपोंका उल्लंघन करने पर अनेक प्रकारके जो आभरण-आभूषण हैं उनमेंसे किसी भी एक आभूषणके नामवाला द्वीप आता है, तत्पश्चात् असंख्य द्वीप-समुद्रोंका उल्लंघन होनेपर अनेक प्रकारके वस्त्रोंमेंसे किसी एक वस्त्रके नामवाला द्वीप आता है । इस तरह असंख्य-असंख्य-द्वीप-समुद्रोंका उल्लंघन होनेपर 'आभरणवत्थगन्धे' इस गाथामें जो जो नाम दिये हैं, उन उन नामोंवाले अनेक प्रकारोंमेंसे अनुक्रमसे कोई भी एक द्वीप आता है । यहाँ यह शंका होगी कि—जब असंख्य-असंख्य द्वीप-समुद्रोंके अन्तर पर आभरण-वस्त्र-गन्ध आदि नामवाले द्वीप-समुद्र हैं तो विचमें जो असंख्य असंख्य द्वीप-समुद्र हैं वे किस नामके हैं ? उस शंकाके समाधानमें समझना चाहिए कि—विचमें वर्तित वे असंख्य द्वीप-समुद्र शंख-ध्वज-स्वस्तिक इत्यादि शुभ नामवाले ही हैं । यहाँ तात्पर्य इतना ही है कि विचमें असंख्य द्वीप-समुद्र चाहे किसी भी नामका हो (उसका यहाँ प्रयोजन नहीं है) परन्तु असंख्य असंख्य द्वीप-समुद्रोंके अन्तर पर 'आभरण-वत्थ-गन्ध' इत्यादि गाथामें कथित नामवाले द्वीप अनुक्रमसे आने चाहिए ।

साथ ही प्रस्तुत ग्रन्थके हिसाबसे 'रुचकद्वीप' तेरहवाँ आता है । जब कि श्री अनुयोगद्वार सूत्रके हिसाबसे 'रुचकद्वीप' ग्यारहवाँ है ।

॥ तिच्छालोकवर्ति क्रमशः द्वीप-समुद्र स्थापना ॥

१. जम्बूद्वीप. २. लवणसमुद्र. ३. धातकीखंड. ४. कालोदधिमुद्र. ५. पुष्करद्वीप.

मनुष्यक्षेत्रके बाहर—

६. पुष्करवासमुद्र. ७. वारुणीवर्द्धीप. ८. वारुणीवासमुद्र. ९. क्षीरवर्द्धीप. १०. क्षीरवासमुद्र.

११. घृतवर्द्धीप. १२. घृतवासमुद्र. १३. इक्षुवर्द्धीप. १४. इक्षुवासमुद्र. १५. नन्दीवर्द्धीप.

१६. नन्दीवर्द्धीप.....अब यहाँसे त्रिप्रत्यवतार द्वीप-समुद्र शुरु होते हैं ।

१७. अरुणद्वीप. १८. अरुणसमुद्र. १९. अरुणवर्द्धीप. २०. अरुणवासमुद्र. २१. अरुणवरावभासद्वीप

२२. अरुणवरावभाससमुद्र. २३. कुंडलद्वीप २४. कुंडलसमुद्र. २५. कुंडलवर्द्धीप. २६. कुंडलवासमुद्र. २७. कुंडलवराव-

भास द्वीप. २८. कुंडलवरावभाससमुद्र. २९. अरुणोपपातद्वीप. ३०. अरुणोपपातसमुद्र. ३१. अरुणोपपातवर्द्धीप.

३२. अरुणोपपातवरसमुद्र. ३३. अरुणोपपातवरावभासद्वीप. ३४. अरुणोपपातवरावभाससमुद्र.

३५. शंखद्वीप. ३६. शंखसमुद्र. ३७. शंखवर्द्धीप. ३८. शंखवासमुद्र. ३९. शंखवरावभासद्वीप. ४०. शंखवरावभाससमुद्र

४१. रूचकद्वीप. ४२. रूचकसमुद्र. ४३. रूचकवर्द्धीप. ४४. रूचकवरावभासद्वीप. ४५. रूचकवरावभाससमुद्र.

४७. मुजगद्वीप. ४८. मुजगसमुद्र. ४९. मुजगवर्द्धीप. ५०. मुजगवरावभासद्वीप. ५१. मुजगवरावभाससमुद्र.

५३. कुशद्वीप. ५४. कुशसमुद्र. ५५. कुशवर्द्धीप. ५६. कुशवासमुद्र. ५७. कुशवरावभासद्वीप. ५८. कुशवरावभाससमुद्र.

५९. कौचद्वीप. ६०. कौचसमुद्र. ६१. कौचवर्द्धीप. ६२. कौचवरावभासद्वीप. ६३. कौचवरावभाससमुद्र. ६४. कौचवरावभाससमुद्र.

पुनः—यहाँसे प्रत्येक शुभ वस्तुके नामवाले सर्व त्रिप्रत्यवतारी असंख्याता द्वीप-समुद्र, तथा प्रत्येक नामवाले द्वीप-समुद्र अन्तर-अन्तरसे असंख्यात आए हैं; जैसे कि—

द्वीप-समुद्र	मूलसमुद्र.	मूलद्वीप.	मूलवरसमुद्र.	मूलवरावभासद्वीप.	मूलवरावभाससमुद्र.
हार "	हार "	हार "	हार "	हार "	हार "
गंगा "	गंगा "	गंगा "	गंगा "	गंगा "	गंगा "
मेरु "	मेरु "	मेरु "	मेरु "	मेरु "	मेरु "
जम्बू "	जम्बू "	जम्बू "	जम्बू "	जम्बू "	जम्बू "
-	-	-	-	-	-
-	-	-	-	-	-
-	-	-	-	-	-
-	-	-	-	-	-
-	-	-	-	-	-

इस तरह यहाँ असंख्यात द्वीप-समुद्र आए हैं। उनमें सबसे अन्तिम त्रिप्रत्यवतार सूर्य नामका द्वीप-समुद्र आया है। यथा—

असंख्यातर्वा—सूर्यद्वीप. सूर्यसमुद्र. सूर्यवरद्वीप. सूर्यवरसमुद्र. सूर्यवरावभासद्वीप. सूर्यवरावभाससमुद्र.

इति त्रिप्रत्यवताराः द्वीपसमुद्राः समाप्ताः ॥

अब यहाँ अन्तिम प्रत्येक नामवाले पांच द्वीप-समुद्र, वे ये—

१. देवद्वीप-देवसमुद्र.
२. नागद्वीप-नागसमुद्र.
३. यक्षद्वीप-यक्षसमुद्र.
४. भूतद्वीप-भूतसमुद्र. अन्तिम
५. स्वयंपूरमणद्वीप और स्वयंपूरमणसमुद्र.

॥ इति त्रिच्छांलोकवर्ती द्वीप-समुद्र स्थापना यन्त्रं ॥



इस तरह कथित त्रिप्रत्यवतार द्वीप-समुद्रोंको सूर्यवरावभास समुद्र तक जानें, तत्पश्चात् १. देवद्वीप, २. नागद्वीप, ३. यक्षद्वीप, ४. भूतद्वीप, ५. स्वयंभूरमणद्वीप (अन्तरालमें उन्हीं नामवाले समुद्र समझ लें) इस प्रकार ^{१६८}पाँच द्वीप-समुद्र हैं ।

ये द्वीप-समुद्र त्रिप्रत्यवतार नहीं हैं तथा इन नामवाले द्वीप-समुद्र असंख्यात भी नहीं हैं, इतना ही नहीं लेकिन असंख्यात द्वीप-समुद्रोंमें इन नामके दूसरे द्वीप या समुद्र भी नहीं हैं । इसकी यह विशेषता है । अन्तिम स्वयंभूरमणद्वीपके पश्चात् उस नामधारी स्वयंभूरमणसमुद्र आया है । इस समुद्रकी जगती के बाद जिसका अन्त नहीं है ऐसा अलोक आया है ।

इस तरह सर्व द्वीप-समुद्रोंका स्वरूप बताया । विशेष 'श्री दीवसागरपद्मति' आदिसे जान लें । [७२-७३-७४-७५]

अवतरण—अब सकल द्वीप-समुद्राधिकारकी प्रशस्ति तक पहुँचे हुए ग्रन्थकार महर्षि प्रत्येक समुद्रवर्ती जल कैसे स्वादवाला है ? तथा उसमें रहे मस्त्यादिकका प्रमाण कितना है ? यह बताते हैं—

वारुणिवर खीरवरो-घयवर लवणो य हुंति भिन्नरसा ।

कालो य पुक्खरोदहि, सयंभूरमणो य उदगरसा ॥ ७६ ॥

इक्खुरस सेसजलहि, लवणे कालोए चरिमि बहुमच्छा ।

पण-सग-दसजोयणसय-तणु कमा थोव सेसेसु ॥ ७७ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ ७६-७७ ॥

विशेषार्थ—पहला लवणसमुद्र, चौथा वारुणीवर समुद्र, पाँचवाँ खीरवर समुद्र और छठा घृतवर, इतने समुद्रोंका पानी अपने अपने नामोंके अनुसार गुणवाले-अर्थात् भिन्न भिन्न रसवाले हैं अर्थात् लवण=खारा अतः खारापानीवाला वह लवण समुद्र । वारुणीवर=मदिरा श्रेष्ठ अर्थात् श्रेष्ठ मदिरा ^{१६९}(शराब) समान जल है, जिसमें वह खीरवर ^{१७०}श्रेष्ठ

१६८. 'देवे नागे ज्जक्खे, भूए य सयंभूरमणे य । इक्खिके चेव माणियक्खे, तिपटो आरया नत्थि ॥१॥'

[देवेन्द्र० न० प्र०]

१६९. चक्रहासादि उत्तम मदिरावाला परन्तु यहाँकी तरह बद्बू फैलाते बद्बूदार शराब जैसा नहीं ।

१७०. यह जल दूध तुल्य है लेकिन दूधके समान नहीं है, दूध जैसा श्वेत वर्णवाला है । चार सेर दूधमेंसे तीन सेर जलाकर, सेर दूध शेष रखकर उसमें शर्करा डालकर पीनेसे जैसी मिठास लभ्य हो वैसी मिठासवाला यह पानी है । तथा चक्रवर्ती जैसेकी गायके दूधसे भी अधिक मिठासवाला, यह पानी पीनेवालेको लगता है । तथापि इस दूधसे दूधपाक आदि नहीं होता । इस समुद्रके उत्तम जलको इन्द्रादिक देव परम तारक-देवाधिदेवोंके जन्मकल्याणक प्रसंग पर अभिषेकमें उपयोग लेते हैं ।

दूध जैसे स्वादवाला पानी जिसमें है वह और घृतवर-उत्तम ^{१७१} घीके समान स्वादवाला जल जिसमें होता है वह ।

दूसरा कालोदधि, तीसरा पुष्करवर और चरिम अर्थात् अंतिम स्वयंभूरमण ये तीनों समुद्र प्राकृतिक ^{१७२} जल जैसे स्वादवाले हैं और शेष समग्र (असंख्यात) समुद्र-स्वाभाविक ^{१७३} इक्षु = ईखके रसके समान आस्वादवाले हैं ।

इन सर्व समुद्रोंमेंसे लवणसमुद्रमें उत्सेधांगुलके मापसे ५०० योजनके, दूसरे कालोदधि समुद्रमें ७०० योजनके और अंतिम स्वयंभूरमणसमुद्रमें १००० योजनके उत्कृष्ट प्रमाणवाले व्हेल-मत्स्य (मगरमच्छ) आदि होते हैं । उसके अतिरिक्त शेष समुद्रोंमें उक्त प्रमाणसे क्रमशः न्यून और भिन्न भिन्न प्रमाणवाले मत्स्यादि होते हैं । ऊपर कथित तीनों समुद्रोंमें विशेषतः बहुत मत्स्य होते हैं, जबकि अन्य समुद्रोंमें अल्प होते हैं ।

विशेषमें लवणसमुद्रमें सात लाख कुलकोटि मत्स्य, कालोदधिमें नौ लाख कुलकोटि और स्वयंभूरमणसमुद्रमें साठे बारह लाख कुलकोटि मत्स्य होते हैं ।

सर्वसमुद्राश्रयी जलस्वाद तथा मत्स्य प्रमाणका यंत्र ।

नाम	जलस्वाद	मत्स्य प्रमाण
लवण समुद्रका	लवण (खारा) पानी है	५०० योजन उत्कृष्ट
कालोदधि ,,	मेघ जलवत्	७०० यो. ,,
पुष्करवर ,,	"	छोटे छोटे प्रमाणवाले
वारुणिवर ,,	मदिराके समान	" "
क्षीरवर ,,	दूधके समान	" "
घृतवर ,,	गायके घृतके समान	" "
असंख्यात ,,	सर्व इक्षु रसके समान	अलग अलग ,,
स्वयंभूरमण ,,	बरसातके वारिवत्	१००० यो. उत्कृष्ट ,,

१७१. यह पानी घीके तुल्य अर्थात् घी नहीं परंतु उसके जैसे स्वादवाला होता है, क्योंकि घी जैसा होता तो उससे पूरी आदि तली जा सकती है, परंतु वैसा बनता नहीं ।

१७२. अतिशय निर्मल, सुंदर और हल्का (आहार शीघ्र पचावे वैसा) और अमृत जैसी मिठासवाला पानी समझें ।

१७३. यह पानी ईखके रस जैसा स्वादवाला, परंतु ईखका रस न समझें । यह पानी चतुर्जातक (तज, इलायची, केसर और कालीमिर्च) वस्तुको, चार सेर ईखके रसमें डालकर उबालते उबालते तीन सेर जल जाने पर एक सेर शेष रहने पर उसे पीनेसे, उसमें जिस प्रकारकी मिठासका अनुभव प्राप्त हो, उससे अधिक मिठास इन सर्व समुद्रोंके जलकी जानें ।

प्रत्येक द्वीप-समुद्र वज्रमय जगतीसे लपेटे हुए हैं, जिस तरह नगरके रक्षणार्थ किला होता है, उसी तरह यह जगती मूलमें बारह योजन, मध्यभागमें आठ योजन और शिखर पर चार योजन चौड़ी होती है तथा कुल वज्ररत्नसे शोभित यह जगती आठ योजन ऊँची होती है ।

इस जगती पर अनेक प्रकारके विविध वर्णमय रत्नोंसे सुशोभित पद्मवर नामकी वेदिका है । यह वेदिका दो कोस ऊँची और ५०० धनुष विस्तारवाली है । इस वेदिकाकी दोनों बाजू पर उत्तम प्रकारके भिन्न भिन्न प्रकारके वृक्षोंवाले, अनेक प्रकारसे सुशोभित श्रेष्ठ वन आए हैं । इन वनखंडोंमें व्यन्तर देव-देवियाँ अनेक प्रकारकी क्रीडाएँ करते हैं ।

इस जगतीके मध्यभागमें चारों ओर घूमता हुआ उक्त वेदिकाके प्रमाणवाला गवाक्षकटक (झरोखा) आया है । इस कटकमें व्यन्तर देव-देवियाँ समुद्रकी लीला-सुन्दर लहरोंको अनुभूत करके, विविध प्रकारकी हास्यादि क्रीडाएँ करते हैं और अनेक प्रकारके सुखोंका अनुभव करते हैं । [७६-७७]

॥ दूसरे भवनद्वारमें द्वीप समुद्राधिकार पूर्ण हुआ ॥

॥ द्वीप-समुद्राधिकारे तृतीयं लघु परिशिष्टम् नं-३ ॥

जैनदृष्टिसे ज्वार-भाटाका कारण—

तिच्छालोकवर्ती असंख्यात द्वीप-समुद्रोंमेंसे सिर्फ एक लवणसमुद्रमें ही ज्वार-भाटाका प्रसंग मिलता है । हम एक लाख योजनके बने जंबूद्वीपमें आए हुए छोटेसे भरतक्षेत्रमें रहते हैं । इस भरतक्षेत्रकी (उत्तर दिशाके सिवा) तीनों दिशाओंमें लवणसमुद्र होनेसे इस भरतक्षेत्रवर्ती मानवोंको लवणसमुद्रमें होते ज्वार-भाटाके प्रसंग विशेष रूपमें देखनेमें आते हैं । लवणसमुद्र जंबूद्वीपकी चारों बाजुओंसे परिवेष्टित बलयाकारमें आया है और उसका चक्रवाल-एक बाजूका (चौड़ाई) विष्कंभ दो लाख योजन प्रमाण है । इस समुद्रमें एक हजार योजनके विस्तारवाली और समभूतलकी समसतहसे सोलह हजार योजन और समुद्रतलसे सत्रह हजार योजन ऊँची जलवृद्धि होती है । इस जलवृद्धिके नीचे चारों दिशाओंमें एक एक बड़े पातालकलश आये हैं । ये कलश बड़े घटके आकार के समान और वज्ररत्नके हैं । इसके ठीकरेकी मोटाई एक हजार योजनकी, नीचेसे दस हजार योजन चौड़े और उतने ही चौड़े ऊर्ध्वस्थानमें भी अर्थात् दस हजार योजन चौड़े मुखवाले,

मध्यभागमें चौड़ाईमें एक लाख योजन भूमिमें गए हुए हैं, जिससे समभूमिकी समसतहसे एक लाख योजन उपरान्त एक हजार योजन प्रमाण पूर्ण होने पर नीचेके कलशका तलवा आता है । और ऊपरसे चारों कलश समसतहमें रहते हैं ।

पूर्व दिशाके कलशका नाम 'वडवामुख' दक्षिण दिशाका 'केयूप' पश्चिम दिशाका 'यूप' और उत्तर दिशाका 'ईश्वर' इस तरह महाकलश आए हैं । एक कलशसे दूसरे कलशका अंतर २१९२६५ योजन है । और उस हरएक अंतरकी चौड़ाई दस हजार योजन विस्तारवाली है । इस विस्तारमें लघुपातालकलशोंकी नौ पंक्तियाँ समा जाती है । (चित्र देखनेसे विशेष खयाल आएगा) इन नवों पंक्तियोंके मिलकर एक कलशके आंतरेके १९७१ लघुपातालकलश हैं, इस तरह चारों कलशके आंतरेकी नवों पंक्तियोंके कुल ७८८४ लघुपातालकलश आए हैं । प्रत्येक कलश पर आधे पत्थोपमके आयुष्यवाले अधिपति देव होते हैं । ये लघुपातालकलश बडे चार कलशोंकी अपेक्षासे प्रमाणमें उनसे सौवें भागके जानें । ये कलश सचिच्च पृथ्वीके वज्ररत्नमय हैं ।

इन चारों महापातालकलशों पर अनुक्रमसे एक पत्थोपमके आयुष्यवाले काल-महाकाल-वेलंब-प्रमंजन-ये चारों देव अधिपतिके रूपमें हैं । इन चारों महाकलशोंकी एक लाख योजनकी गहराईको तीन भागोंमें बाँटनेसे ३३३३३ $\frac{1}{3}$ योजन प्रत्येक भागमें प्राप्त होता है । उनमें प्रथम भागके ३३३३३ $\frac{1}{3}$ भागमें केवल वायु भरा है, मध्यके ३३३३३ $\frac{1}{3}$ भागमें वायु और जल दोनों होते हैं; और ऊपरके ३३३३३ $\frac{1}{3}$ भागमें केवल जल होता है । (लघु कलशोंमें भी यही क्रम समझें, परन्तु प्रमाण कम समझें ।)

अब नीचेके दोनों भागमें वायु होनेके कारण वायुके स्वभावके अनुसार-कुदरती तौर पर ही उनमें तेज हवा चलती है और वह वायु अत्यन्त क्षुब्ध होता है । क्षुब्ध होनेके कारण अगल-बगल निकलनेका मार्ग भी चाहिए और मार्ग तो है नहीं, अतः वायु ऊँचा उछलता है । (जैसे मनुष्योंके उदरमें रहा इवासोच्छ्वास-प्राणवायु स्वाभाविक ऊर्ध्व होकर उच्छ्वासरूपमें बाहर निकलता है वैसे ।) बाहर निकलने चाहता ऐसा वायु नीचेसे उछलता हुआ तीसरे भागमें रहे जलको और परंपरासे कलशके ऊपरके जलको उछलता है, जिससे समुद्रगत १६००० योजनकी शिखारूपमें रहा ऊँचा जल वह भी शिखाके अंतसे ऊपर दो कोस तक वृद्धि पाता है । यह जलवृद्धि कुदरती तौर पर और वेलंधरनागकुमार देवोंके १७४ तीनों दिशावर्त्ती प्रयत्नसे तीनों बाजू पर और समुद्रके बाहरकी प्रचंड हवासे आगे बढ़नेसे रुक जाती है क्योंकि वे देव बडे कलछे (करछुल)से आगे बढ़ते जलको रोकते जाते हैं । ऐसा नहीं होता तो उस समुद्रवेलकी वृद्धि अनेक नगरोंको एक ही थपेडेमें

१७४. इस जलवृद्धिको रोकनेवाले नागकुमार निकायके १७४००० देव होते हैं । श्री संघके प्रकृत पुन्योदयसे ही और तथाविध जगत् स्वभावसे ही जलवृद्धि वृद्धि पानेसे रुक जाती है ।

जलमय बना देती । परंतु समुद्र मर्यादाका उल्लंघन करता ही नहीं है, जिससे नगरादि स्थल वगैरह जलमय नहीं हो सकते, यह उसका अनादिसिद्ध स्वभाव है । इस कलशका वायु जब शान्त होता है तब जलवृद्धि और दूरवर्ती गया छिछला (उछला) जल, क्रमशः घटता हुआ स्वस्थान पर आ जाता है । यह जलवृद्धि हररोज दिनमें दो बार होती है, उसमें भी अनुक्रमसे अष्टमी-चतुर्दशी और पूर्णिमा आदि दिनोंमें तो वह वायु स्वाभाविकरूपसे अत्यन्त-विशेष क्षुब्ध होता है, अतः जलवृद्धि उन दिनोंमें बहुत प्रबल होती है ।

इस तरह पातालकलशमें रहे वायुके क्षोभसे सोलह हजार योजन ऊँची लवणसमुद्रकी जलशिखाके ऊपर दो कोस ऊँची जलकी वेलका बढ़ना और उसके परिणामस्वरूप लवणसमुद्रके हरएक विभागमें तरंगों-लहरोंके साथ पानीका जंबूधातकीकी जगतीकी ओर बढ़ना 'ज्वार' कहा जाता है और उसके शांत होने पर 'भाटा' ^{१७५} कहा जाता है ।

प्रश्न—लवणसमुद्रमें होते ज्वार-भाटाके साथ यहाँ के समुद्रका क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—यहाँ जो समुद्र हम देखते हैं उसे हम अपनी स्थूल दृष्टिसे एक अथाह समुद्र जरूर कह सकते हैं लेकिन लवणसमुद्रकी अपेक्षासे बड़ा दिखाई देनेवाला यह समुद्र तो एक खाड़ी मात्र है । क्योंकि यह समुद्र उसी लवणसमुद्रकी ही नहर रूपमें आया है, ऐसा नीचेकी हकीकत साबित करती है ।

असंख्य वर्ष पहले हो गए सगर नामके चक्रवर्तीनि सौराष्ट्र (काठियावार) में वर्तित श्री शत्रुंजयपर्वत पर रहे मणिरत्नमय जिनबिंबोंका—कलिकालके जीवोंकी बढ़ती हुई लोभ-वृत्तिके कारण-रक्षण करनेके लिए इस शश्वत और महापवित्र पहाड़की चारों ओर मैं समुद्र रक्खूँ । जिससे इन रत्नमयबिंबोंका भविष्यमें लोभासक्त होनेवाले पंचमकालके जीवोंसे रक्षण मिल सके, इसी भावनासे लवणसमुद्रके अधिष्ठायक सुस्थित देवका आराधन करके, लवणसमुद्रके जलको शत्रुंजयपर्वतकी चारों ओर रखनेके लिए उस देवसे फरमान किया, आज्ञावश हुए देवने जंबूद्वीपके पश्चिमद्वारसे लवणसमुद्रका जल घुमाया, और ठेठ हालमें शत्रुंजय-पालीतानाके पास आए तालध्वज पर्वत (गाँध-तलाजा) तक लाए, इतनेमें इन्द्र-महाराजने भरतमें वर्तित भावोंका निरीक्षण करनेका उपयोग रक्खा, इसे रखते ही इस अनिच्छनीय घटनाको देखकर तुरन्त ही स्वर्गमेंसे पृथ्वी पर आकर उस चक्रवर्तीको उद्देश्य कहा, कि हे सगर ! कलिकालमें होनेवाले जीवोंके लिए श्रीसिद्धाचलतीर्थ इस संसारसमुद्रमेंसे

१७५. यदि केवल चन्द्रकलाकी हानि-वृद्धिके लिए ही ज्वार-भाटा होता हो तो चन्द्रकलासे त्रिलकुल रहित अमावसकी रात्रिको ज्वारका प्रमाण क्यों अधिक होता है ? और अक्षयतृतीया आदि ज्वारके दिनोंमें चन्द्रकलाकी वृद्धिका कारण कहाँ रहा ? और दिनमें भी ज्वार-भाटा होता है तो उस समय चन्द्रकला तो दीखती ही नहीं है तो उसका क्या कारण ? आदि विचारणीय है ।

बूटनेका अनमोल कारण है । यदि कलिकालके जीव इस तीर्थके दर्शन नहीं कर पाएँगे तो उन्हें मोक्ष पानेका दूसरा प्रबल साधन क्या ? यह शत्रुंजय पर्वत तो अनन्ता सिद्धजीवोंका स्थान होनेसे इसकी रजे रज भी पवित्र है । हम भी बोलते हैं कि 'कंकड कंकड अनन्ता सिद्धया ।' इस पर्वतको स्पर्श करनेवाले किसी भी जीवमात्रको अवश्य 'भव्य' कहा है । (मोक्ष प्राप्त करनेकी योग्यता वाले) सर्व पर्वतोंमें यह पहाड पवित्र है । इसके विमलचल, शत्रुंजय, सिद्धक्षेत्र इत्यादि अनेक नाम हैं, इसलिए यदि इस तीर्थकी चारों ओर समुद्र रक्खा जाएगा तो ऐसे प्रबल आलंबनके बिना कलिकालके भव्यात्माओंकी क्या दशा होगी ?

इस तरह उनके समक्ष सर्व माहात्म्यका वर्णन करते ही तुरंत उस समुद्रको शत्रुंजयकी चारों ओर रखनेसे रक जाते हैं, और अतः अब भी देख सकते हैं कि वह समुद्र तलाजा तक आया है और मानो वहाँसे लौट गया हो ऐसा ल्याता है । वहाँ सामने किनारा भी दीखता है । [विशेष जानकारीके लिए देखिए : शत्रुंजयमाहात्म्य-सर्ग ८] यह आया हुआ समुद्र जिसे हम देखते हैं उसके विभागोंका परिचय हो सके इसलिए उन उन स्थानोंकी अपेक्षासे जनताने अनेक नाम भी रखे हैं ।

इस तरह इस दृश्यमान समुद्रका संबंध लवणसमुद्रके साथ होनेसे ऐसी महान जलबुद्धिका जल सर्वत्र असर करता हो उसमें सोचने जैसा रहता नहीं है ।

ये पातालकलश अन्य किसी समुद्रमें नहीं हैं । जिससे लवणसमुद्रके सिवा अन्य समुद्रोंमें ज्वार-भाटा भी नहीं है ।

तिच्छालोकवर्षी असंख्यात द्वीप-समुद्र आए हैं । अन्य दर्शनकार सात द्वीप (और सात) समुद्र मानते हैं, ऐसा माननेका क्या कारण हुआ यह आगे बताया है, परंतु यहाँ इतना बताना जरूरी है कि-सर्वज्ञ भगवंत कदापि अन्यथा बोलते ही नहीं हैं । जिन्होंने रागद्वेषका निर्मूल क्षय करनेके बाद ही, जो वचनोच्चार किया हो वह सर्वथा सत्य ही होता है, क्योंकि असत्य बोलनेके कारणोंका उन्होंने सर्वथा क्षय किया है, उन सर्वज्ञ प्रभुके वचनमें संशयको तो स्थान ही नहीं होता । जिन्होंने अल्पबुद्धि या अल्पज्ञानसे जिस जिस वस्तुको जितने रूपमें देखी उतनी कही, अतः वह वस्तु उतनी ही है ऐसा कैसे कहा जाए ?

सात द्वीपका मन्तव्य

इन सात द्वीप-समुद्रोंकी प्ररूपणा भगवान महावीर महाराजके समकालीन शिवनामा राजर्षिसे चली आती दीखती है । उस राजर्षिको उग्र तपस्या तपते तपते अल्पप्रमाणका विभंगज्ञान हुआ । उस ज्ञानसे यावत् सात द्वीप-समुद्र तो वे देख सके । परंतु आगे देखनेकी शक्ति जितना ज्ञान नहीं होनेसे न देख सके, अतः उस राजर्षिने 'सात द्वीप-समुद्र ही मात्र लोकमें हैं,' ऐसी प्ररूपणा सर्वत्र फैलाई । लोग तो भेड़ियाधसान जैसे हैं

अतः यह हकीकत व्यापक हो गई । यह बात भगवान महावीर महाराजने जानी और सर्वज्ञ भगवन्तने उस वस्तुका घटरफोट किया । यह बात कर्णोपकर्ण शिवराजर्षिने भी जानी । उन्होंने भी भगवानके समीप आकर कुछ ^{१७६}प्रश्न किये । अंतमें उनको समाधान हुआ और अपनेको हुई इस शंकाके निवारण करनेवाले उन परमकारुणिक परमात्मा ^{१७७}महावीरदेवके प्रति परमभक्ति भी जागृत हुई । भावना भावते उन्होंने भी उस वस्तुको देख सकनेको समर्थ ऐसा केवलज्ञान प्राप्त किया जिससे स्वशंका भी दूर हुई । परंतु पूर्व प्रसरी हुई बात प्रबल स्वरूपमें फैली थी अतः वह प्रवाह अब तक चला आया है । इस बातको मान्य रखनेवाले क्षणभर सोचे कि जब तक उस राजर्षिको ज्ञान नहीं हुआ था और द्वीप-समुद्रकी प्ररूपणा नहीं की थी तब द्वीप-समुद्रके बारेमें वे क्या मानते होंगे ? अरे ! वर्तमान उदाहरण सोचे कि, जब कोलंबसने अमेरिका खण्ड नहीं ढूँढा था, तब तक पृथ्वीके बारेमें क्या मानते थे ? ज्यों ज्यों संशोधनकार्यका विकास होता गया त्यों त्यों वे आगे बढ़ते गए और कुछ साल पहले पाश्चात्योंने अमेरिकासे भी ^{१७८}आगेकी भूमिका संशोधन किया है और अब भी संशोधन कर रहे हैं । वैसे यहाँ भी जितने जितने पैमानेमें ज्ञानशक्तिके विकासकी वृद्धि होती है उतने उतने पैमानेमें अतीन्द्रिय वस्तुएँ भी अवश्य आत्मसाक्षात् होती जाती हैं, अतः वस्तुका अभाव तो नहीं ही कह सकते । अतीन्द्रिय वस्तुको अगर श्रद्धागम्य न मानी जाए और उसके लिए यद्वातद्वा दलीलें पेश की जाएँ तो कैसे चलेगा ? दृष्टिसे न दिखाई देती ऐसी बहुत-सी बातें जैसे दूसरोंके कहनेपर मान ही लेते हैं । वैसे हमें आत्मप्रत्यक्ष ज्ञान न होनेसे हरएक वस्तु हमें आत्मप्रत्यक्ष नहीं होती, उस वक्त जिन्हें आत्मप्रत्यक्ष हुई हो तो उनके कहनेसे हमें उसे मान्य रखनी ही पड़ती है । अतीन्द्रिय ऐसी वस्तुएँ भी श्रद्धासे और युक्तिसे मान्य न रखें तो परभवके बारेमें भी शंका उत्पन्न होगी और नास्तिक यादव्योंके मतकी मानना पडेगा । जैन सिद्धान्तकारोंने बालजीवोंके हितार्थ आश्चर्यरूप ऐसे पदार्थ भी युक्ति-श्रद्धागम्य हो सके इसलिए अनेकानेक युक्तियाँ दी हैं, परंतु जो पदार्थ युक्तिसे भी समझाये न जा सके ऐसे हों वहाँ 'श्रद्धा' ही प्रमाण है । अतः ही क्षेत्रसमासके कर्ता कहते हैं कि—

‘सेसाण दीवाण तद्दोदहीणं, विआरचित्थारमणोरपारम् ।

सया सुयाओ परिभावयंतु, सव्वंपि सव्वन्नुमइक्कचित्ता ॥१॥’

अर्थ—‘शेष द्वीप-समुद्रोंकी बुद्धिसे गम्य न हो ऐसी अपार विचारणाके सर्व स्वरूपको

१७६. देखिए भगवतीसूत्र श. ११. उ. ९

१७७. शिवराजर्षि विपर्यय देखतो रे, द्वीप सागर सात सात रे,

वीरपसाये दोष विभंग गयो रे, प्रकट हुआ अवधिगुण विव्यातरे ! [ज्ञान पं०. देवबंदी]

१७८. न्यूझीलैन्ड देश ।

सर्वज्ञके मतसे एकचित्त होकर श्रुतके अनुसार सोचें' । इस कथनमें गंभीर उद्देश्य समाविष्ट है । महर्षिने हमें संक्षिप्तमें समझा दिया कि—अगर आगमप्रमाण या सर्वज्ञप्रमाण वस्तुओं पर श्रद्धा नहीं रखेंगे, तो समग्र चौदह राजलोकका स्वरूप ऐसा आश्चर्यकारक है कि जो स्वरूप अन्य किसी भी दर्शनमें किसी भी स्थान पर नहीं है, मात्र जैन दर्शनमें ही है; (क्योंकि यह सर्वज्ञ भगवंतका कथन है ।) फिर तो उन पर श्रद्धा ही नहीं रहेगी, क्योंकि जहाँ युक्तियाँ काम नहीं आतीं ऐसे अतीन्द्रिय पदार्थोंको युक्तिसे कैसे समझाए जाएँ ? और अपनी बुद्धिकी मर्यादा कितनी ? कूप-मंडूक जितनी, और ज्ञानीके ज्ञानकी अगाधता कितनी ? गाँवोंके ग्रामीण लंदन, पेरीस, न्यूयॉर्क जैसे शहरोंकी महानता और सुरम्यताको ग्राम्य दृष्टिसे समझ भी क्या सके ? अतीन्द्रिय पदार्थोंकी श्रद्धाके लिए ' नंदीवृत्ति ' में श्रीमान् मलयगिरिजी महाराजने भी कहा है कि—

‘ अतीन्द्रिये च संसारे, प्रमाणं न प्रवर्तते ’

इस वचनका अनुसरण करके हे भव्य आत्माएँ ! आप भी सर्वज्ञभाषित वचनमें श्रद्धालु हों; जिस श्रद्धाको पाकर, परंपर कर्मक्षय करते करते केवलज्ञान प्राप्त करके, स्वतः सर्वज्ञता प्राप्त करके, सर्व वस्तुओंको आत्मसाक्षात् करनेवाले हो सकें ।

विशेषतः इन असंख्यात द्वीप-समुद्रोंकी रत्नमय जगतीओंका प्रमाण एक समान होनेसे देवोंको अथवा वैसे विशिष्टज्ञानियोंको वह कितना आश्चर्यजनक लगता होगा !

इस प्रकार तीसरा परिशिष्ट पूर्ण हुआ ॥

सर्वद्वीपसमुद्रायाश्रयी चन्द्र-सूर्यसंख्याकरण तथा अन्तरविचार ।

अवतरण—पहले असंख्यात द्वीप-समुद्रका वर्णन करनेके बाद पुनः ज्योतिषी निकायका विषय ग्रहण करते हुए प्रथम मनुष्यक्षेत्रमें कितने चन्द्र-सूर्य होते हैं ? यह बतानेसे पहले असंख्य द्वीप-समुद्रोंमेंसे, कौनसे द्वीप-समुद्रमें कितने-कितने चन्द्र-सूर्य होते हैं ? इसके लिए दो गाथाओं द्वारा 'करण' = उपाय बताते हैं ।

इस विषयमें तीन मत प्रवर्तित हैं । उनमें ग्रन्थकार महर्षि प्रथम अपना मत बताते हैं कि—

१७८ दो ससि दो रवि पढमे, दुगुणा लवणम्मि धायईसंडे ।
 बारस ससि बारस रवि, तप्पभिइ निदिट्टु ससि-रविणो ॥ ७८ ॥
 तिगुणा पुन्विळ्ळुया, अणंतराणंतरंमि खित्तम्मि ।
 कालोए बायाला, विसत्तरि पुक्खरद्धम्मि ॥ ७९ ॥

गाथार्थ—पहले जम्बूद्वीपमें दो चन्द्र और दो सूर्य होते हैं, दूसरे लवणसमुद्रमें चार चन्द्र और चार सूर्य, धातकी खण्डमें बारह चन्द्र और बारह सूर्य होते हैं। इस धातकीखण्डके चन्द्र-सूर्यकी संख्याको तीन गुनी करनेसे जो संख्या आवे उस संख्यामें पहलेके द्वीप-समुद्रोंके चन्द्र-सूर्योंकी संख्याको (अर्थात् जम्बू और लवणके कुल मिलाकर छः छः चन्द्र-सूर्यकी संख्याको) जोड़नेसे बयालीस चन्द्र-सूर्य कालोदधि-समुद्रमें हैं। इस उद्भूत संख्याको त्रिगुनी करके पूर्वके द्वीप-समुद्रगत सूर्य-चन्द्रोंकी संख्याको जोड़नेसे जो संख्या प्राप्त हो उसका आधा करनेसे अर्ध पुष्करवर द्वीपमें ७२-७२की चन्द्र-सूर्योंकी संख्या होती है। ॥ ७८-७९ ॥

विशेषार्थ—पहले जम्बूद्वीपमें दो चन्द्र और दो सूर्य हैं, उनमें दिवस रात्रिको उत्पन्न करनेवाले दो सूर्य हैं और तिथियोंको उत्पन्न करनेवाले दो चन्द्र हैं। इस जम्बूद्वीपमें ज्योतिषीके विमान चन्द्र और सूर्य संबंधी ही हैं ऐसा नहीं है परंतु प्रत्येक चन्द्रके परिवार रूप ८८ ग्रहोंके, २८ नक्षत्रोंके और ६६९७५ कोडाकोडी तारोंके विमान भी हैं और वे रत्नप्रभागत समभूतला पृथ्वीसे ७९० योजन जानेके बाद शुरू होते हैं और ११० योजनमें समाप्त होते हैं। अट्टाईद्वीपवर्ती मनुष्यक्षेत्रमें कृत्रिम नहीं परंतु स्वभावसिद्ध ये ज्योतिषी विमान, अनादिकालसे अचल ऐसे मेरूपर्वतकी चारों ओर परिमंडलकार गतिसे (वलयाकारमें) परिभ्रमण करते, स्वप्रकाशित क्षेत्रोंमें दिन और रात्रियोंके विभाग करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु अट्टाईद्वीपरूप इस मनुष्यक्षेत्रमें अनन्तसमयात्मक जो कालद्रव्य है। वह इस सूर्य-चन्द्रकी परिभ्रमणरूप क्रियासे ही व्यक्त होता है और वर्तनादि अन्य द्रव्योंके परिणामकी अपेक्षासे रहित जो अद्वाकाल है वह भी इस मनुष्यक्षेत्रमें ही वर्तित है।^{१८०}

१७९. तुलना करें—‘ धायइसंडप्पभिइ, उदिट्टा तिगुणिया भवे चंदा ।

आइळ्ळुचंद सहिया, ते हुंति अणंतरं परतो ॥१॥

आईच्चाणंपि भवे, एसेव विही अणेण कायव्वो ।

दीवेसु समुद्रेसु य, एमेव परंपरं जाण ॥२॥’

१८०. देखिए—‘ सूरकिरियाविसिट्ठो, गोदोहाइकिरियासु निरवेक्खो ।

अद्वाकालो भन्तइ, समयखेत्तम्मि समयाइ ॥१॥’

साथ ही समग्र मनुष्यक्षेत्रमें समय-आवलिका-मुहूर्त्त-दिवस-मास-संवत्सरादि सर्व कालको करनेवाला मुख्यरूपसे चरसूर्य (की गतिक्रिया) ही है, और उस चर सूर्यकी गतिसे उत्पन्न होते कालकी अपेक्षा रखकर ज्ञानी महर्षियोंने मनुष्यक्षेत्रका समयक्षेत्र ऐसा दूसरा नाम भी दिया है । विशेषतः यह समय-आवलिकादि सर्व व्यावहारिक काल इस मनुष्यक्षेत्रमें ही है । अटाईद्वीप बाहरके द्वीपसमुद्रोंमें यह व्यावहारिक काल वर्तित नहीं है, परंतु वह अटाईद्वीपके बाहरके क्षेत्रोंमें किसी भी स्थान पर पंचास्तिकायके पर्यायरूप पारिणामिक काल (कालाणुद्रव्य) तो है ही ।

ऊपरके लेखनसे कदाचित् किसीको शंका होनेका संभव है कि—जब व्यावहारिक काल अटाईद्वीप बाहरका नहीं है तो उस अटाईद्वीपके बाहर रहनेवाले तिर्यचोंका और देव-नारकोंका आयुष्य आदि स्थितिकालका प्रमाण जिन सिद्धान्तोंमें आता है वह प्रमाण किस कालकी अपेक्षासे समझे ? इस शंकाके समाधानमें समझना कि 'चक्रकीलिका' न्यायसे समयक्षेत्रमें रहे हुए व्यावहारिक काल द्रव्यसे उस उस वस्तुका पारिणामिक काल माना जा सकता है ।

उस समयादि कालके करनेवाले सूर्योंमेंसे एक सूर्य मेरुकी दक्षिणदिशामें हो तब दूसरा सूर्य उत्तरदिशामें होता है । एक चन्द्र मेरुकी पूर्वदिशामें हो तब दूसरा पश्चिमदिशामें होता है । इस तरह उनकी परस्पर प्रतिपक्षी दिशामें चार क्रियाएँ होती हैं । ये दो चन्द्र और दो सूर्य जंबूद्वीपमें रहे हुए क्षेत्रोंको प्रकाशित करते हैं । एक चन्द्र-सूर्य कितने क्षेत्रको प्रकाशित करे ? यह तो आगे प्रसंग उपस्थित होने पर कहा जाएगा ।

लवणसमुद्र जम्बूसे द्विगुण (२ लाख) प्रमाणवाला होनेसे उसमें चन्द्र-सूर्यकी संख्या भी जम्बूके चन्द्र-सूर्यकी संख्यासे द्विगुण अर्थात् चार चन्द्र और चार सूर्यकी हैं । तत्पश्चात् धातकीखण्डका क्षेत्र उससे भी द्विगुण (चार लाख योजन) है । इस धातकीखण्डमें चन्द्र-सूर्यकी संख्या बारह-बारहकी हैं ।

अब कालोदधि समुद्रसे अन्तिम स्वयंभूरमण तकके द्वीप-समुद्रोंमें चन्द्र-सूर्यकी संख्या जाननेका 'करण' बताते हैं ।

जिन द्वीप-समुद्रोंके चन्द्र-सूर्य आदिकी संख्याका प्रमाण निकालना हो तब उसके पूर्वका जो द्वीप अथवा समुद्र हो, उसमें वर्तित चन्द्रों या सूर्योंकी संख्याको तीन गुनी करें, और जिस द्वीपके चन्द्र और सूर्यकी संख्याको तीनगुनी की है उसमें उसके पूर्वके (जम्बूद्वीपसे

१८१. देखिए—'समयावलिकापक्ष-मासत्त्वयनसञ्ज्ञकः ।

चलोक एव कालस्य, वृत्तिर्नान्यत्र कुत्रचित् ॥१॥'

लेकर) सारे द्वीप-समुद्रोंके चन्द्र-सूर्योकी संख्याको जोड़े । अब ऐसा करनेसे जो संख्या प्राप्त होती है उस संख्याको इष्टद्वीप या इष्टसमुद्रके चन्द्र-सूर्योकी जाने ।

उदाहरण स्वरूप कालोदधि समुद्रके चन्द्र-सूर्योकी संख्या अगर जाननी हो तो, धातकीखण्डके बारह चन्द्र-बारह सूर्यकी संख्याको तीन गुनी करनेसे ($12 \times 3 = 36$) छत्तीस आते हैं, उनमें जम्बू और लवणके मिलकर छः चन्द्र और छः सूर्यकी संख्याको जोड़नेसे ($36 + 6 = 42$) बयालीस चन्द्र और बयालीस सूर्य आठ लाख योजनके विस्तारवाले कालोदधि समुद्रमें आते हैं ।

उसी तरह अर्ध पुष्करवर द्वीपके लिए भी समझे ।

वह इस तरह—कालोदधि समुद्रके-४२ चन्द्र और ४२ सूर्यके ^{१८}तीन गुना करके पूर्वके द्वीप-समुद्रोंमेंसे १८ चन्द्र और १८ सूर्य जोड़नेसे सोलह लाख योजनके विस्तारवाले पुष्करवरद्वीपमें १४४ चन्द्रों और उतने ही सूर्योकी संख्या प्राप्त होती है । हमें तो अब अर्धपुष्करद्वीपके चन्द्र-सूर्यकी संख्या इष्ट होनेसे १४४का आधा करनेसे ७२ चन्द्र और ७२ सूर्यकी संख्या ^{१८}पुष्करार्धमें प्राप्त होती है ।

इस 'करण'से असंख्य द्वीप-समुद्रमेंसे किसी भी इष्ट द्वीप-समुद्रकी चन्द्र-सूर्योकी संख्या आसानीसे प्राप्त हो सकती है ।

मनुष्यक्षेत्रके बाहरके द्वीप-समुद्रोंमें वर्तित चन्द्रों-सूर्योका परस्पर अंतर संग्रहणीकी गाथा ६५-६६वीं के अनुसार पचास हजार योजनका होनेसे और क्षेत्रविस्तार विशेष प्रमाणका होनेसे, चन्द्र-सूर्योकी समश्रेणि अथवा परिरयश्रेणि सम्बन्धी व्यवस्थाके लिए किसी भी प्रकारका निर्णय करना सुदुष्कर (बहुत ही कठिन) लगनेसे प्रति द्वीप-समुद्रमें चन्द्र-सूर्योकी संख्या बतानेवाला यह 'त्रिगुणीकरण' मनुष्यक्षेत्रमें ही समझे या प्रत्येक द्वीप-समुद्रके लिए समझे ? इस प्रकारका तर्क अगर किसी विचारशील व्यक्तिको हो तो वह अनुचित नहीं है, तो भी टीकाकारके रूपमें ख्यातनामा श्री मलयगिरिमहर्षिने तथा चन्द्रीय टीकाकारने श्रीसंग्रहणीवृत्तिमें बताए निम्न पाठसे 'त्रिगुणीकरण'के विषयके लिए पूर्वोक्त तर्क-विचार करना वास्तविक नहीं लगता । वह पाठ इस तरह है—

'मूलसंग्रहण्यां क्षेत्रसमासे च सकलश्रुतजलाधिना क्षमाश्रमणश्रीजिनभद्रगणिना सर्व-द्वीपोदधिगतचन्द्रार्काभिधायकमिदमेव करणमभिहितं, यदि पुनर्मनुष्यक्षेत्राद्बहिश्चन्द्रादित्यसङ्ख्या-

१८२. 'ससिखिणो दो चउरो, बार दु चत्ता विसत्तरिअ कमा ।

जम्बूलवगाइसु पंचसु, गणेषु नायक्वा ॥१॥' [मंडलप्रकरण]

१८३. 'चउ चउ बारस बारस, लवणे तह धायइम्मि ससि सूर ।

परओ दहिदीवेसु, तिगुणा पुव्विल्लसंजुत्ता ॥१॥' [क्षेत्रसमास]

ऽन्यथा स्यान् तत् आचार्यान्तरैरिव तत्प्रतिपत्तये करणान्तरमप्यभिहितं स्यात्, न चाभिहितं, ततो निश्चीयते सर्वद्वीपोदधिष्विदमेव करणमनुसर्त्तव्यमिति, केवलं मनुष्यक्षेत्राद्बहिश्चन्द्रार्काः कथं व्यवस्थिता इति चन्द्रप्रज्ञप्त्यादौ नोक्तम् ?' इत्यादि ॥

अर्थ—“ मूलसंग्रहणी तथा क्षेत्रसमासमें समग्रश्रुतमहोदधि श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणजीने सर्व द्वीप-समुद्रमें चन्द्र-सूर्यकी संख्या बतानेवाला यह 'त्रिगुणकरण' ही कहा है। यदि मनुष्यक्षेत्रसे बाहरके द्वीप-समुद्रोंमें चन्द्र-सूर्यकी संख्या दूसरी तरह होती तो जैसे दूसरे आचार्योंने कहा है वैसे उस संख्याको बतानेवाला (त्रिगुणकरणके सिवा) दूसरा कोई करण भी बताया होता और कहा तो नहीं है; अतः निश्चय होता है कि सर्व द्वीप-समुद्रोंमें चन्द्र-सूर्यकी संख्या जाननेके लिए यह त्रिगुणकरण ही समझना है।

सिर्फ मनुष्यक्षेत्रके बाहर चन्द्र-सूर्यकी व्यवस्था किस प्रकार है? यह चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थोंमें नहीं कहा है।”

साथ ही श्रीमान् मलयगिरिमहाराजने और चन्द्रीया टीकाकार महर्षिने श्री चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जीवाभिगम प्रमुख सूत्रोंके आधार पर पूर्वोक्त उल्लेख किया हो ऐसा स्पष्ट समझमें आता है; क्योंकि श्री गौतममहाराजने भगवान् महावीरदेवसे पूछे प्रश्नोंके उनसे मिले उत्तरोंमें पुष्करवर्द्वीपमें १४४-१४४ चन्द्र-सूर्यकी संख्या बताई है। यह विषय श्रीजीवाभिगमसूत्रमें सुविस्तृत रूपसे बताई है। पूर्वोक्त १४४-१४४ चन्द्र-सूर्यकी संख्या 'त्रिगुणकरण'से गिनती की जाए तो ही प्राप्त होती है। श्री चन्द्रप्रज्ञप्तिमें बताया है कि 'चोआलं चन्दसयं चोआलं चैव सूरिआण सयं । पुक्खवरंमि दीवे चरंति ए ए पभासेता ॥१॥' अर्थात् पुष्करद्वीपमें १४४-१४४ चन्द्र-सूर्य होते हैं। श्री ज्योतिषकरंडकमें भी कहा है कि—'धायइसंडपभिई उदिट्टा तिगुणिआ भवे चन्दा । आइल्लचन्दसहिआ तइ हुंति अणंतरं परतो ॥१॥ आइच्चाणं पि भवे एसेव विहि अणुणगो सव्वो । दीवेसु समुहेसु य एमेव परंपरं जाण ॥१॥' अर्थात् उन्हें भी सर्व द्वीप-समुद्रोंमें यह 'त्रिगुणकरण' ही मान्य है। विशेषमें श्रीसंग्रहणी ग्रन्थके प्राचीन टीकाकार श्री हरिभद्रसूरिजी भी 'एवं अणंतराणंतरे खित्ते पुक्खरदीवे चोआलं चंदसयं हवइ' इस पंक्तिकी साक्षीसे पुष्करवर्द्वीपमें १४४-१४४ चन्द्र-सूर्यका ग्रहण जणाते हैं।

ऐसे सिद्धांतोंके स्पष्ट पाठोंसे और उसके ही आधार पर किये उक्त उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि “मनुष्यक्षेत्रके बाहर चन्द्र-सूर्यकी व्यवस्था किस प्रकारकी हो? उस विषयको ज्ञानी गम्य जणाकर यह 'त्रिगुणकरण' सर्व द्वीप-समुद्रोंको लागू हो सकता है।” साथ ही जिस जिस विषयके लिए जो जो करण दिए जाते हैं प्रायः उस उस विषयके लिए वे एकदेशीय नहीं होते, किंतु सर्वदेशीय-सर्वव्यापक होते हैं।

अब इस मनुष्यक्षेत्रमें वर्तित सूर्य-चन्द्रादि चर ज्योतिषी विमानोंकी व्यवस्थाके संबंधमें

विचार करनेका किंचित् उचित लगानेसे उस संबंधमें यत्किंचित् वक्तव्य यहाँ प्रस्तुत किया जाता है ।

इस अढाईद्वीप रूपी मनुष्यक्षेत्रमें चर ज्योतिषी विमानोंका व्यवस्थाक्रम विचारणा करनेपर समश्रेणिमें लेना विशेष उचित समझा जाता है, क्योंकि सिद्धान्तोंमें स्थल स्थलपर समश्रेणि क्रम बताया है । यद्यपि कालोद्धि-पुष्करार्ध आदि द्वीपोंमें कही गई चन्द्र-सूर्यकी संख्याको उस उस समुद्रके वलयविष्कंभ (चौड़ाई)की अपेक्षासे किस प्रकार संगत करें ? यह विचारणीय है, क्योंकि सिद्धान्तमें प्रायः किसी भी स्थान पर मनुष्यक्षेत्रवर्ती चन्द्र-सूर्यका परस्पर ^{१८४}अन्तर कितना योजन प्रमाण है ? यह स्पष्टरूपसे नहीं बताया है । अतः इस विषयके लिए शास्त्रीय प्रमाणके सिवा विशेष उल्लेख करना अनुचित है, तो भी दूसरी तरह सूक्ष्मदृष्टिसे सोचनेसे ज्योतिषी विमानोंका व्यवस्था क्रम समश्रेणिमें गिनना विशेष योग्य लगता है, फिर भी इस विषयके लिए बहुश्रुत महर्षि जो कहे वह प्रमाण है ।

ग्रन्थकार महर्षिने इष्ट द्वीप-समुद्रके सूर्य-चन्द्रोंकी संख्या जाननेका जो ' करण ' बताया उस करणके द्वारा हम पहले स्पष्ट समझ सके हैं कि मनुष्यक्षेत्रके बाहरके पुष्करार्धमें ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य हैं । ये ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य मनुष्यक्षेत्रके बाहरके पुष्करार्धमें किस तरह रहे हैं उस सम्बन्धमें यहाँ विचार किया गया है ।

इस पुष्करार्धका वलयविष्कंभ आठ लाख योजनका है, उसमें मानुषोत्तर पर्वतसे पचास हजार योजन दूर जानेपर प्रथम चन्द्र और प्रथम सूर्यकी पंक्तियोंकी शुरुआत होती है । अर्थात् मानुषोत्तर पर्वतसे चारों बाजू पर पचास हजार योजन दूर जानेके बाद अमुक अमुक अन्तर पर चन्द्र-सूर्य रहे हैं । मनुष्यक्षेत्रके बाहरके इस पुष्करार्धमें प्रवर्तमान ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य किस व्यवस्थासे रहे हैं उस सम्बन्धी कोई भी निश्चित निर्णय ज्ञात नहीं हुआ है । ' मण्डलप्रकरण, लोकप्रकाश, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और इस चालू बृहत्-संग्रहणी ' आदि ग्रन्थोंमें भी इन सूर्य-चन्द्रोंकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें स्वयं कोई मत बताया नहीं गया है । यद्यपि दिगम्बरीय मत और अन्य मत दिखाया है । जो आगे ८३वीं गाथामें आनेवाला है परन्तु उस मतके अनुसार सूर्य-चन्द्रकी संख्या आठ पंक्तियोंमें गिननेके साथ प्रथम पंक्तिमें ही (१४५ मतांतरसे १४४ आदि बहुत अलग प्रकारकी आती है ।) इन ७२ चन्द्रों और ७२ सूर्योंको मनुष्यक्षेत्रकी पंक्तियोंके अनुसार रचें तो पचास हजार योजनके अन्तर पर सूर्यसे चन्द्र दूर होने चाहिए, लेकिन यह तो किसी भी तरह व्यवस्थितरूपमें रह नहीं सकते । और परिरयाकारमें पंक्तियोंको रक्खें तो भी उन उन स्थानोंके परिधि आदि विशेष विशेष प्रमाणवाले होते होनेसे पचास

१८४. अढाईद्वीपमें उस उस क्षेत्रका माप लेकर उस मापको उस उस द्वीपगत चन्द्र-सूर्यकी संख्यासे भाग दे तो अन्तर प्रमाण प्राप्त हो या नहीं ? यह वाचत परिशिष्टमें सोची जाएगी ।

हजार योजनाका और सूर्यसे सूर्यका अथवा चन्द्रसे चन्द्रका एक लाख योजनाका अन्तर जो निर्णीत किया है उसकी व्यवस्था नहीं हो पाती । यह देखते (ध्यानमें लेते) ग्रन्थकारके मतानुसार यह व्यवस्था किस प्रकारकी होगी ? यह बहुश्रुतगम्य है । [७८-७९]

इस संग्रहणी ग्रन्थकारके मतानुसार कतिपय द्वीप-समुद्रवर्ती चन्द्र-सूर्य-संख्यायन्त्रकम् ॥

नाम	संख्या	नाम	संख्या
जम्बूद्वीप	२ चन्द्र २ सूर्य	कालोदधि	४२ चन्द्र ४२ सूर्य
लवणसमुद्र	४ " ४ "	पुष्करवरद्वीप	१४४ " १४४ "
धातकीखंड	१२ " १२ "	पुष्करवरसमुद्र	४९२ " ४९२ "

सूचना—आगेके असंख्यातद्वीप-समुद्रोंके लिए संग्रहणी ग्रन्थमें दिया करण-उपाय देख लेना ।

मनुष्यक्षेत्रमें चन्द्र-सूर्य पंक्तिका स्वरूप

अवतरण—सर्व द्वीप-समुद्रोंमें चन्द्रादित्य संख्या जाननेका करण आगेकी गाथामें बताकर अब ये चन्द्र-सूर्य मनुष्यक्षेत्रमें किस तरह रहे हैं यह बताते हैं—

दो दो सप्त-रविपंति, एगंतरिया छसट्टि संखाया ।

मेरुं पयाहिणंता, माणुसखित्ते परिभमंति ॥८०॥

गाथार्थ—छियासठ छियासठ चन्द्रकी संख्यावाली और छियासठ छियासठ सूर्यकी संख्यावाली दोनों पंक्तियां मनुष्यक्षेत्रमें मेरुको प्रदक्षिणा देती हुई सदाकाल परिभ्रमण करती हैं । ॥८०॥

विशेषार्थ—इस मनुष्यक्षेत्रमें समश्रेणित १३२ चन्द्र और १३२ सूर्यकी संख्या प्रथम बताई है । अब वह किस तरह व्यवस्थित है ? यह बताया जाता है । जम्बूद्वीपके मध्यभागमें रहे मेरुकी दक्षिणोत्तर दिशामें रही हुई दोनों समश्रेणिके सूर्य १३२ गिननेके हैं और उरती मेरुपर्वतके पूर्व-पश्चिम समश्रेणिके होकर १३२ चन्द्र लेनेके हैं । उनमें मेरुकी दक्षिणदिशामें एक सूर्यपंक्ति और उत्तरदिशाकी एक सूर्यपंक्ति कुल दो सूर्यपंक्तियां और मेरुकी पश्चिममें एक चन्द्रपंक्ति और एक पूर्वकी चन्द्रपंक्ति, इस तरह दो चन्द्र पंक्तियां होती हैं । इन चन्द्र-सूर्यकी प्रत्येक पंक्तिके दोनों बाजू पर विभाग होनेका कारण विचमें आया मेरु पर्वत है । १८५ प्रत्येक पंक्तिमें छियासठ चन्द्र और छियासठ सूर्य होते हैं । वे इस तरह—

जब जम्बूद्वीपका एक सूर्य मेरुके दक्षिण भागमें हो तब इसी सूर्यकी समश्रेणि पर दक्षिण-

१८५ तुलना करें— ' चत्तारि य पंतीओ चन्दाइच्छाण मणुयलेगग्गि ।

छावदुठी छावदुठी, होइ इक्किआ पंती ॥ १ ॥ '

दिशामें लवणसमुद्रके दो, धातकीखण्डके छः, कालोदधिके २१ और पुष्करार्धके ३६ इस तरह कुल ६६ सूर्य (दक्षिणदिशामें) होते हैं। जब जम्बूद्वीपकी दक्षिणदिशामें एक सूर्य हो तब एक सूर्य उत्तरदिशामें होता है और प्रथम कथनानुसार लवणसमुद्रके २, धातकीखण्डके ६, कालोदधिके २१ और पुष्करार्धके ३६ सूर्य, इस प्रकार कुल मिलाकर ६६ सूर्य उत्तरदिशामें समश्रेणिसे यहाँ भी समझना चाहिए।

इस तरह उत्तर और दक्षिण दिशाके मिलकर १३२ सूर्य होते हैं।

और इसी तरह मेरुकी पूर्व-पश्चिम दिशामें ६६-६६ चन्द्र पंक्तिकी व्यवस्था भी पूर्वोक्त रीतिसे बराबर समझ लें। यहाँ इतना खयाल रखना कि-सूर्य पंक्ति दक्षिणोत्तर दिशामें और चन्द्रपंक्ति पूर्व-पश्चिम दिशामें कही है वह हमेशाके लिए वहीं रहकर प्रकाश करे वैसा न समझे; परन्तु अटार्द्वीपके चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषी विमान चर होनेसे जब पंक्तिगत सूर्य दक्षिणोत्तर दिशामें हों तब पंक्तिगत चन्द्र पूर्व-पश्चिम दिशामें होते हैं और सूर्य घूमते घूमते जब पूर्व दिशामें आते हैं, तब चन्द्र घूमते घूमते दक्षिण दिशामें चले जाते हैं। इस तरह कुल १३२ ^{१८६}चन्द्र और १३२ सूर्य रात्रि दिवसके विभाग करनेपूर्वक मनुष्यक्षेत्रमें हमेशा परिभ्रमण करते हैं। इस पंक्तिमें रहे चन्द्र-सूर्य कभी भी क्षणमात्रके लिए भी स्थिर नहीं रहते, सतत परिभ्रमण करते अहोरात्रि रचते हैं; और स्वपंक्तिमेंसे कोई एक भी चन्द्र-सूर्य आगे-पीछे खसकता नहीं है।

६६-६६ चन्द्र-सूर्योकी दो दो पंक्तियाँ ही इस मनुष्यक्षेत्रमें मेरुकी प्रदक्षिणा करती हैं, तदुपरांत एक चन्द्रका जो २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह^{१८७} और ६६९७५ कोडाकोडी तारों जितना परिवार कहा है उसके अनुसार एकसौ बत्तीसों चन्द्रोंका अपना अपना उक्त परिवार भी परिभ्रमण करता है, अर्थात् ३६९६ नक्षत्र विमान, ११६१६ ^{१८८}ग्रह परिवार और ८८४०७००००००००००००००००००० कोडाकोडी (ध्रुव तारेके सिवा) ^{१८९}तारोंका परिवार

१८६. बत्तीसं चंद्रसयं बत्तीसं चैव सूरियाण सयं ।

सयले माणुसलोए चरन्ति एए पमासेता ॥ [सू. प्र.]

१८७. अट्टासीतिं च गहा अट्टावीसं च हुंति नक्खत्ता ।

एए ससी परिवारो एत्तो ताराण बुच्छामि ॥ १ ॥

छावट्टीं सहस्साइं णव चैव सयाइ पंच सतराई ।

एए ससीपरिवारो ताराण कोडिकोडीणं ॥ २ ॥ [सू. प्र.]

१८८. एक्कारस य सहस्सा छण्णिय सोल्ल महग्गाहाणं तु ।

छच्चसया छण्णउया णक्खत्ता तिण्णि य सहस्सा ॥ १ ॥

१८९. अट्टासीई चत्ताइं सयसहस्साइं मणुयलोग्गिम् ।

सत्त य सया अण्णुणा ताराण कोडिकोडीणं ॥ [सू. प्र.]

मनुष्यक्षेत्रमें सदाकाल मेरुको प्रदक्षिणावर्त्त मण्डल द्वारा परिभ्रमण करता है तथा स्वप्रकाश्य-क्षेत्रमें प्रकाश करता है । यहाँ इतना विशेष समझना कि, चन्द्र-सूर्य और ग्रह पृथक् पृथक् मण्डलमें परिभ्रमण करनेवाले होनेसे अनवस्थित योगसे परिभ्रमण करते हैं । जबकि नक्षत्र और तारे स्व-स्वमण्डलमें ही परिभ्रमण करनेवाले होनेसे उनका परिभ्रमण अवस्थित योगसे है । [८०]

॥ मनुष्यक्षेत्रमें नक्षत्रपंक्तिका स्वरूप ॥

अवतरण—प्रथमकी गाथामें मनुष्यक्षेत्रवर्ती चन्द्र-सूर्यकी पंक्तियाँ और पंक्तिगत चन्द्र-सूर्यकी संख्या और उन चन्द्र सूर्यकी समश्रेणियोंमें रहने सम्बन्धी व्यवस्था भी बताई । अब नक्षत्रपंक्तियाँ किस तरह व्यवस्थित होती हैं यह बताया जाता है—

छप्पन्नं पंतीओ, नखत्ताणं तु मणुयलोगम्मि ।

छावड्डी छावड्डी, होइ इक्किआ पंती ॥८१॥ [प्र. गा. सं. १६]

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ ८१ ॥

विशेषार्थ—मनुष्यक्षेत्रमें नक्षत्रकी छप्पन पंक्तियाँ हैं, और वे प्रत्येक पंक्तियाँ मेरुसे लेकर चारों दिशाओंमें मानुषोत्तरपर्वत तक सूर्य किरणोंकी तरह अथवा कदम्बपुष्पकी विकसित पंखुरियोंकी तरह गई हैं । उन प्रत्येक पंक्तिमें ६६-६६ नक्षत्र होते हैं । ऊर्ध्वलोकमेंसे देखने पर जम्बूद्वीपके आभग अन्तभागसे शुरू होती हुई ये पंक्तियाँ जम्बूद्वीपके मध्यभागमें रहे मेरुपर्वतरूपी सूर्यने मानों अपनी ऋद्धि प्रकट करनेके लिए ही मानुषोत्तरपर्वत तक अपनी किरणें फैकी हो, वैसी रमणीय लगती हैं । प्रारम्भमें ये पंक्तियाँ परस्पर अल्प अन्तरवाली-पास पासमें हैं, लेकिन आगे-आगे एक पंक्तिसे दूसरी पंक्तिका अन्तर बढ़ता जाता है ।

इस अढाईद्वीपवर्ती जो १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य हैं उनमें दो चन्द्रका अथवा दो सूर्यका एक 'पिटक' कहलाता है । यहाँ नक्षत्रादि परिवारका स्वामिपन चन्द्रका होनेसे विशेष व्यवहार चन्द्रपिटक के साथ करना है । मनुष्यक्षेत्रमें चन्द्र-सूर्यकी संख्या १३२-१३२की होनेसे और दो चन्द्र-दो सूर्यका एक एक 'पिटक' होनेसे १३२की संख्याको दो से बाँटनेसे ६६ चन्द्रपिटक और ६६ सूर्यपिटक होते हैं । साथ ही एक चन्द्रसे दूसरे चन्द्रके बिच दोनों दिशाओंके मिलकर ५६ नक्षत्र होते हैं, उन ५६ नक्षत्रोंका भी एक 'नक्षत्र पिटक' कहलाता है । दो चन्द्रकी अपेक्षासे एक नक्षत्रपिटक बनता होनेसे १३२ चन्द्रकी अपेक्षासे ६६ नक्षत्रपिटक होते हैं । जैसेकि लक्षणसमुद्रमें चार चन्द्र होनेसे दो चन्द्रपिटककी अपेक्षासे दो नक्षत्रपिटक हुए, कुल नक्षत्र संख्या ११२की हुई, धातकीखण्डमें १२ चन्द्र होनेसे छः चन्द्रपिटककी अपेक्षासे छः नक्षत्रपिटक हुए, कुल नक्षत्र संख्या ३३६, कालोदधि

समुद्रमें ४२ चन्द्र होनेसे इक्कीस चन्द्रपिटककी अपेक्षासे २१ नक्षत्रपिटक हुए, कुल नक्षत्र संख्या ११७६ और अर्ध पुष्करवर्दीपमें ७२ चन्द्र होनेसे छत्तीस चन्द्रपिटक की अपेक्षासे ३६ नक्षत्रपिटक हुए, कुल नक्षत्र संख्या २०१६ हुई, इस तरह सर्व मिलकर मनुष्यक्षेत्रमें ६६ नक्षत्रपिटक होते हैं और सब मिलकर तीन हजार छः सौ और छियानवे (३६९६) नक्षत्र हैं ।

इन ५६ नक्षत्रोंमेंसे एक चन्द्रके परिवाररूपमें २८ नक्षत्र जम्बूद्वीपके दक्षिणार्ध वलयमें होते हैं और उत्तरार्धमें भी उसी नामवाले दूसरे २८ नक्षत्र होते हैं । और इन नक्षत्रोंकी ५६ पंक्तियोंमें दक्षिण दिशामें जहाँ अभिजित् नक्षत्र होता है उसकी समश्रेणिमें २ लघणसमुद्रमें, ६ धातकीखण्डमें, २१ कालोदधिमें और ३६ पुष्करार्धमें होते हैं । इस तरह उत्तरदिशामें रहे हुए अभिजित्की समश्रेणिमें लवणादिके अभिजित् नक्षत्र भी स्वयं समझ लें । तात्पर्य यह है कि, अभिजित् नक्षत्रके प्रारम्भवाली पंक्तिमें समश्रेणिमें ठेठ मानुषोत्तर तक ६६ नक्षत्र अभिजित् ही होते हैं । अश्विनीके प्रारम्भवाली पंक्तिमें समश्रेणिमें ६६ अश्विनी नक्षत्र ही होते हैं । एक ही नामके नक्षत्रोंकी एक दिशामें कुल संख्या छियासठ होती है, और उसी तरह प्रतिपक्षी दिशामें भी एक ही नामवाले ६६ नक्षत्रोंकी पंक्ति होती है । ये सर्व नक्षत्र पंक्तियाँ भी जम्बूद्वीपके ही मेरुपर्वतको प्रदक्षिणा दे रही हैं ।

चन्द्र-सूर्यके मण्डलोंकी तरह इन नक्षत्रोंके भी मण्डल हैं, उस विषयक किंचित् वर्णन बाजूके परिशिष्टमें दिया गया है । वहाँसे जानलें । [प्र. गा. सं. १६] [८१]

॥ इति नक्षत्रपंक्तिस्वरूपम् ॥

श्री स्थम्भनपार्श्वनाथाय नमोनमः

नक्षत्र विचारे-चतुर्थ लघुपरिशिष्टम्

[अत्र अन्य ग्रन्थान्तरसे 'नक्षत्रमण्डल' विषयक उपयोगी विवेचन संक्षेपमें दिया जाता है ।]

नक्षत्रमण्डलोंकी संख्या

नक्षत्रोंके नाम परसे महीनोंके नाम पडे हैं । कृत्तिका परसे कार्तिक, मृगशीर्ष परसे मागसर अथवा मार्गशीर्ष, पुष्यसे पूस, मघासे माघ, उत्तराफाल्गुनीसे फाल्गुन, चित्रासे चैत, विशाखासे बैसाख, ज्येष्ठासे ज्येष्ठ, पूर्वाषाढासे आषाढ, श्रवणसे सावन, पूर्वाभाद्रपदासे

भादों-भाद्रपद और अश्विनीसे आश्विन या आसोज मास पड़ा है । हरएक महीनेका नक्षत्र उस महीनेमें शामको उगता है और सुबह अस्त होता है ।

जैन सिद्धान्तानुसार नक्षत्रोंकी कुल संख्या अट्ठाईस है, वे इस तरह—

१. अभिजित्, २. श्रवण, ३. धनिष्ठा, ४. शततारा, ५. पूर्वाभाद्रपदा, ६. उत्तरा-
भाद्रपदा, ७. रेवती, ८. अश्विनी, ९. भरणी, १०. कृत्तिका, ११. रोहिणी, १२. मृगशीर्ष,
१३. आर्द्रा, १४ पुनर्वसु, १५. पुष्य, १६. आश्लेषा, १७. मघा, १८. पूर्वाफाल्गुनी,
१९. उत्तराफाल्गुनी, २०. हस्त, २१. चित्रा, २२. स्वाति, २३. विशाखा, २४. अनुराधा,
२५ ज्येष्ठा, २६ मूल, २७. पूर्वाषाढा, २८. उत्तराषाढा ।

यद्यपि लौकिक क्रम तो प्रथम अश्विनी फिर भरणी-कृत्तिका-रोहिणी ऐसा है, फिर भी यहाँ दिया गया उपरोक्त क्रम जिस सिद्धान्तमें रक्खा गया है उसका कारण यह है कि युग वगैरह के आदिमें चन्द्रके साथ प्रथम नक्षत्रका योग 'अभिजित्'का ही होता है और तत्पश्चात् अनुक्रमसे अन्य नक्षत्रका योग होनेके कारण अभिजित्से लेकर उक्त क्रम रक्खा गया है । विशेषमें कृत्तिकादि नक्षत्रका क्रम तो लोकमें केवल शलकाचक्रादिक स्थानकोंमें ही उपयोगी है ।

शंका—जब अभिजित् नक्षत्रसे ही नक्षत्रक्रमका आरम्भ करते हो तो अन्य नक्षत्रोंकी तरह अभिजित् नक्षत्र व्यवहारमें क्यों प्रवर्तित नहीं है ?

समाधान—चन्द्रमाके साथ अभिजित् नक्षत्रका योग स्वल्पकालीन है, फिर चन्द्रमा उस नक्षत्रको छोड़कर सद्यः अन्य नक्षत्रमें प्रवेश कर लेता है, अतः वह नक्षत्र अव्यवहृत है ।

यहाँ इतना विशेष समझना कि-जम्बूद्वीपमें तो अभिजित्के सिवा २७ नक्षत्र व्यवहारमें वर्तित हैं, (परन्तु धातकीखण्डादिमें वैसा नहीं है) क्योंकि अभिजित् नक्षत्रका उत्तराषाढाके चौथे पादमें समावेश होता है, और लोकमें उससे भी कम अर्थात् वेधसत्ता आदि देखनेमें उत्तराषाढाके साथ अभिजित् नक्षत्रका सहयोग अन्तिमपादकी चार घड़ी जितना ही कहलाता है ।

ऊपर कहे अट्ठाईस नक्षत्रोंके मण्डल तो सिर्फ आठ ही हैं । और इन आठों मण्डलोंकी अपने अपने नियतमण्डलमें ही गति है । इति संख्याप्ररूपणा ॥

मण्डलक्षेत्र और मेरुके प्रति अबाधा

सूर्यकी तरह नक्षत्रोंके मण्डलोंको अयनका अभाव होनेसे और अतः वे नक्षत्रमण्डल

अपने-अपने मण्डलस्थानोंमें ही गमन करते होनेसे ये नक्षत्रमण्डल अवस्थित कहे जाते हैं और इसलिए हरएक प्रतिनक्षत्राश्रयी मण्डलक्षेत्र सम्भवित नहीं है । यदि हरएक नक्षत्रको स्वस्वमण्डल स्थान छोड़कर अन्य मण्डलस्थानोंमें गमन करनेका हो तो उस मण्डलक्षेत्रकी बात सम्भवित हो सके, लेकिन ऐसा तो नहीं ही है, अतः उसका क्षेत्र भी सम्भवित नहीं है ।

अट्ठाईस नक्षत्रोंके सामुदायिक आठ मण्डल हैं । उनमें दो मण्डल जम्बूद्वीपमें हैं और वे चन्द्र-सूर्य मण्डलवत् १८० योजन मध्यमें हैं । जब कि अवशिष्ट छः नक्षत्रोंके मण्डल लवणसमुद्रके ऊपर हैं और वे भी चन्द्र-सूर्य मण्डलवत् ३३० योजन क्षेत्र मध्यमें हैं । प्रत्येक नक्षत्रमण्डलका चक्रवालविष्कम्भ एक कोसका और मोटाई आधे कोसकी होती है । इस आयाम और विष्कम्भ विषयक हकीकत पहले (जोयणिग...गाथाके प्रसंगमें) आ गई है ।

नक्षत्रोंके कुल आठ मण्डल बताये हैं और वे मण्डल अवस्थिति योगसे जम्बूद्वीपके मेरुको दक्षिणावर्त्त प्रदक्षिणा करते घूमते हैं; ये नक्षत्रमण्डल चन्द्रमण्डलके स्थानमें पड़ते हैं, अर्थात् जिस स्थान पर चन्द्रमण्डल होता है उसी स्थान पर ही पड़ता है अर्थात् नक्षत्रोंका स्थान चन्द्रसे चार योजन ऊँचा होनेसे उतने उच्च स्थान पर ही (चन्द्रमाके मण्डलकी ऊर्ध्व समश्रेणियोंमें) पड़ता है ।

वह इस तरह—नक्षत्रका प्रथम मण्डल चन्द्रमाके प्रथम सर्वाभ्यन्तर मण्डल स्थानमें ऊपरी भागमें होता है, जिससे सबसे प्रथम नक्षत्रमण्डल मेरुसे चन्द्रमण्डलवत् ४४८२० योजन दूर होता है यह सहज है । दूसरा नक्षत्रमण्डल (दूसरे चन्द्र मण्डलको छोड़कर) तीसरे चन्द्रमण्डलके स्थानके ऊपर पड़ता है । तीसरा नक्षत्रमण्डल (तीसरे, चौथे, पाँचवें चन्द्रमण्डलको छोड़कर) लवणसमुद्रगत आए हुए छठे चन्द्रमण्डलके स्थान पर पड़ता है । चौथा नक्षत्रमण्डल सातवें चन्द्रमण्डलके स्थान पर, पाँचवाँ नक्षत्रमण्डल आठवें चन्द्रमण्डलके स्थान पर, छठा नक्षत्रमण्डल (नवम चन्द्रमण्डलको छोड़कर) दसवें चन्द्रमण्डलके स्थान पर, सातवाँ नक्षत्रमण्डल ग्यारहवें चन्द्रमण्डलके स्थान पर और अन्तिम आठवाँ नक्षत्रमण्डल (१२-१३-१४ चन्द्रमण्डलको छोड़कर) पन्द्रहवें चन्द्रमण्डल स्थान पर पड़ता है । इससे क्या हुआ ? कि ३-४-५-९-१२-१३-१४ ये सात चन्द्रमण्डलस्थान नक्षत्रमण्डलसे शून्य होते हैं और अवशिष्ट आठ चन्द्रमण्डलस्थान नक्षत्रमण्डलसे युक्त होते हैं ।

साथ ही अन्तिम नक्षत्रमण्डल लवणसमुद्रगत चन्द्रके अन्तिममण्डल स्थानमें कथित होनेसे चन्द्रमण्डलवत् यह अन्तिम सर्वबाह्यनक्षत्रमण्डल मेरुसे अबाधामें ४५३३० योजन दूर है, यह सिद्ध होता है । अतः ४५३३० योजनमेंसे ४४८२० योजन कम करनेसे

नक्षत्रमण्डलोंका कुल क्षेत्र जो ५१० योजन प्रमाण कहा है वह भी बराबर आ जाता है । इति क्षेत्रप्ररूपणा ॥

नक्षत्रमण्डलोंके आयाम-विष्कम्भादि-अब हर एक नक्षत्रमण्डलका आयाम-विष्कम्भ और परिधि कितनी होती है तो सूर्य अथवा चन्द्रका सर्वाभ्यन्तरमण्डल जिस स्थानमें होता है उसी स्थान पर प्रथम नक्षत्रमण्डल होता है; अतः चन्द्र-सूर्यके सर्वाभ्यन्तरमण्डलका मेरुपर्वतके व्याघातमें जितना विस्तार प्रथम कहा है उसके अनुसार मेरुपर्वतको व्याघातमें नक्षत्रोंके सर्वाभ्यन्तरमण्डलका विस्तार, और सूर्यके सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी परिधिकी तरह नक्षत्रोंके सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी परिधि आदि सोचें, उसी तरह अर्थात् सूर्यके सर्वबाह्यमण्डलकी जो परिधिप्रमाण प्रथम बताया है उसी तरह नक्षत्रोंके सर्वबाह्यमण्डलकी परिधिका प्रमाण समझें, विशेषमें इतना खयाल रखना कि सूर्यके मण्डलका आयाम-विष्कम्भ $\frac{1}{4}$ यो. आदि है तदनुसार यहाँ नक्षत्रमण्डलका आयाम-विष्कम्भ आदि नक्षत्रोंके विमानका जो $\frac{1}{4}$ योजन प्रमाण (एक कोसका) कहा है वैसा समझें ।

प्रथम नक्षत्रमण्डलमें अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शततारा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, भरणी, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी और स्वाति ये बारह नक्षत्र आए हैं । ये बारह नक्षत्र सर्वाभ्यन्तर नक्षत्रमण्डलमें एक बाजू पर अर्धमण्डल भागमें गमन करते हैं, जब कि दूसरे अर्धमण्डल भागमें उनके सामने उन्हीं नामोंके नक्षत्र अनुक्रमसे गमन करते हैं । सर्वाभ्यन्तरमण्डल पश्चात् दूसरे नक्षत्रमण्डलमें हमेशा पुनर्वसु और मघाका चार (गति) है । तीसरेमें कृत्तिका, चौथेमें चित्रा और रोहिणी, पाँचवेंमें विशाखा, छठेमें अनुराधा, सातवेंमें ज्येष्ठा और आठवेंमें अर्थात् सर्व बाह्य-अन्तिममण्डलमें आर्द्रा, मृगशीर्ष, पुष्य, आदलेषा, मूल, हस्त, पूर्वाषाढा और उत्तराषाढा इन आठ नक्षत्रोंका गमन होता है ।

इसमें इतना विशेष जानें कि सर्वाभ्यन्तरमण्डलके १२ नक्षत्रोंमेंसे अभिजित् नक्षत्र सबसे अन्दर चलता है, (अतः स्वमण्डलकी सीमाको छोड़कर जम्बूद्वीपकी तरफ रहता अन्दरके भागमें चलता है) मूल नक्षत्र सर्वनक्षत्रोंसे बाहर चलता है । (अर्थात् स्वमण्डल स्थानसे अभिजित्वत् सीमाको छोड़कर लग्नसमुद्रकी तरफ रहता हुआ चलता है, वह) स्वाति नक्षत्र सर्व नक्षत्रोंकी जो सतह है उससे थोड़ा ऊँचा रहकर चलता है, और भरणी नक्षत्र स्वमण्डल स्थानमें अन्य नक्षत्रोंकी अपेक्षासे नीचे चलता है । इति आयाम-विष्कम्भादि प्ररूपणा ॥

नक्षत्रोंका परस्पर अन्तर-मण्डलवर्ती नक्षत्रोंके विमानका परस्पर अन्तर दो योजनका कहा है, इसी अभिप्रायको अभिप्रेत कथन श्री शान्तिचन्द्रजी उपाध्यायकृत जम्बू, प्रज्ञप्तिकी वृत्तिमें है तथा श्री धर्मसागरगणिजी कृत टीकामें भी यही अभिप्राय सूचित है, परन्तु प्रथम नक्षत्रमण्डलके महान् घेरेकी योग्य पूर्ति करनेके लिए नक्षत्रोंकी कथित प्रथम मण्डल

संख्याके हिसाबसे ऐसे दो योजनका विमान अन्तर लेनेसे नक्षत्र विमानसे रहित मण्डलक्षेत्र बहुत खाली रह जाता है। अरे! आगे आगेके मण्डलमें जहाँ दो-दो या एक-एक नक्षत्र आते हैं वहाँ क्या करें? यह भी विचारणीय है। इति नक्षत्रयोः परस्परमन्तरम् ॥

नक्षत्रमण्डलोंकी मुहूर्तगति—सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें नक्षत्रकी मुहूर्तगति ५२६५ $\frac{१८३६३}{३६७३६}$ योजनकी होती है। और सर्वबाह्यमण्डलमें नक्षत्रोंकी गति ५३१९ $\frac{१६३६५}{३६७३६}$ योजनकी होती है, यह परिधिकी वृद्धिके हिसाबसे सहज समझा जा सकता है। शेष ६ (छः) मण्डलोंकी गति उस स्थानके चन्द्रमण्डलके घेरे परसे सूर्य-चन्द्रमण्डलकी रीतिके अनुसार पाठकोंको जरूरत लगे तब निकाल लें। इति नक्षत्राणां मुहूर्तगतिः ॥

नक्षत्रोंकी कुलादिकप्ररूपणा—अट्ठाईसों नक्षत्रोंके आकार प्रायः अलग-अलग और प्रत्येककी विमानपरिवार संख्या भी भिन्नभिन्न है।

ये अट्ठाईसों नक्षत्र 'कुलसंज्ञक', 'उपकुलसंज्ञक' और 'कुलोपकुलसंज्ञक' इस तरह तीन प्रकारके हैं। इनमें १. अश्विनी, २. पुष्य, ३. मघा, ४. मूल, ५. उत्तराभाद्रपदा, ६. उत्तराफाल्गुनी, ७. उत्तराषाढा, ८. विशाखा, ९. मृगशीर्ष, १०. चित्रा, ११. कृत्तिका और १२. धनिष्ठा ये बारह नक्षत्र कुलसंज्ञक हैं और इन नक्षत्रोंके योगसे जन्मा हुआ जीव दातार और संग्रामादिमें जय पानेवाला होता है।

शेषमेंसे १. भणी, २. रोहिणी, ३. पूर्वाभाद्रपदा, ४. पूर्वाफाल्गुनी, ५. पूर्वाषाढा, ६. हस्त, ७. ज्येष्ठा, ८. पुनर्वसु, ९. आश्लेषा, १०. स्वाति, ११. रेवती, १२. श्रवण ये बारह नक्षत्र उपकुलसंज्ञक हैं, शेष १. आर्द्रा, २. असिजित्, ३. अनुराधा, ४. शततारा ये चार कुलोपकुलसंज्ञक हैं। इन दोनों प्रकारके नक्षत्रोंमें जीव जन्म पाया हुआ हो तो उस जीवको पराधीनता आदिमें पीड़ना पड़ता है और संग्रामादि कार्योंमें उनकी जय अनिश्चित होती है। इति नक्षत्राणां कुलादिप्ररूपणा ॥

नक्षत्र विमानके अश्वस्कन्ध आदि रूपों द्वारा जो आकार कहे हैं वे अनेक तारों के मिलनसे बने हुए आकार हैं। प्रत्येक तारेके व्यक्तिगत आकार तो अलग अलग होते हैं, परन्तु उन सर्व तारोंका अधिपति देव एक नक्षत्र देव ही होनेसे एक नक्षत्र कहल्यता है। जैसे कि शततारक नक्षत्र १०० तारों रूप विमानोंका बना है, तदपि उन सौ विमानोंका अधिपति शततारक नामकर्मोदयी एक ही नक्षत्रदेव है; अतः समुदाय तारकोंको एक ही 'शततारक' नक्षत्र गिना जाता है। तद्वत् अश्विनी आदिमें समझ लें। तारोंके समूहको नक्षत्र कहा जाता है। इति नक्षत्रव्याख्या।

विशेषमें यहाँ यह भी समझे कि जम्बूद्वीपमें जिस दिन अश्विन्यादि कोई भी नक्षत्र दक्षिणार्धभागमें एक चन्द्रके परिभोगके लिए होता है, उसी दिन उस नक्षत्रकी समश्रेणियों उत्तरार्धभागमें दूसरे चन्द्रको उन्हीं नामोंके नक्षत्र परिभोगके लिए होते हैं।

प्रश्न—नक्षत्रबल कब अच्छा होता है ?

उत्तर—दिवसके पूर्वार्धभागमें तिथि तथा नक्षत्र सम्पूर्ण बलवान, तथा बादमें दुर्बल गिना जाता है, रात्रिके समय केवल नक्षत्र बलवान गिना जाए और दिवसके अपरार्ध भागमें केवल तिथि ही बलवान गिनी जाती है; अतः व्यवहारसारमें कहा है कि—

‘ तिथिधिष्ण्यं च पूर्वार्द्धे, बलबहुर्बलं ततः ।

नक्षत्रं बलवद्रात्रौ, दिने बलवती तिथिः ॥१॥ ’

विशेषमें इन नक्षत्रोंका प्रयोजन ‘ पौरुषी ’ प्रतीति-प्रहरका ज्ञान होनेके लिए है ।

इसके सिवा नक्षत्रकी सविशेष मुहूर्तगति, नक्षत्रके मण्डलोंका चन्द्रमाके मण्डलोंके साथ आवेश, उन मण्डलोंका दिशाओंके साथ चन्द्रयोग, उनके अधिष्ठायक देवता, उनके तारा विमानोंकी संख्या, (उनकी आकृति) उन मण्डलोंका चन्द्र-सूर्यके साथ संयोगकालका मान, उनके कुलादिकके नामोंकी विचारणा, उनका अमावस और पूर्णिमाके साथ योग, प्रतिमास अहोरात्रि सम्पूर्ण करनेवाले नक्षत्र कौन-कौन हैं यह प्रहर विचारणा, किस-किस मासमें कौन-कौन-सा नक्षत्र कितने कितने समय पर होता है ? इत्यादि सर्व व्याख्या, सविस्तररूपसे जम्बूद्वीपप्रह्वति, सूयप्रह्वति तथा लोकप्रकाश और मण्डलप्रकरणादि ग्रन्थोंसे जान लें ।

चतुर्थ परिशिष्ट समाप्त हुआ ।

॥ २८ नक्षत्रोंकी आकृति आदि विषय सम्बन्धी यन्त्र ॥

नक्षत्रके नाम	नक्षत्रके आधार पर जन्माक्षर	नक्षत्र संख्या	आरम्भसिद्धि टीकाके आधार पर नक्षत्रोंकी आकृति	'रत्नमाला'के आधार पर नक्षत्रोंकी आकृति के नाम	नोट
१. अभिजित्	हु जे जो खा	३	शुक्राटकवत्	गोशीर्षाबली	
२. श्रवण	खी खू खे खो	३	त्रयपादवत्	कासार	
३. धनिष्ठा	गा नी गू ने	५	मृदङ्गाकारवत्	पक्षिपञ्जर	
४. शतभिषक्	गो सा सी सू	१००	वर्तुलाकारवत्	पुष्पोपचार	
५. पूर्वाभाद्रपद	से सो वा दी	२	द्वियुगलवत्	वाप्यर्ध	
६. उत्तराभाद्रपद	दू व झ था	२	पर्यङ्कवत्	अर्धवापी	
७. रेवती	चे दो चा ची	३२	सुरजवत्	नौकासंस्थान	
८. अश्लेषा	चु छे जो ला	३	अश्वमुखवत्	अश्वस्कंध	
९. भरणी	ली लू ले लो	२	भगाकार(योनि)वत्	भग(योनि)संस्थान	

१. व्यवहारमें अभिजित्के सिवा २७ नक्षत्रानुसार सर्व-व्यवहार प्रचलित है; क्योंकि अभिजित् नक्षत्रका चन्द्रमार्गके साथ सहयोग स्वल्पकालीन होनेसे उसकी विवक्षा नहीं है, तो भी नक्षत्र तो २८ ही हैं और अट्टाहसके आधार पर ली गई मिलती श्री आरम्भ-सिद्धि-श्री नारकचन्द्रदि जैन ज्योतिष ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है।

२. उक्त च-लिग लिग पंचमसयं, दुग दुग कतीसा

१०.	कृत्तिका	आ ई ऊ ष	६	धुर(अख)वत्	धुर (अख)धारा	तिगं तह तिगं च । छयंका तिग एका, पंचगतिग छगं चेव ॥१॥ सत्ता दुग दुग पंचा एकेका पंच चउतिगं चेव । एकारसग चउकं चउककं चेव तासगं ॥२॥ [ज्यो. क.]
११.	रोहिणी	ओ वा वी वू	५	शकटाकारवत्	शकटोच्चिसंस्थान	
१२.	मृगशीर्ष	वे वो का की	३	मृगमस्तकवत्	मृगशिर	
१३.	आर्द्रा	कु घ ङ छ	१	मण्याकारवत्	रुधिरबिन्दु	
१४.	पुनर्वसु	के को हा ही	५	गृहाकारवत्	तुला	२. उक्तं च-हयवदन-भग-शुर ११ १२ १३ १४ १५ -शकट-मृगशिर-मणि-गृहेषु- १६ १७ १८ १९ २० चक्रणाम् । प्राकार-शयन- १८ २० २१ २२ पर्यङ्क-हस्त-मुक्ता-प्रवालानाम् २३ २४ २५ ॥१॥ तोरण-मणि-कुण्डल- २६ २७ २८ सिंहविक्रम-स्वपन-गजविलासा- १ २ नाम् । शृङ्गाटक-त्रिविक्रम- ३ ४ ५ मृदङ्गा-वृत्त-द्विपलानाम् ॥२॥ ६ ७ पर्यङ्क मुरजस्टयानि भानि कथितानि चाश्विनादीनि ॥
१५.	पुष्य	ह हे हो डा	३	शराकारवत्	वर्धमानक	
१६.	आश्लेषा	डी डू डे डो	६	चक्रवत्	पताका	
१७.	मघा	मा मी मू मे	७	प्राकाराकारवत्	शालवृक्ष	
१८.	पूर्वाफाल्गुनी	मो टा टी टू	२	शय्याकारवत्	पल्यंकार्द	
१९.	उत्तराफाल्गुनी	टे टो पा पी	२	पल्यंकारवत्	अर्केपल्यंक	

४. गोसीवाक्लीकाहार सउणि
पुण्योवधार वावी य । नावा
आसखंवे भा छुरधार य
सगडुद्धी ॥१॥ मिगसीसावलि
रुहिरविंदु तुल वद्धमाणग पढागा
पगारे पलियंके हत्ये मुहपुण्ण
वेव ॥२॥ क्रीलगा दामणि
एगाक्ली य गवदंत किच्छुअउले
य । गयविक्रमे य तत्तो
सीहनिसाई थ संठणा ॥३॥

[ज्योतिषकर, पृ. ७३]

इति चतुर्थं नक्षत्र-
विचारे लघु परिशिष्टम् ॥

२०.	हस्त	पू षा णा ठा	५	हस्ताकारवत्	हस्त
२१.	चित्रा	से पो रा रि	१	मौक्तिकाकारवत्	मुखमंडन
२२.	स्वाति	रु रे रो ता	१	प्रवालाकारवत्	कीलक
२३.	विशाखा	ती वृ ते तो	५	तोरणाकारवत्	पशुदमनाकार
२४.	अनुराधा	ना नी नू ने	४	मण्याकारवत्	एकावली
२५.	ज्येष्ठा	नो या यी शु	३	कुंडलाकारवत्	गजदेताकार
२६.	मूल	ये यो भा भी	११	सिंह पंजाकारवत्	शुश्रिषकपुच्छाकार
२७.	पूर्वाषाढा	शू धा फ ढा	४	शय्याकारवत्	गजविक्रमाकार
२८.	उत्तराषाढा	मे भो जा जी	४	शूलतेगजाकारवत्	सिंहनिषंदनाकार

अथ ग्रहपङ्क्ति स्वरूपम्

अवतरण—पहले नक्षत्रपंक्तिकी व्यवस्था बतानेके बाद अब अनुक्रमसे प्राप्त ग्रहपंक्तिकी व्यवस्था बतानेवाली गाथा ग्रन्थकार महर्षि जणाते हैं ।

१८० एवं गहाङ्गोवि हु, नवरं ध्रुवपासवत्तिणो तारा ।

तं चिय पयाहिणंता, तत्थेव सया परिभमंति ॥८२॥

गाथार्थ—नक्षत्रोंकी पंक्ति विषयक जिस तरह व्यवस्था की उसी तरह ग्रह आदिकी पंक्ति व्यवस्था समझें । इतना विशेष है कि, दो चन्द्रोंका परिवार १७६ ग्रहोंका होनेसे ग्रहोंकी पंक्तियाँ भी १७६ होती हैं और प्रत्येक पंक्तिमें ६६ ग्रहोंकी संख्या होती है । यहाँ यह भी विशेष समझें कि अचल ऐसे ध्रुवतारोंकी समीपमें वर्तित अन्य तारोंके विमान उसी ध्रुवतारेको ही प्रदक्षिणा देते घूमते हैं । ॥८२॥

विशेषार्थ—प्रथमकी गाथाके अनुसार सुगम है, तो भी प्रासंगिक कुछ कहा जाता है ।

मनुष्यक्षेत्रमें ग्रहोंकी पंक्तियाँ १७६ हैं, और प्रत्येक पंक्तियाँ जम्बूद्वीपके प्रान्तभागसे प्रारम्भ होकर मानुषोत्तर पर्वत तक पहुँची हुई है, तथा उस प्रत्येक पंक्तिमें ग्रहसंख्या तो ६६की ही है । ये पंक्तियाँ भी नक्षत्रपंक्तियोंकी तरह सूर्यकी किरणों जैसी दीखती हों वैसे भास होता है । एक चन्द्रके परिवारमें ८८ ग्रह होनेसे जम्बूद्वीपके दो चन्द्रोंकी अपेक्षासे १७६ ग्रह होते हैं । ८८ ग्रहपंक्तियाँ दक्षिणदिशामें होती हैं और ८८ ग्रहपंक्तियाँ उत्तरदिशामें होती हैं । तथा नक्षत्रपंक्तिके विवरण प्रसंग पर जैसे नक्षत्रपिटककी व्यवस्था प्रदर्शित की थी वैसे यहाँ भी ग्रहपिटक समझ लें । साथ ही जिस पंक्तिके प्रारम्भमें जो ग्रह होता है, उसी नामवाले ग्रहोंकी ६६ जितनी संख्या मानुषोत्तर पर्वत तक पहुँची होती है । जम्बूद्वीपमें दो चन्द्रोंके एक चन्द्रपिटककी अपेक्षासे एक ग्रहपिटक (ग्रह संख्या १७६), लवणसमुद्रमें दो चन्द्रपिटककी अपेक्षासे दो ग्रहपिटक (ग्रह संख्या ३५२), धातकीखण्डमें छः चन्द्रपिटककी अपेक्षासे छः ग्रहपिटक (ग्रह संख्या १०५६), कालोदधिमें ४२ चन्द्रके २१ चन्द्रपिटककी अपेक्षासे २१ ग्रहपिटक (ग्रह संख्या ३६९६) और अर्धपुष्करके ७२ चन्द्राश्रयी ३६ चन्द्रपिटककी अपेक्षासे ३६ ग्रहपिटक (कुल ग्रहसंख्या ६३३६) हैं । इस तरह सर्व मिलकर ६६ ग्रहपिटक तथा ८८५६२७६ कुल ग्रह संख्या मनुष्यक्षेत्रमें होती है । और वे सारे ग्रह मेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा देते हुए सदाकाल परिभ्रमण करते हैं ।

१९० तुलना करें—' छावत्तरगहाणं पतिलयं होइ मण्युलोगमि ।

छावद्वीअ छावद्वीअ होइ इक्किआ पंती ॥१॥' [सूर्यप्रशस्ति]

चन्द्र-सूर्य-ग्रह और नक्षत्रोंके विमानोंकी पंक्तियाँ जम्बूद्वीपके मेरुको प्रदक्षिणा करती ^{१८१} अनवस्थित योगसे अर्थात् एक दूसरेसे अलग-अलग रीतिसे परिभ्रमण करती हैं। जो वस्तुस्थिति हम ऊपर समझ चुके हैं। तारोंके विमानोंके लिए भी वैसा ही है, तो भी उसमें इतना विशेष है कि जो 'ध्रुव'के तारे हैं वे जगत्के तथाविध स्वभावसे ही सदा स्थिर हैं। तदुपरांत उसके समीप वर्तित तारोंका मण्डल मेरुकी प्रदक्षिणा न करता स्थिर ऐसे 'ध्रुव'के तारे की ही प्रदक्षिणा करता वहीं ही घूमता है। यह ध्रुवका तारा अपने भरतक्षेत्रकी अपेक्षासे उत्तरदिशामें है। ऐसे ध्रुवके तारे कुल चार हैं और ये चारों ध्रुवके तारे उस उस क्षेत्रकी अपेक्षासे उत्तरदिशामें ही रहे हुए हैं। अर्थात् भरतक्षेत्रकी अपेक्षासे जैसे ध्रुव उत्तर—दिशामें है वैसे शेष तीन ध्रुवतारे ऐरवत, पूर्वमहाविदेह और पश्चिम महाविदेहकी अपेक्षासे क्रमानुसार उत्तरदिशामें ही हैं।

'सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः' इस वाक्यसे जैसे प्रत्येक क्षेत्रकी अपेक्षासे मेरुपर्वत उत्तरदिशामें ही है वैसे इन ध्रुवतारोंके लिए भी समझे। इन ध्रुवतारों पर जनसमुदाय अनेक प्रकारका आधार रखता है। समुद्रमें चलते जहाज, स्टीमर, हवाईजहाज आदिको दिशाकी जानकारीमें यह ध्रुवका तारा 'दिशायंत्र' आदिके द्वारा बहुत ही उपयोगी है, जहाज आदि किसी भी दिशामें जाए तो भी उसमें विद्यमान दिशायंत्रकी सूई सदाकाल उत्तर ध्रुवकी ओर ही होती है, जिससे रात्रिमें भी जहाज किस दिशामें जाता है उसका बराबर खयाल आ सकता है।

पहले गाथा ५७ में चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषी देवोंका जो गतिक्रम बताया गया है उसे सामान्यतः जानें। यहाँ विशेषता इतनी समझें कि चन्द्रसे शीघ्र गतिवाले सूर्य हैं, सूर्यसे शीघ्र गतिवाले (५७वीं गाथामें कहे अनुसार ग्रह नहीं परन्तु) नक्षत्र हैं, और नक्षत्रोंसे शीघ्र गतिवाले अनवस्थित योगसे परिभ्रमण करते ग्रहोंको समझे। तथा ये ग्रह वक्रातिचार-मन्दगतिवाले होनेसे उनकी नियमित गति नहीं है और इसलिए उनका मुहूर्त-गतिमान-परिभ्रमणकालप्रमाण-मण्डलविष्कम्भादि मान आदि प्ररूपणा विद्यमान शास्त्रोंमें उपलब्ध हों ऐसा नहीं लगता।

नक्षत्रोंकी तरह तारोंके भी मण्डल हैं, और ये मण्डल अपने अपने नियतमण्डलमें ही चर (गति) करनेवाले होनेसे सदा अवस्थित होते हैं। यहाँ ऐसी शंका करनेकी आवश्यकता नहीं है कि तारामण्डलोंकी गति ही नहीं है, क्योंकि तारे भी जम्बूद्वीपवर्ती मेरुपर्वतकी प्रदक्षिणा करनेपूर्वक परिभ्रमण करते हैं, मात्र सूर्य-चन्द्रके बहुत मण्डल होनेके

१९१. मण्डल प्रकरणमें कहा है कि—

'ते मेरु परिअडंता, पयाहिणावत्तमण्डला सव्वे ।

अणवदिठअजोगेहिं, चंदा सूर्य गहगणा य ॥ १ ॥'

कारण उनका उत्तरायन-दक्षिणायन जिस तरह होता है वैसे इन तारामण्डलोंका नहीं होता । जो तारामण्डल दक्षिणदिशामें रहकर मेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं वे सदाकाल वैसे ही करते हैं, किसी भी समय ये तारे उत्तरदिशामें नहीं आते । और जो तारे उत्तरमें रहकर मेरुकी प्रदक्षिणा करते हैं वे हमेशा उत्तरमें ही रहते हैं; किसी समय दक्षिणदिशामें जाते ही नहीं हैं ।

इन तारामण्डलोंकी संख्या कितनी है यह तथा उन मण्डलोंका विष्कम्भादिप्रमाण वर्तमानमें उपलब्ध ग्रन्थोंमें देखनेमें नहीं आता । [८२] ॥ इति ग्रहपंक्तिस्वरूपम् ॥

॥ मनुष्यक्षेत्रवर्त्तीचन्द्रादि पंक्तियोंका यन्त्र ॥

नाम	जाति	पंक्तिसंख्या	प्रत्येक पंक्तिगत चन्द्र-सूर्यादि संख्या	सर्वसंख्या
मनुष्यक्षेत्रमें	चन्द्रकी	२	६६	१३२
"	सूर्यकी	२	६६	१३२
"	ग्रहकी	१७६	६६	११६१६
"	नक्षत्रकी	५६	६६	३६९६
"	तारोंकी	पंक्तियों नहीं हैं	परंतु विप्रकीर्ण संख्या ८८४०७०० कोडाकोडी	८८४०७०० कोडाकोडी

सूचना—मनुष्यक्षेत्रके बाहरके द्वीप-समुद्रोंमें चन्द्र-सूर्यादिकी संख्या जाननेके लिए गाथा ७८-८०के विशेषार्थमें दिया हुआ करण देखें ।

॥ मतांतरसे मनुष्यक्षेत्रके बाहर चन्द्र-सूर्य पंक्तिका स्वरूप ॥

[अन्तर्गत पंक्तिव्यवस्था तथा मतान्तर निरूपण]

अवतरण—ग्रहकी पंक्तियों विषयक व्यवस्था तथा ग्रहोंके सम्बन्धमें अन्य विचार, पूर्व गाथाके विशेषार्थमें यथायोग्य बताया है । ७८-७९वीं गाथामें द्वीपसमुद्राश्रयी चन्द्र-सूर्य संख्या जाननेका जो करण बताया है, वह संग्रहणी ग्रन्थकारने जणाया था । उस गाथाके विशेषार्थमें उस सूर्य-चन्द्रकी संख्या बाबतमें और पंक्ति विषयमें अन्य प्रसिद्ध मत आगे बताएँगे ऐसा कहा था उसी मतका निरूपण क्षेपक गाथाओंसे कहा जाता है ।

१८२ चउयालसयं पढमिल्लयाए, पंतीए चन्द-सूराणं ।

तेण परं पंतीओ, चउरुत्तरियाए बुड्डीए ॥८३॥ [प्र०गा०]

१८३ बावत्तरि चन्दाणं, बावत्तरि सूरियाण पंतीए ।

पढमाए अंतरं पुण, चन्दाचन्दस्स लक्खदुगं ॥८४॥ [प्र०गा०]

जो जावइ लक्खाइं, वित्थरओ सागरो य दीवो वा ।

तावइयाओ य तहिं, चन्दासूराण पंतीओ ॥८५॥ [प्र०गा०]

[प्र. गा. सं. १७-१८-१९]

गाथार्थ—मनुष्यक्षेत्रके बाहरके पुष्करार्धकी प्रथम पंक्तिमें १४४ चन्द्र-सूर्य संख्या होती है और उस पंक्तिसे आगेकी प्रत्येक पंक्तिमें ४ चन्द्र और ४ सूर्यकी वृद्धि करें । प्रथम पंक्तिमें ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य होते हैं, उस प्रथम पंक्तिमें चन्द्रसे चन्द्रका दो लाख योजनका अन्तर होता है । जो द्वीप अथवा जो समुद्र जितने लाख योजन विस्तारवाला हो वहाँ उतनी संख्याप्रमाण चन्द्र-सूर्यकी पंक्तियाँ जानें ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥

विशेषार्थ—अगाऊ ७८-७९ इन दोनों गाथाओंसे ग्रन्थकार महर्षिने मनुष्यक्षेत्रके बाहर चन्द्र-सूर्य व्यवस्था और उस अपेक्षासे प्रहादि संख्या जाननेका 'करण' आदि हकीकत दर्शाई है ।

अब इन तीन चालू गाथाओंसे दूसरे एक मतका विवरण करनेके पहले यहाँ उपयोगी ऐसा इस चन्द्रिया संप्रहणी ग्रन्थकी टीकामें बताया हुआ एक दिगम्बर मत देख लें—

॥ [द्वितीय] दिगम्बरीयमतनिरूपण ॥

१९२. 'बत्तीस सयं चन्दा, बत्तीस सयं च सूरिया सयं ।

समसेणीए सब्बे, माणुसखित्ते परिभमंति ॥ १ ॥ [मं० प्र०]

१९३. गाथा ८३-८४-८५ दिगम्बर सम्प्रदायकी हो ऐसा भी श्रुतबुद्धोका कथन है ।

१९४. दिगम्बर सम्प्रदायके मतकी प्रक्षिप्त 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' की जो मूल्याथाएँ वे थे रहीं—

चंदाओ सूस्स य, सूरा चंद्स्स अंतरं होइ ।

पन्नाससहस्साइं, तु जोअणाइं समहिआइं ॥ १ ॥

पणयालसयं पढमि-ल्लुयाइं पंतीए चंद्सूराणं ।

तेण परं पंतीओ, उभासत्ताबुड्ढिओ नेया ॥ २ ॥

चंदाण रुध्वसंखा, सत्तत्तीसाइं तेरससयाइं,

पुक्खरवरदीविअरद्धे, सूराण वि तत्तिआ जाण ॥ ३ ॥

मनुष्यक्षेत्रके बाहर किस द्वीप-समुद्रमें कितनी-कितनी चन्द्र-सूर्यकी पंक्तियाँ हों? वे पंक्तियाँ किस तरह व्यवस्थित हों? तथा प्रत्येक पंक्तिमें कितने-कितने चन्द्र तथा सूर्य हों और उन चन्द्र-सूर्य विमानोंका परस्पर अन्तर कितना हो? यह दिगम्बराचार्यके मतानुसार बताया जाता है ।

मनुष्यक्षेत्रके बाहर चन्द्र-सूर्यकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें तीन मत प्रवर्तित हैं । उनमें एक मत चालू ग्रन्थकारका, जो अगाऊ ७८-७९ गाथा द्वारा कहा गया है । अब कथित दूसरा और तीसरा दिगम्बरीय मत ८३-८४-८५ इन तीन गाथाओंके विवेचनसे कहा जाएगा ।

मनुष्यक्षेत्रके बाहरका अर्धपुष्करवर क्षेत्र आठ लाख योजन प्रमाण बलविविष्कम्भवाला है । उसमें इस दूसरे (दिगम्बरीय) मतके अनुसार आठ पंक्तियाँ होती हैं । यहाँ इतना खास ध्यानमें रखे कि अब तक चन्द्र-सूर्य-नक्षत्रादिकी जो पंक्तियाँ समश्रेणिमें ली जाती थीं उन्हें वैसे न लेकर परिरथाकारमें (वतुलाकारमें) लेनी हैं । और गोल या मालाकारमें रही हुई वे प्रत्येक पंक्तियाँ एक-एक लाख योजनके अन्तर पर होती हैं । मनुष्यक्षेत्रके बाहर पुष्करार्ध द्वीपमें वर्तित इन आठ पंक्तियोंमेंसे प्रथम पंक्तिमें १४५ चन्द्र और १४५ सूर्य आए हैं । इस मालाकारमें रही पंक्तिमें चन्द्रसे सूर्यका अन्तर साधिक ५०००० (पचास हजार) योजन है और चन्द्रसे चन्द्रका अथवा तो सूर्यसे सूर्यका अन्तर साधिक १,००,००० (एक लाख) योजन है ।

ऊपर जणाये अनुसार जबकि इस प्रथम पंक्तिमें १४५ चन्द्र और १४५ सूर्य हैं अर्थात् दोनोंकी कुल संख्या २९०की है और एक चन्द्रसे सूर्यका अन्तर साधिक पचास हजार योजनका है, तो १४५ चन्द्रों और १४५ सूर्योंको मालाकारमें रहनेके लिए कितना क्षेत्र चाहिए? अथवा चन्द्रसे चन्द्रका और सूर्यसे सूर्यका अन्तर साधिक एक लाख योजन है तो १४५ चन्द्रोंको अथवा १४५ सूर्योंको परिरथाकार रचनेमें कितना क्षेत्र चाहिए? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि उसके लिए १,४५,४६,४७७ (एक करोड़, पतालीस लाख, छियालीस हजार, चारसौ सत्तर) योजन प्रमाण क्षेत्र चाहिए । अर्थात् मनुष्यक्षेत्रके बाहर पुष्करार्धमें वर्तित चन्द्र-सूर्यकी मालाकारमें रही प्रथम पंक्तिकी परिधि १४५४६४७७ योजन प्रमाण होती है ।

अब दूसरी तरह प्रश्न हो सकता है कि-एक चन्द्रसे एक सूर्यका अन्तर ५०००० (पचास हजार) योजन है तो १४५४६४७७ योजन प्रमाण क्षेत्रमें कितने चन्द्र अथवा सूर्यका समावेश हो सके? अथवा एक सूर्यसे दूसरे सूर्यका या एक चन्द्रसे दूसरे चन्द्रका अन्तर साधिक एक लाख योजन है तो १४५४६४७७ योजन प्रमाण परिधि क्षेत्रमें कितने चन्द्र अथवा सूर्यका समावेश हो सके? इन दोनों प्रकारके प्रश्नोंके उत्तरमें ' १४५ चन्द्र अथवा

१४५ सूर्यका समावेश हो सके? ऐसा उत्तर आएगा। इस तरह प्रथम पंक्तिमें १४५ सूर्य और १४५ चन्द्र होते हैं।

अब अवशिष्ट सात पंक्तियोंमें सूर्य-चन्द्रकी संख्याका विचार करें।

दूसरी पंक्ति प्रथम पंक्तिसे एक लाख योजन दूर जाने पर वहाँ परिव्याकारमें (गोलाकारमें) मिलती है। उस स्थानकी परिधि गणितकी दृष्टिसे प्रथम पंक्तिकी परिधिकी अपेक्षासे-क्षेत्रके विष्कम्भमें वृद्धि होनेसे-प्रथम पंक्तिकी परिधिकी अपेक्षासे बड़ी होती है।

ऐसा सामान्य नियम है कि 'जिस क्षेत्रका जितना विष्कम्भ हो उससे लगभग त्रिगुण ऊपरान्त परिधि होती है'।

इस नियमानुसार दूसरी पंक्तिकी परिधि १५१७८९३२ योजन प्रमाण आती है। और चन्द्रसे चन्द्रका तथा चन्द्रसे सूर्यका और सूर्यसे सूर्यका तथा सूर्यसे चन्द्रका अन्तर तो प्रथम पंक्तिमें बताया (एक दूसरेको ५० हजार, परस्पर साधिक लाख योजन) उतना ही है। अतः (इस दूसरी पंक्तिका परिधि विशेष होनेसे) इस पंक्तिमें प्रथम पंक्तिकी अपेक्षासे छः चन्द्र तथा छः सूर्य अधिक होते हैं। यहाँ विचार करनेसे यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि—प्रथम पंक्तिकी परिधिसे दूसरी पंक्तिकी परिधि साधिक छः लाख योजन अधिक है। अतः दोनों बाजू पर लाख-लाख योजन प्रमाण क्षेत्रविष्कम्भ बढ़नेसे २ लाख योजन क्षेत्र बड़े तब 'त्रिगुण' नियमानुसार उस स्थानका परिधि ६३२४५५५ योजन, २ कोस, ५४ धनुष, २७ अंगुल होता है। एक चन्द्रसे सूर्यका अन्तर पचास हजार योजन है, अतः उतने अधिक क्षेत्रमें छः चन्द्र और छः सूर्यकी संख्यामें वृद्धि हुई। और वह भी वास्तविक है। अर्थात् प्रथम पंक्तिमें ज्यों १४५ चन्द्र और १४५ सूर्य हैं त्यों दूसरी पंक्तिमें १५१ चन्द्र और १५१ सूर्य हैं। तीसरी पंक्ति दूसरी पंक्तिसे १ लाख योजन दूर है। उसकी परिधि साधिक १५८११३८७ योजन प्रमाण होती है, जिससे दूसरी पंक्तिसे सात चन्द्र और सात सूर्यकी संख्याका बढ़ावा होता है, अतः तीसरी पंक्तिमें १५८ चन्द्र और १५८ सूर्य होते हैं।

इस तरह आगेकी पंक्तियोंके लिए भी सोच लें।

अर्थात् दो पंक्तियोंमें छः छः चन्द्र-सूर्यकी संख्या बढ़ावे और तदनन्तर एक पंक्तिमें सूर्य-चन्द्रकी सात संख्या बढ़ावे। इस तरह करनेसे चौथी पंक्तिमें (तीसरी पंक्तिके $१५८+६=$) १६४ चन्द्र और १६४ सूर्य होंगे। पांचवीं पंक्तिमें (चौथी पंक्तिके $१६४+६=$) १७० चन्द्र और १७० सूर्य प्राप्त होंगे। छठी पंक्तिमें (पांचवीं पंक्तिके $१७०+७=$) १७७ चन्द्र और १७७ सूर्य प्राप्त होंगे। सातवीं पंक्तिमें (छठी पंक्तिके $१७७+६=$) १८३ चन्द्रों और १८३ सूर्योंकी संख्या होगी, और आठवीं पंक्तिमें (सातवीं पंक्तिके $१८३+६=$)

१८९ चन्द्र और १८९ सूर्यकी संख्या प्राप्त होगी। इस तरह आठों पंक्तियोंके मिलकर कुल १३३७ चन्द्र और १३३७ सूर्य (= कुल संख्या २६७४) मनुष्यक्षेत्रके बाहरके अर्ध-पुष्करवर द्वीपमें रहे हैं। इस तरह उक्त दिगम्बरीय मतानुसार मनुष्यक्षेत्रके बाहर बाह्यपुष्करार्धवर्षी चन्द्र-सूर्यकी पंक्ति व्यवस्था दर्शाई है।

अब आगे आगेके द्वीप-समुद्रोंमें यावत् लोकान्त तक सूर्य-चन्द्रकी संख्या कितनी है? यह बताया जाता है।

॥ मनुष्यक्षेत्रके बाहर समग्र द्वीप-समुद्र विषयक चन्द्रादित्य संख्या विचार ॥

ऊपर कहे अनुसार मनुष्यक्षेत्रके बाहरके अर्धपुष्करद्वीपमें आठवीं पंक्ति पूर्ण होनेके बाद, पचास हजार योजन जानेके बाद पुष्करवरद्वीप समाप्त होता है। तदनन्तर पुष्कर समुद्रमें पचास हजार योजन जाने पर प्रथमकी तरह परिव्याकार (वल्याकार) चन्द्र-सूर्यकी पंक्तिका प्रारम्भ होता है। दूसरी चन्द्र-सूर्यकी वल्याकार स्थित पंक्तिका अन्तर एक लाख योजन प्रमाण ऊपर कहा है। वह इस तरह बराबर आता है। अब उस पुष्कर समुद्रमें स्थित प्रथम पंक्तिमें कितने चन्द्र-सूर्य हों? इस विषयमें विचार करने पर ऐसा जणाया है कि—‘प्रथम द्वीप अथवा समुद्रकी प्रथम पंक्तिमें जितने सूर्य और चन्द्रकी संख्या होती है उससे दुगुनी संख्या आगेके द्वीप अथवा समुद्रकी प्रथम पंक्तिमें होती है। समयक्षेत्रके बाहर अर्धपुष्करद्वीपकी प्रथम पंक्तिमें १४५ चन्द्रों और १४५ सूर्योंकी संख्या होनेसे पुष्करसमुद्रकी प्रथम पंक्तिमें २९० चन्द्र ^{१८५} और २९० सूर्य होते हैं। ऐसा प्रत्येक

१९५. द्वितीय दिगम्बर मतमें बताया कि इष्ट द्वीप अथवा समुद्रकी अन्तिम पंक्तिगत चन्द्रसे सूर्यकी संख्या आनेके बाद उस इष्ट द्वीप अथवा समुद्रसे आगेके द्वीप अथवा समुद्रमें स्थित प्रथम पंक्तिगत चन्द्र-सूर्यकी संख्या जाननेके लिए प्रथमके द्वीप अथवा समुद्रकी प्रथम पंक्तिगत चन्द्र-सूर्यकी संख्याको द्विगुण करें; और वैसा करनेसे (मनुष्यक्षेत्रके बाहरके पुष्करार्धकी प्रथम पंक्तिमें १४५ चन्द्र और १४५ सूर्य होनेसे) पुष्करोद-समुद्रकी प्रथम पंक्तिमें २९० चन्द्र और २९० सूर्य संख्या आई। यहाँ खास विचारणा उपस्थित होती है; क्योंकि दिगम्बर मतानुसार यह प्रथम बार ही कहा गया है कि यदि पंक्तिगत चन्द्र-सूर्यकी संख्या जाननी हो तो उसकी परिधि जाननेके बाद उसमें एक-एक लाख योजनके अन्तर पर चन्द्र और एक-एक लाख योजनके अन्तर पर सूर्य रह सके, अर्थात् चन्द्रसे सूर्यका अन्तर पचास हजार योजन, और चन्द्रसे चन्द्रका अथवा सूर्यसे सूर्यका अन्तर एक लाख योजन रहे वैसी व्यवस्था करते जितनी संख्या आवे उतनी विवक्षित पंक्तिमें चन्द्र-सूर्यकी संख्या जाने। अब हम सोचेंगे तो इस मतके अनुसार आगे आगेकी पंक्तियोंमें क्रमशः छः छः और सात चन्द्र-सूर्यकी वृद्धि करते मनुष्यक्षेत्रके बाहर पुष्करार्धमें आठवीं पंक्तिमें १८९ चन्द्र और १८९ सूर्य हैं। जब कि ऊपर कथित द्विगुण करनेकी पद्धतिसे पुष्करोदसमुद्रकी प्रथम पंक्ति (१४५ × २ =) २९० चन्द्र और २९० सूर्यकी संख्या कही जाती है। दो लाख योजनका विष्कम्भ अधिक होनेसे परिधिमें

द्वीप-समुद्रकी प्रथम पंक्तिके लिए समझें। अब यह पुष्करसमुद्र बत्तीस लाख योजन चौड़ा होनेसे लाख-लाख योजनके अन्तर पर रहीं शेष ३१ पंक्तियोंमें कितने कितने चन्द्र और सूर्य हों? यह यहाँ कहा जाता है। इसके आगे मनुष्यक्षेत्रके बाहरके पुष्करार्धमें सूर्य-चन्द्रकी संख्याके लिए जो व्यवस्था बताई गयी थी वह व्यवस्था यहाँ भी समझनी है, अर्थात् एक एक लाख योजनके अन्तर पर स्थित पंक्तियोंकी जितनी परिधि हो और उस परिधिमें सूर्यसे चन्द्रका पचास हजार योजन अन्तर और सूर्यसे सूर्यका अथवा चन्द्रसे चन्द्रका एक लाख योजनप्रमाण अन्तर रहे वैसी व्यवस्था करते जितने सूर्यो अथवा चन्द्रोंका समावेश हो सके उतने सूर्य-चन्द्रोंकी संख्या जानें। इस तरह करनेसे प्रथम पंक्तिगत सूर्य-चन्द्रोंकी अपेक्षासे दूसरी पंक्तिमें छः चन्द्रों और छः सूर्योंकी संख्या-वृद्धि होती है, अर्थात् प्रथम पंक्तिमें २९० चन्द्र-सूर्य हैं जब कि दूसरी पंक्तिमें २९६ चन्द्र और २९६ सूर्य हैं। तीसरी पंक्तिमें सात चन्द्र और सात सूर्योंकी वृद्धि होनेसे ३०३ चन्द्र और ३०३ सूर्य हैं। चौथी पंक्तिमें छः छः चन्द्र-सूर्योंकी वृद्धि होनेसे $(३०३ + ६ =)$ ३०९ चन्द्र और ३०९ सूर्य होते हैं, पांचवीं पंक्तिमें पुनः छः छः चन्द्रों-सूर्योंकी वृद्धि होनेसे $(३०९ + ६ =)$ ३१५ चन्द्र, ३१५ सूर्य होते हैं। पुनः छठी पंक्तिमें सात सात चन्द्र-सूर्योंकी वृद्धि होनेसे $(३१५ + ७ =)$ ३२२ चन्द्र और ३२२ सूर्य होते हैं। उसके बादकी पंक्तियोंमें भी प्रथमकी तरह दो बार छः छः चन्द्र-सूर्योंकी और एक बार सात चन्द्रों और सात सूर्योंकी वृद्धि करते जाएँ। ऐसा करनेसे जब इष्टद्वीप अथवा समुद्रकी अन्तिम पंक्ति आनेके बाद आगेके द्वीप अथवा समुद्रमें वर्तित प्रथम पंक्तिगत चन्द्रों-सूर्योंकी संख्या जाननेके लिए पूर्वके द्वीप अथवा समुद्रकी प्रथम पंक्तिगत चन्द्र-सूर्योंकी संख्या को द्विगुण करनेसे जो संख्या आवे वह संख्या उस द्वीप अथवा समुद्रकी प्रथम पंक्तिगत चन्द्र-सूर्योंकी जानें। तत्पश्चात् एक बार छः की

वृद्धि होती है, और उस हिसाबसे छः छः और सात चन्द्र-सूर्योंकी क्रमशः पूर्वसंख्यामें वृद्धि हो वह बराबर है। परन्तु मनुष्यक्षेत्रके बाहरके पुष्करार्धकी अन्तिम पंक्तिमें १८९ चन्द्र-सूर्य हैं, और द्विगुण करनेकी ऊपर बताई पद्धतिसे पुष्करोदसमुद्रकी प्रथम पंक्तिमें २९० चन्द्र और २९० सूर्य आते हैं तो एक साथ १०१ चन्द्र-सूर्योंकी वृद्धि किस तरह हुई? अथवा वृद्धि हुई तो चन्द्रसे सूर्यका पचास हजार योजन और चन्द्रसे चन्द्रका अथवा सूर्यसे सूर्यका एक लाख योजन प्रमाण अन्तर किस तरह आ सके? क्योंकि उतने अन्तरकी उस व्यवस्थाके अनुसार उस पुष्करोदसमुद्रकी प्रथम पंक्तिकी परिधि ६३ लाख योजन प्रमाण विष्कम्भकी अपेक्षासे लगभग २००००००० (दो करोड़) जितनी हो जाती है। इतनी योजनप्रमाण परिधिमें २९० चन्द्र और २९० सूर्य पचास पचास हजार योजनके अन्तर पर किस तरह रह सके? उस विषयमें खास विचार करनेकी जरूरत है। चन्द्र-सूर्योंकी संख्या न्यून हो, तो ही उतनी परिधिमें पचास हजार योजनका अन्तर व्यवस्थित रहे, अथवा चन्द्र-सूर्योंकी संख्या २९० ली जाए तो प्रत्येक द्वीप-समुद्रमें अन्तरके निश्चितताका नियम नहीं रह सकेगा

वृद्धि, फिर एक बार सातकी वृद्धि, उसके बाद दो पंक्तियोंमें छः छः की वृद्धि और एक बार सातकी वृद्धि इस तरह यावत् इष्ट द्वीप अथवा समुद्रकी अन्तिम पंक्ति तक सोचें । इस तरह प्रत्येक द्वीप-समुद्रमें वर्तित चन्द्र-सूर्य संख्या स्वयं सोच ले ।

॥ इति दिगम्बरमतेन मनुष्यक्षेत्रबहिर्वर्त्तितचन्द्र-सूर्यपंक्तिव्यवस्था संख्याकरणं च ॥

[इस तरह प्रासंगिक दिगम्बर मतका निरूपण किया । अब इन ग्रन्थकार महर्षिने ८३-८४-८५ गाथाओंमें जो किसी एक प्रसिद्ध आचार्यका मतांतर बताया है उस तृतीयमतका अब यहाँ निरूपण किया जाता है ।]

१८६ तृतीयमतनिरूपण ॥

मनुष्यक्षेत्रके बाहर आठ लाख योजनप्रमाण वलयविष्कम्भवाले अर्ध पुष्करद्वीपमें, वलयाकारमें एक एक लाख योजनके अन्तर पर आठ पंक्तियाँ रही हैं । प्रथम पंक्ति मानुषोत्तरपर्वतसे ५०००० (पचास हजार) योजन दूर आयी है । ^{१८७}मनुष्यक्षेत्र (पैतालीस लक्ष योजनप्रमाण विष्कम्भवाला होनेसे)की परिधि १४२३०२४९ योजनप्रमाण है । दोनों बाजू पर पचास पचास हजार योजनप्रमाण क्षेत्रकी वृद्धि होनेसे; परिधिमें वृद्धि होनेसे प्रथम पंक्तिकी परिधि १४५४६४७६ योजन जितनी होती है । इस पंक्तिमें ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य रहे हैं । चन्द्र-सूर्य दोनोंका जोड़ करनेसे (७२ + ७२ =) १४४ होते हैं, इस १४४की संख्यासे १४५४६४७६ योजनप्रमाण परिधिको बाँटनेसे चन्द्रसे सूर्यका अन्तर एक लाख और एक हजार सत्रह योजन पर अधिक २९ भाग प्रमाण—(१०१०१७ $\frac{२९}{१४४}$) आएगा, और एक चन्द्रसे दूसरे चन्द्रका अथवा एक सूर्यसे दूसरे सूर्यका २०२०३४ $\frac{२९}{१४४}$ योजन प्रमाण अंतर आएगा । 'जो जावइ लख्खाइ'.....इस गाथाके अनुसार जो द्वीप अथवा समुद्र जितने लाख योजन प्रमाण विष्कम्भवाला हो उस द्वीप-समुद्रमें उतनी चन्द्र-सूर्योंकी पंक्तियाँ परिर्याकारमें-वर्तुल्यकारमें सोचे । इस मनुष्यक्षेत्रके बाहरका पुष्करार्धक्षेत्र आठ लाख योजनप्रमाण विष्कम्भवाला होनेसे (प्रत्येक द्वीप-समुद्रमें आदि और अन्तका ५० हजार योजनक्षेत्र अलग रखकर) उसमें वलयाकारमें आठ पंक्तियाँ एक एक लाख योजनके अन्तर पर रही हैं, जो सहज समझमें आये ऐसी स्पष्ट बात है ।

आगे-आगेके प्रत्येक द्वीपसमुद्रमें, उस उस पंक्तिमें स्थित चन्द्र-सूर्योंकी संख्या तो सरलतासे जान सकते हैं, परन्तु समग्र द्वीप अथवा समुद्रमें वर्तित सर्व चन्द्रों तथा सूर्योंकी

१९६. इस मतसे 'क्रिकोक्तसार' ग्रन्थके कर्त्ता [दिगम्बराचार्य] सम्मत हैं ।

१९७. 'एगा जोयणकोडी, लम्बा बायाल तीसइ सहस्सा ।

समयक्खित्तपरिओ दो चेव सया अउणपन्ना ॥ १ ॥'

संख्या किस तरह जाने ? इसके लिए बालजीवोंको अतिशय उपयोगी ऐसा 'करण' बताया जाता है, वह इस तरह—

जिस जिस द्वीप-समुद्रमें जितनी पंक्तियाँ हों उस उस पंक्तिकी सर्व संख्याको 'गच्छ' ऐसी सांकेतिक संज्ञा दी जाती है, और आगे आगेकी पंक्तियोंमें जिन चार-चार चन्द्रों-सूर्योंकी वृद्धि करनेकी है, उस चारकी संख्याको 'उत्तर' ऐसी संज्ञा दी जाती है। अब 'गच्छ'का 'उत्तर'के साथ गुना करें, उसके बाद प्राप्त हुई संख्यामेंसे 'उत्तर' अर्थात् चारकी संख्या कम करें, अनन्तर जिस द्वीप अथवा समुद्रके चन्द्र-सूर्यकी संख्या जाननी हो उस द्वीप-समुद्रकी प्रथम पंक्तिमें चन्द्र-सूर्यकी जो संख्या हो उस संख्याका प्रथम आयी हुई संख्यामें प्रक्षेप करें। ऐसा करनेसे जो संख्या आये उसी संख्याको उस द्वीप अथवा समुद्रकी अन्तिम पंक्तिमें समझे। अब द्वीप-समुद्रकी सर्व पंक्तियोंके चन्द्रों-सूर्योंकी संख्या लानेके लिए अन्तिम पंक्तिमें जो संख्या आई है उसे प्रथम पंक्तिकी संख्यासे जोड़े। इस तरह करनेसे जो संख्या आये उसका जिस द्वीप अथवा समुद्रमें जितनी पंक्तियोंका गुच्छ हो उससे अर्धगुच्छ अर्थात् जितनी पंक्तियाँ हों उसकी अर्ध संख्यासे गुना करनेसे इष्ट द्वीप अथवा समुद्रकी सर्व पंक्तियोंमें वर्तित सर्व चन्द्र-सूर्यकी संख्या मिलेगी। उस सम्बन्धी उदाहरण इस प्रकार—

उदाहरण—जैसे कि पुष्करसमुद्रमें आठ पंक्तियाँ हैं, उस आठको 'गच्छ' कहा जाता है। उस गच्छका 'उत्तर' अर्थात् चारसे गुना करनेसे ($8 \times 4 =$) ३२ आये, उसमेंसे चार कम करनेसे ($32 - 4 =$) २८ आये, इस अठाइसमें प्रथम पंक्ति विषयक १४४ चन्द्र-सूर्यकी संख्याका प्रक्षेप करनेसे आठवीं पंक्तिमें १७२ चन्द्र-सूर्यकी संख्या प्राप्त हुई। पुनः १७२में १४४ प्रथम पंक्तिकी संख्या जोड़नेसे ($172 + 144 =$) ३१६ होते हैं, उसे 'गुच्छ' अर्थात् जो आठ है उसके आधे जो चार है उससे गुननेसे ($316 \times 4 =$) १२६४ संख्या समग्र पुष्करार्धमें वर्तित सूर्य-चन्द्रोंकी प्राप्त होती है। उनमें ६३२ चन्द्र और ६३२ सूर्य जानें।

इन आठों पंक्तियोंमेंसे प्रथम पंक्तिमें १४४ चन्द्र-सूर्य (चन्द्र ७२ \times ७२ सूर्य) हैं, दूसरी पंक्तिमें दो चन्द्रों तथा दो सूर्योंकी वृद्धि होनेसे १४८ चन्द्र-सूर्य होते हैं। तीसरीमें १५२, चौथीमें १५६, पाँचवींमें १६०, छठीमें १६४, सातवीं पंक्तिमें १६८ और आठवीं पंक्तिमें १७२ चन्द्र-सूर्योंकी संख्या होती है। इस तरह प्रत्येक इष्ट द्वीप अथवा समुद्रमें वर्तित सर्व चन्द्र-सूर्योंकी संख्या ज्ञात हो सकती है।

—इति तृतीयमतनिरूपणम् ॥

इस तरह मनुष्यक्षेत्रके बाहर परिरयपंक्तिसे सूर्य-चन्द्रकी व्यवस्था विषयक कथन करनेवाला एक दिग्म्बरीय मत, और दूसरा प्रसिद्ध आचार्यका मत प्रदर्शित किया गया।

परिचय पंक्तिकी मान्यतावाले इन दोनों मतकारोंके बिच उस उस द्वीप-समुद्रमें वर्तित परिचय पंक्तिकी संख्याके सिवा सूर्य-चन्द्रादि संख्या, सूर्य-चन्द्रका अन्तर इत्यादि सर्व बाबतमें प्रायः १८^८भिन्नता रहती है तदुपरांत कतिपय १८^९विचारणीय स्थल भी उपस्थित होते हैं ।

१९८. आशाम्बरीय (दिग०) और प्रसिद्ध मतकारके बिच होतीं भिन्नताएँ—

१. मनुष्यक्षेत्रके बाहर ' जो द्वीप-समुद्र जितने लाख योजनाका हो वहाँ चन्द्र-सूर्यकी पंक्तियाँ होती हैं ' यह कथन दोनोंको मान्य है ।

२. दिगम्बरमतके अनुसार बाह्य पुष्करार्धकी प्रथम पंक्तिमें १४५-१४५ चन्द्र-सूर्य कहे हैं; जब कि प्रसिद्ध मतके अनुसार उसी प्रथम पंक्तिमें ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य कहे हैं; और इसीलिए दिगम्बरमतकारने स्वोक्त संख्याको संगत करनेके लिए चन्द्र-चन्द्रका परस्पर अन्तर साधिक लाख योजनाप्रमाण बताया है, तदनुसार प्रसिद्ध मतकारने स्वोक्त ७२-७२ चन्द्र-सूर्यकी संख्याको संगत करनेको साधिक दो लाख योजनाका अन्तर कहा है । आगेकी अन्य पंक्तियोंके लिए यथाशक्य स्वयं सोच लें ।

३. उसी पुष्करार्धकी दूसरी पंक्तिसे लेकर प्रत्येक पंक्तिमें पूर्वपंक्तिगत चन्द्र-सूर्योंकी कुल जो संख्या हो उससे अधिक छः छः अथवा सातसातकी वृद्धि करनेको कहा और तदनुसार आठवीं पंक्तिमें १८९-१८९ चन्द्र-सूर्यकी संख्या प्राप्त हुई । जब कि इस प्रसिद्ध मतकारने आगे आगेकी प्रत्येक पंक्तिमें प्रथमकी पंक्तिकी अपेक्षासे (दो सूर्य और दो चन्द्र) चारकी संख्याकी वृद्धि करनेको कहा जिससे अन्तिम आठवीं पंक्तिमें (८६-८६ चन्द्र-सूर्य =) १७२-चन्द्र-सूर्यकी संख्या आती है ।

४. इस तरह होनेसे दिगम्बर मतानुसार बाह्यपुष्करार्धकी आठों पंक्तियोंके चन्द्र-सूर्योंकी क्रमशः संख्या कुल १३३७-१३३७ की बनती है । जब कि प्रसिद्ध मतकारके अभिप्राय-अनुसार बाह्यपुष्करार्धमें कुल ६३२ चन्द्र और ६३२ सूर्योंकी संख्या प्राप्त होती है ।

५. तथा दिगम्बर मतकारने पुष्करवर समुद्रकी प्रथम पंक्तिमें सूर्य-चन्द्रोंकी संख्या प्राप्त करनेके लिए ऐसा जणाया कि पुष्करवरद्वीपकी प्रथम पंक्तिमें चन्द्र-सूर्योंकी जो संख्या हो उसे द्विगुण करें, वैसा करनेसे पुष्करवर समुद्रमें प्रथम पंक्तिगत चन्द्र-सूर्योंकी संख्या प्राप्त होती है । तदनन्तर पंक्तियोंमें छः छः अथवा सात सातकी वृद्धि करें, और इस तरह प्रत्येक द्वीप-समुद्रके लिए समझे । अर्थात् प्रथम पंक्तिके लिए अगले द्वीप-समुद्रकी प्रथम पंक्तिसे द्विगुणत्व और अनन्तर छः-छः, सात-सातकी वृद्धि समझे । जबकि प्रसिद्ध मतकारने प्रत्येक द्वीप-समुद्रमें प्रथम पंक्तिके लिए तथा आगेकी पंक्तियोंके लिए चार-चारकी वृद्धि करनेका बताया है ।

सूचना— 'त्रिगुणकरण' का सैद्धान्तिक मत स्वतन्त्र होनेके कारण उक्त दोनों मतकारोंके साथ उसकी तुलना करना जरूरी नहीं है क्योंकि 'त्रिगुणकरण' के अनुसार मनुष्यक्षेत्रके बाहर चन्द्र-सूर्यकी किसी भी प्रकारकी निश्चित व्यवस्था बताई नहीं गई ।

१९९. आशाम्बरीय और प्रसिद्ध मतकार विषयक चन्द्र-सूर्यकी अल्प विचारणा ॥

प्रसिद्ध मतकारकी अपेक्षासे यह सोचनेका है कि जब गाथा ६५वींमें मनुष्यक्षेत्रके बाहर निश्चयसे किसी भी पंक्ति स्थानमें चन्द्र-सूर्यका पचास हजार योजनाप्रमाण अन्तर बताया गया है तब इन ८३-८४वीं

जिसका सविशेष ख्याल नीचेकी १९८-१९९ नम्बरकी टिप्पणी पढ़नेसे आ सकेगा ।

दिगम्बरीयमत 'कर्मप्राभृत' ग्रन्थमेंसे उद्धरित है, जब कि ८३-८४-८५ गाथाओंसे कथित प्रसिद्ध आचार्यका मत किस ग्रन्थ परसे कहा गया है उसकी माहिती नहीं मिलनेके कारण ज्ञानीगम्य है, तो भी ये दोनों मतकार मनुष्यक्षेत्रके बाहर सूर्य-चन्द्रकी व्यवस्था परिरयाकाररूप बताते हैं यह बात तो निश्चित है ।

मनुष्यक्षेत्रके बाहर सूर्य-चन्द्रोंकी संख्या तथा व्यवस्था बाबतमें जो दोनों मत ऊपर बताये उस अपेक्षासे सूर्य-चन्द्रकी संख्याके विषयमें बहुश्रुत पुरुष 'त्रिगुणापुञ्जिह्वुया' इस गाथासे प्राप्त होता जो त्रिगुणकरण उसे ही सर्वमान्य जणाते हैं, जो बाबत प्रथम कही गई है । इस त्रिगुणकरणके अनुसार पुष्करद्वीपमें प्राप्त होती १४४-१४४ चन्द्र-सूर्योंकी संख्याको किस तरह व्यवस्थित करें इस बाबत पर विचार करनेकी आवश्यकता है । १४४-१४४ चन्द्र-सूर्योंकी संख्यामेंसे मनुष्यक्षेत्रमें आए हुए अभ्यन्तरपुष्करार्धके ७२-७२

गाथाओंमें चन्द्र-सूर्यका पचास हजार योजन अन्तर न कहकर (मतान्तरसे) १०१०१७ योजन $\frac{३}{४}$ भाग (अथवा $\frac{२६}{४}$ भाग) प्रमाण अन्तर प्राप्त हो इसी तरह सूर्य-चन्द्रकी व्यवस्था बताई है । तथा गाथा ६६वींमें चन्द्रसे चन्द्रका और सूर्यसे सूर्यका साधिक एक लाख योजनप्रमाण अन्तर कहा है जब कि इन ८३-८४ गाथाओंके मतानुसार २०२०३४ $\frac{३}{४}$ योजन प्रमाण अन्तर प्राप्त होता है और वह भी प्रथमकी पंक्तियोंके लिए ही । अतः आगे आगेकी अन्य पंक्तियोंमें सूर्य-चन्द्रका अन्तर जाननेके लिए तो ऐसी व्यवस्था बताई है कि—उस परिरय पंक्ति स्थानमें जितनी परिधि आवे उस परिधिको उस पंक्तिगत चन्द्र-सूर्यकी संख्यासे बाँटनेसे उत्तरमें जितनी राशि आवे, उतना अन्तर चन्द्र-सूर्यका समझना चाहिए ।

इस तरह दिगम्बरमतकारने तो गाथा ६५-६६में कहे अनुसार पचास हजार योजन तथा साधिक लाख योजन अन्तर बताया है । अर्थात् वह अन्तर इस मतकारको मान्य है, परन्तु यह मान्यता उनकी प्रथम पंक्तिके लिए ही है या सर्व पंक्तियोंके लिए हैं ? बाह्य पुष्करार्धद्वीपके लिए ही है या किसी भी द्वीप-समुद्रके लिए है ? यह तो बहुश्रुत पुरुषोंके पाससे (शोचनीय) विचारणीय है—क्योंकि यदि प्रथम पंक्तिके लिए है तो अन्य पंक्तियोंके लिए क्या समझें ? तथा पुष्करार्धद्वीपके पश्चात् पुष्करसमुद्र आदि द्वीप-समुद्रोंमें उनके मतानुसार प्रथम पंक्तिमें पूर्वद्वीप अथवा समुद्रकी प्रथम पंक्तिकी अपेक्षासे द्विगुण (जैसे पुष्करसमुद्रमें २९०) संख्या आनेसे और उस प्रथम पंक्तिस्थानमें परिधिका अमुक प्रमाण होनेसे पचास हजार तथा लाख योजनका अन्तर किस तरह संगत हो सके ? इत्यादि सर्व विचारणा गीतार्थ बहुश्रुतोंके आधीन है । (इसके लिए १२९वीं टिप्पणी पढ़नेसे विशेष ख्याल आएगा ।)

सूचना—'त्रिगुणकरण'के मतानुसार तो ५० हजार योजनका अन्तर और लाख योजनका अन्तर जो कहा है वह निश्चित है । पंक्ति व्यवस्था विषयक यद्यपि अनिश्चितता है तो भी 'सूर्यप्रसूति' आदि ग्रन्थोंके पाठके अनुसार मनुष्यक्षेत्रके बाहर उसी उक्त अन्तरको समझनेका है ।

चन्द्र-सूर्योकी व्यवस्था प्रथम जगाई होनेसे मनुष्यक्षेत्रके बाहरके पुष्करार्धमें बाकी बचे ७२-७२ चन्द्र-सूर्योको हम पूर्वोक्त दोनों मतकारोंके मन्तव्यके अनुसार परिरयाकाररूप समझे या सूचीश्रेणिरूप समझे ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । यद्यपि पंक्तिकी व्यवस्था तो परिरयाकारमें और समश्रेणियोंमें इस तरह दोनों प्रकारसे हो सकती है, तो भी ७२-७२ चन्द्र-सूर्योकी परिरयाकारमें व्यवस्था करनेसे सूर्य-चन्द्रका और सूर्य-सूर्यका तथा चन्द्र-चन्द्रका पचास हजार योजन और एक लाख योजनप्रमाणका जो अन्तर निश्चित किया है, उस निश्चयमें भंग होनेका प्रसंग उपस्थित होनेसे परिरय पंक्तिकी व्यवस्था उचित नहीं लगती, जब कि सूचीश्रेणीकी व्यवस्थाके लिए श्री सूर्यप्रज्ञप्तिके प्रमुख ग्रन्थोंमें स्पष्ट पाठ होनेसे (सामान्य दोष प्राप्त होने पर भी) सूचीश्रेणीकी व्यवस्था ही मान्य रखनी उचित लगती है । इस २०° सूचीश्रेणी-समश्रेणीकी व्यवस्था भी दो-तीन प्रकारसे हो सकती है, उनमेंसे अमुक प्रकारकी व्यवस्थाके बारेमें ही इष्ट हो इस तरह आजूबाजूके उन साक्षीभूत पाठ होनेसे जरूर कबूल करना पड़ता है, जो २०० नम्बरकी टिप्पणी पढ़नेसे विशेष ख्यालमें आ सकेगा ।

२००—त्रिगुणकरणके अनुसार मनुष्यक्षेत्र बाहर चन्द्र-सूर्यकी व्यवस्था विषयक अल्पविचार ॥

प्रथम—मुख्य सैद्धान्तिक मत ' त्रिगुणा पुबिल्लजुया ' का जो है, उसी मतानुसार बाह्यपुष्करार्धमें ७२ चन्द्र और ७२ सूर्यकी कुल संख्या कही अर्थात् आठ लाख योजनप्रमाण बाह्य पुष्करार्धमें ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य बताये हैं ।

दिगम्बरीय मतानुसार और प्रसिद्ध मतानुसार उसी बाह्यपुष्करार्धक्षेत्र (के आठ लाख योजनप्रमाण विष्कम्भमेंसे प्रारम्भके और अन्तके पचास-पचास हजार योजन कम करनेसे शेष बचे सात लाख योजनप्रमाणक्षेत्र) में लाख-लाख योजनके अन्तर पर परिरयाकारमें चन्द्र-सूर्यकी आठ पंक्तियाँ बताई गई हैं, और उस प्रत्येक पंक्तिमें वर्तित उस उस चन्द्र-सूर्यकी संख्याको उक्त अन्तगनुसार संगत कर दिखाई गई है, वैसी इस सिद्धान्तकारके ' त्रिगुणकरण ' के मतानुसार प्राप्त होती चन्द्र-सूर्योकी संख्याको परिरय-बलयाकारमें संगत करना यह सोचने पर भी उचित नहीं लगती; क्योंकि परिरयाकारमें अगर ली जाए तो लाख-लाख योजनके अन्तर पर आठ पंक्तियाँ माननी पड़े । और इस तरह माननेसे चन्द्र-सूर्यकी कुल संख्या जो १४४की है उसका बाह्यपुष्करार्धमें समावेश जरूरी होनेसे प्रत्येक परिरय पंक्तिमें कुल चन्द्र-सूर्यकी संख्या १८ जितनी अल्प प्राप्त होती है । इन १८ चन्द्र-सूर्योकी संख्याको प्रथम कहे गए १४५४६४७६ योजन प्रमाण परिधिमें पचास पचास हजार योजनके हिसाबसे सोचें तो पूर्वोक्त कही गई परिधिमें बहुत-सा क्षेत्र खाली रह जाए । साथ ही आगे-आगेकी परिरय पंक्तिकी परिधि विशेष प्रमाणवाली होनेसे उस परिधिका तो बहुतसा क्षेत्र चन्द्र-सूर्य हीन रहता है । इसलिए परिरयाकारमें पंक्तियोंको मानना, यह वैचारिक दृष्टिसे उचित नहीं लगता ।

अब सूचीश्रेणीकी व्यवस्थाके लिए सोचें—

मनुष्यक्षेत्रमें वर्तित सूचीश्रेणीके अनुसार रही हुई चन्द्र-सूर्यकी पंक्तिकी तरह, इस बाह्य पुष्करार्धमें

यहाँ शंका होती है कि मनुष्यक्षेत्रके बाहरके द्वीप-समुद्रोंमें इतने सारे चन्द्र-सूर्य हैं, तो वहाँ वर्तित जन्तु आदि, चन्द्र-सूर्यकी शीतलता और उष्णता किस तरह सहन कर सकते होंगे ? इसके समाधानमें बताया है कि-मनुष्यक्षेत्रके बाहरके चन्द्र-सूर्य स्वभावसे ही

३६-३६ सूर्योकी दो और ३६-३६ चन्द्रोकी दो पंक्तियाँ भी घट नहीं सकती; क्योंकि वैसा करनेसे आठ लाख योजन प्रमाणक्षेत्रमें—३६ सूर्यो अथवा ३६ चन्द्रोको सूचीश्रेणीमें लगानेसे चन्द्रसे चन्द्रका, सूर्यसे सूर्यका तथा चन्द्रसे सूर्यका शास्त्रमें बताया गया इष्ट अन्तर प्राप्त नहीं होता तथा सूर्यान्तरित चन्द्र और चन्द्रान्तरित सूर्य होने चाहिए लेकिन वे भी नहीं मिल सकते ।

अब दूसरे प्रकारसे सूचीश्रेणीकी व्यवस्था सम्बन्धमें सोचें—

यद्यपि इस तरह व्यवस्था करनेसे अमुक विरोध तो लड़ा रहेगा ही; फिर भी प्रारम्भके दोनों पक्षोंमें जितने विरोध देखे जाते हैं, उनकी अपेक्षा तो इस व्यवस्थापक्षमें एकाध विरोधका ही हल अवशिष्ट रहता होनेसे, यह पक्ष किंचित् ठीक समझा जा सकता है, तो भी जब तक सिद्धान्तमेंसे कोई वैसा यथार्थ निर्णय हस्तगत न हो तब तक ऐसे विवादास्पद स्थलोंमें भवभीरु छद्मस्थ कोई भी निर्णय कैसे दे सकते हैं ?

आठ लाख योजन प्रमाण बाह्य पुष्करार्धमें प्रारम्भके और अन्तके पचास पचास हजार योजन वर्तित करके अवशिष्ट सात लाख योजन प्रमाण क्षेत्रमें सूर्यकी किरणोकी तरह चारों दिशावर्ती सात लाख योजन लम्बी चन्द्र-सूर्यकी नव-नव श्रेणियोंकी कल्पना करें, प्रत्येक श्रेणिमें आठ चन्द्रों अथवा आठ सूर्योको लाख योजनके अन्तर पर स्थापित करें, ऐसा करनेसे ७२ चन्द्रों और ७२ सूर्योकी संख्या प्राप्त होगी, चन्द्रसे चन्द्रका तथा सूर्यसे सूर्यका एक लाख योजन प्रमाण अन्तर कम होगा और एक अपेक्षासे 'सूर्यान्तरित चन्द्र और चन्द्रान्तरित सूर्य होते हैं' यह वचन भी सफल होगा । सिर्फ 'चन्द्राओ सूरस य मूरा चन्द्रस अन्तरं होइ । पचाससहस्रसाइं जोयणाइं अणूणा ॥ १ ॥' इस गाथाके अर्थानुसार चन्द्रसे सूर्यका अथवा सूर्यसे चन्द्रका जो पचास हजार योजन प्रमाण अन्तर जणाया है उस अन्तरको संगत कैसे करे ? यही एक प्रश्न उपस्थित होगा, (क्योंकि प्रत्येक पंक्ति चन्द्र-सूर्यसे समुदित होनेसे) और यह प्रश्न जब तक हो तब तक इस सूचीश्रेणीकी व्यवस्थाको भी आदर नहीं दिया जा सकता ।

अथवा प्रारम्भके और अन्तके पचास-पचास हजार योजन कम करके अवशिष्ट सात लाख योजन प्रमाण क्षेत्रमें चन्द्रकी और सूर्यकी ऊपरके चित्रकी तरह अलग अलग पंक्तियाँ न रचकर चन्द्र-सूर्यकी समुदित पंक्ति रक्खें, अर्थात् बाह्य पुष्करार्धमें कुल नव पंक्तियोंकी कल्पना करें, उन नव पंक्तियोंमेंसे प्रत्येक पंक्तिमें एक चन्द्र एक सूर्य, एक चन्द्र एक सूर्य ऐसे पचास-पचास हजार योजनके अन्तर पर कम करते सात लाख योजन तक जानेमें आठ चन्द्र और सात सूर्यका सात लाख योजन लम्बी एक पंक्तिमें समावेश होता है । प्रथम चन्द्र रक्खा गया है अगर उसके बदलेमें प्रथम सूर्य रक्खा जाए तो आठ सूर्य और सात चन्द्रका एक पंक्तिमें समावेश होता है । इस तरह करनेसे नवों पंक्तियोंमें प्रथम चन्द्रकी स्थापनापश्चात् चन्द्रकी ७२

अति शीत और अति उष्ण प्रकाश देनेवाले नहीं हैं, अर्थात् मनुष्यक्षेत्रके चन्द्र-सूर्योकी तरह विशेष प्रमाणमें शीत और उष्ण लेश्यावाले होते हैं वैसी विशिष्ट शीत उष्ण लेश्यावाले मनुष्यक्षेत्रके बाहरसे चन्द्र-सूर्य होते नहीं हैं। जिसके लिए श्रीसूर्यप्रज्ञप्तिमें बताया है कि—

‘सुरंतरिया चन्दा, चन्दन्तरिया य दिणयरा दित्ता ।

चित्तन्तरलेसागा सुहलेसा मन्दलेसा य ॥ १ ॥’

संख्याका समावेश होता है, परन्तु सूर्यकी संख्या जो ७२की कही है उनमेंसे ६३का समावेश होता है जब कि नव सूर्य शेष रह जाते हैं। पंक्तिमें प्रथम सूर्य रक्खा जाए तो ७२ सूर्योका समावेश हो, परन्तु नव चन्द्रकी संख्या अवशिष्ट रहती है, अर्थात् मलयगिरि महाराज और चन्द्रीय टीकाकार महर्षिके अभिप्रायानुसार सूचीश्रेणिकी व्यवस्था जो कि घट सकती है, चन्द्रसे चन्द्रका, सूर्यसे सूर्यका, और चन्द्रसे सूर्यका इष्ट अंतर भी इस व्यवस्थामें प्राप्त होता है, फिर भी पंक्तिमें प्रथम चन्द्रको लें या सूर्यको ? इस शंकाका समाधान शेष रह जाता है, ऊपरांत ऊपर जगाये अनुसार नव चन्द्रों अथवा नव सूर्योका पंक्तिमें इष्ट अंतर रखने पर समावेश होता नहीं है, यह विरोध उपस्थित रहता है, फिर भी—

“ चंदाओ सूरस्स य सूर चंदस्स अंतरं होइ ।

पन्नाससहस्साइं तु जोयणाइं अणूणाइं ॥ १ ॥

सूरस्स य सूरस्स य ससिणो ससिणो य अंतरं होइ ।

बहियाउ माणुसनगरस्स जोयणाणं सयसहस्सं ॥ २ ॥

सूरंतरिआ चंदा चंदंतरिआ य दिणयराऽऽदित्ता ।

चित्तन्तरलेसागा सुहलेसा मंदलेसा य ॥ ३ ॥’

इस सिद्धांतकी तीन गाथाओंके अनुसार जगाए—

‘ततः सम्भाव्यते सूचीश्रेण्या न परिर्यश्रेण्या अन्यथा वा बहुश्रुतैर्यथागमं परिभावनीयम्’ उभय टीकाकार महर्षिओंके ऐसे वचनसे अंतिम दोनों पक्षोंमें सूचीश्रेणिकी व्यवस्था तो घट सकती है, परन्तु कोई न कोई एकाद विरोध उपस्थित हो जानेसे—जब एक बाजूसे किसी भी प्रकारका निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता, तब दूसरी ओरसे श्री सूर्यप्रज्ञप्ति-टीकाके नीचे जगाए दोनों पाठोंसे श्री टीकाकार भागवंतको यह अंतिम पक्ष ही यथार्थ मान्य है। यह माने बिना भी चलनेवाला नहीं है। ये पाठ इस तरह है—

“सूरस्स य सूरस्स य” इत्यादि, मानुषनगरस्य-मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिः सूर्यस्य सूर्यस्य परस्परं चंद्रस्य चंद्रस्य च परस्परमंतरं भवति योजनानां ‘शतसहस्रं’ लक्षम् तथाहि—चंद्रान्तरिताः सूर्याः सूर्यान्तरिताश्चन्द्राः व्यवस्थिताः चंद्रसूर्याणां च परस्परमन्तरं पञ्चाशत् योजनसहस्राणि (५००००), ततश्चन्द्रस्य सूर्यस्य च

भावार्थ सुगम है । तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें भी ऊपरका ही अभिप्राय

परस्परमन्तरं योजनानां लक्षं भवतीति । सम्प्रति बहिश्चन्द्रसूर्याणां पङ्कतावस्थानमाह—“ सूरंतरिया ” इत्यादि, नृलोकाद्बहिः पङ्क्त्या स्थिताः सूर्यान्तरिताश्चन्द्राश्चन्द्रान्तरिता दिनकरा दीप्ताः $\times \times \times \times$ । कथंभूतास्ते चन्द्रसूर्याः इत्याह—“ चित्रान्तरलेख्याकाः ” चित्रमन्तरं लेख्या च—प्रकाशरूपा येषां ते तथा, तत्र चित्रमन्तरं चन्द्राणां सूर्यान्तरित्वात् सूर्याणां च चन्द्रान्तरित्वात्, चित्रलेख्या चन्द्रमसां शीतरश्मित्वात् सूर्याणामुष्णरश्मित्वात् ॥” [सुद्वित पत्र २८१]

“चन्द्रमसां सूर्याणां च प्रत्येकं लेख्या योजनघातसहस्रप्रमाणविस्ताराश्चन्द्रसूर्याणां च सूचीपङ्क्त्या व्यवस्थितानां परस्परमन्तरं पञ्चाशच्चोजनसहस्राणि, ततश्चन्द्रप्रभासम्मिश्राः सूर्यप्रभाः सूर्यप्रभासम्मिश्राश्चन्द्रप्रभाः”

[पत्र २८२]

भावार्थ :—“ मानुषोत्तरपर्वतसे बाहरके द्वीप-समुद्रोंमें सूर्यसे सूर्यका तथा चन्द्रसे चन्द्रका परस्पर अन्तर (साधिक) एक लाख योजन प्रमाण है, वे इस तरह—सूर्य चन्द्रान्तरित अर्थात् चन्द्रके आंतरेवाले हैं, अर्थात् दो सूर्यके बिच एक चन्द्र है और चन्द्र सूर्यान्तरित हैं । चन्द्रसे सूर्यका अंतर पचास हजार योजन प्रमाण है, अतः सूर्य-सूर्यका चन्द्र-चन्द्रका परस्पर अंतर एक लाख योजन प्रमाण कहा वह बराबर है ।

अब मानुषोत्तर पर्वतके बाहर चन्द्र-सूर्यकी पंक्ति व्यवस्था जगाते हैं—मनुष्यक्षेत्रके बाहर पंक्तिमें स्थित सूर्यान्तरित चन्द्र और चन्द्रान्तरित तेजस्वी सूर्य विचित्र अन्तरवाले तथा विचित्र प्रकाशवाले हैं, उनमें विचित्र अन्तरवाले अर्थात् दो चन्द्रोंके बिच एक सूर्यका अंतर है और दो सूर्योंके बिच एक चन्द्रका अंतर है ऐसे चन्द्र सूर्य होते हैं, साथ ही विचित्र प्रकाशवाले अर्थात् चन्द्र शीतकिरणवाले और सूर्य उष्ण-किरणवाले हैं ।”

“चन्द्र-सूर्य प्रत्येकका प्रकाश एक लाख योजन विस्तारवाला है, सूचीश्रेणी द्वारा व्यवस्थित चन्द्र-सूर्योंका अंतर पचास हजार योजन है, अतः चन्द्रप्रभासे मिश्रित सूर्यप्रभा है और सूर्यप्रभासे मिश्रित चन्द्रप्रभा है ।”

विशेषमें मनुष्यक्षेत्रके बाहरके विमानोपपन्न ज्योतिषी देवोंके विमान, पक्षी इंटके समान लम्बचतुष्कोण आकारके होते हैं, और उन विमानोंका आतपक्षेत्र-प्रकाश्यक्षेत्र-विस्तारसे (चौड़ाइमें) एक लाख योजन प्रमाण है, और आयाम-लम्बाईसे अनेक लाख योजन प्रमाण है ।

विशेषमें यह भी सोचनेका है कि बाह्यपुष्करार्धके लिए ७२ चन्द्र, ७२ सूर्यकी संख्याको संगत करनेके लिए अन्यमताश्रयी एक बार आदि और अन्तके ५० हजार योजन वर्जित किये जाते हैं । वे इस मतसे वर्जित न करें तो ७२ चन्द्र तथा ७२ सूर्यकी संख्या यथार्थ समाविष्ट हो जाती है, परन्तु आगे प्रतिद्वीप समुद्रके संघिस्थानोंमें चन्द्र-सूर्यका सहयोग हो जाएगा और इससे उक्त अंतरादि व्यवस्थाका भङ्ग

दर्शाया है। प्र० गा० सं० (१७-१८-१९) [८३-८४-८५]

॥ इति प्रस्तुत द्वितीय भवनद्वारे तृतीयज्योतिषीनिकायाधिकारः, प्रासङ्गिक द्वीपसमुद्राधिकारः-
तेषु चन्द्र, सूर्य ग्रह-नक्षत्रपंक्तिसंख्याधिकारश्च समाप्तः ॥

॥ चन्द्र-सूर्यमण्डलाधिकार ॥

अवतरण—पहले (अलग अलग आचार्योंके मतानुसार) क्षेपक तीन गाथाओंसे प्रसिद्ध आचार्यका मतांतर, (तारे पंक्तिबद्ध न होकर उन्हें वर्जित करके) चन्द्र-सूर्य-ग्रह तथा नक्षत्रपंक्ति विषयक सर्व विचारणा, और चन्द्रादि पाँचों ज्योतिषीकी सर्व प्रकारकी संख्या लानेके सम्बन्धमें 'करणादि' उपाय बतलाकर अधिकार समाप्त किया है।

अब उन चन्द्र-सूर्यके मण्डल (परिभ्रमण) विषयक वर्णन आरम्भ किया जाता है—

उनमें पाँचों ज्योतिषीमेंसे चन्द्र-सूर्य और ग्रहके चार मण्डल हैं। और वे चन्द्र-सूर्यादि, अनवस्थित मण्डलसे परिभ्रमण करते हुए मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। नक्षत्रों तथा तारोंके मण्डल हैं, किन्तु वे चर होने पर भी स्वस्व मण्डलोंमें-स्थानमें ही गति करते होनेसे अवस्थित मण्डलवाले हैं। इन पाँचों प्रकारके ज्योतिषीयोंके मण्डलोंमेंसे नक्षत्र

होगा, अगर उस भङ्गको ब्राज्मों रखकर प्रति-द्वीप-समुद्रके आदि और अन्तक्षेत्र तकमें रहे हुए चन्द्र-सूर्यकी अंतर प्रमाणादि व्यवस्था उस विशेष क्षेत्राश्रयी ही सोचें तो अंतरादि प्रमाणकी नियमितता रहनेमें प्रायः दोष उत्पन्न न हो; परन्तु प्रथम तो त्रिगुणमतसे आगे आगे आती बृहत् संख्याका समावेश किस तरह करे यही सोचनेका है। विशेषमें प्रसिद्ध मतकारकी बल्यपंक्ति जितनी बुद्धि-युक्तिगम्य और नियमित रहती है वैसा इसमें नहीं रहता है। विशेष तत्वज्ञानी ही जाने।

चाहूँ विषयके बारेमें शक्ति अनुसार अलग अलग तरहसे सोचना आवश्यक लगनेसे सिर्फ इस विषयके बारेमें भिन्न भिन्न प्रकारसे विचार मात्र दर्शाये हैं। उनमें अन्तिम पक्ष शास्त्रीय होनेसे योग्य लगता है। प्रथमके तीन पक्ष तो विचार करनेके लिए ही दिये गए हैं, फिर भी उन विचारोंमें भी शास्त्रीय विरोध-विरुद्धत्व दिखायी दे तो त्रिविध त्रिविध रूपमें मिथ्यादुष्कृत देकर इस विषयको यहाँ ही पूर्ण करते हैं। इस सारी विचाराणाको ब्राह्म पुष्करार्थके लिए तो स्थान मिल गया, लेकिन आगे आगेके द्वीप समुद्रोंमें किस तरह संगत करना वह शानीगम्य है।

मण्डलोंका किंचित् वर्णन नक्षत्र परिशिष्टमें दिया है । और तारों तथा ग्रहोंके मण्डलोंका वर्णन अप्राप्य होनेसे उन विषयक उल्लेख न करके अब चन्द्र-सूर्य मण्डल विषयक अधिकार शुरु किया जाता है । यह अधिकार संक्षिप्तमें और विस्तारपूर्वक कहा जाएगा ।

पन्नरस चुलसीइ सयं, इह ससि-रविमण्डलाइं तन्निखत्तं ।

जोयण पणसय दसहिअ, भागा अडयाल इगसट्टा ॥८६॥

ससि-रविणो लवणम्मि य, जोयण सय तिण्णि तीसअहियाइं ।

असियं तु जोयणसयं, जम्बूद्वीवम्मि पविसंति ॥८७॥

तीसिगसट्टा चउरो, एगिगसट्टस्स सत्तभइयस्स ।

पणतीसं च दुजोयण, ससि-रविणो मण्डलंतरयं ॥८८॥

[प्र. गा. सं. २०]

पणसट्ठी निसटम्मि य, तत्तिपबाहा दुजोयणंतरिया ।

एगुणवीसं च सयं, सूरस्स य मण्डला लवणे ॥८९॥

[प्र. गा. सं. २१]

मण्डलदसगं लवणे, पणमं निसटम्मि होइ चंदस्स ।

मण्डल अन्तरमाणं, जाणपमाणं पुरा कहियं ॥९०॥

[प्र. गा. सं. २२]

गाथार्थ—इस जम्बूद्वीपवर्ती चन्द्रके १५ मण्डल हैं और सूर्यके १८४ मण्डल हैं । और उन दोनोंके मण्डलोंका चारक्षेत्र (जम्बूलवणका होकर) ५१० योजन और एक योजनके अडतालीस बटे इकसठ भाग जितना अधिक है । ॥८६॥

इससे सूर्यका और चन्द्रका ५१० यो० $\frac{१}{६}$ भागका कुल जो चारक्षेत्र है उसमेंसे ३३० योजन लवणसमुद्रमें है और लौटते वक्त ये दोनों ज्योतिषीविमान जम्बूद्वीपमें एकसौ अस्सी योजन तक प्रवेश करके रुक जाते हैं । यह उसका चारक्षेत्र बताया । ॥८७॥

३५ योजन और एक योजनके इकसठ भागोंमेंसे तीस भाग और इकसठवें एक भागके सात भाग करके उनमेंसे चार भागका (३५ यो० $\frac{१}{६}$ भाग) परस्पर चन्द्र मण्डलका अन्तर होता है । और सूर्यके मण्डलोंका परस्पर अन्तर दो योजनका है । ॥८८॥

[प्र. गा. सं. २०]

तथा सूर्यके १८४ मण्डलोंमेंसे ६५ मण्डल जम्बूद्वीपमें हैं, उनमें ६२ निषधपर्वतके ऊपर पड़ते हैं, जबकि तीन मण्डल उसी पर्वतकी बाहामें पड़ते हैं, और ११९ मण्डल लवणसमुद्रमें पड़ते हैं । इन मण्डलोंका परस्पर अन्तर दो योजनका है । ॥८९॥

[प्र. गा. सं. २१]

चन्द्रके १५ मण्डलोंमेंसे १० मण्डल लवणसमुद्रमें और पाँच मण्डल जम्बूद्वीपमें निषध पर्वत पर हैं, इन मण्डलोंका परस्पर अन्तर प्रमाण पहले कहा गया है । ॥९०॥

[प्र. गा. सं. २२]

विशेषार्थ—यहाँसे मण्डल-प्रकरणका अधिकार शुरू होता है । उसमें प्रथम निषध और नीलवंत पर्वतसे मण्डलोंका प्रारम्भ माना गया है, तथा पुष्करादि द्वीप विषयक भी किञ्चित् अधिकार आनेवाला है । अतः उन पर्वतों तथा द्वीपके स्थानोंकी माहिती देना उचित समझकर प्रासंगिक अढाईद्वीपका किञ्चित् स्वरूप यहाँ जनाया जाता है—

प्रथम अढाईद्वीपाधिकार

जम्बूद्वीपका वर्णन—हम जिस क्षेत्रमें रहते हैं उस जम्बूद्वीपके सात महाक्षेत्रोंमेंसे 'भरतक्षेत्र' नामका एक महाक्षेत्र है । यह जम्बूद्वीप 20^1 प्रमाणांगुलसे १ लाख योजनका और 20^2 थालीके समान गोलकार जैसा अथवा 20^3 मालपुअके आकार जैसा है और उसका 20^4 परिधि अथवा उसकी जगतीका प्रमाण ३१६२२ यो०, ३ कोस, १२८ धनुष, १३½ अंगुल है । गणितकी रीतिसे किसी भी वृत्तक्षेत्रके परिधिका प्रमाण अपने विष्कम्भकी अपेक्षासे त्रिगुणाधिक होता है; और उस 20^4 वृत्त पदार्थके 20^5 व्यासका 20^6 वर्ग करके १०से गुना करके 20^6 वर्गमूल निकालनेसे उस क्षेत्र विषयक परिधिका प्रमाण आता है, जैसे कि जम्बूद्वीपका व्यास

२०१. हमारा जो अंगुल है उसे उत्सेधांगुल कहा जाता है और वैसे ४०० (अथवा १००) उत्सेधांगुलसे एक प्रमाणांगुल होता है ।

२०२. श्णो उ समुद्दिष्टो जम्बूद्वीवो रहंग संटाणो ।

विस्त्रभसय सहस्रं ज्येष्ठाणं भवे एकं ॥ (ज्यो० करं०)

२०३. तले जाते मालपुअको देखकर त्रिचके मालपुअ जैसी जम्बूद्वीपकी कल्पना करें और चारों बाजूके घी की लवण समुद्रके रूपमें कल्पना करें ।

२०४. किसी भी वृत्त (गोल) पदार्थका घेरा परिधि कहा जाता है ।

२०५. जिस पदार्थको किसी भी दिशासे या छोरसे आमने-सामने नापने पर सर्व जगह पर एक समान नाप आवे तो वह वृत्त कहा जाता है ।

२०६. वृत्त वस्तुकी समान लम्बाई-चौड़ाईके प्रमाणको विष्कम्भ अथवा व्यास कहा जाता है ।

२०७. दो समान संख्याका परस्पर गुना—'वर्ग' कहलता है ।

२०८. कोई भी दो संख्याएँ किन दो समान संख्याके गुना जितनी हैं ? उसकी मूल संख्या कोज निकालनेकी जो रीति है वह वर्गमूल (करणि) कहा जाता है ।

$$\begin{array}{r} १००००० \\ \times १००००० \\ \hline १०००००००००० \\ \times १० \\ \hline १००००००००००० \end{array}$$

है। व्यासका वर्ग पानेके लिए दोनों समान संख्याका गुना किया। (जिससे वर्गसंख्या प्राप्त हुई ।)

जम्बूद्वीपके व्यासका वर्ग " दस अरब " प्रमाण हुआ। उसे दससे गुननेसे वर्गमूल योग्य २०^७ भाज्य रकम सौ अरबकी आई। अब वर्गमूल पानेके लिए अंकोंको सम-विषय करें, वह इस तरह—

१ ल्य भाजक = ३) १००००००००००००००० (३ योजन

+ ३ ९

२ ए भाजक = ६,१ ०१,०० (१ योजन

+ १ ६१

३ रा भाजक = ६२,६ ३९,०० (६ योजन

+ ६ ३७५६

४ था भाजक = ६३२,२ ०१४४०० (२ योजन

+ २ १२६४४

५ वाँ भाजक = ६३२४,२ ०१७५६,०० (२ योजन

+ २ १२६४८४

६ ठा भाजक = ६३२४४,७ ०४९११६०० (७ योजन

+ ७ ४४२७१२९

७ वाँ भाजक = ६३२४५४ ०४८४४७१ शेष-अवशिष्ट

—ध्रुव भाजक

४८४४७१ शेष-अवशिष्ट

आए हुए उत्तरका अंक ठीक रूपमें रखनेसे ३१६२२७ योजन जितना आया।

इति परिधि ।

हैं उसे चार कोसका एक योजन होनेके कारण ४से गुना — × ४

ध्रुव भाजक ६३२४५४) १९३७८८४ (३ कोस आए—

१८९७३६२

००४०५२२

दो हजार धनुषका (दण्डका) १ कोस होनेसे × २०००

२०९. जिसको भाग देना हो वह रकम भाज्य और जिस रकमसे भाज्यको भाग देना हो वह रकम भाजक और जो उत्तर आवे वह ' भागाकार ' कहलाता है ।

ध्रुव भाजक = ६३२४५४) ८१०४४००० (१२८ धनुष—

६३२४५४

१७७९८६०

१२६४९०८

०५१४९५२०

५०५९६३२

००८९८८८ धनुषकी शेष संख्या रही

चार हाथका १ धनुष होनेसे $\times ४$

ध्रुव भाजक = ६३२४५४) ३५९५५२ (० हाथ (भाग न चलनेसे)

००००००

३५९५५२ हाथकी शेष संख्या रही

२४ अंगुलका १ हाथ होनेसे २४से गुने $\times २४$

१४३८२०८

७१९१०४०x

ध्रुव भाजक = ६३२४५४) ८६२९२४८ (१३॥ अंगुल आए

६३२४५४

२३०४७०८

१८९७३६२

०४०७३४६

०३१६२२७

००९१११९ अंगुल संख्याके शेष रहे ।

यहां इतना गणित उपयोगी होनेसे दिया है । इससे अधिक सूक्ष्मप्रमाण यव, जूँ-लीखादि निकालना हो तो स्वयं निकाल लें ।

ऊपरके अनुसार गणितके द्वारा जम्बूद्वीपका ^{२१०} परिधि ३१६२२७ यो०, ३ को०, १२८ ध०, १३॥ अंगुल प्रमाण आया ।

२१०. 'जम्बूद्वीव परिरओ, तिन्नि य सोल्यणि सयसहस्साणि ।

दोयसया पडिपुण्णा सत्तावीसा समहिया य ॥ १ ॥

तिण्णि य कोसा य तहा, अट्ठावीसं च धणुसयं एकं ।

तेरसय अंगुलाइ, अट्ठंगुलयं च सवित्सेसं ॥ २ ॥' (ज्योतिष-करंडक)

यह त्रिगुणाधिक परिधिवाला एक लाख योजनका जम्बूद्वीप, पूर्वसमुद्रसे पश्चिम समुद्र तककी लम्बाईवाले सात वर्षधर (कुलगिरि) पर्वत और उसके आन्तरेमें रहे हुए सात महाक्षेत्र तथा उन क्षेत्रोंमें रहीं महानदियाँ आदिसे सम्पूर्ण है ।

हम जिसमें रहते हैं वह भरतक्षेत्र, अर्धचन्द्राकार समान मेरुसे दक्षिण दिशामें आया हुआ, तीनों दिशाओंमें लवणसमुद्रको स्पर्शित, ५२६ यो० ६ कला विस्तारवाला और १४४७१ १/४ यो० पूर्व समुद्रसे पश्चिम समुद्र तककी दीर्घ ज्यावाला (लम्बा), और उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के छः छः आरोंके भावोंसे वासित है । हरएक क्षेत्र तथा पर्वतको पूर्वसमुद्रसे पश्चिमसमुद्र तक फैला हुआ समझे । मात्र जम्बूद्वीपके विस्ताराश्रयी लम्बाई प्रमाणमें फर्क पड़ेगा । इस भरतक्षेत्रकी सीमा पर रहे हुए लघुहिमवन्त पर्वत के मध्य भागमें १० योजन गहरा, १००० योजन लम्बा, ५०० योजन चौड़ा वेदिका और वनसे परिवृत्त और जिसके मध्यस्थानमें अलग अलग वैदूर्यादि रत्नके विभागमें विभाजित श्रीदेवीके प्रथम रत्नकमलसे युक्त, तथा उस मूल कमलको परिवृत्त दूसरे छः बलयोंसे सुशोभित ऐसा 'श्री' देवीके निवासवाला 'पद्म' नामका द्रव आया हुआ है । उसमेंसे निकलती गंगा और सिन्धु स्वस्वदिशाकी ओर, पर्वतके पर बहकर, गंगानदी उत्तर भरतार्धकी ओर १४००० नदियोंके साथ मैत्री करती हुई दक्षिणसमुद्रमें मिल जाती है । उसी तरह १४००० नदियोंसे परिवृत्त दूसरी सिन्धु नदी पश्चिम दिशामें दीर्घवैताढ्य पर्वतके नीचे होकर, दक्षिणभरतार्धकी तरफ बहकर दक्षिणसमुद्रमें मिल जाती है ।

शाश्वती गंगा और सिन्धु इन दोनों नदियोंने तथा भरतक्षेत्रके मध्यमें रहे दीर्घवैताढ्य पर्वतने अर्थात् दो नदियों तथा पर्वतने मिलकर इस भरतक्षेत्रके छः विभाग किये हैं । हम दक्षिण भरतार्धके मध्यखण्डमें रहते हैं और एसिया, योरप, अफ्रिका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि वर्तमान दुनियाका दक्षिणभरतार्धमें समावेश होता है । इस जम्बूद्वीप भरतखण्डके प्रमाणके १९० ^{२११} खण्ड प्रमाण होनेसे यह भरतक्षेत्र १ खण्ड प्रमाण है । इस क्षेत्रके मध्यमें अयोध्या नगरी आई हुई है । तथा ६३ ^{२१३} शलाका पुरुष भी इस क्षेत्रमें उत्पन्न होते हैं । इस भरतखण्डकी उत्तर दिशामें वैताढ्यको लांघ करके बादका भरतक्षेत्र पसार करनेके बाद भरतसे द्विगुण विस्तारवाला (१०५२ यो० १२ कला प्रमाण), वेदिका और वनसे सुशोभित, पीत सुवर्णमय, लम्बचतुष्कोण-आकारमें जिनभवनादिसे सुवासित ११ कूटवाला, साविक २४९३२ योजन लम्बी जीवावाला, २ खण्ड प्रमाण,

२११. णउयसयं खडाणं, भरहपमाणेण भाइए लक्खे ।

अहवा नउय सयं, गुणं भरहपमाणं हवइ लक्खं ॥ [जम्बू. संग्रहणी]

२१२. शलाका पुरुषोंकी उत्पत्ति ऐरवत और महाविदेहमें भी होती है और वहाँ वे यथायोग्य विजयोंको भी साधते हैं ।

‘लघुहिमवन्त’ पर्वत आया है। इस पर्वत पर आए हुए ‘पद्म’ द्रहमें ‘श्री’ देवीका निवास है। इस पर्वतके ऊपर चढ़कर उतना ही दूसरी बाजू पर उतरने पर तुरन्त ही, पूर्वके पर्वतसे द्विगुण (२१०५ यो० ५ कला) विस्तारयुक्त और ३८६७४ १/४ यो० दीर्घ ज्यावाला चार खण्ड प्रमाण अवसर्पिणीके तीसरे आरेके प्रारम्भके भाववाला ‘हिमवन्तक्षेत्र’ आया है। इस क्षेत्रमें पूर्वमें ‘रोहिता’ और पश्चिममें ‘रोहितांशा’ नदी बहती है। इस क्षेत्रके मध्यमें अथवा इन दो नदियोंका जहां नजदीक संयोग हो उस स्थानमें ‘शब्दापाती’ नामका वृत्तवैतादय आया है। यह क्षेत्र सम्पूर्ण होनेके बाद तुरन्त ही पूर्वक्षेत्रसे द्विगुण (४२१० यो० १० कला) विस्तारवाला, साधिक ५३९३१ यो० दीर्घ जीवावाला, ८ खण्ड प्रमाण, २०० यो० ऊँचा, पीतसुवर्णका, ८ कूट-शिखरवाला, लम्ब चतुष्कोण (पूर्वसे पश्चिम तक गया हुआ) ^{२१३}वेदिका और वनसे सुशोभित, ‘महाहिमवन्त’ नामका पर्वत आया है। इस पर्वतके ऊपर दो हजार यो० लम्बा, एक हजार यो० चौड़ा, १० यो० गहरा ‘ही’ देवीके निवासवाला ‘महापद्म’ नामका द्रह आया है। इस पर्वत पर चढ़कर उतना ही नीचे उतरने पर तुरन्त ही महाहिमवन्तकी उत्तरमें पूर्वसे द्विगुण (८४२१ योजन १ कला) विस्तारवाला, ७३९०१ १/४ यो० पूर्व-पश्चिम दीर्घ ज्यावाला, १६ खण्ड प्रमाण, पूर्वदिशामें बहती ‘हरिसल्लिख’ और पश्चिममें बहती ‘हरिकान्ता’ नदीसे युक्त, क्षेत्रके मध्यमें रहे हुए ‘गन्धापाती’ नामके वृत्तवैतादयवाला, अवसर्पिणीके दूसरे आरेके प्रारम्भके भाव सदृश ‘हरिवर्ष’ नामका ^{२१४} युगलिक क्षेत्र आया है।

इस क्षेत्रके सम्पूर्ण होनेके बाद तुरन्त ही मेरुसे दक्षिणमें (हरिवर्षोत्तरे) पूर्वसे द्विगुण १६८४२ यो० २ कला विस्तारवाला, साधिक ९४१५६ यो० दीर्घ जीवावाला, ४०० यो०

२१३. हरएक वर्षधर, वेदिका, वन सहित समझना ।

२१४. इन छहों क्षेत्रोंमें रहनेवाले युगलिक मनुष्य स्वभावसे सरल, भोले और सर्व तरहसे सुखी और दिव्य स्वरूपवाले होते हैं और इन छहों युगलिक महाक्षेत्रोंमें असि (शस्त्र व्यवहारादि), मसि (लेखन कलादि), कृषि (किसान व्यापारादि) इन तीनोंका व्यापार न होनेसे उन्हें कर्मबन्धन अत्य होता है। ये युगलिक मरनेके बाद अवश्य देव होते हैं। इन क्षेत्रोंको अकर्मभूमिके समझे। कुल अदाई द्वीपमें ५ हैमवन्त, ५ हरिवर्ष, ५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु, ५ रम्यक और ५ हैरण्यवत् होकर तीस अकर्मभूमियाँ समझना। इसलिए कहा है कि—

“ हैमवयं हरिवासं देवकुरु तह य उत्तरकुरुचि ।

रम्य एरण्यवयं इय छ भूमिओ पंचगुणा ॥ १ ॥

एया अकम्मभूमिओ तीस सया जुपलधम्मजयटाणं ।

दसविहकप्य महद्दमसमुत्थभोगा पसिद्धाओ ॥ २ ॥”

[प्रबचनसारोद्धार]

ऊँचा, ३२ खण्ड प्रमाण, ९ कूटवाला, तपनीय रक्तसुवर्णका और सूर्य-चन्द्रके मण्डलके आधारवाला (और इसीलिए इस ग्रन्थमें इस अढाईद्वीपका वर्णन करनेमें सहायक बना हुआ) 'निषध' नामका पर्वत आया है। इस पर्वतके ऊपर व्यन्तरनिकायकी 'घी' नामकी देवीके निवासवाला, ४००० योजन लम्बा, २००० यो० चौड़ा, १० यो० गहरा 'तिगिच्छिद्रह' आया है।

इस पर्वतके ऊपर इस बाजूसे चढ़कर उस बाजू पर उतरनेसे तुरन्त ही निषध पर्वतसे द्विगुण ३३६८४ यो० ४ कला विस्तीर्ण और मध्यमें १ लाख यो० दीर्घ, ६४ खण्ड प्रमाण निषध और नीलवन्तके विचके भागमें रहा हुआ 'महाधिदेहक्षेत्र' आया है। इस क्षेत्रके मध्यमें एक लाख योजन ऊँचा, पीत सुवर्णमय, शाश्वत ऐसा मेरुपर्वत आया है। यह पर्वत निन्यानवे हजार (९९०००) योजन जमीनके बाहर है, जिससे उद्योतिषी निकायके मध्यभागको भी पसार करके आगे ऊँचा चला जाता है, उसका १००० योजन जितना मूल जमीनमें गया हुआ है, इससे वह रत्नप्रभा पृथ्वीके पहले कांडके अन्त तक पहुँचा हुआ है, अतः उस पर्वतका हजार योजन प्रमाण जहाँ पूर्ण (समभूतल स्थानमें) होता है उस सारे भागको 'कन्द' कहते हैं। इस कन्दस्थानमें उसका विस्तार १०००० योजनका है। और ऊपर जाते घटता घटता शिखरभागमें १००० योजन चौड़ा रहता है, अतः यह पर्वत ऊँचा किया हुआ 'गोपुच्छ' जैसा दीखता है। यह पर्वत तीन विभागोंमें विभाजित है, अर्थात्—जमीनमें गए हुए हजार योजनसे हीन जो कांड (भाग) प्रथमकाण्ड कहलाता है। यह कांड—कंकड, पत्थर और रत्नादिसे बना है। हीन ऐसे १ हजार योजनसे लेकर (रत्नप्रभागत समभूतल्य रूचकसे) ६३ हजार योजन प्रमाण स्फटिकरत्न-अंकरत्न तथा चांदी-सुवर्णमिश्रित 'द्वितीयकाण्ड' है। उसमें समभूतलासे ५०० यो० के बाद 'नन्दनवन' आया है, नीचेके कन्द भागमें 'भद्रशाल' वन है और ६३ हजार योजन पूर्ण होने पर वहाँ 'सोमनस' वन है। इस सोमनस वनसे शिखर तकका ३६ हजार यो०का भाग 'तीसराकांड' कहलाता है और वह जाम्बूनद [रक्त] सुवर्णका बना है।

इस तीसरे काण्ड-पर 'पांडुकवन' आया है। इस वनके मध्यमें एक चूलिका आई है। वह ४० यो० ऊँची, मूलमें १२ यो० चौड़ी, शिखर पर ४ यो० चौड़ी, वैदूर्य रत्नकी, श्रीदेवीके भवनके समान वृत्ताकार और ऊपर एक बड़े शाश्वत चैत्य गृहवाली है।

इस चूलिकासे ५०० यो० दूर पांडुकवनमें चारों दिशाओंमें चार जिन भवन हैं। इन चारों भवनोंके बाहर भरतादि क्षेत्रोंकी दिशाकी तरफ २५० योजन चौड़ी, ५०० यो० दीर्घ, ४ यो० ऊँची, अष्टमीके चन्द्राकारके सदृश श्वेतवर्णीय अर्जुनसुवर्णकी चार अभिषेक शिलाएँ वर्तित हैं। प्रत्येक शिला वेदिकासहित वनवाली है। उसमें पूर्व दिशामें 'पाण्डुकम्बला,' पश्चिम दिशामें 'रक्तकम्बला,' उत्तरमें 'अतिरक्तकम्बला' और दक्षिण

दिशामें 'अतिपाण्डुकम्बला' नामकी शिलाएँ हैं। उसमें पूर्व-पश्चिमकी दो शिलाओंके ऊपर ५०० धनुष दीर्घ, २५० धनुष विस्तीर्ण और ४ धनुष ऊँचा ऐसे दो दो सिंहासन हैं, और उत्तर तथा दक्षिणवर्ती शिलाओंके ऊपर उक्त प्रमाणवाला एक-एक सिंहासन है।

इसमें 'पूर्व' दिशाकी शिलाले दो सिंहासनके ऊपर पूर्व महाविदेहकी १६ विजयोंमें उत्पन्न होते जिनेश्वरदेवोंको, अनादिकालके तथाविध आचारवाले सौधर्म इन्द्र प्रभुको अपना अहोभाग्य सोचकर पंचरूप करके, पंचाभिगम सहेज कर मेरुपर्वतके ऊपर ले जाता है। जहाँ महान कलशादि सामग्रीसे अनेक प्रकारके ठाटबाटसे युक्त, अनेक देवदेवियोंसे परिवृत्त महाभाग्यशाली सौधर्मन्द्र प्रभुको अपने ही अंकमें (गोद) लेता है, उस वक्त महान अभिषेक आदि क्रियाएँ होती हैं, और उनके द्वारा भक्तिवंत इन्द्र, देवदेवियाँ "हमें ऐसा सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ, धन्य है हमारी आत्माको कि आज ऐसे परमपवित्र त्रिलोकनाथ परमात्माकी भक्तिका महद् सुयोग प्राप्त हुआ।" इत्यादि अनुमोदनाएँ करते हुए अनर्गल पुण्योपाजन कस्के कृतकृत्य वनते हैं। इसी तरह पश्चिम महाविदेहकी १६ विजयोंमें उत्पन्न होते जिनेश्वरोंका 'पश्चिम' दिशावर्ती शिलाले ऊपर और 'दक्षिण' दिशाकी शिलाले ऊपरके सिंहासन पर भरतक्षेत्रमें उत्पन्न हुए प्रभुओंका और 'उत्तर' दिशाकी शिलाले ऊपर ऐश्वर्य क्षेत्रवर्ती परमात्माओंका जन्माभिषेक होता है, जहाँ ऐसे महानुभाव परमात्माओंके जन्माभिषेक जैसे कल्याणक कार्य हो रहे हैं, ऐसा यह २१^५ मन्दर-मेरुपर्वत सदा अचल और जयकारी वर्तित है।

इस मेरुके दक्षिणकी तरफ के निषधपर्वतमेंसे निकलते निषधपर्वतके ही सम्बन्धवाले दो 'गजदन्तगिरि' और उत्तरकी तरफके नीलवन्त पर्वतमेंसे निकले हुए दो गजदन्तगिरि इस तरह कुल चार गजदन्तगिरि हैं। वे गजके दन्तुशूलकारमें अथवा रणसिंघाकारवत् होकर मेरुके पास पहुँचे हुए हैं, और इसीलिए मेरुकी उत्तरके और दक्षिणदिशाके दो दो गजदन्तगिरियोंके छोर परस्पर इकट्ठा मिलनेसे अर्धचन्द्राकारके सदृश आकार होता है। इन

२१५. इस पर्वतका स्वामी 'मन्दर' नामका देव होनेसे 'मन्दर' ऐसा नाम पड़ा है—यह नाम शाश्वत समझना। मेरु पर्वतके १६ प्रकारके नाम हैं, जो नीचे अनुसार हैं—

किंचार्थ मन्दरो मेरुः सुदर्शनः स्वयंप्रभः ।

मनोरमो गिरिराजो रत्नोच्चयशिलोच्चयौ ॥ १ ॥

लोकमध्यो लोकनाभिः सूर्यावतीऽस्तसंज्ञितः ।

दिगादिसूर्यावर्णावतंसकनमोत्तमाः ॥ २ ॥

ये सारे नाम सान्बर्थ हैं।

दोनों पर्वतोंके बिचमें मेरुकी दक्षिण दिशामें 'देवकुरु' नामका युगलिक क्षेत्र आया है, इस तरह उत्तरवर्ती दो गजदन्तोंके बिच 'उत्तरकुरु' नामका क्षेत्र है। दोनों क्षेत्रोंमें सदाकाल प्रारम्भके भावोंसे युक्त प्रथम आरा वर्तित है, तथा २०० कंचनगिरि तथा अन्य पर्वत, दस दस द्रह और नद्यादिकसे युक्त है। उनमें उत्तरकुरुक्षेत्रमें जम्बूद्वीपके अधिपति अनादित देवके निवासवाला, जिसके कारण यह जम्बूद्वीप ऐसा नाम प्रसिद्ध हुआ है, वह शाश्वत 'जम्बूवृक्ष' आया है और देवकुरुमें भी जम्बूवृक्षके सदृश 'शाल्मली' वृक्ष आया है।

इस मध्यमेरुसे पूर्व दिशामें और पश्चिमदिशामें विस्तृत होनेके कारण ही 'पूर्वमहाविदेह' और 'पश्चिममहाविदेह' ऐसी प्रसिद्ध संज्ञावाला ^{२१६} 'महाविदेहक्षेत्र' आया है। इस क्षेत्रकी दोनों दिशाओंमें मध्यभागमें 'सीता' तथा 'सीतोदा' नदियाँ बहती हैं। जिससे पूर्व-पश्चिम विदेह दो दो भागवाले होनेसे महाविदेहके कुल चार विभाग पड़े हैं, उनमें पूर्व पश्चिम दिशावर्ती एक-एक भाग ऐरवतक्षेत्रकी तरफका और एक-एक भरतक्षेत्रकी तरफकी दिशाका तथा एक-एक विभागमें कच्छादि आठ आठ विजय होनेसे चार विभागमें ३२ विजय होती हैं। इन विजयोंकी चौड़ाई २२१२ $\frac{१}{२}$ योजन है, और लम्बाई १६५९२ $\frac{१}{२}$ योजन है। विजयोंकी परस्पर मर्यादाको बतलानेवाले ५०० योजन चौड़े, विजय तुल्य लम्बे, दो दो विजयोंको गोपकर अश्वस्कंधाकारमें रहे हुए चित्रकुटादि १६ वक्षस्कार आए हैं, अतः प्रत्येक विभागमें चार चार हुए। इस तरह इस क्षेत्रमें दो दो विजयोंके बिचमें दो वक्षस्कारके अन्तर विस्तारोंकी मध्यमें १२५ योजन चौड़ी ग्राहवत्यादि १२ नदियाँ आई हैं, अर्थात् एक-एक विभागमें तीन तीन होकर १२ नदियाँ होती हैं। ये नदियाँ दूसरी नदियोंकी तरह कम-ज्यादा प्रमाणवाली न होकर ठेठ तक एक समान प्रमाणवाली और सर्वत्र समान गहराईवाली रहती है। इस क्षेत्रकी दोनों दिशाओंमें बड़े वनमुख रहे हैं। चक्रवर्तीके विजय करने योग्य जो विजयक्षेत्र हैं उनमें भरतक्षेत्रवत् उत्सर्पिणी अवसर्पिणीके छः छः आराविषयक भावोंका अभाव होनेसे वहाँ 'नोत्सर्पिणी', 'नोअवसर्पिणी' (चौथा आरा) जैसा काल है। उसका स्वरूप पहले कहा हुआ है, वह चौथे आरेके कालके प्रारम्भिक भाववाला सुखमय है, इसीसे उस क्षेत्रमें सिद्धिगमन कायमके लिए खुला ही है। क्योंकि उस क्षेत्रमें सिद्धिगमन योग्य कार्यशाहीकी सारी सानुकूलता सदा

२१६. महाविदेहक्षेत्र, भरतक्षेत्र, ऐरवतक्षेत्र, ये तीनों क्षेत्र कर्मभूमिके कहलाते हैं; क्योंकि वहाँ 'असि' 'मसि', 'कृषि'के व्यापार चालू हैं और इसलिए अज्ञानात्माओंको सर्वप्रकारकी संसारशुद्धिके कारणभूत बनते हैं, जबकि पुण्यात्माओंके लिए यही भूमि परम्परामें अनन्तसुखके स्थानरूप बनती है। अतः यह भूमि सर्व प्रकारके अनुष्ठानोंके लिए योग्य तथा शलाका पुरुषोंकी उत्पत्ति करनेवाली है। कुल कर्मभूमि १५ है—५ भरत, ५ ऐरवत, ५ महाविदेह जिसके लिए कहा है—भरहाइं विदेहाइं एख्वया च पंच पत्तयं।

भन्नंति कर्मभूमिओ धम्मजोगाउ पन्नरस ॥ १ ॥

वर्तित है । जबकि हमारे यहाँ तो उस उस सामग्रीका कालाश्रयी विशेष परावर्तन हुआ करता है; अतः हमारे यहाँ मोक्षमार्ग सदा ही खुल नहीं रहता । यह क्षेत्र चौथे आरेके समान होनेसे वहाँ ५०० धनुष प्रमाण ऊँचे और पूर्व करोड वर्षके आयुष्यवाले जीव होते हैं । इत्यादि स्वरूप चौथे आरेके अनुसार सोचें ।

इस महाविदेह क्षेत्रकी ३२ विजयोंके नाम इस तरह हैं—

बत्तीस विजयोंके नाम

उत्तरदिशावर्ती	दक्षिणदिशावर्ती	दक्षिणदिशावर्ती	उत्तरदिशावर्ती
१. कच्छ	९. वत्स	१७. पद्म	२५. वप्र
२. सुकच्छ	१०. सुवत्स	१८. सुपद्म	२६. सुवप्र
३. महाकच्छ	११. महावत्स	१९. महापद्म	२७. महावप्र
४. कच्छावती	१२. वत्सावती	२०. पद्मावती	२८. वप्रावती
५. आवर्त	१३. रम्य	२१. शंख	२९. वल्गु
६. मंगलावर्त	१४. रम्यक्	२२. कुमुद	३०. सुवल्गु
७. पुष्कलावर्त	१५. रमणिक	२३. नलिन	३१. गंधिल
८. पुष्कलावती	१६. मंगलावती	२४. नलिनावती	३२. गंधिलावती

इनमें 'पुष्कलावती' विजयमें 'सीमन्धरस्वामीजी,' 'वत्सा'में 'श्री युगमन्धर-स्वामीजी,' 'नलिनावती'में 'श्री बाहुस्वामीजी' और चौथी 'वप्रावती'में श्री सुबाहु स्वामीजी इस तरह चार तीर्थंकर वर्तमानमें अपने उपदेशके द्वारा अनेक जीवोंको कर्मसत्तासे निर्मुक्त कराके मोक्षमहलमें भेजते हुए, महाविदेह क्षेत्रमें विचरते हैं । ये तीर्थंकर विहरमानजिन रूपमें परिचित हैं और उनकी महिमा प्रसिद्ध है । अब तो भरतक्षेत्रमें प्रभुके कल्याणकारी दर्शनका साक्षात् अभाव है, जिससे विहरमानजिनोंको भावपूर्वक नमस्कार करके आत्माका साफल्य माना जाता है ।

इस तरह महाविदेहक्षेत्र विषयक संक्षिप्त स्वरूप कहा ।

इस क्षेत्रके सम्पूर्ण होने पर तुरन्त ही सर्व प्रकारसे निषधपर्वतके सदृश, सिर्फ वर्णसे नीले-वैदूर्यरत्नका 'नीलव्रन्तपर्वत' आया हुआ है । इस पर्वतपरि ४००० योजन लम्बा, २००० योजन विस्तीर्ण और 'कीर्ति' देवीके निवासवाला 'केसरी' नामका द्रव आया है । यह पर्वत मण्डलप्रकरणके वर्णन प्रसंग पर खास उपयोगी होनेवाला है । (जो पाठक प्रसंग पाकर स्वयं समझ सकेंगे ।)

इस पर्वतसे आगे बढ़े कि तुरन्त ही हरिवर्ष क्षेत्रके समान व्यवस्थावाला 'रम्यक्

क्षेत्र' आया है। इस क्षेत्रमध्यमें दोनों दिशाओंमें 'नरकान्ता' और 'नारीकान्ता' नदियाँ बहती हैं। तथा इस क्षेत्रके मध्यभागमें ही 'माल्यवन्त' नामका वृत्तवैतादय आया है। इस क्षेत्रके पूर्ण होने पर तुरन्त ही महाहिमवन्त पर्वतके समान व्यवस्थावाला श्वेत चार्दीका 'रुक्मि' पर्वत आया है। इस पर्वतके ऊपर 'बुद्धि' देवीके निवासवाला 'महापुंडरीकद्रह' आया है, उसका प्रमाण महापद्म द्रहके समान समझना। पर्वत पसार करनेके बाद 'हरिवर्ष' क्षेत्रके समान व्यवस्थायुक्त 'हिरण्यवन्त' क्षेत्र आया है। उसमें पूर्वमें 'सुवर्णकूला' और पश्चिममें 'रूप्यकूला' नदी है और इस क्षेत्रके मध्यमें 'विकटापाती' नामका वृत्तवैतादय आया है। इस क्षेत्रके पूर्ण होनेके बाद तुरन्त ही हिमवन्तके जैसी व्यवस्थावाला 'शिखरी' पर्वत आया है। इस पर्वतके ऊपर 'लक्ष्मी' देवीके निवासस्थानवाला 'पुंडरीकद्रह' पद्मद्रहवत् आया है। इस पर्वतसे आगे बढ़ने पर भरतक्षेत्र जैसी सर्व व्यवस्था तथा सर्व भावोंवाला ऐश्वर्यक्षेत्र रहा है। उस उस कालमें वर्तित भावोंमें दोनों क्षेत्र परस्पर समान स्थिति धारण करनेवाले होते हैं। इस क्षेत्रके मध्यभागमें अयोध्या नगरी है, यह क्षेत्र भी रौप्यमय-दीर्घ वैतादयसे तथा गंगासिन्धु जैसी 'रक्ता' और 'रक्तवती' नदीसे ६ विभागवाला है। यह क्षेत्र समाप्त होने पर तुरन्त ही इस क्षेत्रकी तीनों दिशाओंसे स्पर्श करता हुआ पश्चिम लवणसमुद्र आता है। इस तरह पूर्व समुद्रके मध्यकिनारेसे निकलकर पश्चिम समुद्रके किनारे पर आते तक सर्व क्षेत्रके विस्तारको इकट्ठा करनेसे एक लाख योजन पूर्ण होता है, जिससे वहाँ जम्बूद्वीप क्षेत्र भी समाप्त होता है। महाविदेहक्षेत्रकी दोनों बाजू पर रहे ६ क्षेत्रों और ६ वर्षधर पर्वतोंमेंसे तीन तीन पर्वत तथा तीन तीन क्षेत्र समान प्रमाणवाले और व्यवस्थावाले हैं। यहाँ इतना समझना कि दक्षिणोत्तरके समान व्यवस्थावाले 'हैरण्यवन्त' और 'हैमवन्त' ये दो क्षेत्र युगलिक मनुष्य तिर्यचोंके हैं। और उसमें रहनेवाले युगलिक मनुष्योंका शरीरप्रमाण १ कोस, आयुष्य १ पत्न्योपम^{२१७} अर्थात् तीसरे आरेके समान होता है। उन्हें एकतरा आँबले जितने आहारकी इच्छा होती है। वहाँ संतानकी परिपालना ७९ दिनकी होती है। इस तरह अपत्यपालना करनेके बाद वे युगलिक स्वतन्त्र विहारी और भोगके लिए समर्थ होते हैं। पश्चात् उनका पालन करनेवाले माता-पिता अल्प ममत्व भाववाले होनेसे वे अपत्य कहाँ रहते हैं? किस तरह बरतते हैं? उस विषयक चिंता नहीं करते। इस तरह 'रम्यकू' और 'हरिवर्ष' इन दो क्षेत्रोंमें युगलिकोंका शरीरमान २ कोस, आयुष्य २ पत्न्यो०, दो दिनके आंतरे पर बोर जितने आहारकी इच्छा होती है और ६४ दिवस सन्तानकी परिपालना होती है। देवकुरु और उत्तरकुरु इन दोनों युगलिक क्षेत्रोंमें युगलिकोंका शरीरप्रमाण ३ कोस, आयुष्य

२१७. जिन क्षेत्रोंमें जो जो आरा वर्तित हो, उस आराके युगलिकोंका स्वरूप अगाउ पत्न्योपम, सागरोपमके वर्णनप्रसंग पर कहा है वहाँ वैसे देख लेना।

३ पल्योपम, आरा पहला, हर तीन दिन पर अरहरके दाने जितने आहारकी इच्छा और ४९ दिवस सन्तान पालना समझना ।

छ: महापर्वत तथा द्रहप्रमाण यन्त्र

पर्वतोंके नाम	पर्वतका ऊँचाई प्रमाण	द्रहका नाम	द्रहकी दसगुनी दीर्घता	द्रहका विस्तार कितना ?	द्रहकी गहराई
लघु हिमवन्त शिखरी पर्वत	१०० यो.	पद्म द्रह	१००० योजन	५०० योजन	१० यो.
महाहिमवन्त पर्वत	१०० ,,	पुंडरीकद्रह	१००० ,,	५०० ,,	१० ,,
रुकमी पर्वत	२०० ,,	महापद्मद्रह	२००० ,,	१००० ,,	१० ,,
निषध पर्वत	२०० ,,	महापुंडरीकद्रह	२००० ,,	१००० ,,	१० ,,
नीलवन्त पर्वत	४०० ,,	तिगिंछिद्रह	४००० ,,	२००० ,,	१० ,,
	४०० ,,	केसरीद्रह	४००० ,,	२००० ,,	१० ,,

अब पर्वतके विषयमें इतना विशेष समझना कि भरतके उत्तरवर्ती जो 'हिमवन्त' और 'ऐरवत'के उत्तरवर्ती जो 'शिखरी'—ये दोनों पर्वत पूर्वसमुद्रसे पश्चिमसमुद्र तक लम्बे हैं, इन पर्वतोंके अन्तिम भागमें एक-एक दिशाके मुखकी तरफ पर्वतकी दो दो दाढाएँ हैं और वे रणसिंघाकारमें लवणसमुद्रमें गई हैं। वैसे दूसरी दिशामें भी दो दाढाएँ स्वदिशामें लवणसमुद्रमें गई हैं। इस तरह दो पर्वतोंकी दोनों दिशाओंकी होकर आठ दाढाएँ हैं। एक-एक दाढाके ऊपर सात सात अन्तद्वीप हैं, अतः आठ दाढाओंके मिलकर ५६ अन्तद्वीप^{२१८} होते हैं।

इस अन्तद्वीपमें युगलिक ही रहते हैं, उनके शरीरकी ऊँचाई ८०० धनुष और आयुष्य पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग होता है। एकतरा आहारकी इच्छा तथा ७९ दिवस अपत्यपालना होती है।

इन अन्तद्वीपोंको गर्भज मनुष्योंके जो १०१ क्षेत्र गिने जाते हैं उनकी गिनतीमें लेने हैं।

यह जम्बूद्वीप कि जिसका वर्णन ऊपर किया था वह द्वीप १२ योजन ऊँची रत्नमय जगतीसे परिवृत्त है। इस जगतीके पूर्वमें^{२१९} 'विजय', पश्चिममें 'जयन्त', उत्तरमें 'अपराजित' और दक्षिणमें 'वैजयन्त' इस तरह चार द्वार हैं, प्रत्येक द्वार चार योजन चौड़ा और दोनों बाजू पर पाव (०।) कोस चौड़ी चौखटोंवाला है; अतः हरएक

२१८. विशेष वर्णन क्षेत्रसमाप्त तथा चार बृहद्भूतिसे देखना ।

२१९. विजयादि नामके अधिपतिदेवके निवास परसे ये नाम पड़े हैं ।

॥ (६) कुलगिरि यन्त्र ॥

छः कुलगिरि- के नाम	किस स्थान- के पर ?	कितने खण्ड प्रमाण ?	वर्ण	लम्बाई	चौड़ाई	आयताकार क्षेत्रफल	शुद्धी क्षेत्रफल	उसके पर कौनसा सरोवर ?	कौनसी नदियाँ निकलती हैं ?	मूलराज्य
लघुहिमवन्त	मेरुकी दक्षिणमें और भारतकी उत्तरमें	२	सुवर्णका (पीतवर्ण)	पूर्वसमुद्रसे पश्चिमसमुद्र २४९३२ यो०	१०५२ यो० १२ कला	१०० यो०	११	पद्मद्रह	पूर्वमें गंगा नदी पश्चिममें सिंधु नदी उत्तरमें रोहितांगा नदी	२५ यो०
शिखरी	मेरुकी उत्तरमें ऐरावतकी दक्षिणमें	२	"	"	"	"	११	पुंडरीकद्रह	पूर्वमें रक्ता नदी पश्चिममें रक्तवती नदी दक्षिणमें सुवर्णकूला नदी	२५ यो०
महाहिमवन्त	मेरुकी दक्षिणमें हिमवतके अंतमें	८	"	५३९३१ ईश्वर यो०	४२१० यो० १० कला	२०० यो०	८	महापद्मद्रह	दक्षिणमें रोहिता नदी उत्तरमें हरिकांता नदी	५० यो०
रुक्मी	मेरुकी उत्तरमें हिरण्यवंतके अंतमें	८	श्वेतवर्णीय चांदीका	"	"	"	८	महापुंडरीकद्रह	उत्तरमें रूपकूला नदी दक्षिणमें नरकांता नदी	५० यो०
निषध	मेरुकी दक्षिणमें हरिवर्षके अंतमें	३२	तपनीय रक्तमय सुवर्णका	९४१५६ यो०	१६८४२ यो० २ कला	४०० यो०	९	तिगिच्छिद्रह	दक्षिणमें हरिसालिवा नदी उत्तरमें सीतोदा नदी	१०० यो०
नीलवन्त	मेरुकी उत्तरमें रथ्यकूके अंतमें	३२	वैडूर्य रत्नका (नीलवर्ण)	"	"	"	९	केसरीद्रह	उत्तरमें नाराकांता नदी दक्षिणमें सीता नदी	१०० यो०

॥ सात (७) महाक्षेत्रोंका यन्त्र ॥

सात महाक्षेत्रोंके नाम	लम्बाई	चौड़ाई	कितने खण्ड प्रमाण?	किस स्थान पर?	मध्यगिरिके नाम	महानदियोंके नाम	कौनसा काल?
भारतक्षेत्र	पूर्व समुद्रसे पश्चिम समुद्र तक १४४७१ टर्क यो०	यो. कला ५२६-६	१	मेरुकी दक्षिणमें समुद्र स्थानी	दीर्घ वैताढ्य	पूर्वमें गंगा नदी पश्चिममें सिंधु नदी	अवस० उत्स-पिणीके ६-६ आरा ही
पेरवतक्षेत्र	"	"	१	मेरुकी उत्तरमें समुद्र स्थानी	"	पूर्वमें रक्ता नदी पश्चिममें रक्तवती नदी	"
हिमवन्तक्षेत्र	३७६७४ $\frac{1}{4}$ यो. पू०स०से ५० समुद्र	यो. कला २१०५-५	४	हिमवन्त पर्वतकी उत्तरमें	शाब्दापाती वृत्त वैताढ्य	पूर्वमें रोहिता नदी पश्चिममें रोहिताशा नदी	अवसर्पिणीके तीसरे आराके समान
हिण्यवंतक्षेत्र	"	"	४	शिखरी पर्वतकी दक्षिणमें	विकटापाती वृत्त वैताढ्य	पूर्वमें सुवर्णकूला नदी पश्चिममें शय्यकूला नदी	"
हरिवर्षक्षेत्र	७३९०१ $\frac{1}{2}$ यो.	यो. कला ८४२१-१	१६	महाहिमवंत पर्वतकी उत्तरमें	गंधापाती वृत्त वैताढ्य	पूर्वमें हरिसल्ल्या नदी पश्चिममें हरिकान्ता नदी	अवस० के दूसरे आराके समान
रम्यक्षेत्र	"	"	१६	रुक्मी पर्वतकी दक्षिणमें	माध्यवंत वृत्त वैताढ्य	पूर्वमें नरकान्ता नदी पश्चिममें नारीकान्ता नदी	"
महाविदेहक्षेत्र	(१०००००) १ लाख योजन	यो. कला ३३६८४-४	६४	निषध तथा नीलवंतके विचमें	मेरु पर्वत	पूर्वमें सीता नदी पश्चिममें सीतोरा नदी	अवस० चौथे आराके समान

द्वार ४ $\frac{1}{2}$ योजन विस्तारवाला होनेसे चार द्वारोंकी चौड़ाई १८ योजनकी होती है। यह चौड़ाई जम्बूद्वीपके परिधिमेंसे कम करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उसे प्रत्येक द्वारका अन्तर पानेके लिए चारसे भागने पर ७९०५२ यो० १ को०—१५७२ धनुष, ३ $\frac{1}{2}$ अंगुल एक द्वारसे दूसरे द्वारोंका परस्पर अन्तर आता है। किन्हीं भी जगतियोंके द्वारोंकी चौड़ाई सर्व स्थान पर समान होती है लेकिन आगे आगेके द्वीप-समुद्रोंके कारण परिधि बढ़ता जाए, त्यों त्यों द्वारोंके अन्तरमानमें वृद्धि होती जाए अर्थात् द्वारान्तरोमें तफावत पड़ता है। ये द्वार मणिमय देहरी (देहली) और रम्यद्वार कपाट आदिसे सुशोभित है। जैसे इस सृष्टि पर गृहद्वारोंके देहली-अरगल होते हैं, वैसे इन द्वारोंके भी देहली, दो दो किवाड तथा किवाडोंको मजबूत बन्द करनेवाले अरगल भी होते हैं।

जगतीका कुछ वर्णन तो पहले किया गया है। इति जम्बूद्वीपस्य अतिसंश्लिप्तवर्णनम् ॥

द्वितीय लवणसमुद्रवर्णन—इस जम्बूद्वीपके परिवर्तित दो लाख योजनका वलय-विष्कंभवाला लवणसमुद्र है। उसका ^{२२०}परिधि १५०८११३९ योजनमें कुछ न्यून है।

इस लवणसमुद्रमें चार चार चन्द्र और सूर्य तथा गौतमद्वीप आदि द्वीप आए हैं। इस लवणसमुद्रमें भरतक्षेत्रके पूर्व भागमें बहनेवाली गंगा नदी जिस स्थानमें मिलती है वहाँ नदी और समुद्रके संगमस्थानसे १२ योजनकी दूरी पर मागध नामके देवकी राजधानीके रूपमें प्रसिद्ध बने हुए मागध नामका द्वीप जिसे 'मागधतीर्थ' ^{२२१}कहा जाता है, वह आया है। इसी तरह भरतकी पश्चिमदिशामें दूसरी सिंधुनदीके संगमस्थान पर १२ यो० दूर प्रभासदेवकी राजधानीवाला द्वीप जो 'प्रभासतीर्थ' कहलाता है वह आया है। इन दोनों तीर्थोंके मध्यभागमें उन दो तीर्थोंकी ही सतहमें (नदी-समुद्रके संगमसे १२ यो० दूर समुद्रमें ही) वरदाम नामके देवसे प्रसिद्ध 'वरदाम' तीर्थ आया है। इसी तरह ऐरवत क्षेत्रमें रक्तवतीके संगमस्थानमें १२ योजन दूर समुद्रमें 'मागधतीर्थ' तथा रक्ताके संगम-स्थानसे १२ योजन दूर 'प्रभासतीर्थ' है, उन दोनोंके विष्व पूर्ववत् समुद्रमें 'वरदामतीर्थ' आया है। ३२ विजयोंमें उत्पन्न होनेवाला चक्रवर्ती जब ६ खण्डोंका दिग्विजय करने निकलता है तब प्रथम मागधतीर्थके समीप समुद्र या नदीके किनारे पर अपने सारे सैन्यको स्थापित करके अट्टम तप करके अकेला स्वयं ही चार अर्धोंवाले रथमें आरूढ होकर रथका मध्यभाग डूबे वहाँ तक समुद्रमें उतरकर रथके ऊपर खड़ा होकर, स्वनामांकित जो बाण मागधदेवकी राजधानीमें फेंके, वह बाण चक्रवर्तीकी शक्तिसे १२ योजन दूर जाकर मागध-

२२०. 'पण्णस सतमहस्सा, एकासीतं सयं चउतालं ।

किंचिविसेसेणुगो, लवणोदहिणो परिकखेवो ॥ १ ॥'

२२१. जलाशयमें उतरने योग्य ढालवाला क्रमशः नीचे गया हुआ जो भूमिभाग होता है उसे तीर्थ कहा जाता है।

देवकी राजसभामें पड़े, पड़ते ही क्रोधसे कुपित बना हुआ, किंतु बाण उठाते ही उसके ऊपर चक्रवर्ती उत्पन्न हुए का नाम पढ़कर तुरन्त ही शांत बना हुआ मागधदेव अनेक प्रकारकी भेंटोंके साथ बाण लेकर चक्रवर्तीके समीप आकर, उसे नमस्कार करके, अपनी भक्ति प्रदर्शित की “आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है” इत्यादि वचन कहकर, चक्रवर्तीको वह बाण वापस दे और सत्कारमें भेंट दे, चक्रवर्ती भी उसका आनन्दसे स्वीकार करके, उस देवका यथायोग्य सत्कार करके, स्वस्थान प्रति जानेके लिए सम्मति दे। इसी तरह पुनः वरदाम तथा प्रभास तीर्थको साधता है। इस प्रकार ये तीर्थ लवणसमुद्रमें आए हैं। इसके सिवा चार बड़े पातालकलश, लघुपातालकलश, वेलंधरपर्वत, लवणसमुद्रकी जलशिखा आदि वर्णन किंचित् आगे कहा गया है। विशेष तो अन्य ग्रन्थोंसे देख ले।

तृतीय धातकीखण्ड वर्णन—इस लवणसमुद्रके बाद चार लाख योजन चौड़ा और पर्यन्तमें ४११०९६१ योजन ^{२२२}परिधिवाला, इषुकार पर्वतोंसे पूर्व पश्चिमसे दो विभागोंमें विभाजित, अतः पूर्व-पश्चिम छः छः (कुल-१२) वर्षधर पर्वतों तथा सात सात (७ + ७ कुल - १४) महाक्षेत्रोंसे विसृत ऐसा धातकीखण्ड आया है। इस खण्डमें पूर्वपश्चिममें दो मेरु आए हैं, ये मेरु जम्बूद्वीपके मेरुसे न्यून प्रमाणवाले हैं, शेष सर्व व्यवस्था जम्बूद्वीपके मेरु तुल्य समझें, इतना ही नहीं लेकिन द्रह-कुंडकी गहराई, मेरुके सिवा सर्व पर्वतोंकी ऊंचाई आदि सब जम्बूद्वीप तुल्य समझना। नदी-द्वीप-द्रह-कुंड वनमुखादि विस्तार-नद्यादिकी गहराई-द्रहोंकी लम्बाई जम्बूद्वीपसे द्विगुण जानें। जैसे जम्बूद्वीपमें, भरत, महा-विदेहादि जो क्षेत्र-पर्वतादिके नाम हैं, वैसे ही नामोंवाले क्षेत्रादि यहाँ सोच लेना। इति धातकीखण्डवर्णन ॥

चतुर्थ कालोदधि वर्णन—यह समुद्र ८ लाख योजन चौड़ा और ९१७०६०५ योजन पर्यन्त परिधिवाला है ^{२२३}। जैसे लवणसमुद्रमें चन्द्र सूर्यादि द्वीप हैं वैसे यहाँ भी समझना। लवणसमुद्रकी तरह पातालकलशोंका अभाव समझना, अतः ज्वार-भाटा भी होते नहीं, उसका जल भी उछलता नहीं है, लेकिन ध्यानस्थ योगीकी तरह शांत होता है। साथ ही जल चढ़-उतर स्वभावसे रहित है। इति कालोदधिवर्णन ॥

२२२. धायईखण्ड परिरओ ईतालदसुत्तरा सतसहस्सा ।

णवयसया एगद्धा किंचि विसेसेण परिहीणा ॥ १ ॥

२२३. एक्का णउई सतराई सहस्सा परिरओ तस्स ।

अहियाइं छच्च पच्चुत्तराईं कालोदधिवरस्स ॥ १ ॥

कोडी नातालीसं सहस्स दुसया य अउणपणासा ।

माणुस खेत्त परिरओ एमेव य पुक्खरद्धस्स ॥ २ ॥

पञ्चम पुष्करार्धद्वीपवर्णन—तत्पश्चात् १६ लाख योजन चौडा और त्रिगुणाधिक परिधिवाला पुष्करद्वीप आया है । अब हम सिर्फ अर्धद्वीप (समयक्षेत्र) का वर्णन करते होनेसे मानुषोत्तरके अंदरका ही क्षेत्र लेनेके हेतुसे ८ लाख प्रमाण विष्कम्भवाला और १४२३०२४९ योजन परिधिवाला अभ्यन्तरभागका अर्ध पुष्करद्वीप लेनेका है । इस पुष्करार्धमें भी दो मेरु हैं, धातकीखण्डके पर्वतक्षेत्रोंकी तरह यहाँ भी १२ वर्षधर और १४ महाक्षेत्र चक्राकारमें समझना । यहाँ पर्वत-क्षेत्रादिके नाम जम्बूद्वीपके पर्वतादिके नामके समान होते हैं । जैसे जम्बूवत् धातकीका स्वरूप संक्षिप्तमें समझाया गया वैसे यहाँ भी धातकीखण्डवत् इस द्वीपका स्वरूप समझाया गया । इतना विशेष समझें कि धातकीखण्डके सर्व पदार्थोंसे इस द्वीपकी वस्तुएँ प्रायः द्विगुण-द्विगुण प्रमाणवाली सोचें । इति पुष्करार्धद्वीपवर्णन ॥

मानुषोत्तर पर्वत वर्णन—इस पुष्करद्वीपके मध्यभागमें बलयाकार अर्थात् कालोदधि समुद्रकी जगतीसे सम्पूर्ण ८ लाख योजन पर्यन्त यह मानुषोत्तर पर्वत आया है । अतः इस मानुषोत्तरका विस्तार अवशिष्ट ८ लाख योजन प्रमाण पुष्करार्धमें समझना योग्य है, और यह (मानुषोत्तर) विस्तार १०२२ योजन होनेसे १६ लाख प्रमाण पुष्करद्वीपके (बाह्यार्ध) अर्धभागके ८ लाख योजनके क्षेत्र विस्तारमेंसे १०२२ योजन क्षेत्र मानुषोत्तर पर्वतने रोका है ।

इस तरह अभ्यन्तर पुष्करार्धसे परिवृत्त मानुषोत्तर मानो अभ्यन्तर पुष्करार्धद्वीपका अथवा मनुष्यक्षेत्रका रक्षण करनेमें जगतीके सरीखा हो वैसा दीखता है ।

२२४ 'सिंहनिषादी' आकारवाले इस पर्वतका प्रमाण लवणसमुद्रमें आप बेलंधर-पर्वतके समान है । अर्थात् १७२१ यो० ऊँचा, मूलमें १०२२ यो० चौडा और एक बाजू पर घटता हुआ शिखरतलमें ४२४ यो० चौडा है । यह पर्वत भी जांबूनद तपनीय सुवर्णके समान रक्तवर्णका है, मानुषोत्तर पर्वतके ऊपर चारों दिशाओंमें सिद्धायतन कूट आए हैं । इति मानुषोत्तरपर्वतवर्णन ॥

इस तरह जम्बूद्वीपका १ मेरु, २-धातकीखण्डके और २ अर्ध पुष्करके होकर ५ मेरु, इसी तरह ५-भरत, ५-ऐरवत, ५-महाविदेह, (१५ कर्मभूमि क्षेत्र) ५-हैमवन्त, ५-हरिवर्ष, ५-देवकुरु, ५-उत्तरकुरु, ५-रम्यकू, ५-हैरण्यवत् होकर ३० युगलिक क्षेत्र, (अकर्मभूमि क्षेत्र) कर्मभूमि-अकर्मभूमि होकर ४५ क्षेत्र और ५६ अन्तद्वीप कुल १०१ मनुष्यक्षेत्र^{२२५} कहलाते हैं । इस तरह मनुष्योंके जन्ममरण अर्धद्वीपमें होते होनेसे ही

२२४. 'सिंहनिषादी' अर्थात् जिस तरह सिंह अगले दो पैर खड़े रखकर पिछले दो पैर नीचेकी तरफ मोड़कर नितम्बके तले दशकर सकुच कर बैठता है तत्र पश्चात् भागमें नीचा (दलता) और क्रमशः ऊपर जाते मुखस्थानमें अति ऊँचा बना दीखे, वैसे आकारका जो पर्वत है वह ।

२२५. अर्धद्वीपमें भी १०१ मनुष्यक्षेत्रोंमें जन्म तथा मरण अवश्य दोनों होते हैं परन्तु वर्षधरपर्वतों तथा समुद्रोंमें प्रायः मनुष्योंका जन्म सम्भवित नहीं है, मरण शायद संहरण मात्रसे सम्भवित हो ।

‘मनुष्यक्षेत्र’के नामसे प्रसिद्ध हुए अढाईद्वीप (४५ लाख योजन प्रमाण)का किंचित् स्वरूप कहा । इति मनुष्यक्षेत्रस्य^{२२६} संक्षिप्तवर्णन ॥

इस तरह अढाईद्वीपका किंचित् स्वरूप जणानेके बाद इस अढाईद्वीपमें सूर्य तथा चन्द्रके मण्डल किस तरह होते हैं इस विषयक वर्णन किया जाता है ।

॥ सूर्य-चन्द्रमण्डल विषयनिरूपण ॥

[मण्डलाधिकारकी अवतरणिका-मण्डलाधिकारमें प्रसंग प्राप्त होनेसे अढाईद्वीपका संक्षिप्त वर्णन किया । अब चन्द्र-सूर्यके मण्डल सम्बन्धी अधिकार शुरु किया जाता है । इस विषयका सूर्य प्रज्ञप्ति-चन्द्र प्रज्ञप्ति-जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि सिद्धान्तोंमें सविस्तररूपसे आप्तमहापुराणोंने वर्णन किया है । साथ ही बाल जीवोंके बोधके लिए पूर्वके प्राज्ञ महर्षियोंने इन सिद्धान्त ग्रन्थोंमेंसे इस विषयका उद्धार करके क्षेत्रसमास-बृहत्संहणी-मण्डल प्रकरण-लोकप्रकाश प्रमुख ग्रन्थोंमें संस्कृत-प्राकृतमें विशेष स्पष्ट किया है, तो भी मन्दबुद्धिवाले जीव इस विषयको रुचिपूर्वक अधिक समझ सके इसलिए श्री सूर्यप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थोंके आधार पर भाषामें इस मण्डल विषयक विषयको कुछ स्फुट करके कहा जाता है ।

यद्यपि यह लिखावट पाठकोंको कुछ विशेषतः लगेगा, परन्तु गुर्जर भाषामें अब तक इस विषयके बारेमें आवश्यक स्पष्टता प्रायः किसी अनुवादग्रन्थमें किंवा स्वतन्त्र ग्रन्थमें नहीं देखी जाती अतः मण्डल विषयक इस विषयको सरल करना जिससे अभ्यासियोंकी ज्ञानसमृद्धि बढ़े और तद्विषयक रस-पिपासा तृप्त हो, इस इच्छासे इस विवेचनका विस्तार स्व-पर लाभार्थ कुछ ज्यादा किया है और अतः प्रायः मेरा निश्चित मन्तव्य है कि

२२६. अढाईद्वीपके बाहर नहीं होनेवाले पदार्थ—जम्बूद्वीपमें गंगादि नदियोंकी तरह शाश्वत नदियाँ, पद्मद्रवादि शाश्वत द्रव, सरोवर, पुष्करवतीदि कुदरती मेघ, मेघकी स्वाभाविक गर्जनाएँ, बादर अग्नि, (सूक्ष्म तो सर्वव्यापक हैं) तीर्थकर चक्रवर्त्यादि ६३ शलाका पुरुष, मनुष्यका जन्म तथा मरण, समय-आवलिक्का-मुहूर्त-मास-संवत्सरसे लेकर उत्सर्पिण्यादि काल तथा जम्बूद्वीपकी तरह वर्षाधरादि जैसे पर्वत (कतिपय स्थानोंमें शाश्वता पर्वत हैं परन्तु अल्प होनेसे विवक्षित नहीं लगते) ग्राम-नगर-चतुर्विध संघ तथा खान-निधि-चन्द्र-सूर्यादिका परिभ्रमण तथा क्षेत्रप्रभावसे ही-प्रयोजनाभावसे इन्द्रधनुषादि आकाशोत्पात सूचक चिह्न ये सर्व वस्तुएँ अढाईद्वीपके बाहर नहीं हैं ।

ण्डिदहघणथणि,यागणि-जिणाइ णरजममरणकालाई ।

पण,याललस्त्रजोयण-णरखित्त मुत्तु णो पु (प) रओ ॥ ९ ॥ [ल. क्षे. स.]

स्व-पर बुद्धिके विकासके लिए यह विषय पाठकोंको विशेष उपयोगी होगा । 'अनुवादक']

'मण्डल' अर्थात् क्या ?

चन्द्र और सूर्य मेरुपर्वतसे कमसे कम ४४८२० योजनकी अबाधा पर रहनेपूर्वक मेरुको प्रदक्षिणाके क्रमसे सम्पूर्ण कर ले उस प्रदक्षिणाकी पंक्तिको एक 'मण्डल' कहा जाता है ।

चन्द्र-सूर्यके ये मण्डल वहीं ही रहनेवाले कायमी मण्डल जैसे (स्वतन्त्र) मण्डल नहीं हैं परन्तु चन्द्र-सूर्यका जो स्थान बताया गया है उतनी (समभूतलसे सू० ८००, चं० ८८० योजन) ऊँचाई पर रहकर चरस्वभावसे मेरुकी चारों बाजू पर प्रदक्षिणा करते अपने विमानकी चौड़ाई-प्रमाण जितना क्षेत्र रोकते जाने पर जो कल्पित बलय हो उस बलयको 'मण्डल' कहा जाता है, अर्थात् चन्द्र-सूर्यका मेरुके प्रदक्षिणा करने पूर्वक चार करनेका चक्राकारमें जो नियत मार्ग हो उसे 'मण्डल' कहा जाए ।

चन्द्रके १५ मण्डल हैं और सूर्यके १८४ मण्डल हैं । दक्षिणायन-उत्तरायणके विभाग, दिवस और रात्रिके समयमें न्यूनाधिकत्व, सौरमास-चान्द्रमासादि व्यवस्था आदि घटनाएँ सूर्य-चन्द्रके इन मण्डलोंके आधार पर ही उत्पन्न होती हैं ।

यहाँ आगे जणाता है इसके आधार पर, दो सूर्यके परिभ्रमणसे एक सम्पूर्ण मण्डल होता है । तथा कर्कसंक्रान्तिके प्रथम दिन पर वादी-प्रतिवादीकी तरह आमनेसामने समश्रेणिमें निषध और नीलवन्त पर्वतके ऊपर, उदित हुए दोनों सूर्य मेरुसे ४४८२० यो० प्रमाण कमसेकम अबाधा पर रहे हैं । वहाँसे प्रथम क्षण-समयसे ही क्रमशः अन्य मण्डलकी कर्णकला तरफ दृष्टि रखते हुए 'किसी एक प्रकारकी गति विशेष'से कला-कलामात्र खसकते खसकते (अर्थात् अबाधा को क्रमशः ज्यादा ज्यादा करते हुए) जाते होनेसे सूर्य-चन्द्रके ये मण्डल^{२२०} निश्चयपूर्वक सम्पूर्ण गोलाकार जैसे मण्डल नहीं हैं, परन्तु मण्डल जैसे होनेसे

२२०. 'रविदुग्ममणवसाओ, निष्फज्जइ मण्डलं इह एगं ।

तं पुण मण्डलसरिसं, ति मण्डलं वुच्चइ तहाहि ॥ १ ॥

गिरि निसदनीलवन्तेसुं, उगयाणं रवीण कक्कमि ।

पटमाउ चेव सप्पया, ओसरणेणं जओ भदणं ॥ २ ॥

तो नो निच्छयस्वं निष्फज्जइ मण्डलं दिणयराणं ।

चंदाण वि एवं चिअ, निच्छयओ मण्डलाभावो ॥ ३ ॥

रविबिबे उ जियंमं तावजुयं, आयवाउ न उ जलणे ।

जमुसिणफास्स तहिं लोहियवणस्स उदओत्ति ॥ ४ ॥'

मण्डल जैसे दीखते हैं और इसलिए व्यवहारमें वह मण्डल कहा जाता है ।

साथ ही भरतादिक्षेत्रोंमें जो उष्ण प्रकाश पड़ता है वह सूर्यके विमानका है, क्योंकि सूर्यका विमान पृथ्वीकायमथ है और उन पृथ्वीकायिक जीवोंके पुद्गलविपाकी आतपनाम-कर्मका उदय होता है, अतः स्वप्रकाश्यक्षेत्रमें सूर्यके उस पृथ्वीकायिक विमानका उष्ण प्रकाश पड़ता है ।

कुल अनभिज्ञजन 'यह प्रकाश (विमानमें बसते) खुद सूर्यदेवका है' ऐसा मानते हैं । परन्तु उनका यह मन्तव्य वास्तविक नहीं है । यद्यपि सूर्यदेव है यह बात यथार्थ है, किंतु वह तो अपने विमानमें स्वयोग्य दिव्यऋद्धिको भोगता हुआ आनन्दमें काल व्यतीत करता है । इन चर ज्योतिषी विमानोंका स्वस्थानापेक्षया ऊर्ध्वगमन तथा अधोगमन तथाविध जगत् स्वभावसे होता ही नहीं है, सिर्फ सर्वाभ्यन्तरमण्डलमेंसे सर्वबाह्य-मण्डलमें तथा सर्वबाह्यमण्डलमेंसे सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें आने-जानेके लिए वर्तुलकारमें गमन होता, और पहले जणाये अनुसार यह ज्योतिषीदेवोंके विमानोंका ही होता है, और उन विमानोंमें देव सहजभावसे आनन्दसे विचरते हों यह अलग बात है । परन्तु विमानोंके परिभ्रमणके साथ देवोंका भी परिभ्रमण हो ही अथवा देवों विमानोंका जो ५१० योजन प्रमाण चारक्षेत्र हो उससे विशेष क्षेत्रमें देव जा ही न सके वैसा नियम नहीं होता है । स्वैरविहारी होनेसे अपनी मर्यादाके अनुसार नंदीश्वरादि द्वीप आदि स्थानोंमें यथेच्छ जा सकते हैं ।

इन ज्योतिषी निकायके देवोंका कैसा दिव्य सुख होता है? यह बाबत पंचमांग श्री भगवतीसूत्रमेंसे अथवा तो संक्षिप्त ख्याल इसी ग्रन्थमें आगे दिए जानेवाले ज्योतिष निकाय-परिशिष्टमेंसे जान लें ।

चन्द्रमण्डल और सूर्यमण्डलमें तफावत—

चन्द्रके १५ मण्डल हैं जबकि सूर्यके १८४ मण्डल हैं । चन्द्रके १५ मण्डलोंमें से पांच मण्डल जम्बूद्वीपमें और दस मण्डल लवणसमुद्रमें पड़ते हैं । जबकि सूर्यके १८४ मण्डलोंमेंसे ६५ मण्डल जम्बूद्वीपमें हैं और ११९ मण्डल लवणसमुद्रमें पड़ते हैं । चन्द्र विमानकी अपेक्षा सूर्य विमानकी गति शीघ्र है अतः चन्द्रमण्डलोंसे सूर्यमण्डल पास-पास पड़ते हैं । चन्द्र और सूर्यका कुल मण्डलक्षेत्र—चारक्षेत्र ५१० योजन $\frac{५}{६}$ भाग प्रमाणका है, उसमें १८० योजन प्रमाण चारक्षेत्र जम्बूद्वीपमें है और ३३० $\frac{५}{६}$ यो० क्षेत्र लवणसमुद्रमें होता है । सूर्यमण्डलोंमें दक्षिणायन और उत्तरायणके खास मुख्य विभाग हैं, चन्द्र-मण्डलमें वैसे दो विभाग हैं, परन्तु सूर्यवत् नहीं; हैं, और व्यवहारमें भी नहीं आते । चन्द्र मण्डल १५ होनेसे (पांच अंगुलियोंके जिस तरह आंतरे चार उसी तरह) उनके आंतरे—बिच १४ हैं, और सूर्यमण्डलोंकी संख्या १८४ होनेसे उनके आंतरे १८३ हैं । चन्द्रमण्डलके एक अंतरका प्रमाण ३५ $\frac{३}{४}$ योजन है, जब कि सूर्यमण्डलके एक अंतरका प्रमाण दो

योजन है । चन्द्रका मण्डल $\frac{4}{5}$ योजन प्रमाण विष्कम्भवाला है, जबकि सूर्यमण्डल $\frac{4}{5}$ योजन प्रमाण विष्कम्भसम्पन्न है । इत्यादि तफावत स्वयं सोच लेना उचित है ।

॥ प्रथम सूर्य मण्डलोंका अधिकार ॥

[यद्यपि ऋद्धि आदिकी अपेक्षा देखनेसे चन्द्र विशेष महर्द्धिक है अतः सामान्य क्रमानुसार तो चन्द्र मण्डलोंका वक्तव्य प्रथम कहना चाहिए, तथापि समय-आवलम्ब-मुहूर्त-दिवस-पक्ष-मास-अयन-संवत्सर इत्यादि कालका मान सूर्यकी गति पर अवलम्बित होनेके कारण तथा सूर्यमण्डलोंका अधिकार सविस्तर कहनेके लिए प्रथम सूर्यमण्डलोंका सुविस्तृत वर्णन किया जाता है ।]

उसमें प्रथम उसकी गति विषयक वर्णन पांच द्वारोंसे किया जाता है । (?) चारक्षेत्र-प्रमाणप्ररूपणा (२) अन्तरक्षेत्रप्रमाणप्ररूपणा (३) संख्याप्ररूपणा (४) अबाधाप्ररूपणा-तीन प्रकारसे (५) चारगतिप्ररूपणा-सात द्वारोंसे क्रमशः कही जाएगी । उनमेंसे चारक्षेत्र, अन्तर और संख्या ये तीन प्ररूपणाएँ तो इस ग्रन्थमें समाविष्ट हैं ही ।

१. सूर्यके मण्डलोंका चार क्षेत्र प्रमाण—

चन्द्र-सूर्यके मण्डलोंकी संख्यामें यद्यपि बहुत तफावत है, तो भी दोनोंका चार-क्षेत्र तो ५१० यो० $\frac{4}{5}$ भागप्रमाण समान ही है । सूर्यका यह चारक्षेत्र किस तरह प्राप्त होता है यह कहा जाता है । उसमें प्रथम कुल अन्तरक्षेत्र कितना हो ? यह बतया जाता है ।

सूर्यके मण्डल १८४ और उसके आंतरे १८३ हैं । प्रत्येक सूर्यमण्डलका अन्तर-प्रमाण दो योजनका होनेसे सम्पूर्ण अन्तरक्षेत्र [$१८३ \times २ =$] ३६६ यो०का आया । सूर्यके मण्डल १८४ होनेसे और प्रत्येक मण्डलका विस्तार एक योजनका $\frac{4}{5}$ भाग प्रमाण होता होनेसे सर्व मण्डलका कुल विस्तार लानेको—

१८४ मण्डल

× ४८

८८३२ इकसठवें भाग आए । उनके योजन करनेके लिए—

६१) ८८३२ (१४४

६१

पहले आए हुए सूर्यमण्डलके अन्तरक्षेत्रके

२७३

३६६ योजनमें आए मण्डल क्षेत्र के

२४४

यो० १४४-४८ भाग जोड़नेसे

०२९२

५१० यो० ४८ भाग सूर्यका

२४४

चारक्षेत्र प्रमाण ।

००४८ भाग

सूर्यमण्डलका चारक्षेत्रप्रमाण लानेका दूसरा उपाय—

सूर्य विमानका विष्कम्भ $\frac{१}{६}$ भागका होनेसे और सूर्यके मण्डल १८४ होनेसे उस १८४ मण्डल संख्याका इकसठवाँ भाग निकालना, एक मण्डलका विस्तार इकसठवाँ ४८ भाग प्रमाण होनेसे उस भागको १८४ मण्डलोंसे गुना करें, जो संख्या आवे उसे एक बाजू पर रखें।

अब १८४ मण्डलोंके १८३ आंतरीका इकसठवाँ भाग निकालें, इसके लिए प्रत्येक अन्तरका प्रमाण जो दो योजनका है उसे आंतरेके साथ गुना करे, ऐसा करने पर इस अन्तरक्षेत्रके इकसठवें भागोंकी जो संख्या आवे उस संख्यामें प्रथमके १८४ मण्डल विषयक विष्कम्भके इकसठवें भागोंकी जो संख्या उसे प्रक्षिप्त करके दोनोंका जोड़ करें, इससे जो संख्या प्राप्त हो उस भागसंख्याके योजन करनेके लिए उसे ६१से बटा करे, जिससे ५१० यो० $\frac{१}{६}$ सूर्यका चारक्षेत्र प्राप्त होगा।

वह इस तरह—

$$१८४ \times ४८ = ८८३२ \text{ भाग विमान विस्तारके,}$$

$$१८३ \times २ = ३६६ \text{ योजन अन्तरक्षेत्र विस्तारके}$$

$$\times ६१$$

२२३२६ इकसठवें भाग आए	८८३२ भागोंमें
६१) ३११५८ (५१० यो०	+ २२३२६
<u>३०५</u>	<u>३११५८ इकसठवें भाग</u>
००६५	
६१ = ५१० यो० $\frac{१}{६}$ भाग चार क्षेत्र प्रमाण। इति चार क्षेत्र प्ररूपणा ॥१॥	
<u>०४८</u>	

२—सूर्यमण्डलका दो योजनका अन्तरप्रमाण लानेकी रीति—

प्रथम तो सूर्यमण्डलोंका ५१० यो० $\frac{१}{६}$ भागप्रमाणका जो चारक्षेत्र है उसके इकसठवें भाग कर डालें, पश्चात् सूर्यके मण्डलोंकी १८४की संख्याके साथ प्रति मण्डलके विस्तारका अर्थात् इकसठवें ४८ भागके साथ गुना करें, गुना करनेसे जो संख्या आवे उसे, ५१० यो० $\frac{१}{६}$ चारक्षेत्रके आए इकसठवें भागोंकी संख्यामेंसे कम करें, जिससे शेष क्षेत्रांश प्रमाण [१८३ अन्तरक्षेत्र प्रमाण] रहेगा। इस क्षेत्रांशके आए भागोंके साथ प्रत्येक मण्डलका [२ योजनका] अन्तर प्रमाण लानेको १८३से बटा करें, बटा करनेसे इकसठवें भागोंकी जो संख्या प्राप्त हो, उसके पुनः योजन करनेके लिए इकसठसे बटा करें। जिससे दो योजन (परस्पर) सूर्यमण्डलका अन्तरप्रमाण प्राप्त होगा जैसे कि—

५१० × ६१ = ३१११० ऊपरांत ४८ अंश जोड़नेसे ३११५८ इकसठवाँ भाग प्रमाण चारक्षेत्र आया । १८४ मण्डल विस्तारके भाग पानेके लिए १८४ × ४८ = ८८३२ आए, इसे चारक्षेत्रकी जो भागसंख्या ३११५८ आई है उसमेंसे कम करने पर २२३२६ क्षेत्रांश भाग शेष रहे, आंतरे १८३ होनेसे और प्रत्येकका अन्तर पानेके लिए २२३२६को १८३से बटा करनेसे १२२ इकसठवें भाग आए, उनके योजन बनानेके लिए ६१से बटा करनेसे दो योजन प्रमाण सूर्यमण्डलका अन्तरक्षेत्र प्राप्त होता है ।

सूर्यमण्डलोंका अन्तरनिःसारण लानेकी अन्य रीति—

सूर्यके मण्डल १८४, अन्तर १८३ है तथा सूर्यका विमान $\frac{६६}{११}$ यो० प्रमाण है—
अब मण्डल १८४ होनेसे

$$\times ४८$$

१४७२ प्रत्येक मण्डल विस्तारके साथ गुना करनेसे

$$\times ७३६$$

कुल ८८३२ इकसठवें भाग १८४ मण्डलके आए ।

उनके योजन करनेके लिए ६१से बटा करनेसे—

$$६१) ८८३२ (१४४ \text{ यो०}$$

$$\underline{६१}$$

$$२७३$$

$$\underline{२४४}$$

$$०२९२$$

$$\underline{२४४} \text{ इकसठवें भाग}$$

$$०४८ \text{ शेष रहे ।}$$

यो० इकसठवें

सूर्यमण्डलका चारक्षेत्र ५१०-४८ भाग

उनमेंसे सर्व मण्डलोंका १४४-४८ भाग

प्रमाण विष्कम्भक्षेत्र आया

उसे कम करनेसे ३६६-० यो० आए ।

अब १८४ मण्डलके अन्तर १८३ हैं, १८३ अन्तरका क्षेत्र ३६६ यो०, तो एक अन्तरका क्षेत्र कितना? इस तरह त्रिराशी करते = २ योजन प्रमाण अन्तरक्षेत्र होता है, ऐसा उत्तर मिलेगा । इति अन्तरक्षेत्रप्रमाणप्ररूपणा ॥ २ ॥

३—सूर्यमण्डल संख्या और उसकी व्यवस्था—

सूर्यके कुल १८४ मण्डल हैं, उनमेंसे ६५ मण्डल जम्बूद्वीपमें हैं और ये जम्बूद्वीपमें १८० यो० अवगाह कर रहे हैं परन्तु इन ६५ मण्डलोंका सामान्यतः चारक्षेत्र एकसौ अस्सी योजनका है ।

यहाँ शंका होगी कि ६५ मण्डलोंका ६४ आंतरेका प्रमाण और ६५ मण्डलोंका विमान विष्कम्भ इकट्ठा करें तो कुल क्षेत्र १७९ यो० $\frac{६६}{११}$ भाग प्राप्त होता है और आपने

तो जम्बूद्वीपमें १८० योजन क्षेत्र कहा, तो यह किस तरह बने ?

इसके लिए यहाँ पर प्रथम तो यह समझना उचित है कि ६५वाँ मण्डल पूर्ण किस स्थानमें होता है ? तो जम्बूद्वीपकी चार योजन चौड़ी ऐसी जो पर्यन्त जगती, वह जब $\frac{५३}{६६}$ भाग जितनी शेष रहे तब पूर्ण हो और तब तक तो १७९ यो० $\frac{६६}{६६}$ भाग क्षेत्र होता है ।

अब ६५वाँ मण्डल पूर्ण होने पर ६६वें मण्डलमें जम्बूद्वीपकी जगतीके ऊपर प्रारम्भ किया और उस जगती पर $\frac{५३}{६६}$ भाग जितना चारक्षेत्र घूमकर (यहाँ जम्बूद्वीपकी जगती पूर्ण होकर) जम्बूद्वीपकी जगतीसे १ यो० $\frac{६६}{६६}$ भाग जितनी दूर लवणसमुद्रमें जाए तब वहाँ ६६ मण्डल पूर्ण हुए कहलाते । (६६वें मण्डलका जम्बूद्वीपके जगतीगत $\frac{५३}{६६}$ भागका क्षेत्र और लवणसमुद्रगत १ यो० $\frac{६६}{६६}$ भागका क्षेत्र मिलाने पर ६५वें मण्डलसे लेकर ६६वें मण्डलके बिचका २ योजन अन्तरप्रमाण भी मिल जाएगा ।) अब पहले ६५ मण्डलोंका जम्बूद्वीपगत होता जो १७९ यो० $\frac{६६}{६६}$ भाग प्रमाण चारक्षेत्र उसमें ६६वें मण्डलसे रक्ता जम्बूद्वीप (जगती) गत जो $\frac{५३}{६६}$ ^{२२८}भागका मण्डलक्षेत्र जोड़नेसे १८० योजन पूर्ण होते हैं ।

इस तरह शेष ११९ सूर्यमण्डल लवणसमुद्रगत ३३० योजन और ४८ भाग अंश प्रमाण क्षेत्र रोककर रहे हैं । जम्बूद्वीपगत और लवणसमुद्रवर्ती मण्डलोंकी संख्याका और उन दोनोवर्ती क्षेत्रका जोड़ करनेसे १८४ मण्डलोंका ५१० यो० ४८ भाग प्रमाण क्षेत्र बराबर आ जाता है ।

इस चालू ग्रन्थकारके अभिप्रायसे जम्बूद्वीपवर्ती ^{२२८}भारत सूर्यके जो ६५ मण्डल उनमेंसे ६२ ^{२३०}मण्डल तो मेरुकी एक करवट—बाजू पर निषधपर्वतके ऊपर पडता है और

२२८. हरएक द्वीप—समुद्रवर्ती आए जगती—किलोंका क्षेत्रप्रमाण उस-उस द्वीप—समुद्रका जो जो विस्तार—प्रमाण हो उसके अन्तर्गत लेनेका होनेसे यहाँ भी १८० योजनमें क्षेत्रप्रमाण जंबूजगतीक्षेत्रके साथ समझकर कहा है । अतः ही जम्बूद्वीपमें चार योजनका जो जगती प्रमाण है उसे हरिवर्ष तथा रम्यक्षेत्रकी लम्बाईमें साथमें गिना है । [देखिए क्षत्रस० गा० १३]

२२९. जो सूर्य सर्वाभ्यन्तर—द्वितीयमंडलमें दक्षिणार्धभागमें रहा हुआ भरतक्षेत्रमें उदित होकर नूतन सूर्यसंवत्सरका प्रारम्भ करे वह 'भारतसूर्य' और उसी समय जो सूर्य सर्वाभ्यन्तरके द्वितीयमंडलके उत्तरार्ध भागमें रहकर, ऐरवतादि क्षेत्रोंमें उदित होकर (प्रकाश करता हुआ) वहाँ वर्षारम्भ करनेवाला जो सूर्य वह 'ऐरवतसूर्य' ऐसा समझना । यह कथन औपचारिक समझना ।

२३०. यहाँ यह समझनेका है कि दोनो संग्रहणी की मूल गाथाओंमें तीन अथवा दो मंडलोंके लिए 'बाहा' ऐसा शब्द प्रयोग किया है, जब कि उस ग्रंथकी टीकामें उस बाहा शब्दके स्पष्टार्थके रूपमें 'द्वे द्वे व. सं. २८

शेष तीन मण्डल अग्निकोनेमें हरिवर्षक्षेत्रकी बाहाके ऊपर (अथवा जीवाकोटी पर) पडता

हरिवर्षजीवाकोट्यादौ' इस तरह जीवाकोटी स्थानका निर्देश किया है; इससे विचारशील व्यक्तिको भ्रम होता है कि मूल गाथाओंमें रहे 'बाहा' शब्दका अर्थ 'बाहा स्थान' ऐसा फलितार्थ न करके 'जीवाकोटी' ऐसा क्यों किया? इसके लिए ऐसा समझना कि 'बाहा' शब्द स्पष्ट स्थानवाचक नहीं है, साथ ही जीवाकोटी यह औपचारिक बाहाकी चौड़ाईका ही एक देशभाग है (जो जीवा-बाहाकी परिभाषासे तथा चित्र देखनेसे स्पष्ट मालूम होगा) अर्थात् प्रसिद्ध ऐसी बाहाकी लंबाई और जगतीकी चौड़ाई (विष्कम्भ नहीं) उसका देशभाग उसे जीवाकोटी कहा जाता है। क्योंकि बाहा, एक प्रदेश मोटी और उस उस क्षेत्रादि जितनी दीर्घ गिन सकते, और उसकी... त्रिकोण काटकोन जैसी चौड़ाई उस बाहाकी औपचारिक चौड़ाई गिनी जाए कि जिसमें जगती और हरिवर्ष क्षेत्र भी है। और इसीलिए सिद्धान्तमें इस वस्तुके निर्देश प्रसंग पर मुख्यतया 'जीवाकोटी' शब्द ही ग्रहण किया है। इस कारणसे जहाँ 'बाहा' शब्द आवे वहाँ जीवाकोटी स्थानको ग्रहण करनेमें अन्य अनौचित्य नहीं दीखता और "जीवाकोटी" ऐसा शब्द जहाँ आवे वहाँ तो वह स्पष्ट ही है। यहाँ इसमें ऐसा न समझना कि बाहा और जीवाकोटी एक ही है। परंतु उक्त लेखनसे तो यह निश्चित हुआ कि बाहासे जीवाकोटी शब्दग्रहण अनुचित नहीं है। अब प्रथम 'जीवाकोटी' तथा 'बाहा' शब्दका अर्थ समझ लें।

'जीवा'—धनुषाकारमें रहा जो क्षेत्र उसकी अंतिम चापरूप जो सीमा-हृद उसकी लंबाईरूप जो डोरी वह। जैसे कि—धनुषाकारमें रहा भरतक्षेत्र जहाँ (मेरुकी तरफ) पूर्ण हुआ वहाँ पूर्व-पश्चिम लम्बाईरूप मर्यादा करनेवाली डोरी 'जीवा' कहलाती, और उस जीवाके पूर्व-पश्चिमगत जो कोने होते हैं वे 'कोटी' कहलाते। अर्थात् जीवाकी कोटी—'जीवाकोटी' कहलाता है।

'बाहा' = लघुहिमवंत पर्वतकी पूर्व-पश्चिमकी जीवासे महाहिमवंत पर्वतकी दोनों दिशाओंमें रहा जो जीवास्थान है वहाँ तक क्रमशः वृद्धि पाता हुआ जो क्षेत्रप्रदेश और उससे होता बाहारूप आकार 'बाहा' कहलाता है।

अब उस स्थानके बारेमें तीन मतांतर हैं, उनमें प्रथम दो मत निर्देश किये जाते हैं।

(१) मलधारी श्रीमद् हेमचंद्रसूरिकृत इस चालू संहरणोंमें तथा श्रीमद् मुनिचन्द्रसूरिकृत मंडलप्रकरणमें ६२ मंडल निषध-नीलवंतमें और ६३-६४-६५ वे अंतिम तीन मंडल बाहास्थानमें जगाते हैं।

(२) श्रीमद् जिनभद्राणिक्षमा० कृत संहरणोंमें ६४-६५ दो मंडल बाहास्थानमें सूचित करते हैं।

उक्त दोनों मतोंका समाधान—बाहास्थानमें प्रथम मतसे तीन मंडल और दूसरे मतसे दो मंडल उल्लिखित होनेसे वक्तव्यमें संख्याका भिन्नत्व दीखता है, फिर भी वह आपेक्षिक कथन होनेसे दोषरूप नहीं है, तथापि बाहास्थानमें दो अथवा तीन मंडल वास्तविक है तदपि वह स्थाननिर्णय स्पष्ट तो है ही नहीं। जबकि 'जीवाकोटी' शब्द दोनों कथनके लिए अत्यन्त स्पष्ट और स्थानसूचक होता है। विशेषतः बाहास्थानके तीन मंडलोंका वक्तव्य विशेष स्पष्ट युक्त है इतना ही नहीं लेकिन तीन मंडलोंके लिए तो बाहा-जीवाकोटी या जगती तीनों शब्द उपयोगी हो सकते हैं। जो नीचेकी आकृति देखनेपर स्पष्ट मालूम होगा।

वैसे ही (क्षेत्र-अपेक्षासे) मेरुकी दूसरी बाजू पर देखें तो ऐरवत सूर्यके बयासठ

सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे लेकर जम्बूजगती पर्यन्त १८० योजनका चारक्षेत्र द्वीपमें गिननेका स्पष्ट है अतः सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे लेकर १७३वें यो०से दृष्टजगती शुरू होती है, (उसमें मध्य [विचकी] दृष्ट जगती पहले मूल जगतीके चार योजनमें) वह १७३से दृष्टजगती तकके चार योजनमें गणितके हिसाबसे ६३वाँ मण्डल पूर्ण उदयवाला और ६४वाँ मण्डल २६ अंश जितना उदय पाता है, इस दृष्ट जगतीके प्रारम्भसे वह (कुल) जगतीके ही पर्यन्त भाग (१७३ से १८० यो०) तक सोचें तो भी ६३-६४-६५ ये तीन मण्डल जगतीके ऊपर आ सकते हैं ।

अब संपूर्ण जगती आश्रयी विचार करने पर प्रथम संपूर्ण जगती १६९ से १८० यो० अर्थात् बारह योजनकी है, [और किसी भी द्वीप-समुद्रका जगती क्षेत्रप्रमाण लघु क्षेत्रसमाप्त मूलमें कहे 'णिअणिअ दीवोदहि मन्त्रगणिय मूलाहि' इस जगतीके विशेषण पदसे उस विशेष द्वीपसमुद्रके कथित प्रमाणमें अन्तर्गत गिननेका होनेसे] सर्वा० मं० से लेकर १६८ यो० पूर्ण होनेपर ६१ मंडल संपूर्णतः पूर्ण होते हैं; ये १६८ योजन पूर्ण होनेपर वास्तविक जगतीका प्रारंभ (मूल विस्तारसे) होता है, उस मूल जगतीके प्रारंभसे १६९-१७२ तकके चार योजनके जगतीक्षेत्रमें ६२वाँ मण्डल पूर्ण उदय पावे और ६३वाँ मण्डल १ यो० १३ भाग जितना उदय पाकर १७३वें यो० से आरंभ होती १७६ यो० तककी दृष्ट जगतीके ऊपर १ यो० ३५ भाग दूर ६३ वाँ मंडल पूर्ण होता है। अवशिष्ट रहे दृष्ट जगती क्षेत्रमें ६४ वाँ मंडल २ यो० २६ भाग जितना उदय पाकर शेष रहे हुए अंतिम चार योजन प्रमाण-१७७ से १८० यो० तकके जगतक्षेत्र पर एक योजनके २२ भाग बीतने पर ६४ वाँ मंडल पूर्ण हो, तत्पश्चात् उसी जगतीके पर ६५वाँ मण्डल संपूर्ण (२ यो० ४८ भाग) उदयवाला होता है, ये ६५ मण्डल पूर्ण होने पर जम्बूद्वीपके ६५ मण्डलोंका कथित १७९ यो० ९ अंश जो चारक्षेत्र वह यथार्थ आ जाए, और शेष बावन अंश प्रमाण जगतीके ऊपर लवणसमुद्रमें आते ६६ वें मण्डलका बावन अंश जितना उदयक्षेत्र समझना ।

इससे क्या हुआ ? कि, १६९ से १८० यो० वर्ती १२ यो० प्रमाणके जगती क्षेत्रके पर ६२-६३-६४-६५ ये चार मण्डल संपूर्ण उदयवाले हों । (६६ वाँ बावन अंश उदयवाला हो)

अब यहाँ विचारणीय यह है कि—शास्त्रकारने जगती शब्दसे १७७ से १८० इन अंतिम चार योजनका जगतीक्षेत्र गिना हो वैसा लगता है; क्योंकि अंतिम जगतीके स्थानमें ऊर्ध्व भागमें ६४ वाँ मंडल २२ अंश जितना उदय पाकर संपूर्ण भ्रमण करके ६५ वें मं०का संपूर्ण उदय होकर बावन अंश जितना ६६ वें का भ्रमण वहाँ हो, इस हिसाबसे ६३ मंडल निषध नीलवंतके ऊपर और ६४-६५ ये दो मण्डल ही अंतिम जगतीके स्थानमें हों, यह कथन वास्तविक है; तो भी उपरोक्त कथनके अनुसार वास्तविक रूपसे तो ६३-६४ मण्डल दृष्ट जगतीके ऊपर है, और जहाँ ६४-६५ वाँ है वहाँ तो वास्तविक जगतीका ढाल है। यद्यपि इससे जगती माननी हो तो माने, परन्तु ६३-६४ मण्डलके योग्य ऐसी दृष्ट जगती स्थानको छोड़कर जगतीका ढाल क्यों माने ? यदि जगतीके ढालको भी गिनना हो तो तो फिर १६९ से १८० यो०

२३१

मण्डल नीलवंत पर्वत पर पड़े दीखते और ३ मण्डल रम्यक्षेत्रकी बाहा-जीवाकोटी पर पड़े दीखते । (इस चालू ग्रन्थकारके मतानुसार जानें)

ये मण्डल अपने भरतक्षेत्रकी तथा ऐरवतक्षेत्रकी अपेक्षा मेरुसे अग्नि तथा घायव्य-कोनेमें दीखते हैं, परन्तु पूर्वमहाविदेहकी ^{२३२}अपेक्षा उन्हें नीलवन्त पर्वतके ऊपरके वे ही ६३ मण्डल मेरुसे ईशान कोनेमें दीखते हैं, और पश्चिम महाविदेहकी अपेक्षा निषध पर्वतके ऊपरके ६३ मण्डल मेरुसे नैऋत्य कोनेमें दीखते हैं । जम्बूद्वीवे णं भंते । दीवे सूरिआ उदिणपाईणमुगच्छ पाईणदाहिणमागच्छंति, पूर्वविदेहापेक्षयेदम् ॥१॥ पाईणदाहिणमुगच्छ-दाहिणपडीणमागच्छंति, भरतक्षेत्रापेक्षयेदम् ॥२॥ दाहिणपडीणमुगच्छपडीणउदीणमागच्छंति, पश्चिमविदेहापेक्षयेदम् ॥३॥ पडीणउदीणमुगच्छउदीणपाईणमागच्छंति, ऐरवतापेक्षयेदम् ॥४॥ [सूर्य० प्र० प्रा० ८-जम्बू० प्रज्ञ०] इतना विवेचन चालू गाथाके अर्थको उद्देशित करके किया ।

तक १२ यो० जगती गिनकर ६२-६३-६४-६५ ये चार मण्डल जगतीके ऊपर कहें तो 'जगती' शब्द सम्पूर्ण सार्थक होता है, और जगतीके तीनों विभागके कथनमें दोष ही नहीं आएगा; अतः ६४-६५ वां मण्डल ढालकी अपेक्षा जगतीके पर होने पर भी '६४-६५ वां जगतीके ऊपर' ऐसा कहना यह सम्पूर्ण सार्थक नहीं दीखता । परन्तु ६४-६५ वां 'जीवाकोटी वा बाहास्थानमें' कहना, यह स्थान स्पष्टताके लिए विशेष उचित है और इसीलिए वह स्थान हरिवर्ष अथवा रम्यक्षेत्रकी जीवाकोटीमें गण्य हो जानेसे उस 'जीवाकोटी' स्थानका ग्रन्थकार महर्षि निर्देश करें उसमें अनौचित्य नहीं है ।

तीनों मतोंके विषयमें व्यवस्थित विवेचन करके ग्रन्थकारके कथनको स्पष्ट किया है । तथापि तीनों मतोंमें अन्तमें जणाये अनुसार उन मण्डलोंके लिए स्थानदर्शक या स्थानसूचक अतिस्पष्ट शब्द तो 'जीवाकोटी' ग्रहण करना विशेष उचित है । इन तीनों मतोंके लिए श्रद्धवाद है; ग्रन्थगौरवके कारणसे इस बाबतमें विशेष उल्लेख न करते हुए विरमते हैं । मेरी छोटी बुद्धिसे चर्चा की हैं । विशेष स्पष्टता ज्ञानीगम्य ।

२३१. मेरुकी एक बाजूके कुल ६५ मण्डल और दूसरी बाजूके कुल ६५ मण्डल इस तरह दो व्याख्याएँ कीं, इससे ऐसा नहीं समझना कि १३० मण्डल समझने हैं । मण्डल सारे-सम्पूर्ण तो पैसठ ही हैं । लेकिन प्रतिदिशावर्ती व्यक्तिको एक बाजूसे स्वदृष्टदिशागत अर्ध अर्ध मण्डल दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि देखनेवाले व्यक्तिको सम्पूर्ण बलयाकार मण्डल दीखता नहीं है, अतः वे स्वस्वक्षेत्रसे दोनों बाजूके मण्डल दोनों विभागोंमें देख सकते हैं अतः यहाँ इस प्रकार व्याख्या की है ।

२३२. विशेषमें यहाँ इतना समझना कि पूर्वविदेहके लोगोंकी जो पश्चिम दिशा वही भारतीय लोगोंकी पूर्व दिशा, भरतकी जो पश्चिम दिशा वही पश्चिम विदेहकी पूर्व दिशा, पश्चिम विदेहकी पश्चिम दिशा वही ऐरवतकी पूर्व दिशा, ऐरवतकी जो पश्चिम दिशा वही पूर्व विदेहकी पूर्व दिशा समझना । इस तरह उन वर्षधरादि युगलिक क्षेत्रोंमें भी सोचना ।

[अब यहाँसे अन्य ग्रन्थोंमें मण्डलोंके सम्बन्धमें ज्ञानसमृद्धि अति पुष्ट बने, जिज्ञासावृत्तिको तृप्त करे ऐसा अधिकार आता है । वह अधिकार स्पष्टतासे यहाँ दिया गया है ।]

उन उन क्षेत्रोंमें उदयास्तविपर्यासका हेतु—

भारतक्षेत्रको छोड़कर अन्य अन्य सर्व क्षेत्रोंमें दिवस और रात्रिके प्रमाणके तफावतके लिए, और इससे उत्पन्न होते दूसरे अनेक विपर्यासोंके कारणोंके लिए, प्रत्येक क्षेत्राश्रयी-नियमित रूपसे उदयास्तादि काल आदिका वर्णन करना तो अशक्य है । साथ ही सर्व स्थल पर सूर्यका उदय एक ही समय पर और अस्त भी एक ही समय पर होता हो वैसा भी नहीं है, परन्तु सूर्यकी गति ज्यों ज्यों कल-कल मात्र आगे बढ़ती जाए, त्यों त्यों आगे आगेके उन उन क्षेत्रोंमें प्रकाश होता जाए । तदवसरे उदयत्व कहा जाए और पश्चात् पश्चात्—क्रमशः उन उन क्षेत्रोंमें सूर्य दूर दूर होता जाए तब 'अस्तपन' कहलाए । सूर्य वास्तविक रूपमें चौबीसों घण्टे प्रकाशमान ही होता है, उसे उदयास्तपन होता नहीं है, लेकिन दूर जाने पर वह और उसका प्रकाश नहीं दीखता तब, 'अस्त' शब्दका मात्र व्यवहार किया जाता है और जब दूसरा सूर्य देखते हैं तब 'उदय'का व्यवहार किया जाता है ।

शंका—जब ऐसी अनियमित व्यवस्था बताई तो क्या हरएक क्षेत्राश्रयी सूर्यका उदय और अस्त अनियमित ही होता है ?

समाधान—हाँ, अनियमितत्व ही है, ज्यों ज्यों समभूतत्वसे ८०० योजन ऊँचा ऐसा सूर्य समय समय पर जिन जिन क्षेत्रोंसे आगे आगे बढ़ता जाए उन उन क्षेत्रोंके पीछेके दूर दूरके क्षेत्रोंमें सूर्यका प्रकाश अगले क्षेत्रमें बढ़नेसे वहाँ प्रकाशका अभाव बढ़ता जाए और अनुक्रमसे उन उन क्षेत्रोंमें रात्रिका आरंभ होता जाए, इससे सूर्यके सर्व सामुदायिक क्षेत्राश्रयी उदय और अस्तका अनियमितत्व ही है, लेकिन यदि स्वस्व क्षेत्राश्रयी सोचें तो तो उदय तथा अस्त लगभग नियमित है, क्योंकि हम भी अगर भारतक्षेत्रके मध्यभागमें खड़े रहकर देखेंगे तो भारतक्षेत्रमें आज जिस समय सूर्यका उदय हुआ और जिस समय अस्त हुआ, उसी सूर्यको अब हम कल देखेंगे तो भी गत दिनके उदयास्तका जो समय था लगभग वही समय आजके सूर्यके उदयास्त समयका हो, लेकिन ऐसा तब बनता है कि जब सूर्य अमुक मण्डलोंमें हो तब अमुक दिनोंमें इस तरह लगभग एक ही अवसर पर उदय तथा एक ही अवसर पर लगभग अस्त हो, परन्तु तदनन्तर वह सूर्य जब अन्य अन्य मण्डलोंमें जैसे जैसे प्रवेश करता जाए तब क्रमशः सूर्यके उदय-अस्त कालमें हमेशा घट-बढ़ होती रहती है, अर्थात् जब जब सूर्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें हो तब दिवसका उदय जल्दी होने पावे और अस्त भी देरीसे होनेके कारण रात्रि छोटी हो (माघमास हेमन्तऋतु) तथा जब सूर्य सर्वबाह्यमण्डलमें हो तब उदय देरीसे और

अस्त जल्दीसे हो तथा रात्रि बड़ी हो, (सावन मास-प्रावृद्धतु) उक्त कारणसे रात्रि-दिवसके उदयास्तका अनियमितपन, तथा इसीसे ही ये रातें और दिन लंबे-नाटे और कम ज्यादा मुहूर्त्त प्रमाणवाले होते हैं; अन्यथा उदय और अस्त स्वस्व क्षेत्राश्रयी तो लगभग नियमित होते हैं ।

उपरोक्त कारणसे यह तो निश्चित होता है कि सूर्य ज्यों ज्यों आगे-आगे बढ़ता जाए और इससे जिन जिन क्षेत्रोंमें प्रकाश होता जाए उन उन क्षेत्रोंके लोग क्रमशः, अपने यहाँ सूर्योदय हुआ ऐसा उच्चारण करें, और जब क्रमशः आगे बढ़ता जाए तब उसी क्षेत्रवर्ती लोग प्रकाशके अभावमें क्रमशः पुनः अस्त हुआ ऐसा उच्चारण करें, जिसके लिए पूर्वमहर्षियोंने कहा है कि—

जह जह समये, समये पुरओ संचरइ भक्खरो गयणे ।
तह तह इओऽवि नियमा जायइ रयणी य भावत्थो ॥ १ ॥
एवं च सइ नराणं उदय-त्थमणाइं होतिऽनिययाइं ।
सयदेस [काल] भेए कस्सइ किंची ववदिस्सइ नियमा ॥ २ ॥
सइ चेव य निदिट्ठो भइमुहूत्तो कमेण सन्वेसिं ।
केसिंचीदाणिं पि य विसयपमाणे रवी जेसिं ॥ ३ ॥

[इति भगवती श. प, उ १ वृत्तौ]

अतः कुल मिलाकर जिस बाजू पर सूर्योदय दृश्यमान हो उन उन क्षेत्रोंकी अथवा देखनेवालोंकी वह पूर्वदिशा और उन क्षेत्रोंमें जिस बाजू पर सूर्यास्त दृश्यमान हो वह उनकी पश्चिमदिशा हो—अर्थात् कोई भी मनुष्य उदय पाये हुए सूर्यके सामने खड़ा रहे तब उसके सम्मुख जो दिशा होती है वह पूर्व, और पीठके पीछे सीधी दिशा वह पश्चिम, उसी मनुष्यकी बाईं बाजूकी दिशा वह उत्तर, और दाहिनी ओरकी दिशा दक्षिण होती है । इस तरह मूल चार दिशाएँ हैं और उन चार दिशाओंमेंसे दो दो दिशाओंके बिच जो कोने पड़ते हैं उन्हें विदिशा अथवा कोणके नामसे पहचानते हैं; अतः पूर्व और उत्तरके बिचकी ईशानदिशा, पश्चिम और उत्तरके बिचकी वायव्यदिशा, दक्षिण और पूर्वके बिचकी अग्निदिशा, दक्षिण और पश्चिमके बिचकी नैऋत्यदिशा और उपलक्षणसे ऊर्ध्व तथा अधोदिशा ऐसे कुल दश दिशाएँ कहलाती हैं ।

—इति सूर्यमण्डलसंख्या-तद्व्यवस्था प्ररूपणा च ॥

मेरुकी अपेक्षासे मण्डल-अबाधा निरूपण—

[यहाँ मण्डलोंकी तीन प्रकारकी अबाधाएँ कहनेकी हैं, इनमें प्रथम मेरुकी अपेक्षासे (सूर्यमण्डलोंकी) ओघसे अबाधा-१, मेरुकी अपेक्षासे प्रत्येक मण्डलकी अबाधा-२, दोनों सूर्यके परस्परके मण्डलकी अबाधा-३, इनमें प्रथम 'ओघसे' अबाधा कहलाती है ।]

मेरुके आश्रयी ओघसे अबाधा—१

इस जम्बूद्वीपवर्ती मेरुसे सर्वाभ्यन्तर मण्डल (अथवा प्रथम मण्डल अथवा तो सूर्यमण्डल क्षेत्र) 'ओघसे ४४८२० योजन दूर होता है। वह किस तरह हो? तो सर्वाभ्यन्तर मण्डल, जम्बूद्वीपमें—जम्बूद्वीपकी जगतीसे अन्दर खसकता, जम्बूके मेरुकी तरफ १८० योजनक्षेत्र अवगाह करके रहा है। इस १८० योजनकी सम्पूर्ण क्षेत्रप्राप्ति सर्वाभ्यन्तर मण्डलमें उत्पत्तिक्षणमें—प्रथम क्षणमें प्राप्त हो उस वक्तकी समझना। चारों बाजू पर यथार्थ न समझना। अतः उस द्वीपके एक लाख योजनप्रमाण विस्तारमेंसे दोनों बाजूके होकर मण्डलक्षेत्रके $१८० + १८० = ३६०$ योजन कम करने पर ९९६४० योजन शेष रहेंगे। उनमेंसे भी ^{२३३}मेरुका दस हजार योजन प्रमाणका व्यास कम करनेसे ८९६४० योजन अवशिष्ट रहेंगे, तत्पश्चात् इसी (८९६४०) राशिके अर्थ करनेसे मेरु पर्वतकी अपेक्षा सर्वाभ्यन्तर मण्डल अथवा मण्डलक्षेत्रका ओघसे अन्तर ४४८२० योजनप्रमाण जो जताया वह इस तरह करनेसे प्राप्त होता है। अतः अर्वाक् तो मण्डल है ही नहीं।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि—जब सर्वाभ्यन्तर मण्डलका (उत्तरायणको समाप्त करके दक्षिणायनके प्रथम मण्डलको आरम्भ करता) भारत सूर्य मेरुसे अग्नि कोनेमें निषध पर्वत पर ४४८२० योजन दूर रहा हो, तब उसकी ही प्रतिपक्षी दिशा (वायव्य)में तिर्छी समश्रेणीमें—नीलवन्त पर्वत पर ऐरवत क्षेत्रमें वर्षारंभ करता हुआ ऐरवत सूर्य भी मेरुसे ४४८२० योजन दूर होता है।

—इति मेरुं प्रतीय मण्डलक्षेत्रस्य ओघतः अबाधा ॥

मेरुके आश्रयीके (आश्रित) प्रत्येक मण्डल विषयक अबाधा-२

पहले मेरु और सर्वाभ्यन्तर मण्डलके बिचकी अबाधा कही। अब मेरुसे प्रत्येक अथवा किसी भी मण्डलकी अबाधा कितनी हो? यह समझनेके लिए सर्वाभ्यन्तर—प्रथम मण्डलसे दूसरे मण्डलके अन्तभाग तकका अन्तराल (अन्तर) प्रमाण २ यो० और $\frac{४८}{११}$ भाग ^{२३४}प्रमाण है, अतः इस अबाधाको—सर्वाभ्यन्तर मण्डल और मेरुके बिच पहले

२३३. इस स्थानमें मेरुका इतना व्यास होना यथार्थ नहीं है तो भी पृथ्वीतल—समभूतलाके पास दस हजार योजनका जो व्यास है, वह व्यास यहाँ व्यवहारनयसे सामान्यतः लिया जाता है, अन्यथा '११ योजन पर एक योजन दोनों बाजू पर घटता है और नन्दनवन स्थानमें तो दोनों बाजू पर एक साथ हजार योजन घटते हैं।' इस हिसाब तो दस हजार योजनमेंसे $७२\frac{६}{११}$ घटाना योग्य है।

२३४ इस दो योजन और ४८ भाग अधिक कहनेका आशय यह है कि—सर्वाभ्यन्तरमण्डलके अंतिम भागसे लेकर दूसरा मण्डल २ योजन दूर है और दूसरे मण्डलके एक योजनके ४८ भागका विस्तार उस अबाधामें साथमें लेनेका है।

जो ४४८२० यो० अबाधा आई है उसमें प्रक्षेपित करनेसे मेरुसे दूसरा मण्डल ४४८२२ यो० और ६६ भागकी अबाधामें रहा है ऐसा उत्तर आएगा । इस तरह तृतीय मण्डलकी अबाधा जाननेके लिए भी दूसरे मण्डलसे तीसरे मण्डलके बिचके २ यो० ६६ भाग प्रमाणको पुनः दूसरे मण्डलकी आई हुई ४४८२२ यो० ६६ भाग अबाधामें प्रक्षेपित करनेसे मेरुसे तीसरे मण्डलकी ४४८२५ यो० ३५ भाग प्रमाण अबाधा आएगी । इस तरह सर्वाभ्यन्तर मण्डलसे लेकर प्रत्येक मण्डलकी उक्त (२ यो० ६६) अन्तर प्रमाण अबाधा पहले निकाले मेरु और सर्वाभ्यन्तरमण्डलके बिचकी (४४८२०) अबाधाके प्रमाणमें बढ़ोतरी करने पर (और साथ साथ इच्छित मण्डलकी भी अबाधा निकालते निकालते) जब सर्वबाह्य-अंतिम मण्डल तक पहुँचे तब वहाँ पर १८४वाँ अंतिम मण्डल—मेरुसे सर्वबाह्यमण्डल, प्रथम क्षणमें ४५३३० योजन प्रमाण अबाधामें रहा होता है ।

उस समय भारतसूर्य मेरुपर्वतसे (४५३३० यो० दूर) अग्निकोनेमें समुद्रमें रहा होता है और उसीकी ही वक्र (कोनेसे कोना) समश्रेणीमें मेरुसे वायव्यकोनमें दूसरा ऐरवतसूर्य (मेरुसे ४५३३० यो० दूर) रहा होता है ।

[यहाँ पर आई ४५३३० योजन अबाधा प्रमाणमेंसे मेरुसे सर्वाभ्यन्तरमण्डल अबाधाके अनुसार जो ४४८२० योजन कम करने पर ५१० योजनका चारक्षेत्र प्राप्त हो और उसमें अन्तिम मण्डलका ६६ भाग विमान विष्कम्भ मिलानेसे ५१०६६ भाग प्रमाण सूर्यमण्डलोंका चारक्षेत्र भी आ सकता है ।] ॥ इति मेरुं प्रतीत्य प्रतिमण्डलमबाधा ॥

अब दोनों सूर्योकी प्रतिमण्डलमें परस्पर अबाधा और व्यवस्था—

जब जम्बूद्वीपके दोनों सूर्य सर्वाभ्यन्तर (प्रथम) मण्डलमें हो अर्थात् मेरुसे पूर्व और ^{२३५}पश्चिममें प्रत्येक सूर्य विरुद्ध दिशामें प्रथम मण्डल स्थानवर्ती चरते हो तब (समश्रेणीमें) उनका परस्पर अन्तर ९९६४० योजन प्रमाण होता है—यह प्रमाण जम्बूद्वीपके एक लख योजन प्रमाण विस्तारमेंसे दोनों बाजूके जम्बूद्वीप विषयक मण्डल क्षेत्रके

२३५. जब सूर्य विमान उत्तर दक्षिणमें वर्तित हो तब कुछ अधिक अन्तरवाले होते हैं; क्योंकि वे पूर्व-पश्चिमवर्ती स्वस्वमण्डल स्थानसे प्रथम क्षणमें गति करे तब उनको ' कर्णकीलिका ' प्रकारकी गतिसे दूर दूर खसकते हुए गमन करना होता है कि जिससे दूसरे दिन उन्हें अनन्तर मण्डलकी कोटीके ऊपर २ योजन दूर पहुँच जाना होता है । अतः वे उत्तर-दक्षिण दिशामें आवे तब मेरुसे अंतर कुछ अधिक रहता है । यदि उस प्रकारकी गति करता न हो तो फिर जहाँसे—जिस स्थानसे निकला वहाँ पुनः गोलकारमें घूमकर लड़ा रहे, लेकिन वैसा बनता ही नहीं है ।

१८० + १८० = ३६० योजन कम करनेसे (पूर्वोक्त संख्याप्रमाण) यथार्थ आ जाता है । वह इस तरह—

सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें रहे दोनों सूर्य जब दूसरे मण्डलमें प्रवेश करते हैं तब उनका परस्पर अन्तर ९९६४५ योजन $\frac{३५}{६}$ भाग प्रमाण होता है क्योंकि जब पूर्व दिशाका एक सूर्य प्रथम मण्डलसे दूसरे मण्डलमें गया तब प्रथम मण्डलकी अपेक्षा विमान-विष्कम्भ सह २ योजन $\frac{५६}{६}$ अंश प्रमाण क्षेत्रसे दूर बढ़ा, तब उस प्रकार पश्चिम दिशावर्त्ती दूसरी बाजूका जो सूर्य वह भी सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे स्वदिशामें दूसरे मण्डलमें गया तब प्रथम मण्डलकी अपेक्षासे यह भी २ योजन ४८ भाग क्षेत्र जितनी दूर गया, इस तरह दोनों बाजूके इन सूर्योंने प्रथम मण्डलमेंसे दूसरे मण्डलमें प्रवेश किया, इससे हरएक मण्डलमें दोनों बाजूका अन्तर—(२ योजन $\frac{५६}{६}$ + २ योजन $\frac{५६}{६}$) इकट्ठा करनेसे (प्रतिमण्डल विस्तार सह अन्तरक्षेत्र प्रमाण) ५ योजन ३५ भाग प्रमाण अबाधाकी वृद्धि (पहले कथित ९९६४० योजनकी अबाधामें) होती जाए ।

इस तरह दूसरे मण्डलसे लेकर प्रत्येक मण्डलमें ५ योजन और ३५ भाग प्रमाण अबाधाकी वृद्धि (९९६४० योजनके प्रमाणमें) करते करते और इस तरह सूर्यके परस्पर अबाधा-प्रमाणको निकालते निकालते, जब (१८४वें) सर्वबाह्यमण्डलमें दोनों सूर्य घूमते घूमते विरुद्ध दिशामें आए हों तब एक सूर्यसे दूसरे सूर्यके विचका परस्पर अन्तरक्षेत्र प्रमाण १ लाख ६६० योजन (१००६६०) प्राप्त होता है । यह प्रमाण मण्डलक्षेत्रकी आदिसे लेकर १८४वाँ मण्डल ५१० योजन दूरवर्त्ती होता है तब समझना । वैसे ही दूसरी बाजू पर भी मण्डलक्षेत्रके आदिसे अन्तिम मण्डल ५१० योजन दूर होता है तब समझना, क्योंकि अन्तिम मण्डलक्षेत्र प्रमाण जो ४८ अंश है उसे गिनतीमें नहीं लेनेका होनेसे १८३ मण्डल-१८३ अन्तरसे दोनों बाजूका होकर १०२० योजन क्षेत्र पूरित हो, उसमें मेरुकी अपेक्षा व्याघातिक सर्वाभ्यन्तरमण्डल अन्तर जो ९९६४० योजन है उसे प्रक्षेपित करनेसे यथार्थ १००६६० योजन प्रमाण आ जाता है ।

“इस समय भारतसूर्य मेरुसे अग्निकोनेमें ४५३३० योजन दूर समुद्रमें सर्व-बाह्यमण्डलमें होता है, जबकि दूसरा ऐरवतसूर्य समश्रेणीमें मेरुसे वायव्यकोनेमें मेरुसे ४५३३० योजन दूर होता है ।

इस तरह उसी मण्डलस्थानमें यदि चन्द्र वर्त्तित हो तो चन्द्र चन्द्रका भी परस्पर अन्तरप्रमाण १००६६० योजन बराबर आ जाए ।”

इस प्रकार सर्वबाह्यमण्डलमें दोनों बाजू पर रहे हुए लवणसमुद्रगत सूर्य जब वापिस आने पर अर्वाक् (उपान्त्य-१८३वें) मण्डलमें प्रवेश करें तब प्रतिमण्डलमें पांच

योजन और ३५ भाग जितनी अबाधाकी हानि होती है, अतः १८३वें मण्डलमें सूर्य-सूर्यका परस्पर अबाधा-अन्तर (मेरुन्याघात सह-१००६६० उसमेंसे कम ५ योजन ३५ भाग) १००६५४ योजन और २६ भाग जितना हो, इस तरह ज्यों ज्यों सूर्य अन्दरके मण्डलोंमें प्रवेश करते जाए त्यों त्यों प्रतिमण्डल '५ योजन ३५ भाग' अबाधा कम करते जाने पर और स्वस्वमण्डल योग्य इच्छित मण्डल प्रमाणको प्राप्त करते हुए जब दोनों सूर्य पुनः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें प्रवेश करके विरुद्ध दिशागत आवे तब दोनों सूर्योंकी पूर्वोक्त-१९६४० योजन प्रमाण जो अबाधा दर्शाई थी वह पुनः बराबर आ जाती है ।

॥ इति मण्डले-मण्डले सूर्ययोः परस्परमबाधानिरूपणम् ॥

तस्मिन् समाप्ते च मण्डलाबाधा प्ररूपणाऽऽख्यं चतुर्थं द्वारं समाप्तम् ॥

[एक दूसरे मण्डलके बिचकी अन्तरप्ररूपणा—सूर्यके मण्डलोंका परस्पर अन्तर प्रमाण दो योजन है । उसे युक्तिपूर्वक लाना हो तो सूर्यके विमान प्रमाण लाता सूर्यमण्डलका ५६ भाग प्रमाण जो विस्तार उसे सर्वमण्डलोंका कुल विस्तार प्रमाण लानेके लिए १८४ से गुना करे तब १४४ योजन ५६ भाग केवल सूर्यमण्डलोंका कुल विस्तार आवे, इस विस्तारको सूर्यमण्डलके ५१० योजन ५६ भाग प्रमाण चारक्षेत्रमेंसे कम करने पर ३६६ योजन अवशिष्ट रहे, यह केवल अन्तर क्षेत्रप्रमाण सूर्यके १८३ मण्डलोंका आधा प्रत्येक मण्डलका अन्तर प्रमाण लानेके लिए १८३से बटा करे तो २ योजन प्रमाण अन्तर प्रत्येक मण्डलका जो कहा वह आ जाएगा ।]

[सूचना—पूर्व बताए अनुसार पांच द्वारोंमेंसे चार द्वारोंका वर्णन किया । अब पांचवाँ चर अथवा गति-द्वारप्ररूपणा कही जाती है । यह प्ररूपणा प्राज्ञपुरुषोंके कथनानुसार सात द्वारोंसे की जाती है । इनमें प्रथम सुगमताके लिए सूर्योदय विधिके साथ अर्धमण्डल संस्थिति, २—प्रतिवर्ष सूर्यमण्डलोंकी गतिकी संख्या प्ररूपणा, ३—संवत्सरके प्रत्येक दिवस तथा रात्रिके प्रमाणकी प्ररूपणा, ४—प्रतिमण्डलमें क्षेत्र विभागानुसार रात्रि-दिवस प्ररूपणा, ५—प्रतिमण्डलोंका परिक्षेप-परिधि, ६—प्रतिमण्डलमें सूर्यका प्रतिमुहूर्त्त गतिमान और ७—प्रतिमण्डलमें दृष्टिपथप्राप्तिप्ररूपणा कही जाएगी ।]

१—मण्डलचार—अर्धमण्डलसंस्थिति—

सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें रहे सूर्योंमेंसे एक सूर्य (भारतसूर्य) जब दक्षिण दिशामें होता है तब दूसरा (ऐरवतसूर्य) सूर्य उत्तर दिशामें होता है । ये दोनों सूर्य विवक्षित मण्डलमें प्रवेश करके उस उस मण्डलको विचरते विचरते, पूर्वापर दोनों सूर्य अर्द्ध अर्द्ध मण्डलचारको करते, जिस जिस दिशाके सूर्यको जिस मण्डलकी जिस दिशाकी अर्द्ध अर्द्ध मण्डलोंकी कोटि पर पहुँचना होता है उस उस दिशागत मण्डलकी कोटिको

अनुलक्ष्य प्रत्येक सूर्य व्यवहारपूर्वक संचरते हुए विशिष्ट प्रकारकी विशिष्ट ^{२३६}गतिसे, अपने अपने योग्य अर्द्ध अर्द्ध मण्डलमें संक्रमण करके प्रत्येक अहोरात्रि पर्यन्तमें २ यो० ६६ भाग क्षेत्रको बिताते हुए और दिनमानमें प्रत्येक मण्डलका संक्रमण करते, हर मुहूर्त भागको खपाते हुए, अन्य अन्य मण्डलोंमें प्रथम क्षणमें संक्रमण करते हैं। वे सूर्य दक्षिणायनमें छः मासके अन्तमें सर्वबाह्यमण्डलमें पहुँचते हैं। और जिस तरह सर्वाभ्यन्तर-मण्डलसे सर्वबाह्यस्थानमें पहुँचे थे वैसे ही पुनः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें उत्तरायणमें छः मासमें लौटते हैं। इस तरह वे दोनों सूर्य एक संवत्सरका काल पूर्ण करते हैं।

वह इस तरह—

उसमें सर्वबाह्यमण्डलसे आया हुआ और सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें दक्षिण पूर्वदिशामें वर्तित सूर्य, प्रथम क्षणमें प्रवेश करता हुआ उस प्रथम क्षणसे ऊर्ध्व-आगे आगे धीरे धीरे सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें विचरता विचरता वह सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे अनन्तर द्वितीय मण्डलाभिमुख गमन करता हुआ जहाँ पहुँचना है उस मण्डलकी कोटिको अनुलक्ष्य किसी ऐसे प्रकारकी (कर्णकीलिका) गति विशेष करके इस तरह मण्डल परिभ्रमण करता है कि जिससे एक अहोरात्रि चार पर्यन्तमें सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे निकला वह सूर्य जब सर्वाभ्यन्तरमण्डलके प्रथम क्षणस्थानसे २ यो० ६६ भाग दूर क्षेत्रमें पहुँचे तब दक्षिणार्द्धके सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे संक्रमण करके मेरुसे वायव्यमें आए हुए उत्तर दिशावर्ती आए द्वितीय अर्द्धमण्डलकी सीमामें आदि प्रदेशमें आवे, अर्थात् दूसरे मण्डलकी कोटीके ऊपर प्रथम क्षणमें आ जाए। तत्पश्चात् वह सूर्य उस प्रकारकी गति विशेष करके प्रथम क्षणसे आगे आगे धीरे धीरे गमन करता करता, दीपककी तरह मेरुके उत्तर भागको प्रकाशित करता हुआ नूतन वर्षके

२३६. यहाँ भेदधातसे होता संक्रमण अर्थात् विवक्षित मण्डलसे अनन्तर मण्डलमें संक्रमण करना चाहते सूर्यने जिस स्थानसे प्रारम्भ किया उसी स्थान पर आकर उस मण्डलके अनन्तर मण्डलके विचर रहा हुआ दो योजनका जो अन्तरक्षेत्र उस क्षेत्रमें पुनः सीधा चलकर फिर दूसरा मण्डल शुरू करता है ऐसा न समझना, यह मान्यता तो परतीर्थिकी है, और इसीलिए ऐसा समझनेसे बड़ा दोष उपस्थित हो जाता है कि एक मण्डलसे दूसरे मण्डलमें भेदधातसे अर्थात् सीधा क्षेत्रगमन करनेमें जो काल बीते उतना काल आगेके मण्डलमें विचरनेके लिए कम हो और इससे दूसरे मण्डलका एक अहोरात्रि काल भी पूर्ण न हो और दूसरा मण्डल पूर्ण विचर न सकनेसे सकल जगत् विदित नियमित रात्रि-दिवस मानमें व्याघात होनेसे अहोरात्रियोंको अनियत होनेके दोषका प्रसंग आ जाएगा अतः यह मत अयुक्त है और उपर्युक्तमत युक्त है क्योंकि इससे विवक्षित स्थानसे सूर्यगमन ही ऐसे प्रकारका करते करते मण्डल चरता है कि एक अहोरात्रि पर्यन्तमें वह अपान्तराल क्षेत्रके साथ अनन्तर मण्डलकी कोटीको एक अहोरात्रि पर्यन्त पहुँच जाता है।

अहोरात्रि अबसाने २ यो० $\frac{5}{6}$ भाग 23° क्षेत्र व्यतिक्रमसे और दिनमानमें $\frac{1}{4}$ भाग मु०की हानि करता हुआ, वह सूर्य दक्षिणाद्धे मण्डलको पसार करके पुनः दक्षिण दिशागत आए हुए तीसरे अर्धमण्डलकी सीमामें-कोटीके ऊपर प्रथम क्षणमें आवे । इस तरह निश्चयसे उक्त उपायसे उस उस मण्डलके आदि प्रदेशमें प्रविष्ट होकर प्रथम क्षणसे आगे आगे धीरे धीरे हरएक (दक्षिण पूर्वगत मण्डलोंमेंसे उत्तर पश्चिमगत मण्डलोंमें, उत्तरपश्चिमगत मण्डलोंमेंसे दक्षिणपूर्वगत मण्डलोंमें) अर्ध अर्ध मण्डलोंमें किसी एक ऐसे प्रकारकी विशिष्ट गतिके गमनसे संक्रमण-परिभ्रमण करता हुआ, उत्तरसे-दक्षिणमें और दक्षिणसे उत्तरमें गमनागमन करता, प्रति अहोरात्रिमें २ यो० ४८ भाग क्षेत्र विताता, प्रतिमण्डलमें उस उस उत्कृष्ट दिनमानमेंसे $\frac{1}{4}$ भागकी हानि करता हुआ, जब जघन्य-रात्रिमानमें उतनी ही वृद्धिमें निमित्तरूप होता, ऐसा वह सूर्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी अपेक्षासे उत्तरदिशागत आए हुए १८२वें मण्डलमें बहिर्भूत सर्वबाह्यमण्डलमें उत्तरार्द्धमण्डल तक पहुँचता है ।

इसी तरह सर्वबाह्यमण्डलसे आया हुआ उत्तर पश्चिम दिशावर्ती सूर्य भी जब सर्वाभ्यन्तरके उत्तरार्द्ध मण्डलमें प्रथम क्षणमें आकर, प्रथम क्षणसे ऊर्ध्व धीरे धीरे किसी ऐसे प्रकारकी गतिविशेषसे वह सर्वाभ्यन्तरके उत्तरार्द्ध मण्डलमेंसे संक्रमण करके पूर्ववत् सर्व व्यवस्था करता हुआ द्वितीय दक्षिणार्ध मण्डलकी कोटीके ऊपर (नूतन संवत्सरके आरम्भ समय पर) आता है । इस तरह वह सूर्य वहाँसे-उत्तर पश्चिमगत मण्डलोंमेंसे दक्षिण पूर्वगत मण्डलोंमें, दक्षिणपूर्वगत मण्डलोंमेंसे उत्तर पश्चिमगत मण्डलोंमें एक एक अहोरात्रि पर्यन्त $\frac{1}{4}$ भाग दिनमानकी हानिमें कारणभूत होता हुआ, प्रत्येक मण्डलमें २ यो० $\frac{5}{6}$ भाग क्षेत्र व्यतिक्रान्त करता हुआ आगे आगेके अर्द्ध अर्द्ध मण्डलोंकी सीमामें प्रथम क्षणमें प्रवेश करता करता, धीरे धीरे उन मण्डलोंको स्वचारसे चरता हुआ सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी अपेक्षासे १८२ अहोरात्रि द्वारा दक्षिण तरफके १८२वें सर्वबाह्यमण्डलमें आता है ।

इस तरह सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे संक्रमण करके आए हुए दोनों सूर्य जब सर्वबाह्यमण्डलमें उत्तर-दक्षिण दिशामें वर्तित होते हैं तब दिनमान जघन्य १२ मुहूर्त्तका और रात्रिमान उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्तका होता है ।

इसी तरह सर्वबाह्यमण्डलमें प्रथम क्षणमें आए हुए दक्षिण तथा उत्तरदिशा स्थानवर्ती सूर्य प्रथम क्षणसे आगे आगे तथाविध गतिसे धीरे धीरे गति करते हैं उनमेंसे उत्तर दिशागत सूर्य एक अहोरात्रि पर्यन्त २ यो० ४८ भाग जितना चरक्षेत्र व्यतिक्रम हो तब

२३७. इस सम्बन्धमें अन्यमतकारों की विपरीत ११ प्रतिपत्ति है वैसे ही दिन-रात्रिमानमें १८. मु० गतिमें ३, तापक्षेत्र विषयमें १२, उसके संस्थान विषयमें १६, लेख्यामें २०, मण्डलपरिधिमें ३, मण्डल संस्थानमें ८ जम्बू-अवगाहनामें ५, इस तरह अलग अलग विषय पर अलग अलग विपरीत मान्यताएँ हैं, वे यहाँ न देते हुए श्रीसूर्यप्रज्ञप्तिमेंसे देख लेनेकी सलाह देते हैं ।

बाह्यमण्डल संक्रमण करके सर्वबाह्यसे अर्वाक्मण्डलके दक्षिणार्द्ध (दक्षिणदिशागत) मण्डलमें प्रथम क्षणमें प्रवेश करता है, उसी समय जब दूसरा दक्षिणदिशागत सूर्य एक अहोरात्रि पर्यन्त २ यो० ४८ भाग जितना क्षेत्र व्यतिक्रम होनेके बाद वह अर्वाक् मण्डलके उत्तरार्द्ध मण्डलमें उत्तरायणके प्रथम क्षणमें विवक्षित कोटी स्थानमें आता है। इस तरह हरएक मण्डलोंमें जाते और आते प्रत्येक मण्डलस्थानमें दोनों सूर्य प्रथम क्षणमें एक साथ प्रवेश करते हैं और युगपत् संक्रमण करते हैं। इस अर्वाक् मण्डलमें सूर्य आनेसे सर्वबाह्यमण्डलमें प्राप्त होते १२ मुहूर्त्त दिनमानमें उत्तरायण होनेसे दिवस वृद्धिगत होनेका है इसलिए ६१ मुहूर्त्त भाग दिनमानमें वृद्धि, जबकि उतनी ही—६१ भाग रात्रिमानमेंसे हानि हुई होती है। सर्वबाह्यसे अर्वाक्मण्डलमें प्रथम क्षणमें आए वे सूर्य सर्वस्व दिशागत अर्ध अर्ध मण्डलोंको अपनी अनादि सिद्ध एक प्रकारकी विशिष्ट गतिसे पूर्ण करते, पूर्वकी तरह लेकिन विपरीत क्रमसे उत्तरार्द्धमण्डलमें रहा हुआ सूर्य दक्षिणार्द्धमें आदि क्षणसे प्रवेश करके और दक्षिणार्द्ध-मण्डलमें रहा हुआ सूर्य उत्तरार्द्धमण्डलके आदि क्षणमें प्रवेश करता हुआ प्रत्येक अहोरात्रि पर्यन्त २ यो० ४८ भाग क्षेत्र बिताता हुआ और दिनमानमें ६१ भागकी वृद्धि और रात्रिमानमें ६१ भागकी हानिमें निमित्तरूप होता हुआ, इस तरह अनुक्रमसे प्रत्येक सूर्य अनन्तर अनन्तर मण्डलाभिमुख चरता हुआ और उन उन मण्डलोंमें, वे दोनों आदि क्षणमें एक साथ आमने सामने प्रवेश करते हुए और उन उन मण्डलोंको चरकर संक्रमण करते वे सूर्य सर्वाभ्यन्तर अर्वाक्मण्डलमें उत्तर-दक्षिण दिशामें आते। अब उस उत्तरार्द्धमण्डलमें रहा सूर्य उस उत्तर-दिशागत मण्डलको विशिष्ट गतिसे चरकर-संक्रमण करके मेरुसे दक्षिणपूर्वमें आए हुए सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें-दक्षिणार्द्धमण्डलमें प्रथम क्षणमें आता है। उस समय यह सूर्य निषधपर्वतके स्थानसे आरम्भ होते सर्वाभ्यन्तरमण्डलके प्रथम क्षणमें नीलवन्त पर्वतके ऊपर आता है, उस समय दोनों सूर्योंने प्रथम क्षणमें जिस क्षेत्रको स्पर्श किया उसके कारण वह सर्वाभ्यन्तरमण्डल ऐसा कहा जाता है। इस तरह छः छः मासके दक्षिणायन-उत्तरायणपूर्वक एक सूर्यसंवत्सर पूर्ण होता है।

सर्वबाह्यमण्डलसे आए हुए ये दोनों सूर्य जब अभ्यन्तरमण्डलमें प्रथम क्षणमें एक दक्षिणमें और एक उत्तरमें आए होते हैं तब दिनमान उत्कृष्ट १८ मुहूर्त्तका और रात्रिमान जघन्य १२ मुहूर्त्तका होता है।

यहाँ इतना समझना कि—सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें जो सूर्य दक्षिणार्द्धमण्डलमें विचरण करता हुआ मेरुके दक्षिणभागमें प्रकाशित था वही भारतसूर्य सर्वबाह्यमण्डलसे अर्वाक्मण्डलमें दक्षिणार्द्धमण्डलको संक्रमण करके जब अंतिम सर्वबाह्यमण्डलमें आदि क्षणमें उत्तरार्द्धमण्डल पर आता है तब (उत्तरदिशामें) प्रकाशित होता है।

और जो सूर्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें उत्तरदिशागत रहकर मेरुके उत्तर भागको प्रकाशित

करता था वही ऐरवतसूर्य सर्वबाह्यमण्डलमें दक्षिणार्द्धमण्डल-दक्षिणदिशागत प्रकाशमान होता है ।

इस तरह वे दोनों सूर्य प्रथम क्षणसे क्रमशः विचरते विचरते सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें अपने अपने प्रारम्भस्थानमें आ जाते हैं ।

इस प्रकार उनका 'मण्डलगतिचार' अथवा 'अर्धमण्डल' संस्थितिचार है ।

सूर्योदय विधि—

जम्बूद्वीपमें दिवस और रात्रिको विभाजित करनेवाला दोनों सूर्यका प्रकाश है । ये दोनों सूर्य जब सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें होते हैं तब भरतादि क्षेत्र स्थानोंमें उदय पाता 'भारतसूर्य' उस दक्षिणपूर्वदिशामें—शुद्ध पूर्वसे अर्वाक् दक्षिणकी तरफ जम्बूकी जगतीसे १८० योजनके अन्दर निषध पर्वत पर उदय पाता है; तब उसी सूर्यस्थानसे तिच्छी समश्रेणीसे उत्तर पश्चिममें वैसे ही नीलवन्त पर्वतके ऊपर प्रथम क्षणमें ऐरवतादि क्षेत्रोंको स्वउदयसे प्रकाशित करता जम्बूद्वीपका 'ऐरवतसूर्य' प्रकाशता है । उसमें दक्षिण-पूर्वमें निषध पर्वत पर रहा हुआ भारतसूर्य जब प्रथम क्षणसे आरम्भ होकर आगे आगे कर्णकीलिका-ढक्की एक विशिष्ट गतिसे भरतकी तरफ बढ़ता बढ़ता मेरुकी दक्षिण दिशामें आए हुए भरतादि क्षेत्रोंको स्वमण्डल परिभ्रमणसे प्रकाशता है तब (भारतसूर्यने जिस समय निषधस्थानमें प्रथम क्षणसे आगे बढ़ना शुरू किया) उसी समय इस बाजू पर तिच्छी समश्रेणी पर उत्तरपूर्वमें नीलवन्तके ऊपर रहा हुआ 'ऐरवतसूर्य' भी प्रथम क्षणसे ऊर्ध्व—आ० मं०से आगे विशिष्ट प्रकारकी स्वमण्डलगतिसे मेरुकी उत्तरमें आए हुए उन ऐरवतादि क्षेत्रोंको प्रकाशमान करता जाता है ।

अब जब भरतकी तरफ आगे बढ़ता हुआ वह भारतसूर्य भरतक्षेत्रमें आकर वहाँसे आगे बढ़ता हुआ दक्षिण-पश्चिमदिशामें आता हुआ (दक्षिण-पश्चिमके मध्यभागके समीप) पश्चिमदिशाके मध्यवर्ती आए हुए पश्चिम महाविदेहक्षेत्रमें उदयरूप होता है और वहाँसे आगे आगे अनन्तर मण्डलकी कोटीको अनुलक्ष्य आगे बढ़ने लगे तब वह सम्पूर्ण पश्चिम महाविदेहक्षेत्रको प्रकाशित कर देता है । इसी तरह जब नीलवन्तपर्वतके स्थानसे गमन करता हुआ ऐरवतसूर्य ऐरवतक्षेत्रमें आकर आगे बढ़ता हुआ उत्तर-पूर्व दिशामें आकर (उत्तर-पूर्व मध्यके समीपमें) पूर्वविदेहमें उदयरूप होता है और क्रमशः अपरमण्डलाभिमुख आगे आगे गमन करता हुआ सम्पूर्ण महाविदेहक्षेत्रको प्रकाशित कर देता है तब सर्वाभ्यन्तर मण्डलके दोनों सूर्योंमेंसे एक सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डलके दक्षिणार्द्धको चर कर अनन्तर मण्डलमें उत्तरार्ध मण्डलकी कोटीके प्रथम क्षणमें पहुँचे होते हैं, इसी तरह उसी वक्त दूसरा सूर्य सर्वाभ्यन्तरके उत्तरार्ध मण्डलको चर कर अनन्तर मण्डलमें दक्षिणार्ध मण्डलकी कोटीके ऊपर प्रथम क्षणमें पहुँचा होता है ।

इस तरह वे प्रथम मण्डलमें विचरते हों तब सम्पूर्ण प्रमाणका (१८ सुहृत्तका)

दिवस और जघन्य प्रमाण (१२ मुहूर्त्तकी) रात्रि होती है। तत्पश्चात्के मण्डलमें उक्तवत् सूर्योदय विधि तथा दिनमान प्रतिमण्डल $\frac{1}{2}$ भाग कम करके सोचना।

इति सर्वाभ्यन्तरमण्डले सूर्योदयविधिः ॥ इति प्रथमद्वारप्ररूपणा समाप्ता ॥

२-प्रतिवर्ष सूर्यमण्डलोंकी गति तथा संख्याप्ररूपणा-

सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें रहे हुए सूर्योमेंसे एक सूर्य जब निषध पर अर्थात् भरतकी अपेक्षा वह दक्षिण-पूर्वमें (मेरुकी अपेक्षा उत्तर-पूर्वमें) हो तब वह सूर्य मेरुके दक्षिण-दिशावर्ती भरतादि क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है, और दूसरा सूर्य उसके सामने तिच्छी दिशामें नीलवन्त पर्वतके ऊपर होता है तथा वह उत्तर पश्चिम दिशामें गमन करता हुआ मेरुके उत्तरदिशावर्ती ऐरवतादि क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है। इस तरह महाविदेहके लिए सोच लेना। ये दोनों सूर्य अपने अपने मण्डलोंकी दिशाकी तरफ स्वस्थानसे मण्डलका प्रारंभ करें, और प्रत्येक सूर्य सर्वाभ्यन्तर-मण्डलको एक अहोरात्रिमें आधा आधा घूमकर पूर्ण करे। इससे प्रत्येक सूर्यको समग्र सर्वाभ्यन्तरमण्डल घूम लेनेके लिए दो अहोरात्रिका समय लगता है, परंतु प्रत्येक मण्डलको दोनों दोनों सूर्योको पूर्ण करनेका होता है अतः प्रत्येक सूर्यको अर्ध अर्ध मण्डल चारके लिए प्राप्त होता है। (अतः जिस जिस दिशामें सूर्य हो उसे दिशागत क्षेत्रमें एक एक अहोरात्रि काल अर्ध अर्ध मण्डल सूर्य चरता जाए वैसे वैसे प्राप्त होता जाए।)

इस सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी प्रथम अहोरात्रि उत्तरायणकी अन्तिम अहोरात्रि कहलती है। इस तरह दोनों सूर्य दो अहोरात्रि कालसे सर्वाभ्यन्तरमण्डलको पूर्ण करके जब दोनों सूर्य दूसरे मण्डलमें प्रथम क्षणमें प्रवेश करे तब वह मण्डल भी पूर्ववत् (प्रथम मण्डलकी तरह) प्रत्येक सूर्यको अर्ध अर्ध चारके लिए प्राप्त होता है और दोनों सूर्य उस मण्डलको दो अहोरात्रि काल होने पर पूर्ण करते हैं, इस तरह इस दूसरे मण्डलकी जो अहोरात्रि वह ^{२३८}शास्त्रीय नूतन-संवत्सरका पहला (शास्त्रीय सावन वदि प्रथमा, अपनी गुजराती आषाढ वदि प्रथमासे) अहोरात्रि कहलती है।

२३८. हाल व्यवहारमें नूतन वर्षका प्रारंभ किसी जगह पर कार्तिक तथा किसी जगह पर चैत्र मासके शुक्ल पक्षकी प्रतिपदासे गिना जाता है। कार्तिक माससे वर्षका प्रारंभ गिननेकी यह प्रवृत्ति विक्रमराजाके समयसे शुरू हुई है। जो राजा प्रजाको अन्वृणां (ऋण रहित) करे उसी राजाका संवत्सर प्रजाजन खुश होकर प्रवर्तित करें ऐसी प्रथा है। विक्रमने वैसा किया था।

इस कार्तिक माससे शुरू होते वर्षारम्भके दिन पर सूर्य युगमर्यादाके अनुसार पहले वर्षमें १०४ या १०५ वें मण्डलमें, दूसरे वर्षमें ९३ वें, तीसरे वर्षमें ८१ वें, चौथे वर्षमें ८९ वें और पांचवें वर्षमें ८७ वें मण्डलमें होता है, यह स्थूल गणित होनेसे कदाचित् ०॥ या १ मण्डलसे अधिक तफावतका सम्भव हो सकता है।

इसीलिए जब सूर्य सर्वबाह्यमण्डलमें आकर सर्वबाह्यमण्डलके दूसरे (१८३वें) मण्डलमें प्रथम क्षणमें प्रवेश करके जिस अहोरात्रिसे इस मण्डलको पूणे करे वह अहोरात्रि 'उत्तरायण'के प्रारम्भकालकी प्रथम अहोरात्रि कहलती है। जिस तरह दक्षिणायनका प्रारम्भ सर्वाभ्यन्तर प्रथम मण्डल वर्ज्य गिना जाता है इस तरह उत्तरायणका प्रारम्भ भी सर्वबाह्यमण्डल वर्ज्य-द्वितीय मण्डलसे गिना जाता है, और वह योग्य ही है, क्योंकि सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डलके द्वितीय मण्डलसे लेकर जब अंतिम सर्वबाह्यमण्डल (प्रथमको वर्जित करके १८३ मण्डल)को घूम ले तब दक्षिणायनका (सूर्य दक्षिण दिशाकी तरफ रहे सर्व बाह्यमण्डलकी तरफ जाता होनेसे) जो छः मासका काल वह यथार्थ प्राप्त होता है। इसी तरह सूर्य जब सर्वबाह्यमण्डलके द्वितीय मण्डलसे प्रारम्भ होकर जब सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें प्रथम क्षणमें आकर उस मण्डलको घूम ले तब उत्तरायणका जो छः मासका काल वह यथार्थ पूर्ण होता है।

यहाँ इतना विशेषमें समझें कि-प्रतिवर्ष दोनों सूर्योका सर्वाभ्यन्तरका प्रथम मण्डल और सर्वबाह्य-वह अंतिम मण्डल, इन दो मण्डलोंको वर्ज्य शेष १८२ मण्डलोंमें (दक्षिणायन प्रसंग पर) जाते और (उत्तरायण प्रसंग पर) आते, इस तरह दो बार जाना-आना होता है। जब कि सर्वाभ्यन्तर और सर्वबाह्यमण्डलमें सूर्योका सम्पूर्ण संवत्सरमें एक ही बार आवागमन होता है। [क्योंकि कल्पनाके रूपमें सोचते सर्वबाह्यमण्डलसे आगे घूमनेके लिए अन्य मण्डल है ही नहीं कि जिससे सूर्योको आगेका मण्डल घूमकर सर्वबाह्यमण्डलमें पुनः—दूसरी बार आनेका बने, वैसे ही सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे अर्वाक्—अन्दर भी मण्डलक्षेत्र नहीं है जिससे सर्वाभ्यन्तर मण्डलमें भी दो बार घूमनेका अवसर प्राप्त हो, यह वस्तु ही नहीं है तो फिर दो बारके आवागमनकी विचारणा ही अयोग्य है।]

इस तरह उन दोनों सूर्योका सर्वाभ्यन्तर और सर्वबाह्यमण्डलका होकर दो अहोरात्रि काल और विचके १८२ मण्डलोंमें सूर्यका संवत्सरमें दो बार आगमन होनेके कारण प्रत्येक मण्डलश्रयी दो अहोरात्रि काल होता होनेसे १८२ मण्डलश्रयी ३६४ दिवस काल—उसमें पूर्वोक्त दो मण्डलोंका दो अहोरात्रिकाल प्रक्षिप्त करनेसे ३६६ दिवस काल एक संवत्सरका प्राप्त होता है।

उपरोक्त कथनानुसार सूर्य दक्षिणाभिमुख गमन करते सर्वाभ्यन्तर मण्डलके द्वितीय मण्डलसे लेकर सर्वबाह्यमण्डलके अन्तिम १८४वें मण्डलमें पहुँचते हैं। यहाँ सर्वबाह्यमण्डल दक्षिणमें होनेसे सूर्यकी दक्षिणाभिमुख गतिके कारण होता छः मासका काल सर्व दक्षिणायनका कहलता है। इस दक्षिणायनका प्रारम्भ हो तबसे सूर्य सर्वबाह्यमण्डलकी तरफ होनेसे क्रमशः उस सूर्यका प्रकाश उन उन क्षेत्रोंमें घटता जाता है, हम उसके तेज की भी मन्दता

देखते हैं, अर्थात् इससे दिनमान ^{२३७}संकीर्ण होता जाता है और रात्रि ^{२४०}लम्बी होती जाती है ।

ये सूर्य जब सर्वबाह्यमण्डलमेंसे पुनः लौटते द्वितीय मण्डलसे लेकर उत्तराभिमुख गमन करते हुए जम्बूद्वीपमें प्रविष्ट होकर सर्वबाह्यमण्डलकी अपेक्षा उत्तर दिशामें रहे सर्वाभ्यन्तर-प्रथममण्डलमें आवे तब दूसरे मण्डलसे सर्वाभ्यन्तरमण्डल तकके १८३ मण्डलोंका परिभ्रमणका ६ मास प्रमाणकाल 'उत्तरायण'का काल कहलाता है, दक्षिणायन पूर्ण होने पर अंतिम मण्डल वर्ज्य द्वितीय मण्डलमें 'उत्तरायण'का प्रारम्भ हो, वहाँसे सूर्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी ओर बढ़ता होनेसे पहले उस सूर्यके प्रकाशमें दक्षिणायन प्रसंग पर हानि होती थी उसके बदले अब क्रमशः उसके तेजमें वृद्धि होती जाए और प्रकाश-क्षेत्र बढ़ाता जाए जिससे उन उन क्षेत्रोंमें क्रमशः दिनमान बढ़ता जाए और रात्रिमान घटता जाए ।

विशेषतः—यहाँ यह भी समझना कि सौरमास-सूर्यसंवत्सर-दक्षिणायन-अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी-युग-पल्योपम-सागरोपम इत्यादि सर्व कालभेदोंको समाप्त होनेका प्रसंग किसी भी मण्डलमें अगर आता हो तो सर्वाभ्यन्तरमण्डल पूर्ण होते ही—अर्थात् केवल दक्षिणायन अथवा कर्कसंक्रातिके प्रथम दिन आषाढी पूर्णिमाको आता है । और साथ ही सर्व प्रकारके कालभेदोंका प्रारम्भ सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें द्वितीय मण्डले अर्थात् दक्षिणायनके छमाही कालके प्रथम दिवसके प्रारम्भके साथ ही सावन वदि १ को (गुजराती) आषाढ़ वदि १ को, अभिजित् नक्षत्रयोगमें प्रावृट् ऋतुके आरम्भमें भरत ऐरवतमें दिवसके आदिमें और विदेहक्षेत्रमें रात्रिके प्रारम्भमें युगका आरम्भ होता है ।

इस तरह सर्वबाह्यमण्डलमेंसे आभ्यन्तरमण्डलमें आते प्रत्येक सूर्यको प्रत्येक मण्डलमें एक एक अहोरात्रिकाल (स्वस्र अर्ध-अर्धमण्डल चरते) होता जाता है । इस तरह सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे सर्वबाह्यमण्डलमें जानेवाले सूर्यको भी प्रतिमण्डल एक एक अहोरात्रिकाल होता है । उत्तरायण-दक्षिणायनका सारा (१८३ + १८३) काल इकट्ठा करने पर ३६६ दिवस प्रमाण होता है । जो दिवस एक संवत्सरप्रमाण है ॥ इति द्वितीय द्वार प्ररूपणा ॥

३—संवत्सरके प्रत्येक रात्रि-दिवसोंकी प्रमाण प्ररूपणा—

जब दोनों सूर्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें दक्षिणके तथा उत्तरके अर्धमण्डलोंमें हों तब दिनमान उत्कृष्टमें उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्तप्रमाण होता है, क्योंकि उत्तरायणकाल पूस माससे शुरू होकर आषाढमासमें छः मास काल पूर्ण होनेको हो तब वह काल अंतिम सीमा पर

२३९-२४०. इस समय दक्षिणायन होनेसे पूर्व दिशामें भी हररोज दक्षिणकी तरफ खसकता खसकता सूर्य दक्षिण दिशाकी तरफ उदय पाता हुआ दीखता है और उत्तरायणमें पूर्व दिशामें भी उत्तरकी तरफ खसकता खसकता सूर्य उत्तरकी तरफ उदित होता हो वैसा दीखता है ।

पहुँचा होता है और सर्वबाह्यमण्डलके द्वितीय मण्डलसे आरम्भ होते उत्तरायण कालमें (सूर्य ज्यों ज्यों सर्वबाह्यमण्डलोंमेंसे सर्वाभ्यन्तरमण्डलोंमें प्रवेश करता जाए त्यों त्यों) दिवस क्रमशः वृद्धिगत होता जाता है ।

और यह सूर्य जब सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें प्रथम क्षण पर आवे तब उत्तरायणकी समाप्तिके अंतिम मण्डलमें आ पहुँचा ऐसा कहा जाता है, अतः उस अंतिम मण्डलमें दिनमान उत्कृष्टमें उत्कृष्ट अठारह मुहूर्त्त प्रमाण हो यह सहज है ।

तत्पश्चात् सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें आ चूके सूर्य दक्षिणायनका आरम्भ करते हुए सर्वबाह्यमण्डलके स्थानकी तरफ जानेकी इच्छासे ज्यों ज्यों अन्य अन्य मण्डलमें गति करते जाते त्यों त्यों निरन्तर क्रमशः दिन घटता जाता, अतः जब वे दोनों सूर्य सर्वाभ्यन्तर मण्डलको घूमकर नूतनसंवत्सर करनेवाले द्वितीय मण्डलमें प्रथम क्षणमें प्रवेश करे तब एक ही मण्डलके आश्रयी, सूर्यकी गति वृद्धिमें एक मुहूर्त्तके $\frac{1}{2}$ भाग मुहूर्त्तका दिनमान कम हो जाता है, जब कि दूसरी बाजू पर सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें जो रात्रिका प्रमाण था उसमें उतनी ही $\frac{1}{2}$ भाग मुहूर्त्तकी प्रथम क्षणमें वृद्धि होती जाए [क्योंकि अहोरात्रिका सिद्ध २४ घण्टे ३० मुहूर्त्तका जो प्रमाण है वह तो यथार्थ रहना ही चाहिए], उसी तरह वह सूर्य जब नूतन सूर्यसंवत्सरके दूसरे अहोरात्रमें अथवा तो सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी अपेक्षा तीसरे मण्डलमें प्रथम क्षणमें प्रवेश कर ले तब $\frac{1}{3}$ भाग दिनमान दूसरे मण्डलके दिनमान प्रमाणमेंसे प्रथम क्षणमें घटता है, [सर्वाभ्यन्तर $\frac{1}{3}$ भाग मुहूर्त्त दिनमान घटता है] जब कि रात्रिप्रमाणमें उतनी ही वृद्धि होती जाती है । इस तरह प्रत्येक मण्डलमें सर्वाभ्यन्तरमण्डलके १८ मुहूर्त्त प्रमाण दिनमानमेंसे अथवा पूर्वपूर्व मण्डलके दिनमानमेंसे एक मुहूर्त्तके इकसठवें दो भाग = $\frac{1}{2}$ भागकी प्रथम क्षणमें हानि होती होती और उस तरह पूर्वपूर्वके रात्रि प्रमाणमें प्रथम क्षणमें उतनी ही ($\frac{1}{2}$ भाग मु०की) वृद्धि होती होती, दोनों सूर्य जब जब तथाप्रकारकी एक गति विशेषसे अनन्तर अनन्तर मण्डलोंमें धीरे धीरे आदि प्रदेशमें होकर, प्रवेश करते हुए सूर्यसंवत्सरमण्डलकी अपेक्षा १८३वें मण्डलमें (सूर्यसंवत्सरमण्डलका प्रारम्भ दूसरे मण्डलसे शुरु होता है अतः सूर्यसंवत्सरमण्डलकी अपेक्षासे १८४वाँ मण्डल १८३वाँ गिना जाता है) अर्थात् सर्वबाह्य-मण्डलमें सर्वाभ्यन्तरमण्डलका दक्षिणवर्ती सूर्य उत्तरमें और उत्तरवर्ती सूर्य दक्षिणमें आवे तब पूर्व सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें जो १८ मुहूर्त्तका दिनमान था उसमेंसे कुल $\frac{3}{5}$ भाग मुहूर्त्त-प्रमाण दिनमान घटता है ।

उन भागोंका मुहूर्त्त निकालनेके लिए ३६६ भागको इकसठसे बटा करनेसे (भागनेसे) कुल ६ मुहूर्त्त प्रमाण दिनमान सर्वाभ्यन्तरमण्डलके १८ मुहूर्त्त प्रमाणमेंसे घट जानेसे १२ मुहूर्त्त प्रमाण दिनमान सर्वबाह्यमण्डलमें सूर्य हो तब होता है । इस तरह पूर्वोक्त नियमानुसार सर्वाभ्यन्तरमण्डलके १२ मुहूर्त्त रात्रि प्रमाणमें वृद्धि करनी होनेसे सूर्य

बाह्यमण्डलमें पहुँचे तब उतनी ही ६ मुहूर्त्त प्रमाण वृद्धि सर्वाभ्यन्तरमण्डलके १२ मुहूर्त्त रात्रिमानमें करनेसे १८ मुहूर्त्त प्रमाण लम्बी रात्रि सूर्य सर्वबाह्यमण्डलमें हो तब होती है; इस तरह दिनमानमें न्यूनता और रात्रिमानमें वृद्धि 'दक्षिणायन' प्रसंगमें हुई ।

इस तरह सर्वबाह्यमण्डलमें पहुँचे सूर्य जब उस अंतिम मण्डलसे संक्रमण करके उसके पूर्वके—(सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी अपेक्षा) १८३वें मण्डलमें दक्षिणवर्ती उत्तरार्द्धमण्डलमें—उत्तरवर्ती दक्षिणार्द्धमण्डलमें प्रवेश करें तब उत्तरायण शुरू होता होनेसे तथा दिवस वृद्धिगत होनेवाला होनेसे (न्यून हुए) दिनमानमें ६३ मुहूर्त्तांशकी वृद्धि सर्वबाह्यमण्डल गत जो दिनमान था उसमें करते जाना और उतने ही प्रमाण ६३ मुहूर्त्तांशकी सर्वबाह्यमण्डलके रात्रिमानमें प्रतिमण्डल क्रमशः कम करते जाना, इस तरह दिनमान बढ़ता जाए और रात्रि घटती जाए, ऐसा करते करते जब वे दोनों सूर्य दक्षिणसे उत्तर तथा उत्तरसे दक्षिणार्द्धके मण्डलोंमें प्रथम क्षणसे प्रवेश करते करते, उत्तरमें रहे सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें प्रथमक्षणमें आवे, तब पूर्व १८ मुहूर्त्त प्रमाणका जो दिनमान और १२ मुहूर्त्त प्रमाणका रात्रिमान कहा था वह यथार्थ आ जाए । इस तरह १८३ अहोरात्रिसे प्रथम दक्षिणायन समाप्त होनेके बाद उतने ही (१८३) अहोरात्रसे उत्तरायण समाप्त हो, इन दोनों अयनोंका (६ + ६ मास कालसे) एक सूर्य संवत्सर भी समाप्त हो ।

यहाँ इतना विशेष समझना कि—जब सूर्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें हो तब बड़ेसे बड़ा १८ ^{२४१} मुहूर्त्तप्रमाण दिन होता है (शास्त्रीय गणितसे प्रथम वर्ष आषाढी पूर्णिमाके दिन) और सर्वबाह्यमण्डलमें सूर्य हो तब छोटेसे छोटा १२ मुहूर्त्तप्रमाण दिन होता है । (शास्त्रीय गणितसे प्रथम वर्षमें माघ मासका छठा दिवस ।)

इस तरह जब सूर्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें हो तब रात्रि कमसे कम १२ ^{२४२} मुहूर्त्त-प्रमाण हो (पहले वर्ष हमारी शास्त्रीय आषाढी पूर्णिमाको) और जब सर्वबाह्यमण्डलमें हो तब रात्रिमान अधिकांश १८ मुहूर्त्तका हो (पहले वर्ष शास्त्रीय माघ वदि ६ को) इससे

२४१. सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें सूर्यकी गति पूर्णिमा-मासके अनुसार और जैन पंचांगके अनुसार दूसरे आषाढ सुदि पूर्णिमाको, सावन वदि द्वादशीको, सावन सुदि ९वींको, सा० वदि छठको और सा० सुदि तीजको (उन्हीं नियत मास-तिथियोंमें) हो और उसी समय १८ मुहूर्त्तप्रमाण दि० और १२ मुहूर्त्तप्रमाण रात्रिमान हो और उन दिनोंमें प्रावृत्त्यनुका प्रथम दिवस और ३१वाँ दिवस अथवा ३१वीं तिथि ही होती है । और वह दिवस या तिथि प्रायः पूर्ण हुई होती है ।

२४२. तब हेमन्तऋतु माघमास पूर्णिमा—मास तथा जैन पंचांगके अनुसार मृग. वदि ६, माघ सुदि ३, पौष सुदि १५, माघ वदि १२, माघ सुदि ९ इन्हीं नियत दिनोंमें १२ मुहूर्त्त दिनमान होता है और हेमन्तऋतुका ३१वाँ दिवस अथवा ३१वीं तिथि युग प्रारम्भकी अपेक्षासे जर्ने ।

यह सिद्ध हुआ कि—समग्र संवत्सरमें बड़ेसे बड़ा (सबसे बड़ा) एक ही दिवस और छोटेसे छोटा (सबसे छोटा) भी एक ही दिवस हो, शेष किसी भी मण्डलमें रात्रिमान तथा दिनमान घट-बढ़ प्रमाणवाला हो ।

विदेहादि क्षेत्रमें तीन मुहूर्त्त विषयक विचारणा—

जब मेरु पर्वतके दक्षिणाद्ध भागमें (निषधसे शुरू हुआ सूर्य स्वचारित अर्द्धमण्डलके मध्यभागमें आवे तब) और उत्तर भागमें—उत्तराद्ध अर्थात् नीलखन्त पर्वतसे शुरू होता सूर्य जब स्वचारित उत्तरकी तरफ चरनेके मण्डलके मध्यभागमें आवे तब—इस तरह दोनों विभागोंमें ऐरवत और भरतक्षेत्रमें दोनों सूर्य परस्पर समश्रेणीमें आए हुए हो तब सूर्यके अस्तित्वके कारण दिवस वर्तित हो उस वक्त मानो दिवसके तेजस्वी-देदीप्यमान-उग्र स्वरूपसे रात्रि भयभीत बनकर अन्यक्षेत्रमें गई न हो? इस तरह सूर्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें होनेसे जघन्य १२ मुहूर्त्त मानवाली रात्रि पूर्व (पूर्वविदेहमें) और पश्चिम (पश्चिमविदेहमें) दिशामें गई होती है ।

अब जब मेरुपर्वतकी पूर्व और पश्चिम दिशामें (दोनों विदेहोंमें) सूर्य वर्तित हो और इससे वहाँ दिवसका अस्तित्व हो तब पूर्ववत् दक्षिण और उत्तर दिशागत जो (भरत-ऐरवत) क्षेत्र हैं उनमें पूर्वविदेहमें जिस तरह रात्रि बताई थी उस तरह यहाँ भी उतने ही मानवाली (१२ मुहूर्त्तकी) जघन्यरात्रि वर्तित होती है ।

इससे यह तो स्पष्ट ही समझना कि—जिन जिन क्षेत्रोंमें जिस जिस कालमें— (जिस जिस मण्डलमें) रात्रिमान १२ मुहूर्त्तका हो, वहाँ उन्हीं क्षेत्रोंमें उस उस कालमें दिनमान अवश्य उत्कृष्ट प्रमाणवाला (१८ मुहूर्त्त) हो; क्योंकि सबसे जघन्यमें जघन्य रात्रिमान—१२ मुहूर्त्त तकका होता है, और सबसे उत्कृष्टमें उत्कृष्ट दिनमान १८ मुहूर्त्त तकका हो सकता है ।

इस कारणसे जहाँ रात्रि सबसे लघुतम-जघन्य हो तब उस उस क्षेत्रगत दिवस सर्वोत्कृष्ट प्रमाणवाला हो ही । और जिस जिस मण्डलमें—जिस जिस कालमें रात्रि अथवा दिवसका प्रमाण (पूर्वोक्त दिवस या रात्रिके जघन्य १२ मुहूर्त्त और उत्कृष्ट १८ मुहूर्त्तके यथार्थ प्रमाणमेंसे) जिन जिन क्षेत्रोंमें जितने जितने अंशसे घट-बढ़वाला हो, तब उन्हीं क्षेत्रोंमें उस काल रात्रि और दिवसका दिनमान भी घट-बढ़वाला होता है ।

यहाँ इतना अवश्य समझ ले कि किरती भी क्षेत्रमें—किसी भी मण्डलमें—किसी भी कालमें अहोरात्र प्रमाण तो तीस मुहूर्त्तका ही होता है । (यद्यपि इतरोमें ब्रह्माकी अपेक्षा अलग है ।) किसी भी क्षेत्रमें, किसी भी कालमें उस अहोरात्रकालमें कदापि फेर-फार हुआ नहीं और होगा भी नहीं, रात्रि अथवा दिवसका प्रमाण भले ही घट-बढ़वाला हुआ

करे लेकिन दोनोंके मानका जोड़ करने पर उक्त तीस मुहूर्त्तका प्रमाण आए बिना नहीं रहेगा ।

शंका—उपर्युक्त लेखन पढ़ने पर किसी पाठकको शंका होगी कि—जब आपने भरत-ऐरवत क्षेत्रमें सूर्यका प्रकाश १८ मुहूर्त्त तक रहा हो तब दोनों पूर्व-पश्चिम विदेहमें केवल १२ मुहूर्त्त प्रमाणवाली (सूर्यके प्रकाशाभावमें) रात्रि वर्तित हो, वह रात्रि पूर्ण होने पर वहाँ कौनसा काल होता है? क्योंकि ये दोनों विदेहगत रात्रिमान पूर्ण होनेपर, वहाँ नहीं होता सूर्यका प्रकाश था नहीं होता रात्रिकाल, क्योंकि वहाँ रात्रि भले ही बीत गई हो लेकिन अब भी भरत, ऐरवत क्षेत्रमें दिनमान अठारह मुहूर्त्तका होनेसे, पूर्वापर दोनों विदेहगत रात्रिमानकी अपेक्षा छः मुहूर्त्तकाल तक सूर्यको भरतक्षेत्रमें (अथवा ऐरवत क्षेत्रमें) प्रकाश देनेका है अर्थात् भरत-ऐरवतक्षेत्रमें ६ मुहूर्त्त प्रमाण दिवस शेष है, तो फिर पूर्व-पश्चिम विदेहमें रात्रिकाल बीतने पर कौनसा काल हो?

समाधान —इस प्रश्नके अनुसंधानमें समझना कि भरतक्षेत्रमें प्रकाश देता हुआ 'भारतसूर्य' क्रमशः पश्चिमविदेहकी अन्तिम हृद्-कोटिकी तरफ दृष्टि रखता हुआ जब भरतक्षेत्रमें पन्द्रह मुहूर्त्त प्रमाण दिनमान पूर्ण करे अर्थात् भरतक्षेत्रमें ३ मुहूर्त्त तक प्रकाश देना शेष रहे तब पूर्व बाजूसे खसकता और पश्चिमगत दूर दूर क्षेत्रमें आगे आगे तेजका प्रसार करते भारतसूर्यके प्रकाशने अभी विदेहक्षेत्रमें नहीं विदेहक्षेत्रके नजदीकके स्थान तक स्पर्शना की होती है । जब कि इस बाजू पर उस वक्त विदेहमें भी रात्रि पूर्ण नहीं हुई होती लेकिन पूर्ण होनेकी कोटिमें आ चुकी होती है । इस समय वह भरतसूर्य भरतक्षेत्रगत संपूर्ण पन्द्रह मुहूर्त्त पूर्ण करता हुआ आगे बढ़े कि तुरन्त ही उसका प्रकाश भी उतना ही दूर दूर आगे आगे फैकता जाए (और पीछे पीछेसे खसकता जाए) क्योंकि सूर्यके प्रकाशकी पूर्व-पश्चिम लम्बाई रूप चौड़ाई जो कि हर समय परावर्तन स्वभाववाली है, परन्तु दो बाजू पर तो सर्वदा समान प्रमाणवाली ही रहती है । अतः सूर्य ज्यों ज्यों खसकता जाए त्यों त्यों जहाँ जहाँ तेज पहुँच सके ऐसे आगे आगेके जो क्षेत्र आवे वहाँ प्रकाश करता जाए । इस नियमानुसार अब तक पन्द्रह मुहूर्त्त काल पूर्ण होने आया था तब सूर्य जिस छोर पर प्रकाश दे रहा था उसके बदले पन्द्रह मुहूर्त्त पूर्ण होनेपर अब उसी सूर्यके प्रकाशने विदेहमें प्रवेश किया; अर्थात् भरतक्षेत्रमें तीन मुहूर्त्तका दिनमान शेष रहा तब वहाँ सूर्योदय हो चुका था । इससे भरतमें अठारह मुहूर्त्त दिनमानमेंसे अन्तिम तीन मुहूर्त्त तक दिवस हो तब वहाँके सूर्योदय कालके प्रारंभके (प्रभातके) तीन मुहूर्त्त होते हैं ।

इससे क्या हुआ कि भरत, ऐरवतक्षेत्रके अस्तसमयके पूर्वका तीन मुहूर्त्त जो काल वह दोनों दिशागत विदेहके सूर्योदयमें कारणरूप होनेसे वही काल वहाँ उदयरूप समझना ।

इस महाविदेहमें जहाँ प्रकाशका होना हो वह स्थान उस महाविदेहके मध्यभागकी अपेक्षासे समझना, विदेहकी चौड़ाईकी जो मध्यभागकी सीमा उसके मध्यभागमें अर्थात् विदेहकी चौड़ाईका जो ^{२४३}मध्यपन उसे ही ग्रहण करनेका है लेकिन लम्बाईकी अपेक्षाका नहीं, जैसे भरतक्षेत्रमें भी दिनमान-रात्रिमान तथा सूर्यका उदय-अस्त, अन्तर, स्थान, प्रमाण आदि सर्वप्रमाणका गिने अर्थात् उस उस सूर्यके उदयास्त स्थानको देखनेकी अपेक्षा भरतक्षेत्रके मध्यभागसे (अयोध्यासे) गिननेकी होती है उसी प्रकारसे विदेहमें भी समझना है।

शंका —आपको उपर्युक्त समाधान करनेकी आवश्यकता हुई, उसके बदले हम पूछते हैं कि जब महाविदेहक्षेत्रमें रात्रि हो तब चन्द्रका अस्तित्व क्यों स्वीकार नहीं किया? क्या सूर्यके प्रकाशाभावसे ही रात्रिकाल होता है और चन्द्रके अस्तित्वके कारण नहीं होता?

समाधान —दिवस अथवा रात्रि करनेमें चन्द्रको किसी भी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् सूर्यमण्डलोंसे होती रात्रि-दिवसकी सिद्धिमें चन्द्रमण्डलोंका साहचर्य अथवा प्रयोजन कुछ भी होता नहीं है; क्योंकि चन्द्रमण्डलोंकी अल्प संख्या, मण्डलोंका सविशेष अन्तर, चन्द्रकी मन्दगति, मुहूर्त्तगति आदिमें सर्वप्रकारसे विपर्यास विचित्र प्रकारसे-विपरीत रीतिसे होता होनेके कारण सूर्यमण्डलकी गतिके साथ साहचर्य कहाँसे हो? कि जिससे वह चन्द्र रात्रि या दिवस करनेमें निमित्तरूप हो? अतः चन्द्रके उदय और अस्त पर रात्रिके उदय और अस्तका आधार है ऐसा तो है ही नहीं। तथा रात्रिके उदय-अस्त पर चन्द्रके उदय-अस्तका आधार है ऐसा भी नहीं है।

यदि चन्द्रके उदय-अस्ताश्रयी रात्रिकालका संभवप नस्वीकृत होता तो भरत आदि क्षेत्रोंमें शुक्ल पक्ष और कृष्णपक्षमें भी हमेशाके लिए सूर्यास्त होनेके बाद चन्द्रमाका दर्शन अवश्य होता ही, जबकि ऐसा तो बनता ही नहीं, विशेषतः प्रत्येक तिथि पर चन्द्रका दृष्टिगोचर होना सूर्यास्तके बाद अनुक्रमसे विलम्बसे होता जाता है, साथ ही तथ्य रूप सोचे तो हमेशा सारी रात्रि पूर्ण होने तक चन्द्रमाका अस्तित्व होना ही चाहिए, तदपि वैसा न होकर यहाँ तो शुक्लपक्षमें अमुक अमुक प्रमाण रात्रिकाल रहनेवाला सूर्योदयके बाद कम-ज्यादा काल भी दृष्टिगोचर होनेवाला और उस उस तिथि पर अमुक अमुक काल रहनेवाला यह चन्द्र होता है, अतः शुक्लपक्षमें चन्द्र आश्रयी रात्रिकाल क्यों न हो? आदि शंका दूर होती है।

२४३. अर्थात् महाविदेहगत खड़ी (स्थित) सीता अथवा सीतोदा नदीकी चौड़ाईका मध्यविन्दु गिनतीमें ले या विजयोकी राजधानीका मध्यभाग गिनतीमें ले? उस स्थानकी स्पष्टता ज्ञात नहीं हुई अतः यथासंभव मध्यभाग विचारें।

कृष्णपक्षमें तो प्रत्येक तिथि पर दो दो घड़ी देर-देरसे चन्द्रदर्शन होनेसे चन्द्रोदयके साथ रात्रिका सम्बन्ध न हो यह स्पष्ट समझा जाता है ।

अतः सूर्यास्त होनेके बाद (यथायोग्य अवसर पर उन उन दिवसोंमें) चन्द्रके उदय होते हैं ऐसा नहीं है, यदि सूर्यास्तके बाद चन्द्रके उदय होते ही और स्वीकृत रहते तो सूर्यके प्रकाशित होने पर दिवसमें भी चन्द्रमाके बिंबकी जो झांकी देख सकते हैं वह भी नहीं देख पाते ।

ऐसे ऐसे अनेक कारणोंसे रात्रिकालको बनानेमें चन्द्रोदय कारणरूप नहीं है, इसीलिए चन्द्रमाके अस्तित्ववाला काल वही रात्रिकाल ऐसा नहीं, किन्तु सूर्यके प्रकाशका अभाववाला काल रात्रिकाल कहलाता है । सूर्यके साथ चन्द्रमाका किसी प्रकारका (खास करके) सम्बन्ध न रखनेमें कारणभूत चन्द्रमाका अपना ही, सूर्यसे अलग ही प्रकारसे मण्डल-चारपन है । इस चारके कारण तो सूर्य और चन्द्र दोनोंका जब राशि-नक्षत्रका सहयोग समान होता है तब वे दोनों ^{२४४} एक ही मण्डलमें-अमावसके दिवस आए होते हैं । और वह जिस दिवस पर आता है वह दिवस ^{२४५} अमावास्या के नामसे प्रसिद्ध है ।

और दूसरे दिन वह चन्द्र पुनः मन्दगत्यादिके कारण हमेशा एक एक मुहूर्त्त सूर्यसे दूर पीछे पूर्णिमा यावत् रहता जाता है इतना प्रास्ताविक वक्तव्य जणाया । अस्तु, अब चालू विषय पर आवें ।

[पहले दोनों विरोधाश्रयी शंका उपस्थित हुई थी उसी तरह जिज्ञासु भरत-ऐरवत क्षेत्राश्रयी शंका उपस्थित करता है ।]

शंका —अथ भरत, ऐरवत क्षेत्रमें जब रात्रि जघन्य १२ मुहूर्त्त प्रमाणवाली हो तब महाविदेहमें दिवस उत्कृष्ट १८ मुहूर्त्त प्रमाणवाला हो, तो उस वक्त भरत-ऐरवतक्षेत्रमें १२ मुहूर्त्त प्रमाणका रात्रिकाल बीतनेपर कौनसा काल होता है ?

समाधान —इस सम्बन्धमें पहले कहा गया खुलासा यहाँ भी समझ लेनेका है, परन्तु उस खुलासेसे यहाँ विपरीत तरह विचारनेका है ।

अर्थात् पूर्व-पश्चिम विदेहमें सूर्यास्तके तीन मुहूर्त्त शेष रहे हों तब भरत-ऐरवत क्षेत्रमें सूर्योदय हो जाए, (और भरत-ऐरवत क्षेत्रमें सूर्यास्तकालके तीन मुहूर्त्त शेष रहे हों तब पूर्व-पश्चिम विदेहमें सूर्योदय हो जाए) इस तरह दोनों प्रकारसे दोनों क्षेत्रोंके सम्बन्धमें समाधान समझ लें ।

२४४. देखिए—सूरेण समं उदयो, चंद्रस अमावसी दिने होह ।

तेमि मंडलमिक्किं-रासिरिक्खं तहिवकं च ॥ १ ॥

२४५. श्रुति ही अमावसका दूसरा नाम 'सूर्यन्दुसंगमः' पड़ा है, उसकी अमा सह वसतोऽप्यां चन्द्राकं

इत्यमावस्या यह उत्पत्ति भी उसी अर्थको प्रकट करती है ।

इस तरह दोनों विदेहगत उदयकालके (रात्रिके आरम्भके पहलेके) जो तीन मुहूर्त्त वे ही भरत-ऐरवत क्षेत्रके अस्तकालके तीन मुहूर्त्त । भरत-ऐरवत क्षेत्रके अस्तकालके जो तीन मुहूर्त्त वे ही पूर्व-पश्चिम विदेह क्षेत्रके उदयकालके कारणरूप होते हैं ।

इस तरह जब दक्षिण और उत्तर दिशागत (भरत-ऐरवत) क्षेत्रोंमें सूर्य प्रभात कर रहे हों तब प्रभातकालका तीन मुहूर्त्तकाल बीतने पर भी, पूर्व और पश्चिम दिशागत जो विदेह क्षेत्र, वहाँ जघन्यरात्रिका प्रारम्भ होता है, इस तरह जब भरत-ऐरवत क्षेत्रमें सूर्यास्त होनेके (दोपहरके पश्चात्), ३ मुहूर्त्त शेष रहे हों तब, दोनों विदेहगत क्षेत्रोंमें प्रभात हुआ हो । इन तीन मुहूर्त्तोंके बीतनेके बाद तो उक्त दिशाओंमें सूर्य स्वगतिके अनुसार क्रमशः दिवसकी पूर्णाहुति करते रहते हैं ।

साथ साथ यह भी जतानेकी जरूरत है कि—जब २४^६ पन्द्रह मुहूर्त्त दिनमान और पन्द्रह मुहूर्त्त रात्रिमान हों अर्थात् दोनों मान समान प्रमाणवाले हों तब तो विदेह क्षेत्रके तीन मुहूर्त्तोंके सम्बन्धमें कुछ भी विचारणा करनेकी आवश्यकता नहीं रहती । परन्तु ऐसे दिवस वर्षमें दो ही बार आते हैं, जब सूर्य सर्वाभ्यन्तरमण्डलके दूसरे मण्डलसे दक्षिणायनका प्रारम्भ करे (पहले वर्ष गुजराती आषाढ वदि प्रथमाको) तब $\frac{1}{2}$ भाग मुहूर्त्त न्यून ऐसा १८ मुहूर्त्तका दिनमान हो और १२ $\frac{1}{2}$ मुहूर्त्त रात्रिमान हो । अब उस द्वितीय मण्डलसे बढ़कर सूर्य आगे आगेके मण्डलमें जाता जाए त्यों त्यों दिनमान घटता और रात्रिमान बढ़ता है । इस तरह सूर्य मण्डलकी गतिके अनुसार घट-बढ़ होनेसे जब सूर्य ११॥ वें मण्डलमें आवे, तब वह १८४ मण्डलोंके मध्यभागमें आनेसे तीन मुहूर्त्त दिनमान सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी अपेक्षा कम हुआ, जब कि रात्रिमें उतनी वृद्धि हुई (हमारा उस समय प्रथम वर्ष पर सामान्यतः का० वदि दुज या तीजका दिवस होता है) तब ऐसा दिवस (अंग्रजीमें जिसे Dolstice) आता है, कि जिस दिनका दिनमान १५ मुहूर्त्तका यथार्थ हो और रात्रिमान भी यथार्थ १५ मुहूर्त्तका ही हो अर्थात् १२ घण्टेका हो । जो दिवस ईसाई सनके अनुसार ता. २१वीं मार्चका गिना जाता है । सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे सूर्य ज्यों ज्यों सर्वबाह्यमण्डलोंमें

२४६. व्यवहारादि कार्योंमें ६० घड़ी उपयोगमें ली जाती हैं, वस्तुतः वह भी एक ही है । क्योंकि जब दो घड़ीका एक मुहूर्त्त हो, तब ३० मुहूर्त्त प्रमाण अहोरात्रकी ६० घड़ी यथार्थ आ जाए । इससे ' ३० घड़ी दिनमान और ३० घड़ी रात्रिमान ' हो तब—ऐसा भी शब्दप्रयोग होता है वह एक ही है ।

घण्टेके हिसाबसे ' १२ घण्टे रात्रिमान हो ' तब—ऐसा शब्दप्रयोग भी उपयोग कर सकते हैं । क्योंकि २॥ घड़ीका षण्टा होनेसे ३० घड़ी दिनमानसे ठीक १२ घण्टे दिनमानके और १२ घण्टे रात्रिमानके मिलकर २४ घण्टोंका एक अहोरात्र होता है, उसके मुहूर्त्त ३० होते हैं ।

प्रवेश करता जाए त्यों त्यों भरतादि क्षेत्रोंमें दिनमान (इन्द्र भाग) घटता जाता है और रात्रिमानमें उतनी ही वृद्धि होती जाती है, इस पूर्वोक्त नियमानुसार सूर्य पुनः ९१॥ वें मण्डलमें आवे तब समान दिनमान और समान रात्रिमान करनेवाले होते हैं, ये सूर्य बहुत दूर गए होनेसे भरतमें १५ मुहूर्त्त दिनमान प्रमाण दिवस पूर्ण हो तब महाविदेहमें रात्रिमान भी समान प्रमाणवाला होनेसे वहाँ रात्रिका प्रारम्भ हो, जब कि महाविदेहमें रात्रिका आरंभ हो तब भरत-ऐरवत क्षेत्रमें सूर्योदयका प्रारम्भ होता है, इस तरह समान प्रमाणके दिनमान-रात्रिमान होने पर भी, मुहूर्त्तकी घट-बढ़ न होनेसे किसी भी प्रकारकी हरकत नहीं होती।

ये ही सूर्य जब ९१॥ मण्डलसे आगे बढ़ते बढ़ते सर्वबाह्यमण्डलके आदि प्रदेशमें-प्रथम क्षणमें पहुँचे तब, तदाश्रयी पूर्वोक्त प्रमाणवाली १८ मुहूर्त्त प्रमाणकी रात्रि और १२ मुहूर्त्तके मानवाला दिनमान आ जाता है। इस तरह जब सूर्य सर्वबाह्यमण्डलसे पुनः संक्रमण करके (उत्तराभिमुख गमन करता हुआ) अन्दरके मण्डलोंमें प्रवेश करके (इन्द्र भागकी) दिनमानमें वृद्धि करता हुआ और रात्रिमानमें उतनी ही हानि करता करता, प्रतिमण्डलोंको चरता हुआ जब ९१॥ वें मण्डलमें पुनः लौटे तब पुनः उस उत्तरायणमें १५ मुहूर्त्तका दिनमान और १५ मुहूर्त्त रात्रिमान यथार्थ होता (तब हमारे प्रथम वर्षकी चैत वदि ९ होती) ऐसा करते करते सूर्य जब सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें प्रथम क्षणमें आवे तब पूर्वोक्त १८ मुहूर्त्तप्रमाणका दिनमान और १२ मुहूर्त्तप्रमाणका ^{२४७} रात्रिमान यथार्थ होता। इस तरह एक संवत्सर काल पूर्ण होता है।

इस तरह एक अहोरात्र ९१॥ वें मण्डलमें दक्षिणायनका और पुनः लौटते ९१॥ वें मण्डलमें एक अहोरात्र उत्तरायणका इस तरह एक संवत्सरमें दो अहोरात्र और १० अहोरात्र अलग अलग मास-तिथिवाले एक युगमें समान प्रमाणवाले होते हैं। इन दो दिवसोंको (-अहोरात्रको) छोड़कर सारे संवत्सरमें ऐसा एक भी अहोरात्र नहीं होता कि जो अहोरात्र दिनमान और रात्रिमानके समान प्रमाणवाला हो अर्थात् किञ्चित् किञ्चित् घट-बढ़ प्रमाणवाला तो होता ही है। शेष सर्व मण्डलोंमें ^{२४८} रात्रिमान तथा दिनमान यथायोग्य सोचें-विचारें।

अथ जब भरतमें १२ मुहूर्त्तका दिनमान हो और महाविदेहमें १२ घण्टेकी रात्रि हो तब क्या समझना? तो भरतमें (सूर्यास्तके पूर्व) एक मुहूर्त्तसे किञ्चित् न्यून सूर्याश्रयी

२४७. सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे बाह्यमण्डलमें जाने पर दक्षिणायनमें १५ मुहूर्त्तका दिवस और १५ मुहूर्त्तकी रात्रि प्रथम वर्षके कार्तिक वदि दुज या तीजको होता है।

२४८. प्रत्येक मण्डलका रात्रिमान-दिनमान अत्र देने पर विस्तार बहुत बढ़ जानेके कारण पाठक स्वयं निकाल ले, और इतना विषय समझ लेने पर वे जरूर (प्रमाण) निकाल भी सकेंगे।

दिवस हो तब विदेहमें सूर्योदय हो ? ऐसी चर्चा पहले भरतके १८ मुहूर्त्त दिनमान और विदेहके १२ मुहूर्त्तके रात्रिमान प्रसंग पर की है तदनुसार यहाँ विचार लें । जब जब दिनमान और रात्रिमानके अल्पाधिक्यके कारण एक दूसरा क्षेत्राश्रयी संशय लगे तब पूर्वोक्त चर्चा ध्यानमें लेकर जितना जितना जहाँ जहाँ दिन-रात्रिमानका विपर्यय होता हो उसके हिसाबसे गिनती करके समन्वय यथायोग्य कर लें । अत्र हम इस चर्चाका विशेष स्फोट नहीं करते ।

दूसरा यहाँ भरतक्षेत्रमें जो १८ मुहूर्त्तप्रमाण दिवस कहा है वह भरतके किसी भी विभागमें वर्त्तित प्रकाशकी अपेक्षासे नहीं कहा, भरतक्षेत्रके किसी भी विभागमें वर्त्तित प्रकाशकी अपेक्षासे तो आगे जताए अनुसार आठ प्रहर (=३० मुहूर्त्त) तक भी भरतमें सूर्यका प्रकाश हो सकता है । हमें यहाँ १८ मुहूर्त्त लेने हैं उन्हें भरतक्षेत्रके किसी भी विभागमें सूर्योदयसे सूर्यास्त समय तकके कालकी अपेक्षासे लेनेके हैं । आगे कहा जाता १५ मुहूर्त्त अथवा १२ मुहूर्त्तका काल भी इसी तरह समझना है ।

निषध पर्वत पर जब सूर्य आवे तब भरतक्षेत्रके मध्यभागमें रही अयोध्या नगरीके और उसके आस-पासकी अमुक अमुक प्रमाण हृदमें रहनेवालोंको उस सूर्यका अठारह मुहूर्त्त तक दर्शन हो, पश्चात् मेरुको स्वभावसिद्ध गोलकारमें प्रदक्षिणा देता हुआ सूर्य जब निषधसे भरतकी तरफ वलयाकारमें खसका अर्थात् आगे बढ़ा अतः प्रथम जिस अयोध्याकी हृदमें ही प्रकाश पड़ता था अब वह आगेके क्षेत्रमें (मूलस्थानसे जितना क्षेत्र सूर्य वलयाकारमें इस बाजू पर खसका उतना ही प्रकाश इस बाजू पर बढ़ा) प्रकाश पडने लगा ।

उस सूर्यने आगे कौनसा क्षेत्र प्रकाशित किया ?

भरतक्षेत्रकी अपेक्षासे भारत सूर्य निषधमें उदित हुआ हो तब सूर्यके तेजकी लम्बाई अयोध्या तक होनेसे अयोध्याके प्रदेशमें रहनेवाले वतनीको वह सूर्य उदित रूपमें दीखता है, जब कि अयोध्याकी अन्तिम तक अर्थात् जहाँ तक सूर्यके प्रकाशवाला क्षेत्र होता है, उस क्षेत्रको छोड़कर वहाँसे आगेके इस बाजूके समग्र भागमें (भारत सूर्यास्त स्थान तकके पाश्चात्य क्षेत्रोंमें) सर्वत्र अन्धकार होता है ।

यहाँ प्रश्नपूर्वक समाधानकी पद्धति इसलिए स्वीकारी कि हमारे यहाँ सूर्योदय होता है तब कतिपय पाश्चात्य देशोंमें अन्धकार होता है तथा अमुक अलग अलग क्षेत्रोंमें रात्रि अथवा दिवसके अमुक अमुक बजे होते हैं; इस तरह हमारी अपेक्षाके सूर्योदय और सूर्यास्त, वहाँके कालकी अपेक्षासे बहुत अन्तरवाले होते हैं । उनके कारण ख्यालमें लानेके लिए हैं ।

ये पाश्चात्य देश मध्यभरतसे (अयोध्याकी) पश्चिमकी दिशाकी तरफ-पश्चिम समुद्रकी

ओर रहे हुए हैं । वर्तमान पाश्चात्य विभाग उन अदृश्य देशोंकी अपेक्षा बहुत थोड़ा कह सकते । अस्तु ।

तब क्या हुआ ? पूर्व निषधके पर रहा भारत सूर्य भरतक्षेत्रमें (अयोध्यामें) जब उदित हो तब सर्व पाश्चात्य देश-अर्थात् वर्तमान दृष्टिगोचर तथा अदृष्टिगोचर सर्व स्थानोंमें अन्धकार होता है क्योंकि भारतसूर्य अभी भरतमें (अयोध्यामें) उदित हुआ है अतः (अयोध्यासे) आगे तो उस सूर्यके तेजकी लम्बाई समाप्त होनेसे आगे प्रकाश नहीं दे सकता, ऐरवत सूर्य वो ऐरवत क्षेत्रकी तरफ उदय पाया हुआ है; अतः इस बाजू पर पश्चिमके अनार्य देशोंकी तरफ कोई प्रकाश देनेकी उदारता कर सके ऐसा नहीं है अतः भरतसे पश्चिम दिशाकी तरफके समग्र क्षेत्रोंमें और ऐरवत क्षेत्राश्रयी पश्चिम दिशाकी तरफके क्षेत्रोंमें इस तरह दोनों दिशागत क्षेत्रोंमें दोनों सूर्योंके तेजके अभावमें रात्रिकाल वर्तमान होता है ।

इससे स्पष्ट मालूम होगा कि भरतमें (अयोध्यामें) सूर्योदय हो उस समय उन देशोंमें सर्वत्र अन्धकार होनेसे पाश्चात्य देशोंमें सूर्योदय-सूर्यास्तका अन्तर जो है वह स्वाभाविक है ।

अब भरतमें (अयोध्यामें) उदय पाता सूर्य, जब उस विकसित मण्डलस्थानके प्रथम क्षणसे आगे निषधस्थानसे खसकने लगा अतः अन्धकार क्षेत्रोंके आदिके प्रथम-क्षेत्रोंमें (अयोध्याकी हृद छोड़कर पासके क्षेत्रोंमें अर्थात् सूर्य ज्यों ज्यों निषधसे जितना जितना खसकने लगे त्यों त्यों उतने प्रमाण क्षेत्रोंमें स्वप्रकाशकी स्पर्शना करता जाए) प्रकाश देना शुरू हो जाए (पुनः अब तो उससे आगेके पश्चिमगत सर्व क्षेत्रोंमें अन्धकार पड़ा ही है) इस तरह भारत सूर्य, उससे भी आगे भरतक्षेत्रकी तरफ आता जाए, तब जितना आगे बढ़े उतने प्रमाणमें अन्धकारवाले क्षेत्रोंको प्रकाशित करता जाए ।

इस तरह सूर्य ज्यों ज्यों भरतकी तरफ आता जाए त्यों त्यों पाश्चात्य विभागोंमें उस उस क्षेत्रको, क्रमशः प्रकाशित करता जाए । इस तरह भरतके सूर्योदयके समय अमुक विभागमें सम्पूर्ण अन्धकार होता है, अथवा भरतके सूर्योदयके समय उन उन क्षेत्रोंमें दिवसके अथवा रात्रिके अमुक अमुक बजे होते हैं उसका कारण अत्र संक्षिप्तमें प्रदर्शित किया गया । इस परसे सविशेष सर्व विचार विद्वान स्वयं कर लेंगे ।

भरतक्षेत्रके अलग अलग देशोंमें सूर्योदयादि समयके विपर्यास हेतु—

अधिक समझके लिए भरतके मध्यवर्ती अयोध्यामें जिस काल सूर्योदय हुआ उसी समय किसी भी व्यक्तिकी तरफसे अयोध्याकी अमुक हृद छोड़कर पश्चिम दिशागत प्रथमके क्षेत्रोंमें तार-टेलिफोनादि किसी भी साधन द्वारा पूछा जाए कि आपके यहाँ सूर्योदय हुआ

है या नहीं ? उसके प्रत्युत्तरमें जवाब यही मिलेगा कि नहीं, अब तो थोड़ी देर है, प्रभात शुरू हो चुका है। यह प्रश्न तो अयोध्याकी हृदके समीपवर्ती देशके लिए ही होनेसे उपरोक्त जवाब मिलेगा; क्योंकि अयोध्यामें जब सूर्योदय हुआ तब यह देश उसके नजदीक होनेसे वहाँ सूर्यके तेजको पहुँचनेमें देर भी कितनी हो ? अर्थात् थोड़ी ही। अगर अयोध्यामें उदय होनेके बाद अमुक समय होने पर (सूर्य निषधसे खसकने लगे तब) उन्हीं क्षेत्रोंमें पुनः प्रश्न करें कि अब आपके यहाँ उदय हुआ या नहीं ? तब जवाब मिलेगा कि अब उदय हुआ, (आपके यहाँ उस वक्त अमुक समय दिवस चढ़ा हो) उससे भी अगर दूर दूरके क्षेत्रोंके बारेमें पूछताछ करें तो ऐसी खबर मिलेगी कि अब हमारे यहाँ अमुक बजे होनेसे अन्धकार है, इस तरह क्रमशः आगे आगेके पश्चिमकी तरफके देशोंकी पूछताछ करें तो भरतकी अपेक्षा होता अमुक अमुक समयका बढ़ता जाता फेरफार एकत्र करने पर विलयत-इन्ग्लैंड पहुँचने पर उभय देशके स्टैंडर्ड समयकी अपेक्षा लगभग ५॥ से ६ घण्टेका अन्तर हो जाए। अतः जब दिल्लीमें सुबहके ६ बजे हो तब पश्चिमके देशोंमें (६-५॥) साढ़े पांच घण्टे कम करने पर रातके डेढ़ बजे हो; क्योंकि पश्चिमकी तरफ स्थानिक काल पीछे पीछे होता जाता है अतः कम करनेका होता है।

उदाहरण स्वरूप बम्बईसे एक व्यक्ति पश्चिम अर्थात् अफ्रिका-योरपकी तरफ मुसाफिरी करनेको स्टीमरमें शामको सात बजे जाता है तब स्टीमर बम्बई बन्दरगाह छोड़कर १५ रेखांश भूमि पार कर जाए तब घड़ीमें एक घण्टा पीछे करवाते; अर्थात् स्टीमरके चलते वक्त सात बजे थे तो अब १५ रेखांशकी जगह पर पहुँचने पर छः रखवाते; क्योंकि एक रेखांश जितनी भूमि पसार हो तब चार मिनटका तफावत पड़ता है, इस तरह हर पंद्रह रेखांश पर एक एक घण्टा घड़ी पीछे करवाते हैं। अतः जो जहाज बिना रुके सतत गतिसे चलता रहे तो विलयत पहुँचने पर दोपहरके (लगभग) डेढ़ बजे हों और अमरिका-न्यूयार्क पहुँचने पर सुबहके साढ़े सात बजे हो अर्थात् ११॥ घण्टेका लगभग अन्तर होता है।

अब यदि स्टीमर भारतके पूर्व किनारेसे पूर्वकी तरफ आगे आगे बढ़े तो उस तरफ हर पंद्रह रेखांश पर घड़ीको एक एक घण्टा आगे रखवाते हैं, क्योंकि पूर्वके देशोंकी तरफ सूर्यका अगाउ उदय हुआ होनेसे वहाँ दिवस बहुत आगे बढ़ा होता है। वहाँ भी एक रेखांश पर घड़ीको चार मिनट आगे रखनी पड़ती है।

अर्थात् पूर्वकी तरफ संध्या या रात्रि जैसा हो तब पश्चिमकी तरफ कहीं दिवसका प्रारंभ तो कहीं मध्याह्न आदि होता है।

उसी तरह जब विलयतसे खान्ना हुई स्टीमर बम्बईकी ओर आने लगी, तब

घटीयन्त्रके क्रममें (विपरीत) जिस ठिकाने पर जाते जितना समय कम किया था, पुनः लौटने पर उस उस स्थान पर उतना बढ़ाते जाना जिससे पुनः बम्बई आने पर बम्बई स्टान्डर्ड टाइम मिल जाएगा ।

यह नोट (Note) शास्त्रीय कथनका सम्पूर्ण समर्थन करता है, यह निःशंका बात है ।

इस परसे १८ मुहूर्त्तका दिनमान विवक्षित उन क्षेत्रोंमें सूर्योदयसे सूर्यास्त तक अस्तित्व रखनेवाले प्रकाशाश्रयी लेनेका है ।

शंका—यहाँ जिज्ञासुको शायद शंका हो कि सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें गति करता सूर्य जब निषधपर्वत पर आवे तब भरतक्षेत्रमें होता उदय कितनी दूरसे दीखे ?

समाधान—इसके समाधानमें समझना कि—निषध पर सूर्य आवे तब किरणोंका प्रसार बेटरीके प्रकाशवन् सूर्यकी सम्मुख दिशामें ही हो ऐसा नहीं होता, परन्तु प्रकाश तो चारों दिशाओंमें होता है, उसमें मेरुकी तरफ ४४८२० यो०, लवणसमुद्रकी दिशाकी तरफ ३३३३३ $\frac{1}{2}$ यो० (द्वीपमें १८० यो०) जब कि उत्तर तरफ—सिद्धशिला, अर्धचन्द्र कि तीरकमठाकारमें भरतके मानवीको वह सूर्य ४७२६३ $\frac{1}{10}$ यो० दूरसे दीखता है और उस सूर्यस्थानकी पिछली दिशामें ऐरवतकी तरफ भी मण्डलकारमें उतने ही प्रमाणमें किरणोंका प्रसार हो ।

वर्त्तमान पाश्चात्य देशोंका समावेश कहाँ करें ?

प्रश्न—वर्त्तमान एशिया—योरप—अफ्रिका—आस्ट्रेलिया आदिका समावेश जैनदृष्टिसे माने जाते जम्बूद्वीपके (अथवा जम्बूद्वीपके सात क्षेत्रोंमेंसे) एक भरतक्षेत्रवर्त्ती छः खण्डोंमेंसे कितने खण्डोंमें होता है ?

उत्तर—वैतादथ पर्वत तथा वैतादथ पर्वतको भेदकर लवणसमुद्रमें मिलनेवाली गंगा तथा सिन्धुसे भरतक्षेत्रके छः विभाग हुए हैं । उन छः विभागोंमेंसे नीचेके तीन विभागोंमें (दक्षिणार्ध भरतमें) पांचों देशोंका समावेश मानना यह उचित लगता है । और इस तरह माननेमें कोई विरोध आता हो ऐसा नहीं लगता, क्योंकि भरतक्षेत्रकी चौड़ाई ५२६ यो० ६ कला है और नीचेके अर्ध विभागमें रहे तीन खण्डोंकी चौड़ाई समग्र प्रमाणकी अपेक्षा अर्ध प्रमाणसे न्यून प्रमाण है, तो भी पाश्चात्य विद्वान दक्षिण ध्रुवसे उत्तर ध्रुवका जितने मील प्रमाणका अन्तर मानते हैं उससे जरूर दक्षिणार्ध भरतके तीन विभागोंका प्रमाण विशेषाधिक है, क्योंकि पूर्व समुद्रसे—पश्चिम समुद्र पर्यंत भरतक्षेत्रकी लम्बाई १४४७ $\frac{1}{2}$ योजन प्रमाण है । जैन गणितके अनुसार ४०० कोसका एक योजन होनेसे उसके मील्लोंकी संख्या ५७८८४०० है । जब कि समग्र पृथ्वीके एक छोरसे दूसरे

छोर पर्यंतकी (परिधिकी) लम्बाई लगभग २५००० मील प्रमाण मानी जाती है । पूर्व-पश्चिम व्यास ७९२६ मील और उत्तर-दक्षिण व्यास ७९०० मील प्रमाण है । इस अपेक्षासे वत्तमानमें अन्वेषित देशोंका भरतके नीचेके तीन खंडोंमें समावेश करना उसमें किसी भी प्रकारका बाधित हेतु नहीं दीखता ।

अमरिकादि पाश्चात्य क्षेत्रको महाविदेह क्षेत्र क्या माना जाए ?

प्रश्न—आपने जणाया कि पाश्चात्य देशोंका समावेश दक्षिणार्ध भरतमें गिने तो हम लोग भी दक्षिणार्ध भरतमें हैं फिर भी जब जोधपुर-अहमदाबादकी अपेक्षासे इस देशमें सूर्योदय होता है, उस अवसर पर अमरिका आदि दूर देशोंमें लगभग शामका समय हुआ होता है; ऐसा वहाँसे आते वायरलेस, टेलिग्राफ आदिसे जणाया जाता है अर्थात् अमरिकादि देशोंमें होते सूर्योदय तथा सूर्यास्तका अंतर इस देशकी अपेक्षा १० घण्टेका पड़ता है । (और यह क्यों पड़ता है यह पहले बताया गया है) इतना ही नहीं लेकिन उसके अनुसार इंग्लैंड, जर्मनी, तथा खुद हिन्दुस्तानमें भी चार-तीन-एक घण्टेका अंतर अमुक अमुक देशाश्रयी पड़ता है, यह बात जैन शास्त्रोंमें भी सूचित की गई है । जब भरतक्षेत्रमें दिन हो तब महाविदेहक्षेत्रमें रात्रि होती है और जब महाविदेह क्षेत्रमें रात्रि हो तब भरतक्षेत्रमें दिवस होता है । ऐसे एकदेशीय सिद्धान्तका श्रवण करके किसी अर्धदग्धको ऐसा भी कहनेका मन होता कि अमरिकामें इस देशकी अपेक्षासे लगभग उदय-अस्तका विपरीत क्रम हो उस अमरिकाको महाविदेह क्यों न कहा जाए ? तथा शास्त्रके रहस्यको समझनेवाले तो महाविदेहमें सदाकाल चतुर्थ आरा, खुद तीर्थकरका सद्भाव, मोक्षगमनका अविरह, तथा यहाँके मनुष्यमें वहाँ जानेकी शक्तिका अभाव आदि कारणोंसे अमरिकाको महाविदेह कभी नहीं कहेंगे । तब अथ उक्त अंतर पड़ता है उसका कारण क्या ?

उत्तर—प्रथम जता गए उसके अनुसार भरतक्षेत्रकी पूर्वसमुद्रसे-पश्चिमसमुद्र पर्यंत लंबाई १४४७१ $\frac{1}{2}$ यो० प्रमाण है, वर्त्तमानमें जाहिर रूपमें प्रकट हुए (एशियासे अमरिका तकके पांचों खंड) पाश्चात्य देशोंका समावेश भी भरतके दक्षिणार्ध विभागमें होनेका युक्तिपूर्वक हम जता गए हैं । उच्चस्थान पर यंत्रपूर्वक रचा गया घूमता दीपक प्रारम्भमें अपने पासवाले प्रकाशयोग्य क्षेत्रमें प्रकाश देता है, वही दीपक यंत्रके बलसे ज्यों ज्यों आगे खसकता जाता है, त्यों त्यों प्रथम प्रकाशित क्षेत्रके अमुक विभागमें अन्धकार होनेके साथ आगे आगेके क्षेत्रमें प्रकाश देता है । उसी तरह निषधपर्वतके ऊपर उदय पाता सूर्य प्रारम्भमें अपना जितना प्रकाश्यक्षेत्र है उस क्षेत्रमें आते नजदीकके भागको प्रकाश देता है अर्थात् उस स्थानमें रहे मनुष्योंको सूर्यका प्रकाश मिलनेसे सूर्योदय होनेका भान होता है । मेरुकी प्रदक्षिणाके क्रमसे घूमता सूर्य ज्यों ज्यों आगे आता है त्यों त्यों पीछेके क्षेत्रोंमें अन्धकार होनेके साथ क्षेत्र संबन्धी आगे आगेके विभागोंमें प्रकाश होता होनेसे उस समय

सूर्योदय हुआ ऐसा ख्याल आता है। (जो बात पहले कही गई है) और उसी कथनके अनुसार भरतक्षेत्रके अर्ध विभागमें रहे हुए पांचों देशोंमें सूर्योदय तथा सूर्यास्त १२-१० या ८ घण्टे, किंवा क्रमशः घण्टे घण्टेका अन्तर रहे उसमें किसी प्रकारका विरोध आता हो ऐसा नहीं दीखता। इसी वस्तुका विशेष विचार करेंगे तो निश्चित मालूम होगा कि अहमदाबाद, बम्बई या पालितानादि किसी भी विवक्षित एकस्थानाश्रयी दिवसका प्रमाण बारह घण्टे, तेरह घण्टे, चौदह घण्टे या उसमें भी न्यूनाधिक भले रहे लेकिन दक्षिणार्ध भरतके पूर्व छोर पर जबसे सूर्यका प्रकाश पड़ा तबसे ठेठ पश्चिम तकके सूर्यास्तके समयकालको इकट्ठा करेंगे तो आठ प्रहर (अर्थात् २४ घण्टे) तक समग्र भरतक्षेत्रके किसी भी विभागकी अपेक्षा क्रमशः सूर्यके प्रकाशका अस्तित्व हो उसमें किसी भी प्रकारका बाधक हेतु नहीं दीखता। पूर्व निषधके पासकी जगहसे सूर्यका उदय-देखाव होता होनेसे और पश्चिम निषधके पास जाए तब अदृश्य होता होनेसे उसका परिधिक्षेत्र लगभग सवा लाख योजन प्रमाण होता है और घण्टेके पांच हजार योजनके हिसाबसे सूर्यगति गिननेसे चौबीसों घण्टे सूर्य समग्र भरतमें दीखे उसमें हरकत नहीं है। श्री मण्डल प्रकरण^{२४७} आदि ग्रन्थोंमें भी इसी कथनके निश्चयके लिए भरतक्षेत्रमें आठ प्रहर तक सूर्यका प्रकाश होनेका जताया जाता है, यह भी ऊपरकी बातको अधिक पुष्टि देता है। अतः अमरिकामें अमुक स्थल पर इस क्षेत्रकी अपेक्षा सूर्योदय लगभग ११ से १२ घण्टे विलंबित होता है, क्योंकि सूर्यको अपना प्रकाश वहाँ पहुँचानेमें हमारी अपेक्षा विलंब होता है, सूर्य अपना प्रकाश ज्यादासे ज्यादा तिच्छी श्रेणीमें भरतकी तरफ $४७२६३\frac{१}{४}$ यो० देता है। जबकि ये पादचात्य देश उससे दूर-दूर आए हैं। अर्थात् यहाँ दिन हो तब वहाँ रात्रि होती है और वहाँ रात्रि हो तब यहाँ दिन होता है।

इस कारणसे अमरिकाको महाविदेह कल्पित करनेकी मूर्खता करना विचार शून्यता है। इस विचारणाको अधिक विस्तृत न करते यहाँ ही समाप्त करते हैं। इति तृतीय द्वार प्ररूपणा ॥

२४९. षडमपहराइकाला, जम्बूदीवम्भि दोसु पासेसु,

लभन्ति एग समयं, तद्देव सव्वत्थ नरलोप ॥ ३५ ॥

टीका—पद० । प्रथमप्रहरादिका उदयकालादारभ्य रात्रेश्चतुर्थयामान्त्यकालं यावन्मेरोः समन्तादहोरात्रस्य सर्वे कालाः समकालं जम्बूद्वीपे पृथक् पृथक् क्षेत्रे लभ्यन्ते । भावना यथा भरते यदा यतः स्थानात् सूर्य उद्रेति तत्पाश्चात्यानां दूरतराणां लोकानामस्तकालः । उदयस्थानाधोवासिनां जनानां मध्याह्नः एवं केषाञ्चित् प्रथम प्रहरः, केषाञ्चिद् द्वितीयप्रहरः, केषाञ्चित्तृतीयः प्रहरः, क्वचिन्मध्यरात्रः, क्वचित्सन्ध्या, एवं विचारणयाऽष्टप्रहरसम्बन्धी-कालः समकं प्राप्यते । तथैव नरलोके सर्वत्र जम्बूद्वीपगतमेरोः समन्तात् सूर्यप्रमाणेनाष्टप्रहरकालसंभावनं चिन्त्यम् ॥ भावार्थ सुगम है ।

४. चार प्ररूपणा । प्रतिमण्डलमें क्षेत्रविभागानुसाररात्रि-दिवस प्ररूपणा]—

सर्वा० मं० प्ररूपणा—चौथा 'चार प्ररूपणा'का द्वार कहलता है, उसमें प्रथम सर्वाभ्यन्तरमण्डलके ३१५०८९ योजन घेरेके दस विभाग कल्पित करें जिससे प्रत्येक विभाग ३१५०८॥॥ योजन परिधि प्रमाणका हो । इन दस भागोंमेंसे तीन भागको उत्कृष्ट दिवस पर एक सूर्य प्रकाशित करता है, जबकि दूसरा सूर्य उसके सम्मुखके उतने ही प्रमाणके तीन विभागोंको प्रकाशित करता है, अतः आमने-सामने छः विभागोंमें दिवस हो, शेष बीचमें दो दो विभाग रहे उनमें (कुल चार विभागोंमें) रात्रि होती है । इस तरह उत्कृष्ट दिवस पर दस विभागकी व्यवस्था सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें हुई ।

अब सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें जघन्य दिवस हो तब दोनों सूर्य आमने-सामनेकी दिशाके दो दो विभागोंको प्रकाशित करते हैं, अतः चार विभागोंमें दिवस और शेष छः विभागोंमें रात्रि होती है ।

यह प्ररूपणा १८ मुहूर्त्त दिनमान हो तब समझना । उसके बादके प्रतिमण्डलमें प्रकाशक्षेत्र $\frac{३}{४}$ क्षेत्रसे कम होता है और जब इस तरह $\frac{३}{४}$ से रात्रि क्षेत्र बढ़ता जाता है, ऐसा करनेसे सूर्य जब सर्वबाह्यमण्डलमें आवे तब दोनों सूर्य सर्वबाह्यमण्डल परिधिके $\frac{५}{८}$ भागको दिप्त लेश्यासे प्रकाशित करता है और शेष $\frac{६}{८}$ भागको अंधकारसे व्याप्त करता है, इस तरह सूर्य सर्वबाह्यमण्डलसे लौटकर सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें आने पर प्रकाशक्षेत्रमें क्रमशः $\frac{३}{४}$ भागसे वृद्धि करते हैं जबकि अंधकारक्षेत्रमें $\frac{३}{४}$ भागकी न्यूनता करते हैं । जिससे उक्त कथनके अनुसार सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें $\frac{६}{८}$ भाग दिप्त लेश्या-तेजसे प्रकाशित हो ।

इस तरह सूर्यके प्रकाशक्षेत्रके दशांशकी कल्पना पुष्करार्धद्वीप तक विचारना ।

प्रकाश्यक्षेत्रकी आकृतिके सम्बन्धी विचार—

सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें रहे दोनों सूर्यके इस आतप-प्रकाशक्षेत्रकी आकृति लट्टू जैसी, बैटरीमेंसे निकलकर बाहर फैलते तेज जैसी, अथवा बैल-गाडीकी डीले जैसी, तथा ऊर्ध्वमुखी नलिकावाले पुष्पके जैसी है । अतः वह मेरुकी तरफ अर्धवल्याकार जैसी रहती है जब कि समुद्रकी तरफ बैलगाडीके जुँके मूल भागके आकार जैसी बनती है, इस कारणसे मेरुकी तरफ संकुचित और समुद्रकी तरफ विस्तृत हुई है ।

आतपक्षेत्रकी लम्बाई तथा विस्तार—साथ ही दोनों (प्रत्येक) आकृति मेरुसे उत्तर और २५° दक्षिण दिशामें लम्बी होकर रही है । प्रत्येक आकृतिका आरंभ मेरुके अन्तभागसे

२५०. अर्थात् प्रत्येक आकृतिमें सूर्याश्रयी दिशा सोचनी जरूरी है । अर्थात् उस उस आकृतिमें सूर्यको मध्यबिन्दु मानकर उत्तर-दक्षिण लम्बाई और पूर्व-पश्चिमगत सर्वत्र (अव्यवस्थितपनसे) चौड़ाई विचारनी है, जो चित्र देखनेसे स्पष्ट मालूम होगी ।

शुरु होकर लवणसमुद्रके बिच पूर्णता पाई होनेसे उसकी (मेरुसे लेकर लवणसमुद्र पर्यंतकी) लम्बाई ७८३३३ $\frac{१}{२}$ योजन है । इसमेंसे केवल जम्बू-जगति तकका क्षेत्र प्रमाण गिने तो ४५००० योजन हो और शेष ३३३३३ योजन प्रमाण लवणसमुद्रमें प्रत्येक आकृतिका एक बाजू पर होता है ।

इस तरह जिनके मतसे सूर्यका प्रकाश मेरुसे प्रतिघात पाता है उनके मतसे यह समझना ।

परन्तु सूर्यका प्रकाश प्रतिघात नहीं पाता, लेकिन मेरुकी महान गुफाओंमें भी फैलता है उनके मतसे तो मेरु-पर्वतसे अर्ध विस्तारवाली मेरुकी महान गुफाओंके पांच हजार योजन सहित ४५ हजार योजन मिलाकर ८३३३३ $\frac{१}{२}$ योजन तापक्षेत्र प्रमाण कहना ।

यह तापक्षेत्र पूर्व-पश्चिम दिशामें हो तब उसी तरह लम्बाई (चौड़ाई) की व्यवस्था यथायोग्य विचारें ।

सारे मण्डलोंका विचार करने पर तापक्षेत्रकी लम्बाई हमेशा अवस्थित^{२५१} रहती है क्योंकि विपर्यास तो चौड़ाईमें ही परिधिकी वृद्धिके अनुसार अन्दर-बाहर मण्डलमें आते जाते सूर्यके प्रकाश-अन्धकारके क्षेत्रमें हो सकता है ।

आतपक्षेत्रका चौड़ाई-विस्तार—इस तापक्षेत्रकी आकृति मेरुके पास अर्धवलयाकार जैसी होती होनेसे मेरुके पास उसकी चौड़ाई मेरुके परिधिके तीन दशांश ($\frac{३}{१०}$) अर्थात् ४८६ $\frac{३}{१०}$ जितनी होती है, वहाँसे लेकर क्रमशः चौड़ाईमें विस्तारवाली होती हुई समुद्रकी तरफकी चौड़ाई अन्तर्मण्डलके (सर्वाभ्यन्तर) परिधिके तीन दशांश जितनी (९४५३६ योजन $\frac{३}{१०}$ भागकी) होती है ।

इस तापक्षेत्रकी दोनों प्रकारकी चौड़ाई (मेरु तथा लवणसमुद्रकी तरफकी) अनवस्थित-अनिश्चित है क्योंकि दक्षिणायनमें प्रकाशक्षेत्रमें क्रमशः हमेशा $\frac{३}{१०}$ भाग क्षेत्रके जितनी हानि होती है जबकि दक्षिणायनकी समाप्ति उत्तरायणका आरम्भ होनेसे पुनः कम हुए उसी तापक्षेत्रके विस्तारमें पुनः क्रमशः $\frac{३}{१०}$ भाग वृद्धि होने लगती है और इससे मूलप्रमाण आ जाता है । अतः सूर्य जब सर्वबाह्यमण्डलमें पहुँचता है तब $\frac{३}{१०}$ जितना क्षेत्र कम करता है और पुनः लौटकर सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें आवे तब पुनः $\frac{३}{१०}$ बढ़ाता है । यह $\frac{३}{१०}$ क्षेत्र गमनकी हानि-वृद्धि ६ मुहूर्त्तमें गमन कर सके उतनी ही होती है क्योंकि साढेतीस मण्डलमें एक सूर्य १ मुहूर्त्तमें गमन कर सके उतना क्षेत्र बढ़ाता (कम भी करता) है । इति आतपक्षेत्राकृतिविचारः ॥

२५१. परन्तु इतना विशेष समझना कि सूर्य ज्यों ज्यों बहिर्मण्डलमें जाता जाए त्यों त्यों तापक्षेत्र प्रथम मण्डलकी अपेक्षा प्रतिमण्डल क्रमशः दूर दूर खसकता और लवणकी तरफ बढ़ता जाए, परन्तु तापक्षेत्रकी लम्बाईका प्रमाण तो अवस्थित ही रहता है ।

अन्धकार क्षेत्राकृति विचार—अब दोनों सूर्य जब सबसे अन्दरके (सर्वाभ्यन्तर) मण्डलमें हो तब अन्ध पुरुषकी तरह प्रकाशके पीछे लगे अन्धकारक्षेत्रकी आकृति भी पहले कहा उस तरह ऊर्ध्वमुखवाले पुष्पके जैसी है, उसका मेरुसे लेकर लवणसमुद्र पर्यन्तका लम्बाई प्रमाण आतपवत् समान होता है क्योंकि दिनपति-सूर्य अस्त पाता है तब (प्रकाशवत्) मेरुकी गुफा आदिमें भी अन्धकार छा जानेसे इस अन्धकार क्षेत्रकी आकृति प्रकाशक्षेत्रवत् समझना ।

इस अन्धकार क्षेत्रकी सर्वाभ्यन्तर चौड़ाई मेरुके आगे मेरुके परिधिके $\frac{3}{8}$ जितनी अर्थात् ६३२४ $\frac{3}{8}$ जितनी है, और लवणसमुद्रकी तरफ अन्तर्मण्डलके परिधिके $\frac{3}{8}$ जितनी अर्थात् ३३१७ योजनकी होती है; क्योंकि सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें उत्कृष्ट-दिनको अन्धकार-क्षेत्र न्यून होता है ।

इस तरह सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें उत्कृष्ट-दिनको कर्कसंक्रांतिमें सूर्यके आतप तथा अन्धकारक्षेत्रका स्वरूप कहा । अब सर्वबाह्यमण्डलके बारेमें कहते हैं ।

सर्वबाह्यमण्डलप्ररूपणा—अब जब दोनों सूर्य सर्वसे बाहरके मण्डलमें आते हैं तब तापक्षेत्र और अन्धकारक्षेत्रके आकार आदिका स्वरूप तो पूर्ववत् (तापक्षेत्र प्रसंग पर कहा वैसे ही) समझना । केवल समुद्रकी तरफ चौड़ाईके प्रमाणमें फरक पड़ने पर सूर्य सर्वबाह्यमण्डलमें दूर गया, इससे समुद्रकी तरफ आतपक्षेत्रकी चौड़ाई सर्वबाह्यमण्डल परिधिके $\frac{1}{8}$ जितनी (६३६६३ योजन) और वहीं अन्धकार क्षेत्रकी चौड़ाई (अन्धकार व्यास) सर्वबाह्यमण्डल परिधिके $\frac{3}{8}$ जितनी (९५४९४ $\frac{3}{8}$ योजन) होती है अर्थात् सर्वाभ्यन्तर-मण्डलकी अपेक्षा तापक्षेत्र $\frac{1}{8}$ न्यून, जबकि अन्धकारक्षेत्रमें $\frac{1}{8}$ की वृद्धि हुई । इति अन्धकाराकृतिविचारः ।

बाहरके और अन्दरके मण्डलोंमें रहे सूर्यके तापक्षेत्रके अनुसार आतप और अन्धकार क्षेत्रकी वृद्धि-हानि होती है, इससे जब सूर्य सबसे अन्दरके मण्डलमें आवे तब नजदीक और इसीसे तीव्र तेज-तापवायु होता होनेके कारण दिवसके प्रमाणकी वृद्धि (ग्रीष्मऋतुके अन्तमें १८ मुहूर्त्त) होती है । इस कारणसे अत्र तीव्र ताप लगता है और उसी काल अन्धकार क्षेत्रका अल्पत्व होनेसे रात्रिमान भी अल्प होता है ।

साथ ही दोनों सूर्य जब सर्व बाह्यमण्डलमें हो तब वे बहुत दूर होनेसे मन्द तेजवाले दिखते हैं, और अत्र दिनमान संक्षिप्त-छोटा होता है । जब अन्धकार क्षेत्रकी वृद्धि और इससे रात्रिमान बहुत वृद्धिवाला होता है, जब तापक्षेत्र स्वल्प होता है उस वक्त [हेमन्तऋतुमें] जगतमें हिम (ठण्ड) भी पड़ता है ।

साथ ही जिस मण्डलमें तापक्षेत्रका जितना व्यास हो उससे अर्धप्रमाण पूर्व और

पश्चिममें सूर्यकी किरणोंका प्रसार-फैलावा हो और उतनी ही दूरसे सूर्य उस मण्डलमें देख सके, जैसे कि सर्वाभ्यन्तर मण्डलमें सूर्य हों तब एक सूर्याश्रयी पूर्व-पश्चिम किरण विस्तार ४७२६३ $\frac{१}{४}$ योजन होते हैं, उत्तर-दक्षिणमें-मेरुकी तरफ ४४८२० योजन, समुद्रकी तरफ ३३३३३ $\frac{१}{४}$ योजन और द्वीपमें १८० योजन होते हैं ।

इस तरह सर्वबाह्यमण्डलमें दोनों सूर्य विचरते हैं तब पूर्व पश्चिम किरण विस्तार ३१८३१ $\frac{१}{४}$ योजन मेरुकी तरफ समुद्रमें ३३० योजन, द्वीपके अन्दर ४५ हजार योजन है और लवणसमुद्रमें शिखाकी तरफ ३३८०३ $\frac{१}{४}$ योजन है । इति तिर्यक्किरणविस्तारः ।

और ऊर्ध्व किरण विस्तार १०० योजन और अधः-नीचे विस्तार १८०० योजन है, क्योंकि समभूतलसे दोनों सूर्य प्रमाणांगुलसे (४००, मतांतरसे १६०० कोसके योजनके अनुसार) ८०० योजन ऊँचे हैं और समभूतलसे भी एक हजार योजन नीचे अधो ग्राम आए हैं और वहाँ तक उन दोनों सूर्योंकी ताप किरणें प्रसरती हैं अतः ८०० योजन ऊपर और १००० योजन नीचेके होकर १८०० योजनका अधो विस्तार हुआ । इति उर्ध्व-अधो किरणविस्तारः ।

इस तरह क्षेत्रविभाग द्वारा दिवस और रात्रिकी प्ररूपणा चौथे द्वारासे करनेके साथ प्रासंगिक आतप-अन्धकारके आकारादिका भी स्वरूप कहा । इति चतुर्थद्वारप्ररूपणा ॥

५-प्रतिमण्डलमें परिक्षेप-परिधि प्ररूपणा-

किसी भी मण्डलमें एक मुहूर्त्तमें सूर्य कितने योजनकी गति करता है यह जाननेके लिए प्रथम हर एक मण्डलका परिधि पानेकी रीत जाननी चाहिए । इसके लिए प्रथम दोनों बाजूका संयुक्त जम्बूद्वीपगत ३६० योजन जो चरक्षेत्र है उसे जम्बूद्वीपके १ लाख योजनमेंसे कम करने पर ९९६४० योजन आते हैं । इस संख्याका त्रिगुणकरण पद्धतिसे परिधि निकालने पर ३१५०८९ योजनका परिधि सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें आता है ।

अवशिष्ट दूसरे मण्डलसे लेकर १८३ मण्डलोंमें इष्टपरिधि जाननेके पूर्व जिस मण्डलका परिधि जानना हो उसके पूर्वके मण्डल परिधि प्रमाणमें व्यवहारनयसे १८ योजनकी वृद्धि करें ।

अठारहकी वृद्धि करनेका सान्वर्थपन इस लिए है कि किन्हीं भी विवक्षित मण्डलोंसे किन्हीं अनन्तर मण्डलोंका दोनों बाजूका मिलकर ५ योजन, ३५ अंश क्षेत्र बढ़नेवाला होनेसे केवल उस वर्धित क्षेत्रका परिधि निकालें तब त्रिगुणरीतिके अनुसार १७ योजन ३८ अंश आते हैं परन्तु स्थूल-व्यवहार^{२५२} नयसे सुगमताके लिए परिपूर्ण १८ योजन विवक्षा रखकर अभी कार्य करता है ।

१ २५२. सत्तरस ज्योत्षाई, अट्टतीस च एगसट्टिभाग ।

एयंति निच्छरणसंवहारेण, पुण अट्टारस ज्योत्षा ॥

इस नियमके अनुसार सर्वाभ्यन्तर परिधिमें १८ योजनका क्षेपण करने पर (किंचिद्-न्यून) ३१५१०७ योजनका परिधि द्वितीय मण्डलका आता है। तीसरे मण्डलमें भी उसी तरह १८ योजनका क्षेपण करनेसे कुछ न्यून ३१५१२५ योजन आते हैं।

इस तरह १८ योजनका क्षेपण करनेसे इच्छितमण्डलमें परिधिका विचार करते हुए, सर्वबाह्यमण्डलमें पहुँचना तब उस मण्डलमें ३१८३८५ योजन परिधि १८ योजनकी वृद्धिसे आया; वरना वास्तविक रूपमें तो १७ योजन ३८ अंश बढ़ानेके होते हैं और इस हिसाबसे यथार्थ परिधि ३१८३१४ योजन ३८ अंश आते हैं तथापि सुगमताके लिए ३१८३१५ योजनकी विवक्षा गणितज्ञ विचारें। इति परिधिनामक षष्ठमद्वारप्ररूपणा ॥

६—प्रतिमण्डलमें मुहूर्त्त गतिमान प्ररूपणा—

एक सूर्य किसी भी एक मण्डलको दो अहोरात्रमें समाप्त करता है (क्योंकि किसी भी स्थानमें केवल परिधिके बढ़नेसे एक अहोरात्रके ३० मुहूर्त्त सम्बन्धी मानमें विपर्यास नहीं होता परन्तु क्रमशः परिधिके बढ़नेसे ६० मुहूर्त्तमें मण्डलको पूर्ण करनेको सूर्यकी मुहूर्त्त गति पूर्व पूर्वसे विशेष वृद्धिवाली होती जाती है) और दो अहोरात्रके मुहूर्त्त ६० हैं अतः उस उस मण्डलके परिधिप्रमाणको साठसे बटा करे (भाग दे) तब एक मुहूर्त्तकी गति स्वतः निकल आती है। इस नियमानुसार सर्वाभ्यन्तरमण्डलके ३१५०८९ योजनके परिधिको ६० मुहूर्त्तसे भागनेसे (बटा करनेसे) ५२५१ $\frac{३}{४}$ योजनकी गति प्राप्त होती है। दूसरे मण्डलके ३१५१०७ योजन परिधिको ६० मुहूर्त्तसे भागनेसे (बटा करनेसे) ५२५१ $\frac{५}{४}$ आते हैं, इस तरह प्रतिमण्डलमें वृद्धिगत होते परिधिके साथ ६०से बटा करके, मुहूर्त्त गतिमान प्राप्त करते हुए सर्वबाह्यमण्डलमें जाने पर उस सर्वबाह्यमण्डलके (वास्तविक ३१८३१४ योजन, ३८ अंश किन्तु व्यवहारसे) ३१८३१५ योजनके परिधि-प्रमाणको ६०से बटा करनेसे (भागनेसे) ५३०५ $\frac{१}{४}$ योजनकी मुहूर्त्त गति आती है और उस समय दक्षिणायनकी समाप्ति होती है।

तत्पश्चात् सर्वबाह्यमण्डलसे लौटते परिधिकी हानि होती होनेसे और इसीलिए मुहूर्त्त गतिकी भी न्यूनता होती होनेसे अर्वाक् मण्डलमें ५३०४ $\frac{५}{४}$ मुहूर्त्त गतिमान होता है। तत्पश्चात् क्रमशः उत्तरायणमें पुनः आनेसे पूर्ववत् मुहूर्त्त गतिमान विचार लेना, अथवा दूसरे मण्डलकी लेकर दूसरी रीतसे मुहूर्त्त गतिमान लाना हो तो पूर्वपूर्वके प्रत्येक मण्डलके परिधिमें १८ योजन वृद्धि होती होनेसे केवल १८ योजनकी मुहूर्त्तगति पानेको ६०से बटा करे, १८से बटा (भाग) न होनेसे $१८ \times ६० = १०८०$ अंश आए उसे ६० मुहूर्त्त बटा करनेसे $\frac{३}{४}$ प्रमाण मुहूर्त्त गति प्रतिमण्डलमें (पूर्व पूर्वके मण्डलकी मुहूर्त्तगतिमें) वृद्धिवाली होती है। इति प्रतिमुहूर्त्तगतिनामक षष्ठद्वार प्ररूपणा ॥

७—प्रतिमण्डलमें दृष्टिपथप्राप्तिप्ररूपणा—

किसी भी मण्डलमें दृष्टिपथका अन्तर निकालनेके लिए प्रथम दिवसमें सूर्य कितने क्षेत्रको प्रकाशित करता है यह जानना चाहिए, इसके लिए विवक्षित जिस मण्डलमें दृष्टिपथ निकालना हो उस मण्डलमें सूर्यका जो मुहूर्त्त गतिमान हो उसे एक बाजू पर रक्खो, तथा उसी इच्छितमण्डलमें जो दिनमान वर्त्तित हो उस रकमका मुहूर्त्तगतिमानके साथ गुना करो, जो माप आवे उतने योजनका क्षेत्र एक दिवसमें प्रकाशित करे । अब यहाँ एक नियम है कि विवक्षित जिस मण्डलमें सूर्य जितने क्षेत्रको प्रकाशित करे उससे बराबर अर्धक्षेत्र प्रमाण दूर रहे हुए मनुष्योंको (जैसे कि सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें सूर्यकी मुहूर्त्त गति ५२५१ $\frac{३३}{१००}$ योजन है और दिनमान १८ मुहूर्त्त वर्त्तित है;

दोनों रकमको गुना करनेसे) ९४५२६ $\frac{४३}{१००}$
 योजनका तापक्षेत्र अथवा उदय-अस्त
 बिचका (मण्डलश्रेणीमें) अन्तर कर्क
 संक्रातिके दिनोंमें प्राप्त होता है ।

५२५१	२९ भाग
$\times १८$	$\times १८$
९४५१८ यो०	२३२
$\frac{८, \frac{४३}{१००}}$	$\frac{२९ \times ८}{१००}$
९४५२६ यो० $\frac{४३}{१००}$ अंतर ६०	५२२८ यो० $\frac{४३}{१००}$ भाग
	$\frac{४८०}{०४२}$

अब उसका अर्ध करने पर सूर्य दृष्टिगोचर हो अतः किसी भी मण्डलमें सूर्य अर्ध दिवसके द्वारा (९, मु.) जितने क्षेत्रको प्रकाशित करता है, उतने क्षेत्रके लोगोंको सूर्य उतनी दूरसे दृष्टिगोचर होता है और साथ ही उतनी ही दूरसे अस्तपनेमें दीखता है । [$९ \times ५२५१ \frac{३३}{१००} = ४७२६३ \frac{३३}{१००}$] $४७२६३ \frac{३३}{१००}$ यो० का दृष्टिपथ अन्तर सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें होता है ।

सर्वाभ्यन्तरसे दूसरे मण्डलमें दृष्टिपथ अन्तर ४७१७९ यो० $\frac{५७}{१००}$ और $\frac{१३}{१००}$ अर्थात् लगभग ४७१७९ $\frac{५७}{१००}$ यो० रहता है । अतः सर्वाभ्यन्तरमण्डलके दृष्टिपथमानमेंसे लगभग ८४ $\frac{३३}{१००} - \frac{४३}{१००}$ योजनकी हानि हुई । इस 'शोध्याशिशि'की हानि प्रायः प्रतिमण्डलमें करनेकी है । (परन्तु प्रायः शब्दसे विशेष यह समझना कि आगेके मण्डलोंमें क्रमसे क्वचित् ८४-८५ यो०, अन्तिममण्डलोंमें कहीं कहीं ८५; उससे भी किंचित् अधिक हानि करना) इस तरह तीसरे मण्डलमें उस शोध्याशिशिकी हानि होनेसे ४७०८६ $\frac{३३}{१००} - \frac{१३}{१००}$ यह तीसरे मण्डलका दृष्टिपथ अन्तर समझना । इस तरह उक्त आम्नायके अनुसार प्रतिमण्डलमें दृष्टिपथ निकालते सर्वान्त्यमण्डलमें ३१८३१ $\frac{३३}{१००}$ योजनका दृष्टिपथप्रमाण प्राप्त होगा ।

सर्वबाह्यसे लौटते हुए गणितके हिसाबसे पूर्व दक्षिणायनमें शोध्याशिशिकी जो हानि करते थे उसके बदले अब उत्तरायणमें उस राशिकी प्रतिमण्डल वृद्धि करते जाए (यहाँ भी विपरीत क्रमसे साधिक ८५-८४-८३ $\frac{३३}{१००}$ यो० की तरह सर्वाभ्यन्तरमण्डलके पर्यन्त स्वयं

सोच लेना ।) इस नियमके अनुसार सर्वबाह्यसे अर्वाक् मण्डलमें $31916 \frac{3}{4}$ योजन दूरसे सूर्य दीखता है; उस द्वितीय मण्डलके मानमें $८५ \frac{६}{१०} - \frac{३५}{१०}$ यो० जोडनेसे $32001 \frac{४६}{१०} - \frac{२३}{१०}$ योजन आएँगे, इस तरह सर्वाभ्यन्तरमण्डल तक सोचें ।

ये दोनों सूर्य उदयास्त समय पर हजारों योजन दूर होने पर भी उनके बिम्बोंके तेजका प्रतिघात होता होनेसे सुखसे देखे जा सकते हैं अतः मानो पासमें ही हो ऐसे लगते हैं, तथा मध्याह्न पर मात्र ८०० योजन दूर होने पर भी उनकी फैलती तीव्र किरणोंके कारण मुद्रिकलसे दिखाई देते होनेसे पास होने पर भी बहुत दूर हों ऐसा लगता है और साथ ही दूर होनेसे ही दोनों उदयास्तकालमें पृथ्वीसे छूकर रहे हों और मध्याह्नसमयमें आकाशके अग्रभागमें रहे हों वैसे दीखते हैं ।

यहाँ किसीको शंका हो कि—दोनों सूर्य उदयास्त समय पर हजारों योजन ($४७२६३ \frac{३१}{१०}$ यो०) दूर होने पर भी मानो हमारे पासमें ही उदित होते हों ऐसा क्यों दीखता है? और साथ ही मध्याह्नमें ऊपर आने पर मात्र ८०० योजन जितने ही ऊँचे होने पर बहुत दूरस्थ जैसे क्यों दीखते हैं?

इस प्रश्नके सुलझसेमें जतानेका कि—उदय और अस्तकालके समय सूर्य बहुत (देखने-वालेके स्थानकी अपेक्षा $४७२६३ \frac{३१}{१०}$ यो०) दूर गये होते हैं, इस दूरत्वके कारण ही उनके बिम्बोंके तेजका प्रतिघात होता है; अतः मानो वे पासमें हों ऐसा भास होता है और इसीलिए सुखसे (आसानीसे) देखा जा सकता है ।

और साथ ही मध्याह्नमें (देखनेवालेको होती प्रतीतिकी अपेक्षासे) नजदीक होनेसे उनकी विस्तृत किरणोंके सामीप्यके कारण मुद्रिकलसे देखे जानेके कारण (नजदीक होने पर भी) दूर रहे हों ऐसा दीखता है ।

जैसे कोई एक देदीप्यमान दीपक अपनी दृष्टिके पास हो फिर भी वह मुद्रिकलसे देखा जा सके । लेकिन दूर हो तो वही दीपक आसानीसे देख सकते हैं । वैसे यहाँ समझ लेना ।

और दूर होनेसे ही वे दोनों उदय-अस्तकालके समय^{२५३} पृथ्वीसे स्पर्श करके रहे

२५३. इतर 'मत्स्यपुराणादि' ग्रन्थोंमें—सूर्य पश्चिम समुद्रकी तरफ अस्ताचलमें अस्त होता है उसी स्थान पर अन्नस्थानमें उतरकर, पातालमें प्रवेश करके, पातालमें ही पुनः पूर्वदिशाकी तरफ गमन करके पूर्व-समुद्रमें उदय पाता है, यह मनौती जैनदृष्टिसे असंगत है ।

क्योंकि दृष्टिके स्वभावसे अथवा दृष्टि-दोषसे हम अपने चक्षुओंसे ४७२६३ यो० $\frac{३१}{१०}$ भाग प्रमाणसे विशेषतः दूर गए हुए सूर्यको अथवा उसके प्रकाशको देखनेके लिए असमर्थ हैं और इस शक्तिके अभावके

हो ऐसा लगता है, और मध्याह्नमें नजदीक आनेसे ही आकाशके अग्रभागमें रहें न हो? ऐसा अपनी दृष्टिमें दीखता है।

इस तरह यथामति सूर्यमण्डलके सम्बन्धी अधिकार कहा।

॥ इति सूर्यमण्डलाधिकारः ॥



कारण सूर्यको न देखनेसे सूर्यास्त हुआ है ऐसा कहते हैं, वस्तुतः वह सूर्यास्त नहीं है परन्तु अपनी दृष्टिके तेजका अस्तभाव है क्योंकि सूर्य अपनेको जिस स्थान पर अस्त-स्वरूपमें दिखाई पड़ा वहाँसे दूर दूरके क्षेत्रोंमें उसी सूर्यका प्रकाश तो पड़ता है, वह कहीं छिप नहीं जाता।

अगर हम किसी भी शक्तिके द्वारा किसी भी व्यक्तिको सूर्यास्त स्थान पर भेजे तो सूर्य भरतकी अपेक्षाके अस्तस्थानसे दूर गया हुआ और उतना ही ऊँचा होगा, अथवा रेडियो अथवा टेलिफोनके द्वारा जिस वक्त यहाँ सूर्यास्त होता है उस अवसर पर अमरिका या योरपमें पूछताछ करा ले तो 'हमारे यहाँ अभी अमुक घण्टे ही दिवस बिता है' ऐसा स्पष्ट समाचार मिलेगा। कोई भी वस्तु दूरवर्ती होने पर देखनेवालेको बहुत दूर और अधस्थान पर-भूभागमें स्पर्श किया हो ऐसी दीखती है, दृष्टिदोषके कारणसे होते *विभ्रमसे उस बातको सत्यांशरूपमें प्रकृतिके नियमसे भी विरुद्ध (सूर्य जमीनमें उतर गया, समुद्रमें पैठ गया-अस्त हुआ) घटाना यह तो प्राज्ञों और विचारशीलोंके लिए अनुचित है। यदि दूर दीखती वस्तुमें उक्त कल्पना करेंगे तो समुद्रमें प्रयाण करता स्टीमर जब बहुत दूरवर्ती होता है तब हम देख नहीं सकते तो इससे क्या स्टीमर समुद्रमें पैठ गया? डूब गया? ऐसी धारणा रखेंगे क्या? हरगिज नहीं। साथ ही दूर दीखते बादल दूरवक्के कारण अपनी दृष्टि-स्वभावसे भूस्पर्श करते देखते हैं तो क्या बहुत ऊँचे, ऐसे बादल भू के साथ स्पर्शित होंगे क्या? अर्थात् नहीं ही, तो फिर ऐसे बहुत दूर अन्तर पर रहे सूर्यके लिए ऐसा दीखे और इसलिए वैसी कल्पना करना बिल्कुल अयोग्य है, सत्यांशसे बहुत ही दूरवर्ती है, और युक्तिसे भी असंगत है।

* जैसे किसी एक गाँवके ताड़ जैसे ऊँचे वृक्षको (अथवा किसी मनुष्यको) मात्र दो चार कोस दूर देखते हैं फिर भी उन वृक्षोंका केवल ऊपरी भाग सहजतासे दीखता है और मानो वे जमीनसे स्पर्शित हों वैसा भास होता है, परन्तु वहाँ तो जिस स्थितिमें होते हैं उसी स्थितिमें ही होते हैं। वैसा यहाँ भी सोचना जरूरी है।

॥ अथ श्रीचन्द्रमण्डलाधिकारः प्रारभ्यते ॥

पूर्व सूर्यमण्डलाधिकारमें सूर्यमण्डलोंका सर्व आम्नाय कहा गया। अब चन्द्रमाके मण्डल विषयक जो अवस्थित आम्नाय है उसका ही अधिकार कहा जाता है।

॥ सूर्यमण्डलसे चन्द्रमण्डलका भिन्नत्व ॥

चन्द्र तथा सूर्यके मण्डलोंमें बड़ा तफावत रहा है, क्योंकि सूर्यके १८४ मण्डल हैं और उनमेंसे ११९ मण्डल लवणसमुद्रमें पड़ते हैं और ६५ जम्बूद्वीपमें पड़ते हैं। जबकि चन्द्रके केवल १५ मण्डल हैं और उनमेंसे १० मण्डल लवणसमुद्रवर्ती और ५ मण्डल जम्बूद्वीपवर्ती हैं। अतः उनके मण्डलोंका परस्पर अन्तर-परस्पर अबाधादि सर्व विशेषतः तफावतवाला है। चन्द्रकी गति मन्द होनेसे चन्द्र अपने मण्डलोंको दूर दूरवर्ती अन्तर पर करता जाता है। जब कि सूर्य शीघ्रगतिवाला होनेसे अपने मण्डलोंको समीपवर्ती करता जाता है इससे उसकी संख्या भी अधिक हो जाती है। उक्त स्वरूप आदि विषयका क्याल सूर्यमण्डलाधिकार पढ़नेसे स्वयं समझा जा सकता है।

१. चन्द्रके मण्डलोंका चारक्षेत्र प्रमाण—

चन्द्रका चारक्षेत्र सूर्यके जितना ही अर्थात् ५१० यो० $\frac{५}{६}$ भाग प्रमाणका है। केवल प्रमाण निकालनेकी पद्धति, मण्डल संख्या और अन्तर प्रमाणके तफावतके बारेमें केवल अंकोंमें भिन्नता होगी।

अब किस तरह चारक्षेत्रमान निकाले यह जणाते हैं।

चन्द्रके एक मण्डलसे दूसरे मण्डलका अन्तर ३५ योजन और एक योजनके इकसठवें ३० भाग और इकसठवें एक भागके ७ भाग करें उनमेंसे ४ भाग (३५ यो० $\frac{३०}{६९}$ — $\frac{७}{६९}$) जितना है। अब चन्द्रके मण्डल १५ हैं, परन्तु हमें प्रथम उनके आंतरेका प्रमाण निकालना होनेसे पांच अंगुलियोंके अथवा सीधी चुनी पांच दीवारोंके आंतरे जिस तरह चार ही होते हैं उसी तरह इन १५ मण्डलोंके आंतरे चौदह होते हैं। आंतरोका माप निकालनेको चौदहकी संख्याके साथ मण्डलांतर प्रमाणसे गुना करें।

१४ अन्तर

× ३५ यो०

४९० यो० आये।

इकसठवें ३० भाग ऊपर हैं अतः उसके योजन करनेको

१४ उसे गुना

× ३० इकसठवें भाग

४२० इकसठवें भाग आये।

एक योजनके इकसठवें ७ भागके ४ भाग उसके योजन लानेको प्रथम

$$\times \frac{१४}{५६}$$

सातवें भाग आये ।

इस ५६ भागका ६१ वाँ भाग प्रमाण लानेको ७) ५६ (८ एक यो० के

$$\frac{५६}{००} \quad ६१ वें भाग निकले ।$$

पूर्व आए ६१ वें ४२० भागमें

+ ८ जोड़नेसे

४२८ भाग इकसठवें आए, उनके योजन निकालनेके लिए

$$६१) ४२८ (७$$

$$४२७ = ७ यो० \frac{१}{६१} यो० भाग आए ।$$

००१-अंश शेष

पूर्व आए ४९० योजनमें

+ ७ $\frac{१}{६१}$ भाग जोड़नेसे

४९७ $\frac{१}{६१}$ यो० इतना १४ आंतरिका चन्द्रमण्डल स्पर्शना रहित

भूमिक्षेत्र प्रमाण आया ।

अब चन्द्रमण्डल उक्त क्षेत्र प्रमाणमें पन्द्रह बार पड़ते हैं, इससे १५ बार विमान विस्तार जितनी जगह कुल रोकी जाती है तब उस विमानकी अवगाहनाके विषयक मण्डलोंका प्रमाण निकालें ।

चन्द्रका विमान एक योजनके इकसठवें ५६ भागका होनेसे $५६ \times १५ = ८४०$ इतने इकसठवें भाग आए, उनके योजन निकालनेके लिए ६१ से ८४० को बाँटे ।

$$६१) ८४० (१३ योजन$$

$$\frac{६१}{२३०}$$

$$\frac{१८३}{०४७}$$

$$\frac{१८३}{०४७}$$

भाग शेष रहे ।

पूर्व आए चौदह आंतरिका प्रमाण ४९७ योजन और इकसठवाँ एक अंश उसमें विमान विष्कंभके—

१३ यो० और इकसठवें ४७ भाग शेष रहे उस भागका चन्द्रका चारक्षेत्र आया ।

५१० यो० और — $\frac{४८}{६१}$

॥ इति चन्द्रचारक्षेत्रम् ॥

चारक्षेत्रका दूसरा उपाय—

गणितकी अनेक रीतियाँ होनेसे एक ही प्रमाण अलग अलग रीतिसे ल सकते हैं । प्रथम इकसठवें तथा सातवें भागोंके योजन निकालकर चारक्षेत्रका प्रमाण जणाया । अब योजनके सातवें भाग निकालकर चारक्षेत्रका प्रमाण जाननेकी दूसरी रीत बताई जाती है ।

चन्द्रमण्डलका अन्तर ३५ यो० $\frac{30}{11}$, $\frac{8}{11}$ भाग होनेसे प्रथम उस एक ही अन्तर प्रमाणके सातवें भाग करना, ३० इकसठवें भागोंको सातसे गुना करके चार भाग ऊपरके जोड़नेसे २१४ सातवें भाग आए । ३५ योजनके इकसठवें भाग बनानेके लिए $३५ \times ६१ = २१३५$ अंश इकसठवें आए, उन अंशोंके ६१ वें सातवें (सात) भाग करनेके लिए पुनः सातसे गुना करनेसे १४९४५ भाग आए, उनमें पूर्वके २१४ सातवें भाग जोड़नेसे कुल १५१५९ इतने सातवें चूर्णिभाग-प्रतिभाग आए । ये एक ही मण्डलान्तरके आए ।

चौदह मण्डलोंके आंतरे निकालनेके लिए^{२५४} उन १५१५९ चूर्णिभागोंको चौदहसे गुननेसे कुल २१२२२६ प्रतिभाग आए ।

२५४. उतरती भांजणी (भाग) के अनुसार इस तरह करना—

यो०	भाग	प्रति०	
३५	—	३०	— ४ एक मण्डल अन्तर
$\times ६१$			
३५			
$२१० \times$			
<u>२१३५</u>			भाग

२१३५

+ ३०

२१६५ भाग

$\times ७$

१५१५५ सातवें भाग

+ ४ ऊपरके जोड़नेसे

कुल १५१५९ सातवें भाग आए ।

१५१५९ एक आंतरेके चूर्णि विभाग उसके साथ

$\times १४$ मण्डलकी अन्तर संख्यासे गुननेसे

२१२२२६ प्रतिभाग

+ ५८८० जोडे

२१८१०६ कुल प्रतिभाग आए

एक योजनके

५६ भागके मण्डल प्रमाणको

$\times ७$ भाग

३९२ उसे

$\times १५$ मण्डलसे गुने

५८८० प्रतिभाग

अब मण्डल पंद्रह होनेसे १५ मण्डल विषयक विमान विस्तारके प्रतिभाग करनेके लिए विमान अथवा मण्डलकी इकसठवें ५६ भागकी चौड़ाईको सातसे गुननेसे ३९२ भाग आते हैं। ये पंद्रह बार करनेसे $३९२ \times १५ = ५८८०$ प्रतिभाग विमान विस्तारके आए। पूर्वके चौदह आंतरेके २१२२२६ जो चूर्णभाग हैं उनमें इन पंद्रह मण्डल विस्तारके आए कुल ५८८० प्रतिभाग जोड़नेसे २१८१०६ सर्व क्षेत्रके सातवें भाग आए उनके इकसठवें भाग करनेके लिए सातसे भागा करनेसे ३११५८ आए, उनके योजन बनानेके लिए इकसठसे भागनेसे (बटा करनेसे) कुल चन्द्रका जो ५१० यो० ४८ भागका चारक्षेत्र कहा है वह बराबर आ जाएगा। इति चारक्षेत्र प्ररूपणा ॥

२. चन्द्रमण्डलोंकी अन्तर-निस्सारण रीति—

प्रथम ५१० यो० $\frac{४८}{६१}$ भागका जो चारक्षेत्र उसके इकसठवें भाग करके जो संख्या प्राप्त हो उसमेंसे, चन्द्रके मण्डल १५ होनेसे पन्द्रह बार विमान विस्तारके इकसठवें भाग करके, पूर्वोक्त चारक्षेत्र प्रमाणमेंसे कम करनेसे जो संख्या शेष रहे वह केवल अन्तरक्षेत्रकी (क्षेत्रांश गिनती) आई समझना। उस अन्तरक्षेत्र-क्षेत्रांश संख्याको प्रत्येक मण्डलका अन्तर निकालनेके लिए १४ से बटा करके प्राप्त होती संख्याके योजन करें, जिससे प्रत्येक मण्डलका अन्तर प्रमाण प्राप्त होगा। वह इस तरह— $५१० \text{ यो०} \times ६१ = ३१११० + ४८$ अंश जोड़नेसे ३११५८ इकसठवें भाग आए। अब १५ मण्डल विस्तारके कुल भाग करनेके लिए $५६ \times १५ = ८४०$ इसे ३११५८ मेंसे

—८४० कम करनेसे

३०३१८ क्षेत्रांश अन्तरक्षेत्र आया।

२१८१०६ ये भाग सातवें होनेसे

७) २१८१०६ (३११५८ इकसठवें भाग हुए। उनके योजन करनेको

२१

००८

७

११

७

०४०

३५

०५६

५६

००

६१) ३११५८ (५१०

३०५

००६५

६१

०४८ कुल ५१० यो० $\frac{४८}{६१}$ भाग चारक्षेत्र आया।

प्रत्येक मण्डलका अन्तर प्रमाण लानेके लिए—

१४) ३०३१८ (२१६५ भाग = २१६५ $\frac{४}{९}$ भाग आये,

$$\begin{array}{r} २८ \\ \hline ०२३ \\ १४ \\ \hline ०९१ \\ ८४ \\ \hline ०७८ \\ ७० \\ \hline ०८ \text{ प्रतिभाग} \\ ०४ \text{ प्रतिभाग} \end{array}$$

योजन निकालनेके लिए—

६१) २१६५ (३५ योजन

$$\begin{array}{r} १८३ \\ \hline ०३३५ \\ ३०५ \end{array} \quad \begin{array}{l} ३५ \text{ योजन } \frac{३०}{६१} \text{ भाग प्रमाण} \\ \\ ५० \text{ भाग} \end{array}$$

जवाब आया ३० $३५ - \frac{३०}{६१} \frac{४}{९}$ भाग (३५ यो० ३० $\frac{४}{९}$)

अन्तर प्रमाण प्राप्ति—अन्य रीतिसे—

प्रथम १५ मण्डलका कुल विस्तार निकालनेके लिए—एक मण्डलका इकसठवें ५६ भागका विस्तार तो १५ मण्डलका कितना ? त्रिराशि करनेसे जवाब (योजन निकालने पूर्वक) १३ यो० $\frac{४७}{६१}$ भाग आवे, उसे पूर्व कहे गए ५१० यो० $\frac{४८}{६१}$ योजन समस्त मण्डलक्षेत्रके विस्तारमेंसे कम करनेसे ४९७ $\frac{१}{६१}$ यो० चौदह आंतरोंका (मण्डलरहित केवल) कुल विस्तार आता है। अब प्रत्येक मण्डलका विस्तार लानेके लिए ४९७ $\frac{१}{६१}$ योजनकी संख्याको १४ अन्तरसे बढ़ा करनेसे पूर्ण ३५ योजन और ३० $\frac{४}{९}$ इकसठांश भाग आए, वह इस तरह—

एक मण्डल विस्तारप्रमाण इकसठवें ५६ भाग उसे

× १५ योजन बनानेको

६१) ८४० (१३ यो० $\frac{४८}{६१}$ पंद्रह मण्डलक्षेत्र विस्तार

$$\begin{array}{r} ६१ \\ \hline २३० \\ १८३ \\ \hline ०४७ \end{array}$$

योजन भाग

उन ५१०-४८ मेंसे

- १३-४७ कम करनेसे

$\frac{४९७-०१}{१३} = ४९७\frac{१}{१३}$ भाग चौदह अन्तरका कुल विस्तार, प्रत्येक अन्तरप्रमाण

लानेके लिए—

१४) ४९७ (३५ यो०

४२

०७७

७०

०७ यो० शेष । उसके इकसठवें भाग करनेके लिए—

× ६१

४२७ भाग आए । उनमें पूर्वका १ इकसठवाँ भाग आया है उसे जोड़नेसे

+ १

४२८ कुल अंश आए; उन्हें प्रत्येक अन्तरमें बाँट लेनेके लिए—

१४) ४२८ (३० भाग इकसठवें

४२

००८ शेष

यो० भाग प्रतिभाग

अर्थात् कुल ३५ — $\frac{३०}{१३}$ — $\frac{५}{१३}$ भाग एक अन्तरक्षेत्र प्रमाण आया ।

॥ इति अन्तरक्षेत्रमानद्वितीय प्ररूपणा ॥

पहले चन्द्रमण्डलोंका कुल चारक्षेत्र तथा प्रत्येक चन्द्र मण्डलका अन्तरक्षेत्र निकालनेकी रीति बताई गई । अब 'अबाधा' (विषय) कहा जाता है । सूर्य मण्डलवत् चन्द्रमण्डलोंकी भी 'अबाधा' तीन प्रकारकी है । उनमें प्रथम मेरुकी अपेक्षासे 'ओघतः अबाधा', दूसरी मेरुकी अपेक्षासे 'प्रत्येक मण्डल अबाधा', तीसरी प्रतिमण्डलमें 'चन्द्र-चन्द्रकी परस्पर अबाधा' इस तरह तीन प्रकारकी है । उनमें प्रथम 'ओघसे अबाधा' कहलाती है ।

३. मेरुके आश्रित ओघसे चन्द्रमण्डल अबाधाका निरूपण-१

सूर्य मण्डलवत् चन्द्र मण्डलोंका अन्तर मेरु पर्वतसे चारों बाजू पर ओघसे ४४८२० योजन दूर होता है । यह सारी व्याख्या सूर्यमण्डलके ओघतः अबाधा प्रसंग पर कही है उस प्रकार यहाँ विचार लें । इति ओघतोऽबाधा ॥

मेरुके आश्रित प्रतिमण्डलकी अबाधा-२

ऊपर जो अबाधा कही गई वह मेरु और सर्वाभ्यन्तरमण्डलके बिचकी कही, क्योंकि उस मण्डलसे अवाक् (मेरुकी तरफ) अब एक मी मण्डल नहीं होता। सर्वाभ्यन्तर-मण्डलके बादके (अर्थात् दूसरे) मण्डल तक जाने पर ३६ यो० और २५ $\frac{५}{८}$ भाग प्रमाण अन्तरक्षेत्र बढ़ता है, क्योंकि केवल अन्तरक्षेत्र ३५ यो० ३० भाग $\frac{५}{८}$ भागका उसमें प्रथम मण्डलविमान विस्तार अन्तर्गत लेनेका होनेसे ५६ भाग उक्त अन्तरप्रमाणमें मिलनेसे ३६ योजन इकसठवें २५ भाग और ४ सातवें प्रतिभागप्रमाण आ जाएँगे। अतः मेरुसे दूसरा मण्डल ४४८५६ यो० और २५ $\frac{५}{८}$ भाग प्रमाण दूर हो। इस तरह प्रथममण्डलकी अपेक्षा आगेके अनन्तररूपमें रहे दूसरे मण्डलोंमें ३६ यो० और २५ $\frac{५}{८}$ भागकी वृद्धि करते जाइए। इस तरह प्रतिमण्डल अबाधा निकालने पर जब सर्वबाह्यमण्डलमें जावें तब सर्वबाह्यमण्डल और मेरुके बिच ४५३२९ $\frac{५३}{६३}$ इकसठांश जितना (मेरुके दोनों बाजू पर) अन्तर पड़ता है। यह सर्व विचारणा सूर्यमण्डलोंके अबाधा प्रसंग पर कही है। उस प्रकार यहाँ विचार लेना। इति मेरुप्रतीत्यप्रतिमण्डलमबाधा प्ररूपणा ॥

चन्द्र-चन्द्रके बिच प्रतिमण्डलकी परस्पर अबाधा और व्यवस्था—

जब जम्बूद्वीपवर्ती दोनों चन्द्र (आमने सामने) सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें हों तब उन दोनोंके बिचका अन्तरक्षेत्र प्रमाण सूर्योकी तरह ९९६४० योजनका होता है। यह प्रमाण द्वीपके एक लख योजनके विस्तारमेंसे दोनों बाजूका जम्बूद्वीपगत मण्डलक्षेत्र (१८० + १८० = ३६० योजन) कम करनेसे प्राप्त होता है, जो हकीकत पहले सूर्यमण्डल प्रसंग पर कही गई है।

सर्वाभ्यन्तरमण्डलके बाद जब दोनों चन्द्र दूसरे मण्डलमें प्रवेश करें तब उनका परस्पर अन्तर ९९७१२ यो०से अधिक ५१ $\frac{५}{८}$ इकसठांश भाग प्रमाण होता है, जो इस तरह—

एक चन्द्र-एक बाजू पर दूसरे मण्डलमें गया तब सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी अपेक्षासे (अन्तरप्रमाण और विमान विष्कंभ सह) ३३ यो० और २५ $\frac{५}{८}$ इकसठवाँ भाग प्रमाण दूर गया। इस बाजू पर भी दूसरा चन्द्र दूसरे मण्डलमें उतनी ही दूर गया होता है। अतः हरएक मण्डलमें दोनों बाजू पर अनन्तर अनन्तर मण्डलोंमें प्रवेश करते चन्द्रोंकी (मण्डल दूर दूर होते होनेसे) दोनों बाजूकी होकर २५५७२ यो० और ५१ $\frac{५}{८}$ भाग प्रमाण जितनी अबाधाकी वृद्धि होती जाती है। इस तरह प्रत्येक मण्डलमें ७२ यो० ५१ $\frac{५}{८}$ भागकी वृद्धि करते जानेसे और प्रतिमण्डलमें परस्परकी अबाधा सोचते जाते जब सर्वबाह्यमण्डलमें

(पन्द्रहवाँ) जिस अवसर पर दोनों चन्द्र आमने सामने दिशावर्ती घूमते हो उस समय एक चन्द्रसे दूसरे चन्द्रका $१००६५९ \frac{४५}{६९}$ योजनका अन्तर प्रमाण होता है ।

शंका :— सूर्यमण्डल प्रसंग पर सर्वबाह्यमण्डलमें वर्तित सूर्योकी परस्पर व्याघातिक अबाधा पूर्ण १००६६० योजन होती है; और दोनोंका चारक्षेत्र समान है तो फिर १६ अंश जितना तफावत होनेका कारण क्या ?

समाधान :— चन्द्रमण्डलका चारक्षेत्र ५१० यो० ४८ भाग है । इस क्षेत्रका प्रारम्भ सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी शुरुआतसे होता है, इस तरह इस उक्त अबाधा प्रमाण प्राप्त करनेके लिए चन्द्रका ५६ भाग विस्तारका प्रथम मण्डलक्षेत्र उस क्षेत्रमण्डलके आदि (जम्बूद्वीपकी तरफ) से लेकर (अर्थात् प्रथम मण्डल सहित) अन्तिम सर्वबाह्यमण्डल ५०९ यो० $\frac{५३}{६९}$ भाग दूरवर्ती हो, जब सूर्यमण्डल पूर्ण ५१० यो० दूरवर्ती हो—इन दोनोंके बिच कुल १६ अंश तफावत पड़ा उसका कारण यह है कि—सूर्यमण्डल इकसठवें ४८ भाग विस्तारवाला होनेसे दोनों बाजूका ५१० यो० ४८ भाग जो चारक्षेत्र उसमेंसे ऊपरके अडतालीस-अडतालीस अंशका दोनों बाजूका अन्तिम मण्डलका विस्तार कम हो (क्योंकि मण्डलकी प्राथमिकहद लेनेकी है परन्तु अन्तिम मण्डलका समग्र विस्तार साथमें गिन्नेका नहीं है) ऐसा करनेसे दोनों बाजू पर ५१० योजनका क्षेत्र रहता है, जब कि यहाँ चन्द्रमण्डल इकसठवें ५६ भागका होनेसे दोनों बाजू पर सूर्यमण्डल विस्तारकी अपेक्षासे

२५५. यो० भा. प्रतिभाग

३५-३०-४ एक बाजूका अन्तर
 ३५-३०-४ अन्तर प्र० जोड़ करनेसे
 ७०-६०-८
 + ११२ दोनों बाजू पर चन्द्रमण्डल
 ७०-१७२-८ [विस्तारके
 + १ सात प्र० भागका १ भाग
 ७०-१७३-८ [जोड़नेसे
 + २ - १२२
 ७२ - ५१ - $\frac{१}{६}$ परस्पर अन्तरप्रमाण

२. अन्य रीतसे मण्डल अन्तर प्राप्ति—

यो० भा० प्र० भा.

३५-३०-४

+ ५६

३५-८६-४

+ १ - ६१

३६-२५-४

$\times २ \times २ \times २$

७२-५०-८

+ १

७२-५१-१ जवाब आया

यो० इकसठवें भाग-प्रतिभाग

७२- ५१- १ जवाब ।

चन्द्रमण्डलके आठ आठ अंश बचते, ये अंश भी ५१० यो०के सूर्यमण्डल क्षेत्रमेंसे कम होनेसे, सर्वबाह्यमण्डलमें प्रति वाजू पर, सर्वाभ्यन्तरमण्डलकी अपेक्षा ५०९ यो० $\frac{43}{61}$ भाग प्रमाण क्षेत्र हो उन दोनों वाजू वर्त्ती क्षेत्रका जोड़ करनेसे $[५०९ \frac{43}{61} + ५०९ \frac{43}{61} =]$ १०१९ $\frac{86}{61}$ भाग होता है । [इतना क्षेत्र चौदह मण्डल क्षेत्र और चौदह आंतर क्षेत्र द्वारा पूरित होता है ।] इस क्षेत्रमें सर्वाभ्यन्तरमण्डलका परस्पर मेरु व्याघातिक मध्य क्षेत्र प्रमाण ९९६४० योजन प्रक्षेप करने पर (१०१९ यो० ४५ भाग + ९९६४० यो० =) १००६५९ यो० ४५ भागका सर्वबाह्यमण्डलमें चन्द्र-चन्द्रका जो अन्तर कहा वह यथार्थ आ जाता है । इस तरह चन्द्रमण्डलकी अधिकताके कारण ही १६ अंशका जो तफावत पड़ता है वह बताया ।

[दूसरी तरह सोचे तो चन्द्रके प्रत्येक मण्डलमें होता अन्तरवृद्धि प्रमाण मण्डल तथा अन्तर विस्तार सहित ७२ यो० ५१ भाग और १ प्रतिभाग है और चन्द्रमण्डलका अन्तर १४ है अतः उस अन्तरवृद्धि प्रमाणके साथ चौदहसे गुना करनेसे १०१९ यो० ४५ भाग प्रमाणक्षेत्र प्राप्त होगा, इत्यादिक गणितशास्त्रकी अनेक रीतियाँ होनेसे गणितज्ञ पुरुष अन्तरवृद्धिसे मण्डलक्षेत्र, मण्डलवृद्धिसे अन्तरक्षेत्र इत्यादिक कोई भी प्रमाण, उन उन रीतियों द्वारा स्वतः प्राप्त कर सकते हैं] इति मण्डले मण्डले चन्द्रयोः परस्परमबाधा-प्ररूपणा तत्समाप्तौ च अबाधा प्ररूपणाऽऽख्यं द्वारं समाप्तम् ॥

सूचना—अब चन्द्र मण्डलकी गति विषयक चार अनुयोग द्वार कहे हैं वे नीचे अनुसार हैं —

१. चन्द्रमण्डलोंकी परिधि प्ररूपणा—

चन्द्रका प्रथम मण्डलका परिधि सूर्यमण्डलवत् जाने । क्योंकि जिस स्थानमें चन्द्रमण्डल पड़ता है उसी स्थानमें, ऊर्ध्व भाग पर (८० यो० ऊँचा) चन्द्रमण्डल रहा है ।

अन्य मण्डलोंके परिधिके लिए पूर्व मण्डलसे पश्चिम मण्डलकी चौड़ाईमें पहले जो ७२ यो०की वृद्धि कही है उसका अलग ही परिधि निकालने पर किंचिद् अधिक २३ यो० आएगा । यह परिधि प्रमाण पूर्व पूर्वके मण्डलोंमें जोड़नेसे अनन्तर आगे-आगेके मण्डलका परिधि प्रमाण आएगा । अतः सर्वाभ्यन्तर मण्डलके परिधिमें २३ यो० जोड़नेसे दूसरे मण्डलका ३१५३१९ यो०, तीसरेका ^{२५६} ३१५५४९ यो० इस तरह करनेसे यावत् अन्तिम मण्डलका परिधि ३१८३१५ योजन प्राप्त होगा ।

२५६. चौदह बार २३० × १४ = ३२२० यो० जोड़नेसे ३१८३०९ यो० आनेसे ६ यो० कम होते हैं, उस २३० योजनका देशोन ०॥ यो० न बढ़ानेसे तृटता है इसलिए पर्यन्तमें या मध्यमें-पूर्ण अंशस्थानमें देशोन ०॥ योजनसे उत्पन्न अंक बढ़ानेसे यथार्थ परिधि प्राप्त होगा ।

२. चन्द्रकी मुहूर्त्तगति—

सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें संक्रमण करते दोनों चन्द्रोंकी मुहूर्त्तगति सूर्यमण्डलवत् परिधिके हिसाबसे ५०७३ $\frac{१७७४५}{१७७३५}$ यो०की होती है, क्योंकि एक चन्द्रमा एक अर्धमण्डलको १ अहोरात्र - १ मु० और ऊपर ११॥ भाग मुहूर्त्तके दरमियान पूरा करता है। चन्द्र दूसरा २२१

भी स्वचारित अर्धमण्डल उतने ही कालमें पूर्ण करता होनेसे उस एक मण्डलको पूर्ण करते २ अहोरात्र और २ $\frac{३३३}{३३३}$ मु० होता है। चन्द्र विमानकी मन्दगतिके कारण उस मण्डलको ६२ मुहूर्त्तसे अधिक समयमें पूर्ण करता है।

सर्वाभ्यन्तरमण्डलसे अनन्तर मण्डलोंके लिए पूर्व पूर्वके मुहूर्त्त गतिमानमें प्रतिमण्डल होती सा० २३० योजनकी परिधिकी वृद्धि हिसाबसे ३ यो० $\frac{११३५५}{११३५५}$ भा० अर्थात् किंचित न्यून ३॥ यो० जितनी मुहूर्त्त गतिकी वृद्धि करते हुए इच्छितमण्डलमें मुहूर्त्तगति निकालते हुए अन्तिममण्डलमें जाने पर वहाँ ५१२५ $\frac{१३७३५}{१३७३५}$ यो० मुहूर्त्त गति आती है।

३. चन्द्रकी दृष्टिपथ प्राप्ति—

सर्वाभ्यन्तरमण्डलमें दोनों चन्द्र ४७२६३ $\frac{३०}{३०}$ यो०से दृष्टिगोचर होता है और वह अन्तिममण्डलमें ३१८३१ यो० (दूर)से लोगोंको दीखता है, शेष मण्डलोंके लिए स्वयं उल्लेख देखनेमें आता नहीं; परन्तु सूर्यमण्डलवत् उपाय योजनेसे आ सकेगा।

४. चन्द्रके साधारणसाधारणमण्डल—

१-३-६-७-८-१०-११-१५ इन आठ मण्डलोंमें चन्द्रको कभी भी नक्षत्रका विरह नहीं होता क्योंकि वहाँ नक्षत्रका चार हमेशा होता है। जो 'नक्षत्र परिशिष्ट' प्रसंग पर कहा गया है।

२-४-५-९-१२-१३-१४ मण्डलोंमें नक्षत्रका विरह ही होता है।

१-३-११-१५ ये चार मण्डल सूर्य-चन्द्र तथा नक्षत्र सभीको सामान्य है। इन चारोंमें राजमार्ग पर सर्वका गमन हो जैसे सर्वका गमन होता है। ६-७-८-९-१० इन चन्द्रमण्डलोंमें जरा भी गमन नहीं है।

इति संक्षेपेण जम्बूद्वीपगत चन्द्र-सूर्य मण्डलाधिकारः समाप्तः ॥

जम्बूद्वीपवर्ती समग्रसमय (दाईद्वीप) क्षेत्रमें सूर्य-चन्द्रमण्डलाधिकारः ॥

लक्षणसमुद्र-धातकीखण्ड-कालोदधिसमुद्र और पुष्करार्धगत सूर्योकी व्यवस्था जम्बू-द्वीपगत सूर्यवत् सोचें, क्योंकि मनुष्यक्षेत्रमें रही मेरुके दोनों बाजूवर्ती पंक्तिमें रहे १३२

२५७ सूर्योमेंसे कोई भी सूर्य आगे पीछे नहीं होता, इसीलिए जितने नरलोकमें सूर्य उतने ही दिवस और उतनी ही रात्रियाँ हों । क्योंकि सर्व सूर्योंका गमन एक साथ सर्वत्र होता है और इसीलिए प्रत्येक सूर्यको स्वस्वमण्डलपूर्ति ६० मुहूर्त्तमें अवश्य करनेकी ही होती है । इस कारणसे यहाँ इतना विशेष समझना कि २५८ लवणसमुद्रादिवर्ती आगे आगेके सूर्य पूर्व पूर्व सूर्यगतिसे शीघ्र शीघ्रतर गति करनेवाले होते हैं । क्योंकि आगे आगे वह सूर्यमण्डलस्थानोंका परिधि वृद्धिगत होता है और उस उस स्थान पर किसी भी सूर्यको मण्डलपूर्ति एकसाथ करनेकी होती है । अतः जम्बूद्वीपके मण्डलवर्णन प्रसंग पर कहे गए १८४ मण्डलसंख्या तथा चार क्षेत्रादिसे लेकर दृष्टिपथ तककी सर्व व्यवस्था जम्बूद्वीपकी रीतिके अनुसार लेकिन उस उस क्षेत्रस्थानके परिधि आदिके विस्तारानुसार सोच लें । (फक्त गणितके अंक बड़े होंगे)

इस तरह सूर्य तथा चन्द्रमण्डलका विवेचन किया गया । इसके सिवा पौरुषी-छाया आदि सर्व प्रकारका सविस्तर वर्णन जाननेकी जिज्ञासावाले महानुभावोंको सूर्यप्रज्ञप्ति-लोकप्रकाशादि ग्रन्थान्तरसे जाननेका प्रयत्न करें ।

इति समाप्तोऽयं सार्धद्वीपवर्ती सूर्य-चन्द्र मण्डलाधिकारः ॥

*

*

*

॥ प्रत्येक द्वीप-समुद्राश्रयी ग्रह-नक्षत्रादि प्रमाण-करण ॥

अवतरण—मण्डल विषयक सविस्तर वर्णन किया । पहले प्रतिद्वीप-समुद्राश्रयी चन्द्र-सूर्य संख्या निकालनेका कारण बताया था । अब शेष रहे ग्रह-नक्षत्र-ताराका किसी भी द्वीप-समुद्राश्रयी संख्याका प्रमाण निकालनेके लिए 'करण' बताते हैं ।

ग्रह-रिक्ख-तारसंखं, जत्येच्छसि नाउमुदहि-दीवे वा ।

तस्ससिहिएगससिणो, गुण संखं होई सञ्चगं ॥ ९१ ॥

२५७. यहाँ इतना विशेष समझना कि जो जो सूर्य जिस जिस स्थानमें घूमता है उसके नीचे वर्तित क्षेत्रके मनुष्य उसी सूर्यको देखते हैं ।

२५८. इस तरह दार्ढ द्वीपमें चन्द्र-सूर्योंका अन्तर बताया नहीं गया, परन्तु अभ्य०—पुष्करार्धके ८ लाखके ३६ भाग करनेसे जितना क्षेत्र आवे उतने अन्तर पर सूर्य स्थापित करें, उसमें मानुषोत्तरकी तरफका उतना अन्तर खाली रखें । जम्बूकी तरफ पुष्करार्धके प्रारम्भसे सूर्य स्थापित करें, मानुषो० के पास झूटा सूर्य न हो । कालोद० के लिए ८ लाखके २२वें भाग जितने अन्तर पर सूर्य स्थापित करें, परन्तु प्रारम्भपर्यन्त नहीं । २१ सूर्य बिचमें ही स्थापित करें इस तरह धातकी-लवणादिके लिए भी उक्त रीतसे सोच लेना योग्य लगता है । तत्त्व ज्ञानीगम्य ।

३३६ नक्षत्र और ८०३७०० कोडाकोडी [८०३७००'००००००००००००००००] तारोंका परिवार आता है ।

तथा ^{२६२}कालोदधिमें ४२ चन्द्र होनेसे ३६९६ ग्रह, ११७६ नक्षत्र और २८१२९५० कोडाकोडी [२८१२९५०'००००००००००००००००] तारोंका परिवार है ।

और पुष्करार्धवरा ^{२६३}द्वीपमें ७२ चन्द्र होनेसे उसका ६३३६ ग्रह परिवार, २०१६

२५९. दो चंदा दो स्या णक्खत्ता खलु हवंति छप्पन्ना । नावत्तरं गहसतं जम्बूद्वीवे विचारीणं ॥ १ ॥
 एगं च सय सहस्सं तित्तिंसं खलु भवे सहस्साइं । णव य सता पण्णासा तारागणकोडिकोडीणं ॥२॥
२६०. चत्तारि चैव चंदा चत्तारि य सूरिया लवणतोथे । वारस णक्खत्तसयं गहाण तिण्णैव नावण्णा ॥ १ ॥
 दोच्चेव सतसहस्सा सत्तद्धिं खलु भवे सहस्साइं । णव य सता लवण ज्जे तारागणकोडिकोडीणं ॥२॥
२६१. चउवीस ससि रविणो णक्खत्तसता य तिण्णि छत्तीसा । एगं च गहसहस्सं छप्पणं धायइंसंडे ॥ १ ॥
 अट्ठेव सतसहस्सा तिण्णिसहस्साइं सत्तय सत्ताइं । धायइंसंडे दीवे तारागणकोडिकोडीणं ॥ २ ॥
२६२. नायालीसं चंदा नायालीसं च दिगकरा दित्ता । कालोदधिंमि एते चरंति संबद्ध लेसागा ॥ १ ॥
 णक्खत्ताणं सहस्सं एगमेव छावत्तरं च सतमण्णं । छच्च सया छण्णवइ महग्गहा तिण्णि य सहस्सा ॥२॥
 अट्ठावीसं कालोदधिंमि वारस य सहस्साइं । णव य सया पण्णासा तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३ ॥
२६३. नावत्तरिं च चंदा नावत्तरिमेव दिगकरा दित्ता । पुक्खरवरदीवइडे चरंति एते पभासंता ॥ १ ॥
 तिण्णिय सत्ता छत्तीसा छच्च सहस्सा महग्गहाणं तु । णक्खत्ताणं तु भवे सोलाइं दुवे सहस्साइं ॥२॥
 अडयाल सय सहस्सा नावीसं खलु भवे सहस्साइं । दो य सतपुक्खरद्धे तारागणकोडिकोडीणं ॥३॥

[सू० प्र० १९ प्राभृत सू० १००]

२६१. चउवीस ससि रविणो णक्खत्तसता य तिण्णि छत्तीसा । एगं च गहसहस्सं छप्पणं धायइंसंडे ॥ १ ॥
 अट्ठेव सतसहस्सा तिण्णिसहस्साइं सत्तय सत्ताइं । धायइंसंडे दीवे तारागणकोडिकोडीणं ॥ २ ॥
२६२. नायालीसं चंदा नायालीसं च दिगकरा दित्ता । कालोदधिंमि एते चरंति संबद्ध लेसागा ॥ १ ॥
 णक्खत्ताणं सहस्सं एगमेव छावत्तरं च सतमण्णं । छच्च सया छण्णवइ महग्गहा तिण्णि य सहस्सा ॥२॥
 अट्ठावीसं कालोदधिंमि वारस य सहस्साइं । णव य सया पण्णासा तारागणकोडिकोडीणं ॥ ३ ॥
२६३. नावत्तरिं च चंदा नावत्तरिमेव दिगकरा दित्ता । पुक्खरवरदीवइडे चरंति एते पभासंता ॥ १ ॥
 तिण्णिय सत्ता छत्तीसा छच्च सहस्सा महग्गहाणं तु । णक्खत्ताणं तु भवे सोलाइं दुवे सहस्साइं ॥२॥
 अडयाल सय सहस्सा नावीसं खलु भवे सहस्साइं । दो य सतपुक्खरद्धे तारागणकोडिकोडीणं ॥३॥

[सू० प्र० १९ प्राभृत सू० १००]

नक्षत्र तथा ४८२२२०० कोडाकोडी [४८२२२०००'००००००००००००००००००] उतना तारोंका परिवार है ।

इस तरह सर्वद्वीप-समुद्रवर्ती ज्योतिषीकी संख्या खनेके लिए करण बताये ।

इस प्रकार मनुष्यक्षेत्रमें कुल ^{२६४}सूर्यकी संख्या १३२की, चन्द्रकी संख्या १३२की, ग्रहकी ११६१६, नक्षत्रकी ३६९६ और ८८४०७०००,०००००००००००००० इतनी तारोंकी कुल संख्या है और ये ^{२६५}तारे कल्म्वपुष्पवत् अधः स्थानमें संकीर्ण और ऊर्ध्वस्थानमें विस्तीर्ण होते हैं । तथा तारोंकी चर और स्थिर ज्योतिषी संख्या मिलकर भी संख्या ^{२६६}असंख्याता ही है, क्योंकि ज्योतिषी देव असंख्याता हैं ।

॥ मनुष्यक्षेत्रमें ग्रह-नक्षत्र-तारा संख्या यन्त्रक ॥

द्वीप-समुद्र नाम	चन्द्र संख्या	ग्रह परिवार	नक्षत्र परिवार	तारा परिवार
जम्बूद्वीपके	२ चन्द्रका परिवार	१७६	५६	१३३९५ कोडाकोडी
लवण समुद्रके	४ चन्द्रका परिवार	३५२	११२	२६७९०० ,,
धातकी खण्डके	१२ ,, ,,	१०५६	३३६	८०३७०० ,,
कालोदधि समुद्रके	४२ ,, ,,	३६९६	११७६	२८१२९५० ,,
पुष्करार्ध द्वीपके	७२ ,, ,,	६३३६	२०१६	४८२२२०० ,,

यहाँ जो ग्रह-नक्षत्र बताये उनके नाम कहते हैं ।

^{२६७}नक्षत्रोंके नाम—अभिजित्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वभाद्रपदा, उत्तराभाद्र-

२६४. बत्तीसं चंदसतं बत्तीसं चैव सूरियाण सतं । सयलं माणुसलोए चरंति एते पमासंता ॥
एकारसयसहस्सा छस्सिय सोला महग्गहाणं तु । छन्चसतां छण्णउया णक्वत्ता तिण्णिय सहस्सा ॥
अट्ठासीइं चत्ताइं सतसहस्साइं मणुयलोमि । सत्त य सता अणूणा ताराणणकोडिकोडीणं ॥

२६५. एवतियं तारणं जं भणियं माणुसंमि लोममि । चारं कलंबुयापुप्फसंठित्तं जोतिसं चरति ॥

२६६. एसो तारापिंडो सव्वसमासेण मणुयलोयमि । बहिता पुण ताराओ जिणेहिं भणिया असंवेइजाओ ॥

[सू० प्र० प्राभृत]

२६७. अभिई सवण धणिष्ठा सयभिसया दोय हुंति भद्वया । रेवई अस्सिणि भरणि य कत्तिया रोहीणि चैव ॥
मिगसर अद्दाय पुण्वसू य पुसो य तहसिलेसाय । मय पुव्वफग्गुणी उत्तराहत्यो य चित्ताय ॥
साई विसाहा अणुराह चैव जेष्ठा तहैव मूलो य । पुञ्जुत्तरा असादा य जाण नक्वत्तनामाणि ॥

पदा, रेवती, अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशीर्ष, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा ।

इसी तरह ग्रहोंके ^{२६८}नाम-अंगारक, विकालक, ^{२६९}लोहित्यक, शनैश्वर, आधुनिक, प्राधुनिक, कण, कणक, कणकणक, कणवितानक, कणसंतानक, सोम, सहित, आश्वासेन, कार्योपग, कर्बुटक, अजकरक, दुंदुभक, शंख, शंखनाभ, शंखवर्णाभ, कंस, कंसनाभ, कंसवर्णाभ, नील, नीलावभास, रूपी, रूप्यवभास, भस्म, भस्मकराशि, तिल, तिलपुष्पवर्ण, दक, दकवर्ण, काय, बंध्य, इन्द्राग्नि, धूमकेतु, हरि, पिंगल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, राहु, अगस्ति, माणवक, कामस्पर्श, धुर, प्रमुख, विकट, विसंधिकल्प, प्रकल्प, जटाल, अरुण, अग्नि, काल, महाकाल, स्वस्तिक, सौवस्तिक, वर्धमानक, प्रलंबक, नित्यालोक, नित्योद्योत, स्वयंप्रभ, अवभास, श्रेयस्कर, खेमंकर, आभंकर, प्रभंकर, अरजा, विरजा, अशोक, वीतशोक, विमल, विवर्त, विवस, विशाल, शाल, सुव्रत, अनिवृत्ति, अेकजटी, द्विजटी, करिक, कर, राजार्गल, पुष्पकेतु और भावकेतु इस तरह अठ्ठासी ग्रह हैं । [९१]

॥ इति प्रस्तुतभवनद्वारे तृतीय ज्योतिषीनिकायवर्णनम् ॥



२६८. इंगाले त्रियालये लोहियंके सणिच्छरे चैव । आहुणिए पाहुणिए कणसनामावि पंचे व ॥ १ ॥
 सोमे सहिए अस्सामणे य कज्जोवयणे य कच्चरण । अयकरदुंदुभए वि य संखंसनामावि तिन्नेव ॥ २ ॥
 तिन्नेव कंसनामा नीले रूपी य हुंति चत्तारि । भासा तिल पुष्पवण्णे दगवण्णे कालबंधे य ॥ ३ ॥
 'दग्गी धूमकेउ हरि पिंगले बुधे य सुक्के य । वहसइ राहु अगत्थी माणवए कामपासे य ॥ ४ ॥
 धुरए पसुहे वियडे विसंधिकप्पे तथा पइल्ले य । जडिया लण्णे अरुणे अगिल्लकाले महाकालेया ॥ ५ ॥
 मोत्थि य सोवत्थिए वद्धमाणग तथा पल्ले य । णिच्चालोए णिच्चुज्जोए सयंपमे चैव ओभासे ॥ ६ ॥
 सेयंकर खेमंकर आभंकर पभंकरे य बोद्धवे । अए विरए य तथा असोगे तह वीअसोगे य ॥ ७ ॥
 विमले विततविवत्थे विशाले तह साल सुव्वए चैव । अणियट्ठी एणजडी य होइ वियट्ठी य बोद्धवे ॥ ८ ॥
 कर करिएरायगले बोद्धवे पुष्पभावकेऊ य । अठ्ठासीइ गहा खलु नायव्वा आणुपुव्वीए ॥ ९ ॥

‘विमले’ यह नाम सूर्यप्रकृतिकी मूल टीकामें नहीं है अतः पाठान्तर सम्भवित है ।

सम्प्रति प्रगटप्रभावकश्रीअजाहरापार्श्वनाथाय नमः ॥

ज्योतिषी निकायाश्रयी पाँचवाँ लघु परिशिष्ट-(५)

१. जब ज्योतिष्क इन्द्रको देवांगनाओंके साथ दिव्य विषयादि सुखोंको भोगनेकी इच्छा हो तब अपनी सभाके बिच वृत्ताकारमें एक बृहद् स्थान विकुर्वते (बनाते) हैं । वैसे चक्राकारवाले स्थानके ऊपर सुन्दर-रमणीय-मनोज्ञ और दिव्य भाग रहा होता है । जिसके ऊपर ये देव एक बड़ा सुन्दर प्रासाद बनाते हैं । जो ५०० यो० ऊँचा, २५० यो० विस्तृत, दिव्य प्रभाके पुंजसे व्याप्त होता है । उस प्रासादका ऊपरका भाग चित्र-विचित्र पद्म-लता-चित्रकारीसे अत्यन्त सुन्दर और दर्शनीय होता है, मणिरत्नोंके स्पर्शवाला है । इस प्रासाद पर आठ योजन ऊँची एक मणिपीठिका होती है । उस मणिपीठिका पर एक बड़ी देवशय्या विषयसुखार्थ विकुर्वती (बनाई) है । जो शय्या अत्यन्त सुकोमल-दिव्य-उत्तमोत्तम होती है ।

जिस शय्यामें इन्द्र अपने अपने परिवारयुक्त स्वपटरानियोंके साथ गांधर्व और नाट्यानीक इन दो प्रकारके अनीकयुक्त आनन्द करता हुआ, नाटय, गीत, वाद्यादिक शब्दोंके मधुर नादोंसे प्रफुल्लित होता, अग्रमहिषी तथा उसने प्रेम-भक्तिसे, इन्द्रके सुखार्थ विकुर्वित दूसरे हजारों प्रतिरूपोंके साथ, इन्द्र भी स्व-वेदोपशमन करने उतने ही रूपोंको विकुर्वित करके, उस दिव्य-सुमनोहर मनको अनुकूल ऐसी अत्यन्त सुकोमल देवांगनाओंके साथ मनुष्यकी तरह सर्वाङ्ग युक्त हुआ, अन्तमें देवांगनाओंके शरीरोंको बल देनेवाले, कान्ति करनेवाले वैक्रिय जातिके वीर्य-पुद्गलोंको प्रक्षेपित करता हुआ विषयोपभोगसे निवृत्त होता है ।

इसी तरह यथायोग्य अन्य निकायोंमें विषयभोग प्रासादिककी व्यवस्था सोचें ।

२. पृष्ठ १९२में चालू टिप्पणीमें पीछेसे “विशेषतः यह भी” यह परिच्छेद लिखा गया है । उसमें अन्य द्वीप-समुद्रोंमें आदि और अन्तके ५० हजार यो० वर्जित करनेका जो नियम है उस नियमको बाजूमें रखकर विचारणा चलाई है परन्तु वैसा न विचारें किन्तु आदि और अन्तके ५० हजार योजन वर्जित करके अवशिष्ट क्षेत्रमें लाख लाख योजनके अन्तर पर उस उस पंक्ति संख्याको यथायोग्य संगत रखना युक्त है, यदि वैसा न सोचे तो उसी परिच्छेदके अनुसार तो स्वयंभूरमण समुद्रके अन्तिम भागमें (५० हजार यो० वर्जित करनेका बाजू पर रक्खा होनेसे) एक पंक्ति माननी ही पड़े और अगर वैसा माने तो उसका प्रकाश कहाँ जाए ? क्योंकि समुद्रान्त पर अलोक शुरू होता है, इसलिए यह विचारणा योग्य नहीं लगती ।

३. इस ज्योतिष्मन्त्रके आधार पर प्राणियोंको शुभाशुभ प्रवृत्तिमें सुख-दुःखका

अनुभव होता है । वे अनुकूल राशिमें आए हों तो सुख और प्रतिकूल हुए हों तो दुःख-पीडाएँ देते हैं अतः निःस्पृह, निर्ग्रन्थोंको भी प्रव्रज्यादि शुभकार्य सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादि बल देखकर करनेका ज्ञानी महर्षियोंने शास्त्रोंमें कहा है ।

४. टिप्पणी २४१ (पृ० २३६) सूर्य-चन्द्रमें पहला कौन हो सकता है ? इसका इस परिशिष्टमें खुलसा देनेका था, परन्तु यह विषय अधिक चर्चित होनेसे दूसरे भी कतिपय विषय समझाने पड़ते और ग्रन्थ-विस्तार बढ़ता जाए इसलिए अत्र खुलसा नहीं दिया है ।

॥ समाप्तं पंचमं परिशिष्टम् ॥

चौथी वैमानिक निकायका वर्णन ॥

अवतरण — पहले सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिषीनिकाय विषयक सविस्तर वर्णन करके अब दूसरे 'भवन' द्वारमें ही अवशिष्ट चौथे वैमानिकनिकाय विषयक वर्णन शुरू करते हुए ग्रन्थकार महाराज प्रथम दो गाथाओंसे प्रतिकल्पकी विमान संख्याका प्रमाण दर्शाते हैं ।

बत्तीसऽद्वावीसा चारस अड चउ विमाणलक्खाई ।

पन्नास चत्त छ सहस्स, कमेण सोहम्ममाईसु ॥ ९२ ॥

दुसु सयचउ दुसु सयतिग-मिगारसहियं सयं तिगे हिट्ठा ।

मज्झे सत्तुत्तरसय-मुत्तरितिगे सयमुत्तरि पंच ॥ ९३ ॥

गाथार्थ — विशेषार्थवत् । ॥ ९२, ९३ ॥

विशेषार्थ — प्रथम 'वैमानिक' अर्थात् 'विशिष्टपुण्यैर्जन्तुभिर्मान्यन्ते-उपभुज्यन्त इति विमानानि, तेषु भवा वैमानिकाः' ॥ विशिष्ट पुण्यशाली जीवोंसे जो भोगने योग्य हैं वे विमान कहल्यते और उनमें उत्पन्न हुए वे वैमानिक कहल्यते हैं ।

इस वैमानिकदेवनिकायमेंसे प्रथम सौधर्म कल्पमें [वज्रमय बुद्धे] ३२ लाख विमान हैं, इशानकल्पमें २८ लाख, सनत्कुमारकल्पमें १२ लाख, माहेन्द्रमें ८ लाख, ब्रह्मकल्पमें ४ लाख, लांतककल्पमें ५० हजार, महाशुकमें ४० हजार, सहस्रारमें ६ हजार, आनतप्राणत दोनोंके होकर ४००, आरण-अच्युत दोनों कल्पके कुल ३००, नवप्रैवेयकाश्रयी पहली तीनों प्रैवेयकोंके १११, मध्यम प्रै० त्रिकके १०७ और उपरितन प्रै० त्रिकमें १०० और उसके ऊपर अनुत्तरकल्पमें पांच विमान संख्या है ।

विशेष इतना समझना कि-ऊपर कही संख्या वह पुष्पावकीर्ण और आवलीकागत दोनोंकी संयुक्त समझना ।

उन उन कल्पगत विमानोंके ऊपर उस उस निकायके इन्द्रका आधिपत्य होता है ।

प्रत्येक त्रायस्त्रिंशक और सामानिकका एक एक विमान होता है । त्रायस्त्रिंशक विमान कांचनप्रभरत्न तथा कंचनमय और सामानिक विमान शतकान्तरत्नमय और शतज्वल-रत्नमय होते हैं । [९२-९३]

॥ वैमानिक निकायमें प्रतिकल्पमें विमानसंख्या यन्त्र ॥

नाम	*	वि. सं.	नाम	*	वि. सं.	नाम	*	वि. सं.
सौधर्मकल्पमें		३२ लाख	सहस्रारमें		६ हजार	सर्वभद्रमें		} १०७
इशान	॥	२८	आनत		४००	सुदिशालमें		
सनत्कु.	॥	१२	प्राणत			सुमनसमें		} १००
माहेन्द्र	॥	८	आरण		३००	सौमनसमें		
ब्रह्म	॥	४	अच्युत			प्रियंकरमें		} ५
लांतक	॥	५० हजार	सुदर्शन	प्र०		आदित्यमें		
शुक	॥	४० हजार	सुप्तभद्र	॥	१११	अनुत्तरमें		
			मनोरम	॥		कल्पमें		

अवतरण— पहले वैमानिक निकायमें प्रत्येक कल्पमें कुल विमानसंख्या बताई, अब उस समग्र संख्याका कुल जोड़ वैमानिक निकायमें कितना प्राप्त होता है वह तथा इन्द्रक विमान संख्या बताते हैं—

चुलसीइ लक्ख सत्ता-णवइ सहस्सा विमाण तेवीसं ।

सन्वग्गमुइडलोगम्मि, इंदया विसट्टि पयरेसु ॥ ९४ ॥

गाथार्थ— वैमानिकमें [आवलीगत और पुष्पावकीर्ण दोनों विमानोंकी समग्र संख्याका एकत्र करें तब] ८४९७०२३की विमानसंख्या ऊर्ध्वलोकमें प्राप्त होती है ।

प्रत्येक प्रतरमें इन्द्रक विमान होनेसे सर्व प्रतरोंके ६२ इन्द्रक विमान होते हैं ॥ ९४ ॥

विशेषार्थ— सुगम है । सिर्फ इस निकायमें विमानसंख्या मर्यादित है । और इन्द्रक विमान समग्र प्रतरके मध्य भागमें हैं । [९४]

अवतरण—पहले समग्र निकायाश्रयी विमानसंख्या बताई । अब प्रत्येक कल्पमें वे विमान किस तरह रहे हैं और प्रतिकल्प विमानसंख्या कितनी हो ? यह जाननेको युक्ति बताते हैं ।

चउदिसि चउपंतीओ, बासठ्ठिविमाणिया पढमपयरे ।

उवरि इक्किक्कहीणा, अणुत्तरे जाव इक्किक्क ॥ ९५ ॥

गाथार्थ—प्रत्येक कल्पमें चारों दिशाओंमें चार पंक्तियाँ होती हैं । उनमें प्रथम प्रतरमें बासठ-बासठ विमानोंकी चार पंक्तियाँ हैं । पश्चात् ऊपर जाने पर प्रथम प्रतरसे एक-एक विमान (चारों पंक्तिमेंसे) हीन हीन करते जाना यह अनुत्तरसे यावत् एक-एक रहे तब तक । ॥ ९५ ॥

विशेषार्थ—पहले गाथा चौदहमें वैमानिक निकायमें कुल बासठ प्रतर हैं ऐसा बताया है । उस प्रत्येक प्रतरमें चारों दिशावर्ती चार पंक्तियाँ आई हैं और उस उस कल्पमें चारों पंक्तिके प्रारम्भके संगमस्थानमें अर्थात् प्रतरके मध्य भागमें इन्द्रक विमान आए हैं ।

साथ ही उस उस कल्पगत प्रत्येक पंक्तिके आंतरेमें पुष्पावकीर्ण विमान आए हैं, वैसे आवलिकागत विमानोंके परस्पर अन्तरमें भी [पुष्पा०] विमान आए हैं ।

इनमें 'पंक्तिगत' विमान श्रेणीबद्ध होनेसे 'आवलिकागत' विमानोंके नामसे प्रचलित हैं ।

और पंक्तियोंके आंतरोमें तथा विमानोंके आंतरोमें रहे विमान आवलिकागत (पंक्तिबद्ध) नहीं किन्तु इधर-उधर यथेच्छस्थानमें 'बिखरे पुष्पोकी' तरह अलग अलग वर्तित होनेसे 'पुष्पावकीर्ण' कहते हैं । आवलिकागत विमानोंका आकार अमुक क्रममें नियत है, जब कि पुष्पावकीर्णोंके आकार विविध प्रकारके हैं । (जो बात ग्रन्थकार आगे कहनेवाले हैं ।)

अब उनमें सौधर्मकल्पमें प्रथम प्रतरमें चारों दिशाओंमें चार पंक्तियाँ आई हैं । प्रत्येक पंक्तिमें बासठ बासठ विमान हैं, दूसरे प्रतरमें उक्त कथन अनुसार पंक्तिके अन्तिम छोरसे एक एक विमान हीन करनेसे प्रत्येक पंक्तिमें इकसठ विमान रहते । तीसरे प्रतरमें इस तरह करनेसे (चार पंक्तियोंमें अन्तिम भागसे एक एक हीन करनेसे) साठ साठ विमान रहते, इस तरह प्रत्येक प्रतरमें करते करते अन्तिम त्रैवेयकमें दो दो विमानोंकी श्रेणी और अन्तिम-सर्वार्थसिद्ध प्रतरमें अर्थात् अनुत्तर कल्पमें चारों बाजू पर सिर्फ एक एक विमान अवशिष्ट रहता है । यह दिशागत श्रेणी सद्भावकी बात कही । [९५]

अवतरण—पहले प्रति प्रतर आवलिकागत विमान संख्या प्राप्त करनेका क्रम दिखाकर, अब वे विमान किस आकारमें, किस क्रममें रहे हैं आदि बताते हैं ।

इंदयवट्टा पंतीसु, तो कयसो तंस चउरंसा वट्टा ।

विविहा पुष्पवकिण्णा, तयंतरे मुत्तु पुब्बदिसिं ॥ ९६ ॥

गाथार्थ—पंक्तियोंमें इन्द्रक विमान गोल हैं, पश्चात् पंक्तिमें प्रथम त्रिकोण, फिर चौकोन, और फिर गोल विमान ऐसा क्रम होता है । और पुष्पावकीर्ण विमान विविधाकारवाले हैं और ये पुष्पावकीर्ण विमान पूर्वदिशाकी पंक्तिको वर्जित करके शेष तीनों पंक्तियोंके आंतरेमें समझना । ॥ ९६ ॥

विशेषार्थ—प्रत्येक कल्पमें पंक्तियोंके मध्यभागमें रहे इन्द्रक विमान गोल होते हैं और उन विमानोंसे चारों बाजू-प्रत्येक दिशावर्ती चारों पंक्तियाँ शुरु होती हैं, उनमें प्रत्येक पंक्तिका पहला विमान त्रिकोनाकार- [शृङ्गाटक] सिंघाडेके आकारका होता है ।

पश्चात् चारों पंक्तियोंमें चौकोनाकारवाले विमान कसरत करनेके 'अखाडाकार' के समान होते हैं क्योंकि अखाडेका संस्थान अक्षपाटक जैसे होनेसे वह समचतुष्कोण आकारमें होता है । ततः गोलाकारवाले ० (चारों पंक्तियोंमें) विमान होते हैं । पुनः चारों पंक्तियोंमें त्रिकोण विमान, फिर चौकोन और फिर गोल । पुनः त्रिकोणसे लेकर प्रस्तुत आकारक्रम ६२वें विमान तक ले जाना, जिससे चारों दिशावर्तीकी पंक्तियोंमें बासठवीं संख्याके विमान त्रिकोणाकारवाले ही रहें ।

इनके सिवाय पुष्पावकीर्ण विमान तो स्वस्तिक-नन्द्यावर्त, श्रीवत्स, खड्ग, कमल, चक्रादि विचित्र आकारवाले प्रत्येक प्रतरमें होते हैं ।

वे पुष्पावकीर्ण विमान चारों पंक्तियोंमें जो चार आंतरे उन चार आंतरोमेंसे पूर्वदिशाके अन्तरको वर्जित करके शेष तीनों आंतरोमें रहे होते हैं । मुख्य इन्द्रक विमानकी चारों दिशाओंमें जो बासठ बासठ (अथवा ऊपरके प्रतरोंमें न्यून न्यून) त्रिकोण, चौकोन और गोल इस तरह अनुक्रमसे जो पंक्तिगत विमान हैं और उन पंक्तिगत विमानोंका जो असंख्य असंख्य योजनका अन्तर है उसमें पुष्पावकीर्ण विमान होते हैं । साथ ही अवतंसक विमान भी इन्द्रकविमान और पंक्तिके प्रारम्भके बिचमें होते हैं, तो पूर्वदिशाके अन्तरको वर्जित करके शेष तीनों पंक्तिगत विमानोंके आंतरेमें पुष्पावकीर्ण विमान अवश्य होते हैं । [९६]

अवतरण—पूर्व गाथामें जो क्रम कहा, वह क्रम हर एक प्रतरमें समान है या विपर्यासवाला है ? उसके समाधानरूप यह गाथा बताती है कि—

वटुं वटुस्सुषरिं, तंसं तंसस्स १उवरिमं होइ ।
चउरंसे चउरंसं, उडुं तु विमाणसेहीओ ॥ १७ ॥

[प्र. गा. सं. २४]

गाथार्थ—प्रथम प्रतरमें जिस स्थान पर वर्तुल विमान है उसके ऊपरके प्रतरमें समश्रेणिमें वर्तुल ही होता है, त्रिकोण पर त्रिकोण ही होता है और चौकोन पर चौकोन विमान होते हैं, इस तरह ऊर्ध्व विमानकी श्रेणियाँ आई हैं । ॥ १७ ॥

विशेषार्थ—कोई एक मनुष्य अथवा देव सौधर्मके प्रथम प्रतरमें रहे जो पंक्तिगत विमान हैं उनमेंसे त्रिकोण, चौकोन अथवा गोल इन तीनोंमेंसे किसी भी विमानके मध्यस्थानसे ऊर्ध्व उडने लगे तो सीधे समश्रेणिमें जाते उस देवने यदि त्रिकोणमें उडनेका शुरु किया हो तो, आगेके प्रतरगत त्रिकोण विमानमें ही आकर खड़ा रहे, क्योंकि प्रथम प्रतरगत पंक्तिविमान जिस स्थानमें जिस आकारवाले हों उसी स्थान पर ऊर्ध्वभागमें उत्तरोत्तर प्रतरमें उसी आकारवाले विमान होते हैं ।

फक्त इतना विशेष कि, आवलिकागत विमानोंकी संख्यामें प्रत्येक प्रतरमें एक एककी न्यूनता समझना । [१७] (प्र. गा. सं. २४)

अवतरण—अब वे विमान कितने द्वारवाले होते हैं ? यह कहते हैं ।

सन्वे वटुविमाणा, एगदुवारा हवंति *नायन्वा ।
तिणिण य तंसविमाणे, चत्तारि य हुंति चउरंसे ॥ १८ ॥

[प्र. गा. सं. २५]

गाथार्थ—सर्व गोलकार विमानोंके एक ही द्वार होता है, त्रिकोण विमानोंके तीन द्वार होते हैं और चौकोन विमानोंके चार द्वार हैं । ॥ १८ ॥

विशेषार्थ—सुगम है । मात्र गोल विमानके एक द्वारकी दिशा पूर्व समझना उचित है । गोल विमानके एक ही द्वार होता है यह बात आवलिका प्रविष्ट वृत्तविमानकी सम्भव है । शेषके लिए अधिक द्वार भी होनेका सम्भव सही है । [१८] [प्र. गा. सं. २५]

अवतरण—अब आवलिकागत और पुष्पावकीर्ण विमानोंका परस्पर अन्तर प्रमाण दर्शाते हैं ।

१. उष्परि ॥

* विण्णया पाठः ।

आवलियविमाणां, तु अन्तरं नियमसो असंखिज्जं ।

संखिज्जमसंखिज्जं, भणियं पुष्पावकिण्णाणं ॥ ९९ ॥

[प्र. गा. सं. २६]

गाथार्थ—आवलिक्कागत विमानोंका परस्पर अन्तर असंख्याता योजनका होता है । जब कि पुष्पावकीर्ण विमानोंका परस्पर अन्तर प्रमाण संख्याता योजनका तथा असंख्याता योजनका भी होता है । ॥ ९९ ॥

विशेषार्थ—सुगम है । [९९] [प्र. गा. सं. २६]

अवतरण—अब उक्त अन्तरवाले उन विमानोंमेंसे किस किस द्वीप-समुद्र पर पहले प्रतरकी विमानपंक्तिके क्या क्या विमान ऊर्ध्वभागमें आते हैं वह कहते हैं ।

एगं देवे दीवे, दुवे य नागोदहीसु बोद्धुवे ।

चत्तारि जक्खदीवे, भूयसमुहेसु अट्टेव ॥ १०० ॥

[प्र. गा. सं. २७]

सोलससयंभूरमणे, दीवेसु पइठिया य सुरभवणा ।

इगतीसं च विमाणा, सयंभूरमणे समुहे य ॥ १०१ ॥

[प्र. गा. सं. २८]

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १००-१०१ ॥

विशेषार्थ—पहले बता गये कि सौधर्मके प्रथम प्रतरमें मध्यभागमें वर्तुल्यकारमें इन्द्रक विमान आया है और उसकी चारों दिशावर्ती बासठ बासठ विमानोंसे युक्त चारों पंक्तियोंकी चारों दिशाओंमें शुरुआत होती है ।

अब उनमें विचका जो इन्द्रविमान है वह गोल और ४५ लाख योजनका होनेसे अढाईद्वीप पर रहा है अतः वह द्वीपके ढकन समान है । साथ ही पंक्तिगत विमानोंमेंसे प्रत्येक पंक्तिके पहले त्रिकोणाकार विमान स्वस्वदिशावर्ती असंख्याता द्वीपसमुद्र बीतनेके बाद आते देवद्वीप पर चारों बाजू पर आए हैं । [अर्थात् प्रत्येक पंक्तिका आरम्भ इन्द्रकविमानसे असंख्य योजन दूरसे होता है] उसके बाद आए चारों बाजूवर्ती वेष्टित नागसमुद्र पर प्रत्येक दिशावर्ती प्रत्येक पंक्तिके दो-दो (गोल और समचतुर्भुज) विमान आए हैं, वैसे ही यक्षद्वीप पर समश्रेणीमें चारों दिशावर्ती पंक्तिके चार-चार विमान आए हैं, भूतसमुद्र पर आठ-आठ विमान, स्वयंभूरमणद्वीप पर सोलह सोलह विमान और स्वयंभूरमणसमुद्रमें ऊर्ध्व भागमें चारों दिशावर्ती प्रत्येक पंक्तिगत अवशिष्ट एकतीस-एकतीस विमान जगत्स्वभावसे ऊर्ध्वभागमें प्रतिष्ठित हैं ।

यदि यहाँ कोई शंका करे कि अढाईद्वीपके बाद ठेठ देवद्वीपमें पंक्तिविमानारम्भ कहा है तो बिचके असंख्य द्वीप-समुद्र पर क्या कुल भी नहीं होता ? तो वह बिचका प्रदेश आवलिकागत विमान रहित ही होता है । तत्पश्चात् २-४-८-१६-३१ विमान, उन उन द्वीपोंमें जो असंख्य-असंख्य योजनवाले होनेसे तथा असंख्यमें भी असंख्य भेद होनेसे पूर्वपूर्वसे बृहत्-असंख्य योजन मानवाले होनेसे खुशीसे समा सकते हैं ।

द्वितीय प्रतरमें स्वयंभूरमण समुद्रवर्ती एक एक विमान चारों बाजू पर हीन सोचना इस तरह पश्चात् क्रमसे एक एककी हीनता अनुत्तर यावत् सोचे । [१००-१०१]
(प्र. गा. सं. २७-२८)

॥ उस उस द्वीप-समुद्रमें प्रतिष्ठितविमानसंख्यावबोधक यन्त्र ॥

प्रथमके चारों दिशावर्ती चारविमानोंमेंसे		प्रत्येक विमान देवद्वीपमें चारों बाजूपर हैं ।
बादके	दो-दो	नागसमुद्रमें
”	चार-चार	यक्षद्वीपमें
”	आठ-आठ	भूतसमुद्रमें
”	सोलह-सोलह	स्वयंभूरमणद्वीपमें
”	३१-३१	स्वयंभूरमणसमुद्रमें

अवतरण—विमानके गंध-स्पर्शादिक कैसे हों ? यह बतते हैं ।

अचंचंतसुरहिगंधा, फासे नवणीयमउअसुहफासा ।

निचचुज्जोआ रम्मा, सयंपहा ते विरायंति ॥ १०२ ॥

[प्र. गा. सं. २९]

गाथार्थ—ये विमान अत्यन्त सुरभिगंधवाले और स्पर्श करनेसे माखनकी तरह मृदु-सुक्रोमल, तथा सुखकारी स्पर्शवाले, निरन्तर उद्योत करनेवाले, रमणीय और तथाविध जगत्स्वभावसे स्वयंप्रभा-तेजवाले (गगनमण्डलमें) शोभित हैं । ॥ १०२ ॥

विशेषार्थ—सुगम है । शेष विमानका अधिक वर्णन ग्रन्थान्तरसे देखे । [१०२]
[प्र. गा. सं. २९]

अवतरण—अब जो देवलोक सौधर्म-ईशानकी तरह युग्म रूपमें रहे हैं वहाँ किन विमानोंमें, किस दिशामें, किसका किस तरह हक रहा है ? इस हकीकतको जणाते हुए प्रथम उत्तर-दक्षिणवर्ती आवलिकागत विमानोंके स्वामित्वको जणानेवाली गाथा कहते हैं ।

जे दक्खिणेण इंदा, दाहिणओ आवली मुणेयन्वा ।

जे पुण उत्तर इंदा, *उत्तरओ आवली तेसि ॥१०३॥

(प्र. गा. सं. ३०)

गाथार्थ—दक्षिण दिशामें रहे आवलिकागत विमान उन दक्षिणेन्द्रोंके जाने और उत्तरदिशामें रहे आवलिकागत विमान उन उत्तरेन्द्रोंके जाने । ॥१०३॥

विशेषार्थ—सुगम है । इतना विशेष समझे कि—प्रत्येक प्रतरमें विमानोंकी चार पंक्तियाँ हैं । प्रत्येक पंक्ति पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण इस तरह चारों दिशाओंमें विभाजित है । उनमें जो पंक्ति दक्षिणदिशामें गई हो वह दक्षिणेन्द्रों (सौधर्म-सनत्कु०) की ही जानें । इसी तरह उत्तरदिशामें गई सीधी पंक्ति वह दक्षिणदिशागत-समश्रेणियोंमें रहे ईशानादि (ईशान-माहेन्द्र दो ही) उत्तरेन्द्रोंकी जाने । [१०३] (प्र. गा. सं. ३०)

अवतरण—अब शेष पूर्व-पश्चिम दिशाके आवलिकागत विमानोंका स्वामित्व जणाते हैं ।

पुन्नेण पच्छिमेण य, सामण्णा आवली मुणेयन्वा ।

जे पुण बड्ढविमाणा, मज्झिंल्ला दाहिणिंल्लाणं ॥ १०४ ॥

(प्र. गा. सं. ३१)

गाथार्थ—पूर्व तथा पश्चिम दिशाकी पंक्ति सामान्यतः जानें । उसमें प्रतरमध्यमें वर्तित गोल इन्द्रक विमानोंको उन दक्षिणेन्द्रोंके ही जानें । ॥ १०४ ॥

विशेषार्थ—पूर्व और पश्चिमदिशामें गई विमानकी पंक्तियाँ सामान्यतः जानें, अर्थात् आधे विमान सौधर्मेन्द्रकी मालिकीके और आधे ईशानेन्द्रकी मालिकीके जानें । उसमें भी इतना विशेष समझना कि—प्रतरमध्यवर्ती गोलकारमें वर्तित तमाम इन्द्रक विमान ^{२७०} दक्षिणेन्द्रोंके ही स्वामित्ववाले और बिचके गोल इन्द्रकविमान भी उनकी ही मालिकीके हैं । इसीलिए दक्षिणेन्द्रोंका वैशिष्ट्य है । [१०४] (प्र. गा. सं. ३१)

अवतरण—अब पूर्व और पश्चिम पंक्तिकी मालिकीमें थोड़ी विशेषता है उसे जगाकर पूर्वगाथाकी बातको स्पष्ट करते हैं ।

पुन्नेण पच्छिमेण य, जे बड्ढा ते वि दाहिणिंल्लस्स ।

तंस चउरंसगा पुण, सामण्णा हुंति दुण्हंपि ॥ १०५ ॥

(प्र. गा. सं. ३२)

* पाठां. उत्तरावली मुणिय तेसि ।

२७०. इन आवलिक और पुष्पावकीर्णविमान विषयक साक्षीरूप गाथाएँ यहाँ हम नहीं देते, क्योंकि देवेन्द्रनरकेन्द्र प्रकरणकी ये गाथाएँ चालू संप्रहर्णाकी टीकामें हैं ही ।

गाथार्थ—पूर्व और पश्चिम दिशागत पंक्तियोंमें रहे जो गोल विमान हैं वे दक्षिण दिशामें वर्तित इन्द्रोंके होते हैं । और शेष त्रिकोण और चौकोन विमान सामान्यतः दोनोंके भी होते हैं । ॥ १०५ ॥

विशेषार्थ—पूर्व और पश्चिमदिशाकी पंक्तिमें रहे गोल विमानोंमें वे कल्पयुगलवर्ती दक्षिणेन्द्र ही अधिकारी हैं, उसमें ^{२७१} उत्तरेन्द्रोंका कुछ अधिकार नहीं होता । साथ ही उन्हीं दोनों दिशाओंकी पंक्तिमें रहे त्रिकोण-चौकोन विमानोंकी जो संख्या है उसमें विमानोंकी आधी संख्या दक्षिणेन्द्रके ताबेकी और आधी उत्तरेन्द्रके ताबेकी है । यह व्यवस्था प्रथमके दो कल्पयुगलोंमें ही (सौ. ई. सनत्कु. माहेन्द्र) भावनाकी है, क्योंकि दोनों युगलोंमेंसे प्रत्येक युगलमें उम उस दिशामें दोनों इन्द्रोंका स्वामित्व संकलित है । उसमें भी पुनः अमुक पंक्तिगत अमुक प्रकारके विमानों पर स्वामित्व अमुकका ही होता है ।

और आनत-प्राणत, तथा आरण-अच्युत ये कल्पयुगल ही हैं, परन्तु तत्रवर्ती सर्व प्रतरोमें स्वामित्व तो एक ही इन्द्रका होता है जिससे वहाँ किसी विचारको अवकाश नहीं है । [१०५] (प्र. गा. सं. ३२)

अवतरण—अब उक्त विमानोंके रक्षणार्थ क्या है ? यह बताते हैं ।

पागारपरिक्लिप्ता, वडुविमाणा इवंति सरुवे वि ।

चउरंसविमाणाणं, चउदिसि वेइया होइ ॥ १०६ ॥

(प्र. गा. सं. ३३)

गाथार्थ—आवलिक्ता प्रविष्ट सर्व वर्तुल विमान चारों बाजू पर गढसे आवृत्त होते हैं । चौकोन विमानोंकी चारों बाजू पर वेदिका होती है । ॥ १०६ ॥

विशेषार्थ—सुगम है । इतना विशेष कि—गोलविमानके जो गढ बताया वह शीर्षभागमें (छोर पर) ^{२७२} कंगुरेवाल्-सुशोभित दिखावेवाल् होता है । और चौकोन विमानके जो वेदिका बताई वह विना कंगुरेकी सादी ^{२७३} भित्तीरूप समझना । अतः उस गढको वेदिका कही जाती है । [१०६] (प्र. गा. सं. ३३)

२७१. जिस तरह किसी राजाकी हदमें दूसरे किसी राजाके ताबेके भी ग्राम-नगरादि होते हैं, साथ ही कुछ ऐसे ग्राम-नगर भी आते हैं कि उस गाँवके अमुक भागके मालिक अमुक हों और अमुक विभागकी सत्ता अन्यकी हो, वैसा यहाँ सोचें ।

२७२. बहुतसे जीर्णनगरके किले विविध प्रकारके कंगुरोंके सहित होते हैं, यह जगप्रसिद्ध है ।

२७३. काठीआवाड (सौराष्ट्र)में मुकामोंके रक्षणार्थ ही जो की जाती है उसे 'बंडी' कहते हैं जबकि गुजरातमें 'दोरो' भी कहते हैं । इस तरह अलग अलग देश आश्रयी विविध तरहसे पहचाने जाते हैं ।

• अवतरण—अब इस तरह त्रिकोण विमानका रक्षण कैसा है ? यह बताते हैं ।

ततो वदुविमाणा, ततो तंसस्स वेइया होइ ।

पागारो वोद्धव्वो, अवसेसेसुं तु पासेसुं ॥ १०७ ॥

(प्र. गा. सं. ३४)

गाथार्थ—जिस दिशामें वर्तुल विमान हैं, उसके सम्मुख त्रिकोण विमानोंके वेदिका होती है । (कंगुरेसे रहित गढ) और शेष दिशाओंमें कंगुरेके साथ गढ होते हैं । ॥ १०७ ॥

विशेषार्थ—सुगम है । (१०७) (प्र. गा. सं. ३४)

अवतरण—अब किसी भी कल्पमें आवलिकागत विमानोंकी (तथा पुष्पावकीर्ण) संख्या प्राप्त करनेको 'करण' दर्शाते हैं ।

पढमंतिमपयरावलि-विमाणमुहभूमि तस्समासद्धं ।

पयर गुणमिट्ठकप्पे, सच्चव्वमं पुप्फकिन्निनयरे ॥ १०८ ॥

गार्थार्थ—पहली प्रतर श्रेणीकी विमानसंख्या 'मुख' कहलाती और अन्तिम प्रतरोंकी विमान संख्या उसकी 'भूमि' कहलाती है । इन दोनों संख्याका जोड करके उसका आधा कर देना, फिर उसका इच्छित कल्पना प्रतरोंकी संख्याके साथ गुना करना जिससे सर्व आवलिकागत विमानसंख्या प्राप्त होगी और शेष संख्या वहाँके पुष्पावकीर्ण विमानोंकी जर्नें । ॥ १०८ ॥

विशेषार्थ—यह गाथा जो करण बताती है वह इष्ट कल्पाश्रयी घटती है जैसे उपलक्षणसे समप्र निकायाश्रयी तथा प्रतिप्रतराश्रयी भी विमानसंख्या खनेको घट सकती है । क्योंकि 'मुख' और 'भूमि' संज्ञा संख्या^{२७४}प्रतिकल्प तथा समुच्चयमें (बासठ प्रतराश्रयी) भी घटती है क्योंकि किसी भी प्रकारका विमानसंख्यत्व निकायस्थान, प्रतिकल्प-स्थान और प्रतिप्रतरस्थान तीनों आश्रयी घट सकते हैं अतः यहाँ प्रथम उक्त करण उदाहरण द्वारा इष्टकल्पाश्रयी घटाते हैं ।

इष्टकल्पमें विमानसंख्याप्राप्तिका-उदाहरण—जिस तरह सौधर्म-ईशानकल्पगत प्रथम प्रतरमें २४९ विमानसंख्या, उस देवलोकका 'मुख' कहलाए और सौधर्म-ईशान देवलोकके

२७४. कल्प अर्थात् क्या ? सामर्थ्ये वर्णनायां च, कल्पने छेदने तथा । औपम्ये चाधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः ॥ 'अधिवास' अर्थमें कल्पशब्दका प्रयोग किया गया है ।

अन्तिमप्रतरकी २०१ विमानसंख्या 'भूमि' संज्ञक कहलाता है। (२४९ + २०१ =) दोनोंका जोड़ करनेसे ४५० की संख्या हुई। उक्त कथनानुसार उसका आधा करनेसे २२५ की संख्या अवशिष्ट रही, उसे सौधर्म-ईशानके (१३) तरह प्रतरोंसे गुना करनेसे (२२५ × १३ =) २९२५ की आवलिकागत विमानोंकी संख्या सौधर्म-ईशानके तेरहों प्रतरोंकी बनी। इस संख्याको पूर्वोक्त सौधर्म-ईशानगत जो ६० लाखकी विमानसंख्या उसमेंसे कम करनेसे (६०००००० - २९२५ =) ५९९७०७५ विमानसंख्या पुष्पावकीर्णोंकी प्रथम कल्पयुगलकी जानें।

इस तरह आगे सनत्कुमारादि कल्पमें भी उक्त करण द्वारा इष्ट संख्या प्राप्त होती है, वह ग्रन्थविस्तारके भयसे यहाँ नहीं जणाते हुए 'यन्त्र' देखनेकी ही सहाह देते हैं।

॥ इति इष्टकल्पे विमानसंख्याकरणम् ॥

॥ वैमानिकनिकायाश्रयी आवलिकागत तथा पुष्पावकीर्णविमान संख्या यन्त्र ॥

मुख संख्या	भूमि संख्या	समास संख्या	अर्ध संख्या	गुण्य प्र० संख्या	आव० गत संख्या	पुष्पा० संख्या	कुल विमान संख्या
२४९ + २०१ =	४५० -	२२५ × १३ =	२९२५,	५९९७०७५ =	६० लाख *		
१९७ + १५३ =	३५० -	१७५ × १२ =	२१००,	१९९७९०० =	२० लाख ×		
१४९ + १२९ =	२७८ -	१३९ × ६ =	८३४,	३९९१६६ =	४०००००		
१२५ + १०९ =	२३४ -	११७ × ५ =	५८५,	४९४१५ =	५००००		
१०५ + ९३ =	१९८ -	९९ × ४ =	३९६,	३९६०४ =	४००००		
८९ + ७७ =	१६६ -	८३ × ४ =	३३२,	५६६८ =	६०००		
७३ + ६१ =	१३४ -	६७ × ४ =	२६८,	१३२ =	४००		
५७ + ४५ =	१०२ -	५१ × ४ =	२०४,	९६ =	३००		
४१ + ३३ =	७४ -	३७ × ३ =	१११,	‡ ० =	१११		
२९ + २१ =	५० -	२५ × ३ =	७५,	३२ =	१०७		
१७ + ९ =	२६ -	१३ × ३ =	३९,	६१ =	१००		
५ + ० =	० -	० × १(०) =	५,	नहीं है ० =	५		

* दोनोंकी साधमें × दोनों कल्पकी ‡ तिर्यग-चौपन-पचपन तीनों प्रतरोंमें पुष्पावकीर्ण विमान नहीं है।

समग्र निका०	नि०ध्रयी	नि०	नि०आश्रयी	नि०	नि०आश्रयी	नि०आश्रयी	समग्र वे०
२४९	५	२५४	१२७	६२	७८८४	८४८९१४९	८४९७०२३
मुख संख्या	भूमि संख्या	समास संख्या	अर्थ संख्या	प्रतर संख्या	आव०गत संख्या	पुष्पा० संख्या	निकायकुल संख्या

जिस देवलोकमें 'मुख' संख्या निकालनी हो, उस देवलोकके नीचेके समग्र देवलोकवर्ती जितनी प्रतर संख्या प्राप्त होती हो उस सारी संख्याको चारसे ^{२७५} गुना करनेसे जो संख्या प्राप्त हो उसे प्रथम प्रतरकी-२४९ मुखसंख्यामेंसे कम करनेसे जो संख्या अवशिष्ट रहे, वह संख्या उस उस देवलोककी 'मुख' संख्या कही जाए ।

* वैमानिकनिकायमें ^{२७५} मुखसंख्या *

सौधर्म-ईशान युगलके प्रथम प्रतरमें
मुख संख्या २४९ है ।

प्र० सं०

सनत्कु० माहेन्द्रयु०-१३ × ४ = ५२ - २४९

५२

१९७ मु.सं.

ब्रह्मकल्पमें पहुँचते-२५ × ४ = १०० - २४९

१००

१४९ मु.

इस तरह जिस देवलोकमें 'भूमि' संख्या निकालनी हो वह एक ही देवलोकमें जो प्रतरसंख्या हो उसमेंसे एक कम करनेसे जो संख्या रहे उसे चारसे गुना करें, ऐसा करनेसे जो संख्या आवे वह संख्या उस देवलोककी 'मुख' संख्यामेंसे कम कर दें जिससे उस कल्पकी 'भूमि' संख्या प्राप्त होगी ।

* वैमानिकनिकायमें ^{२७५} भूमिसंख्या *

प्र० सं०

सौधर्म ईशानमें-१३-१=१२×४=४८-२४९ मु.

४८

२०१ भू.

सनत्कु० माहेन्द्रमें-१२-१=११×४=४४-१९७

४४

१५३ भू.

ब्रह्मदेवलोकमें-६-१=५×४=२०-१४९

२०

१२९ भू.

२७५. उ-सगपथरा खुगा, उअणुणिया सोहयां समुहाओ । जं तथमुद्धसेसं, इच्छियकप्यस्स सा भूमि ॥ १ ॥

२७६. दोणिसय अउणपणा, सत्ताणउयं सयं च बोद्धव्वं । अउणापणं च सयं सपमेगं पणुवीसं च ॥ १ ॥

पंचुत्तरसयमेगं, अउणाणउईयअहोई बोधव्वा । तेवत्तरि सगवणा, ईयालीसा य हेट्ठिमण ॥ २ ॥

अउणतीसा य भवे, सत्तरस य पंच चेव आदीओ । कप्पेसु पत्थडाणं-।

२७७. एगहिया दोणिसया, तेवणसयं सयं च उगतीमं । ततो नवाहियसयं, तिणवइ मत्तत्तरी चेव ॥ १ ॥

एगट्ठी पणयाला, तेत्तीसा एक्कवीस नव चेव । कप्पेसु पत्थडाणं, भूमिओ होंति णायव्वा ॥ २ ॥

प्र० सं०	प्र० सं०
लांतककल्पमें पहुँचते - $३१ \times ४ = १२४ - २४९$	लांतककल्पमें - $५ - १ = ४ \times ४ = १६ - १२५$
१२४	१६
<u>१२५</u> सु०	<u>१०९</u> भू.
शुककल्पमें " - $३६ \times ४ = १४४ - २४९$	शुककल्पमें - $४ - १ = ३ \times ४ = १२ - १०५$
१४४	१२
<u>१०५</u> सु०	<u>५३</u> भू.
सहस्रारकल्पमें " - $४० \times ४ = १६० - २४९$	सहस्रारकल्पमें " - $४ - १ = ३ \times ४ = १२ - ८९$
१६०	१२
<u>०८९</u> "	<u>७७</u> "
आनत-प्राणते " - $४४ \times ४ = १७६ - २४९$	आ० प्राणते " - $४ - १ = ३ \times ४ = १२ - ७३$
१७६	१२
<u>०७३</u> "	<u>६१</u> "
आरण-अच्युते " - $४८ \times ४ = १९२ - २४९$	आ० अच्युते " - $४ - १ = ३ \times ४ = १२ - ५७$
१९२	१२
<u>०५७</u> "	<u>४५</u> "
अधस्तन प्रै० त्रिके " - $५२ \times ४ = २०८ - २४९$	अ० प्रै० त्रिके " - $३ - १ = २ \times ४ = ८ - ४१$
२०८	८
<u>०४१</u> "	३३ "
मध्यम प्रै० त्रिके " - $५५ \times ४ = २२० - २४९$	म० प्रै० त्रिके " - $३ - १ = २ \times ४ = ८ - २९$
२२०	८
<u>०२९</u> "	<u>२१</u> "
उपरितन प्रै० त्रिके " - $५८ \times ४ = २३२ - २४९$	उ० प्रै० त्रिके " - $३ - १ = २ \times ४ = ८ - १७$
२३२	८
<u>०१७</u> "	<u>९</u> "
अनुत्तरकल्पमें " - $६१ \times ४ = २४४ - २४९$	अनुत्तरकल्पमें प्रतर संख्या एक ही होनेसे भूमि सम्भवित नहीं है ।
२४४	
<u>००५</u> "	

२. समग्र निकायाश्रयी विमानसंख्याप्राप्ति रीति—

अब समग्र निकाय स्थानाश्रयी समुच्चयमें दोनों प्रकारके विमानोंकी संख्या प्राप्त करनेको दो रीतें बताई हैं, उनमें प्रथम अगाऊकी गाथानुसार बताई जाती है ।-

सकल वैमानिकायाश्रयी (अथवा ६२ प्रतरकी अपेक्षासे) प्रथम प्रतर संख्याको 'मुख' संज्ञक समझना, वह मुखसंख्या प्रथम प्रथम प्रतरमें २४९की है, और समग्र निकायाश्रयी 'भूमि' संख्या (अन्तिम प्रतरकी) पांच है, क्योंकि मुखमें आदि प्रतर संख्याका और भूमिमें अन्तिम प्रतर संख्याका ग्रहण होता है। अतः मुख और अन्तिम प्रतरवर्ती भूमिसंख्याका समास करते (२४९ + ५ =) २५४की संख्या आवे, उसका आधा करने पर १२७की संख्या आई। बासठ प्रतरोंकी कुल संख्या लानेकी होनेसे $१२७ \times ६२ = ७८७४$ की संख्या आवलिकागत विमानकी वैमानिक निकायमें आवे।

दूसरे प्रकारसे अनुत्तरकल्पके (६२वें) प्रतरमें चारों बाजू एक एक विमान है उस प्रतरसे लेकर चारों दिशावर्ती एक एककी वृद्धिसे एक एक प्रति प्रतर बढ़ाते सौधर्म कल्पके अन्तिम (६२वें) प्रतर तक पहुँचना (अथवा ६२ प्रतरमें एक ही दिशावर्ती विमान संख्याका जोड़ निकालना) अर्थात् १-२-३-४-५-६-७-८-९-१०-११-१२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१-३२-३३-३४-३५-३६-३७-३८-३९-४०-४१-४२-४३-४४-४५-४६-४७-४८-४९-५०-५१-५२-५३-५४-५५-५६-५७-५८-५९-६०-६१-६२ इन सारी संख्याओंकी संकलनाका कुल जोड़ १९५३ आया। चारों दिशागत पंक्तियाँ रही हैं और इसलिए चारों बाजू पर संकलना करनी होनेसे $१९५३ \times ४ = ७८१२$ की कुल पंक्तिगत विमानसंख्या आई। उसमें बासठ प्रतरके मध्यवर्ती ६२ 'इन्द्रक' विमान मिलानेसे ७८७४की आवलिकाप्रविष्ट विमानसंख्या आवे, अवशिष्ट ८४८९१४९ संख्या पुष्पावकीर्णकी आवे। दोनों संख्याओंको एकत्र करने पर ८४९७०२३की कुल विमानसंख्या आवे। इति समग्रनिकायविमानसंख्याप्रमाणम् ॥

३. प्रतिप्रतर विमानसंख्याका प्रमाण—

अब तीसरी रीतसे प्रतिप्रतरस्थानाश्रयी विमानसंख्या जाननी हो तो इष्टप्रतरकी एक ही दिशावर्ती विमानसंख्याको चारसे गुना करके जो संख्या प्राप्त हो उसमें स्वस्थानवर्ती इन्द्र विमान प्रक्षेपित करना जिससे इष्टप्रतरमें आवलिकागत विमानसंख्या प्राप्त होगी।

प्रतिप्रतराश्रयी पुष्पावकीर्ण विमान जाननेका 'करण' या उसकी संख्या वर्तमानमें उपलब्ध नहीं देखी गई। [१०८]

अवतरण—पहले आवलिकागत संख्या तीन प्रकारसे और पुष्पावकीर्णकी प्राप्त होती दो दो स्थानकी संख्या बताई। अब इसी तरह इष्ट प्रतरमें इष्ट कल्पमें त्रिकोण, चौकोन और वृत्तसंख्या जाननेका करण ग्रन्थकार कहते हैं, वह समग्र निकायाश्रयी त्रिकोणादि संख्याका उपाय है या नहीं यह ऊपरसे कहा जाएगा।

इगदिसिपंतिविमाणा, तिबिभत्ता तंस चउरंसा वट्टा ।

तंससु सेसमेगं, खिव सेस दुगस्स इक्कक्कं ॥ १०९ ॥

तंससु चउरंससु य, तो रासि तिगंपि चउगुणं काउ ।

वट्टसु इंदयं खिव, पयर धणं मीलियं कप्पे ॥ ११० ॥

गाथार्थ—किसी भी एक दिशागत पंक्ति विमानोंको त्रिभागमें समान रूपमें बांट देना, बांटने पर यदि एक संख्या शेष रहे तो उसे बांटते आई समान त्रिकोण संख्यामें जोड़, लेकिन यदि दो की संख्या शेष रहे तो एक त्रिकोणमें और एक चौकोनमें जोड़ देना । फिर उस प्रत्येक राशिको चारसे गुन लें, वृत्त राशि जो आवे उसमें इन्द्रकका क्षेपण करना क्योंकि वह वृत्त है । इस तरह करनेसे इष्ट प्रतरकी तीनों जातिके विमानोंकी संख्या आएगी, और उस उस कल्पके यथायोग्य प्रतरकी भिन्न भिन्न संख्याको एकत्र करनेसे इष्ट-कल्पमें त्रिकोणादि विमान संख्या आएगी । ॥ १०९-११० ॥

विशेषार्थ—पूर्व गाथामें जिस तरह तीन रीतोंसे आवलिकाकी संख्याका उपाय दर्शाया था उसी तरह यहाँ भी तीन प्रकारसे अर्थात् इष्ट प्रतरका-इष्टकल्पका और समग्र निक्रयाश्रयी उपाय बतानेका है । उनमें इष्टकल्प और इष्टप्रतरका उपाय गाथार्थ द्वारा कहा जाएगा और उपलक्षणसे समग्र निक्रयाश्रयीका खुलासा आगे कहा जाएगा । यहाँ प्रथम इष्ट प्रतराश्रयी त्रिकोण, चौकोन और वृत्तसंख्या जाननेका उपाय कहा जाता है ।

१. प्रत्येक प्रतरमें त्रिकोणादिविमानसंख्याप्रमाण जाननेका उपाय—

सौधर्म ईशान कल्पके प्रथम प्रतरमें ६२ विमानकी आवलिका है, उसके तीन विभाग करनेसे २० त्रिकोण, २० चौकोन और २० वृत्त आते हैं, ऐसा करने पर दो संख्या शेष रही उसमेंसे एक संख्या त्रिकोणमें जोड़ी और एक चौकोनमें जोड़ी जिससे २१ त्रि०, २१ चौ०, २० वृत्त, चारों वाजूकी संख्या लानी होनेसे प्रत्येक संख्याको चारसे गुननेसे $(२१ \times ४ =) ८४$ त्रि०, $(२१ \times ४ =) ८४$ चौकोन और $(२० \times ४ =) ८०$ वृत्तकी संख्या आवे । फिर वृत्तकी ८० संख्यामें गाथाके नियम अनुसार एक संख्या इन्द्रक विमानकी जोड़ देना जिससे ८१ वृत्त संख्या आएगी ।

प्रतरघन प्राप्त करनेको तीनों संख्याओंको एकत्र करनेसे $(८४ + ८४ + ८१)$ २४९की आवलिकागत विमानसंख्या (प्रतरघन) सौधर्म-ईशान युगलके प्रथम प्रतरकी भी आ सकेगी ।

इस तरह प्रत्येक प्रतरमें आवलिकागत संख्या भी सहज ही प्राप्त होगी । इस तरह सर्व प्रतरमें त्रिकोणादि संख्या पाठक स्वयं निकाल लें । अत्र सुगमताके लिए यन्त्र देने हैं ।

इस यन्त्र द्वारा पाठक इष्ट-प्रत्येक प्रतरवर्ती तथा प्रत्येक कल्पवर्ती त्रिकोण, चौकोन और वृत्तकी भिन्न भिन्न संख्या जान सकेंगे । [साथ ही प्रसंगोपात् बताई गई प्रतिप्रतरगत और प्रति कल्पगत आवलिक विमानसंख्या भी देख सकेंगे ।]

अब शेष बची समग्र निकायाश्रयी त्रिकोण, चौकोन और वृत्तकी पृथक् पृथक् संख्या तथा समग्र निकायाश्रयी आवलिक विमानसंख्या, वह यहाँ पर दिए गए यन्त्रके देखनेसे जान सकेंगे ।

॥ प्रत्येक प्रतरमें आवलिकागत—त्रिकोणादि विमानसंख्या दर्शक यन्त्र ॥

१. सोधर्म — ईशान युगले-२

प्रतर	पं. सं.	त्रि. सं.	चौ. सं.	वृत्त सं.	सं. सं.	प्रतर सं.
१	६२	८४	८४	८१	२४९	१
२	६१	८४	८०	८१	२४५	२
३	६०	८०	८०	८१	२४१	३
४	५९	८०	८०	७७	२३७	४
५	५८	८०	७६	७७	२३३	५
६	५७	७६	७६	७७	२२९	६
७	५६	७६	७६	७३	२२५	७
८	५५	७६	७२	७३	२२१	८
९	५४	७२	७२	७३	२१७	९
१०	५३	७२	७२	६९	२१३	१०
११	५२	७२	६८	६९	२०९	११
१२	५१	६८	६८	६९	२०५	१२
१३	५०	६८	६८	६५	२०१	१३

कुल सं. ७२८ * ९८८-९७२-९६५-२९२५

एक ही दिशावर्ती तरह प्रतरोंकी तरह पंक्तियोंकी ७२८की कुल संख्याको चारों पंक्तियोंकी संख्या खनेके लिए चारसे गुननेसे २९१२की आवलिक विमान संख्या प्रथम युगलमें आवे, उसमें तरह प्रतरोंके १३ इन्द्रक जोडनेसे २९२५ होते हैं ।

३. सानकुमार — माहेन्द्र युगले-४

प्रतर	पं. सं.	त्रि. सं.	चौ. सं.	वृत्त सं.	सं. सं.	प्रतर सं.
१	४९	६८	६४	६५	१९७	१४
२	४८	६४	६४	६५	१९३	१५
३	४७	६४	६४	६१	१८९	१६
४	४६	६४	६०	६१	१८५	१७
५	४५	६०	६०	६१	१८१	१८
६	४४	६०	६०	५७	१७७	१९
७	४३	६०	५६	५७	१७३	२०
८	४२	५६	५६	५७	१६९	२१
९	४१	५६	५६	५३	१६५	२२
१०	४०	५६	५२	५३	१६१	२३
११	३९	५२	५२	५३	१५७	२४
१२	३८	५२	५२	४९	१५३	२५

कुल ५२२*७१२-६९६-६९२-२१००

बारह प्रतरोंकी एक ही दिशावर्ती ५२२की कुल संख्याको चारसे गुननेसे २०८८ होते हैं, उसमें १२ इन्द्रक मिलानेसे २१००की आव० प्रविष्ट संख्या आएगी ।

५. ब्रह्मकरपमें

१	३७	७२	४८	४९	१४९	२६
२	३६	४८	४८	४९	१४५	२७
३	३५	४८	४८	४५	१४१	२८
४	३४	४८	४४	४५	१३७	२९
५	३३	४४	४४	४५	१३३	३०
६	३२	४४	४४	४१	१२९	३१

कुल २०७ * २८४ - २७६ - २७४ - ८३४

कुल २०७ को चारसे गुना करके ६ इन्द्रक मिलानेसे ८३४ कुल हों ।

६. लांतक कल्पमें

१	३१	४४	४०	४१	१२५	३२
२	३०	४०	४०	४१	१२१	३३
३	२९	४०	४०	३७	११७	३४
४	२८	४०	३६	३७	११३	३५
५	२७	३६	३६	३७	१०९	३६

कुल १४५ * २०० - १९२ - १९३ - ५८५

१४५ की संख्याको चारसे गुना करके ५ मिलानेसे ५८५ हों ।

७. महाशुक्र कल्पमें

१	२६	३६	३६	३३	१०५	३७
२	२५	३६	३२	३३	१०१	३८
३	२४	३२	३२	३३	९७	३९
४	२३	३२	३२	२९	९३	४०

कुल ९८ * १३६ - १३२ - १२८ - ३९६

९८ की कुल संख्याको चारसे गुना करके ४ इन्द्रक जोडनेसे ३९६

८. सहस्रार कल्पमें

१	२२	३२	२८	२९	८९	४१
२	२१	२८	२८	२९	८५	४२
३	२०	२८	२८	२५	८१	४३
४	१९	२८	२४	२५	७७	४४

कुल ८२ * ११६ - १०८ - १०८ - ३३२

८२ की संख्याको चारसे गुना करके ४ जोडनेसे ३३२ संख्या

९-१०. आनत प्राणत कल्पमें

१	१८	२४	२४	२५	७३	४५
२	१७	२४	२४	२१	६९	४६
३	१६	२४	२०	२१	६५	४७
४	१५	२०	२०	२१	६१	४८

कुल ६६ * ९२ - ८८ - ८८ - २६८

६६को चारसे गुना करके ४ इन्द्रक जोडनेसे २६८ आवे ।

११-१२. आरण-अच्युतक०

१	१४	२०	२०	१७	५७	४९
२	१३	२०	१६	१७	५३	५०
३	१२	१६	१६	१७	४९	५१
४	११	१६	१६	१३	४५	५२

कुल ५० * ७२ - ६८ - ६४ - २०४

५०को चारसे गुना करके ४ इन्द्रक जोडनेसे २०४ आवे ।

१-नौ श्रेणिक कल्पमें

१	१०	१६	१२	१३	४१	५३
२	९	१२	१२	१३	३७	५४
३	८	१२	१२	९	३३	५५
४	७	१२	८	९	२९	५६
५	६	८	८	९	२५	५७
६	५	८	८	५	२१	५८
७	४	८	४	५	१७	५९
८	३	४	४	५	१३	६०
९	२	४	४	१	९	६१
कुल ५४ * ८४-७२-६९-२२५						

अनुत्तर कल्पमें

१	१	४	०	१३	५	६२
कुल ५ * ४-०-१-५						

एक ही दिशाके एकको चारसे गुना करके
१ इन्द्रक मिलानेसे पांच होते हैं ।

इति इष्टप्रतरसंख्या ।

ता. क.—प्रत्येक प्रतरमें पुष्पावकीर्ण
विमानसंख्या जाननेका करण ग्रन्थकारने नहीं
बताया है, क्योंकि वर्तमानमें उपलब्ध
देखनेमें नहीं आता ।

५४ की कुल संख्याको चारसे गुना करके
१ इन्द्रक जोड़नेसे २२५ आवे ।

२. इष्ट प्रतरमें त्रिकोणादि संख्याके उपाय—

अब यहाँ गाथानुसार प्रत्येक कल्पस्थानाश्रयी त्रिकोणादि विमानसंख्या जाननेका
उपाय कहते हैं ।

सौधर्म-ईशान युगलके तेरहों प्रतरमध्यमें प्रत्येक प्रतरमें एक ही दिशावर्ती रही
उस उस विमानसंख्याको त्रिभागमें बाँट देना, जिससे—

	त्रिकोण	चौ०	वृत्त	शेष
प्रथम प्रतरमें	२०	२०	२०	२
दूसरे प्रतरमें	२०	२०	२०	१
तीसरे	२०	२०	२०	०
चौथे	१९	१९	१९	२
पाँचवें	१९	१९	१९	१
छठे	१९	१९	१९	०
सातवें	१८	१८	१८	२
आठवें	१८	१८	१८	१
नवें	१८	१८	१८	०
दसवें	१७	१७	१७	२
ग्यारहवें	१७	१७	१७	१
बारहवें	१७	१७	१७	०
तेरहवें	१६	१६	१६	२

अत्र २ शेष रहे ऐसी संख्या पांच बार है जिससे कुल १० संख्या हुई है, उनमेंसे उक्त कथन अनुसार ५ त्रिकोणमें और ५ चौकोनमें गई, एक शेष चार बार है वह त्रिकोणमें ही जाए अतः (५ + ४) ९ त्रिकोणमें और पांच चौकोनमें और इन्द्रक सं. वृत्तमें जोड़ी ।

$$\begin{array}{r} २३८ - २३८ - २३८ \\ + ९ - + ५ - + ० \\ \hline २४७ - २४३ - २३८ \\ \times ४ - \times ४ - \times ४ \\ \hline ९८८ - ९७२ - ९५२ \\ \text{त्रि० चौ०} + १३ \text{ इन्द्रक} \\ \hline ९६५ \text{ वृत्त} \end{array}$$

इस तरह अन्य प्रत्येक कल्पमें करनेसे इष्ट संख्या प्राप्त होगी । जो संख्या यन्त्रमें दी गई है ।

३. समग्र निकायमें त्रिकोणादि विमानसंख्या—

समग्र निकायाश्रयी त्रिकोणादि संख्या लानेका प्रबल करण ध्यानमें न आनेसे जणाया भी नहीं है । सामान्यसे प्रत्येक कल्पकी संख्याओंका जोड़ करनेसे समग्र निकायकी त्रिकोणादि संख्या आ सकती है, जो यन्त्रमें दी है । यन्त्र २९१ पृष्ठमें है । [१०९-१०]

अवतरण—अब उस प्रत्येक कल्पगत विमानमें रहनेवाले देवोंको पहचाननेके लिए चिह्न दर्शाते हैं ।

कप्पेसु य मिय महिसो, वराह—सीहा य छगल—सालूरा ।

हय—गय—भुयंग—खग्गी—वसहा—विडिमाई चिंधाई ॥ १११ ॥

[प्र. गा० सं. ३५]

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ १११ ॥

विशेषार्थ—पहले भवनपत्यादि निकायोंकी जानकारीके लिए जिस तरह चिह्न दिखाये हैं, उसी तरह वैमानिक निकायमें पहले सौधर्मकल्पके देवोंको पहचाननेके लिए उनके मुकुटमें मृग (हिरन)का चिह्न है, दूसरे ईशान कल्पके देवोंको पहचाननेके लिए भैंसेका चिह्न, तीसरे कल्पगत देवोंके लिए सूअर (भुंड)का, चौथे कल्पमें सिंहका, पांचवें कल्पमें बकरेका, छठे कल्पमें मेंढकका, सातवें कल्पमें घोड़ेका, आठवेंमें गज (हाथी) का,

२७८. यहाँ कल्पयुगलके विषयमें दूसरी तरहसे वृत्तकी तीन आवलिका और त्रिकोण चौकोनकी दो दो आवलिका गिनकर एक ही दिशावर्ती वृत्तकी कुल संख्याको तीन आवलिकासे गुना करके उस कल्पवर्ती इन्द्रक संख्याको मिलावनेसे कुल वृत्तसंख्या दक्षिणेन्द्रकी आती है, तथा एक ही दिशावर्ती त्रिकोण-चौकोन विमान संख्याको दो दो आवलिक पंक्तियोंसे गुना करनेसे इष्ट संख्या प्राप्त होगी ।

॥ प्रतिकल्पमें त्रिकोणादिविमान संख्या यन्त्र ॥

कल्प नाम	त्रिकोण सं.	चौकोन सं.	वृत्त सं.	कुल आ. सं.	पुष्पा. सं.	सर्व संख्या
१. सौधर्मकल्पमें	४९४	४८६	७२७	१७०७	३१९८२९३	३२०००००
२. ईशान कल्पमें	४९४	४८६	२३८	१२१८	२७९८७८२	२८०००००
दोनोंके मिलकर	९८८	९७२	९६५	२९२५	५९९७०७५	६००००००
३. सनत्कुमार०	३५६	३४८	५२२	१२२६	११९८७७४	१२०००००
४. माहेन्द्र०	३५६	३४८	१७०	८७४	७९९१२६	८०००००
दोनोंके मिलकर	७१२	६९६	६९२	२१००	१९९७९००	२००००००
५. ब्रह्मलोक०	२८४	२७६	२७४	८३४	३९९१६६	४०००००
६. लांतक०	२००	१९२	१९३	५८५	४९४१५	५००००
७. महाशुक०	१३६	१३२	१२८	३९६	३९६०४	४००००
८. सहस्रार०	११६	१०८	१०८	३३२	५६६८	६०००
९-१०. आनत-प्राणतमें	९२	८८	८८	२६८	१३२	४००
११-१२. आरण-अच्युतमें	७२	६८	६४	२०४	९६	३००
अधस्तन प्रैवेयकमें	४०	३६	३५	१११	०	१११
मध्यम प्रैवेयकमें	२८	२४	२३	७५	३२	१०७
उपरितन प्रैवेयकमें	१६	१२	११	३९	६१	१००
अनुत्तर कल्पमें	४	०	१	५	०	५
बासठ प्रतरमें कुल संख्या	२६८८	२०४	२५८२	७८७४	८४८९१४९	८४९७०२३

नवें कल्पमें सर्पका, दसवें कल्पमें गेंडेका, ग्यारहवें कल्पमें वृषभका और बारहवें कल्पमें एक जातिविशेष मृगका चिह्न होता है ।

ये सर्व चिह्न रत्नमय मुकुटमें होनेसे उनके पर मुकुटवर्ती रत्नोंकी कांति पडनेसे अत्यन्त शोभते हैं ।

शंका—बारह देवलोकके चिह्न कहे इस तरह नव प्रैवेयक तथा अनुत्तर कल्पके क्यों न कहे ?

२७९. गेंडा यह जानवर अफ्रिका देशमें विशेषतः होता है और उसके मुख पर एक तीक्ष्ण नोकदार सींग होता है, उसके द्वारा वह अपना संपूर्ण रक्षण कर सकता है । यह जानवर बहुत ही बलवान होता है ।

समाधान—उन देवलोकवर्ती देवोंको स्वस्थानसे बाहर जाना नहीं होता है, शक्ति है लेकिन प्रयोजनाभावसे तथा कल्पातीत होनेसे गमनागमन नहीं है, अतः किसी भी प्रकारके व्यवहारमें वर्जित नहीं होनेसे उन्हें पहचाननेका प्रसंग होता ही नहीं है। अतः चिह्नोंकी आवश्यकता भी नहीं है। [१११] (प्र. गा. सं. ३५)

अवतरण—चिह्न दिखाकर प्रत्येक कल्पगत इन्द्रोंकी सामानिक तथा आत्मरक्षक देवोंकी संख्या कहते हैं।

चुलसि असिइ बावत्तरि, सत्तरि सट्टी य पन्न चत्ताला ।

तुल्लसुर तीस वीसा, दस सहस्सा आयरक्ख चउगुणिया ॥ ११२ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ ११२ ॥

विशेषार्थ—पहले (अगाऊ) तीनों निकायोंमें जैसे सामानिक तथा आत्मरक्षक बताए हैं, उसी तरह वैमानिक निकायमें पहले सौधर्मकल्पमें १. सौधर्मेन्द्रके चौरासी हजार सामानिक देव (८४०००), २. ईशानेन्द्रके अस्सी हजार देव (८०,०००), ३. सनत्कुमारेन्द्रके बहत्तर हजार (७२,०००), ४. माहेन्द्रके सत्तर हजार (७०,०००), ५. ब्रह्मेन्द्रके साठ हजार (६०,०००), ६. लांतकेन्द्रके पचास हजार (५०,०००), ७. महाशुकेन्द्रके चालीस हजार (४०,०००), ८. सहस्रारेन्द्रके तीस हजार (३०,०००), ९. आनत-प्राणतमें-प्राणतेन्द्रके बीस हजार (२०,०००), १०. आरण-अच्युतमें-अच्युतेन्द्रके दस हजार (१०,०००)। इस तरह दसों इन्द्रोंके सामानिक (इन्द्र समान ऋद्धिवाले) देवोंकी संख्या कहीं।

जब प्रत्येक इन्द्रके इनसे चारगुने आत्मरक्षक मानें।

अर्थात् सौधर्मेन्द्रकी ८४ हजारकी सामानिक संख्याको चार गुनी करनेसे उसके ३ लाख, ३६ हजार (३,३६,०००) आत्मरक्षक, ईशानेन्द्रके ३ लाख, २० हजार (३,२०,०००), सनत्कुमारेन्द्रके २ लाख, ८८ हजार (२,८८,०००), माहेन्द्रके २ लाख, ८० हजार (२,८०,०००), ब्रह्मेन्द्रके २ लाख, ४० हजार (२,४०,०००), लांतकेन्द्रके २ लाख (२,००,०००), महाशुकेन्द्रके १ लाख, ६० हजार (१,६०,०००), सहस्रारेन्द्रके १ लाख, २० हजार (१,२०,०००), आनत-प्राणतेन्द्रके ८० हजार (८०,०००), आरण-अच्युतेन्द्रके ४० हजार (४०,०००) आत्मरक्षक देव होते हैं।

नव प्रैवेयकमें तथा अनुत्तरकल्पमें सर्व अहमिन्द्र देव हैं अतः वहाँ कल्पव्यवहारादि निभानेके कार्याभावमें वहाँ सामानिक तथा आत्मरक्षकादि देव नहीं हैं। [११२]

॥ वैमानिक निकायमें बारह देवलोकके चिह्न-सामानिक-आत्मरक्षक देव संख्या यन्त्र ॥

कल्प नाम	चिह्न	सामानिक सं०	आत्मरक्षक सं०	कल्पनाम	चिह्न	सामानिक सं०	आत्म० संख्या
१. सौधर्म क०	मृगाका	८४०००	३,३६,०००	७. महाशुक्रमें	घोडेका	४०,०००	१,६०,०००
२. ईशानमें	भैंसेका	८००००	३,२०,०००	८. सहस्रारमें	गजका	३०,०००	१,२०,०००
३. सनत्कुमारमें	सूअरका	७२०००	२,८८,०००	९. आनतमें	सर्पका	२०,०००	८०,०००
४. माहेन्द्रमें	सिंहका	७००००	२,८०,०००	१०. प्राणतमें	गेंडेका	१०,०००	४०,०००
५. ब्रह्मकल्पमें	बकरेका	६००००	२,४०,०००	११. आरणमें	वृषभका	१०,०००	४०,०००
६. लांतकमें	मेंढकका	५००००	२,००,०००	१२. अच्युतमें	मृगाविशेषका		

अवतरण—अब वे कल्प किन किनके आधार पर रहे हैं? यह कहते हैं।

दुसु तिसु तिसु कप्पेसु, घणुदहि घणवाय तदुभयं च कमा ।

सुर भवण पइड्डाणं, आगासपइट्टिया उवरिं ॥ ११३ ॥

गाथार्थ—प्रथमके दो कल्पोंमें घनोदधिका आधार, तत्पश्चात् तीसरे, चौथे और पांचवें इन तीनों कल्पोंमें घनवातका आधार, छठे-सातवें और आठवें इन तीनों कल्पोंमें घनोदधि और घनवातका आधार, तत्पश्चात् ऊपरके सर्व कल्प शुद्ध आकाशाधारपर प्रतिष्ठित हैं । ॥ ११३ ॥

विशेषार्थ—घनोदधि-घन = कठिन - ठोस, उदधि = पानी । कठिन मजबूतमें मजबूत जमे हुए घी जैसा जगत् स्वभावसे जमकर रहा जो पानी वह अप्कायके भेदरूप होनेसे सजीव होता है ।

घनवात—हंस हंस कर भरा जैसा मजबूतमें मजबूत घट्ट वायु वह वायुकायके भेदरूप होनेसे सजीव है ।

आगास—अवकाश देनेके स्वभाववाला एक अरूपी द्रव्य ।

सौधर्म और ईशान यह कल्पयुगल सिर्फ घनोदधिके आधार पर ही रहे हैं, सनत्कुमार-माहेन्द्र और ब्रह्म ये तीनों २८० कल्प घनवातके आधार पर हैं, लांतक-शुक्र और

२८०, घनवातके साथ तनवातका कथन जहाँ इन आता हो वहाँ उन दोनोंको सोचें, क्योंकि यह वस्तु तो आकाशाधार पर है । और आकाश तो स्वयं प्रतिष्ठित ही है ।

महत्कार ये तीनों कल्प प्रथम घनोदधि और फिर २८१ घनवात इन दोनोंके आधार पर हैं, और बादके आनतादिसे लेकर अनुत्तर तकके समग्र कल्प केवल एक 'आकाशाधार' पर प्रतिष्ठित है। वहाँ नहीं है घनोदधि या घनवात (या तनवात)। [११३]

अवतरण—अब प्रत्येक देवलोकमें विमानोंका मोटापन तथा उनकी ऊँचाईका प्रमाण बताते हैं।

सत्तावीस सयाइं, पुढवीपिंडो विमाणउच्चत्तं ।

पांचसया कल्पदुगे, पढमे ततो य इक्किं ॥ ११४ ॥

हायइ पुढवीसु सयं, वड्डइ भवणेषु दु-दु-दुकप्पेषु ।

चउगे नवगे पणगे, तहेव जाऽणुत्तरेसु भवे ॥ ११५ ॥

इगवीससया पुढवी, विमाणमिक्कारसेव य सयाइं ।

बत्तीस जोयण सया, मिलिया सध्वत्थ नायत्त्वा ॥ ११६ ॥

गाथार्थ—पहले दो देवलोकमें विमानके मूलप्रासादके शिखर तकका पिंडप्रमाण सताइस सौ योजनका होता है। और विमानकी ऊँचाई पांचसौ योजन होती है। बादके दो कल्पमें—पुनः दो कल्पमें—पुनः दो कल्पमें—फिर चार देवलोकमें—नवप्रैवेयक और पांच अनुत्तरमें जाने पर तीसरे देवलोकसे ही लेकर पूर्व पूर्व कल्पके पृथ्वीपिंडमेंसे सौ सौ

२८१. घनोदधिके आधार पर घनवात अथवा घनवातके आधार पर घनोदधि किस तरह रह सकता है, इसके लिए एक दृष्टांत देते हैं, उसे सोचकर—व्यानमें लेकर मनको निःशंक बनाएँ।

कोई एक आदमी चमड़ेके मसकको पवन भरकर फुलावे, फिर तुरन्त ही डोरीकी मजबूत गांठसे मसकका मुख ऊपरसे बांध दे, उस गँद जैसे फूले हुए मसकके मध्यभागको पुनः डोरीकी अंटी मारकर मजबूत गांठसे बांध दे, इस तरह होनेसे अब मसकमें रहा वायु दो विभागमें बँट गया, इससे उसका आकार डमरु जैसा बन गया। इस तरह करनेके बाद प्रथम मसकका जो मुख बांधा था, उसे छोड़ दे जिससे बिचकी गांठके ऊपरके भागका सारा पवन निकल जाए। अब उस पवनके निकल जानेसे खाली पड़े मसकके अर्ध भागको पानीसे पुनः भर ले, भरनेके बाद उसका मुख पुनः बांध ले। अब ऊपरका भाग पानी युक्त और नीचेका भाग वायु युक्त रहा। अब मसकके बीच जो गांठ बांधी है उसे भी अब छोड़ डाले, इससे नीचे वायु और उसके आधार पर पानी रहेगा। नीचेके वायुमें जल बिलकुल प्रवेश नहीं करेगा। पुनः ओंधा करने पर जलाधार पर वायु सोच सकते।

अथवा कोई एक पुरुष चमड़ेके मसकको पवन भरकर फुलावे। फिर अपनी कटिसे बांधकर अथाह जलमें प्रवेश करे तो भी वह पानीके ऊपरके भागमें ही रह सकता है। तो फिर ऐसी शाश्वती वस्तुएँ तथा-विध ज्ञातस्वभावसे रहे उसमें सोचना क्या हो ?

योजन कम करते और पूर्व पूर्व कल्पकी विमान ऊँचाइमें सौ सौ योजन बढ़ाते प्रत्येक कल्पमें उस उस प्रमाणको दिखाते जाना । जिससे अनुत्तरमें २१०० योजन पृथ्वीपिंड प्रमाण और ११०० यो० ऊँचाई आ जाएगी । प्रत्येक कल्पगत विमानका पृथ्वीपिंडप्रमाण और विमान ऊँचाई मिलानेसे ३२०० योजन आवे । ॥ ११४-११५-११६ ॥

विशेषार्थ—पृथ्वीपिंड अर्थात् विमानकी भूमिका मोटापन । जैसे कि लोकमें बहुत गृहों-महलों आदिको अमुक प्रमाणकी ऊँची पीठिका (प्लीन्थ) होती है और पीठिका प्रमाण पूर्ण होनेके बाद मंजिलें गिनी जाती हैं, परन्तु महलकी भूमिपीठके साथ मंजिलका प्रमाण गिननेका नियम नहीं होता, वैसे यहाँ भी पृथ्वीपिंड और विमानकी ऊँचाई अलग ही गिनी जाएगी ।

सौधर्म और २८२ ईशान इन दो देवलोकके विमानकी पृथ्वीका ऊँचाई प्रमाण २७०० योजन और विमानकी ऊँचाई ५०० योजन होती है । (पृथ्वीपिंड सहित विमानकी ध्वजा तकका कुल विमान प्रमाण ३२०० यो०) सनत्कुमार माहेन्द्र दो देवलोकमें २६०० यो० विमानकी ऊँचाई ६०० यो०, ब्रह्म और लांतकमें २५०० यो० पृथ्वीपिंड, ७०० यो० विमान ऊँचाई, शुक्र सहस्रारमें २४०० यो० पृथ्वीपिंड, ८०० यो० विमान ऊँचाई, आनत-प्राणतमें, आरण अच्युतमें २३०० यो० पृथ्वीपिंड, ९०० यो० विमान ऊँचाई, नवप्रैवेयकमें २२०० यो० पृथ्वीपिंड और १००० यो० विमान ऊँचाई और पांच अनुत्तरमें २१०० यो० पृथ्वीपिंड प्रमाण और विमान ऊँचाई ११०० योजनकी होती है ।

प्रत्येक देवलोकमें विमानके पृथ्वीपिंडका और विमानकी ऊँचाई इन दोनोंका प्रमाण एकत्र करने पर ३२०० यो० आएँगे । अतः कुल विमानोंका प्रमाण तो सर्व कल्पोंमें समान ही आता है ।

यह योजना प्रमाण आगे आनेवाली “नगपुढवी विमाणाईमिणसु पमाणंगुलेण तु” इस गाथाके वचनसे प्रमाणंगुलके प्रमाणद्वारा समझना । हर एक पृथ्वीपिंड विचित्र प्रकारके भिन्न भिन्न रत्नमय होते हैं । [११४-११५-११६]

अवतरण—पहले पृथ्वीपिंडप्रमाण और विमानकी ऊँचाई दर्शाई । अब उस वैमानिकके प्रत्येक देवलोकगत विमान कैसे वर्णवाले हों यह कहते हैं ।

पण-चउ-ति-दुवण्ण विमाण, सधय दुसुदुसु य जा सहस्रारो ।

उवरि सिय भवणवंतर-जोइसियाणं विविहवण्णा ॥ ११७ ॥

२८२. सौधर्मकल्पके विमानोंसे ईशानकल्पके विमान माप और गुणसे कुछ अधिक समझना । इस तरह अन्य कल्पयुगलमें भी समझना ।

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ ११७ ॥

विशेषार्थ—सौधर्म और ईशान देवलोकके विमान ^{२८३}इयाम, नील, रक्त, पीत, श्वेत इन पंच वर्णके होते हैं । सनत्कुमार, माहेन्द्र, देवलोकके नील, रक्त, पीत, श्वेत इन चार वर्णवाले होते हैं । ब्रह्म और लंतकमें रक्त (लाल), पीत (पीला), श्वेत (सफेद) वर्णके होते हैं, शुक्र और सहस्रारमें पीत और श्वेत दो ही वर्णवाले होते हैं । बादके आनतसे लेकर अनुत्तर तकके सर्व विमान केवल एक 'श्वेत' वर्णवाले ही होते हैं । इनमें भी आनतादिचतुष्कसे नवग्रैवेयक और अनुत्तरके विमान परम शुक्ल वर्णके हैं ।

॥ वैमानिक निकायमें विमान-पृथ्वीपिंड तथा ऊँचाई प्रमाणके साथ
विमानाधार-वर्णादिक यन्त्र ॥

कल्प नाम	वि. पृथ्वी पिंड	वि. ऊँचाई प्रमाण	कुल ऊँचाई	विमानाधार पदार्थ	विमान वर्ण
१. सौधर्मकल्पमें	२७०० यो०	५०० यो०	३२०० यो०	घनोदधि	इयाम-नील, रक्त, पीत, श्वेत
२. ईशानकल्पमें	"	"	"	"	"
३. सनत्कुमारक०	२६०० यो०	६०० यो०	"	घनवात	इयाम, रक्त, पीत, श्वेत
४. माहेन्द्रकल्पमें	"	"	"	"	"
५. ब्रह्मकल्पमें	२५०० यो०	७०० यो०	"	घनो. और घनवात	रक्त, पीत, श्वेत
६. लंतककल्पमें	"	"	"	"	"
७. महाशुक्रकल्पमें	२४०० यो०	८०० यो०	"	"	पीत, श्वेत
८. सहस्रारकल्पमें	"	"	"	"	"
९. आनतकल्पमें	२३०० यो०	९०० यो०	"	आकाशाधार	श्वेत
१०. प्राणतकल्पमें	"	"	"	"	"
११. आरणकल्पमें	२३०० यो०	"	"	"	"
१२. अच्युतकल्पमें	"	"	"	"	"
१३. ग्रैवेयकमें	२२०० यो०	१००० यो०	"	"	"
१४. पांच अनुत्तरमें	२१०० यो०	११०० यो०	"	"	"

यहाँ उपलक्षणसे भवनपतिके भवन, व्यन्तरीके नगर और ज्योतिषियोंके विमान

२८३. पदमेसु पंचवणा, एकग्राहाणीउ जा सहस्सरो । दो दो कप्पा तुल्य, तेण परं पोंडरीयाई ॥

[दे० प्र-वृ० सं०]

विविध वर्णवाले और ऊपर जो पंचवर्ण कहे उन वर्णवाले तथा अन्य वर्णवाले भी समझना । [११७]

अवतरण—पहले चारों निकायोंके विमानोंका वर्ण कहकर अब वैमानिक निकायके प्रत्येक देवलोकके विमानोंकी लम्बाई, चौड़ाई तथा अभ्यन्तर और बाह्य परिधिको किस गतिसे चलनेसे माप सकते ? इसे दिखानेको निमित्तभूत प्रथम कर्क संक्रान्तिके दिन पर वर्तित उदयास्तका अंतर बताया जाता है ।

रविणो उदयत्यंतर, चउणवहसहस्र पणसय छवीसा ।

बायाल सट्टिभागा, ककडसंकंति दियहम्मि ॥ ११८ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ ११८ ॥

विशेषार्थ—कर्क संक्रान्तिके दिन (अर्थात् सर्वाभ्यन्तर मण्डलमें सूर्य हो तब) सूर्यके उदयस्थान और अस्तस्थानके बिचका अन्तर ९४५२६ यो० और एक योजनके साठवें भागमेंसे ४२ भाग प्रमाण होता है । (९४५२६ $\frac{४२}{१००}$ योजन) हम जिस सूर्यको देखते हैं वह तो ४७२६३ यो० $\frac{३३}{१००}$ भाग प्रमाण दूरसे देखते हैं । कहा है कि—

सीआलीस सहस्सा दो य सया जोअणाण तेवट्टा ।

इगवीस सट्टिभागा ककड माइमि पिच्छ नरा ॥

उसमें कारण यह है कि—उदय और अस्तके मध्यभागमें अपना क्षेत्र आया है । [११८]

अवतरण—अब उस उक्त प्रमाणको तीन-पांच-सात-नौ गुना करनेसे कितना हो यह बतानेके लिए प्रथम त्रिगुण तथा पंचगुण प्रमाण दिखाती दो गाथाएँ कहते हैं ।

एयम्मि पुणो गुणिए, ति-पंच-सग-नवहिं होइ कममाणं ।

तिगुणम्मी दो लक्खा, तेसीई सहस्स पंचसया ॥ ११९ ॥

असिइ छ सट्टिभागा, जोयण चउलक्ख विसत्तरिसहस्सा ।

छच्चसया तेत्तीसा, तीसकला पंचगुणियम्मि ॥ १२० ॥

गाथार्थ—पहले उदयास्तका ९४५२६ यो० $\frac{४२}{१००}$ भाग प्रमाण जो कहा उसे तीन गुना, पंचगुना, सातगुना और नवगुना करनेसे वह, वह प्रमाण आता है । उसमें उदयास्त प्रमाणको तीन गुना करनेसे २,८३,५८० यो० $\frac{४२}{१००}$ भाग प्रमाण आता है और पंचगुना करें तो ४७२६३३ यो० $\frac{३३}{१००}$ भाग प्रमाण आता है । ॥ ११९-१२० ॥

विशेषार्थ—वह इस तरह;—

त्रिगुण प्रमाण 'चंडा' गतिका—	
$९४५२६ - \frac{४३}{६०}$	४२
$\times ३$	$\times ३$
$\frac{२८३५७८}{६०}$	$६०) १२६ (२$
$+ २ \frac{६}{६०}$	१२०
$\frac{२८३५८०}{६०}$ भागप्रमाण	$\frac{००६}{६०}$

पंचगुण प्रमाण 'चपला' गतिका—	
$९४५२६ - \frac{४३}{६०}$	४२
$\times ५$	$\times ५$
$\frac{४७२६३०}{६०}$	$६०) २२० (३$
$+ ३ \frac{३०}{६०}$	१८०
$\frac{४७२६३३}{६०}$ भागप्रमाण	$\frac{०३०}{६०}$

[११९-१२०]

अवतरण—अब सप्तगुण तथा नवगुणप्रमाण बताते हैं और चारों गतियोंके नामपूर्वक यथासंख्यत्व जणाते हैं ।

सत्तगुणे छलकखा, इगसट्टि, सहस्स छसय छासीया ।

चउपन्न कला तह नव-गुणम्मि अडलकख सड्डाउ ॥ १२१ ॥

सत्तसया चत्ताला, अट्टार कला य इय कमा चउरो ।

चंडा-चवला-जयणा, वेगा य तहा गइ चउरो ॥ १२२ ॥

गाथार्थ—उस उदयास्त अन्तरको सात गुना करनेसे ६६१६८६ यो० $\frac{५४}{६०}$ भाग प्रमाण आवे । और उसी तरह नौगुना करनेसे ८५०७४० यो० $\frac{६३}{६०}$ भाग प्रमाण आवे । उन चारों प्रमाणोंको अनुक्रमसे चंडा-चवला-जयणा और वेगाके साथ (यथासंख्य) योजें । ॥ १२१-१२२ ॥

विशेषार्थ—इस तरह—	
सप्तगुणप्रमाण 'जयणा' गतिका	
$९४५२६ - \frac{४३}{६०}$	४२
$\times ७$	$\times ७$
$\frac{६६१६८२}{६०}$	$६०) २९४ (४$
$+ ४ \frac{५४}{६०}$	$\frac{३५४}{६०}$
$\frac{६६१६८६}{६०}$ यो० $\frac{५४}{६०}$ भागप्रमाण	

नवगुणप्रमाण 'वेगा' गतिका	
$९४५२६ - \frac{४३}{६०}$	४२
$\times ९$	$\times ९$
$\frac{८५०७३४}{६०}$	$६०) ३७८ (६$
$+ ६ \frac{३०}{६०}$	३६०
$\frac{८५०७४०}{६०}$ भागप्रमाण	$\frac{०१८}{६०}$

[१२१-१२२]

अवतरण—अन्य आचार्य 'वेगा' गतिको अन्य जिस नामसे परिचित कराते हैं उस नामको दिखाकर ग्रन्थकार महर्षि उक्त गतिसे चलते उन उन विमानोंका पार पा सकते या नहीं ? यही बताते हैं ।

इत्थ य गइं चउत्थिं, जयणयरिं नाम केइ मन्नन्ति ।

एहिं कमेहिमिमाहिं, गइंहिं चउरो सुरा कमसो ॥ १२३ ॥

विवस्वमं आयामं, परिहिं अर्द्धितरं च बाहिरियं ।

जुगवं मिणंति छमास, जाव न तहावि ते पारं ॥ १२४ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १२३-१२४ ॥

विशेषार्थ—उक्त चार गतिके नाममें चौथी 'वेगा' गतिको अन्य कोई आचार्य 'यवनान्तरी' नामसे संबोधित करते हैं । यहाँ इतना ध्यानमें रखनेका कि—जो चार गतियाँ कहनेमें आई, और २२३५८० ई० आदि संख्या कहनेमें आई, उन्हें अनुक्रमसे प्रयुक्त करें अर्थात् एक कदममें २८३५० ई० योजन भूमि चलनेमें आवे तो वह वेग चंडा गतिका चलनेका कहा जाए, इस तरह शेष तीनों गतिके लिए समझना । अब पूर्व गाथामें कही गई चंडा गतिके २८३५८० यो० ई० भाग प्रमाणका कदम भरनेसे किसी एक देव विमानके २८४ विस्तारको मापना शुरु करे, दूसरा देव चपला गतिके ४७२६३३ यो० ई० प्रमाणके कदम द्वारा विमानके आयामका पार पानेको प्रयाण शुरु करे, तीसरा देव जयणा गतिके ६६१६८६ यो० ई० योजन प्रमाणके कदम द्वारा विमानके अर्द्धितर परिधिको मापना शुरु करे, और चौथा देव वेगा गतिके ८५०७४० यो० ई० योजन प्रमाण कदम द्वारा विमानके बाह्य परिधिको पार पानेका प्रयाण शुरु करे । ये चारों देव चारों गतिसे चारों प्रकारके विमानोंके प्रमाणोंको एक ही दिवसको एक ही समय पर एक साथ मापने निकल पडे, निकलकर उक्त चारों गतिके प्रमाण द्वारा चलते चलते ६ मास व्यतीत हो जाए, लेकिन उस विमानके चारों प्रकारके आयाम विष्कंभ आदि एक भी प्रकारके विमानप्रमाणान्तको भी कोई भी देव पा नहीं सकते । [१२३-१२४]

अवतरण—किस तरह करनेसे, किस गतिको कितनी गुनी करनेसे विमानके विष्कंभ आदिका पार पावे ?

पावंति विमाणाणं, केसिपि हु अहव तिगुणियाए * ।

कम चउगे पत्तेयं, चंडाई गईउ जोइज्जा ॥ १२५ ॥

तिगुणेण कप्प चउगे, पंचगुणेणं तु अट्टसु मिणिज्जा ।

मेविज्जे सत्तगुणेण, नवगुणेऽणुत्तरं चउक्के ॥ १२६ ॥

गाथार्थ—प्रथमके चार देवलोकगत कुछ विमानोंका पार पानेके लिए चंडा-चपला-जयणा और वेगा, इस प्रत्येक गतिका पहले कहे गए प्रमाणसे प्रत्येक गतिको त्रिगुनी वेगवती करके चलने लगे तो पार पा सकती हैं । तत्पश्चात् पाँचवेंसे लेकर अच्युत देवलोक

२८४. चंडाए विस्वमो चवलाए तइ य होई आयामो । अर्द्धितरं जयणाए बाह्यपरिहीय वेगाए ॥ १ ॥

* तिगुणिआईए ।

तकके विमानोंका पार पानेके लिए प्रत्येक गतिको पंचगुनी करके उतने योजनप्रमाण गतिसे चलने लगे तो पार पाता है । नौ प्रवेयकके विमान सातगुनी गतिसे चलने लगे तो पार पावे, और अनुत्तरके चार विमानोंका पार पानेको नौगुनी गति करे तब पार पाते हैं ।

॥ १२५-१२६ ॥

विशेषार्थ—पूर्व गाथामें बताया कि देव उक्त चारों गतिके प्रमाणसे चलने पर भी विमानोंका पार नहीं पा सकते । तब अब क्या करें तो पार पावे ? इसके लिए निम्न अनुसार समझना ।

१. 'चंडा' गतिके एक कदममें होते २८३५८० यो० $\frac{१}{५}$ यो० प्रमाणको त्रिगुना करने पर ८५०७४० यो० $\frac{३}{५}$ भाग प्रमाण प्राप्त होता है । उतने प्रमाणवाला कदम भरता हुआ कोई एक देव पहले चार देवलोकके विमानविस्तारको मापने लगे तो ६ मासमें कुछ विमानोंका पार पा सकता है ।

२. 'चवला' गतिके एक कदममें होते ४७२६३३ यो० $\frac{३}{५}$ यो० प्रमाणको त्रिगुना करनेसे १४१७९० यो० $\frac{३}{५}$ भाग प्रमाण होता है । यदि कोई एक देव ऐसे महत्प्रमाणवाला एक ही कदम दूर दूर रखता हुआ पहले चार देवलोकगत विमानोंकी लम्बाई मापनी शुरू करे तो कुछ विमानोंका पार ६ मासमें पाता है ।

३. 'जयणा' गतिके ६६१६८६ यो० $\frac{५}{५}$ योजनप्रमाणको त्रिगुना करनेसे १९८५०६० यो० $\frac{५}{५}$ भाग होता है । इतने प्रमाणका कदम भरता हुआ कोई एक देव पहले चार देवलोकगत विमानोंके आभ्यन्तर परिधि (घेरा)को मापे तो ६ मासमें कतिपय विमानोंको पूर्ण करे ।

४. 'वेगा' गतिके आए हुए ८५०७४० यो० $\frac{१}{५}$ योजन प्रमाणको त्रिगुना करनेसे २५५२२२० यो० $\frac{५}{५}$ भाग प्रमाण प्राप्त होता है । इतनेसे कदम भरता हुआ देव चार देवलोकगत कतिपय विमानोंके बाह्य परिधिको ६ मासमें पूर्ण करता है ।

तत्पश्चात् पाँचवें कल्पसे लेकर अच्युत कल्प तकके कल्पगत विमानोंका पार पानेको चंडा-चवलादि प्रत्येक गतिको पंचगुनी करके विमानका विष्कंभ, आयाम, आभ्यन्तर परिधि तथा बाह्य परिधिको यथासंख्य पूर्ववत् ६ मास तक आए प्रमाण द्वारा मापने लगे तो कतिपय विमानोंका पार पाते हैं ।

साथ ही नवप्रवेयकके विमानोंका पार पानेके लिए पूर्वोक्त गतिमानको सातगुना करके चलने लगे तो पार पाते हैं ।

विजय-विजयवन्त-जयन्त-अपराजित इन चार अनुत्तर विमानोंका पार पानेके

लिए उक्त चंडादि चारों गतिके प्रमाणको नौगुना करके चारों प्रकारके परिधिको यथासंख्य-गतिसे पूर्वोक्त रीतिसे ६ मास तक मापे तो कतिपय विमानोंका पार पाते हैं ।

यहाँ सर्वार्थसिद्ध विमानका माप नहीं कहा गया क्योंकि वह विमान तो मर्यादित एक लाख योजनका ही है, जिससे उसे मापनेका होता ही नहीं । ऐसा सर्व इन्द्रक विमानोंके लिए समझना ।

इस मतमें कुछ आचार्य असंमत हैं । वे बताते हैं कि—पूर्वोक्त रीतसे (चंडादि त्रिगुणादिक) करने पर भी छः मास व्यतीत हों तो भी पार नहीं पा सकते । जिसके लिए कहा है कि—

चत्वारिवि सकमेहिं, चंडाह गईहिं जाति छम्मासं ।

तहवि नवि जंति पारं, केसिचि सुरा विमाणाणं ॥

शंका—जब ऐसे महत् महत् प्रमाण द्वारा छः छः मास तक चलने पर भी उस विमानके प्रमाणका पार नहीं पा सकते, तो सिद्धान्तोंके कथनानुसार—परम पुनित सर्व जीवोंको अभयदान देनेवाले जिनेश्वरदेव आदिके च्यवन-जन्म-दीक्षा-केवलज्ञान और मोक्ष इन पंच कल्याणक प्रसंगमें संख्याबन्ध देव पृथ्वीतल पर आकर कल्याणककी महान् क्रियाओंको पूर्ण करके पुनः एक दो प्रहरमें ही लौट जाते हैं । (रात्रिको आकर सुबह होते ही स्वस्थान पर हाजिर हो जाते हैं ।) ऐसा जो उल्लेख है वह कैसे चरितार्थ हो सकेगा ? क्योंकि उन उन विमानोंसे मनुष्यक्षेत्रमें आनेमें कई गुना अन्तर प्रमाण रहा है ।

समाधान—ऊपर जिस गतिका वर्णन किया गया उसका प्रयोजन सिर्फ असंख्याता योजनके प्रमाणोंवाले विमान कैसे महत्प्रमाण सूचक हैं, उसका असत्कल्पना द्वारा दृष्टान्त देकर समझाना मात्र है । नहीं तो वे देव कभी मापने नहीं गये या जानेवाले नहीं, सिर्फ जिस तरह पत्थोपमकी स्थितिके वर्णन प्रसंग पर कल्पना द्वारा कालकी सिद्धि की जाती है उसी तरह यहाँ भी एक प्रकारकी असत् कल्पना ही की है कि इस तरह भी चलने लगे तो वे विमानके अन्तका कब पार पावे ? तो बताया कि—छः मासमें । तब हमें सहज विचार आता है कि ये विमान कितने बड़े होंगे ? बाकी तो देव अपने विमानमें ही कई बार घूमते होंगे । अगर वे चाहे तो देखते देखते उन विमानोंके अन्तको पा सकते हैं, क्योंकि उनकी शक्ति अचिन्त्य है, अत्यन्त शीघ्रतर गतिवाले और सामर्थ्ययुक्त है । [१२५-१२६]

इति वैमानिकेविमानाधिकारः ॥

अवतरण—अब तद्वत् प्रासंगिक गतिकी असत् कल्पनाद्वारा एक राजका प्रमाण दर्शाते हैं । परन्तु यह दृष्टांत घटनीय नहीं है । गतिका वेग और समयकी मर्यादा देखते संख्यात योजन ही मापा जा सकता है । फिर असंख्यात राजप्रमाण किस तरह निकल

सकेगा ? अतः इस गाथाको ओघसे राजमाप महत्तासूचक समझना । प्रथमावृत्तिमें दी है इसलिए रद नहीं की है ।

जोयणलक्खपमाणं, निमेसमित्तेण जाइ जे देवा ।

छम्मासेण य गमणं, एगं रज्जुं जिणा विंति ॥ १२७ ॥

[प्र. गा. सं. ३६]

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १२७ ॥

विशेषार्थ—यदि कोई एक देव पलकमात्रमें एक लाख योजनका प्रयाण करे तो वे छः मासमें एक राजका मार्ग-प्रमाणको पार कर सकते हैं, ऐसा श्री सर्वदर्शी जिनेश्वरदेवोंने कहा है ।

रत्नसंचयादि ग्रन्थोंमें एक राज प्रमाणका चित्रण देते हुए यह बताया गया है कि कोई एक महर्द्धिकदेव अतिशय तपित (गर्म) ऐसे एक हजार मन वजनवाले लोहेके ठोस गोलको मनुष्यलोकमें पहुँचानेकी इच्छासे ऊपरसे एकाएक प्रबल जोरसे फेंके, तब वह गोला चंडागतिके प्रमाणसे नीचेकी ओर आगे घँसता-घँसता छः मास-छः दिन-छः पल जितने काल-समयमें एक राजप्रमाण आकाश पार कर सकता है । इस दृष्टांतसे 'राजप्रमाण'की महत्ताकी कल्पना कर ले । जैसे एक बालक पूछे कि 'सागर कितना बड़ा होता है ? तब हम, जिस तरह अपने दोनों हाथोंको चौड़ा करके बताते हैं कि 'इतना बड़ा....' । इस तरह सागरके असीम मापको (नापको) हम जिस प्रकार दो हाथोंमें समाकर बालक-बुद्धिको सन्तोष देते हैं, उसी प्रकार यहाँ व्यवहारके लिए उपरोक्त दृष्टांत दिया है, अतः उसे वास्तविक न समझें, क्योंकि उसी तरह तो संख्यात योजन ही होता है परन्तु असंख्यात होता ही नहीं है । [१२७] (प्र. गा. सं. ३६)

अवतरण—अब आदि और अन्तिम प्रतरवर्ती इन्द्रकविमानका प्रमाण कहते हैं ।

पढमपयरम्मि पढमे, कप्पे उडुनाम इंदयविमाणं ।

पणयाललक्खजोयण, लक्खं सन्वुवरिसन्वुवट्टं ॥ १२८ ॥

गाथार्थ—वैमानिक निकायके प्रथम सौधर्मकल्पके प्रथम प्रतरमें 'उडु' नामक इन्द्रकविमान पैतालीस लाख योजनका वृत्त अर्थात् गोलाकारयुक्त है और सबसे ऊपर बासठवें प्रतरमें अनुत्तरकल्पमें एक लाख योजन प्रमाणका गोलाकार 'सर्वार्थसिद्ध' नामक विमान आया है । ॥ १२८ ॥

विशेषार्थ—सर्वार्थसिद्धविमानके देवोंको 'लवसत्तमीया' कहकर पहचाने जाते हैं, क्योंकि अबढायुष्क उपशम श्रेणीमें चढे हुए उन देवोंको पूर्वभवमें किए गये तपमें

अथवा ध्यानमें यदि छंदूका तप और २८^५सप्तत्त्व प्रमाण ध्यान अधिक हुआ होता तो वे तद्भवसे सीधे मोक्षमें ही चले गए होते, परन्तु उसी प्रकार न होनेसे उपशम श्रेणीमें ही कालधर्म पाकर शिवनगर-मोक्ष पहुँचनेमें विश्रामरूप अनुत्तरदेवलोकेमें एकावतारी रूपमें उत्पन्न होते हैं । थोड़ा-सा कम ध्यान-तप करनेके परिणामस्वरूप वहाँसे च्यवित होकर उनको पुनः गर्भाशयका महान् दुःख फिरसे एक ही बार सहन करना पड़ता है, क्योंकि वहाँसे—देवगतिसे च्यवकर (अवसान होने पर, स्थानभ्रष्ट होकर), उत्तम कुलमें जन्म लेकर, वहाँ संयम स्वीकार कर उसी ही भवमें मोक्षमें चले जाते हैं । ये देव निश्चयसे सम्यक् दृष्टिवाले होते हैं । और वहाँ उनके उपपात शय्या पर जो चँदवा (चँदोवा) आदि होते हैं उनके ऊपर अनेक भाँतके बत्तीस बत्तीस मन तक वजनवाले बड़े-बड़े मोती जो लटकते हैं, वे सब पवनके योगसे जब आपसमें टकराते हैं तब उनमेंसे मधुरध्वनियाँ—नाद नीकलते हैं । वे ध्वनि उनको अनन्तगुण आनन्द देती हैं । [१२८]

अवतरण—अब सात गाथाओंसे वासठ इन्द्रक विमानोंके नाम बताते हैं ।

उडु-चंद-रयय-बग्गू-वीरिय-वरुणे-तहेव आणंदे ।

बंभे कंचण-रूइले [रे], वं (चं) चे अरुणे दिसे चेव ॥ १२९ ॥

वेरुलिय रुयग-रूइरे, अंके फलिहे तहेव तवणिज्जे ।

मेहे अग्ध-हलिदे, नलिणे तह लोहियक्खे य ॥ १३० ॥

वइरे अंजण-वरमाल- * अरिट्ठे तह य देव-सोमे अ ।

× मंगल-बलभदे अ, चक्क-गया-सोत्थि णंदियावत्ते ॥ १३१ ॥

आभंकरे य गिद्धि, केऊ-गरुले य होइ बोद्धव्वे ।

बंभे बंभहिए पुण, बंभोत्तर-लंतए चेव ॥ १३२ ॥

महसुक-सहसारे, आणय तह पाणए य बोद्धव्वे ।

+पुप्फेऽलंकारे अ, आरणे (य) तहा अच्चुए चेव ॥ १३३ ॥

२८५.—जिसकी गवाही उप-रत्ना०की “ लवसत्तहत्तरीप ” ‘ सत्तलवाजइआउं तथा सव्वडुसिद्धनाम ’ गाथाएँ तथा भगवतीके ‘ तणुकेवइयं ’ इत्यादि सूत्र देते हैं, साथ ही वं. वीरविजयकृत चौसठ प्रकारी पूजामेंसे तीसरी वेदनीयकर्मकी पाँचवीं पूजाके भाषा-काव्यमें यह बात सरस रूपसे वर्णित की है ।

* रिट्ठे देवे य सोममंगलणा बलभदे चक्कगया सोवत्थिय नंदयावत्ते । पाठा०

× ‘ मंगल ’-ल्लङ्गलः इति पाठा० ।

+ पुष्पमलंकारे आभरणे, तह अच्चुए चेव ॥

सुदंसण-सुप्पडिबद्धे, मणोरमे चेव होइ -पढमतिगे ।
 तत्तो य सन्वओभदे, विसाले य सुमणे चेव ॥ १३४ ॥
 सोमणसे पीइकरे, आइच्चे चेव होइ तइयतिगे ।
 सन्वडुसिद्धिनामे, सुरिंदया एव* वासडु ॥ १३५ ॥

[प्र. गा. सं. ३७-४३]

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १२९-१३५ ॥

विशेषार्थ—६२ प्रतरके कुल ६२ इन्द्रक हैं । उन प्रत्येक इन्द्रकोके नाम यहाँ बताए जाते हैं । सौधर्मके प्रथम प्रतरमें स्थित इन्द्रक विमानका नाम १-‘उडु’ है । द्वितीयादिक प्रतरमें अनुक्रमसे २-चन्द्र, ३-रजत, ४-बल्लु, ५-वीर्य, ६-वरुण, ७-आनन्द, ८-ब्रह्मा, ९-कांचन, १०-रुचिर, ११-वंच (चंच), १२-अरुण, १३-दिग्ग, १४-वैडूर्य, १५-रुचक, १६-रुचिर, १७-अंक, १८-स्फटिक, १९-तपनीय, २०-मेघविमान, २१-अघ, २२-हारिद्र, २३-नलिन, २४-लोहिताक्ष, २५-वज्र, २६-अंजन, २७-वरमाल, २८-अरिष्ट, २९-देव, ३०-सौम, ३१-मंगल, ३२-बलभद्र, ३३-चक्र, ३४-गदा, ३५-स्वस्तिक, ३६-नंदावर्त, ३७-आभंकर, ३८-गृद्धि, ३९-केतु, ४०-गरुड, ४१-ब्रह्म, ४२-ब्रह्महित, ४३-ब्रह्मोत्तर, ४४-लांतक ।

[टिप्पणी :—इनमें १ली गाथामें कथित १३ विमान सौधर्मईशान देवलोकके तेरह प्रतरमें योजनेका हैं । तथा १४से २५ तकके बारह विमान तीसरे-चौथे देवलोकके प्रतरवर्ती समझे । २६ से ३१ तक पाँचवे देवलोकमें, ३२ से ३६ तकके छठे देवलोकमें, ३७ से ४० तकके सातवें देवलोकमें और ४१ से ४४ तकके विमान आठवें देवलोकमें जाने ।]

४५-महाशुक्र, ४६-सहस्रार, ४७-आनत, ४८-प्राणत, ४९-पुष्प, ५०-अलंकार, ५१-आरण, ५२-अच्युत, ५३-सुदर्शन, ५४-सुप्रबुद्ध, ५५-मनोरम, ५६-सर्वतोभद्र, ५७-विशाल, ५८-सुमन, ५९-सौमनस, ६०-प्रीतिकर, ६१-आदित्य, ६२-सर्वार्थसिद्ध, इस तरह ६२ इन्द्रकविमान वैमानिक निकायमें हैं ।

[टिप्पणी :—४५ से ४८ तकके विमान नवें-दसवें देवलोकके, ४९ से ५२ तकके आरण-अच्युतके, ५३ से ६१ तकके नवमैवेयक और ६२वाँ अनुत्तर देवलोकका प्रयोजे । इस तरह इन्द्रकविमानोंके नाम बताए गये हैं ।]

÷ बोद्धवे ॥

§ विसालए सोमणे इय ॥

* एते ॥

२८६. इत विषयमें नाममें कई मतांतर है, अतः वे संग्रहणी टीकाएँ तथा देवेन्द्र-नरकेन्द्र-प्रकरणमेंसे देख ले ।

अब चारों ओर पंक्तिगत रहे हुए विमानके नाम जणाते हैं, उनमें 'करण'की परिभाषा करके उदाहरणके साथ बताते हैं ।

जिस देवलोकमें इन्द्रक विमानका जो नाम है, उस नामके साथ 'प्रभ' शब्द जोड़कर उसे देवलोकमें पूर्व दिशासे शुरु होती पंक्तिके प्रथम विमानका नाम समझ ले । दूसरे विमानसे लेकर तो आगे कहे जानेवाले मात्र ६१ नाम अन्तिम भाग तक कहने हैं ।

पश्चिम दिशागत ६२ पंक्तिके प्रथम विमानके नाम जाननेके लिए उन देवलोकके इन्द्रक विमानोंके नामोंके साथ 'शिष्ट' शब्द जोड़े, जिससे उस उस देवलोकके प्रारम्भके विमानोंका नाम समझ सके; अर्थात् इस पंक्तिके दूसरे (द्वितीय) विमानसे आगे कहे गये ६१ नामोंके साथ क्रमशः 'शिष्ट' शब्द लगाकर ६२ वे विमान तक पहुँचे ।

दक्षिण दिशाकी पंक्तियोंके प्रथम त्रिकोण (त्रिमुख) विमानोंके नाम जाननेके लिए उस उस देवलोकके इन्द्रक विमानोंके नामोंके साथ 'मध्य' शब्द जोड़े । दूसरे विमानसे लेकर ६२ तक नीचे कहे गये नामोंके साथ 'मध्य' शब्दका प्रयोग करे ।

उत्तर दिशाकी पंक्तियोंके पहले त्रिकोण विमानोंके नाम जाननेके लिए उस उस देवलोकके विमानोंके साथ 'आवर्त' शब्द प्रयोजे । दूसरे (द्वितीय) से लेकर अन्तिम पंक्तिके अन्त तक नीचे कहे जानेवाले (बताए गए) ६१ नामोंके साथ अनुक्रमसे 'आवर्त' शब्द लगाएँ ।

दूसरेसे लेकर ६२वें तक बताए गए विमानोंके नाम इस प्रकार हैं ।

२-स्वस्तिक, ३-श्रीवत्सक, ४-वर्द्धमानक, ५-अंकुश, ६-झष, ७-यव, ८-छत्र, ९-विमल, १०-कलश, ११-वृषभ, १२-सिंह, १३-सम, १४-सुरभि, १५-यशोधर, १६-सर्वतोभद्र, १७-विमल, १८-सौवत्सिक, १९-सुभद्र, २०-अरज, २१-विरज, २२-सुप्रभ, २३-इन्द्र, २४-महेन्द्र, २५-उपेन्द्र, २६-कमल, २७-कुमुद, २८-नलिन, २९-उत्पल, ३०-पद्म, ३१-पुण्डरीक, ३२-सौगन्धिक, ३३-तिगिच्छ, ३४-केशर, ३५-चम्पक, ३६-अशोक, ३७-सोम, ३८-शूर, ३९-शुक्र, ४०-नक्षत्र, ४१-चन्दन, ४२-शशी, ४३-मलय, ४४-नन्दन, ४५-सौमनस, ४६-सार, ४७-समुद्र, ४८-शिव, ४९-धर्म, ५०-वैश्रमण, ५१-अंबर, ५२-कनक, ५३-लोहिताक्ष, ५४-नन्दीश्वर, ५५-अमोघ, ५६-जलकान्त, ५७-सूर्यकान्त, ५८-अव्याबाध, ५९-दोगुन्दक, ६०-सिद्धार्थ, ६१-कुण्डल, ६२-सोम । इस प्रकार प्रथम सौधर्म देवलोकका चरितार्थपन कर दिखाया ।

प्रथम इन्द्रक विमानका नाम (सौधर्मके प्रथम प्रतरमें) 'उडु' है । उस विमानकी पूर्व दिशाकी पंक्तिके प्रथम विमानका नाम 'उडुप्रभ,' दूसरेका स्वस्तिक, तीसरेका श्रीवत्सक

इस प्रकार ६१ नाम पूर्वदिशाकी पंक्तिके कह दे। शेष रही तीन पंक्ति, उनमें उपरोक्त कथनानुसार पश्चिम दिशाकी पंक्तिके प्रथम त्रिकोणविमानका नाम उडुशिष्ट, दूसरा विमान स्वस्तिकशिष्ट, तीसरेका श्रीवत्सशिष्ट, इस तरह ६१ नामोंको 'शिष्ट' शब्द लगाकर पंक्ति समाप्त करे। इस प्रतरके दक्षिण दिशाकी पंक्तिके प्रथम विमानका नाम उडुमध्य, दूसरेका स्वस्तिकमध्य, तीसरेका श्रीवत्समध्य, इस तरह ६१ नाम 'मध्य' शब्दसे सम्बोध कर समाप्त करे। अब रही अन्तिम चौथी पंक्ति। उस पंक्तिके प्रथम विमानका नाम 'उडु-आवर्त', दूसरेका नाम स्वस्तिकआवर्त, तीसरेका श्रीवत्सआवर्त, इस तरह ६१ नाम 'आवर्त' शब्द लगाकर पूर्ण करे। इस तरह अन्यत्र भी समझ ले।

पुष्पावकीर्ण विमान कैसे नामवाले होते हैं? तो इष्ट वस्तुओंके जितने नाम होते हैं, उन नामवाले, सौभाग्यवाली वस्तुओंके नामवाले जो परिणाम विशेषादि वस्तुओंके और अन्तमें तीनों जगत्में द्रव्योंके जितने भी नाम हैं उन सभी नामवाले पुष्पावकीर्ण विमान होते हैं। (१२९-१३५) (प्र. गा. सं. ३७ से ४३)

अवतरण—पूर्व १२९ से १३५ गाथामें इन्द्रक पंक्तिगत तथा पुष्पावकीर्ण विमानोंके नाम बताये थे। अब लोकमें ४५ लाख योजन और लाख योजन प्रमाणवाली कौन कौनसी चीजें शक्य होती हैं? वे बताते हैं—

पणयालीसं लक्खा, सीमंतय माणुसं उडु सिवं च ।

अपइद्वाणो सञ्चद्रु, जम्बूदीवो इमं लक्खं ॥ १३६ ॥

(प्र. गा. सं. ४४)

गाथार्थ—इस चौदह राजलोकमें पहले नरकके प्रथम प्रतरमें आये हुए सीमन्त नामक इन्द्रक नरकावास, मनुष्यक्षेत्र, उडु नामक विमान और सिद्धशिला इन चारों वस्तुएँ पैंतालीस लाख योजन प्रमाणयुक्त हैं और सातवें नरकके अन्तिम प्रतरमें अप्रतिष्ठित नरकावास तथा अनुत्तर कल्पमें स्थित सर्वार्थसिद्ध नामक विमान और जम्बूद्वीप इन तीनों वृत्त-वस्तुएँ एक लाख योजन प्रमाणयुक्त हैं। ॥ १३६ ॥

विशेषार्थ—सुगम है। [१३६] (प्र. गा. सं. ४४)

इत्यावलिकागतानां-पुष्पावकीर्णानां च विमानानां स्वरूपम् ॥

अवतरण—अब चौदह राजकी गिनती किस तरह है? और हरेकका मर्यादास्थान कहां है? वह कहते हैं तथा प्रत्यांतरसे कुछ अधिक स्वरूप भी कहेंगे।

अह भागा सगपुटवीसु, रज्जु इक्किक्क तह य सोहम्मे ।

मारिहं लंत सहसारञ्चुय, गेविज्ज लोमंते ॥ १३७ ॥

गाथार्थ—अधोभागमें सातों नरक पृथ्वी एक एक राज प्रमाण समझें, जिससे सात नरक पूरे होते सात राज होते हैं। इसे स्थूल परिभाषा समझना। और वहाँसे लेकर सौधर्म युगलमें आठवाँ राज, माहेन्द्रमें नौवाँ राज, लान्तके दस, सहस्रारे ग्यारह, आरण-अच्युतान्ते बारह, नवप्रैवेयकान्ते तेरह और वहाँसे लोकान्ते चौदहवाँ राज पूर्ण होता है। 'रज्जुइक्कि' यह पद देहलीदीपक न्यायकी भाँति दोनों तरफ घटानेका है। ॥१३७॥

विशेषार्थ—यह लोक चौदह राज प्रमाण है। उसमें प्रथम सातवें नरकके अन्तिम तलवेसे (अधो लोकान्तसे) लेकर, उसी सातवें नरकके ऊपरके तलवे तक पहुँचते एक रज्जु प्रमाण बराबर होता है। वहाँसे लेकर छठी नारकीके उर्ध्व छोर पर पहुँचते दो रज्जु, पाँचवीके अन्तमें तीन रज्जु, चौथीके अन्तमें चार रज्जु, तीसरी नारकीके अन्तमें पाँच, दूसरीके अन्तमें छः और पहली नारकीके उपरितन तलवे पर पहुँचते सात रज्जु होते हैं, (इसे स्थूल परिभाषा समझें) वहाँसे आगे चलकर तिर्यक्लोक पार करके सौधर्म ईशान कल्पमें ऊपरितन प्रतर पर जाते आठ, सनत्कुमार-माहेन्द्र युगलमें अन्तिम प्रतर पर जाते नौ, ब्रह्म कल्पको पार करके लांतक कल्पान्त पर दस, महाशुक कल्प पार करके सहस्रार देवलोकके अन्तमें ग्यारह, आरण-अच्युतान्त पर बारह, प्रैवेयकान्तमें तेरह, अनुत्तरको पार करके सिद्धस्थानान्त पर पहुँचते चौदह रज्जु सम्पूर्ण होते हैं। वे पूर्ण होते ही लोक पूर्ण हुआ और उसके बाद आलोककी शुरुआत होती है। इस प्रकार धर्मानारकीके ऊपरके भाग पर सात और निम्न भाग पर सात यों कुल मिलकर चौदह राज बराबर होता है।

अधो, तिर्यक् और उर्ध्व—इन तीनों स्थलोंको 'लोक' शब्द लगाकर बोला जाता है। अधो भागमें अधिक सात राज पृथ्वी है और उर्ध्व भागमें कुछ न्यून सात राज पृथ्वी है। दोनों मिलकर चौदह राजलोक सम्पूर्ण होता है।

यह लोक 'वैशाख' संस्थानमें अर्थात् दोनों हाथोंको कमर पर रखकर, दोनों पैर चौड़ा

२८७, यह अभिप्राय आ. निर्युक्ति-चूर्णि तथा जिनभद्राणी क्षमाश्रमणजी वृत्त संग्रहणीका है, परन्तु श्री योगशास्त्रके अभिप्रायसे तो समभूतल रुचकसे सौधर्मान्तमें देह रज्जु, माहेन्द्रान्ते दारै, ब्रह्मान्ते तीन, सहस्रारमें चार, अच्युतात्तमें पाँच, प्रैवेयकान्तमें छः और लोकान्तमें सात ऐसा ही अभिप्राय लोकनालिकाका समझाता है। साथ ही श्री भगवतीजी आदिमें तो धर्मा स्तनप्रभा पृथ्वीके नीचे असंख्य योजन पर लोकमध्य है ऐसा कहा है। उसके आधार पर तो वहाँ सात राज पूर्ण होते ही वहाँसे उर्ध्वकी गिनती शुरु होती है। इस लोकके विषयमें तीनों लोकका मध्य भागका निर्णय करनेमें कुछ परामर्श (चर्चा-विचारणा) करना जरूरी है।

करके जो टगर-टगर खड़ा हो उस पुरुष जैसा है, अथवा लम्बे काल तक उर्ध्व दम लेनेसे, वृद्धावस्थाके कारण मानों बहुत ही थककर विश्रान्तिके लिए निःश्वास उतारकर सहसा शान्तिको इच्छता पुरुष जिस तरह कटि भागमें हाथ देकर, अपने पैरोंको चौड़ा रखकर खड़ा हो, ऐसी लोकाकृति है। तीसरे प्रकारसे २८८ त्रिशराव संपुटाकार, चौथी रीतसे (दधि, दहीका) मंथन करती उस युवान ली जिस आकारकी दिखती हो उस आकार सा दिखायी देता है।

यह लोक किसीने बनाया नहीं है, (यह) स्वयंसिद्ध, निराधार और सदाशरवत है, इसलिए इतरदर्शनोंकी लोकोत्पादक, पालक और संहारककी जो प्ररूपणा है वह असत्य स्वरूप है।

यह लोक पंचास्तिकाय अर्थात् धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जिवास्तिकाय, और पुद्गलास्तिकायमय है और उस उस द्रव्य स्कंध-देश-प्रदेश-परमाणुसे क्रमशः व्याप्त है। वे सभी द्रव्य-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण आदि भावोंसे युक्त है।

इस चौदह राजलोकमें त्रसजीवोंके प्राधान्यवाली, चौदह राज प्रमाण (५६ खंडुक) लम्बी, और एक राज प्रमाण चौड़ी त्रसनाडी आयी है। जिनमें एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके जीव तथा तीनों लोकसे समाविष्टयुक्त है। इसके बाहरके लोकक्षेत्रमें मात्र एकेन्द्रिय ही जीव है।

समग्र चौदह राजलोक क्षेत्रका मध्य (केन्द्र, सेन्टर) धर्मापृथ्वीको लपेटकर आये हुए असंख्य योजन आकाश क्षेत्र पार करनेके बाद आता है। अधोभागका मध्य चौथे नारकके असंख्य योजन आकाश बीतानेसे प्राप्त होता है। तिर्यक् (मध्य) लोकका मध्य अष्टरुचक-प्रदेश है। और उर्ध्वलोकका मध्य ब्रह्मकल्पके तीसरे रिष्टप्रतर पर कहा है।

उर्ध्वलोक सात रज्जुसे न्यून मृदंगाकारमें, तिर्यक् लोक १८०० यो० डमरुक आकारमें और अधोलोक सात रज्जुसे अधिक अधोमुखी कुम्भी आकारमें है।

अधोलोकमें नारक, परमाधामी और भवनपति देव-देवियाँ इत्यादिके स्थान हैं। तिच्छालोकमें व्यन्तर, मनुष्य असंख्य द्वीप-समुद्र और ज्योतिषीदेव आये हैं। इसी तिच्छालोकमें मुक्तिप्राप्तिके साधनका योग सुलभ कहा है। उर्ध्वलोकमें सदानन्दनिमग्न उत्तमकोटीके वैमानिक देव तथा उनके विमान आये हैं। और उनके बाद सिद्ध परमात्मासे युक्त सिद्ध-शिलागत सिद्ध परमात्मा आये हैं।

२८८. एक शराव (तश्तरी, थाल) उल्टा, उसके ऊपर एक सीधा और उसके ऊपर फिरसे एक उल्टा शराव रखनेसे सम्पूर्ण लोकाका आकार हो सकता है।

इस प्रकार यहाँ संक्षेपमें लोक स्वरूप बताया । तदुपरांत सविस्तर स्वरूप तथा खण्डुक विचारणा सूचि-प्रतर-वन-रज्जु आदिका स्वरूप २८८ ग्रन्थांतरसे (चित्रमेंसे भी) देखे । [१३७]

*

*

*

॥ तृतीय अवगाहना द्वार ॥

अवतरण—चारों प्रकारके देवोंका दूसरा भवन द्वार तथा तदाश्रयी अन्य वर्णन बताकर उन्हीं ही देवोंका तृतीय 'अवगाहना' द्वार शुरू करते हैं, तथा उसमें प्रासंगिक अन्य वर्णन भी करेंगे । इस गाथामें तो उनके भवधारणीय वैक्रियशरीरका प्रमाण कहाँ कितना होता है ? यह भी बताते हैं ।

भवण-वण-जोह-सोहम्मीसाणे सत्तहत्थ तणुमाणं ।

दु दु दु चउके गेवि-ज्जऽणुत्तरे हाणि इक्किक्के ॥ १३८ ॥

गाथार्थ—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा वैमानिक निकायमें प्रथम-सौधर्म-ईशान इन दोनों देवलोकके देवोंका देहमान सात हाथका, उसके बाद तीनबार दो-दो देवलोकके जोड़में, तदनन्तर कल्पचतुष्कमें, बादमें त्रैवेयकमें और अनुत्तरमें अनुक्रमसे एक-एक हाथकी हानि करे । ॥ १३८ ॥

विशेषार्थ—विशेषमें सनत्कुमार-माहेन्द्र देवलोकमें छः हाथका, ब्रह्म-लोकमें दोनों कल्पमें पाँच हाथका, शुक्र-सहस्रारमें चार हाथका, आनत-प्राणत-आरण-अच्युत इन चारों कल्पमें तीन हाथका, नौ त्रैवेयकमें दो हाथ और अनुत्तरमें एक २८० हाथका मात्र शरीर होता है । ज्यों ज्यों ऊपर बढ़ते हैं त्यों त्यों देहमान, नूतन कर्मबन्धन, कषाय भावकी परिणति इत्यादि घटता जाता है । जबकि आयुष्यमान, निर्मलता, पौद्गलिक सुख इत्यादि क्रमशः बढ़ता जाता है । [१३८]

२८९. प्रथमावृत्तिमें तैयार होने पर भी जिसे देना रोक दिया था उस चौदह राजलोक, नवलोकान्तिक, तमस्काय इत्यादिका स्वरूप परिशिष्टके रूपमें भी इस आवृत्तिमें देनेका विचार है ।

२९०. यह मान उत्कृष्ट आयुष्यवाले (३३ सागरोपम) सर्वार्थसिद्ध देवोंके लिए है । परन्तु जिनकी विजया दिन पर जघन्य ३१ सागरोपमकी स्थिति है उनके लिए दो हाथोंका और ३२ सागरोपमकी मध्यम स्थिति है उनका शरीर एक हाथ और हाथके ग्यारहवाँ भाग जितना होता है । इस तरह हरेक कल्प तथा त्रैवेयकमें समझना है । सुगमताके लिए गाथा १४२का यन्त्र देखिए ।

अवतरण—पहले देवोंकी सामान्यतः स्थिति बतायी । अब सागरोपमकी वृद्धिसे विश्लेषकरणमें उपयोगी ऐसी प्रत्येक प्रतरमें देवोंकी स्थिति बताने इस गाथाकी रचना ग्रन्थकारने की है । अतः पुनरुक्ति दोष असम्भवित है ।

कप्पदुग-दु-दु-दु-चउगे, नवगे पणगे य जिद्धिडि अयरा ।

दो सत्त चउदऽठारस, वावीसिगतीसतितीसा ॥ १३९ ॥

गाथार्थ—वैमानिकनिकायके प्रथम दो कल्पमें उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति दो सागरोपमकी है । उसके बाद सनत्कुमार-माहेन्द्र युगलकी उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपमकी, ब्रह्म और लंतक कल्पमें चौदह सागरोपमकी, शुक्र सहस्रार युगलकी अठारह सागरोपमकी, आनत-प्राणत और आरण-अच्युत इन चारों कल्पमें बाईस सागरोपमकी, नौ प्रवेयकमें इकतीस सागरोपमकी और २०^१ पाँच अनुत्तरमें तीस सागरोपमकी आयुष्य स्थिति है । ॥ १३९ ॥

विशेषार्थ—गाथार्थवत् सुगम है । [१३९]

अवतरण—१३८वीं गाथामें प्रत्येक कल्पगत देवोंका सामान्यतः शरीरप्रमाण बताया गया है । ज्यों सनत्कुमार युगलमें ६ हाथका शरीरप्रमाण उस प्रथम प्रतरवर्ती सात सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंका मुख्यतः कहा जा सकता है, परन्तु उसी कल्पके अन्य प्रतरवर्ती देव कि जिनकी ३-४-५-६ सागरोपमकी स्थिति है उनका बताया नहीं है; त्यों समग्र कल्पमें कल्पाश्रयी उत्कृष्ट स्थिति बतायी है परन्तु प्रतिसागरोपमकी वृद्धिसे प्रत्येक प्रतरवर्ती देवोंका शरीरप्रमाण कितना न्यून होता है वह बताया नहीं है । इसलिए अब करणके माध्यमसे यथोक्त सागरोपम आयुष्यकी वृद्धिके क्रमसे आगे आगे हीन-हीनतर होने शरीर अवगाहनाके यथोक्त प्रमाणको प्रतिपादन करनेवाली दो गाथाएँ कही जाती हैं ।

विवरे ताणिकरूणे, इकारसगाउ पाडिए सेसा ।

हत्थिकारसभागा, अयरे अयरे समहियम्मि ॥ १४० ॥

चय पुन्वसरीराओ, कमेण एगुत्तराइ बुड्ठीए ।

एवं ठिइविसेसा, सणकुमाराईतणुमाणं ॥ १४१ ॥

गाथार्थ—उत्तरकल्पगत अधिक स्थितिमेंसे पूर्वकल्पगतकी जो कम स्थिति है उसको

२९१. अन्य स्थान पर विजयादि चार अनुत्तरमें उत्कृष्ट स्थिति ३२ सागरोपमकी तथा सर्वार्थसिद्धमें ३३ सागरोपमकी स्थिति कही है जिसका गवाही तत्त्वार्थ ४-२, प्रज्ञापना, समवायांग आदि ग्रन्थ देते हैं । लेकिन उस ३२ सागरोपमकी स्थिति सामान्यतः एक एक सागरोपमकी वृद्धिके 'करण' क्रममें आती है इसी लिए वैसी विवक्षा की होगी; वरना ३३ सागरोपम योग्य है ।

कम (विश्लेष) करके, आयी हुई संख्यामेंसे एककी संख्या कम करे, और अब जो संख्या आये उसे एक हाथके ग्यारह भाग कल्पित करके उनमेंसे कमी करनेके बाद जो संख्या शेष रहे उसको पुनः (फिरसे) पूर्वपूर्वकल्पगत अन्तिम प्रतरवर्ती यथोक्त शरीरप्रमाणमेंसे कमी करनेसे जितनी हस्त संख्या और ग्यारहविए भागोंकी संख्या आये वह; यथोत्तर-कल्पमें प्रारम्भके प्रतर पर जितने सागरोपमकी स्थितिवाले देव होते हैं उनका शरीरप्रमाण आये । पुनः उसी प्रतरने आयुष्यमें एक एक सागरोपमकी वृद्धि करते चले और साथ साथ (उत्तरोत्तर देहमान घटता होनेसे) शेष रहते ग्यारहविए भागोंमेंसे एक एक भाग अनुक्रममें आगे आगे हीन (कमी) करते जाना ।

इस तरह करते करते हरेक कल्पगत यथोक्त सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंका सम्पूर्ण शरीरप्रमाण आता है । ॥ १४०-१४१ ॥

विशेषार्थ—विशेषार्थमें गाथार्थको विशेष रूपमें स्फुट न करते हुए उस गाथार्थको दृष्टान्त (घटना)के साथ घटा देते हैं, साथ-साथ सौधर्म-ईशान कल्पयुगलमें यह विश्लेषकरण (उसके पूर्व कल्पारम्भ न होनेसे) अनावश्यक है, जो सहज ही समझ सकते हैं, इसी-लिए सनत्कुमार माहेन्द्रादि युगलमें बताया जाता है ।

सनत्कुमार-माहेन्द्र युगलकल्पमें करण योजना—

उत्तरकल्पगत स्थिति अर्थात् सनत्कुमार-माहेन्द्रयुगलवर्ती सात सागरोपमकी जो अधिक स्थिति है, उसमेंसे पूर्वकल्पगत [सौधर्म-ईशानवर्ती दो सागरोपमकी] जो न्यून स्थिति है, इसी अधिक और न्यूनस्थितिके बीच विश्लेष (कमी) करनेसे $7-2 = 5$ सागरोपमकी संख्या आयी; उनमेंसे एककी संख्या कमी करनेकी होनेसे पाँचमेंसे एक जानेसे चार सागरोपम शेष रहे ।

[सौधर्म और सनत्कुमार युगलके बीच सिर्फ एक हाथका भेद रहता है अर्थात् उतनी कमी रहती है । उसी एक हाथ प्रमाणको उत्तरकल्पगत बाँट देना है । इसीलिए उस एक हाथके अमुक भागोंकी कल्पना करके पूर्वकल्पगत जो आयुष्यस्थिति है उसके साथ विश्लेष (कम) करनेके बाद आयी हुयी भाग-संख्याको पूर्वकल्पगतके (सौधर्म युगलके) शरीर-प्रमाणमेंसे कमी करके, उत्तर (सनत्कुमार) कल्पगत अनुक्रमसे प्रतिसागरोपमकी वृद्धिमें तथा अनुक्रमसे उन भागोंकी कमी करते चले तो उस उस सागरोपमकी स्थितिके देवोंका इच्छित प्रमाण मिलता है ।]

उपरोक्त मतानुसार बाँटने योग्य एक हाथ प्रमाणकी कुछ ऐसी अमुक संख्या सोचे कि जिससे सनत्कुमार युगलके प्रारम्भकी तीन सागरोपमकी स्थितिसे लेकर सात सागरोपम तक (विश्लेषकरण करनेके बाद) बाँटा जा सके और ऐसा करनेसे अन्तमें सात सागरोपमकी स्थिति तक पहुँचते हमें देवोंका छः हाथका यथोक्त देहप्रमाण भी मिल सके ।

अब इसके लिए ग्रन्थकार महाराज स्वयं ही एक हाथके ग्यारह भाग कल्पते हैं, उन कल्पित ग्यारह भागोंमेंसे पूर्वमें विश्लेष करते शेष आयी हुयी चार सागरोपमकी संख्याको कमी करनेसे अर्थात् (सागरोपमकी स्थिति और हिरसोके बीच विश्लेष करनेसे) सात भाग संख्या आये, इस $\frac{1}{4}$ (सात वँटा ग्यारह भाग समझना) ग्यारहविए सात भागको सौधर्म-ईशान युगलके पूर्वगाथामें कहे गए सात हाथ प्रमाणमेंसे कम करे, जिससे ६ हाथ और $\frac{1}{4}$ (६ $\frac{1}{4}$) भाग शरीरप्रमाण सनत्कुमार-माहेन्द्र युगलके (पूर्वकल्पमें प्रवर्तमान यथायोग्य सागरोपमकी आयुष्यस्थितिमें एक एक सागरोपमकी वृद्धि और एक एक भागकी कमी करते जानेसे) तीन सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंका देहमान आता है। इस तरह प्रति सागरोपमकी वृद्धि करनेसे और प्रतिभाग संख्या कम करनेके नियमसे चार सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंका देहमान ६ हाथ और $\frac{1}{4}$ भाग आता है। पाँच सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंका ६ हाथ $\frac{1}{4}$ भागका, छः सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंका ६ हाथ $\frac{1}{4}$ भागका और सात सागरोपमकी स्थितिवाले सनत्कुमारेन्द्र-माहेन्द्र देवोंका देहमान एक कम करनेसे ६ हाथका यथार्थ आता है।

ब्रह्म लांतकमें देहमान विचार—

ब्रह्म-लांतककल्पकी उत्कृष्ट स्थिति चौदह सागरोपमकी है और उसके नीचे सनत्कुमार-माहेन्द्र युगलकी स्थिति सात सागरोपमकी है, नियमानुसार उसका विश्लेष करनेसे सातकी संख्या शेष रहती है, उसमेंसे फिरसे एक कम करनेसे ६ संख्या आयी, अब एक हाथके ग्यारह भाग करके उनमेंसे ६ संख्या कम करनेसे ५ भाग आये, उन पाँच भागोंको पूर्व-कल्पके अन्तिम प्रतरवर्ती देवके छः हाथके देहमानमेंसे कम करनेसे ५ हाथ और $\frac{1}{4}$ भागका देहमान ब्रह्मकल्पमें आठ सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंका, ५ हाथ $\frac{1}{4}$ भागका देहमान नौ सागरोपमकी स्थितिवालोंनेका, ५ $\frac{1}{4}$ हाथ दस सागरोपमवालोंनेका, ५ $\frac{1}{4}$ ग्यारह सागरोपम-वालोंनेका, ५ $\frac{1}{4}$ बारह सागरोपमवालोंनेका, ५ $\frac{1}{4}$ मान तेरह सागरोपमवालोंनेका और पाँच हाथोंका मान चौदह सागरोपमकी स्थितिवाले देवोंका जाने। [१४०-१४१]

अवतरण—पूर्व वैमानिक निकायवर्ती देवोंका भवधारणीय शरीरप्रमाण कहा, अब उन देवोंका उत्कृष्ट शरीरमान उत्तरवैक्रियकी अपेक्षासे कितना है? यह बताते हैं—

भवधारणिञ्ज एसा, उक्कोस विउच्चि जोयणा लखं ।

गेविञ्ज-ऽणुत्तरेसुं, उत्तरवेउच्चिया नत्थी ॥ १४२ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १४२ ॥

विशेषार्थ—उस तरह देवोंका भवधारणीय वैक्रिय शरीरका उत्कृष्टमान कहकर अब देहलीदीपक न्यायसे उक्कोस शब्दसे उन देवोंका उत्कृष्ट उत्तरवैक्रिय देहमान कितना होता है? यह बताते हैं।

ग्रन्थकारने गाथामें लिखा है कि—हमने उक्त स्थिति भवधारणीय शरीरकी बताया है, तो अब भवधारणीय क्या है ? उसे हम समझ ले ।

भवधारणीय शरीर

‘सुरैर्देवायुः समाप्तिं यावत् सततं धार्यते असौ भवपर्यन्तं धारणीयं वेति भवधारणीयम्’ । अपने आयुष्यकी समाप्ति तक देव जिसे सतत धारण करते हैं अथवा सारे जीवन तक जो रहनेवाला है उसे भवधारणीय कहा जाता है । देवोंके भवप्रत्ययिक (भवधारणीय) शरीर और उत्तरवैक्रिय शरीरके बीच अन्तर रहा है । जब कि पूर्वभवमें बँधे वैक्रिय शरीरनाम-कर्मके उदयसे उनको यह प्राप्त होता है इसलिए उसे ‘ भवधारणीय वैक्रियशरीर ’ सम्बोधन किया जा सकता है । परन्तु उत्तरवैक्रियके लिए वैसा नहीं है, वह शरीर तो भवपरत्वसे प्राप्त हुआ होता है । साथ ही भवधारणीय विशेषण देकर यह समझाते हैं कि यह शरीर जन्मकालके हेतुरूप है, और वह देवोंके पास यथायोग्य आयुष्यकाल तक रहनेवाला है । साथ साथ देव रचित वैक्रियवर्गणाका पुद्गलोंसे बने उत्तरवैक्रिय शरीरका मर्यादितकाल पूर्ण होते तुरन्त ही उसे पुनः मूल शरीरमें दाखिल होना ही पड़ता है और देवोंके च्यवन-काल तक भी वह ही शरीर होता है । इस तरह भवाश्रयी मुख्य रूपमें जो शरीर है, उसे भवधारणीय कहते हैं ।

इस शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति पूर्व कह दी गयी है । अतः अब उत्तरवैक्रियकी परिभाषा समझाते हैं ।

उत्तरवैक्रिय शरीर

‘वैक्रियमिति-विशेषा-विविधा क्रिया सहजशरीर-ग्रहणोत्तरकालमाश्रित्य क्रियते इति उत्तरवैक्रियम्’ ।

स्वाभाविक-भवधारणीय शरीर ग्रहण रहित समयमें विविध प्रकारकी क्रिया-आकृति करनेवाले शरीरको उत्तरवैक्रिय शरीर कहा जाता है ।

देवोंका यह उत्तरवैक्रियशरीर लब्धिप्रत्ययिक, तद्भवाश्रयी प्राप्त शक्तिवाला होता है । पूर्व की गयी व्युत्पत्तिके अनुसार इस उत्तरवैक्रियशरीरकी रचना अनेक प्रकारसे इच्छानुकूल हो सकती है । एक होता हुआ अनेक हो सकता है—अनेक होते हुए एक हो सकता है, भूचर होते हुए भी खेचर हो सकता है, खेचर (गगन चर, गगनगामी) होकर भूचर (भूमि चर) भी तुरन्त हो सकता है । छोटेमेंसे बड़ा, बड़ेमेंसे छोटा, भारीसे हलका और हलकेसे भारी होता है, द्रश्यसे अद्रश्य और अद्रश्यसे द्रश्य होता है, इस तरह हरेक प्रकारकी अद्भुत, भाँतिभाँतिकी विविध और विचित्र क्रियारूप आकृतियाँ बनानेवाला यह शरीर है । और यह वैक्रियवर्गणाके पुद्गलसे ही हो सकता है । उपरोक्त दोनों

शरीर स्व-स्व काल पूर्ण होते ही विस्त्रसा पुद्गलवत् मुक्ति (विलीन, मृत्यु) पानेके स्वभाववाले होते हैं ।

इस उत्तरवैक्रिय शरीरकी रचना उत्कृष्टसे एक लाख योजन प्रमाणकी हो सकती है और इस उ. वै. शरीरकी रचनाका (उसका काल) उत्कृष्टमें उत्कृष्ट काल " देवेसु अद्भुमासो उक्कोसविउव्वणाकालो " इस वचनसे आधे मासका है । उस काल पूर्ण होते हुए ही पुनः वह उत्तरवैक्रिय शरीररचना पुनः विस्त्रसा पुद्गलवत् स्वतः लुप्त (विलीन) हो जाती है और तुरन्त ही भवधारणीय वैक्रियशरीर धारण कर लेना पड़ता है । यदि उस काल पूर्व रचित उत्तरवैक्रिय शरीरकी अनावश्यकता दिखायी दे और उसे विलीन करना हो तो उपयोग (बुद्धि) पूर्वक विलीन (लुप्त) भी कर सकते हैं ।

इस उत्तरवैक्रिय शरीरको रचना (धारण करना) यह नवप्रैवेयक तथा सर्वोत्तम ऐसे अनुत्तर विमानवासी देवोंमें होता नहीं है । साथ ही ज्यों अन्य देव जिनेश्वर भगवन्तके कल्याणकादि प्रसंग पर अथवा अन्य गमनागमनादि प्रसंग पर उत्तरवैक्रिय करके मनुष्यलोकमें आते हैं, वैसे इस देवोंको तथाप्रकारका कल्प ही ऐसा है कि उनको यहाँ आनेका प्रयोजन होता ही नहीं है, परन्तु वहाँ भी शय्यामें पोढ़्या थका नमस्कारादि करनेरूप शुभ भावना करते हैं, अतः अर्चितनीय शक्ति होने पर भी ^{२९२} प्रयोजनाभावसे ' उत्तरवैक्रियशरीर रचना नहीं है ' ऐसा शब्द प्रयोग किया है । साथ ही वे वस्त्रालंकाररहित हैं । जन्मसे ही वे अति सुन्दर, दर्शनीय और दसों दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले हैं । साथ ही वहाँ प्रवर्तमान चैत्य प्रतिमाओंको शय्यामें रह-रहकर साधुकी तरह भक्तिभावसे ही पूजते हैं । वहाँ गान-नाटकादि कुछ होता ही नहीं है । [१४२]

२९२. इससे ही प्रैवेयक तथा अनुत्तरवासी देव स्वविमानकी शय्यामें रहते हुए द्रव्यानुयोगादि सम्बन्धमें विचारा-मनन करते किसी न किसी विषयमें जब शंकाग्रस्त बनते हैं तब वे देव वहाँ रहकर ही मनसे केवली भगवन्तसे प्रश्न करते हैं कि हे भगवन् ! मेरी इस शंकाका समाधान क्या ?

इस समय त्रिकालज्ञानी भगवन्त कि जो तीनों कालोंके सर्व भावोंको एक ही साथ एक ही समयमें आत्मप्रत्यक्ष देख-जान सकते हैं वे भगवन्त घातीकर्मक्षयसे उत्पन्न हुए केवलज्ञानके परिवर्तसे देवोंकी उन शंकाओंको युगपत् जाननेके बाद उनका समाधान करनेके लिए द्रव्यमनसे मनोवर्गाणा योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करते हैं । तत्काल निर्मल अवधिज्ञानसे उपयोगवन्त बने हुए वे देव, उन भगवन्त द्वारा ग्रहित मनोवर्गाणाके पुद्गलद्रव्यको देखकर स्वशंकाके समाधान हेतु सोचे कि केवली भगवन्तने इसी प्रकारके मनोद्रव्योंको ग्रहण करके परिणत किए हैं, अतः हमारी शंकाओंका समाधान यही होना चाहिए ऐसा वे समझ जाते हैं ।

॥ उर्ध्वदेवलोकमें आयुष्यानुसार देहप्रमाणका यन्त्र ॥

सागरो.	हाथ-अगिया. भाग	सागरो.	हाथ-अगिया. भाग	सागरो.	हाथ-अगिया. भाग
१	७... ०	१२	५... २	२३	२... ८
२	७... ०	१३	५... १	२४	२... ७
३	६... ४	१४	५... ०	२५	२... ६
४	६... ३	१५	४... ३	२६	२... ५
५	६... २	१६	४... २	२७	२... ४
६	६... १	१७	४... १	२८	२... ३
७	६... ०	१८	४... ०	२९	२... २
८	५... ६	१९	३... ३	३०	२... १
९	५... ५	२०	३... २	३१	२... ०
१०	५... ४	२१	३... १	३२	१... १
११	५... ३	२२	३... ०	३३	१... ०

अवतरण—अब उस भवधारणीय तथा उत्तरवैक्रिय शरीरका जघन्य प्रमाण कहते हैं।

साहाय्य वेउन्विय, तणू जहन्ना कमेण पारंभे ।

अंगुलअसंखभागो, अंगुलसंखिज्जभागो य ॥ १४३ ॥

गाथार्थ—स्वाभाविक तथा (उत्तर) वैक्रिय शरीर प्रारम्भकालमें जघन्यसे अनुक्रमसे अंगुलके संख्यातवे भागका तथा अंगुलके असंख्यातवे भागका होता है ॥ १४३ ॥

विशेषार्थ—‘ स्वाभाविक ’ कहते भवधारणीय शरीर भवनपत्यादिक देवोंको सहज प्राप्त होता है और वह स्वदेवभवायुष्य तक रहनेवाला है ।

वे जीव पूर्वभवके चाहे वैसे (इच्छित) प्रमाणवाले देहको छोड़कर जब तथाविध कर्म द्वारा, परभवमें यथायोग्य स्थान पर जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ उत्पन्न होनेके साथ ही अपर्याप्तावस्थामें (उत्पत्तिके प्रथम समय पर) उसके भवधारणीय शरीरकी अवगाहना अंगुलके असंख्यातवे भागकी होती है, क्योंकि वहाँ वे जीव उत्पत्तिस्थानमें आते ही अपनी आत्माको अत्यन्त सिकुडकर (अंगुलके असंख्यातवे भागका कर) कोयलेमें ज्यों अग्निका कण गिरे त्यों यहाँ उत्पत्ति स्थान रूप कोयलेमें अग्निके कणस्थानिक जीव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होते तुरन्त ही कोयलेमें गिरे अग्निका कणरूप वह जीव प्रारम्भिक

समयसे लेकर अनुक्रमसे वृद्धि पाता जाता है। तथा साथ साथ वे जीव उत्पत्तिके प्रारम्भिक समय से ही स्व स्व योग्य (आहारग्रहण, शरीररचना, इन्द्रियरचना, श्वासोच्छ्वास नियमन, भाषा-वाचानियमन तथा मनोरचनारूप) पर्याप्तियों-शक्तियोंका प्रारम्भ समकालमें करने लगते हैं और एक अन्तर्मुहूर्तमें समाप्त करते हैं। यह नियम हरेक जीवोंके लिए समझना है। अतः जीव तथाविध कर्मसामग्री द्वारा देवायुष्य तथा देवगत्यादिका बन्ध रखकर जब परभवमें देवगतिमें देवरूप उत्पन्न होता है, तब उत्पत्तिप्रायोग्य देवशय्यामें उत्पन्न होते उस जीवकी उत्पत्तिके प्रथम समय पर, ^{२९३}भवधारणीय शरीरकी अवगाहना अंगुलके असंख्यातवे भागकी होती है, कोयलेमें गिरे हुए उस अग्निक्णके समान उत्पन्न होकर प्राथमिक संकोच छोड़कर अल्प समयमें विकसित-वृद्धिगत हो जाते हैं और उत्पत्तिके प्रथम समयसे स्वयोग्य पर्याप्तियोंका भी आरम्भ करते हैं।

वैक्रियशरीरावगाहना—[यहाँ वैक्रिय शरीरसे देव नारकोंका ^{२९४}भवप्रत्ययिक उत्तरवैक्रिय और ^{२९५}मनुष्य-तिर्यचादिका मुख्यत्वे तथाविध लब्धिप्रत्ययिक वैक्रिय गिनना है, अतः भवधारणीय वैक्रियका ग्रहण न समझे।]

देव जब किसी भी प्रकारके स्वरूपमें उत्तरदेहकी रचना करनेकी शुरुआत करे, तब उस उत्तरवैक्रिय शरीरकी अवगाहना प्रथम समय पर ही अंगुलके संख्यातवे भागकी होती है और उसके बाद क्रमशः वृद्धि पाते हैं।

देव तथा नारक जिस जिस स्थानाश्रयमें जिस जिस प्रमाणरूपमें उत्पन्न होनेवाले हैं, वहाँ उत्पन्न होनेके बाद अन्तर्मुहूर्तमें स्वस्थानयोग्य प्रमाणवाले बन जाते हैं।

अपवाद—परन्तु वैक्रियलब्धिर्हित औदारिक शरीरी ऐसे गर्भज मनुष्य तथा तिर्यचादिको यह नियम बन्धनरूप बनता नहीं है। वे जीव तो यथायोग्य समय पर क्रम क्रममें स्वयोग्य प्रमाणवाले बनते हैं।

२९३. देवोंका भवधारणीय शरीर वह वैक्रिय है फिर भी भवधारणीय विशेषणसे युक्त होनेसे सभी भवधारणीयकी व्याख्या-चर्चा-विचारणामें उसका समाविष्ट यथायोग्य करे।

२९४. देवकी तरह नरकके दोनों शरीरकी व्याख्या सोच ले।

२९५. उसी प्रकार वैक्रियलब्धिर्वन्त गर्भज मनुष्य तथा गर्भज तिर्यच भी लब्धि प्राप्त करके 'विष्णुकुमारादिवत्' वैक्रिय शरीरकी रचना करते हैं तब उसे भी देववत् अंगुलके संख्यातवे भागकी अवगाहना होती है।

वैक्रियलब्धिर्वन्त वायुकाय जीवोंका उत्तरवैक्रिय शरीर प्रारम्भमें या बादमें अंगुलके असंख्यातवे भागका होता है, क्योंकि वायुकाय जीवोंकी जन्मन्योत्कृष्ट शरीर अवगाहना अंगुलके असंख्यातवे भागकी ही है।

जिन जीवोंने उत्तरवैक्रिय देहकी रचना जितने प्रमाणयुक्त करनी शुरू की है, वे जीव अन्तर्मुहूर्त्तमें ही उसी इष्ट प्रमाणवाले हो जाते हैं । [१४३]

॥ चारों निकायके देवोंका शरीरप्रमाणका यन्त्र ॥

देवजाति नाम	भव. उत्कृ. मान	भव० जघ० मान	उत्तरवैक्रिय उ. मान	उत्तर वैक्रिय ज. मान
भवनपतिका	७ हाथ	अंगुलका असंख्यातवं भाग	१ लाख यो० ”	अंगुलके संख्यातवं भागकी ”
व्यन्तरका ...	”	”	”	”
ज्योतिषीका ...	”	”	”	”
सौधर्म-ईशानमें ...	”	”	”	”
सनत्कुमार-माहेन्द्रमें ...	६	”	”	”
ब्रह्म-लांतकमें ...	५	”	”	”
शुक्र-सहस्वारमें ...	४	”	”	”
आनत-प्राणतमें ...	३	”	”	”
आरण-अच्युतमें	”	”	प्रयोजन रूप	”
नवग्रैवेयकमें ...	२	”	नहीं	”
पाँच अनुत्तरमें	१	”	”	”

—इति विबुधानां तृतीयमवगाहना द्वारं समाप्तम् ॥

॥ देवोंका चौथा ' उपपात-विरह ' कालद्वार ॥

अवतरण—तीसरे द्वारको समाप्त करके अब ' उववायचवणविरहं ' उस पदवाला चतुर्थ द्वार शुरू करते हैं, जिसे चार गाथाओंसे सम्पूर्ण करेंगे ।

सामन्नेणं चउविह-सुरेसु बारस मुहुत्त उकोसो ।

उववायविरहकालो, अह भवणाईसु पत्तेयं ॥१४४॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १४४ ॥

विशेषार्थ—अब चौथा द्वार ' उपपात विरह ' अर्थात् क्या ?

उपपातविरह—उत्पन्न होनेका वियोगकाल वह, अर्थात् देवगतिकी कोई भी निकायमें एक अथवा अनेक देव उत्पन्न होनेके बाद उस निकायमें अन्य कोई देव उत्पन्न न हो तां कहाँ तक उत्पन्न न हो ? उस कालका अंतरप्रमाण कहना उसे उपपातविरह कहते हैं ।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक इन चारों निकायके देवोंका सामान्यतः (समुच्चय) उपपातविरह उत्कृष्टसे बारह मुहूर्त्तका होता है, ये बारह मुहूर्त्त व्यतीत होते अन्य कोई जीव देवगतिमें अवश्य उत्पन्न होता ही है। [१४४]

अवतरण—पूर्व समुच्चयमें सामान्य रूपसे उपपात विरह काल कहा। अब तीन गाथाओंसे प्रत्येक निकायाश्रयी स्पष्ट रीतिसे बताते हैं।

भवणवणजोइसोह—इमीसाणेसु मुहुत्त चउवीसं ।

तो नव दिण वीस मुहु, बारस दिण दस मुहुत्ता य ॥१४५॥

बावीस सइठ दियहा, पणयाल असीइ दिणसयं तत्तो ।

संखिज्जा दुसु मासा, दुसु वासा तिसु तिगेसु कमा ॥१४६॥

वासाण सया सहसा, लक्खा तह चउसु विजयमाईसु ।

पलियाऽसंखभागो, सन्वडे संखभागो य ॥१४७॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥१४५-१४७॥

विशेषार्थ—भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक निकायके सौधर्म तथा ईशान इन दोनों कल्पमें उपपातविरहकाल उत्कृष्टतासे चौबीस मुहूर्त्तका होता है, उसके बाद उक्त निकाय स्थानमें एक अथवा अनेक देव अवश्य उत्पन्न होते हैं। उनके बाद सनत्कुमार कल्पमें नौ दिन और ऊपर बीस मुहूर्त्तका विरहकाल, माहेन्द्र कल्पमें बारह दिन ऊपर दस मुहूर्त्त, ब्रह्म कल्पमें साढ़े बाईस दिन, लांतक कल्पमें पैतालीस दिन, शुक्र कल्पमें अस्सी दिन, सहस्रार कल्पमें सौ दिन, ^{२६६}आनत-प्राणतमें संख्याता मासका, ^{२६७}आरण-अच्युतमें संख्याता वर्षका विरहकाल होता है।

नवग्रैवेयककी पहलीत्रिकमें उत्कृष्ट विरहकाल संख्याता वर्षशत होता है, [परन्तु उसे सहस्र वर्षके भीतरका ही समझें, वरना हम सहस्र वर्ष ऐसा ही विधान करते।] मध्यमत्रिकमें संख्याता सहस्र वर्ष (लक्ष (लाख)से अर्वाक्) और ऊपरितन ग्रैवेयकमें संख्याता लक्ष वर्षका (कोटीसे (करोड़)से अर्वाक्) विरह जानें।

अनुत्तरकल्पमें—विजय, विजयवंत, जयंत और अपराजित इन चारों विमानोंके लिए (अद्वा) पत्योपमका असंख्यातवे भाग जितना विरहकाल पड़ता है और मध्यवर्ती सर्वोत्कृष्ट पाँचवे सर्वार्थसिद्ध विमानके लिए उत्कृष्ट विरहकाल पत्योपमके संख्यातवे भागका जाने।

इस तरह 'उत्कृष्टसे उपपात विरहकाल' दर्शाया। [१४५-१४७]

॥ इति सुराणां चतुर्थमुपपातविरहकालद्वारं समाप्तम् ॥

२९६-२९७. परन्तु इतना विशेष समझे कि आनतसे प्राणतमें संख्याता मास कुछ अधिक रूपसे जानें। उसी तरह आरणसे अच्युतमें संख्याता वर्ष अधिक काल जानें।

॥ देवोंका पाँचवाँ 'ज्यवन विरह' और छठा-सातवाँ 'उपपात-ज्यवन संख्या' द्वार ॥

अवतरण—अब ग्रन्थकार उस उपपात-विरहकालको जघन्यसे दर्शाते पुनः जघन्य तथा उत्कृष्ट ज्यवनविरहकालको अतिदेशसे कहनेके लिए पाँचवाँ द्वार समाप्त करते हैं ।

और पूर्वार्धवत् पश्चार्ध गाथामें संख्यं 'इगसमइयं' पदवाला छठा द्वार (एक समयमें एक साथ कितने जीव ज्यवते हैं ? अथवा कितने उत्पन्न होते हैं ? वह) जघन्योत्कृष्टरूपसे शुरू करके समाप्त करेंगे ।

सन्वेसिपि जहन्नो, समओ एमेव चवणविरहोऽवि ।

इगदुतिसंखमसंखा, इगसमए हुंति य चवन्ति ॥ १४८ ॥

गाथार्थ—विशेषार्धवत् । ॥ १४८ ॥

विशेषार्थ—सर्वका अर्थात् भवनपतिसे लेकर सर्वार्थसिद्ध तकके चारों निकायके देवोंका 'जघन्यसे उपपातविरह' एक समयका होता है ।

पञ्चमज्यवनविरह काल द्वार—अब उपपातविरहवत् ज्यवनविरहकाल कहते हैं ।

ज्यवनविरह—अर्थात् देवगतिकी चारों निकायमेंसे कोई एक या अनेक देव न ज्यवे तो कितने काल तक ज्यवते नहीं है ? उस कालका नियमन, उसे ज्यवनविरहकाल कहते हैं ।

इस ज्यवनविरहकालको उपपातविरहकाल द्वारमें जिस जिस निकायमें यथासंख्य जितना जितना और जहाँ जहाँ कहा है, उसे उसी तरह यथासम्भव विचारे ।

अर्थात् प्रथमकी (भ. व्य. ज्यो.) तीनों निकायमें और सौधर्म-ईशान कल्पमें चौबीस मुहूर्त्त उत्कृष्ट ज्यवनविरह । सनत्कुमारमें नौ दिन और २० मुहूर्त्त, माहेन्द्रमें बारह दिन और १० मुहूर्त्त, ब्रह्मकल्पमें साढ़े बाईस दिन, लांतकमें ४५ दिन, शुक्रमें ८० दिन, सहस्रारमें १०० दिन । आनत और प्राणतमें संख्याता मास । आरण-अच्युतमें संख्याता वर्ष । पहली प्रैवेयकत्रिकमें संख्याता शत वर्ष, मध्यमत्रिकमें संख्याता सहस्र वर्ष, उपरितनत्रिकमें संख्याता लक्ष वर्ष, विजयादि चार विमानके लिए पल्योपमका असंख्यातवाँ भाग और सर्वार्थसिद्धमें पल्योपमका संख्यातवाँ भाग ज्यवनविरहकाल होता है । इति उत्कृष्टज्यवनविरहकालः ।

जघन्य ज्यवनविरहकाल एक समयका जाने । इति जघन्यविरहकालः ।

॥ छठा-सातवाँ उपपात-ज्यवन संख्याद्वार ॥

इस तरह उपपात तथा ज्यवनविरहकाल कहा । अब एक समयमें जघन्य और उत्कृष्टसे कितने देव देवगतिमेंसे एक साथ ही ज्यवन कर सके, वह ज्यवनसंख्याद्वार और उस

एक ही समयमें अन्यगतिसे कितने जीव देवगतिमें जघन्योत्कृष्ट संख्यामें उत्पन्न होते हैं वह उपपात संख्याद्वारा ।

चारों निकायसे कोई भी निकायमें अथवा चारों निकायमें सामान्यतः समुच्चयमें जघन्यसे एक, दो, तीन इस तरह उत्कृष्टसे यावत् संख्याता-असंख्याता भी उत्पन्न होते हैं, तथा एक, दो यावत् असंख्याता एक ही समयमें च्यवते भी है ।

यहाँ इतना विशेष समझे कि—भवनपतिसे लेकर सहस्रार तकके देवोंको तो उपरोक्त नियम योग्य है । क्योंकि सहस्रार तक तो तिर्यचोंकी भी गति है और तिर्यच असंख्याता है । अतः यावत् असंख्याती उपपात संख्या योग्य ही है तथा उतनी संख्या पर च्यवते भी है, क्योंकि उनकी धरती (पृथ्वी)-अप्-वनस्पति-मनुष्य-तिर्यच इन पाँचों दंडकोंमें गति होती है । विशेषमें सौधर्म-ईशान तक पाँचों दंडकोंमें और तीसरेसे आठवें कल्प तकके देवोंकी गति मनुष्य-तिर्यच यह दो दंडकमें ही होती है ।

अब नौवें सहस्रारकल्पसे लेकर सर्वार्थसिद्ध तकके देवोंकी उपपात तथा च्यवन संख्या जघन्यसे १-२-३ है और उत्कृष्टसे संख्याती ही होती है; क्योंकि सहस्रारसे सर्वार्थसिद्ध तक तथाविध शुभ अच्यवसायवाले गर्भज मनुष्य ही उत्पन्न हो सकते हैं और उनकी संख्या संख्याती ही है और च्यवन संख्या भी संख्याती ही होती है, क्योंकि वे कल्पगत देव मरकर गर्भज मनुष्यमें ही उत्पन्न होते हैं और उन गर्भज मनुष्योंकी संख्याती संख्या हैं । [१४८]

इति देवानां चतुर्थं पञ्चमं च षष्ठं-सप्तमं च द्वारं समाप्तम् ॥

॥ देवलोकमें प्रत्येक कल्पमें उत्कृष्ट 'उपपात च्यवनविरह' काल संबंधी यंत्र ॥

निकाय-कल्पनाम	उ. विरहमान	कल्प नाम	उ. विरहमान	जघ. विरह	च्य. विरह
भवनपति व्यन्तरमें	२४ मुहूर्त	सहस्रार कल्पमें	३ मास १०दि.	सर्वत्र जघन्य विरहकाल एक समयका नाम ।	च्यवन विरह पर-विरहवत् यथासंभव समझे ।
ज्योतिषी निकायमें	"	आनत-प्राणतमें	संख्याता मास		
सौधर्म-ईशानमें	"	आरण-अच्युतमें	संख्याता वर्ष		
सनत्कुमार कल्पमें	१दि.२०मु०	ग्रै० प्रथमत्रिकमें	संख्या. वर्षशत		
माहेन्द्र कल्पमें	१२दि.१०मु०	द्वितीयत्रिकमें	सं. हजार वर्ष		
ब्रह्म कल्पमें	२२॥ दिन	ग्रै. तृतीयत्रिकमें	सं. लाख वर्ष		
लांतक कल्पमें	४५ दिन	अनुत्तर चार विमानमें	असंख्या. भाग		
शुक कल्पमें	८० दिन	सर्वार्थसिद्ध पर	"		
			संख्या. भाग		

॥ चारों गत्याश्रयी सामान्य-उत्कृष्ट च्यवनविरहकालका यंत्र ॥

नाम	ज. वि.	उ. वि.	
गर्भज नर तिर्यचका	१ समय	१२ मुहूर्त	सामान्य उस प्रकारसे च्यवन विरह
देवता, नारकीका....	"	"	
संमूर्च्छिम मनुष्यका...	"	२४ मुहूर्त	
विकलेन्द्रियका....	"	अंतर्मुहूर्त	
संमूर्च्छिमतिर्य- चादिका....	"	"	

॥ देवलोकमें जघन्योत्कृष्ट उपपात-च्यवन संख्या यन्त्र ॥

नाम	ज. उप. च्य. संख्या	उ. उप. च्य. संख्या
भयन. सहस्रार यावत्	एक, दो, तीन तक	संख्य, असंख्य यावत्
सह. से अनुत्तर यावत्	"	संख्याता उपजते-च्यवते

*

*

*

॥ देवोंका आठवाँ 'गति' द्वार ॥

अवतरण—सातवाँ द्वार समाप्त करके अब देवलोकमें किन गतियोंमेंसे मरे हुए जीव उत्पन्न होते हैं? वह 'गमं' पदवाला आठवाँ गतिद्वार कहते हैं ।

नरपंचिदियतिरिया-णुप्यत्ती सुरभवे पञ्जत्ताणं ।

अज्झवसायविसेसा, तेसिं गइतारतम्मं तु ॥ १४९ ॥

गाथार्थ—पर्याप्ता पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यचोंकी देवलोकमें अध्यवसायकी विशेषतासे उत्पत्ति होती है और पुनः अध्यवसायकी विशेषतासे उस निकायमें तारतम्य भी होता है । ॥ १४९ ॥

विशेषार्थ—देवलोकमें कौन-कौनसे जीव उत्पन्न होते हैं? किन-किन कारणोंसे होते हैं? यह बात उपरोक्त गाथामें कही गयी है । और साथ साथ उस देवलोकमें भी स्थान, वैभव, आयुष्यादिककी न्यूनाधिकता भी अध्यवसायोंकी विचित्रताके ही आभारी है यह बात भी बता दी है ।

यहाँ एक बात स्पष्ट हो जाती है कि देवलोकके भीतर मात्र पर्याप्ता गर्भज मनुष्य और तिर्यच यह दो ही जातिके देव उत्पन्न हो सकते हैं, परन्तु उनके सिवा बाकीके नारक-एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय या अपर्याप्ता पंचेन्द्रिय तिर्यच मनुष्य उत्पन्न होते नहीं, क्योंकि देवभव प्राप्ति प्रायोग्य निर्मल परिणाम उन्हें मिलता नहीं है ।

इस परसे एक दूसरा रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है कि देवलोकमें उत्पन्न होनेके स्थान असंख्य है लेकिन उसमें उत्पन्न होनेवाले उमेदवार मात्र दो ही जातिके जीव हैं । उत्पन्न होनेके स्थान असंख्य है और उत्पन्न होनेवालोंकी संख्या कम हैं । इससे यह निश्चित होता है कि जीवके लिए देवलोककी प्राप्ति दुर्लभ नहीं, लेकिन सुलभ है । जबकि मानवभवकी प्राप्ति सुलभ नहीं लेकिन दुर्लभ है क्योंकि मानवजातकी संख्या मर्यादित अर्थात् संख्याती (२९ अंक संख्या जितनी, जैसे कि $२ \times २ = ४$ $४ \times २ = ८$ $८ \times २ = १६$ — इस तरह ९६ बार गुना करते जो संख्या आये उतनी) है जब उत्पन्न होनेवाले उमेदवार तमाम गति-जातिके हैं । जिसके स्थान कम है और उमेदवार भी असाधारण है तब उस स्थानको पाना कितना कठिन होता है यह समझ सके ऐसा है । इसलिए ही आगममें 'दुर्लभे खलु माणुसे भवे' इत्यादि वचन जो उच्चार्ये गये हैं उनकी यथार्थता सिद्ध होती है । यह बात तो प्रासंगिक कही गयी है । अब मुख्य बात पर आते हैं ।

देवगतिकी प्राप्तिमें हेतु क्या ? तो गाथामें बताये गये मतानुसार 'अध्यवसाय' विशेष ।

'अध्यवसाय' अर्थात् क्या ? तो मानसिक परिणाम-व्यापार विशेष वह । अर्थात् मानसिक विचार उसका नाम ही अध्यवसाय । यह अध्यवसाय तीन प्रकारका है १. अशुद्ध, २. शुद्ध और ३. अत्यन्त शुद्ध ।

आत्मा अशुद्धमेंसे शुद्ध विचारवान् तथा शुद्धमेंसे अतिशुद्ध विचारवान् बनता है, इसलिए इस प्रकार क्रम दर्शाया है ।

अशुद्ध परिणाम नरकादि दुर्गतिका कारणरूप, शुद्ध परिणाम देवादिक सुगतिका कारणरूप और अत्यन्त शुद्ध परिणाम वह मुक्तिसुख-मोक्षका कारणरूप है ।

मानसिक विचारोंकी दो प्रकारकी स्थितियाँ—

सामान्य रीतसे मानसिक विचारोंकी जो विभिन्नताएँ प्रतिक्षण उत्पन्न होती है, उन्हें दो वर्गोंमें बाँट दी गयी हैं । एक राग और दूसरा द्वेष ।

अतः प्रथमके दो भेदमेंसे चार भेद बनेंगे । अर्थात् कि शुद्धराग और शुद्धद्वेष, अशुद्धराग और अशुद्ध द्वेष । जिनको प्रचलित परिभाषामें बोला जायें तो प्रशस्त राग-द्वेष और अप्रशस्त राग-द्वेष ।

मनकी इस विभिन्न विचारधारओंको उत्पन्न होनेमें इष्ट-अनिष्ट वस्तुओंका संयोग-

वियोग इसमें मुख्य हिस्सा लेता है, जिनमेंसे शुभाशुभ काषायिक परिणाम उद्भवते हैं ।

इष्ट वस्तुके संयोगके लिये—

१. अर्थात् जब जीवको जड या चैतन्यादि इष्ट वस्तुका संयोग उत्पन्न होता है तब पहले तो वह बहुत प्रसन्न होता है । और इस प्रसन्नताका अतिरेक उस उस पदार्थमें तन्मय होता हुआ तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम कोटिक पहुँच जाता है । बादमें इष्टकी विशेष प्राप्ति, रक्षण और उपभोगमें मनको तदाकार बनाता है । इस इष्ट साधन रागकी आसक्ति दो प्रकारके साधनोंके प्रति होती है । एक संसारके साधनोंके प्रति और दूसरी मुक्तिके साधनोंके प्रति । संसार साधनोंके प्रति जब होती है तब अप्रशस्त कोटिकी और मुक्ति या आत्माके साधनोंके प्रति जब होती है तब इसे प्रशस्त कोटिकी कही जाती है । जैसे कि कुदेव, कुगुरु और कुधर्म प्रति किया गया राग उसे अप्रशस्त कहा जाता है और सुदेव, सुगुरु, और सुधर्मके प्रति किया गया राग उसे प्रशस्त कहा जाता है ।

प्रशस्त राग वह *शुद्ध-शुभ है । और यदि उसके मूल अर्थमें बराबर हो तो उसके द्वारा जीव शुभ-पुण्य प्रकृतिओंका बन्ध करके देवादिक शुभ गति आदिकी श्रेष्ठताको प्राप्त कर सकता है ।

जब कि अप्रशस्त राग अशुद्ध-अशुभ है । उसके मूल अर्थमें जब वह घटमान होता है तब जीव उसके अशुभ पाप प्रकृतिओंका बन्ध करके उदयकालमें नरकादि अशुभ गतिको पाता है ।

उपर जिस प्रकारसे इष्ट संयोगके लिए कहा है, वैसा अनिष्ट संयोगके लिए भी समझना है ।

अनिष्ट वस्तुके संयोगके लिए—

२. अर्थात् कि जब जीवको अनिष्ट वस्तुके संयोग मिलते हैं तब चित्तमें अप्रसन्नता उत्पन्न होती है, उसमेंसे खेद (दुःख, रंज) जन्म लेता है, उसमेंसे रोष, क्रोध-कलह सभी मलिन तत्त्व जन्म पाते हैं । हृदय द्वेषबुद्धिका आकार लेता है । मानस विरोधी बनता है । मैत्री भावना और क्षमाके आदर्श विलीन होते हैं । मन द्वेषबुद्धिमें फँसता फँसता अति दुःखी बनता है और आत्माको संताप और आक्रन्दकी कोटि तक धकेल देता है । परिणामस्वरूप कितनी ही बार न घटनेकी घटनाओंका दुष्ट और भयंकर सिलसिला शुरु होता है ।

यह द्वेष भावना सत् और असत् या, संसार या मुक्तिके साधनोंके प्रति होती है । जिन्हें ऊपर कहे गये जैसे अप्रशस्त और प्रशस्त इन दो नामसे पहचानेंगे ।

* यहाँ शुद्ध और शुभ उसे एक ही अर्थवाचकमें समझना है, वरना अपनी तात्त्विक व्याख्यामें ये दोनों भिन्नार्थक वाचक है ।

शुद्ध देव, गुरु और धर्म तत्त्वोंकी रक्षा-प्रचारके लिए अनिवार्य कारणसे द्वेष करना पडे तो यह प्रशस्त कोटिका और कुदेव, कुगुरु या कुधर्म तत्त्वोंके लिए करना पड़ता द्वेष अप्रशस्त कोटिका माना जाता है ।

प्रशस्त कोटिका द्वेष अल्प कर्मबन्धके कारणरूप होते हुए विशेष प्रकारसे पुण्यबन्धको कराता होनेसे इससे शुभ फलकी प्राप्ति और अप्रशस्त द्वेष उससे विपरीत फल देकर विपरीत फलकी प्राप्ति कराता है ।

इस प्रकार इष्टानिष्ट वस्तुके संयोग-वियोगसे शुभाशुभ राग-द्वेष अध्यवसाय और उसके मन्द, तीव्र, तीव्रतर-तमादिक अनेक प्रकारोंसे जीवके सुख, दुःख, सद्गति या दुर्गतिका आधार रहा है । अध्यवसायकी जनेता मन है अतः संसारमें उन सबके लिए यदि कोई बन्धारणीय चक्र है तो मन ही है, इसलिए ही आप्त पुरुषोंने कहा है कि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः' ।

देवगति प्रायोग्य अध्यवसाय जो आगे बढ़कर अति विशुद्धतर-तम दशा पर पहुँच जाते हैं, तो केवलज्ञान, केवलदर्शन (सम्पूर्णज्ञान) प्राप्त करके, संसारका परिभ्रमण दूर करके, मुक्ति सुखको पाकर, सर्व दुःखोंका अन्त कर सकते हैं । [१४९]

अवतरण—चालू द्वारमें अब कौन-कौनसे और कौन-कौनसी स्थितिवाले जीव किस देवलोकमें जाते है ? उसे बताते है ।

नरतिरि असंखजीवी, सन्वे नियमेण जंति देवेसु ।

नियआउअसमहीणा-उएसु ईसाणअंतेसु ॥ १५० ॥

गाथार्थ—असंख्य वर्षके आयुष्यवाले मनुष्य तथा तिर्यंच सभी नियमा-निश्चे देवलोकमें उत्पन्न होते हैं और वे भी निजायुष्य समान अथवा तो हीन स्थितिके रूपमें ईशानान्त कल्प तक ही उत्पन्न होते हैं । ॥१५०॥

विशेषार्थ—असंख्यात वर्षके दीर्घायुष्यवाले मनुष्य और तिर्यंच वे युगलिक ही होते हैं और वे देवगतिमें ही उत्पन्न होते हैं, लेकिन शेष नरकादि तीन गतियोंमें या मोक्षमें उत्पन्न होते नहीं है । साथ ही देवगतिमें भी वे अपनी युगलिक अवस्थामें जितनी आयुष्य स्थिति होती है उतनी स्थिति-आयुष्यवाले अथवा तो हीनायुष्यवाले देवरूप (वैसे स्थानपर) उत्पन्न होते हैं और इससे उनकी सबसे अधिक गति ईशान देवलोक तक ही होती है, क्योंकि निजायुष्य प्रमाणको अनुकूल स्थिति ज्यादासे ज्यादा ईशान कल्प तक होती है और आगेके कल्पमें जघन्यसे भी दो सागरोपमकी स्थितिसे ही शुरुआत होती है, जब कि युगलिक तो उत्कृष्टसे भी तीन पत्थोपमकी स्थितिवाले होते हैं ।

और इसलिए पत्थोपमके असंख्यातवें भागसे असंख्य वर्षके आयुष्यवाले खेचर

तिर्यच पंचेन्द्रिय और अंतर्द्वीपवर्ती [दाढाओं पर बसते] युगलिक तिर्यच तथा मनुष्य तो भवनपति और व्यन्तर इन दोनों निकायमें ही उत्पन्न होते हैं, परन्तु ज्योतिषी या सौधर्म ईशानमें नहीं, क्योंकि ज्योतिषीमें तो जघन्यसे भी जघन्य स्थिति पल्योपमके आठवें भागकी और वैमानिकमें सौधर्ममें पल्योपमकी कही है, जब उक्त युगलिक जीवोंकी स्थिति पल्योपमके असंख्यातवें भागकी है इससे उसको तुल्य वा हीन कक्षा वहाँ मिल सकती नहीं है। अब शेष एक पल्योपमके आयुष्यवाले युगलिक (हैमवन्त या हिरण्यवन्त क्षेत्रके) दो पल्योपम आयुष्यवाले (वे हरिवर्ष—रम्यक् क्षेत्रके) तीन पल्योपम आयुष्यवाले (वे देवकुरु—उत्तर कुरुक्षेत्रके तथा सुषम सुषमादि आरामें यथायोग्य असंख्यात सालके आयुष्यवाले भरत, ऐरवत क्षेत्रवर्ती युगलिक मनुष्य और तिर्यच) भवनपतिसे लेकर यथासंभव ईशान यावन् उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि निजायुष्यतुल्य स्थिति स्थान वहाँ तक है। अतः ऊपरके कल्पमें सर्वथा निषेध समझ लेना। [१५०]

अवतरण—प्रस्तुत बात आगे चलाते हैं।

जंति समुच्छिमतिरिया, भवणवणेषु न जोइमाईसुं ।

जं तेसिं उववाओ, पलिआऽसंखंसआऊसु ॥ १५१ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १५१ ॥

विशेषार्थ—संमूर्च्छिमतिर्यच भवनपति तथा व्यन्तरनिकायमें उत्पन्न होते हैं, परन्तु ज्योतिष्कादि (सौधर्म-ईशान) निकायमें उत्पन्न होते नहीं हैं, क्योंकि उनका जन्म पल्योपमके असंख्यातवें भाग आयुष्यवाले देवोंमें होता है। संमूर्च्छिम तिर्यचकी इससे आगे गति ही नहीं है। [१५१]

॥ अष्टमगतिद्वारे प्रकीर्णकाधिकारः ॥

अवतरण—पूर्व गति-स्थितिके आधार पर उन जीवोंकी स्थिति पहले बता दी। अब अध्यवसायाश्रयी बनती गति जणाते हैं।

बालतवे पडिवद्दा, उकडरोसा तवेण गारविया ।

वेरेण य पडिवद्दा, मरिठ असुरेसु जायन्ति ॥ १५२ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १५२ ॥

विशेषार्थ—बालतवे = बाल (अज्ञानरूप) जो तप अर्थात् बाल विशेषण, देकर क्या समझाते हैं कि बालककी बाल्यावस्था शून्य है, उसी तरह यह तप भी अज्ञानताके साथ करता होनेसे शून्य समझा जाता है। यह बालतप जिनेश्वर भगवन्तके मार्गसे विपरीत, तत्त्वातत्त्व, पेयापेय, भक्ष्याभक्ष्यकी बेहोशीमें (सभानता रहित) किया जाता है, अतः इसे

मिथ्या तप कहा जाता है । क्योंकि वह तप सन्यङ्गत्व (सच्चा श्रद्धान) रहित होता है । उस तपसे आत्मा शायद सामान्य लाभ भले ही पा जायँ, लेकिन अन्तमें आत्माको हानिकारक होनेसे निष्फलरूप है । जिस तपमें नहीं होता इन्द्रियदमन, नहीं होता वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शादि विषयोंका त्याग, नहीं होता अध्यात्म, नहीं होती सकाम निर्जरा, उल्टा पुष्टिकारी अन्न लेना, इन्द्रियको स्वेच्छासे पोषना, विषयवासनाओंका ज्यादा सेवन, हिंसामय प्रवृत्तिवाले ऐसे २८८ पंचाग्नि अदि तप यह बालतप है; तत्त्वसे जीवहिंसाके हेतुरूप है तथापि उसके धर्मशास्त्रानुसार बाह्य दृष्टिसे किंचित् आत्मदमनको करनेवाले तपरूप अनुष्ठान होनेसे सामान्य लाभ मिलनेसे वे द्वीपायन ऋषिकी तरह असुरकुमारादि भवनपति निकायमें उत्पन्न होता है ।

इसलिए सारे ही आत्ममें सुप्रसिद्ध ऐसे जैनधर्मके तपविज्ञानको समझकर कल्याणा-मिलक्षी आत्माओंने उनका आदर करना चाहिए ।

उकडरोसा—उत्कट रोषको धारण करके जो तप करता है, उसे भी असुरगति प्राप्त होती है ।

कोई एक आत्मा भले साथ साथ स्वशास्त्रानुसार भी तप-धर्मानुष्ठान करता हो, जो अहिंसक, असत्यका त्यागी, स्त्रीसंगरहित, निष्परिग्रही और सद्गुणी हो, कषायहीन हो, मायालु, शांत स्वभाववाला हो, तो जीव शुभ पुण्योत्पन्न उत्तम अध्यवसायोंसे वैमानिकदेवके आयुष्यका बंध करता है, इतना ही नहीं, लेकिन इससे भी अधिक विशुद्धतर-तम दशमें दाखिल होकर मोक्षलक्ष्मीका मालिक हो सकता है ।

परन्तु तथाविध अज्ञानसे धर्मानुष्ठान करते समय क्रोधादिक कषायोंकी परिणति ऐसी प्रवर्तमान होती है कि निमित्त मिले या न मिले, लेकिन जहाँ-तहाँ क्रोध-गुस्सा-आवेश करता हो, धर्मस्थानोंमें भी धर्म-फसाद करता हो, न करनेके कार्य करता हो, ऐसे मलिन प्रसंग पर यदि आयुष्यका बंध पड जाये, तो भी अमुक सद्गुण-धर्मके सेवनसे असुर-कुमारादि भवनपतिमें जनमता है । जो रोषवृत्तिरहित धर्मानुष्ठानका आचरण करें तो प्राणी इससे अधिक सद्गति पा सकते हैं । इसलिए रोषवृत्तिको दूर करना जरूरी है ।

२८८ क्लेशयुक्त मन उसका नाम ही संसार, क्लेशरहित मन उसका नाम है मोक्ष ।

२९८. सच्चा पंचाग्नि तप किसे कहे ?

चतुर्णां ज्वलतां मध्ये यो नरः सूर्यपञ्चमः । तपस्तपसिकौन्तेय ! न सत्पञ्चतपः स्मृतम् ॥१॥

पञ्चानाभिन्द्रियाग्नीनां, विषयेन्धन चारिणाम् । तेषां तिष्ठति यो मध्ये, तद् वै पञ्चतपः स्मृतम् ॥२॥ [म. भा.]

२९९. क्लेशे वासित मन संसार, क्लेश रहित मन ते भवपार । [उपा. यशोविजयजी]

३०० अनेक प्रकारके सुख और दुःखके फलोंको योग्य ऐसे कर्म-क्षेत्रको जो खोद निकालता है अथवा आत्माके स्वरूपको जो कलुषित करता है उसे कषाय कहा जाता है । संसारका मुख्य कारण कषाय ही हैं, अतः क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंसे मुक्त होनेके लिए अनुक्रममें उसके प्रतिपक्षीके रूपमें क्षमा, नम्रता, सरलता और सन्तोष आदि वृत्तियोंको हृदयमें बहुत कसना ।

तवेण गारविया—तपसे गौरवयुक्त (गौरन्वित) अर्थात् अहंकार करनेवाले ।

कोई भी प्राणी तीव्र पापवृत्तिसे बन्धनयुक्त निबिड-चीकने कर्मोंको भी (तपसा निर्जेरा च) तपोनुष्ठानसे, अवश्य नष्ट कर सकता है । यह तप जो अहंकाररहित हो तो वह उत्तम गतिको पा सकता है । परन्तु उस अनशनादिक तप करनेसे यदि अहंकार आ जाये कि हम तपसी हैं, मुझ जैसा तप करनेवाला, सहनेवाला है कोई ? इत्यादि अहंकारका मद मिलकर इकट्ठा हो गया हो और परभवायुष्यका बन्ध पडे तो भवनपतिका पड़ता है अर्थात् उदय आते ही वहाँ उत्पन्न होता है । वहाँ भी ऊँच-नीचताका आधार भावनाकी विशुद्धि पर होता है । इसलिए प्राणियोंको उत्तम गति पानेके लिए ३०१ अक्रोधरूपसे क्षमाभावपूर्वक मद रहित तप करना चाहिए, वरना जिस प्रकार जैनेतरके उपवास ' फरालिया ' हुए, वैसे हमारे उपवास ' वरालिया ' बन जायेंगे ।

वेरेण य पडिबद्धा—वैरसे प्रतिबद्ध-आसक्त बने हुए । कोई जीव यदि उत्तम तप धर्मका सेवन करता हो, महान ऋषि-त्यागी हो, परन्तु जो वैर भावसे आसक्त हो कि कब दुःश्मनकी खबर लूँ ? ऐसे जीव ३०२ परभवायुष्यका बंध करे तो मलिन भावनाके

३००. सुह-दुक्ख बहु सहियं, कम्मखेत्तं कसंति जं जम्हा ।

कलुसंति जं च जीवं, तेण कमाइ त्ति बुच्चंति ॥ [पन्नवणा सूत्र पद १३]

३०१. तप गुण ओपे रे रोपे धर्मेने, नवि गोपे जिन आण,

आश्रव लोपे रे नवि कोपे कदा, पंचम तपसी ते जाण ॥ [उपा श्री यशोविजयजी]

३०२. इतना विशेष समझना कि किसी भी जीवका आगामी गतिस्थानका निर्माण परभवायुष्य बन्धकालमें उत्पन्न होती शुभाशुभ भावना-अध्यवसाय पर आधार रखता है । अब स्वभव आयुष्य प्रमाणमें जीवको आयुर्वन्धके मुख्य चार समय (प्रसंग) आते हैं । प्रथम सोपक्रमी जीवका जितना आयुष्य हो उसके तीसरे भाग पर, दूसरा प्रसंग नववें भाग पर, तीसरा सत्ताईशवें भाग पर और अन्तिम चौथा निजायुष्य पूर्ण होनेमें शेष अन्तर्मुहूर्त्त बाकी रहे तब, अर्थात् तीसरे भाग पर परभवायुष्य बन्ध जीवने अगर न किया हो तो उसे नौ पर करे, अगर वहाँ भी न किया हो तो सत्ताईस पर, वरना अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर परभवायुष्य बन्ध जरूर करे ही । उस आयुष्य बन्धके कालप्रसंग पर जीवके जिस प्रकारके शुभाशुभ अध्यवसाय हो, तदनुसार वह

योगसे भवनपति निकायमें उत्पन्न होते हैं। क्योंकि वैरका बदला लेना यह बुरी चीज है। इससे मन हमेशा मलिन रहता है, बदला ले सके या न ले सके तो भी वह अशुभ भावनाके योगसे उपरोक्त गतिको पाता ही है। वे जहाँ जाते हैं वहाँ भी जन्मान्तरके विरोधी संस्कारसे वैरीके प्रति वैर लेनेकी वृत्ति पुनः जागती है। इस तरह वैर परंपराका विषचक्र फिरता (चालु) ही रहता है और अनेक कदर्थनाको पाता है बारबार कर्मबन्धके द्वारा बारबार संसारमें परिभ्रमण करते ही रहते हैं, अतः प्राणीको कभी भी वैरासक्त न बनकर समभाववृत्ति जगानी चाहिए। वैरका सिलसिला बहुत ही लम्बा चलता है। समरादित्य आदिके प्रसंग उसकी गवाहीरूप है। इसलिए वैरोपशमन तुरन्त ही करके मनको शांत कर देना यही जैनधर्म पानेका फल है।

इस तरह उक्त अनिष्ट भावनाके योगसे प्राणी अपनी उत्तम आराधनाको भी दूषित बनाकर, उत्पन्न होते जघन्य कोटिके सुअध्यवसायसे असुरोंके रूपमें उत्पन्न हो सकते हैं। [१५२]

अवतरण—अब व्यन्तर रूपमें किस कारणसे जीव उत्पन्न होता है ? इसे कहते हैं।

रज्जुग्मह-विसभक्खण-जल-जलणपवेस-तण्ह-कुहदुहओ ।

गिरिसिरपडणाउ मया, सुहभावा हुंति वंतरिया ॥ १५३ ॥

शुभाशुभ गतिका बन्ध करता है। शुभ अध्यवसाय, शुभ गति और अशुभ अध्यवसाय, अशुभ गति देता है। उस गतिमें भी ऊँच-नीच संपत्तिकी प्राप्ति यह अध्यवसायकी जितनी जितनी विशुद्धियाँ हैं, उन उन पर आधार रखती हैं। चाहे भले ही जीवोंने दारुण पापाचारका सेवन किया हो; परन्तु आर्युर्बन्धकाल पर पूर्व पुण्यसे तथाविध शुभालम्बनसे पूर्वकृत पापका प्रायश्चित्त आलोचना ग्रहण इत्यादि किया हो और शुभ अध्यवसाय चलता हो तो जीव चिलतीपुत्र, दृढप्रहारी, तामली तापसादिकी तरह शुभ अध्यवसायको पाकर सम्यग्दृष्टिपन प्राप्त करके शुभ गतिमें उत्पन्न हो सकता है।

दूसरा यह भी याद रखना चाहिए कि यदि जीवने आयुष्यके चार भागोंमेंसे किसी भी भागसे शुभ गति और शुभ आयुष्यका बन्ध किया हो, उस बन्धके पूर्व या अनन्तरमें किसी अशुभ आचरण किए हो परन्तु उसने शुभ गतिके आयुष्यका बन्ध किया होनेसे उसे शुभ स्थानमें जाना होनेसे पूर्वके संस्कारोंसे शुभ भावना 'जैसी गति वैसी मति' इस न्यायसे आ ही जाती है परन्तु जो आयुर्बन्ध 'जैसी मति वैसी गति' के न्यायसे अशुभ गतिका किया हो और बन्ध कालपूर्व-अनन्तर शुभ कार्य किये हो तो भी अशुभ स्थानमें जाना होनेसे अशुभ अध्यवसाय प्रायः प्राप्त हो जाता है। संक्षिप्तमें जीवकी जैसी आराधना वैसी उसकी मानसिक स्थिति होती है। आराधना शुभ हो तो सुंदर संस्कार-भावनासे वासित होती है और अशुभ आराधना अशुभ हो तो असुन्दर संस्कार भावनासे-वासित बनती है।

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १५३ ॥

विशेषार्थ—इस गाथामें बतायी गयी आचरणा स्वयं पापरूप होनेसे उसका सच्चा फल नरकादि कुगति हो सकता है। परन्तु आयुष्यबन्धके पहले, गाथामें बताये गये आचरणके बजाय स्वभाग्यसे, शुभ निमित्त द्वारा नरकादि गति योग्य संकिलष्ट—आर्त्त, रौद्र परिणाम छोड़कर तथाप्रकारकी कुछ शुभ भावना यदि आ जाये तो जीव अनिष्ट कार्य करता हुआ भी शुभ भावनाके योगसे शूलपाणी यक्ष आदिकी तरह व्यन्तरकी शुभ गति प्राप्त करता है।

रज्जुग्गह—रस्तीसे जीवका घात करना (जीवको मारना) या किसी भी प्रकारके आंतरिक या बाह्य दुःखसे ऊबकर फंदा डालकर मरना वह। इस प्रकारकी घटनाएँ वर्तमानके विषम समयमें दुःख-क्लेशसे ऊबनेवाले मानवोंमें अधिक दिखायी देती हैं।

विसमधखण—किसी भी आफत-दुःखके कारण विषपान किया हो, परन्तु शुभ भावनाके योगसे व्यन्तरमें जाता है। ऐसे प्रसंग आम तौर पर श्रेष्ठ और सुखी वर्गमें बनते हैं।

जल-जलणपवेस—जानकर या अनजानमें जलमें या अग्निमें प्रवेशकर मरनेवाला जीव शुभ भावना पाकर कुमारनन्दीवत् व्यन्तरमें उत्पन्न होता है। ऐसे प्रसंग मध्यम वर्गमें अधिक मिलते हैं।

तणह-छुहदुहओ—तृषा अथवा क्षुधाके दुःखसे पीड़ित जो अपने प्राणत्यागके समय पर शुभ भावनाके योगसे मरता है वह। ऐसा दीन वर्गमें अधिक बनता है।

गिरिसिरपडणाउ—किसी महान् दुःखसे पीड़ित साहसिक जीव दुःखसे ऊबकर पर्वतके शिखर परसे नीचे कूद पड़े वह। और उक्त कार्य करनेवाले, भैरवजव जैसे पर्वतीय स्थानों परसे खाई (खंदक)में गिरनेवाले मया सुहभावा—मरकर शुभ भावनाके योगसे ही शूलपाणीयक्षवत् (नरकादि गति रूप अति आर्त्त रौद्र ध्यानका अभाव हो तो) हुंति वंतरिया व्यन्तर होते हैं।

शुभ भावनाके अभावसे तो अपने-अपने अघ्यवसायानुसार उस-उस कुगतिमें जनमते हैं। [१५३]

अवतरण—अब ज्योतिषी तथा वैमानिक निकायमें उत्पन्न होने योग्य कौन होता है ?

तावस जा जोइसिया, चरग-परिवाय बंभलोमो जा ।

जा सहसारो पंचिदि—तिरिअ जा अच्चुओ सड्ढा ॥ १५४ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १५४ ॥

विशेषार्थ—तावस जा जौइसिया—वनमें रहकर अनन्तकाय स्वरूप कन्दमूलादि, भूमिके अन्दर उपजते बटाटा-बैंगन-शकरकन्द-अदरक-लहसुन-प्याज-गाजर आदिका भक्ष करनेवाले अज्ञानी तापस मरकर भवनपतिसे लेकर यावत् ज्योतिषी तकमें उत्पन्न हो सकते हैं। यहाँ उत्पन्न होनेका हेतु उपरोक्त गाथामें बताया है उसे ही जाने।

कन्दमूल भक्षक जीवोंकी गतिमें हीनता जरूर आती है, ऐसा यह गाथा पुष्टि भी करती है। किसीको यह शंका उत्पन्न होगी कि इसका क्या कारण? तो वस्तु ऐसी है कि—कन्दमूल भक्षणमें अनन्तानन्त एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा होती है। हमारे शरीरमें एक ही जीव है, अतः यह जीव स्वतन्त्र रूपसे शरीरके माध्यमसे क्रिया कर सकता है, जब कि कन्दमूलके किसी भी जातके अति सूक्ष्म भागमें भी अनन्ता जीव होते हैं। तथा उनके बीच एक ही शरीर होता है। शरीर एक और उस एकके ही मालिक अनन्ता, ऐसी विचित्रता और पराधीनता वहाँ है। एक सूईके अग्रभाग जितने बटाटाके अंशमें अगर अनन्त जीव होते हैं तो पूरा बटाटामें कितने होंगे? इसका ख्याल करना। ज्ञानी तो वीतराग—सर्वज्ञ थे। अतः उन्होंने तो पदार्थोंको ज्ञानसे तटस्थभावसे प्रत्यक्ष देखनेके बाद जगतके कल्याणके लिए कमसे कम पाप मार्गका भी प्रकाशन करके जगतको सन्मार्ग पर चढ़ानेका सत् प्रयत्न किया है। दूसरी बात यह है कि एक सूईके अग्रभाग पर बहुत-से लाख जन्तु रह सकते हैं ऐसा आजका जड़-विज्ञान कहता है तो चैतन्य वैज्ञानिक भगवान् ज्ञानदृष्टिसे आत्मप्रत्यक्ष (बिना प्रयोग) सूईके अग्रभाग पर अनन्ता जीवोंका अस्तित्व देख सकता है इसमें शंकाका जरा-सा भी स्थान नहीं है। अतः कन्दमूलादिके भक्षणसे अनन्त जीवोंकी हिंसा होती है, इस लिए उसकी गतिमें रुकावट आती है।

यद्यपि यह तापस और आगे कहे जानेवाले जीव तपस्यादिक धर्मका पाप कर्म रहित सेवन करे तो वे उससे भी आगे उपज सकते हैं, परन्तु उनमें वास्तविक भेदज्ञानका अभाव होनेसे तप-धर्म करते करते भी पापसेवन तो करते ही है। परन्तु एक तपश्चर्याके समान कायक्लेश आदि अनेक बाह्य कष्ट सहन करनेसे उसके फलस्वरूप ज्योतिषी निकायमें उपज (जनम) सकते हैं, ऐसा सर्वत्र समझना।

चरक-परिवायवम्भलौगो जा—चरक अर्थात् स्वधर्म नियमानुसार चार-पाँच लोग मिलकर भिक्षाटन करे-चरे वह। और परिवाय-परिव्राजक ये कपिलमतके जो सन्त हैं वे। ये चरक-परिव्राजक दोनों यावत् ब्रह्मलोक तक उत्पन्न हो सकते हैं।

जा सहस्रारो पंचिदितिरिथ—पर्याप्ता गर्भज तिर्यच पंचेन्द्रिय हाथी आदि सहस्रार तक उत्पन्न हो सकते हैं। यह कथन सम्बल-कम्बलकी तरह जो तिर्यच किसी निमित्तसे या जातिस्मरणसे सम्यक्त्व (सच्चे तत्त्वकी श्रद्धा) और देशविरतिको पा गये हैं उनके लिए

समझना, ये तिर्यच होते हुए भी उपरोक्त जीवोंके बदले ज्यादा लाभ उठाते हैं इसका प्रमुख कारण सम्यक्त्व और (या) देशविरतिकी प्राप्ति यह एक ही है । जब उक्त जीव त्याग-तपरूप धर्म अमुक प्रकारसे करते हैं, परन्तु वह अज्ञानरूपसे और जिनेश्वरके मार्गसे विपरीतरूपसे होनेके कारण एक बार थोड़ा-ज्यादा फल देकर अन्तमें निष्फल होते हैं ।

जा अच्युओ सड्ढा—श्रावक उत्कृष्टसे मरकर यावत् अच्युत देवलोकमें उत्पन्न होता है, परन्तु वह देशविरतिवन्त—संयमी शुभभावनाके योगसे शुभ आयुष्य बन्ध करके जो मरनेवाला हो वह ही ।

यहाँ इतना विशेष समझें कि तिर्यचकी देशविरतिसे श्रावककी देशविरति मनुष्यभवके लिए अधिक निर्मल, उत्तम प्रकारकी प्राप्त करता होनेसे उस गतिके लाभको अधिक पा सकता है । [१५४]

अवतरण—प्रस्तुत प्रकारको आगे चलते मिथ्यादृष्टि किसे कहते हैं, यह बताते हैं ।

जइलिंग मिच्छदिट्ठी, गेवेज्जा जाव जंति उकोसं ।

पयमवि असदहंतो, सुत्तुंतं मिच्छदिट्ठी उ ॥ १५५ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १५५ ॥

विशेषार्थ—लिंग साधुका हो अर्थात् रजोहरणादि साधुवेष आदि धारण किया हो लेकिन मिथ्यादृष्टि हो वह उत्कृष्टसे नव प्रवेयक तक उत्पन्न होता है ।

कोई जीव जिनेश्वर भगवन्तकी अथवा कोई प्रभाविकलब्धिधारी यतिकी रिद्धि सिद्धि, देव-दानव और मानवोंसे होते पूजा-सत्कारादि देखकर वह अपने मनमें विचार करें कि मैं भी यदि ऐसा यतिपन लूँ तो मेरा भी पूजा-सत्कार होगा, ऐसा केवल ऐहिक सुखकी इच्छासे (नहीं कि मुक्तिकी) कंचन-कामिनीके त्यागी ऐसे उस यतिकी तरह ही यतिपन धारण करें, और साधु होनेके बाद ऐसे अर्थात् इस प्रकारके उत्कृष्ट कोटिका संयम रखें कि मक्खीकी पंखको भी किलामन होने न दे ऐसी सूक्ष्म रीतसे जीवरक्षादि क्रिया करें, यद्यपि यह सब वह श्रद्धा रहित अर्थात् प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्यके गुणोंसे भी विकल होने पर भी बाह्य दशविध चक्रवाल समाचारीकी क्रियाका उत्कृष्ट रूपसे यथार्थ आराधन करता होनेसे मात्र उसी क्रियाके बल पर [अंगारमर्दकाचार्यवत्] उत्कृष्टसे नव प्रवेयक तक उत्पन्न हो सकता है ।

मिथ्या क्रिया भी कितनी उच्च गति प्राप्त करा सकती है । यह क्रिया मार्गकी जो लोग अवगणना करते हैं वे इसका गहरा विचार करें, और अगर मिथ्या क्रिया भी ऐसा फल दे सकती है तो सम्यक् क्रिया कैसा फल दे सके यह भी सोचे ।

मिच्छदिट्ठी—मिथ्यादृष्टि भी नौ प्रवेयक तक उत्पन्न हो सकती है ।

मिथ्यादृष्टि अर्थात् क्या ? तो मिथ्यात्व मोहनीय नामकी एक प्रकारकी सत्-सच्ची दृष्टिको आच्छादित करनेवाले कर्म विशेषके उदयसे जीवकी दृष्टि-विचारणा-श्रद्धा मिथ्या अर्थात् विपरीत हो जाती है तब उसे 'मिथ्यादृष्टि' कहते हैं। जिस तरह धतूराका बीज खानेवाला मनुष्य सफेद चीजको भी ज्यों पीली देखता है, उसी तरह मोहनीय कर्मसे आच्छादित दृष्टिवाला मनुष्य जिसमें देवके यथार्थ लक्षण न हो, उसमें देवत्वबुद्धि करता है। जिसमें गुरुके सच्चे लक्षण न हो, उसे गुरुके रूपमें स्वीकारता है। जिसमें धर्मका वास्तविक लक्षण मिलता न हो ऐसे धर्मको धर्मके रूपमें स्वीकारता है। यह व्यवहारसे मिथ्यादृष्टिकी स्थूल व्याख्या है।

इसका सामान्य फलितार्थ यह हुआ कि—श्री सर्वज्ञ-वीतराग देव कथित जीव-अजीव-पुण्य-पापादि तत्त्वोंको यथातथ्य रूपसे या संपूर्ण रूपसे न स्वीकारे, अर्थात् कि जो न्यूनधिक रूपसे स्वीकारे वह मिथ्यादृष्टि है। वीतरागके हरेक तत्त्वका स्वीकार करे, परन्तु प्रस्तुत गाथामें बताये गये सूत्रोक्त एकाद पद या विषयका भी जो अस्वीकार करे तो वह भी मिथ्यादृष्टि है।

विशेष नोंध—ज्यादातर बहुत-सी आत्माएँ अपनी अल्पज्ञताका विचार करती नहीं हैं और सर्वज्ञके वचन कोई बार न समझ सके, अथवा उसकी गहरी विचारणा अथवा उसके तत्त्वज्ञानके गुढ़ रहस्य स्वबुद्धिसे समझ न सके तो वे कईवार उसके यथातथ्य-सत्य वचनोंमें शंकित बन जाती हैं और आगे बढ़कर यह वस्तु जो सर्वज्ञने कही है वह भी सत् नहीं है ऐसी श्रद्धा कर बैठती हैं। परिणामस्वरूप यह आत्मा सर्वज्ञके ज्ञानकी प्रत्यनीक बन जाती है। एक सर्वज्ञके ज्ञानमें शंका अर्थात् अनन्ता सर्वज्ञोंकी आशातना, क्योंकि सर्वज्ञोंकी अर्थप्ररूपणा समान होती हैं। आजकी बुद्धि अनन्तांश भी नहीं है अतः कोई वस्तु स्वल्प-बुद्धिके कारण न समझ सके तो महानुभाव उसे समझनेकी कोशिश करे—प्रयत्नशील रहे। सम्यग्दृष्टि खीलानेका प्रयास करे, परन्तु 'असत् है' ऐसा कभी भी मान न ले। [१५५]

अवतरण—पूर्व गाथामें सूत्रवचनकी असद्वहणा (अनादर) नहीं करना चाहिए ऐसा कहा है तो सूत्र अर्थात् क्या ? उन्हें किसके द्वारा रचित हो तो प्रमाणभूत मान जायँ ? यह बताते हैं।

सुत्तं गणहररइयं, तहेव पत्तेयबुद्धरइयं च ।

सुयकेवलिणा रइयं, अभिन्नदसपुन्विणा रइयं ॥ १५६ ॥

गाथार्थ—जो शास्त्र-ग्रन्थ गणधर भगवन्त रचित, प्रत्येकबुद्ध रचित, श्रुतकेवली रचित और सम्पूर्ण दशपूर्वी रचित है, उसे सूत्र कहा जाता है। ॥१५६॥

विशेषार्थ—गणहर अर्थात् गणधर। गणधर किसे कहते हैं और यह कौन हो

सकता है ? उसके लिए थोड़ा कुछ समझ लेते हैं ।

हरेक युगमें अपने-अपने कालमें तीर्थकर होनेवाली २४ व्यक्तियाँ जन्म लेती हैं । हरेक तीर्थकरकी आत्मा परभवमेंसे मनुष्यलोकमें जब अवतार धारण करती हैं तब तीन ज्ञान सहित होती हैं । अर्थात् कि हमसे एक ज्ञान अधिक होता है । जन्मके बाद स्वयंसम्बुद्ध होनेसे यथायोग्य समय पर संसारका भोग कर्मका क्षय होते ही गृहस्थाश्रममें संयम-चारित्रपालन अशक्य होनेसे इस अवस्थाका त्याग करके, सर्व पापके त्यागरूप पंचमहाव्रतादिके नियमस्वरूप चारित्रका अंगीकार करते हैं । विश्वकल्याणके लिए ग्रहित चारित्रको उग्रकोटिकी अहिंसा-तप-संयमकी आराधनासे निर्मल बनाते जाते हैं । इस आराधनामें उपस्थित होते अनेक विघ्न और उपद्रवको वे समभावसे सहते हैं । अन्तर्मुख बनकर स्वभावमगताके विलुप्त कर्मोंका क्षय करते हैं । परिणामस्वरूप वे सम्पूर्ण ज्ञानी और सम्पूर्ण चारित्रवान् बनते हैं । उस समय ही उनके प्रभावसे देवलोकमें देवविरचित समवसरण (प्रवचन योग्य सभास्थान) गृहमें विराजमान होकर देव, मनुष्य तथा पशु-पक्षियोंके समक्ष अपना प्रथम प्रवचन देते हैं । यह प्रथम प्रवचन पूर्ण होते ही भगवन्तका प्रधान नवदीक्षित शिष्यगण जो समर्थ बुद्धिनिधान होता है, उसको गणधरनामकर्मका उदय होते ही गणधर पद स्थापनेका समय आते गणधर बननेवाली व्यक्ति प्रथम गुरुस्थानीय तीर्थकर परमात्माकी विनयपूर्वक प्रदक्षिणा करके, प्रभुके सामने हाथ जोड़कर खड़ी रहती है । इन्द्र महाराज सुगन्धी वासचूर्णका थाल लेकर खड़े रहते हैं । भगवन्त खड़े होकर गणधर भगवन्तों पर वासक्षेप डालकर उनको गणधरपद पर स्थापित करते हैं । यह पद प्राप्त होते ही उनमें अपूर्व शक्तियोंका प्रवाह बहने लगता है । विश्वकल्याणके लिए शास्त्रकी रचना जरूरी होनेसे गणधर शास्त्र रचनाकी तैयारियाँ करते हैं और उसी समय पर ही भगवन्तसे सविनय प्रदक्षिणा करके प्रश्न करते हैं कि—करुणावत्सल भगवन् ! आप सम्पूर्ण ज्ञानी बने हैं । अखिल (समग्र) विश्वके सम्पूर्ण चराचर भावोंको हस्तामलकवत् देख रहे हैं, विश्वके सम्पूर्ण पदार्थ और उनके भावोंको आप साक्षात् देख सके हैं तो भगवन्त में प्रश्न करता हूँ कि—इस विश्वमें किं तत्त्वं ? तब भगवन्त इसका प्रत्युत्तर देते हैं कि ' उपन्नेइ वा ' अर्थात् ' पदार्थ उत्पन्न होते हैं ' । इतना ही बोलते हैं । फिरसे पूर्ववत् विधि करके सामने खड़े रहकर प्रश्न करते हैं कि—भगवन् किं तत्त्वं ? तब भगवन्त उत्तर देते हैं कि ' विगमेइ वा ' अर्थात् ' पदार्थ विलीन होते हैं ' । उसी प्रकार तीसरी बार प्रश्न करते हैं कि—भगवन् किं तत्त्वं ? इसका उत्तर मिलता है कि ' धुवेइ वा ' अर्थात् ' पदार्थ ध्रौव्य एवं स्थिर हैं ' । बादमें भगवन्त यह त्रिपदी गणधरोंको अर्पण करते हैं । सब पदार्थके बीज रूप प्रत्युत्तर ज्ञानको पाकर गणधर उस पर गम्भीर और गहन चर्चा (विचारणा) तुरन्त ही करते हैं और अगाध ज्ञानका प्रादुर्भाव (प्रगट होना) होते ही

बीजबुद्धिके स्वामी वे उसी समय ही अन्तर्मुहूर्त=४८ मिनटमें ही बारह ^{३०३}अंग सूत्रोंकी रचना करते हैं। हरेक गणधर उसी तरह ही विधि करके, त्रिपदी पाकर, स्वतन्त्ररूपसे द्वादशांगी रचते हैं। अतः हरेककी द्वादशांगी स्वतन्त्र होती है, फिर भी उसे शब्दरूपसे ही भिन्न समझे, क्योंकि अर्थसे तो सबकी रचना समान ही होती है, जिससे एकवाक्यता टिक सकता है। ये द्वादशांगी ही उन्हीं गणधरगुम्फित सूत्र हैं।

उसे आगम शास्त्रोंसे भी पहचाना जाता है। आगमशास्त्रोंके भी दो भेद किए गये हैं। एक अर्थागम और दूसरा सूत्रागम (या शब्दागम)। तीर्थंकर आगमका उपदेश करते हैं, अतः वे स्वयं अर्थागमके कर्ता बनते हैं और इस अर्थसे ही तीर्थंकरोंको ^{३०४}आगम आत्मागम है। और यह अर्थागम गणधरोंको तीर्थंकर द्वारा साक्षात् मिलनेसे गणधरकी अपेक्षा रूप वह अनन्तरागम (दूसरी व्यक्ति द्वारा प्राप्त) है। लेकिन अर्थागमके आधार पर ही गणधर सूत्र रचना करते होनेसे सूत्रागम अथवा शब्दागमके कर्ता गणधर ही माने जाते हैं और इससे गणधरगुम्फित आगम ही सूत्र कहलाते हैं।

आगमके अर्थका उपदेश तीर्थंकरोंने दिया है परन्तु उसे सूत्ररूप या ग्रन्थबद्ध करनेका सम्मान तो गणधरोंके पक्षमें ही जाता है। अतः सामान्य भाषामें आगम तीर्थंकर रचित कहा जाता है, परन्तु उसके बदले तीर्थंकरभाषित कहे और गणधर विरचित माने यह ही बराबर है। आगमोंका अर्थमूल भले तीर्थंकरोंके उपदेशमें रहा हो परन्तु इससे वे ग्रन्थके रचयिता बन जाते नहीं हैं। यहाँ इतनी प्रासंगिक उपयोगी हकीकत बतायी है।

प्रत्येकबुद्ध—संसारकी प्रत्येक-किसी भी चीजसे प्रतिबुद्ध हुए हो वह। अर्थात् तीर्थंकर परमात्मा या सद्गुरु आदिके उपदेशरूप बिना कोई निमित्त (कारण) संध्या समयके बादलोंके रंग ज्यों बदलते रहते हैं, उसी तरह संसारकी पौद्गलिक हरेक चीज भी प्रतिक्षण परावर्तनशील है। आज जो वस्तु प्रिय और अच्छी लगती है वही चीज कुछ ही क्षणोंके बाद अप्रिय और असार भी बन जाती है, अतः कहाँ कहाँ राग-द्वेष करे? ऐसा कोई वैराग्यजनक कारण पाकर जो लोग चारित्रवान् बने हो वे। ऐसी लघुकर्मी आत्माओं द्वारा रचित ग्रन्थोंको भी सूत्र कहा जाता है। जिस तरह नमिराजर्षि आदि द्वारा रचित नमि अध्ययन आदि अध्ययन जो हैं।

श्रुतकेवली—बारहवें अंगका चौथा विभागगत माना गया चौदहपूर्वरूप श्रुत-शास्त्र ज्ञानका जो सम्पूर्ण ज्ञाता हो वह। जो केवली सर्वज्ञ न होकर भी प्रत्यक्ष ज्ञानका भले ही

३०३. बिना द्वादशांगका आगमश्रुत जिसे अंग बाह्य कहा जाता है, उसके कर्ता स्थविर है या गणधर इसके लिए चूर्णि-भाष्य टीकाकारोंमें काफी मतभेद प्रवर्तते हैं।

३०४. अर्थं भासइ अरिहा, सूत्रं गंथति गणहरा निउणं । सासणस्सहियट्ठाए, तओ सुत्तं पवत्तई ॥१॥

अभाव है, लेकिन चौदहपूर्वका ज्ञान ऐसा विशाल है कि उस ज्ञानसे केवली जैसी अर्थ-व्याख्या करनेमें समर्थ होनेसे श्रुतकेवली कहलाता है ।

चौदहपूर्वियों द्वारा रचित ये ३०^०शास्त्र भी सूत्र ही कहलाता है । भगवान महावीरके शासनमें शय्यभवसूरि, भद्रबाहुस्वामी, स्थूलभद्रस्वामी आदि चौदह पूर्वधर हुए हैं । उनके रचित दशवैकालिक प्रमुख ग्रन्थ तथा निर्युक्ति आदि शास्त्रको सूत्ररूप माना जाता है ।

सम्पूर्ण दशपूर्वी—आर्य वज्रस्वामी, आर्य महागिरि प्रमुख इत्यादि द्वारा रचित ग्रन्थ सूत्र कहलाते हैं । क्योंकि वे सम्पूर्ण दशपूर्वी नियमा सम्यग्दृष्टिवान् होते हैं, अतः थोड़ा-सा न्यून भी दशपूर्वी हो तो उसके ग्रन्थ सूत्र रूप मानते-मनाते नहीं है, क्योंकि उसमें मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि दोनों प्रकारके जीव होते हैं, जिससे उसके लिए नियम न हो सके, क्योंकि मिथ्यादृष्टि पदार्थकी गलत व्याख्या-परिभाषा भी कर लेते हैं । अतः उनका कथन सच्चे रूपमें कल्याणकारक कहा नहीं जा सकता ।

इससे क्या हुआ कि उनका ही सूत्र-वचन मान्य करें कि जिनके रचयिता अगाध बुद्धिके मालिक और सम्पूर्ण विकसित दृष्टिवाले हैं । इस लिए ही तो उनके वचन गम्भीर और रहस्यपूर्ण (अर्थपूर्ण) होते हैं और वे ही विभोपकारक बन सकते हैं । [१५६]

अवतरण—अब छद्मस्थ यतिका तथा श्रावकका उत्कृष्ट तथा जघन्य उपपात कहते हैं ।

छुडमत्थसंजयाणं, उववाओ उक्कोसओ सञ्चट्ठे ।

तेसिं सड्ढाणंपि य, जहन्नओ होइ सोहम्मे ॥ १५७ ॥

लंतम्मि चउदपुण्विस्स, तावसाईण वंतरेसु तहा ।

एसो उववायविढी, नियनियकिरियठियाण सञ्चोऽवि ॥ १५८ ॥

३०५. चौदहपूर्व अर्थात् क्या ? श्री तीर्थकर भगवन्तो द्वारा अर्थगाभीर्य युक्त और बीजबुद्धिनिधान लब्धिसम्पन्न श्री गणधरमहाराजोंके सूत्ररूप रची गयी जो श्री द्वादशांगी है उन पैकी बारहवें द्रष्टिवाद नामक अंगका जो परिकर्म, सूत्र, पूर्वानुयोग, पूर्वगत और चूलिका इत्यादि ऐसे पाँच विभाग हैं । उनमें 'पूर्वगत' नामका जो चतुर्थ विभाग है, उसमें चौदहपूर्वका समावेश होता है । इनमें प्रथम पूर्व एक गजराज जितने मसीके ढगसे लिख सके उतना बड़ा होता है । दूसरा पूर्व दो गजराजोंके प्रमाणरूप, तीसरा पूर्व चार हाथियोंके प्रमाण, चौथा पूर्व आठ हाथियोंके प्रमाण जितना इस तरह आगे-आगे द्विगुण द्विगुण हाथी प्रमाण मसीके ढगसे लिखा जा सके इतना बड़ा हरेक पूर्व होता है ऐसा पूर्वाचार्योंने निर्दिष्ट किया है । ऐसे चौदहपूर्वरूप श्रुतको सूत्र और अर्थके द्वारा जो महर्षि जान सकते हैं, उनको 'चौदहपूर्वी' किंवा 'श्रुतकेवली' कहा जाता है । अतीत-अनगत असंख्य भवका स्वरूप बतलानेकी असाधारण शक्ति भी उनमें होती है । वे सभी श्रुतकेवली भगवन्त सूत्रकी अपेक्षासे समान किन्तु अर्थकी अपेक्षासे षट्स्थानपतित हैं ।

गाथार्थ—छद्मस्थ यतिका उपपात उत्कृष्टसे सर्वार्थसिद्धमें होता है। यतिका तथा श्रावकका भी जघन्य उपपात सौधर्ममें होता है। ॥ १५७-१५८ ॥

विशेषार्थ—यति कहते साधु। वे दो प्रकारके हो सकते हैं। एक तो सम्पूर्ण ज्ञानयुक्त केवली यति और दूसरे अपूर्ण ज्ञानवाले जो मति-श्रुत-अवधि-मनःपर्यवको यथासंभव धारण करते हैं, वे छद्मस्थ यति। इनमें केवली यति तद्भव मोक्षगामी ही होते हैं अतः उनके उपपातकी विचारणा (चर्चा) ही अस्थान पर है। क्योंकि मोक्षमें जानेके बाद उनका पुनरागमन कभी भी होता ही नहीं है।

दूसरा उन केवली जो न्यून ज्ञानवाले छद्मस्थ संयमी हैं, गाथामें तो छद्मस्थ शब्द है तो छद्म किसे कहे? छादयति आत्मनो यथावस्थितं रूपमिति छद्म अर्थात् जो आत्माके सच्चे स्वरूपको ढँके यह है छद्म। तो यह छद्म ढँकनेवाला कौन? तो ज्ञानावरणादि घातिकर्मचतुष्टयं ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय ये चार घातीकर्म हैं। इनमें आवृत्त बने वे छद्मस्थ। जो चौदहपूर्वधर तथा अन्य मुनिगण हैं वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र्यमें रहकर शुभ भावसे जब कालधर्म (अवसान) पाते हैं तो उत्कृष्टसे त्रिलोकतिलक समान ऐसे उत्तम सर्वार्थसिद्ध विमानमें उत्पन्न होते (जनमते) हैं।

अब जिन्होंने उत्कृष्टरूपसे चारित्र्यकी आराधना न करते हुए जघन्यरूपसे ही की है ऐसे यति जघन्यसे सौधर्मकल्पमें, या अन्तमें दो से नौ पल्योपमकी स्थितिवाले देवरूपमें जरूर उत्पन्न होते हैं।

इस तरह जघन्य श्रावकपन पालनेवाला श्रावक भी अन्तमें सौधर्मकल्पमें पल्योपमकी स्थितिवाले देवरूपमें उत्पन्न होते हैं।

इस गतिकी व्यवस्था साधु श्रावक जो स्वआचारमें अनुरक्त है उसे उद्देशकर ही समझनी हैं। लेकिन अपने आचारसे जो साफ-साफ भ्रष्ट है। जो मात्र पूजानेकी खातिर ही वेश पहनता है और शासनका उड्डाह (भजाक) करनेवाला है, उन लोगोंकी गति तो उनके कर्मानुसार ही समझ लेना। भले ही बाहरी दिखावेमें वे चाहे जो वैसे हो। [१५७]

दूसरी गाथामें जघन्य उपपातका कथन करते हुए प्रथम गाथामें छद्मस्थयतिमें चौदहपूर्वधर भी गिनाए तथा उनका उत्कृष्ट उपपात सर्वार्थसिद्ध पर बताया, अब छद्मस्थ यति पैकी मात्र चौदहपूर्वधरका जघन्य उपपात लांतक तक होता है परंतु उससे नीचा होता ही नहीं है और तापसादि (आदि शब्दसे चरक परित्राजकादि) जिसका पहले उत्कृष्ट उपपात आ गया है उसका जघन्य उपपात व्यंतरमें (मतांतरसे भवतपतिमें) होता है।

उक्त गाथामें कही गयी सर्व उपपातविधि भी अपनी-अपनी क्रियामें स्थित हो उसके

लिए ही समझे । परन्तु जो लोग अपने-अपने धर्मके आचारसे भी हीन-क्रिया धर्मको सेवते हैं उनके लिए तो अपने-अपने कार्यानुसार ही समझे, जो बात ऊपर कही ही है । [१५८]

॥ देवगतिमें कौन-कौनसे जीव आकर उपजते हैं ? उसका यन्त्र ॥

<p>जातिनाम प. ग. मनुष्य तिर्यचका चारों निकायमें, असं. मनुष्य तिर्यचका भ. से ईशान तक संमूर्च्छिम तिर्यचका भ. से व्यन्तर तक बाल्मपस्वी, भवनपतिके उत्कृष्ट रोषी, तपसे असुरोंमें अहंकारी, वैरासक्त शुभभावसे उपजते हैं तापस—भव. से ज्यो. तक जघन्यसे व्यन्तरमें छद्मस्थयति - सर्वार्थसिद्धमें चौदहपूर्वी - जघ० लांतकमें</p>	<p>रस्सीका फन्दा खानेवाला, विषभक्षी, जल-अग्निमें प्रवेशकर, भूख-तृषा से दुःखी, गिरिपात करनेवाले चरक-परित्राजक-भ. से ब्रह्म- कल्प यावत् जघ.से व्यन्तरमें ग. प. पंचेन्द्रिय तिर्यच सहस्रार कल्प यावत् श्रावक-उत्कृष्ट अच्युतान्त यावत् जघ० सौधर्ममें, यतिलिगी मिथ्यादृष्टि-नौ ब्रै० यावत् जघ० व्यन्तरमें</p>	<p>शुभभावसे मरकर व्यन्तर में जाते हैं</p>
---	---	---

अवतरण—इस प्रकार अध्यवसाय तथा आचाराश्रयी उपपात विधि कहकर संघयण द्वारा उपपात कहनेका होनेसे प्रथम छः संघयणका वर्णन करते हैं ।

वज्जरिसहनारायं, पढमं वीअं च रिसहनारायं ।

नारायमद्दनारायं, कीलिया तह य छेवहुं ॥ १५९ ॥

एए छ संघयणा, रिसहो पट्टो य कीलियावज्जं ।

उभओ मक्कडबंधो नाराओ होइ विन्नेओ ॥ १६० ॥

गाथार्थ—पहला वज्जरूपभनाराच, दूसरा ऋषभनाराच, तीसरा नाराच, चौथा अर्धनाराच, पाँचवाँ कीलिका, छठा छेदपृष्ठ-छेवदहुं इस प्रकार छः संघयण है । उनमें वज्जरूपभनाराचका अर्थ [गाथामें ही] करते हुए जणाते हैं कि वज्ज-कीलिका (अर्थात् कीलि, मनुष्यके शरीरमें वृ. सं. ४३

एक अस्थि), ऋषभ अर्थात् पट्टा और नागाच अर्थात् उभय दोनों ओर मर्कटबन्ध हो उसे प्रथम संघयण जानें । ॥ १५९-१६० ॥

विशेषार्थ—संघयण अथवा संहनन ये दोनों शब्द एकार्थकवाची हैं । संहनन अर्थात् संहन्यन्ते संहतिविशेषं प्राप्यन्ते शरीरास्थ्यवयवा यैस्तानि संहननानि अर्थात् जिससे शरीरके अवयव तथा हड्डियाँ विशेष रूपसे मजबूत हो सके उस प्रकारके बंधारणको संहनन-संघयण कहते हैं । (संघयण प्राकृत शब्द है)

अथवा संघयणमट्टिनिचओ इस पदसे ' अस्थिका समूह-गठन विशेष ' उसे संघयण कहते हैं । दूसरे मतसे संहनन माने ' शक्तिविशेष ' ऐसा भी अर्थ करते हैं । अथवा उत्तरोत्तर दृढ-दृढतर जो शरीरका गठन (रचना) है वह ।

ये संघयण छः प्रकारके हैं ।

१. वज्रऋषभनाराच—वज्र अर्थात् कीलि, ऋषभ अर्थात् पट्टा और नागाच कहते मर्कटबन्ध—ये तीन बन्धारण (रचना) जिसमें हो वह ।

यह संघयण महान पुरुषोंमें होता है और वह शरीरके संधिस्थानोंमें होता है । वहाँ प्रथम मर्कटबन्ध अर्थात् आमने-सामने हड्डियोंके भाग एक ^{३०६}दूसरे पर आँटी लगाकर जुटे हुए हो ^{३०७}(वानरके बच्चेके समान) और उस अस्थिके मर्कटबन्ध पर मध्य भागमें नीचेसे ऊपर तक चारों ओरसे हड्डियोंका एक पट्टा वृत्ताकारसे घिरा हुआ होता है, और पुनः उसी पट्टेके ऊपर मध्यभागमें हड्डियोंसे बनी हुई एक मजबूत कीलिका पूरे पट्टेको भेदकर, ऊपरके मर्कटबन्धको भेदकर, अथवा नीचेके पट्टेको तथा मर्कटबन्धको भेदती हुआ बाहर निकलती है अर्थात् आरपार निकली हुआ होती है । इसे पहला वज्रऋषभनाराच संघयण कहा जाता है ।

यह संघयण इतना तो मजबूत होता है कि ऐसी हड्डियोंकी संधि पर चाहे जितना भी उपद्रव-प्रहार करें या चोट लगायें, फिर भी इसका अस्थिभंग होता ही नहीं है और न तो

३०६. मल्लकुस्ती लड़नेवाले दावँपेच खेळते हुए जिस प्रकार आमने-सामने बाँहें (बाहु) पकड़ते हैं, वैसे पकड़ना ।

३०७. मर्कट अर्थात् वानर, अर्थात् वानरका बच्चा अपनी माताके पेटपर ज्यों चिपक जाता है और उसके बाद वानर चाहे जितनी भी उछल-कूद करें फिर भी वह बच्चा अलग होता नहीं है, इसी प्रकारके बन्धको मर्कटबन्ध कहते हैं ।

वह भाग ^{३०८}संधिसे अलग होता है। अर्थात् यह अत्यंत ही मजबूतसे मजबूत हड्डियोंकी गठन-रचना है।

२. ऋषभनाराच—इस संघयणमें सिर्फ वज्र शब्द नहीं है, अतः मर्कटबन्ध तथा उसके ऊपर पट्टा—ये दोनों हों लेकिन एक ^{३०९}कीलि न हो वह।

३. नाराच—इसमें सिर्फ मर्कटबन्ध अकेला ही रहता है।

[अनुक्रमसे एक-एक गठन घटता जाता है और इससे संघयणमें उत्तरोत्तर बलहानि होती समझे।]

४. अर्धनाराच—इसमें मर्कटबन्ध होता है लेकिन अर्ध विशेषणसे आधा मर्कटबन्ध अर्थात् एक हड्डीका छोर सीधा और कुन्द होता है। उस पर दूसरा सामनेकी हड्डीका छोर, इसी सीधी हड्डी पर चक्कर काटता हुआ वृत्ताकारमें लगाया हुआ रहता है, इसी चक्कर काटती हुई हड्डीके दूसरे भाग पर हड्डीकी कीलिका आरपार निकली हुयी होती है।

५. कीलिका—दोनों अस्थि-हड्डियाँ बिना चक्कर^{३१०} लगाए (बिना वृत्ताकार) आपसमें सीधे रूपमें जुड़े हुए होते हैं और दोनों हड्डियोंको बीचकर आरपार हड्डीकी कीलिका निकली हो वह।

६. छेवहुं—यह संघयण अंतिम कोटिका है। इसके हड्डीकी संधिके स्थान पर आमने-सामने जो छोर हैं उनमेंसे एक हड्डीके गड्ढेमें दूसरी हड्डीका कुंठित छोर थोड़ा सा अंदर स्पर्श करके रहा हुआ होता है। इसे भाषामें छेदस्पृष्ट (उसी हाडके अन्तिम भागसे स्पर्शित) कहा जाता है। उसी तरह इसे ^{३११}सेवार्त्तसे भी पहचाना जाता है। अर्थात्

३०८. जिस तरह एक सुतार दो लकड़ेको एक दूसरे पर रखकर जोड़े तो भी वे हिल पाते हैं। परन्तु उसे देठ करके फाँस लगाकर बिठाए, बादमें लोहेकी पट्टीसे चारो ओरसे जकड़कर, बादमें पट्टी और फाँसको भेद सके वैसा मजबूत चार इंच बड़ा देसी कीला किसी भी प्रकार अलग न हो उसी प्रकार लगाए, उससे भी अधिक मजबूत इस रचना-गठनको समझे।

३०९. कोई इसे 'वज्रनाराच' भी कहता है। अर्थात् कीलिका सही लेकिन पट्टा नहीं। इसे दूसरा संघयण कहते हैं।

३१०. बिना आँटी लगाए अर्थात् दो लकड़े एक दूसरेपर रखकर भले ही उनमें कीलिका लगायी हो, फिर भी किसी भी वक्कर वे लकड़े शायद हिल जानेका या विथिल हो जानेका प्रसंग हो सकता है।

३११. अथवा बुढ़ापेमें तैरकी सेवा (मालिस या मर्दन) बार-बार मागते रहते हैं, घड़ीमें धुँटने जकड़ जाते हैं, तो घड़ीमें कलाई दुःखने लगती है, तो घड़ीमें दूसरे जोड़ परन्तु तैल-मालिस करते ही तुरन्त वे फिरसे काम देने लगते हैं। दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें इस संघयणका नामभेद है।

सेवा से आर्त्त = पीड़ित । किसी सामान्य कारण मात्रसे ही इस हाड़का गठन (रचना) टूट पड़ता है जिसे हड्डी टूटना या उतर जाना कहते हैं और तैलादिक मर्दन आदिके सेवनसे फिरसे हड्डी मूल स्थानमें बैठ (गड्ढेमें) जाती है । अतः दर्दसे पीड़ित होते हुए भी सेवा मिलनेसे स्वस्थानको जो अस्थिररचना प्राप्त होती है वह । वर्तमानके जीवोंमें हमें यह अन्तिम संघयण मिलता है । [१५९-१६०]

अवतरण—उन छः संघयणोंमेंसे किस जीवके कितने संघयण हों ? उसे बताते हैं ।

छ गन्धतिरिनराणं, समुच्छिमपर्णिदिविगल छेवद्दु ।

सुरनेरइया एणि—दिया य सन्वे असंघयणा ॥ १६१ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १६१ ॥

विशेषार्थ—गर्भधारण द्वारा उत्पन्न होते (जनमते) गर्भजतिर्यच तथा मनुष्य आदिमें भिन्न भिन्न जीवोंकी अपेक्षासे छः संघयण मिल सकते हैं । समुच्छिम पंचेन्द्रिय^{३१२} मनुष्य तथा तिर्यच और विकलेन्द्रिय ये जो कि दोइन्द्रिय, त्रीइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय होते हैं, इन्हें एक ही अन्तिम छेवद्दु—सेवार्त्त संघयण होते हैं । देव-नारक और एकेन्द्रिय ये सभी संघयणरहित होते हैं अर्थात् उनमें अस्थिररचनात्मकपन होती नहीं है । लेकिन देवोंकी चक्रवर्त्यादिसे भी अधिक महाशक्तिशाली होनेके कारण उन्हें औपचारिक वज्रचूषभ-नाराच संघयणवाले समझे जाते हैं; क्योंकि वे उत्कृष्ट शक्तिविषयक समानता जरूर रखते हैं । इस तरह एकेन्द्रियको अपनी अल्पशक्तिके कारण औपचारिक सेवार्त्त संघयणवाले भी माना गया है, क्योंकि अल्पशक्तिका विषय अल्पबलवाले सेवार्त्त संघयणके साथ घटा सकते हैं । [१६१]

॥ किस जीवके कितने संघयण हों ? उसका यन्त्र ॥

गर्भज मनुष्य	६	विकलेन्द्रिय	सेवार्त्त
गर्भज तिर्यच	६	देवताको	संघयण
			नहीं है
स. पं. तिर्यच	सेवार्त्त	नारकीको	”
स. पं. मनुष्य	”	एकेन्द्रियको	”

अवतरण—अब संघयणाश्रयी ऊर्ध्वगतिका नियमन बताते हैं ।

छेवद्देण उ गम्मइ, चउरो जा कप्प कीलिआईसु ।

चउसु दुदुकप्पवुइटी, पढमेणं जाव सिद्धीवि ॥ १६२ ॥

३१२. मतांतरसे कोई छः भी घटाता है ।

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १६२ ॥

विशेषार्थ—अन्तिम छेवट्टा संघयणवाले जीव अधिकसे अधिक भवनपतिसे लेकर सौधर्मादि प्रथमके ३१३ चार कल्प तकमेंसे ही उत्पन्न हो सकते हैं । कीलिका संघयणवाले जीव ब्रह्म यावत् तथा लांतक तक ही उत्पन्न हो सकते हैं । अर्धनाराच संघयणवाले शुक्र तथा सहस्रार देवलोकमें, नाराच संघयणवाले आनत-प्राणतमें, ऋषभनाराचवाले आरण अच्युत यावत् और वज्रऋषभनाराच संघयणवाले जो चाहे उसी गतिमें यावत् सिद्धिस्थान पर भी उत्पन्न हो सकते हैं, क्योंकि ये संघयणवाले तो तद्भव पर योग्यताको पाकर उसके लयक भी बन सकते हैं । [१६२]

॥ संघयणाश्रयी गतियन्त्र ॥ ॥ संघयण-संस्थान नाम यन्त्र ॥

छेवट्टा सं. वाला	भ. से चौथे कल्प यावत्	१ वज्रऋषभ- नाराच	समचतुरस्र
कीलिका सं. वाला	भ. से लांतकान्त	२ ऋषभनाराच	न्यग्रोध
अर्धनाराच	भ. से सहस्रारान्त	३ नाराच	सादि
नाराच	भ. से प्राणतान्त	४ अर्धनाराच	वामन
ऋषभनाराच	भ. से अच्युतान्त	५ कीलिका	कुब्ज
वज्र ऋ. नाराच	भ. से सिद्धशिलांत	६ छेवट्टुं	हुण्डक

अवतरण—संघयण भी कुछ संस्थानसे अनुलक्षित है, इससे 'संस्थान'का वर्णन करते हैं ।

समचउरंसे निग्गोह, साइ वामणय सुज्ज हुंढे य ।

जीवाण छ संठाणा, सन्वत्थ सलक्खणं पढमं ॥ १६३ ॥

नाहीइ उवरि बीअं, तइअमहो पिठ्ठि-उअरउरवज्जं ।

सिर-गीव-पाणि-पाए, सुलक्खणं तं चउत्थं तु ॥ १६४ ॥

३१३. इस लिए ही वर्तमानकालमें हुण्डक संस्थान होनेके कारण जीव अधिकसे अधिक चार देवलोक तक ही उत्पन्न हो सकते हैं ।

विवरीअं पंचमगं, सन्वत्थ अलक्खणं भवे छट्ठं ।

गम्भयनरतिरिअ छहा, सुरासमा—हुंडया सेसा ॥ १६५ ॥

गाथार्थ—समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज और हुंडक ये जीवोंके संस्थान छः हैं । इन सबमें सबसे अधिक सुलक्षणयुक्त पहला, नाभिसे ऊपर लक्षणयुक्त दूसरा, नाभिसे नीचेका ही लक्षणयुक्त तीसरा, पीठ-उदर-उर आदिको छोड़कर शिर-प्रीवा-हाथ-पग इत्यादि लक्षणयुक्त हो वह चौथा. उससे विपरीत पाँचवाँ और इन सबसे लक्षणरहित जो है वह है छठा । गर्भज नर-तिर्यचोंको छः संस्थानवाले, देवोंको समचतुरस्र और शेष जीवोंको हुंडक संस्थानवाले समझे । ॥ १६३-१६५ ॥

विशेषार्थ—संतिष्ठन्ते प्राणिनोऽनेन आकार विशेषेणेति संस्थानं अर्थात् जिस आकार विशेषसे प्राणी अच्छी तरह रह सकते हैं उसे संस्थान कहते हैं । उन संस्थानोंके छः प्रकार हैं, समचतुरस्र, न्यग्रोध, सादि, वामन, कुब्ज और हुंडक ।

१. समचतुरस्र—जिनके अंग सुलक्षणोपेत हों उन्हें समचतुरस्र संस्थानी कहते हैं अर्थात् पद्मासन पर (तथा पर्यकासनपर) बैठे हुए पुरुषके चारों कोण विभाग समान मानवाले हों यह, अर्थात् दाहिने (दक्षिण) घुटनसे बाँये काँध (कन्या) तक, बाँये घुटनसे दाहिने काँध तक, दो पैरोंके बीच (कलाईसे लेकर)से नासिका तक और बाँये घुटनसे दाहिने घुटन तक (ये चारों भाग हरेक ओरसे समान मानवाले—नापवाले होने चाहिए) ।

२. न्यग्रोध—यह वटवृक्षका नाम है, अर्थात् जो शरीर नाभिसे ऊपर सभी ओरसे सुलक्षणयुक्त सुशोभित हो और नीचे वटवृक्षकी तरह लक्षणरहित हो वह न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान है ।

३. सादि—न्यग्रोधसे विपरीत अर्थात् नाभिके साथ-साथ नीचेके अंग अच्छे लक्षणयुक्त और नाभिसे उपरके अंग कुलक्षणयुक्त-कुरूप हो (शाल्मली वृक्षवत्) वह ।

४. वामन—पीछेकी पीठ-पृष्ठ, उदर तथा छाती इन तीनोंको छोड़कर शेष शिर, कण्ठ, हाथ, पैर इत्यादि अंग यथार्थ लक्षणयुक्त हों वह ।

५. कुब्ज—वामनसे उल्टा अर्थात् शिर, कण्ठ, हाथ, पग ये सभी लक्षणहीन हों और शेष अवयव लक्षणयुक्त हों वह ।

६. हुण्डक—जिसके सभी अंग-अवयव लक्षणरहित हों वह, ये छः ही संस्थान गर्भजमनुष्य तथा तिर्यचोंमें (विभिन्न जीवोंकी अपेक्षासे) हो सकते हैं ।

देव हमेशा ^{३१४} भवधारणीय अपेक्षासे समचतुरस्र संस्थानवाले (चारों ओरसे समान विस्तारवाले सुलक्षणित) होते हैं, शेष रहे हुए नारक ^{३१५} एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौरिन्द्रिय, संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय, मनुष्य, ^{३१६} तिर्यंच इन सभीको हुण्डक संस्थानवाले जानें-समझें । १६३-१६५]

॥ किस जीवका कौन-सा संस्थान हों ? उसका यन्त्र ॥

जातिनाम	सं. सं.	नाम	सं. सं.
गर्भज मनुष्य	६	विकलेन्द्रियका	हुण्डक
गर्भज तिर्यंच	६	नारकीका	,,
देवोंको	प्रथम	एकेन्द्रियका	,,

॥ इति देवानामष्टमं गतिद्वारम् ॥

*

*

*

॥ देवोंका नवाँ 'आगति' द्वार ॥

अवतरण—हम इसके पूर्व देवोंका गतिद्वार बता चुके हैं । अब दो गाथाओंसे देवोंके नीचे आगतिद्वार—वे देव स्वस्थान (अपने स्थानसे) च्यवकर कहाँ आते हैं ? (अथवा कहाँ जाते हैं ?) उसे बताते हैं ।

जंति सुरा संखाउय—गन्भयपज्जत्तमणुअतिरिएसुं ।

पज्जत्तेसु य वादर—भूदगपत्तेयगवणेसु ॥ १६६ ॥

तत्थवि सणंकुमार—प्पभिई एगिंदिएसुं नो जंति ।

आणयपमुहा चविउं, मणुएसुं चेष गच्छंति ॥ १६७ ॥

गाथार्थ—सामान्य लोगोंसे बढ़कर देवगण संख्याता वर्ष उम्रवाला होता है जो पर्याप्ता

३१४. लेकिन उत्तरवैक्रियकी अपेक्षासे ये छः संस्थान हो सकते हैं ।

३१५. एकेन्द्रिय जीवोंमें धरती (पृथ्वी), अग्नि, तेज, वायुके मसुरचन्द, बुलबुल, सूई, पताकादि आकारोंको हुण्डकके भेद समान हम मान सकते हैं ।

३१६. कर्मप्रत्यकार छः संस्थान कहते हैं ।

ऐसे मनुष्य-तिर्यच तथा पर्याप्ता बादर ऐसे पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पतिकायमें जाता है ॥ १६६ ॥

उनमें भी सनत्कुमारसे लेकर सहस्रार देवलोक तकके देव एकेन्द्रियमें जाते नहीं हैं और आनत प्रमुख उपरितन (ऊपर ऊपरके) कल्पका देव च्यवकर निदिचत रूपमें मनुष्य-लोकमें ही जाते हैं ॥ १६७ ॥

विशेषार्थ—गाथार्थवत् सुगम है। देव मृत्यु पाकर कहाँ कहाँ जाते हैं? उसका जो नियमन स्थान है उसे आगतिद्वार कहते हैं। अधिकमें देव सूक्ष्म पृथ्वी, पानी, सूक्ष्म बादर साधारण वनस्पति, अपर्याप्त बादर पृथ्वी, अप्काय, प्रत्येक वनस्पतिमें, अग्नि, वायु, विकलेन्द्रिय, असंख्य आयुष्यवाले और संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच-मनुष्यमें तथा देव और नरकमें उपजते (जनमते) नहीं हैं। सनत्कुमारसे उपरि-उपरि देवोंका पुण्य बढ़ता होनेसे क्रमशः वे देव च्यवकर निम्न गतिमें जाते नहीं हैं। [१६६-१६७]

॥ आगति द्वार पर चारों निकायके देवोंका यन्त्र ॥

भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिषी सौधर्म ईशानवर्ती देव	पर्याप्त ग. मनुष्य-तिर्यच, पर्याप्त बादर पृथ्वी-अप्-प्रत्येक वनस्पतिमें जाते हैं।
सनत्कुमारसे लेकर सहस्रार तकके देव	संख्याता आयुष्यवान् पर्याप्ता गर्भज मनुष्य-तिर्यचमें ही जाता है।
आनतादिसे लेकर अनुत्तर तकके देव	निश्चय संख्याता आयुष्यवाले गर्भज मनुष्यमें ही जाते हैं।

॥ इति नवमागति द्वारम् ॥

॥ वैमानिकनिकायके लिए प्रकीर्णकाधिकार ॥

अवतरण—प्रस्तुत आगतिद्वारमें प्रकीर्णकाधिकार कहा जायेगा। इसमें प्रथम देवोंके विभिन्न प्रकारके मैथुन सम्बन्धी विषयसुखकी चर्चा-व्याख्या करते हुए जिन देवोंका देवियोंके साथ जिस प्रकारसे उपभोग है उसे बतायेंगे।

दो कप्प कायसेवी, दो दो दो फरिसरूवसदेहिं ।

—चउरो मणेषुवरिमा, अप्पवियारा अणंतसुहा ॥ १६८ ॥

गाथार्थ—प्रारम्भके दो देवलोक मनुष्यवत् शरीर धारण करके सेवा करनेवाले, उनके बादके दो-दो कल्पगत देव क्रमशः स्पर्श-रूप-शब्दसे, उनके बाद चार कल्पगत देव

मनसे विषयसुखका अनुभव करते हैं और उनके बादके उपरि सर्व कल्पदेव अप्रविचारी (अविषयी) हैं ॥ १६८ ॥

विशेषार्थ—विषयसेवन पांच प्रकारसे होता है। संपूर्ण काय (तन) सेवी, स्पर्श सेवी, रूप सेवी, शब्द सेवी और कुछ लोग मनःसेवी भी होते हैं। सभी देव विषयका सेवन करते हैं या विषयासक्त होते हैं ऐसा नहीं है। कितनेक देव अविषयी भी हैं। इनमें भी ऊपर बताये गए एक या एकसे अधिक प्रकारके सेवन करनेवाले भी होते हैं। मोहदशाका संक्लेश ज्यों ज्यों कम, त्यों त्यों तद्विषयक इच्छामें कमी भी होती है। मोहदशामें जितनी प्रबल उपशान्त स्थिति होती है उतनी ही चित्तमें स्वस्थता और शांति भी होती है। अतः वहाँ भोगेच्छाका अत्यन्त अभाव होता है, यह बात उपरोक्त गाथामें बतायी गई है। उसका विशेष अर्थ निम्नानुसार है।

यहाँ 'दो कल्प' यह शब्द मर्यादा सूचक होनेसे भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और सौधर्म-ईशान कल्प तकके सभी देव कायप्रविचारक हैं। प्रविचारक अर्थात् विषय सेवना अथवा कि संक्लिष्ट पुरुषवेद उदयकर्मके प्रभावसे मनुष्योंकी तरह इन्द्रादिक देव मैथुन सुखमें प्रकर्ष (उत्तमता, अधिक) रूपसे लीन होकर सर्व अंगसे-कायाके स्पर्शसे उत्पन्न होनेवाली सुख-प्रीतिको पाते हैं। ज्यों कोई पुरुष स्त्रीके साथ सर्वांगसे विषयसुख भोगता है, उसी प्रकार प्रस्तुत देव भी कायसेवी होनेसे उत्तमोत्तम शृंगार चेष्टाओंको धारण करनेवाली देवियोंके साथ भोग सुखमें लीन बनते हैं। ये देव अपने मनमें जब भी जिन जिन देवियोंके साथ उपभोगकी इच्छा करते हैं कि तुरन्त ही वे देवियाँ उनकी इच्छाको सुनकर या ज्ञानके द्वारा या तथाविध (उस प्रकारका) प्रेम पुद्गलके परस्पर संक्रमणके माध्यमसे जानकर, उन्हीं देवोंके विषयसुखको तृप्त करनेके लिए दिव्य तथा उदार शृंगारयुक्त ऐसे मनोज्ञ प्रतिक्षण प्रेमोद्भव करनेवाले, अनेक उत्तरवैक्रिय आदि रूपोंको विकुर्वणकर (इच्छानुसार रूप धारण करके) देवोंके समीप आती हैं। उसी समय देव भी इच्छानुसार रूपोंको धारण करके तुरन्त ही अप्सराओंके साथ सर्वालंकारविभूषित उत्तम सभागृहमें दिव्य शय्या पर संक्लिष्ट पुरुषवेदके उदयसे मनुष्यकी तरह सर्वांगयुक्त कायक्लेश—दमनपूर्वक प्रत्यंगसे आलिंगन करके मैथुनसेवन करते हैं। उसी समय देवीके शरीरके पुद्गल देव शरीरका स्पर्श करते हैं तथा देवके शरीरके पुद्गल देवीका स्पर्श करते हैं। इस तरह परस्पर संक्रमण करते करते वे मनुष्यके विषय सुखसे अधिक अनन्तगुण सुखानन्दको प्राप्त करते हैं जिससे वे तृप्त होते हैं अर्थात् कामामिलापसे निवृत्त बनते हैं क्योंकि मनुष्यकी तरह देवका भी वैक्रियशरीरी देवीकी योनिमें वैक्रियस्वरूप शुक्र (वीर्य) पुद्गलोंका संचार होता है, अतः उनकी तत्काल वेदोपशांति भी हो जाती है।

लेकिन ये शुक्र पुद्गल वैक्रिय होनेसे वैक्रिय योनिमें जाते ही गर्भाधानका^{३१७} कारणरूप बनते नहीं हैं, परन्तु इससे देवीके रूप-लावण्य-सौंदर्य-सौभाग्यादि गुणोंकी वृद्धि होती है।

सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्पके देव स्पर्शप्रविचारक अर्थात् उन्हें तथाविध कर्मके उदयसे कायसेवन करनेकी इच्छा होती ही नहीं है, परन्तु उनकी विषय-वासना जागृत होते ही वे विषयासक्त बनते हैं, तब नीचेके दो कल्पोंकी देवियाँ उनकी इच्छाको तथा इसे अपने प्रतिका आदरभाव समझकर उनके पास पहुँच जाती हैं और तुरन्त ही वे इन देवियोंके हस्त, भुजा, वक्षःस्थल, जंघा, बाहु, कपोल, वदन, चुम्बन इत्यादि गात्रके संस्पर्श मात्रसे ही विषयसुखका आनन्द पाते हैं।

यहाँ शंका होती है कि—कायप्रविचारमें तो परस्पर शुक्र पुद्गल-संक्रमण तो परस्पर आलिंगनपूर्वक सेवन करनेसे बनता है; परन्तु स्पर्श-रूप-शब्द-मनःप्रविचारमें शुक्र पुद्गल-संक्रमण होता है या नहीं? इस शंकाके समाधानमें यह बतानेका है कि—वह क्रिया अवश्य होती है, स्पर्शादि विषयमें वैक्रिय शुक्र पुद्गलोंका संक्रमण दिव्य प्रभावसे जरूर होता है।

दूसरी यह शंका भी होती है कि—सौधर्म और ईशान देवोंकी अपने इस्त्रियारकी देवांगनाएँ क्या उनसे उपरि कल्पमें स्थित देवोंसे स्पर्शादि द्वारा मैथुनाभि लाषको तृप्त करनेके लिए जा सकती हैं क्या? तो इस शंकाके सम्बन्धमें यह कहना है कि—अपने-अपने इस्त्रियारकी देवांगनाएँ वहाँ जाती नहीं हैं। क्योंकि उन्हें परिगृहीता मानी जाती है। लेकिन मनुष्यलोककी गणिका समान देवियाँ प्रारम्भके दो देवलोकमें भी होती ही हैं। इन्हें अपरिगृहीता कहा जाता है और ये देवियाँ मैथुनाभिलाषी देवोंकी विषय-वासनाको ज्ञानसे जानकर अपनी ओर आकर्षित बने हुए देवोंकी ओर दौड़ जाती हैं। इसकी विशेष व्याख्या १७२ से १७५ तककी गाथाओंमें की जायेगी।

ब्रह्म-लांतक कल्पके देव रूपप्रविचारक हैं, अर्थात् उन्हें विषयकी इच्छा होते ही देवियाँ अपने शृंगारयुक्त रूपको उत्तर वैक्रिय शरीर रूपमें परिवर्तित करके उन अभिलाषी देवोंके पास आती हैं तब ये देव उन देवियोंके साथ परस्पर क्रीड़ायुक्त उनके वदन तथा उनके उदरादि अंगोपांगका अनिमेष रसपान (निरीक्षण) करते, परस्पर प्रेम दिखाते हैं, साथ

३१७. देवोंका शरीर वैक्रिय होनेसे देव-देवीके सम्बन्धमें गर्भका प्रसंग आता ही नहीं है। किसी जन्मान्तरीय रगादिके कारण किसी मानुषीके साथ देवका सम्बन्ध हो तो उसी संबन्ध मात्रसे गर्भाधान रहनेका संभव नहीं है क्योंकि वैक्रिय शरीरमें शुक्रपुद्गलोंका अभाव होता है। किसी दिव्य शक्ति-विशेषसे औदारिक जातिके शुक्रपुद्गलोंका प्रवेश हो और गर्भ रहे यह अन्य बात है।

ही अनेक प्रकारसे चेष्टायुक्त उस देवीका सुन्दर, मनोवेधक, कामोद्दीपक मोहकरूप देखकर देवीके शरीरमें शुक्र संचय तथा कामलासाकी तृप्तिका अनुभव करते हुए अत्यधिक सुखको प्राप्त करके वेदोपशान्तिको पाते हैं ।

महाशुक्र-सहस्रार कल्पके देव शब्दप्रविचारक होते हैं अर्थात् उन देवोंको विषयकी इच्छा होते ही पूर्वोक्त रीति अनुसार सुन्दर वैक्रिय रूप धारण करके इच्छित देवियोंके पास आकर सबके मनको आनन्द देनेवाले अत्यन्त मोहक और कामोत्तेजक मधुर गीत एवं हास्य-विकारयुक्त वचन बोलते हैं । नूपुरकी कर्णप्रिय ध्वनि समान वाणी विलासके शब्दोंसे ये देव विषयसुखकी वासना तृप्ति अनुभवते हैं । इसी समय पर देवीके शरीरमें दिव्य प्रभावके कारण शुक्र संक्रमण^{३१८} हो जाता है ।

आनत-प्राणत-आरण-अच्युत कल्पके देव मनःप्रविचारी अर्थात् मनसे चिंतन मात्रसे विषयसुखकी इच्छाको तृप्त करनेवाले हैं । सौधर्म-ईशान^{३१९} कल्पवती अद्भुत शृङ्गारयुक्त वे देवियाँ स्व-स्वस्थानमें रहकर, अपने सुन्दर स्तनादि अवयवोंको ऊपर-नीचे हिलाती, अंगभंग करती, चेष्टाएँ दर्शाती, परम सन्तोषदायी अभिनयकला इत्यादि करती हैं तब उन देवियोंको अपने मनःचक्षुसे देखकर आनतादि प्रमुख देव तृप्त होकर परम वेदोपशान्ति पाते हैं ।

प्रश्न—जिस प्रकार देवोंको काम तृप्तिसे सन्तोष मिलता है, उस समय उन देवियोंको भी वैसा अनुभव मिलता है क्या ?

उत्तर—जब देव अपनी कायासे सर्वांश रूपमें या अंश रूपमें रूपदर्शन या शब्दादि श्रवणसे विषयोंको भोगते हैं, तब देवियोंको भी वैसी ही तृप्ति मिलती है । कायासे तो स्पष्ट समझमें आता है परन्तु रूप-दर्शनादि सर्व प्रसंगपर देवियाँ देवोंके इन्हीं दिव्यरूप, कान्ति और प्रेम-स्नेहोत्कर्षसे कामातुर बनती है और उसी समय दिव्य प्रभावसे देवीकी योनिमें शुक्र पुद्गलका संक्रमण जरूर हो जाता है और इससे वे समकालपर अवश्य तृप्त बनती हैं । ये पुद्गल वैक्रिय होनेसे और वे वैक्रिय शरीरमें ही प्रवेश करते होनेसे गर्भाधानके हेतुरूप बनते नहीं हैं, परन्तु उस देवीके लिए तो ये पञ्चेन्द्रियका पोषकरूप होनेसे कान्तिवर्धक, मनोज्ञ, सुलभ और अभीष्ट बनते हैं । उसके बाद नौ प्रवैयक, अनुत्तरवासी देव अप्रविचारी अर्थात् अत्यंत मन्द पुरुष वेदके उदयवाले होनेसे तथा प्रथमसुखमें तल्लीन होनेसे उन्हें कायासे, स्पर्शनादिसे किसी भी रीतिसे यावत् मनसे भी स्त्री सुख

३१८. यह हकीकत एक महत्वका सूचन कर जाती है कि बिना स्पर्श करे दूरसे भी शुक्र पुद्गलोंका संक्रमण स्त्रीके शरीरमें हो सकता है । आयुर्वेद तथा आजका विज्ञान इस बातका अनुमोदन देता है ।

३१९. क्योंकि क्षीणकामी अच्युतान्त देव देवियोंसे स्पर्श करते नहीं हैं, यह नियम देवी-सम्बन्धी ही समझे, परन्तु वे किसी पूर्वभवके स्नेहवाली मनुष्य स्त्रीके साथ कदाचित् कर्म-वैचित्र्यसे लिपट जा सकते हैं ।

भोगनेकी इच्छा होती नहीं है, फिर भी वे विषयी देवोंसे अधिक संतुष्ट, अधिक शान्त तथा अधिक आनन्दमें रहते हैं। क्योंकि ज्यों ज्यों कामेच्छा प्रबल त्यों त्यों चित्तकी अस्वस्थता एवं अशांति अधिक। जितनी इच्छा कम उतना चित्त क्लेश भी कम और विषयेच्छाके सद्न्तर अभावका आनन्द तो कोई अद्भुत होता है। और इससे वहाँ विषय तृप्तिके साधन भी बहुत कम हैं। अतः नीचेके देवोंसे ऊपरि-ऊपरि देवोंका सुख अधिक माना गया है। यहाँ पर दूसरी शंका यह भी उद्भवेगी कि—जो देव तद्न अप्रविचारी हैं उन्हें ब्रह्मचारी माने क्या? तो इसका उत्तर यह है कि नहीं, क्योंकि जहाँ तक किसी एक चीजका हृदयसे-इच्छापूर्वक त्याग न किया हो तब उस चीजका उपयोग होता हो या न होता हो तो भी वे ब्रह्मचारी नहीं हैं और उसका फल भी उन्हें मिलता नहीं है। जब कि देवोंको तो अपने देवभवके कारण ही विरति—त्यागपरिणाम नीकलता ही नहीं है, इससे उन्हें ब्रह्मचारी कहाँसे कहे जाएँ? ना ही कहे जाएँ।

इसलिए हरेक जीवोंको ज्यादा नहीं तो बिनजरूरी पापवृत्तियोंका त्याग-नियम करके अनावश्यक अविरतिजन्य पापोंसे बचनेको प्रयत्नशील रहना चाहिए। [१६८]

॥ किस किस देवका, किस तरह देवियोंके साथ उपभोग है? उसका यन्त्र ॥

निकाय नाम	भोग विषय	कल्पनाम	भोगविषय प्रकार
भवनपति	मनुष्यवत्	शुक्र-सहस्रारके	गीतादिक
व्यन्तर	कायभोगी		शब्दसेवी
ज्योतिषी देव	„	आनत-प्राणतके	मनसे देवी
सौधर्म-ईशानके	„	आरण अच्युतके	विषयसेवी
सनत्कुमार	स्तनादिक-	नौ प्रवेयकके	„
माहेन्द्रके	स्पर्शसेवी		अविषयी,
ब्रह्म-लांतकके	गृह्णारूप सेवी	पाँच अनुत्तरके	अनन्तसुखी
			„

अवतरण—समग्र लोकके तथा गतगाथामें कथित देवोंके विषयसुख और वीतरागी आत्माओंके सुखके बीचका तारतम्य (सम्बन्ध) अब जणाते हैं।

जं च कामसुहं लोए, जं च दिव्वं महासुहं ।

वीरारायसुहस्सेअ—णंतभांगंपि नग्गई ॥ १६९ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १६९ ॥

विशेषार्थ—समग्र लोकके जो काम-सुख हैं, और जो दिव्य (देवलोकदि सम्बन्धी)

महासुख है वे सभी सुख महालोभरूप राग जिनका सर्वथा नष्ट हो गया हो वैसे वीतरागी आत्माके प्रथमसुखके अनन्तवें भाग पर भी मिलते नहीं है, अर्थात् पौद्गलिक सुखोंसे वीतरागत्वजन्य सुख अनन्तगुना होता है। उन्हें माया-लोभरूप कहनेका कारण इतना ही है कि ये रागके घरके हैं अतः वह द्वेषीभूत क्रोध, मानका प्रथम क्षय होनेके बाद क्षय पाता है। और इससे ही 'वीतराग' कहने-बोलने पर वीतद्वेषपन इसके अंतर्गत समा ही जाता है। पश्चात्के क्षयमें पूर्वका क्षय निश्चित होता ही है।

प्रश्न—वीतराग शब्दकी विशेष व्याख्या समझाइए।

उत्तर—आध्यात्मिक विकास-उन्नति हेतु आत्माकी चौदह भूमिकाएँ जैनदर्शनमें बतायी हुई हैं। उन भूमिकाओंको 'गुणस्थानक' शब्दसे पहचानवायी जाती है। इनमें पहली भूमिका अत्यन्त निकृष्ट है, जबकि चौदहवीं अति उत्तम है। वर्तमान समयमें विकासशील आत्मा अधिकतर छः भूमिका तक ही पहुँच सकती है। ज्यादासे ज्यादा कदाचित् सातवीं भूमिकाका क्वचित् किंचित् लाभ पा सकती है। लेकिन इसके आगेके सोपान पर नहीं पहुँच सकती है। क्योंकि वर्तमान समयमें आत्मा वैसी योग्यता पा ही नहीं सकती है। अब भूतकालमें या भविष्यमें जो आत्मा वीतराग स्थितिको प्राप्त करनेवाली होती है। वह स्वपुरुषार्थसे उत्कृष्ट संयम-तपके बलपर सातवीं गुणभूमिकासे आगे बढ़ता हुआ नौवीं भूमिकामें चार कषायोंमेंसे प्रथम क्रोध-मानरूप द्वेष काषायिक फलोंका सर्वथा नाश करके, जब दसवीं भूमिका पर पहुँचती है तब उसी भूमिकाके अन्तमें माया, लोभ स्वरूप राग काषायिक परिणामोंका (क्षपकश्रेणी द्वारा) सर्वथा नाश करती है। बारहवें गुणस्थानक पर सम्पूर्ण वीतराग अवस्था प्राप्त होते ही शीघ्र ही वह आत्मा सर्वज्ञत्वको अथवा केवलज्ञान-दर्शनको तेरहवीं गुणस्थानक-भूमिका पर पहुँचनेके साथ ही प्राप्त करती है और चौदहवीं भूमिका पर पहुँचते ही निर्वाण-मोक्षकी स्थितिको पाती है।

प्रत्येक आत्मा प्रबल पुरुषार्थ द्वारा मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति आदि दोषोंका क्षय करके, तेरहवीं उच्चतर भूमिका पर पहुँचकर, केवलज्ञान प्राप्त करके, विश्वका कल्याण करनेके हेतु चौदहवीं उच्चतम भूमिका पर आरूढ होकर निर्वाणपद पाओ ! सर्वके जीवनका और हमारी संस्कृतिका यह ही अन्तिम ध्येय है। [१६९]

अवतरण—अब विषय सुखके उपभोगार्थरूप गमन करनेवाली देवियोंकी गमनागमनकी मर्यादा यहाँ पर बताते हैं। अतः उनका उत्पत्तिस्थान भी आ जाता है।

उववाओ देवीणं, कप्पदुगं जा परो सहस्सारा ।

गमणाऽऽगमणं नत्थि, अच्चुअपरओ सुराणांपि ॥ १७० ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १७० ॥

विशेषार्थ—अब देवियोंकी उपज (उत्पत्ति) भवनपतिसे लेकर सौधर्म-ईशान ये दोनों देवलोक तक ही है। इसलिए उन सभी देवोंको भी देवियोंके साथ सप्रविचारी (सविषयी) कहे जाते हैं। दो देवलोकसे उपरि देवलोकमें उनकी उत्पत्ति नहीं होती है, अतः वे सभी देव अपनी स्वदेवियोंसे रहित माने जाते हैं। लेकिन आठवें सहस्रार कल्प तक तो देवियोंका आना-जाना रहता होनेसे (और अच्युतान्त तक प्रविचारपन रहता होनेसे) वे सभी देवोंको सप्रविचारी-सविषयी जानें।

सहस्रारसे उपरि हिस्सोंमें देवियोंका गमनागमन नहीं है। सिर्फ अच्युतान्त तक ही देवोंका गमनागमन होता है। और अच्युतान्तसे ऊपर तो देवोंका भी गमनागमन नहीं रहता है। क्योंकि नीचे रहनेवालोंमें अधिक ऊपर जानेकी शक्ति नहीं है और उपरि लोगोंमें शक्ति-सामर्थ्य होते हुए भी नीचे आनेका प्रयोजन नहीं है। नौ प्रवेयक तथा अनुत्तरवासी देव अप्रविचारी है। वहाँ रहते हुए वे जिनेश्वरके कल्याणक आदि प्रसंग पर नमस्कार करते हैं, परन्तु (कल्पातीत) आचार रहित होनेसे कल्याणक आदिके किसी भी प्रसंग पर यहाँ आते नहीं हैं। सिर्फ अल्पकषायी उत्तम कोटिके उन देवोंको तान्त्रिकादि विचारणामें जब शंका उत्पन्न होती है, तब उसका समाधान अवधिज्ञान द्वारा ग्रहण किए हुए भगवानसे इन्हीं (उत्तर रूप) मनोद्रव्योंको साक्षात् देखकर ' ऐसे द्रव्योंका आकार यह ही उत्तर स्वरूप है ' ऐसा समझकर समाधान कर लेते हैं। अतः उन्हें यहाँ आनेका कोई प्रयोजन नहीं है और इसलिए हमारी अपेक्षा वे अधिक (अनन्त) सुखी हैं। [१७०]

अवतरण—अब देवलोकवर्ती किल्बिषिक तथा आभियोगिक देवोंका आयुष्य तथा स्थानक बताते हैं।

तिपलित्र तिसार तेरस,—सारा कप्पदुग-तइअ-लंत अहो ।

किन्बिसिअ न हुंतुवरिं, अच्चुअपरओऽभिओगाई ॥ १७१ ॥

गाथार्थ—प्रारम्भके दो देवलोकके अधः स्थान पर तीन पत्योपमकी, तीसरे सनत्कुमार कल्पके नीचे तीन सागरोपमकी तथा छट्ठवें लांतक कल्पके अधो भाग पर तेरह सागरोपमकी आयुष्यवाले किल्बिषिया देव बसते हैं। लांतकसे ऊपरके कल्पोंमें किल्बिषिया देव नहीं हैं और अच्युतसे ऊपर तो आभियोगिकादिक देव भी नहीं हैं। ॥ १७१ ॥

विशेषार्थ—किल्बिषिक देव अशुभ कर्म करनेवाले होनेसे करीब चण्डाल^{३२०} जैसे हैं।

३२०. देवोंमें भी अधम जातिके देव हैं जो अस्पृश्य माने जाते हैं। वहाँ भी अनादिकालसे स्पर्शास्पृश्यकी व्यवस्था है तो फिर मनुष्यलोकमें हो उसमें कौन-सा अचरज ? ऐसी सिद्ध व्यवस्थाका सर्वांश रूपमें नाश करनेके भगीरथ प्रयत्न हो रहे हैं, फिर भी वैसे प्रयत्नोंमें कायमके लिए सफलता प्राप्त नहीं होगी। क्योंकि कर्मका सिद्धांत अचल होता है। और एक बात यह भी याद रहे कि अस्पृश्य देवोंका निवास

चण्डाल जैसा कार्य करनेवाली यह देव जाति अपने कुकर्मके उदयसे दैवीरूप पाकर भी कुकर्म करनेकी अवस्थाको प्राप्त होते हैं तथा उत्तम देवोंके स्थानसे भी कई दूर रहनेके अधिकारी बने हैं। इनके तीन प्रकार हैं, जिनमें सौधर्म और ईशानके अधोभाग पर (अर्थात् ज्योतिषी और वैमानिक निकायके बीच) तीन पल्योपमकी आयुष्यवाले ये किल्बिषिक बसते हैं। तीसरे सनत्कुमारके अधोभाग पर तीन सागरोपमकी आयुष्यवाले और लांतक कल्पके अधोभाग पर तेरह सागरोपमकी आयुष्यवाले किल्बिषिक बसते हैं। ये तीन ही उनके उत्पत्ति स्थान हैं। अर्हन् भगवन्तकी आशातनासे (विराधना-अवज्ञासे) जमाली (एक साधु) की तरह पूर्वभ्रममें देव-गुरु-धर्मकी निंदा करनेसे, धर्मके कार्योंको देखकर जलन करनेसे उत्पन्न अशुभ कर्मके उदयसे ये अधर्म कार्यकर्ता किल्बिषियादेवके रूपमें उत्पन्न होते हैं। यहाँ उन सभी कल्पके अधोस्थान पर किल्बिषिया हैं। अब यह अधः शब्द प्रथम प्रस्तरवाची नहीं है, क्योंकि उस-उस कल्पकी प्रथम प्रस्तरकी स्थितिके साथ इन देवोंकी उक्त स्थितिका मेलजोल (सम्बन्ध) ठीक नहीं बैठता। इसके अलावा अन्य विमान पर तो उनकी अधम स्थितिके कारण अस्तित्व सम्भवित भी नहीं है। यहाँ अधः शब्द तत्स्थानक्याची जानें, अर्थात् उस प्रत्येक देवलोकमें साथ-साथ नहीं लेकिन नीचे-दूर निवास हैं। ये किल्बिषिकोंका जनम तो लांतकसे ऊपर तो होता ही नहीं हैं। सिर्फ अच्युतान्त तक दूसरे आभियोगिक आदि (आभियोगिक अर्थात् दास-सेवक योग्य कार्य बजानेवाले तथा ' आदि ' शब्दसे सामानिकादि प्रकीर्णक) देवोंका जनम होता है। इससे आगे उनकी उत्पत्ति नहीं है, क्योंकि प्रैवेयक-अनुत्तर देवोंमें अहमिद्रपन होनेसे उनमें उनकी कोई आवश्यकता भी नहीं है। अतः वहाँ छोटे-बड़े भेदोंका अस्तित्व ही नहीं है सभी एक-सी समानता भुगतते हैं। [१७१]

॥ वैमानिकमें किल्बिषिकोंका उत्पत्तिस्थान तथा आयुष्य यन्त्र ॥

सौधर्म-ईशानके तल पर	तीन पल्योपमायुषी	किल्बिषिया देव हैं
सनत्कुमारके तल पर	तीन सागरोपमायुषी	”
लांतक कल्पके तल पर	तेरह सागरोपमायुषी	”

अवतरण—अब सौधर्म-ईशान कल्पमें अपरिप्रीता देवियोंकी विमान संख्याको जणाते हुए जिस-जिस आयुष्यकी देवियाँ जिस-जिस देवोंके उपभोगके लिए होती हैं, उस प्रसंगको बताते हैं।

(आवास) देवलोकमें भी सचके साथ नहीं है, लेकिन स्वस्थानसे अलग है साथ ही देवलोकसे दूर और अधो भाग पर है।

अपरिग्रहदेवीणं, विमाण लक्खा छ हुंति सोहम्मे ।
 पलियाई समयहिय, ठिइ जासिं जाव दस पलिआ ॥ १७२ ॥
 ताओ सणकुमाग-णेवं बड्ढंति पलियदसगेहिं ।
 जा बंभ-सुक-आणय-आरण देवाण पन्नासा ॥ १७३ ॥
 ईसाणे चउलक्खा, साहिय पलियाइ समयअहिय ठिई ।
 जा पनर पलिय जासिं, ताओ माहिंददेवाणं ॥ १७४ ॥
 एण कमेण भवे, समयहियपलियदसगवुड्ढीए ।
 लंत-सहसार-पाणय-अच्चुयदेवाण पणपन्ना ॥ १७५ ॥

गाथार्थ—सौधर्मदेवलोकमें अपरिग्रहीता देवियोंके छः लाख विमान हैं। साथ ही एक पल्योपमकी आदिसे समय समय अधिक करते करते यावत् जिनकी स्थिति दस पल्योपम (वहाँ तककी भिन्न-भिन्न आयुष्यवाली) होती हैं वे देवियाँ सनत्कुमार देवलोकमें उपभोगार्थके लिए जाती हैं। लेकिन आगेके कल्पोंके लिए वे जाती नहीं हैं। साथ ही उसी प्रकार दस पल्योपमसे आरम्भ करके समयादिककी वृद्धिसे दस-दस पल्योपम प्रक्षेप करके सोचनेसे अर्थात् यावत् कुल २० पल्योपम आयुष्य तककी देवियाँ ब्रह्म देवलोक भोग्य जानें। उसी प्रकार यावत् ३० पल्योपमायुषी देवियाँ शुक्र देवलोक भोग्य, ४० पल्योपमायुषी देवियाँ आनत देवोंके भोग्य और ५० पल्योपमायुषी देवियाँ आरण देव भोग्य जानें।

अब ईशानकल्पमें अपरिग्रहीता देवियोंके चार लाख विमान हैं। इनमें जिन देवियोंकी साधिक पल्योपमायुष्यकी स्थिति है वे तो ईशानदेवके भोगरूप हैं। और इनके आगे समयादिककी वृद्धिसे यावत् १५ पल्योपमायुषी देवियाँ माहेन्द्रदेव भोग्य, २५ पल्योपमवाली लांतकके, ३५ पल्योपमवाली सहस्रारके, ४५ पल्योपमवाली प्राणतके तथा ५५ पल्योपमायुषी अच्युतकल्पके देवोंके भोग्य ही होती हैं। [१७२-१७५]

विशेषार्थ—अपरिग्रहीता अर्थात् धृतीके रूपमें जिसका ग्रहण होता नहीं है वैसी। इन देवियोंकी उत्पत्ति सौधर्म और ईशान दोनों कल्पमें ही है। इनमें सौधर्म देवलोकमें अपरिग्रहीतादेवीके उत्पत्तिस्थानभूत छः लाख विमान हैं। उन विमानोंके लिए जिन देवियोंकी परिपूर्ण एक पल्योपमकी स्थिति है उन्हें सौधर्म देवोंके भोग्य ही जानें। जिनकी पल्योपमसे लेकर एक, दो, तीन संख्याता असंख्याता समयसे अधिक करते हुए पूर्ण दस पल्योपम स्थिति तककी है वे सब देवियाँ सनत्कुमार देवोंके भोग्य जानें। अतः वे उनसे आगेके आयुष्यवाले देवोंको चाहती नहीं हैं। इस प्रकार दस पल्योपममें एक, दो संख्य-असंख्य समयकी वृद्धि करते यावत् बीस पल्योपमकी स्थिति तककी देवियाँ ब्रह्मकल्पके देवोंके भोग्य

योग्य जानें । इस प्रकार समयादिककी वृद्धिसे यावत् (२०से लेकर) तीस पल्योपम तककी आयुषी देवियाँ शुक्र देवोंके भोग्य जानें । इस प्रकार तीससे लेकर चालीस पल्योपमकी स्थितिवाली देवियाँ (स्वस्थानमें रहकर) आनत देवलोकके देवोंके भोग्य हैं । इस प्रकार (४० पल्योपमसे) समयादिककी वृद्धिसे पचास पल्योपम तककी देवियाँ (स्वस्थानमें रहकर) आरण कल्पके देवोंके भोग्य जानें । इस प्रकार छः कल्पका सम्बन्ध बताया गया है ।

अब ईशान कल्पमें अपरिग्रहीता देवियोंके चार लाख विमान होते हैं । उन विमानोंमें जिन देवियोंकी किञ्चित् अधिक पल्योपमकी स्थिति है वह ईशान कल्पके देवोंका ही भोगरूप होती हैं । पूर्वोक्त क्रमपर समयादिककी वृद्धिसे यावत् पन्द्रह पल्योपमकी स्थिति तककी सर्व देवियाँ माहेन्द्र देवोंके भोग्य, समयादिककी वृद्धिसे दस-दस पल्योपमकी वृद्धि करते हुए अर्थात् पूर्वकी स्थितिमें दसकी वृद्धि करते हुए पच्चीस पल्योपमकी स्थितिवाली देवियाँ लांतक देव भोग्य, पैंतीस पल्योपम तककी देवियाँ सहस्रार देव भोग्य, पैतालीस पल्योपम स्थिति तककी (स्वस्थानमें रहकर) प्राणत देवोंके भोग्य, पचपन पल्योपम स्थिति तककी अच्युत देवोंके भोग्य जानें ।

ये देवियाँ गणिका समान होनेसे तथा वे अपनोंसे ऊपरि देवोंके भोगके लिए आती जाती होनेसे-इन्हीं अपरिग्रहीता देवियोंकी वक्तव्यताका ही सम्भव होता है परन्तु परिग्रहीता (कुलांगना)को होता नहीं है । [१७२-१७५]

॥ देवी आयुष्यमानपर देवभोग्य यन्त्र ॥

आयुष्यमानानुसार	यथायोग्यदेवभोग्य	आयुष्यमानानुसार	यथायोग्यभोग्यत्वं
१ पल्योपमायुषी	सौधर्मदेवोंके भोग्य	साधिक पल्योपमायुषी	ईशानदेवोंके सेव्य
१० " "	सनत्कुमारदेवोंके भोग्य	१५ पल्योपमायुषी	माहेन्द्रदेवोंके सेव्य
२० " "	ब्रह्मकल्पदेवोंके भोग्य	२५ " "	लांतकदेवोंके सेव्य
३० " "	शुक्रदेवोंके भोग्य	३५ " "	सहस्रारदेवोंके सेव्य
४० " "	आनतदेवोंके भोग्य	४५ " "	प्राणतदेवोंके सेव्य
५० " "	आरणदेवोंके भोग्य	५५ " "	अच्युतदेवोंके सेव्य

॥ देवगतिके उपसंहारमें चतुर्निकायाश्रयी प्रकीर्णक-अधिकार ॥

अवतरण—अब पद्मलेश्याके नाम बताकर चार देवलोकमेंसे कौनसे देवलोकमें कौन कौनसी लेश्या हों उन्हें यहाँ पर देद गाथाओंमें बताते हैं ।

क्रिपहा-नीला-काऊ-तेउ-पम्हा य सुकलेसा य ।

भवणवण पढम चउले-स जोइस कप्पदुगे तेऊ ॥ १७६ ॥

कप्पतिय पम्हलेसा, लंताइसु सुकलेस हुंति सुरा ॥ १७६ ॥

गाथार्थ—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो. पद्म और शुक्ल ये छः लेइयाएँ हैं। इनमें भवनपति तथा व्यन्तर देवताओंकी पहली चार लेइयाएँ होती हैं। तीसरे ज्योतिषी निकायमें और चौथे वैमानिक निकायके प्रारम्भिक दो कल्पोंमें एक तेजोलेइया होती है। उसके बादके तीन कल्पोंमें पद्मलेइया और लंताकादि ऊपरके सर्वकल्पोंके देव एक शुक्ल लेइयावाले ही होते हैं। ॥ १७६-१७६ ॥

विशेषार्थ—लेइया अर्थात् क्या? लिइयते—श्लिष्यते जीवः कर्मणा सहाभिरिति लेइयाः। जिसके द्वारा जीव कर्मसे जुड़ जाता है उसे लेइया कहते हैं। उसमें भी जिन कृष्णादि द्रव्योंके साहचर्यसे आत्मामें परिणाम उत्पन्न हो, उन द्रव्योंको द्रव्यलेइया कहा जाता है और इससे उत्पन्न होते परिणामको भावलेइया कहा जाता है। कर्मके स्थितिवन्धमें जिस तरह कषाय मुख्य कारणरूप बनते हैं, उसी प्रकार कर्मके रसबन्धमें लेइयाएँ मुख्य कारणरूप हैं।

गाथार्थमें भवनपति तथा व्यन्तर निकायमें चारों लेइयाएँ बतायी हैं, परन्तु उनमें बसते परमाधामी देव तो सिर्फ एक कृष्णलेइयावाले ही होते हैं।

ज्योतिषी देवोंमें जो तेजोलेइया होती हैं, उससे अतिरिक्त सौधर्ममें आये हुए देव अधिक विशुद्ध होते हैं। इससे भी अधिक ईशानकी विशुद्धि समझे और इसके अलावा सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म कल्पके देव सिर्फ पद्म लेइयावाले (परन्तु उत्तरोत्तर विशुद्ध) और उससे ऊपर लंताकादि त्रैवेयक तथा अनुत्तर आदि देव एक परमशुक्ल लेइयावाले (उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धिसे) जानें-समझे। इन्हीं कारणोंसे ही उन देवोंको अधिक निर्मल एवं उत्तम माने गये हैं।

यह तो द्रव्यलेइयाकी अपेक्षासे-बहुलतासे सामान्य कथन है, अन्यथा हरेक निकायमें भावके परावर्तनको लेकर छः भावलेइयाएँ तो होती ही हैं।

इन लेइयाके भाव ^{३२१} षट्पुरुषयुक्त जम्बूवृक्षके दृष्टांत (मिसाल)से जानने योग्य

३२१. किसी एक समय कोई छः मनुष्य एक अरण्य (वन)में जा पहुँचे। वहाँ वे क्षुधानुर हुए। इतनेमें सामने जामुनका एक पेड़ दिखायी पड़ा। उसे देखकर छःमेंसे एक कहने लगा कि इसी पूरे पेड़को मूल (जड़)से ही काट दें तो सुबसे हम बिना परिश्रम उठाये जामुन खा सकते हैं। यह सुनकर दूसरेने कहा कि ऐसा नहीं, पेड़को काटनेके बजाय हमें जामुनसे काम है तो क्यों न हम उसकी बड़ी-बड़ी शाखाएँ (डालियाँ) काटें? तीसरा बोला, बड़ी-बड़ी शाखाएँ किस लिए? छोटी-छोटी डालियोंसे हमारा काम चल सकता है तो छोटी डालियाँ ही काटें। इनके प्रत्युत्तरमें चौथा पुरुष कहता है कि सभी शाखाओंका नाश

है। प्रत्येक लेश्या अलम्बा-अलम्बा वर्ण तथा रसोंकी उपमायुक्त है। इनमें प्रारम्भकी तीन लेश्याएँ अप्रशस्त, मलिन एवं दुर्गन्धयुक्त हैं। स्पर्शसे ये स्निग्धोष्ण शीत-ऋक्ष हैं अतः वह क्लेश-कषाय कराकर दुर्गति प्रदानरूप बनती है। जबकि अंतिम तीन लेश्याएँ उत्तरोत्तर अत्यन्त सुवासित, प्रशस्त, निर्मल, शुभ स्पर्शी, शान्ति तथा सद्गति करनेवाली हैं। इसके अलम्बा कईबार लेश्याएँ वैदूर्यरत्न या रक्तवस्त्रकी तरह तद्रूप हो जाती है। देव तथा नारकोंकी लेश्याएँ भवान्त तक अवस्थित है। (तदुपरांत उत्पन्न होनेसे पूर्वका तथा च्यवन होनेके बादका ये दो अन्तर्मुहूर्त अधिक समझे।) जो कि अन्य द्रव्यके संसर्गसे अन्य रूप परिवर्तित होता जरूर है, परन्तु जिस प्रकार स्फटिक रत्न अथवा दर्पण धागेसे बँधा हुआ होने पर भी तथा जासुद पुष्पादिकका संसर्ग होने पर भी अपने स्वभावके अथवा मूल रंगको छोड़ता नहीं है, उसी प्रकार देवों तथा नारकोंकी मूल लेश्या कभी भी परिवर्तित होती नहीं है, जब कि तिर्यच मनुष्यकी लेश्या अन्तर्मुहूर्त पर (भी) परिवर्तित होती है। प्रत्येक लेश्याकी जघन्योत्कृष्ट स्थिति देव-नारकोंके जघन्योत्कृष्ट आयुष्यानुसार होनेसे उसी अनुसार स्वयं सोच लेना। [१७६-१७६½]

अवतरण—यहाँ पर पहले चारों निकायाश्रयी लेश्या संख्या बता दी थी। और अब शेष रहे वैमानिक निकायके देवोंके देहका वर्ण आधी गाथासे बताते हैं।

कणगाभपउमकेसर-वण्णा दुसु तिसु उषरि धवला ॥ १७७ ॥

गाथार्थ—प्रारम्भके दो देवलोकमें^{३२२} रक्त-सुवर्णकी कान्ति-छायावाले देव रहते हैं।

क्यों करे ? इसके बजाय जिस पर जामुन है उसी डालको ही क्यों न तोड़े ? तब पाँचवाँ कहता है कि हमें सिर्फ फलोंकी ही इच्छा है तो अच्छे-अच्छे फल ही ले लें। यह सुनकर छट्टेने बड़ी विनम्रतासे कहा कि भाईयों ! ऐसे पापके कुविचार करके नष्ट करनेके बदले यहाँ नीचे ही अच्छे फल गिरे हुए हैं, चलो इन्हें ही खा लें।

इस द्रष्टांतमें पहलका विचार कृष्ण लेश्याके, दूसरे अनुक्रमसे नील, तेजो आदि लेश्याके भाव जानें। पूर्वके पुरुषोंकी अपेक्षा उत्तरोत्तर पुरुषोंके विचार शुभ-शुभतर और शुभतम दिखायी पड़ते हैं। अतः उनमें संक्लेशकी न्यूनता तथा सुकौमलताकी अधिकता देखने मिलती है।

लेश्याओंका विशेष स्वरूप प्रज्ञापना, आवश्यक आदि सूत्र, लोकप्रकाशादिक ग्रन्थ, त्रिगम्बरीय ग्रन्थ, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मतसार, बौद्धग्रन्थ दीधनिकायादिमें है। महाभारत, पातंजल योगदर्शनादिमें भी इनकी अमुक कल्पना मिलती है।

३२२. जीवाभिगमसूत्रकी ध्याख्यासे इस कथनको सोचनेसे यह कथन उसके विरुद्ध जाता दिखायी पड़ता नहीं है, क्योंकि श्री मलयगिरि महाराजने संग्रहणी टीकामें एक दूसरे वर्णके साथ सुमेल करके दोष टाल दिया है।

बादके तीन कल्पमें देवोंका शरीर कमलकेसरके वर्णयुक्त और ऊपरके अन्य सभी देव उज्ज्वल वर्णयुक्त होते हैं । ॥ १७७ ॥

विशेषार्थ—विशेष इतना ही कि कमलकेसर अर्थात् कमलके बीचके केसरका वर्ण जैसा होता है वैसा गौरवर्णीय । लांतकादिसे ऊपर उज्ज्वल वर्णवाले जो बताये गये हैं उसमें इतना विशेष समझे कि उत्तरोत्तर अधिकसे अधिक (शुक्ल, शुक्लतर एवं शुक्लतम) उज्ज्वल वर्णयुक्त जानें । [१७७]

॥ चारों निकायमें लेश्या तथा वैमानिकमें देहवर्ण स्थापनाका यन्त्र ॥

निकाय नाम	लेश्या नाम	कल्प नाम	लेश्या	वै. देहवर्ण
भवनपतिकी	कृष्ण, नील, कापोत, तेजो	सौधर्म— ईशानकी	तेजो	रक्त सुवर्ण
परमाधामीकी	एक मात्र कृष्ण लेश्या ही	सनत्कुमार— माहेन्द्र, ब्रह्मकी	पद्म	पद्म केसर
व्यन्तरकी	कृष्ण, नील, कापोत, तेजो	लांतकसे अच्युत तक	शुक्ल	उज्ज्वल वर्ण
ज्योतिषीकी	तेजो लेश्या	प्रवेयक— अनुत्तरकी	शुक्ल	उज्ज्वल वर्ण

॥ उपसंहारप्रसंगपर देवगतिमें चार निकायाश्रयी आहारोच्छ्वासमान व्याख्या ॥

अवतरण—अब देवोंका आहार तथा उच्छ्वासकालमान कहते हैं । यहाँ प्रथम दस हजार वर्षायुधी देवोंके विषयमें कहते हैं ।

दसवाससहस्राङ्गं, जहन्नमाउं धरंति जे देवा ।

तेसिं चउत्थाहारो, सचहिं थोवेहिं उसासो ॥ १७८* ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १७८ ॥

विशेषार्थ—ग्रन्थकार अब चारों निकायके देवोंका आहार तथा उच्छ्वास सम्बन्धी अंतर मर्यादाको कहते हैं ।

शंका—यहाँ पर एक शंका होती है कि 'वासोच्छ्वास मानके बदले यहाँ सिर्फ उच्छ्वासमान शब्दका प्रयोग क्यों किया गया है ?

* जिनभद्रीया संग्रहणीमें भवनपति तथा व्यन्तरके लिए स्वतन्त्र गाथा नहीं कही गयी है, अतः उसकी २१५वीं गाथामें टीकाकारको उपरोक्त हकीकत अतानी पड़ी है ।

समाधान—इसके समाधानमें यह समझना कि—निःश्वास तो उच्छ्वासके अन्तर्गत आ ही जायेगा। क्योंकि निःश्वासके बिना उच्छ्वासका ग्रहण होता ही नहीं है। दूसरी महत्ता—मुख्यता तो 'उच्छ्वास'की ही होती है, निःश्वासकी नहीं।

प्रथम आहार मर्यादाको बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि दस हजार सालकी जघन्य आयुष्यको धारण करनेवाले जो (भवनपति) देव हैं, ये चतुर्थ भक्त (इन्हें एक अहोरात्र-वाचक माना जाता है, इसलिए)—एकांतर पर आहारको ग्रहण करते हैं। वे हमारी तरह कबलाहारी न होनेसे आहार मात्रकी अभिलाषा होते ही उपस्थित इच्छाके अनुकूल, मनोज्ञ सर्वेन्द्रियोंके आह्लादक ऐसे आहारके पुद्गलोंका परिणमन शुभ कर्मानुभावसे इन्हें हो जाता है। (इसका विस्तृत स्वरूप बादकी गाथाओंमें बताया जायेगा) और तृप्त होते ही परमानन्दकी अनुभूति करते हैं। उसके बाद वे स्वक्रीड़ादि कार्यमें मग्न हो जाते हैं।

साथ ही ये देव सात स्तोक काल पूर्ण होनेके बाद एक बार ही उच्छ्वास लेते हैं।

स्तोक कब बनता है? तो कोई नीरोगी—स्वस्थ सुखी युवान जब सात बार श्वासोच्छ्वास लेनेकी क्रिया करता है तब एक स्तोककालप्रमाण होता है। ऐसे सात स्तोक (४९ श्वासो०) पर ये देव एकबार ही श्वासोच्छ्वासकी क्रिया करते हैं। इसके बाद आनन्दके साथ निराबाधपनसे वर्तित पुनः एकांतर होने पर आहार ग्रहण करते हैं तथा मध्यमें सात स्तोक पूर्ण होते ही फिरसे उच्छ्वास ग्रहण होता रहता है।

टिप्पणी:—'निसासूसास' शब्दसे टीकाकार निःश्वासोच्छ्वास लेनेका सूचन करते हैं। अन्य ग्रन्थकार भी यह अर्थ ही बताते हैं। लेकिन यहाँ पर श्वासोच्छ्वासका मतलब छातीमें उत्पन्न धड़कनयुक्त श्वासोच्छ्वास ही मानना है तो प्रस्तुत गिनतीमें इसका कोई भी मेल बैठता ही नहीं है। यह कथन तदन असंगत बन जाता है, क्योंकि एक मुहूर्त अर्थात् ४८ मिनटमें ३७७३ बार श्वासोच्छ्वास मान कहा। इस हिसाबसे एक मिनटमें ७८ से कुछ अधिक संख्या बनती है; जब कि एक मिनटमें कोई सशक्त मनुष्य अधिकसे अधिक पन्द्रह बार श्वास लेता है, जो प्रत्यक्षसिद्ध बाबत है। और यह संख्या बढ़कर एक मिनटमें २५....बनती है तो मनुष्यकी मृत्यु होती है, वह भी अनुभव सिद्ध घटना है। इसी कारण ग्रन्थकारके कथनका कोई भी मेल एवं अर्थ बनता न हो तब उनके आशयको सफल बनानेके लिए श्वासोच्छ्वासकी परिभाषाको अलग ही अर्थ या रीतिसे घटानेसे यथार्थ संगति निकाल सकते हैं।

इससे यहाँ श्वासोच्छ्वासको 'छातीकी धड़कन'के अर्थमें न घटाते हुए 'हाथकी नाडीकी धड़कन'के अर्थमें घटाएँ तब गिनती बराबर संगत बैठ जाती है, फिर भी इस बाबतमें अभ्यासी स्वयं अधिक सोचें—विचारें।

‘श्वासोच्छ्वास’ संज्ञा ‘नाडी’ शब्दवाचक समझे अथवा उस शब्दका अर्थ लक्षणासे ‘नाडी’में घटाना उचित है। [१७८]

अवतरण—अब श्वास-उच्छ्वास किसे मानें? इसे समझानेके लिए मनुष्यके एक अहोरात्रिगत श्वासोच्छ्वासका मान सवा दो गाथासे बताते हैं।

आदिवाहिबिमुक्तस, नीसाससास एगगो ।
 षण सत्त इमो थोवो, सोवि सत्तगुणो लवो ॥१७९॥
 लवसत्तहत्तरीए, होइ मुहूत्तो इमम्मि उत्तासा ।
 सगतीससयतिहुत्तर, तीसगुणा ते अहोरत्ते ॥१८०॥
 लक्खं तेरससहस्सा, नठअसयं—१८०½

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ १७९-१८०½ ॥

विशेषार्थ—आधि यह मनकी पीड़ा है तो व्याधि शरीरकी पीड़ा है। उभ दोनोंसे विमुक्त। विशेषमें ‘वि’ विशेषणसे चिंता, श्रम, खेद रहित, सुखी ऐसे समर्थ युवान पुरुषके एक-एक निःश्वास (श्वास बाहर निकालना) और उच्छ्वास (श्वास लेना)को अर्थात् दोनों मिलकर एक श्वासोच्छ्वास बनता है उसे एक ‘प्राण’ कहा जाता है। ऐसे सात ‘प्राण’ (अथवा श्वासोच्छ्वास) पर एक ‘स्तोक’ बनता है, ऐसे सात स्तोक (४९ श्वासोच्छ्वास)से एक ‘लव’ बनता है। ऐसे सतहत्तर (७७) लवसे एक मुहूर्त (दो घड़ी-४८ मिनट) बनता है (इस एक मुहूर्तमें ‘पगाकोडी’ गाथानुसार १६७७२१६ आवलिकाएँ^{३२३} बनती हैं)।

इस प्रकार सतहत्तर (७७) लवमें ३७७३ उच्छ्वास आते हैं, जिसे एक मुहूर्तकी संख्या कही जायेगी। अब एक अहोरात्रकी संख्या लानेके लिए अहोरात्रको ३० (तीस) मुहूर्तसे गुननेसे [३७७३ × ३०] ११३१९०—इतनी उच्छ्वास संख्या एक अहोरात्रकी होती है।

विशेषमें एक मासकी संख्या निकालनी हो तो उस संख्याको ३० अहोरात्रसे गुननेसे ३३९५७०० की संख्या आती है। एक सालकी संख्या लानेके लिए बारहसे गुननेसे ४०७४८४०० संख्या आती है। यदि एक सौ सालकी संख्या लानेके लिए इसे सौसे गुननेसे ४०७४८४०००० संख्या आती है। इस प्रकार साल, हजारसे-लक्षसे-या कोटिसे भी उच्छ्वासकी संख्या निकाल सकते हैं। [१७९-१८०½]

३२३. इसका विशेष स्वरूप इसी ग्रंथके २६ वें पृष्ठ पर दिखाया गया है।

॥ संक्षिप्त कालमान और श्वासोच्छ्वास संख्यायंत्र ॥

गिनती	उत्तर	उत्तरकी श्वासोच्छ्वास संख्या
आधि-व्याधिसे मुक्त मनुष्यके एक निःश्वास- उच्छ्वास पर	१ प्राण	१ श्वासोच्छ्वास
ऐसे सात प्राण पर	१ श्लोक	उसके ७ श्वासोश्वास
ऐसे सात श्लोक पर	१ लव	उसके ४९ श्वासोश्वास
ऐसे सतहत्तर लव पर	१ मुहूर्त	३२४ इसके ३७७३ श्वास
ऐसे तीस मुहूर्त पर	१ अहोरात्र	इसके ११३१९० श्वासोश्वास
ऐसे पन्द्रह अहोरात्र पर	१ पक्ष	इसके १६९७८५० श्वासोश्वास
ऐसे दो पक्षसे	१ मास	इसके ३३९५७०० श्वासोश्वास
ऐसे बारह माससे	१ वर्ष (साल)	४०७४८४००
ऐसे असंख्य वर्ष पर	१ पल्योपम	असंख्य
ऐसे दस कोडाकाडी पल्योपम पर	१ सागरोपम	असंख्यगुण
ऐसे दस कोडाकाडी सागरोपम पर	१ उत्सर्पिणी	"
ऐसी एक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीसे	अवसर्पिणी	"
अनन्ता कालचक्रसे	१ कालचक्र	"
	१ पुद्गलपरावर्त	"

अवतरण—मनुष्याश्रयी श्वासोच्छ्वासका प्रमाण दशनिके बाद अब उस कथनको वैमानिक देवोंमें सीधा और सादा (सागरोपमकी संख्याके) उपाय द्वारा घटाते हैं ।

—अयरसंख्या देवे ।

पक्खेहि ऊसासो, वाससहस्सेहि आहारो ॥१८१॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १८१ ॥

विशेषार्थ—अयर अर्थात् सागरोपम । उसकी संख्यानुसार ही देवमें उच्छ्वास और आहारका नियमन होता है । उदाहरणके तौरपर देखें तो वैमानिक निकायमें जिन देवोंका

३२४. श्वासोच्छ्वासका मतलब छातीकी धड़कन गिने तो एक मिनटमें पन्द्रहके हिसाबसे १ मुहूर्त = ४८ मिनटमें ७२० ही होता है ।

जितने सागरोपमकी संख्याका आयुष्य होता है उतनी पक्ष संख्यासे उच्छ्वास ग्रहण और उतने ही हजार सालकी संख्या पर आहार ग्रहण होता है ।

अर्थात् जिन देवोंकी आयु एक सागरोपमकी होती है, उन्हें एक ही पक्ष पर उच्छ्वास ग्रहण तथा एक ही हजार वर्ष पर आहारकी अभिलाषा होती है, उसी तरह दो सागरोपम-वालेको दो पक्षपर उच्छ्वास ग्रहण तथा दो हजार साल पर आहारकी अभिलाषा होती है, यावत् अनुत्तरपर तैतीस सागरोपमकी स्थिति होनेसे तत्रवर्ती देवोंका ३३ पक्ष पर उच्छ्वास ग्रहण तथा ३३ हजार वर्ष पर एक बार ही आहारकी अभिलाषा होती है और वे मनोह्र आहार पुद्गलसे तृप्ति पाते हैं । [१८१]

अवतरण—सम्पूर्ण दस हजार और सम्पूर्ण सागरोपमसे लेकर ऊपरि देवोंके लिए कहा गया है । लेकिन दस हजारसे ऊपर तथा सागरोपमसे न्यून आयुष्यवाले देवोंके लिए कुछ भी कहा गया नहीं है, अतः अब वही बात मध्यम आयुषी देवोंके लिए शेष निकायमें घटाते हैं ।

दसवाससहस्रुवरि, समयार्ई जाव सागरं उगं ।

दिवसमुहुत्तपुहुत्ता, आहारुसास सेसाणं ॥ १८२ ॥

गाथार्थ—दस हजार सालसे ऊपर तथा सागरोपमसे कुछ न्यून आयुष्यवाले (अर्थात् लाखों, करोड़ों, अरबों, संख्य या असंख्य यावत् पत्योपमवाले) देवोंके लिए दिवस ३२५ पृथक्त्वपर आहार तथा मुहुत्त पृथक्त्वपर श्वासोश्वास ग्रहण होता है । ॥ १८२ ॥

पृथक्त्व—यह संख्यावाचक शब्द पारिभाषिक है, जैन आगमोंके कथनानुसार इससे दो से लेकर नौ तककी संख्याका सूचन होता है ।

विशेषार्थ—उपरोक्त बताये गये गाथार्थको निम्नानुसार संगत करनेका है, गाथार्थका सीधा अर्थ तो ऊपर गाथार्थमें जो बताया गया है वही होता है; लेकिन उसे अगर उतने ही मानमें स्वीकार किया जायँ तो कुछ न्यून सागरोपमवालोंके लिए दिन पृथक्त्वपर आहारमान, तथा मुहुत्त पृथक्त्वपर उच्छ्वासमान और पूर्ण सागरोपमवालोंके लिए एक हजार वर्षपर आहार तथा एक पक्षमें उच्छ्वास, इसके अलावा कुछ न्यून सागरोपम और पूर्ण सागरोपमके बीच दिखायी देती मर्यादा अल्प, फिर भी दोनोंके बीचका मान एकदम इस तरह छलांग लगा दे — इतना बड़ा भेद एकाएक दिखायी पड़े यह सहजरूपसे बुद्धिगम्य कैसे लग सकता है ?

३२५. यहाँ दस हजार साल ऊपर एक दिन, मास या वर्षादिक आयुष्यवाले देवोंको तुरन्त ही पृथक्त्वपर मिल जाता है ऐसा नहीं है, लेकिन क्रमशः आगे आगे पत्योपमादिक स्थिति पर पहुँचते ही पृथक्त्वपर प्राप्त होता है ।

- तमी सार्वभौम टीककार श्री मलयगिरिजी महाराजने नीचेकी तरह संगति (अर्थ) करनेको कहा है ।

दस हजार सालके जघन्यायुषी देवोंके लिए १७८ वीं गाथामें बताया गया है कि वे एक अहोरात्रि बीत जानेके बाद (एकांतर पर) आहार तथा सात स्तोक बीत जाने पर उच्छ्वास लेते हैं ।

अब दस हजार सालसे आगे समय—मुहूर्त, दिन, मास, वर्षादिकी ज्यों ज्यों वृद्धि होती जाती है, त्यों त्यों (उन-उन देवोंके लिए) उच्छ्वास—आहारमानमें (जिस दिन मुहूर्त पृथक्त्व है उसमें) थोड़ी-थोड़ी वृद्धि करते जाना ।

अब यह वृद्धि कहाँ तक करे ? तो काल आयुष्यवृद्धि युगपद् आहार-उच्छ्वास वृद्धि करते-करते जब एक अर्थात् हजारों, लाखों, करोड़ों, संख्य और असंख्याता वर्ष पर अर्थात् एक पल्योपम पर पहुँचते हैं, उसी तरह साथ-साथ एक अहोरात्रमें समय मुहूर्तकी वृद्धि करते-करते २, ४, ५ ऐसे आहार दिनमान तथा सात स्तोकमें भी उसी तरह ख्व, घटिका मुहूर्तादिककी वृद्धि करते जाना । इससे क्या होगा कि एक पल्योपम स्थितिवाले देवोंके लिए दो से लेकर नौ दिन तकका आहार ग्रहण अन्तर तथा दो से नौ मुहूर्तका उच्छ्वास ग्रहण अन्तर बराबर आ मिलता है ।

इसका भाव (अर्थ) यह निकल कि गाथामें जो मान कहा गया है वह एक पल्योपमकी स्थिति धारण करनेवाले देवोंके लिए है, इनसे उपरके लिए नहीं, तब ऊपरि लोगोंके लिए क्या ?

तो इसके बाद २-३-४ आदि पल्योपमवाले देवोंके लिए दिन और मुहूर्त पृथक्त्व कालमें अन्तर बढ़ाते जाना । इससे क्या होगा कि—सैकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों पल्योपमोंकी एक ओर ज्यों-ज्यों वृद्धि होती जायेगी त्यों-त्यों युगपत् आहारमानमें दिनोंसे विसककर मास पर, साल पर और सैकड़ों पर जा पहुँचेगा और उसी अनुसार जो उच्छ्वास-कालमान मुहूर्तका था वहाँसे आगे बढ़कर ग्रहों और दिनों पर जायेगा ।

ऐसा करते-करते जब हम १० कोडाकोडी पल्योपमका एक सागरोपम होनेसे बराबर पूर्ण एक सागरोपम पर पहुँचेंगे तब वैसी स्थितिवाले देवोंका पूर्व कथनानुसार एक हजार सालका आहारग्रहणमान और एक पक्ष पर उच्छ्वास ग्रहणमान अन्तर बराबर आ ही जाता है । [१८२]

॥ चतुर्निकायमें श्वासोश्वास - आहार अन्तरमान यन्त्र ॥

देवलोक नाम	आयुष्यमान	श्वा० मान	आहारमान	शेष निकायमें श्वासो० आहारमान
१ सौधर्ममें	२ सागरोपम	२ पक्ष पर	२ हजार वर्ष पर	दस हजार सालकी
२ ईशानमें	२ साधिक सा.	२ "	२ "	जघन्य आयुवाले भवनपति
३ सन्त्कुमारमें	७ सागरोपम	७ "	७ "	व्यन्तरोको एक अहोरात्रि
४ माहेन्द्रमें	७ साधिक सा.	७ "	७ "	पर आहारकी इच्छा होती
५ ब्रह्मकल्पमें	१० सागरोपम	१० "	१० "	है तथा सात स्तोक पर
६ लांतकमें	१४ सागरोपम	१४ "	१४ "	एकबार श्वासोश्वास भी
७ शुक्रकल्पमें	१७ सागरोपम	१७ "	१७ "	करते हैं ।
८ सहस्रारमें	१८ सागरोपम	१८ "	१८ "	दस हजार सालसे भी
९ आनतमें	१९ सागरोपम	१९ "	१९ "	आगे समयादिककी वृद्धिसे
१० प्राणतमें	२० सागरोपम	२० "	२० "	अधिक बढ़ते-बढ़ते यावन्
११ आरणमें	२१ सागरोपम	२१ "	२१ "	एक पत्योपमका आयुष्य हो
१२ अच्युतमें	२२ सागरोपम	२२ "	२२ "	उसे दिन पृथक्त्व पर आहार
१ सुदर्शन त्रैवे.	२३ सागरोपम	२३ "	२३ "	और मुहूर्त्त पृथक्त्वपर उच्छ्व-
२ प्रतिबद्धमें	२४ सागरोपम	२४ "	२४ "	वास ग्रहण होता है । इससे
३ मनोरममें	२५ सागरोपम	२५ "	२५ "	आगे बढ़ते हुए आयुष्यवालोंके
४ सर्वतोभद्रमें	२६ सागरोपम	२६ "	२६ "	लिए दिन पृथक्त्व और मुहूर्त्त
५ सुविशालमें	२७ सागरोपम	२७ "	२७ "	पृथक्त्वमें क्रमशः धीरे धीरे
६ सुमनसमें	२८ सागरोपम	२८ "	२८ "	वृद्धि करते जाना । यह वृद्धि
७ सौमनसमें	२९ सागरोपम	२९ "	२९ "	भी इस तरह करें कि एक
८ प्रीतिकरमें	३० सागरोपम	३० "	३० "	सागरोपमपर पहुँचते ही
९ आदित्यमें	३१ सागरोपम	३१ "	३१ "	एक हजार वर्षपर आहार
१ विजयमें	३३ सागरोपम	३३ "	३३ "	इच्छा तथा एक पक्षपर
२ वैजयन्तमें	३३ सागरोपम	३३ "	३३ "	उच्छ्वास ग्रहणका कालमान
३ जयन्तमें	३३ सागरोपम	३३ "	३३ "	आ रहे । एक सागरोपमसे
४ अपराजितमें	३३ सागरोपम	३३ "	३३ "	भी आगेकी गिनतीके लिए
५ सर्वार्थसिद्धमें	३३ सागरोपम	३३ "	३३ "	कोष्टकमें बताया गया ही है ।

अवतरण—पूर्व १७९-८०वीं गाथामें 'आसोश्वास'की व्याख्या की थी, परन्तु आहारकी व्याख्या नहीं की थी। अब यह 'आहार' कौन-सी चीज है और इनके प्रकार कितने हैं? यह बताते हैं।

सरिरेणोया आहारो, तयाइ-फासेण लोम आहारो ।

पक्खेवाहारो पुण, कावलिओ होइ नायन्वो ॥ १८३ ॥

गाथार्थ—ओजाहारका ग्रहण शरीर द्वारा, लोमाहारका ग्रहण त्वचाके स्पर्श द्वारा तथा प्रक्षेपाहारका ग्रहण कवल रूपमें लिया जाता है । ॥ १८३ ॥

विशेषार्थ—जीवका प्रयत्नसे औदारिकादि शरीरके लिए औदारिक पुद्गलोंका पाँचों प्रकारके शरीर द्वारा जिसे ग्रहण करता है उसे 'आहार' ^{३२६} कहा जाता है।

उत्पत्तिक्षणके बाद (औदारिकादिकी अपेक्षासे) प्रतिक्षण नष्ट होनेका जिसका स्वभाव बना रहता है, उसे 'शरीर' कहा जाता है।

ये शरीर १. औदारिक, २. वैक्रिय, ३. आहारक, ४. तैजस और ५. कर्मण इत्यादि भेदयुक्त पाँच प्रकारके होते हैं।

आहारग्रहण ओजस्, लोम और प्रक्षेप (कवलाहार) इन तीन रीतोंसे होता है।

ओजस्आहार—ओजस् शब्दकी परिभाषा तीन प्रकारसे की गयी है। (१) ओजस् अर्थात् ^{३२७}उत्पत्तिप्रदेशमें रहे हुए आहार योग्य पुद्गल (२) तैजस शरीर और (३) तैजस शरीर द्वारा ग्रहण किया जानेवाला आहार।

संक्षिप्त परिभाषामें देखा जाये तो उत्पन्न होनेके बाद पहली ही ^{३२८}क्षणमें (एकेन्द्रिय शरीर नहीं है, इसलिए) सिर्फ तैजस (-कर्मण) शरीर द्वारा ही जिसे ग्रहण किया जाता है उसे ओजाहार कहते हैं।

किसी भी उत्पत्तिस्थानमें उत्पन्न होनेके प्रथम समय पर (पाँच प्रकारी शरीरमेंसे सिर्फ) जीव तैजस-कर्मण आदि दो शरीरवाला ही होता है और इसके बादके दूसरे समयसे जीव

३२६. दिगम्बरीय तत्त्वार्थ राजवार्तिकमें औदारिक, वैक्रिय और आहारक ये तीन शरीरोंको तथा आहार अभिलाष आदिके कारणरूप लः पर्याप्तिके श्रेष्ठ पुद्गलोंका ग्रहण वह आहार ऐसा कहा है।

३२७. जोएण कम्मएणं, आहारेइ अणंतरं जीवो, तेण परं मीसेणं, जाव सरीरस्स निप्फत्ती ॥ तेएण वा कम्मएणं इति पाठां. [सूत्र कृ. नि.]

३२८. लोकप्रकाश सर्ग ३, श्लो. २५

जिस भवमें उत्पन्न हुआ है उस भवयोग्य शरीरकी रचना शुरू कर देता है तब वह औदारिक-वैक्रियादिसे मिश्रकाय योगवाला बनता है, अर्थात् मनुष्य या तिर्यचके रूपमें जनम धारण करनेवालेको औदारिकमिश्र और देव-नारकके रूपमें जनम लेनेवालेको वैक्रियमिश्रयोग होता है ।

ये दोनों (तेजस-कर्मण) शरीर कि जिन्हें इन्द्रिय या हाथ-पैर आदि अंगोपांग नहीं होते हैं, उत्पत्तिके समय पर ये ^{३२७}अंगुलके ^{३३०}असंख्यातवें भाग जितने बड़े ही होते हैं । देहधारी जीव (प्रायः) प्रत्येक क्षण पर सतत आहार करता रहता है, अतः पूर्वभवके शरीरको छोड़कर ऋजु या वक्रागतिसे उत्पत्ति प्रदेशमें जहाँ वह उत्पन्न हुआ है उसी क्षणसे (तै. का.) दो शरीर द्वारा औदारिकादि शरीर योग्य पुद्गलोंका जो आहरण-ग्रहण करता है उसे ओजाहार करना कहा जाता है ।

साथ ही आहार तथा तद्भवयोग्य शरीरादिक पर्याप्तियोंका आरम्भ तो दूसरे समयसे ही शुरू होनेसे जीव दूसरे समयमें अमुक अंश पर औदारिकादि शरीरपन प्राप्त करता होनेसे, दूसरे समयसे दूसरे शरीरपर्याप्तिकी निष्पत्ति न हो अर्थात् अन्तर्मुहूर्त्त काल तक जीव औदारिकादि मिश्र (तेजस-कर्मण सह औदारिक-वैक्रियादि) काययोगसे अपने शरीर योग्य जिन पुद्गलोंका ग्रहण करें उनको ओजाहार जानें । यह ओजाहार शरीर पर्याप्ति तक कार्यशील रहता होनेसे एक अन्तर्मुहूर्त्तकाल है ।

लोमाहार—त्वचा-चमड़ीके छिद्र द्वारा ग्रहण किया जानेवाला आहार है । यह आहार शरीर पर्याप्ति बाद (अथवा स्वयोग्य पर्याप्ति बाद) यावज्जीव हो सकता है ।

प्रक्षेपाहार—अर्थात् भोजनके रूपमें या कवलके ^{३३१}रूपमें मुख द्वारा लिया जानेवाला आहार । अतः इसका दूसरा नाम 'कवलाहार' भी है । यह आहार स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद लिया जा सकता है । [१८३]

अवतरण—तीन प्रकारके आहारमेंसे कौन-सा आहार किस अवस्थामें मिलता है ? इसे बताते हैं ।

३२९. अंगुलकी लम्बाई और चौड़ाई दोनोंका असंख्यातवाँ भाग ले या नहीं ?

३३०. देहसुक्त अशरीरी आत्माके असंख्यातमानसे (सशरीरी होनेसे) इसे कुछ अधिक बढ़ा समझना ।

३३१. कवल ' प्रक्षेप ' पूर्वक होता होनेसे इसे प्रक्षेप आहार कहा जाता है । जीमसे जो स्थूल आहार डाला जा सके, वह है प्रक्षेप ।

ओयाहारा सञ्चे, अपजत्त पजत्त लोमआहारो ।

सुरनिरयइग्गिदि विणा, सेस भवत्था सपक्खेवा ॥ १८४ ॥

गाथार्थ—अपर्याप्तावस्थामें सर्व जीव ओजाहारी और पर्याप्तावस्थामें सभी लोमाहारी होते हैं । देवता, नारकी और एकेन्द्रियके अतिरिक्त शेष सभी जीव प्रक्षेपाहारी होते हैं । ॥ १८४ ॥

विशेषार्थ—‘ओज’ अर्थात् उत्पत्तिप्रदेशमें स्वशरीर योग्य पुद्गलोंका समूह अथवा ओजस् अर्थात् तैजस शरीर द्वारा जो आहार ग्रहण किया जाता है उसे ^{३३२}ओज-आहार कहा जाता है ।

यह ओजाहार एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके सर्व जीवोंको ^{३३३}अपर्याप्त अवस्थामें होता है । यहाँ ‘अपर्याप्त’ शब्दसे शरीरपर्याप्ति पूर्ण हो गई न हो वहाँ तक जीवमें अपर्याप्तपन लें, लेकिन पहली ही आहारपर्याप्ति पर अपर्याप्तापन मत समझ लेना,

३३२. जो नाक, आँख और कानों द्वारा उलब्ध होकर धातुके रूपमें परिणत होता है वह है ओजस् और जो केवल स्पर्शेन्द्रिय द्वारा उलब्ध होकर धातुके रूपमें परिणत होता है वह है लोम ऐसा सूत्रकृतान्तं निर्युक्ति गाथा १७३की टीकामें इन्हें मतांतरपूर्वक दर्शाया गया है ।

३३३. पर्याप्तिका अधिक वर्णन तो इस ग्रन्थके अन्तमें आयेगा ही, तथापि सामान्यतः पर्याप्ति अर्थात् जीवमें स्थित आहारादिक पुद्गलोंको ग्रहण करके शरीरादिरूप परिणामावनेकी विशिष्ट शक्ति अथवा जन्मके लिए जीवमें बनी रहीं जीवनशक्तियाँ ।

यह पर्याप्ति आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोश्वास, भाषा और मन आदि छः प्रकारकी होती है । हरेक जीव पूर्वभवमें पर्याप्तिनामकर्मके उदयसे यथायोग्य पर्याप्तिका नियमन करके अपने पूर्व शरीरको छोड़कर जब उत्पत्ति प्रदेशमें आता है, कि वहाँ तुरन्त ही आहारके पुद्गलोंको ग्रहण करके आहारपर्याप्तिको परिपूर्ण करता है । तदनन्तर अंगोपांग रूप शरीर पिंडका नियमन करनेके लिए वह जब शरीरपर्याप्ति, उसके बाद क्रमशः छः पर्याप्ति-शक्तिको प्राप्त करता है तब उसे पर्याप्त हुआ ऐसा माना जाता है । उसे इस कार्यको अपने जन्मके बाद एक अन्तर्मुहूर्तमें ही करना पड़ता है । हरेक जीव छः पर्याप्ति पूर्ण करें ही, ऐसा नहीं होता है । एकेन्द्रियादिकको ४-५-६ तो यथायोग्य मानी जाती है । अपर्याप्त जीवोंमें भी हरेक जीवको आहार, शरीर तथा इन्द्रिय ये तीनकी पर्याप्ति तो पूर्ण करनी ही पड़ती है ।

प्रथमकी आहारपर्याप्ति एक समयकी है, शेष छोटे-बड़े अन्तर्मुहूर्त प्रमाणकी है । तीन पर्याप्ति तककी अथवा स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण होनेके पूर्वकी जीवकी सभी अपर्याप्तावस्था गिनी जाती है और पूर्ण होनेके बाद ही इसे पर्याप्त हुआ माना जाता है ।

क्योंकि यह आहारपर्याप्ति (एक समय रूप है और उसके) पूर्वकी अपर्याप्त अवस्था पर वह अनाहारक है, क्योंकि उस समय जीव विग्रहगतिमें (भी) होता है । साथ ही ^{३३४}स्वयोग्य सर्वपर्याप्ति पर अपर्याप्त (अपूर्णता) पन भी न ग्रहण करें, क्योंकि शरीरपर्याप्ति बाद जीव किंचित् अंगोपांगयुक्त और स्पर्शेन्द्रियकी शक्तियुक्त बना होनेसे वह अंग-प्रत्यंगोंसे सम्पूर्ण रूपमें लोमाहारसे पुद्गल ग्रहण योग्य होता है । इसलिए जो लोग स्वयोग्य सर्व पर्याप्तिसे अपर्याप्ता जीव ओजाहारी होते हैं ऐसा जो कहते हैं यह सर्वथा अयोग्य है ऐसा संहणी टीकाकारका कहना है ।

लोमाहार—शरीर पर्याप्ति पूर्ण होते ही लोमाहार ग्रहण योग्य शरीरशक्ति अमुक अंशमें खील उठती है, अतः वह शरीर पर्याप्ति पर पर्याप्त होनेके बाद जीव स्पर्शेन्द्रियसे ही लोमाहारका ग्रहण (जान-अनजानमें) करते हैं । यह आहार पर्याप्त अवस्थामें प्राप्त होनेसे यावज्जीवपर्यन्त सतत हो सकता है ।

साथ ही यह लोमाहार (रोम, रोयें, रोंगटे द्वारा आहार) शरीरपर्याप्ति पर पर्याप्त और मतान्तर पर स्वयोग्य सर्व पर्याप्ति पर पर्याप्ता एकेन्द्रिय, नारक तथा देवोंको भी होता है; शेष सभी शरीरपर्याप्ति पर पर्याप्ता, स्वयोग्य सर्व पर्याप्ति पर पर्याप्ता विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय सभी जीव लोमाहारी तथा प्रक्षेपाहारी दोनों होते हैं । इनमें लोमाहारका सिलसिला बना रहता है और प्रक्षेपाहार अर्थात् कवलाहार कदाचित् हो अथवा न भी हो (अर्थात् प्रक्षेपाहारका ग्रहण काल भी लोमाहारवत् है) ।

उपरोक्त कथनानुसार लोमाहार पर्याप्तावस्थामें सभी जीवोंको यावज्जीवपर्यन्त समय समय पर शुरू ही रहता है । अगर तीनमेंसे एक भी आहार सतत न हो तो जीवको समय समय पर जो आहारी कहा गया है वे न रहे और इसलिए मध्य-मध्य (बीच-बीच)में अनाहारपन आ जाता है, जो कि यह अधटित है ।

शंका—अब किसीसे अगर यह शंका हो कि देव-नारकादिको समय समय पर लोमाहारी जो कहा गया है तो देवादिकके आहारका जो विशिष्ट अन्तर पूर्व पर बताया गया है वह किस प्रकार घटेगा ?

समाधान—‘मनोभक्षी’ देवोंका लोमाहार जो सतत रहा है उसे सामान्यतः अनाभोग (अनिच्छा) रूप जानें और अमुक दिन या पक्षान्तिक आहार जो मिलता है उसे विशिष्ट तथा आभोग (इच्छा) पूर्वक जानें (जिसे इसके बादकी गाथामें कहा जायेगा) । ये देव अपने महान् पुण्योदयसे मनसे कल्पित स्वशरीरपुष्टिजनक, इष्ट आहारके शुभ पुद्गलोंको समग्र स्पर्शेन्द्रिय कायासे ग्रहण करके शारीरिक रूपमें परिणमाते हैं । जब कि नारकोमें भी

उसी तरह ही लेकिन अपने महापापोंके उदयसे अशुभ पुद्गलोंका ग्रहण-परिणमन होता है। इस तरह एकेन्द्रियादिकके लिए भी आभोग-अनाभोगरूप सामान्य तथा विशिष्ट आहार ग्रहण सोच लेना। इस तरह देव, नारक, एकेन्द्रिय आदि प्रक्षेपाहारी नहीं होते हैं।

प्रक्षेपाहार—देव-नारकी-एकेन्द्रिय जीव आदिको छोड़कर दोइन्द्रिय, तीइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, तिर्यच-मनुष्य इन सर्व जीवोंको इच्छा जनमते ही प्रक्षेपाहार (कवल) का ग्रहण हो सकता है। फिर भी इस नियमको निश्चित न समझें, क्योंकि ऐसा कदाचित् हो सकता है और नहीं भी हो सकता है; भगर ऐसी सम्भावना समझें। क्योंकि प्रक्षेपाहारका सिलसिला जारी ही रहता है ऐसा नहीं है।

यहाँ पर देव, नारकी और एकेन्द्रिय जीवोंका निषेध इस लिए बताया गया है कि यह प्रक्षेप-कवलाहार जिन्हें मुख हों उन्हें ही अथवा भवस्वभाव पर घटित हो तब ही सम्भव बनता है। एकेन्द्रियोंको तो मुख ही नहीं है तथा देव और नारक वैक्रियशरीरी होनेसे मुख होते हुए भी महान् पुण्योदयके बल पर पाए गये भवके कारण मुँह द्वारा आहार ग्रहण करनेकी झंझट होती ही नहीं है। अतः वे सभी लोमाहारी ही हैं। [१८४]

अवतरण—अब किस-किस प्रकारका आहार, कौन-से जीवोंको ग्रहणरूप है ? इसे बताते हैं।

सचित्ताचित्तोभय-रूवो आहार सञ्चतिरियाणं ।

सञ्चनराणं च तहा, सुरनेरइयाण अच्चित्तो ॥ १८५ ॥

गाथार्थ—सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त (मिश्र) ये आहारके तीन प्रकार हैं। इनमें सभी तिर्यचों तथा सभी मनुष्योंके लिए तीनों प्रकारका आहार होता है, जब कि देवों तथा नारकीके लिए अचित्त आहार होता है। ॥ १८५ ॥

विशेषार्थ—आहारके तीन प्रकार हैं। सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त। इनमें सचित्त वह सचेतनरूप (जीवयुक्त) आहार, अचित्त वह अचेतनरूप (जीवरहित) आहार और सचित्ताचित्त वह (जीवरहित तथा सहित) ^{३३५}मिश्रआहाररूप है।

३३५. उक्तस्थानमें प्रथम समय पर (मिश्र) सचित्त आहार होता है, क्योंकि वह स्थान जीवरूप है इसलिये सचेतनपन है। इसके सिवा जीवोंका जीवयुक्त फलफलादिक मध-मांस-मन्खन-वनस्पत्यादिक जो कुछ जीवोंका आहार है वह सचित्त है; इनमेंसे अमुक फलफलादिक वनस्पति द्रव्य कुछ काल पर कुछ रीतिसे (कारणोंसे) अचित्त बन जाते हैं और इसी समय उसका आहरण करना वह है अचित्त, और जिन फलफलादिकमें सचित्तपन तथा सम्पूर्ण अचित्तपन भी पूर्ण हुआ न हो उस समय उसका अगर उपयोग किया आये तो इसे 'सचित्ताचित्त आहारका उपयोग किया है' ऐसा कहा जायेगा।

एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके सर्व जातिके तिर्यच तथा सर्व मनुष्योंका उक्त तीनों प्रकारका आहार होता है । अतः वे कदाचित् अचित्त, तो कदाचित् सचित्त, अर्थात् कदाचित् सचित्ताचित्त आहार लेते हैं । परन्तु देव तथा नारक आदि जिस आहारका पुद्गल लेते हैं वह तो हमेशा अचित्त आहार ही होता है । [१८५]

अवतरण—अब जिस-जिस अवस्थामें जो-जो आहार ग्रहण किया जाता है उसे हरेक समय पर जानकर या अनजानमें लिया जा सकता है क्या ?

आभोगाग्नाभोगा, सञ्चेसिं होई लोमआहारो ।

निरयाणं अमणुन्नो, परिणमइ सुराण स मणुण्णो ॥ १८६ ॥

गाथार्थ—सर्व जीवोंमें लोमाहार आभोग अर्थात् जान-बूझकर और अनाभोग अर्थात् अनजानमें इन दोनों प्रकारसे परिणमता है । इनमें यह आहार नारकीमें अमनोज्ञ-अप्रियपन तथा देवोंमें मनोज्ञ-प्रियरूपमें परिणत होता है । ॥ १८६ ॥

विशेषार्थ—‘आभोग’ और ‘अनाभोग’ इन दो प्रकारसे आहार ग्रहण होता है । आभोग अर्थात् मुझे आहार करना है वैसी इच्छा प्रकट होनेसे जिसे ग्रहण किया जाता है और इससे विपरीत अर्थात् अनिच्छापूर्वक ही सहजभावसे आहार पुद्गलोंका जो ग्रहण होता है वह है अनाभोग । यह सब किस प्रकार होता है ?

तो जिस तरह बरसात या शीतकी ऋतुमें बारबार लघुशंका करनेके लिए जाना पड़ता है तथा उसमें अत्यन्त मूत्रादिरूप दिखायी पड़ता पुद्गलरूप जो आहार है, वह है अनाभोगिक । सर्व जीवोंमें अपर्याप्त अवस्थामें अनाभोगरूपमें ही आहार ग्रहण होता है, क्योंकि आहारपर्याप्ति प्रथम है जब कि मनःपर्याप्ति छट्ठी और अन्तिम है । मनःपर्याप्तिकी प्राप्तिके बाद ही ‘इच्छा’ शक्ति प्रकट होती है और जो पर्याप्ति पर्याप्त अवस्थामें ही मिलती है । अतः अपर्याप्त अवस्थामें ही अनाभोगरूप आहार ग्रहण जो कहा-बताया गया है वह समुचित ही है ।

लोमाहार किसे प्राप्त होता है ?

लोम अर्थात् रोम (तोयें-रोंगटे) द्वारा बनता आहारग्रहण जो आभोग तथा अनाभोग इन दोनों रीतिसे सर्व जीवोंमें होता रहता है । क्योंकि ग्रहण किये जाते आहारसे संवेदनकी अनुभूति कभी कभी होती है तो कभी कभी नहीं भी होती । जिस तरह मर्दन द्वारा हवा और तैलादिकका ग्रहण इच्छापूर्वक होता है, जब कि शीतोष्णादि पुद्गलोंका ग्रहण स्वाभाविक रूपमें अनिच्छासे भी प्राप्त बन सकता है ।

अपवाद—

परन्तु इतना विशेष समझना कि एकेन्द्रिय जीव—सम्पूर्णम पंचेन्द्रिय मनुष्य जो (मनः पर्याप्तिको छोड़कर शेष) चार ही पर्याप्तिके होते हैं इससे उनका आहार ग्रहण अनाभोग निवर्तित ही है क्योंकि वे जीव अतिशय अल्प और अपटु (अस्वस्थ) मनोद्रव्यकी लब्धिवाले होते हैं अर्थात् उनमें स्पष्ट मनोशक्ति ही नहीं होती कि जिससे उनका आहार ग्रहण समजपूर्वकका संभवित बन सके।

अपने प्रतिकूल—अशुभ कर्मके उदयके कारण नारकोंमें यह लोमाहार अमनोद्भूत अर्थात् अप्रियरूप बनता है। अतः वे हमेशा अतृप्त ही रहते हैं। इन्हें आहारजन्य (सुखकी प्राप्तिके बदले उल्टा) दुःख ही मिलता है। जब कि तथाविध शुभ कर्मके उदयके कारण यह आहार देवोंके लिए मनोद्भूत—प्रिय, रुचिकर तथा सुखद है और इसलिए उन्हें परमसंतोषरूप तृप्ति भी मिलती है।

इसी कारण शास्त्रमें देवोंको 'मनोभक्षी' के रूपमें पहचाने जाते हैं। क्योंकि सभी देव तथाविध शक्ति अनुसार अपने मनसे शरीरको पुष्ट कर सके वैसे मनोभक्षणरूप आहार पुद्गलोंको ग्रहण करके तृप्त बनते हैं।

ओज आहार—देवोंको छोड़कर शेष जीवोंके लिए अनाभोगिक।

लोम आहार—सर्व जीवोंमें आभोगिक तथा अनाभोगिक दोनों प्रकारसे।

प्रक्षेप (कवल) और मनोभक्षणरूप आहार—द्विइन्द्रियोंसे लेकर पंचेन्द्रियों तकके सभी जीवोंमें आभोगिक ही मिलता है। जीव अनाभोगिकरूप आहार ग्रहण जीवनपर्यंत निरंतर करते ही रहते हैं, जब कि आभोगिकके लिए वैसा नहीं होता है। [१८६]

अवतरण—यहाँ पर इससे पहले हम देवगति आश्रयी आहारमान बता चुके हैं। अब आहारके प्रकरणमें ही प्रवर्तमान नरक, तिर्यच तथा मनुष्यगति आश्रयी आहारका कालमान जणाते हैं।

तह विगलनारयाणं, अंतमुद्भूता स होई उकोसो ।

पंचिदितिरिनराणं, साहाविय छट्ट अट्टमओ ॥ १८७ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १८७ ॥

विशेषार्थ—द्विइन्द्रिय, तीइन्द्रिय तथा चौरिन्द्रिय आदि विकलेन्द्रिय जीव तथा नरक आहारके सतत अभिलाषी (इच्छुक) होनेसे एकबार आहार ग्रहण करनेके बाद फिरसे दूसरी बार उन्हें उत्कृष्टतापूर्वक एक अंतमुद्भूतके अन्तर पर विशिष्ट आहारकी इच्छा होती है।

[अन्यथा सामान्य आहार तो जीव मात्रको समय समय पर मिलता ही रहता है] पंचेन्द्रिय तिर्यचको आहारेच्छा स्वाभाविक^{३३६} रूपसे उत्कृष्ट छदठ पर अर्थात् दो अहोरात्रि (४८ घण्टे)के अन्तर पर होती है, तथा पंचेन्द्रिय मनुष्यको तीन अहोरात्रि (७२ घण्टे)के अन्तर पर आहारेच्छा होती है। परन्तु यह उत्कृष्ट आहार अन्तर यह सुषमसुषम कालमें भरत, ऐरवत, देवकुरु, उत्तरकुरु क्षेत्रवती तीन पत्योपमायुषी मनुष्य—तिर्यचोका जानें, लेकिन दूसरोका नहीं। साथ ही छदठ, अट्टम पर जो आहार ग्रहण कहा गया है, इसे स्वाभाविकरूपमें अर्थात् जब तप-रोगादिका अभाव हो तब ही समझना। लेकिन तप-रोगादिक संभव हो तो अनेक दिनों तक आहार ग्रहण संभवित बनता ही नहीं है।

वर्तमानके सामान्य तिर्यच मनुष्योंको अंतर्मुहूर्त पर अथवा अनियतरूप भी आहारकी इच्छा होती है, परन्तु तप रोगादि न हो तब, क्योंकि तपादि कारणसे तो छः छः मास तक भी आहार ग्रहण होता नहीं है।

पृथ्वीकायादिक एकेन्द्रिय लगातार आहाराभिलाषी होनेसे इनका कोई अन्तरमान होता ही नहीं है, अतः ग्रन्थकारने इस गाथामें बताया नहीं है। [१८७]

अवतरण—अब अनाहारक जीव कौन-कौनसे हैं तथा कौन-कौनसे जीवोंको कब-कब अनाहारकपन होता है? उसे अब बताते हैं।

विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समूहया अजोगी य ।

सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा ॥ १८८ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १८८ ॥

विशेषार्थ—आहारक तथा अनाहारककी व्यवस्थाके लिए गाथामें 'विग्गहगई' शब्दका प्रयोग किया गया है अतः विग्रहगति किसे कहे? और वह कब हो सकती है? उसे अगर हम समझ लें तो ही प्रस्तुत बात स्पष्ट समझ सके इसलिए उसका कुछ स्वरूप यहाँ समझ लें। जब कि इसी ग्रन्थकी गाथा ३२९—३१ में इसका विशेष रूपमें वर्णन करना उचित है, फिर भी प्रसंगोपात हम यहाँ पर उसकी कुछ स्पष्टता करते हैं।

विवक्षित भवका आयुष्य पूर्ण करके दूसरे किसी भवमें (अथवा मोक्ष पर) पहुँचनेके लिए अथवा एक शरीरको छोड़कर भवान्तरमें दूसरा शरीर ग्रहण करनेके लिए जीव दो प्रकारसे प्रस्थानगति करता है।

३३६. संहणी टीकाकारने यहाँ पर 'स्वाभाविक'का अर्थ 'तप रोगादिकका कारण न हो तब' ऐसा बताया है। परन्तु युगलिक मनुष्य-तिर्यचको तो तप या रोगका कारण होता ही नहीं है, तो उनका यह लेकिन किस प्रबल कारणरूप होगा? वह ज्ञानीगम्य।

१. ऋजु (सरल) और २. वक्रा (कुटिल) ।

ये गतियाँ एक भवसे लेकर दूसरे भवके बीच आती होनेसे इसे 'अन्तराल' गति भी कहते हैं । १. ऋजुगति—यह गति एक ही समयकी है, इसका दूसरा नाम 'अविग्रहा'^{३३७} भी है । इस गतिसे परभवमें जाता जीव मृत्यु पानेके साथ ही सीधी गतिसे उत्पत्ति स्थानमें सीधा एक ही समयमें उत्पन्न हो जाता है । इसे एकसे अधिक समय लगता ही नहीं है । इसका कारण यह भी है कि—संसारी जीवका मृत्यु स्थानका जो श्रेणिप्रदेश होता है उसकी समश्रेणिपर ही (छः दिशाओंमेंसे किसी भी एक दिशाकी) उत्पत्ति प्रदेश हो तो सूक्ष्म शरीरधारी जीव वक्रगतिसे न जाता हुआ सीधा ही अपने जन्म स्थान पर पहुँचता होनेसे अधिक समयका अवकाश रहता ही नहीं है ।

२. वक्रागति—यह गति एकसे अधिक समयवाली है । अतः एकविग्रहा—दो समयवाली, द्विविग्रहा—तीन समयवाली, त्रिविग्रहा—चार समयवाली और चतुर्विग्रहा^{३३८}—पाँच समयवाली; इस प्रकार वह चार प्रकारी है और इस गतिको 'विग्रहगति'^{३३९} ऐसा नामांतर भी हुआ है ।

वक्रगति ऐसा नामकरण क्यों किया गया है ? तो इसका समाधान इस प्रकार है कि—जीव एक शरीरको छोड़कर जब किसी दूसरे शरीरको ग्रहण करनेके लिए परभवकी ओर प्रस्थान (गति) करता है, तब स्वोपार्जित कर्मवशकारण उसे कुटिल वक्रगतिकी ओर जाना पड़ता है अर्थात् उसके द्वारा वहाँ उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है ।

इस तरह संसारी जीवोंका परलोकगमन ऋजु (सरल) और वक्रा (कुटिल)—इन दो गतियोंसे होता है । ऋजुकी बात तो ऊपर बतायी गई है । लेकिन वक्रगमन क्यों करना पड़ता है ? तो इसके समाधानमें यह बताते हैं कि—वक्रगतिसे जानेवाले जीवका मृत्युस्थान और उसका उत्पत्तिस्थान (ऋजुकी तरह) दोनों जब समश्रेणिपर होते नहीं हैं, लेकिन वक्रगतिरूप विश्रेणिपर होते हैं, इसी कारण जीव सीधा या श्रेणीभंग करके तिरछा भी जा सकता नहीं है । यह एक अटल नियम है, अतः इसे प्रथम सीधा जाकर बादमें मोड़ लेकर ही उत्पत्तिकी श्रेणिपर पहुँचकर उत्पत्ति प्रदेश पर पहुँचना पड़ता है । इन्हीं मोड़को धारण करनेका नाम ही वक्र गति है ।

ऋजुगति किसे प्राप्त होती है ?—कर्ममुक्त होकर मोक्ष पर जाते सभी जीवोंमें तथा संसारी जीवोंमें ऋजुगति मिलती है । इसमें मुक्तात्माका मुक्तिगमन (मोक्षगमन) हमेशा

३३७. तत्त्वार्थभाष्यमें यह नाम है ।

३३८. तत्त्वार्थभाष्यमें यह गति ही नहीं है ।

३३९. विग्रहोवक्रितभवग्रहः श्रेण्यन्तरसंक्रान्ति ।

उर्ध्व—समश्रेणिपर ही होता है। यह अटल नियम है, इसीसे यह रहस्य भी स्पष्ट होता है किं—जीवकी मूल्याति तो ऋजु (सरल) ही है, लेकिन अपने कर्मवशवर्ती होकर उसे वक्रका अनुभव करना पड़ता है।

वक्रागति किसे मिलती है?—सिर्फ संसारमें जन्म धारण करनेवाले जीवोंमें ही वक्रागति मिलती है जब कि मुक्तिगामियोंमें यह नहीं मिलती है।

इसमें भी चार प्रकारकी इन विग्रहगतियोंमेंसे एकविग्रहा और द्विविग्रहा तो सिर्फ त्रस जीवों मरकर पुनः त्रस होनेवाले हैं उनके लिए ही होती हैं क्योंकि त्रसनाड़ीमें मरकर त्रसनाड़ीमें ही उत्पन्न होनेवाले जीवोंमें अधिक वक्राका संभव रहता ही नहीं है।

जो जीव स्थावर है उनमें (ऋजु सहितकी) पाँचों गतियाँ होती हैं, क्योंकि उन्हें त्रसनाड़ीके बाहर भी जन्म धारण करना पड़ता है।

एक वक्रामें १, दोमें २, तीनमें ३, चारमें ४ (घुमाव) मोड़ आते हैं।

यहाँ शंका होती है कि—इतने सारे वक्राकी जरूरत पड़ती है क्या? तो इसका उत्तर है, हाँ। वस्तुस्थिति ऐसी है कि जीव तथा पुद्गलकी गति आकाशप्रदेशकी श्रेणि-पंक्ति अनुसार ही होती है। इसकी स्वाभाविक गति ही छः दिशाओंमेंसे किसी भी दिशाकी समानान्तर दिशामें ही होती है तथा इसका स्वाभाविकगमन अनुश्रेणिपूर्वक ही होता है, लेकिन विश्रेणिपूर्वक कभी भी होता ही नहीं है। अतः जब उसे असमानान्तर अथवा विषमश्रेणिपर पहुँचना होता है तब अवश्य ही अनेक घुमाव परसे गुजरना पड़ता है जिसमें अपने पूर्वकृत कर्म भी कारणरूप बनते हैं। और इन घुमावोंके समय अनाहारकपनकी स्थिति होती है।

अनाहारकपन कब-कब होता है?

इस प्रकार जब विग्रहगतिको प्राप्त हुए जीवोंमें पाँच समयकी चतुर्विग्रहा होती है तब चार मोड़ आते होनेसे चार समय (व्यवहारनयसे ३) अनाहारीपन होता है, तो ऐसी ही दूसरी विग्रहागतियोंमें ३-२-१ (व्यवहारनयसे २-१-०) अनुक्रमसे अनाहारीपन मिलता है।

ऋजुगतिसे उत्पन्न होनेवालोंको अनाहारक बननेका अवसर मिलता ही नहीं है। उनका विशेष स्वरूप ३२९ से ३३१ तककी गाथाके विवरणसे ही समझ लेना।

केवलज्ञानी जब आठ समयके समुद्घात करते हैं तब (केवल कार्मणकाययोगमें वर्तित) उनका ३, ४, ५—ये तीन समय अनाहारक ही होते हैं।

अयोगी—चौहदवें गुणस्थानकपर स्थित अयोगी केवली जब शैलेपीकरण करते हैं तब उसी अवस्थामें वे अन्तर्मुहूर्त (अत्यल्प समयोंके) काल तक अनाहारक होते हैं ।

सिद्धके जीव जो सकल कर्मका श्रेय करके मुक्तावस्थाको प्राप्त होते हैं, वे सादि-अनन्तकाल तक अनाहारक ही होते हैं ।

ऊपरि प्रसंगोंको छोड़कर शेष सभी जीव हरेक प्रसंग पर आहारक ही होते हैं । यहाँ अनाहारीपन वह एकान्त सुखका कारण है, जब कि आहारीपन वह दुःखका कारण है । इसलिए मुमुक्षुओंको अनाहारीपदकी प्राप्तिके लिए उद्यमशील बनना चाहिए । [१८८]

अवतरण—अब देवोंकी तथाविध भवप्रत्ययिक सम्पत्तिका वर्णन करते हैं ।

केसद्विमंसनहरोम—रुधिरवसचम्भमुत्तपुरिसेहिं ।

रहित्रा निम्मलदेहा, सुगंधिनीस्सास गयलेवा ॥ १८९ ॥

अंतमुहुत्तेणं चिय, पञ्जत्तातरुणपुरिससंकासा ।

सन्वंगभूसणधरा, अजरा निरुत्रा समा देवा ॥ १९० ॥

अणिमिसनयणा, मणक—ज्जसाहणा पुप्फदामअमिलाणा ।

चउरंगुलेण भूमि, न छिबंति सुरा जिणा विति ॥ १९१ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ १८९-१९१ ॥

विशेषार्थ—सभी देव अपने पूर्वभवके संचित शुभ कर्मोदयके प्रभावसे हमेशा शारीरिक आकृतिमें अतिशय सुन्दर, शरीर—मस्तक पर केश, हड्डियाँ, मांस, नाखून, रोंयें, रुधिर, चरबी, त्वचा, मूत्र, विष्टा (मल), (स्नायु) इतनी वस्तुओंसे रहित ^{३४०}शरीरवाले होते हैं । ऐसी कलुषित वस्तुसे सर्वथा रहित होनेके कारण वे निर्मल देहधारी—उज्ज्वल शरीरी पुद्गलोंको धारण करनेवाले, कर्पूर—कस्तूरी आदि विशिष्ट सुगन्धी द्रव्योंसे युक्त सुगन्धी श्वासोश्वासवाले, जात्यवन्त सुवर्णके लेप जैसे, रज प्रस्वेद आदि उपलेपरहित होते हैं । वे प्रवालवत् रक्त अधरवाले, चन्द्र समान उज्ज्वल वैक्रियभावी दाँतोंवाले होते हैं । यहाँ वैक्रियभावी विशेषण देनेका कारण यह है कि केश—^{३४१}नाखूनादिका अस्तित्व औदारिकभावी है, जब कि देवों तो वैक्रियशरीरी ही होनेसे यह वस्तु स्वाभाविक रूपसे तो होती नहीं है, लेकिन अगर जरूरत पड़ी तो वे उत्तरवैक्रियसमान केश, नाखूनादि सर्व स्वरूप धारण कर

३४०. अर्थात् मनुष्य जनमके दुःख, त्रास और भयरूप मानी जानेवाली कोई भी चीज उनमें होती नहीं है ।

३४१. उवाइसूत्रमें दन्त, केशादिका अस्तित्व बताया गया है ।

सकते हैं। इससे समझना कि अगर देवोंमें सप्तधातुका अभाव मिलता है तो शरीर किस पर आधारित (टिका हुआ) रहता है? जिस तरह औदारिक शरीरमें बैठने-उठने या घुमनेकी क्रिया अस्थि, रुधिर, मांसादिककी मददसे ही सम्भवित बनती है, उस प्रकार देवोंमें तो यह नहीं होता; तो क्या उनका शरीर मांसके पिण्ड जैसा होगा क्या? तो इसके उत्तरमें यह समझना है कि—देवोंमें संघयण नहीं मिलता अर्थात् अस्थिरचनाका बिलकुल अभाव होता है। तदनन्तर गाथामें बताया गयी अन्य चीजें भी मिलती नहीं है, क्योंकि वैक्रियवर्णणाके पुद्गलोंसे ही देवोंका शरीर बना हुआ है, अतः औदारिकभावी सप्तधातुओंका अभाव जरूर है, लेकिन इसके अर्थमें उनका शरीर मांसके पिण्ड समान समझना नहीं है। लेकिन जहाँ जहाँ कठिनाई-कठोरता या कुछ-कुछ कोमलताकी जरूरत है वहाँ-वहाँ ये पुद्गल अधिक समूहमें सुव्यवस्थितरूपसे पाये जाते हैं।

अतः देवोंका शरीर अत्यन्त स्वच्छ, तेजोमय—दसों दिशाओंको अत्यन्त प्रकाशित करनेवाला, सिर्फ सर्वोत्तम वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शदिसे उत्पन्न तथा शुभ वैक्रिय पुद्गलोंके समूहसे बना हुआ सौभाग्यादि गुणयुक्त होता है। १८९]

देव-देवियाँ देवशय्यामें ही उत्पन्न होते हैं अतः उन्हें मनुष्यादिवत् योनिमें उत्पन्न होना या गर्भ-दुःखको सहन करना पड़ता नहीं है, परन्तु उत्पत्तिस्थान पर देवदूष्य वस्त्रसे आच्छादित विवृत्तयोनीरूप एक देवशय्या होती है। देवगतिमें जनम लेनेवाले जीव अपने पूर्वके महान् पुण्योदयसे एक क्षणमात्रमें उपपातसभामें देवदूष्य वस्त्रके नीचे शय्या पर प्रथम समय पर अंगुलके असंख्यातवें भाग पर उत्पन्न होते हैं। जनमके साथ ही आहारदिक पाँच पर्याप्तियाँ एक ही अन्तर्मुहूर्तमें समाप्त करनेपूर्वक पूर्णपर्याप्तियाँ लेते हैं और उत्पन्न होनेके साथ ही भवस्वाभाविक अवधि अथवा विभंगज्ञानको प्राप्त करके, यथायोग्य भोगयोग्य तरुण अवस्थावान् हो जाते हैं। इसी कारणसे अन्य गतिके जीवोंकी तरह देवोंमें गर्भधारण-कुक्षि जन्म-बाल्यवृद्धादि भिन्न अवस्थाएँ आती नहीं हैं। जब वे देवशय्यामें जनमते हैं उस समय स्वाभाविक सुन्दर रूपवाले वस्त्राभूषणरहित होते हैं, परन्तु इसके बाद ही वहाँ उपस्थित रहकर सत्कारनेवाले सामानिकादि देव-देवियाँ 'जय जय' शब्दपूर्वक नमस्कार करके, जिनपूजनसे प्राप्त अनेक लाभोंको स्वामीके मनोगत अभिप्रायसे बताकर उपपात सभाके पूर्वद्वारसे सभी आभियोगिकादि देव, स्वाभाविक विकुर्वित अनेक भाँतके समुद्र-जलौधिसे भरे हुए, उत्तम रत्नोंके महाकलशोंसे द्रहमें ले जाकर स्नान कराते हैं तथा बादमें अभिषेक सभामें स्नान कराते हैं। तदनन्तर उस्ताही सभी देव अलंकार सभामें विधिपूर्वक ले जाकर, सिंहासन पर बिठाकर शरीर पर शीघ्र सुवर्णके उत्तम देव-वस्त्र, रत्नावलि आदि हार, अंगूठी (मुद्रिका), कुण्डल, अंग-केयूरदि सुशोभित वस्त्रोंकी सर्वांग पर पहनाते हैं। इसके बाद व्यवसाय सभामें विधिपूर्वक (प्रदक्षिणादि)

पूर्वद्वारसे ले जाकर वहाँ पुस्तकादि दर्शाते हैं । जनमे हुए ये देव उस पुस्तकसे अपने लिए यथायोग्य अवसरके प्रसंगों तथा परंपरागत रस्म-रिवाजोंसे सुमाहितगार बनकर, नन्दननामक बावडीमें पूजाभक्ति निमित्त पुनः स्नानादिक करके ^{३४२}जिनपूजादिकके उत्तम सभी कार्य क्रमशः विधिपूर्वक करके, बादमें विधिपूर्वक सुधर्मासभामें आरूढ़ होकर स्वकार्यमें तथा देव-देवीके विषयादिक सुखमें तल्लीन बनते हैं ।

साथ ही वे देव सर्वांग परमस्तक, कण्ठ, हस्त, कर्णादि अवयवों पर आभूषणोंको धारण करनेवाले, 'अजर' अर्थात् जरावस्थाहित, अर्थात् हमेशा अवस्थित यौवनवाले, 'निरुआ' अर्थात् निरोगी, खांसी-धासादि सर्व व्याधिमुक्त, 'समा' अर्थात् समचतुरस्र संस्थानवाले हैं । [१९०]

साथ ही सभी देव भवस्वभावसे ही लील्युक्त सुन्दर अनिमेषनेत्रवाले अर्थात् जिनके नेत्र कभी भी पलक मारते नहीं है अथवा बन्ध होते नहीं हैं, अपरिमित सामर्थ्यसे 'मनसे ही सर्व कार्यके साधक' अम्लानपुष्पमाल्य^{३४३} अर्थात् खीली हुआ (विकस्वर, सुगन्धयुक्त देदीप्यमान) सदा ही प्रफुल्लित कल्पवृक्षकी लम्बी पुष्पमाल्यको उत्पत्तिके बाद (अलंकार सभामें) धारण करनेवाले, साथ ही पृथ्वी पर आगमन करते समय पृथ्वीका

३४२. ये नियम सम्यग्दृष्टि देवके लिए ही समझे । मिथ्यादृष्टिदेव अपने आराध्य देवादिककी विधि ही उपयोगमें लाते हैं ।

३४३. प्रश्न—देवोंके कण्ठवर्ती पुष्पमाल्या संचित होती है कि अचित्त ?

अगर यह संचित है तो माला कदावृक्षमेंसे बनी होनेसे एकेन्द्रिय है और एकेन्द्रिय जीवोंका आयुष्य १० हजार सालका है तो देवोंकी सागरोपम जितनी उम्र तक यह माला संचित-सचेतनपनसे हरी (खीली हुई) कैसे रह सकती है ?

और यदि उसे हम अचित्त माने तो यह माला देवोंके ज्यवनान्त पर मुरझाने लगती है ऐसा सिद्धांतमें कहा है, तो अचित्त माला किस तरह मुरझा सकती है ?

उत्तर—शास्त्रोंमें देवोंकी माला संचित होती है कि अचित्त इस विषयमें किसी भी ग्रन्थमें स्पष्ट उल्लेख देखनेको नहीं मिला है अतः अनेक तर्क-वितर्क संभवित बनते हैं, फिर भी संचित अथवा अचित्त दोनों रीतिले माननेमें हरकत-शंका नहीं है । अगर इसे संचित माने तो जिस समय एक विवक्षित जीवका आयुष्य पूर्ण होता है अर्थात् उस स्थान पर वह जीव या कोई दूसरा जीव उस मालामें बनस्यति स्वरूप उत्पन्न हो और यह माला अम्लान रहे, अथवा अचित्त माने तो 'म्लान' अर्थात् कांति-तेज प्रथमावस्थासे कुछ होते जाते हैं ऐसा मानना अधिक उचित लगता है । तत्त्व ज्ञानीगम्य ।

स्पर्श न करके चार अंगुल ऊँचे रहनेवाले, महान् संपत्ति, सौभाग्य सुखको धारण करनेवाले (अर्धमागधी भाषा बोलनेवाले) देव हैं ऐसा जिनेश्वर कहते हैं । [१९१]

अवतरण—देव किन कारणोंसे लेकर मनुष्यलोकमें आते हैं ? इसे बताते हैं ।

पंचसु ज्जिणकल्लाणे—सु, चेव महरिसितवाणुभावाओ ।

जम्मंतरनेहेण य, आगच्छंती सुरा इइइं ॥१९२॥

गाथार्थ—जिनेश्वर देवोंके पाँचों कल्याणकोंमें, महर्षियोंके तपके प्रभावसे आकर्षित होकर तथा जन्मान्तरके कारण शेष किसी स्नेहवश देव यहाँ (आलोकमें) आते हैं । ॥१९२॥

विशेषार्थ—तद्भवमें तीर्थंकर परमात्मारूप होनेवाली व्यक्ति जब देवलोकदिक गतिमेंसे भरतादिक कर्मभूमिमें च्यवकर प्रकर्ष पुण्यशाली माताकी कुक्षिमें गर्भरूप उत्पन्न होती हैं, तब महानुभाव परमात्माका जीव जगज्जंतुके कल्याणार्थक मनुष्यलोकमें उत्पन्न हुआ है ऐसा अपने अवधिज्ञानसे जानकर देवगण उनका च्यवन कल्याणकका महोत्सव मनाते हैं । पुण्यात्माके गर्भके प्रभावसे माताको गर्भवेदना, उदरवृद्धि, जन्मादिक काल पर अशुचिपन आदि कुछ भी होता नहीं है ।

अनुक्रम पर गर्भका यथायोग्य समय होते ही परमात्माका (अवधिज्ञानपूर्वक) जनम होता है, जो समग्र विश्वको तारकरूप होनेसे नारकीको भी क्षणके लिए सुखका कारणरूप बनता है । परमात्माका जनम होते ही सर्वत्र आनन्द तथा मंगल होता है । इस प्रसंग पर इन्द्रादिक देव सुधोषा घण्ट द्वारा सभी देवोंको खबर (सँदेसा) करते हैं, तब सभी देव इकट्ठे होकर अपने-अपने विमान द्वारा इसी लोकमें जन्मगृह पर आकर, अपनी विद्याबलसे प्रभुके प्रतिबिंबको उनकी माताके पास रखकर, मूल शरीरको स्वयं ही ग्रहण करके अपना ही पंचरूप करनेपूर्वक मेरुपर्वत पर जाकर अभिवेकादि महाक्रियाएँ करते हैं । इस प्रकार देव-देवियाँ अनेक प्रकारसे और बड़ी धूमधाम (ठाट-बाट)से प्रभुके जन्मकल्याणकको मनाते हैं ।

अनुक्रमानुसार वृद्धि पाते-पाते प्रभु अपने भोगावली कर्मक्षय पूर्ण होते ही, शाश्वत नियमानुसार लोकान्तिक देवोंके आचार पालन निमित्त जय जय शब्दरूप तीर्थप्रवर्तन करनेकी सूचना मिलते ही जगतको एक साल तक प्रचुर (बहुत, विपुल) मात्रामें धनादिकका दान देकर दारिद्र्य दूर करके, जब दीक्षा लेनेके लिए तैयार होते हैं तब भी दीक्षाकल्याणक महोत्सवको मनानेके लिए सभी देव यहाँ आते हैं ।

इस प्रकार दीक्षा ग्रहण करनेके बाद सिर्फ जगत्जंतुके कल्याणार्थक शुद्ध मुक्तिमार्गका

आदर्श बतलानेके लिए उच्चतम, अहिंसा, उग्र तप-संयमका सेवन करते हुए, उपस्थित अनेक उपद्रवोंको समभावसे वेदते चार घातीकर्मका क्षय करके, वीतरागपन प्राप्त करके तेरहवें गुणस्थानक पर जब केवलज्ञानी बनते हैं तब उसी केवलज्ञान कल्याणककी महिमाको गाने-मनानेके लिए देव यहाँ आते हैं ।

केवलज्ञानी तीर्थकर अपनी पैंतीस गुणयुक्त प्रभावित वाणी द्वारा विश्वके प्राणियोंको सच्चा मुक्ति-सुखका मार्ग दिखलाकर, अनेकोंका कल्याण करके या करवाके उसके द्वारा ही अपने बाकी (शेष) बचे चार भवोपग्राही कर्मोंका क्षय करके निराबाधरूपसे जब मोक्ष पाते हैं, उस समय उन महानुभाव परमात्माके मोक्ष कल्याणकको मनाने देव यहाँ आते हैं ।

इस प्रकार च्यवन (गर्भ)—जन्म-दीक्षा-ज्ञान और मोक्ष इन्हीं पाँचों कल्याणकोंको मनानेके लिए देव मनुष्यलोकमें आते हैं ।

इसके अतिरिक्त किसी महर्षिके महान् तपके प्रभावसे आकर्षित होकर उनका माहात्म्य बढ़ानेके लिए अथवा बन्दन-नमस्कारादिकके लिए, साथ ही जन्मांतरके स्नेहादिकके कारण अर्थात् मनुष्यादिककी स्त्री पर किसी रागवश अथवा द्वेषबुद्धिसे प्रेरित (संगमादिक जिस प्रकार आये थे वैसे) इहलोकमें (इसी धरती पर) आना पड़ता है ।

इस तरह पूर्वभवके किसी स्नेहके बन्धनसे ग्रस्त बने देव अपने किसी मित्रके सुखके लिए अथवा तो किसी दुश्मनके दुःखके लिए नरकमें भी जाते हैं । [१९२]

अवतरण—अब किन-किन कारणोंसे देव मनुष्यलोकमें आते नहीं हैं ? इसे बताते हैं ।

संकंतदिञ्चपेमा, विसयपसत्ताऽसमत्तकत्तञ्चा ।

अणहीणमणुअकज्जा, नरभवमसुहं न इति सुरा ॥१९३॥

चत्तारि पंचजोयण, सयाइं गंधो य मणुअलोगस्स ।

उड्हं वच्चइ जेणं, न उ देवा तेण आवन्ति ॥१९४॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ १९३-१९४ ॥

विशेषार्थ—जब देवलोकमें देव उत्पन्न होते हैं तब देवलोकवर्ती अत्यन्त सुन्दर देवांगनाओंमें नवीन-दिव्य प्रेम संक्रान्त (प्रवेश भावयुक्त) बनता है । अति मनोहर देवियोंके सुन्दर शब्द-रूप-रस-गन्ध तथा स्पर्शके विषय अति सुखकर और मनोज्ञ होनेसे देव उनमें अत्यन्त आसक्त बनते हैं, अतः इच्छा मात्रसे ही स्वर्ग सम्बन्धी अत्यन्त सुन्दर रूप-रस-गन्ध-स्पर्श तथा शब्दोंमें उत्पन्न होनेके साथ ही प्रसक्त होते हैं । इसीलिए जिनका स्वकर्तव्य समाप्त नहीं हुआ अर्थात् उन्हें वहाँ ऐसा विषयादिक सुख मिलता है कि स्नान करके तैयार हो जायँ इतनेमें ही नाटकप्रेक्षणादिका मन होता है और यह सुख पूर्ण हुआ न हुआ

वहाँ तो दूसरे अनेक सुखोंमें वे तल्लीन बनते जाते हैं । इस प्रकार वे ^{३४४}देवांगनादिके प्रति अपूर्ण कर्तव्यवान् रहते हैं तथा मनुष्याधीन कुल भी कार्य उन्हें करना पड़ता नहीं है, क्योंकि वे अनुपम सामर्थ्यवान् होनेसे स्वयमेव स्वकार्यके साधक हैं । इन्हीं सब कारणोंसे अशुभ गन्धयुक्त इस मनुष्यलोकमें देव आते नहीं हैं । [१९३]

अशुभगन्धोपेतपन किस तरह होता है ?

मनुष्यलोकके मनुष्य, तिर्यचादिके मृत-क्लेवरोंमेंसे तथा मूत्र-पुरीषादिमेंसे उत्पन्न अशुभ गन्ध जब (श्री अजितनाथ भगवान् आदिके समयमें मनुष्य जब अधिक होते हैं तब मृत क्लेवरादिका प्रमाण (मात्रा) अधिक शक्तिशाली होता है तब गन्धका प्रमाण भी) अधिक बनती है ^{३४५}तब पाँचसौ योजन तक अथवा तो चारसौ योजन तक ऊँची जाती है । तथा पृथ्वीकी चारों ओर दुर्गन्धयुक्त वातावरण हमेशा रहता होनेसे देव इसी मनुष्यलोकमें आनेका पसंद नहीं करते हैं । वे अपने स्वर्गीय सुखका आनन्द छोड़कर यहाँ आये भी क्यों ?

सिर्फ उक्त गाथाओंमें बताए गए अनुसार कल्याणकादिके विशिष्ट प्रसंग पर सदा कालसे चले आते नियमानुसार परमात्माके पुण्यके प्राग्भारसे—प्रभावसे ही देव इस लोकमें आते हैं । [१९४]

अवतरण—वैमानिक निकायकी समाप्ति करते देवोंमें भवप्रत्ययिक अवधिज्ञानका क्षेत्र किसमें कितना होता है ? इसे बताते हैं । तथा प्रसंगवश साथ-साथ ही नारकी, देव, मनुष्य और तिर्यचके अवधिज्ञानका संस्थान-आकार भी बताते हैं ।

३४४. वदाचित् वे देव अपने पूर्वजन्मके उपकारी कुटुम्ब-परिवार, गुरु आदिसे मिलने, अगर उन्हें अपनी सम्पत्ति भी बताना चाहे, परन्तु जन्मके बाद यहाँ तुरन्त आनेवाले देवोंको वे देवियाँ उपस्थित होकर उन्हें प्रेमयुक्त ताने मारकर (उपहास द्वारा) लज्जित करके हावभावसे पुनः येन केन प्रकारेण अपनी ओर आकर्षित करती हैं, तदनन्तर देव वहाँ सुखमें लीन हो जाते हैं और यहाँ मनुष्यलोकमें आना भूल जाते हैं ।

३४५. गन्धकी इन्द्रियों (घ्राणेन्द्रिय)के पुद्गल ऊँचे नौ योजन तक ही जाते हैं । परन्तु यहाँ जो पाँचसौ योजन प्रमाण बताया गया है तो उसके लिए इस तरह समझना है कि यहाँसि जो गन्धके मूल पुद्गल ऊपर गए हैं वे अपान्तरालसे ऊपर आये हुए अन्य पुद्गलोंको अपनी गन्धसे वासित करते हैं, तब वासित बने हुए ये नये पुद्गल और ऊपर जाकर अन्य पुद्गलोंको वासित करते हैं । इस प्रकार अन्यान्यवासित पुद्गलोंमें उतने योजन तक गन्ध जानेका सम्भव सम्झ लें ।

उपदेशमाला कर्गिका टीकामें तो ८०० से १००० योजन तक गन्ध जा सकती है ऐसा बताया है ।

दो ^{३४६}पदमकप्पपदमं, दो दो दो वीअतइयगचउत्थिं ।
 चउ उवरिम ओहीए, पासंति अ पंचमिं पुढविं ॥१९५॥
 छट्ठिं छग्गेविज्जा, सत्तमिमियरे अणुत्तरसुरा उ ।
 किंचूणलोगनालिं, असंखदीवुदहि तिरियं तु । १९६॥
 बहुअयरं उवरिमगा, उद्धं सविमाणचूलियधयाई ।
 उणद्धसागरे संख-जोयणा तप्परमसंखा ॥१९७॥
 पणवीस जोयणलहू, नारय-भवण-वण-जोइकप्पाणं ।
 गेविज्जणुत्तराण य, जहसंखं ओहिआगारा ॥१९८॥
 तप्पागारे-पल्लग, -पडहग-झल्लरी-मुईंग-पुप्फ-जवे ।
 तिरियमणुएसु ओही, नाणाविहसंठिओ भणिओ ॥१९९॥

गाथार्थ—पहले दो कल्पके देवता अपने अवधिज्ञानसे प्रथम नरक पृथ्वी तकका क्षेत्र (अधो) देख सकते हैं, उसके बादके दूसरे दो कल्पके देव दूसरे नरक तक, बादके दो कल्पके देव तीसरे नरक तक, तदनन्तर दो कल्पके देव चौथे नरक तक और बादके चार कल्पके देव पाँचवीं नरकपृथ्वी तकके क्षेत्रको देख सकते हैं । ॥ १९५ ॥

तदनन्तर छः प्रवेयकके देव छहवें नरक तक और उसके बादके ऊपर तीन प्रवेयकके देव सातवीं नरक पृथ्वी तक, साथ ही अनुत्तर देव कुछ न्यून प्रमाण लोकनालिकाको देखते हैं ।

साथ ही सौधर्मादिक सभी देव तिच्छुं असंख्याता द्वीप-समुद्रोंके क्षेत्रको देख सकते हैं । ॥ १९६ ॥

यहाँ फर्क इतना है कि उनके उसी क्षेत्रके ऊपर-ऊपरके कल्पवाले देव, तिच्छुं क्रमशः नीचे-नीचेके कल्पवाले देवोंसे अधिक विशुद्ध-विशुद्धतर अवधिज्ञानके प्रभावसे अधिक-अधिकतम और सर्वकल्पगत देव तो अपने-अपने विमानकी चूलिकाकी धजा तक ऊँचा देख सकते हैं । और इसमें भी आवे सागरोपमसे न्यून आयुष्यवाले तिच्छुं संख्य योजन क्षेत्रको देख सकते हैं और उससे अधिकायुष्यवाले देव असंख्य योजन तक देख सकते हैं । ॥ १९७ ॥

लघु आयुष्यवाले देव तिच्छुं २५ योजन तक देख सकते हैं । नारकी, भवनपति,

व्यन्तर, ज्योतिषी, बारह कल्प, प्रैवेयक तथा अनुत्तर देवका यथासंख्य अवधिज्ञान क्षेत्रका आकार निम्नानुसार है । ॥ १९८ ॥

जहाज (जल्लयान), प्याला, पटह, झाल्ल, मृदंग, पुष्पचंगेरी और यव (जव) अर्थात् यव नालिकाकारका होता है । तिर्यचों तथा मनुष्योंका अवधिज्ञान छोटा-छोटा (विविध) प्रकारके संस्थानवाला बताया गया है । ॥ १९९ ॥

विशेषार्थ—सिद्धान्तमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल ये पांच ज्ञान बताए हैं । इन ज्ञानोंमें सभी ज्ञानोंका समाविष्ट हो जाता है । एक एक ज्ञान क्रमशः बढ़िया-बढ़तर है । इनमेंसे पहले दो ज्ञान हरेक जीवमात्रमें न्यूनाधिकपनसे होते ही हैं और इतनी भी ज्ञानचेतनाके कारण ही जीव, जीवरूप पहचाना जाता है; अन्यथा वह अजीव ही है । साथ ही अवधि आदि तीन ज्ञान विशिष्ट गुणकी भूमिका पर पहुँचनेके बाद ही प्राप्त होता है । इनमें अंतिम केवलज्ञान तो चौदह राजलोक तथा अलोकके सभी पदार्थोंको आत्मसाक्षात् दिखलानेवाला है, अस्तु । अब यहाँ पर सिर्फ अवधिज्ञानका विषय ही जरूरी होनेसे अन्य चर्चाको छोड़कर उसे ही समझेंगे ।

अवधिज्ञान = अवधि अर्थात् मर्यादाशील जो ज्ञान है वह । अब मर्यादा किसकी ? तो रूपी और अरूपी इन दोनों प्रकारके पदार्थोंमेंसे सिर्फ रूपी पदार्थका ही आत्मसाक्षात्कार कराके वह मर्यादित बना है । यह ज्ञान अनुगामी आदि छः भेद अथवा असंख्य और अनन्त भेदोंसे प्राप्त होता है । इस ज्ञानका ज्ञानी (मालिक) अपने स्थान पर बैठकर ही जिस चीजको देखनेकी इच्छा है वहाँ उपयोग (ध्यान देना) करना पड़ता है । यह ज्ञान बहुत ही रहस्यमय (भेदयुक्त) और क्षेत्र सीमित तथा विभिन्न रीतिसे उत्पन्न होनेवाला है । यह ज्ञान भवप्रत्ययिक और गुणप्रत्ययिक ऐसे दो प्रकारसे उत्पन्न होता है । देवोंमें भवप्रत्ययिक ज्ञान होता है, क्योंकि देवभवमें उत्पन्न होते ही उसका उदय होता है । यह भवप्रत्ययिक अवधिज्ञान कौन-से देवोंमें ? किस प्रकार ? कितनी मात्रामें मिलता है ? उसे बताते हैं ।

उत्कृष्ट अधोअवधिक्षेत्र—अब सबसे पहले उत्कृष्ट विषयके बारेमें कहना होनेसे ग्रन्थकार प्रथम वैमानिक निकायाश्रयी अधःक्षेत्रमर्यादाको बताते हैं ।

प्रारम्भके दो कल्प — सौधर्म तथा ईशानकी ^{३४७}उत्कृष्टायुषी देव-देवियाँ (तथा सामानिकादि देव) अपने प्राप्त ज्ञानसे नीचे पहली रत्नप्रभा नरकपृथ्वीके अन्त तकके सभी रूपी पदार्थोंको देखनेके लिए शक्तिमान है । सनत्कुमार-माहेन्द्र कल्पके उत्कृष्ट आयुष्यवाले

३४७. जहाँ कल्पयुगल होता है वहाँ एकसे दूसरे कल्पके देव उसी क्षेत्रको विद्युद् रूपसे देखते हैं ऐसा समझे ।

इन्द्रादिक देव यावत् शर्कराप्रभापृथ्वीके अन्त तक, ब्रह्म-लांतक कल्पके देव वालुकाप्रभाके अन्त तक, शुक्र-सहस्रारके देव चौथी पंकप्रभाके अन्त तक और आनत-प्राणत-आरण-अच्युत कल्पके देव पाँचवीं धूमप्रभाके अन्त तक देख सकते हैं । लेकिन इतना विशेष समझे कि उत्तरोत्तर कल्पके देव एक-दूसरेसे अधिक विशुद्धतर विशुद्धतररूप क्रमशः पदार्थोंके बहुपर्यायोंको देख सकते हैं । [१९५]

प्रारम्भके छः प्रैवेयकके देव छट्टी तमःप्रभा पृथ्वी तक, बादके (ऊपरके) तीन प्रैवेयकके देव सातवीं तमस्तमप्रभा तक और अनुत्तर कल्पके देव (अपनी धजाके अन्तसे ऊपर नहीं इसलिए) कुछ न्यून ऐसी लोकनालिका अर्थात् पंचास्तिकायसे पूर्ण चौदह राजप्रमाण क्षेत्रको देख सकते हैं । ऊपरि तीन प्रैवेयकके अतिरिक्त ये देव सातवीं नरक अधोवर्ती अलोककाश तकके विषयको भी जानते हैं ।

उ. तिर्यक् अवधिक्षेत्र—सौधर्मसे लेकर अनुत्तर तकके देव तिच्छु असंख्याता द्वीप-समुद्र तक (लेकिन उत्तरोत्तर एक-दूसरेसे अधिक असंख्य योजनरूप) देख सकते हैं । अर्थात् असंख्यातामें असंख्य भेद पढ़नेसे सौधर्म देव जिस असंख्य द्वीपसमुद्र देख सकते हैं, ईशान देवलोकवासी देव इससे भी अधिक असंख्य प्रमाण अधिक द्वीप-समुद्रोंके क्षेत्रको देख सकते हैं अथवा उसी क्षेत्रको अधिक स्पष्ट तथा सविशेष देख सकते हैं । इस तरह अधिक-अधिकतर-तमरूप अधिक उत्तरोत्तर कल्पके देवोंको अवधिज्ञानके प्रकाशमें विशुद्ध-तर-तमपनका सद्भाव होनेसे उसी तरह देखनेमें वे शक्तिमान हैं ।

उ. उर्ध्व अवधिक्षेत्र—प्रत्येक कल्पके सौधर्मादिक सर्व देव ऊँचा तो भवस्वभावसे अपने अपने विमानकी धजाके अंत तक देख सकते हैं । लेकिन इससे भी उर्ध्वक्षेत्रमें देखनेमें वे अशक्तिमान है । [१९६-९७] इत्युत्कृष्टोऽवधिः ॥

सर्वजघन्य अवधि—इन देवोंका जघन्यअवधि विषय अंगुलके असंख्यवाँ भागरूप (वह कोई एक सम्यग्दृष्टि अवधिज्ञान सहित उत्पन्न होती है अतः उस समय उतना ही बड़ा होता है इसी अपेक्षासे) जानें । यह अवधिविषय पारभक्तिक सम्बन्धी कदाचित् प्राप्त होनेसे ग्रन्थकारने इसे मूलागाथामें बताया नहीं है ।

॥ इति वैमानिकानां जघन्योत्कृष्टमवधिक्षेत्रम् ॥

शेष तीन निकायमें अवधिक्षेत्रमान बताते हैं—

उत्कृष्ट तिर्यग्क्षेत्रम्—जिन देवोंका आयुष्य अर्ध सागरोपमसे न्यून हैं ऐसे भवनपतिकी नौ निकाय व्यन्तर, ज्योतिषी आदि सभी संख्य योजनका क्षेत्र देख सकते हैं अर्थात् उतने क्षेत्रके द्वीप-समुद्रोंको देख सकते हैं, और इससे अधिक अधिक आयुष्यवाले चमरेन्द्र,

बलिन्द्रादिक असुर असंख्य-असंख्य योजन अधिक-अधिकरूप देख सकते हैं । इस प्रकार ज्यों ज्यों आयुष्यकी वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों असंख्य योजनकी वृद्धि भी समझ लें ।

उत्कृष्ट उर्ध्वक्षेत्र—अपने अवधिके बलसे ही चमरेन्द्र उत्पन्न होते ही सौधर्मेन्द्रको देख सकता था, अतः भवनपति सौधर्मकल्प यावत् ऊपर देख सकते हैं । व्यन्तर और ज्योतिषी उत्कृष्टसे अधिकरूप संख्याता योजन तक ही ऊपर (ऊँचा) देख सकते हैं ।

उत्कृष्ट अधःक्षेत्र — सभी भवनपति असंख्य योजन (तीसरे नरकान्त) तक और व्यन्तर-ज्योतिषी संख्याता योजन तक देख सकते हैं ।

जघन्यावधिक्षेत्र—भवनपतियोंमें प्रथम निकायका, उर्ध्वादि तीनों बाजुपाल्य जघन्य अवधिक्षेत्र विषय असंख्य योजन, शेष नौ निकायका संख्य योजन, इनमें भी जघन्य दस हजार सालकी आयुपालोंका निश्चे २५ योजन, व्यन्तरका संख्य योजन, इनमें भी दस हजार वर्षायुषी व्यन्तरोंका २५ योजन, ज्योतिषीका संख्य योजनका अर्थात् संख्याता द्वीप समुद्रका भी लघुके बजाय बड़ा संख्याता इससे अधिक द्वीप-समुद्रका जानें । [१९८]

अवधिक्षेत्रका संस्थानाकार—नारकीका अवधिक्षेत्राकार तिरेंदाकार (तिरौंदा, तरणु) होता है । यह काष्ठके समूहसे बनाया हुआ सीधा-सरल तैरनेका त्रिकोण (त्रिभुज) आकारका-जल्यान साधन होता है ।

भवनपतिका आकार 'पट्याकार' होता है, यह लटदेशमें उपयोगी धान्य नापनेका प्याला-साधन विशेष है, जो ऊँचा होनेके साथ साथ नीचेसे ^{३४८} चौड़ाईवाला तथा ऊपरके भागसे कुछ सँकरा (संकीर्ण) होता है ।

व्यन्तरदेवका अवधिक्षेत्राकार पटहाकार होता है । यह एक प्रकारका लम्बा ढोल होता है जो ऊपर-नीचे दोनों भागों पर समान प्रमाणयुक्त और दोनों ओर गोल चमड़ोंसे जड़ा हुआ होता है जिसे देशी बाद्य बजानेवाले बजाते हैं वह ।

ज्योतिष्का अवधि^{३४९} क्षेत्राकार झल्लर्याकारमें (झल्लाकार) अर्थात् दोनों ओर विस्तीर्ण बलयाकार चमड़ोंसे सुशोभित, बीचमेंसे सँकरा, जिसे 'ढक्का'के उपनामसे पहचाना जाता है वैसा होता है । अतः यहाँ पाठशालामें उपयोगी कांस्यकी पतली घंटा (झालर) न समझकर, सँपेरे-मदारी जो डमरू या डुगडुगी बजाते हैं, वैसा ही समझे ।

कल्पोपपन्न (बारह देवलोक)का अवधिक्षेत्राकार मृदंगाकार होता है, जो एक देशी-

३४८. यह कथन ५०० गाथाएँ युक्त संग्रहणीके आधार पर है, शेष अन्य स्थानोंमें यह प्याला नीचेसे विस्तीर्ण तथा ऊपरसे संकीर्ण होता है ऐसा लिखा हुआ है ।

३४९. यहाँ कांस्यकी झालर न समझकर, 'डमरूकाकार' समझना अधिक योग्य है ।

वाद्य है। इसका एक ओरका मुख गोलकार विस्तीर्ण और दूसरी ओरका संकीर्ण लेकिन गोलकार चमड़ेसे सुशोभित मुखवाला होता है, जिसकी पीठ बीचसे ऊँची होती है।

नौ-प्रैवेयकका आकार 'पुष्पचंगेरी' जैसा अर्थात् गुंफित पुष्पोंसे शिखापर्यंत भरी हुई चंगेरी (परिधिसह छाव) होती है वैसा।

अनुत्तरदेवोंका अवधिक्षेत्र यवनालक अपरनाम कन्याचोलकका (प्राचीन कालमें पैरकी घुंटी तककी बनावटका प्रोक जैसा) आकारका है। अर्थात् कोई कन्या कंचुकी सहित अधो-वस्त्र जिस प्रकारसे पहनी हुयी होती है वैसा आकार उनके अवधिक्षेत्रका दिखायी पड़ता है। इससे यह साबित होता है कि इसमें स्त्रीके सिरका भाग कूट जाता है और गलेसे लेकर पैर तकका वस्त्र इसमें आ जाता है और यह उपमा भी जो दी गयी है वह यथार्थ है; क्योंकि अनुत्तरके देव पुरुषाकृति लोकके सिर-मस्तिष्कके स्थान पर हैं। वे देव वहाँसे लेकर अन्तिम सातवें नरकके तलवे तक देख सकते हैं। अब शेष रहा इसके ऊपरका एक मात्र सिद्धक्षेत्र स्थान (जिस प्रकार यहाँ मस्तिष्क शेष रहा है उसी प्रकार) और जब इस समग्र क्षेत्रको चौदह राजलोकके चित्रमें देखेंगे तो ऊपर जो दृष्टांत कहा-बताया गया है वह आपको यथार्थ लगेगा।

इस प्रकार जो आकार बताए गए हैं उन्हें चौदह राजलोकका चित्र अपने सम्मुख रखकर घटानेसे ठीक तरहसे समझ सकेंगे; क्योंकि क्षेत्राकार देखकर ही उपमाएँ दी हैं। यद्यपि ये सभी उपमाएँ सम्पूर्ण रीतिसे योग्य (यथार्थ) न भी लगे ऐसा सम्भवित हो सकता है, लेकिन फिर भी करीबन् मिलती आती है जरूर।

इस प्रकार देवोंके अवधिक्षेत्रोंके आकार बताये हैं। शेष तिर्यच तथा मनुष्यके अवधि-ज्ञानके क्षेत्राकार भी अनेक प्रकारी अनियत एवं भिन्न-भिन्न यथायोग्य होते हैं अर्थात् कि गोलकार या स्वयंभूरमण समुद्रमें जैसे बहुत-से मत्स्याकार होते हैं वैसे नानाविध आकार-संस्थानवाले होते हैं। [१९९]

अवतरण—संस्थानादि कहनेके बाद अब कौन-सी दिशामें किस देवका अवधिक्षेत्र अधिक होता है ? इसे बताते हैं।

उड्ढं भवणवणाणं, बहुगो वेमाणियाणऽहो ओही ।

नारय—जोइसतिरियं, नरतिरियाणं अणेगविहो ॥२००॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ २०० ॥

विशेषार्थ—भवनपति तथा व्यन्तर देवोंमें अवधिज्ञानक्षेत्र बहुत ऊँचा होता है। (इसी

उत्सर्पिणीमें चमरेन्द्रका सौधर्मकल्पमें जाना प्रसिद्ध है) तिरछे तथा नीचेके अवधिक्षेत्र बहुत अल्प होते हैं ।

वैमानिक निकायके देवोंका अवधिक्षेत्र अधिक नीचा होता है (कल्याणकादि प्रसंग पर अवधिसे तीर्थकरका जन्मादिक देख आना प्रसिद्ध है) यह तिरछे, अल्प और ऊँचाईमें (स्वविमान धजा पर्यंत होनेसे) उससे भी अल्प होता है ।

साथ ही नारकी तथा ज्योतिषी देवोंका अवधिक्षेत्र तिरछा अधिक और ऊँचा तथा नीचा अल्प होता है ।

मनुष्य और तिर्यचका क्षेत्र अनेक प्रकारका अर्थात् ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक् छोटा-बड़ा विविध संस्थानाकार रूप विभिन्न रीतिसे होता है । [२००]

॥ चारों गतिके बारेमें अवधिक्षेत्रका आकार और दिशा आश्रयी अल्पबहुत्व व्यवस्था यन्त्र ॥

जाति नाम	अवधिक्षेत्राकार	ऊर्ध्व अल्प - बहुत्व	अधोमान	तिर्यग्- मान
भवनपतिक	पत्याकार	ऊर्ध्वविशेष	अल्प	अल्प
ठयन्तरका	पडहाकार	"	"	"
ज्योतिषीका	झाल (झाल्त्र) के आकारका	अल्प	"	अधिक
वारह देवलोकका	मृदंगाकार	"	अधो अधिक	अल्प
नौ प्रैवेयकका	पुष्पचंगेरीके आकारका	"	"	"
अनुत्तरका	ययनालकाकार	"	"	"
नारकीका	तिरौंदाकार	"	अल्प	अधिक
मनुष्यका	विविधाकार	अनेकविध	अनेकविध	अनेकविध
तिर्यचका	"	"	"	"

॥ इति देवगत्यधिकारः ॥

॥ चारों निकायमें अवधिज्ञानका जघन्य-उत्कृष्टप्रमाण यन्त्र ॥

देवनाम जाति	ऊर्ध्व उत्कृष्ट अवधिविषय	अधः उत्कृष्ट अवधिविषय	तिर्यक् उत्कृष्ट अवधिविषय	तीनों प्रकारका जघन्यअवधि
१ असुर कु-नि. का शेष नौ नि. का दस हजार वर्षायुषी	सौधर्मान्त " "	तीसरे नरकांत " "	असंख्य योजन संख्य योजन " "	२५ यो. से अधिक-तर-तम २५ योजन संख्य यो. २५ योजन संख्य यो. अंगुलके असं. भागका
२ व्यन्तरीका दस हजारीका	संख्याता योजन "	संख्याता योजन "	" "	२५ योजन संख्य यो.
३ ज्योतिषीका १ सौधर्मका	संख्याता योजन स्वविमान- धजा तक	प्रथम नरकांत तलवे तक "	असंख्य योजन अधिक असंख्य योजन	"
४ ईशानका ३ सनत्कुमारका	" "	दूसरे नरकान्त "	इससे अधिक असं. योजन	"
५ माहेन्द्रका ५ ब्रह्मलोकका ६ लांतकका	" " "	" तीसरे नरकान्त "	" तीसरे चौथेके बजाय अधिक असं. योजन	"
७ महाशुक्रका ८ सहस्रारका	" "	चौथे नरकान्त "	पांचवें छटठवेंके बजाय	"
९ आनतका १० प्राणतका ११ आरणका १२ अच्युतका	" " " "	पांचवें नरकान्त " " "	अधिक असं. यो. सातवें आठवेंसे अधिक असं. यो. नौवें-दसवेंसे अधिक असं. यो.	" " " "
१ पहली प्रै. त्रिक पर २ दूसरी प्रै. त्रिक पर ३ तीसरी प्रै. त्रिक पर	" " "	छटठें नरकान्त " सातवें नरकांत तलवें पर	ग्यारहवें-बारहवेंसे अधिक असं यो. दोनों त्रिकसे भी अधिक असं. यो.	" " "
५ अनुत्तर पर	[कुछ न्यून लोकनालिका]	अधोलोकनालिका प्रान्त तक	स्वयंभूरमण समुद्र यावत्	"

॥ श्री कलिकुण्डपाञ्चनाथाय नमः ॥

चौथे वैमानिकनिकायाश्रयी छट्ठवाँ परिशिष्ट (६)

स्वर्गलोक क्या है सही ?

वर्तमान युगकी सुशिक्षित मानी जानेवाली और बुद्धिप्रधान होनेका दावा करनेवाली मानव जाति जितना प्रत्यक्ष देख सकती है या अपने प्रयोगसे जितना भी साध्य बना सकती है मात्र उतना अस्तित्व ही माननेके लिए तैयार हैं। इसमें पश्चिमी शिक्षा-संस्कारोंने भी हिस्सा लिया है, लेकिन जितना प्रत्यक्ष दिखायी दे उतना ही सत्य (सच्चा) और शेष सर्व झूठ ऐसी मान्यताएँ तो, ऐसे माननेवालोंके लिए भी अनेक प्रसंगसे बाधक बन सकती है, फिर भी खास करके धार्मिक बाबतोंमें इन मान्यताओंको महत्त्वका स्थान देते हैं तथा इसकी आड़ करते हैं, लेकिन यदि गहरायीसे सोच-विचार किया जायँ तो आत्महिताहितकी बाबतमें ये मान्यताएँ सच ही आत्मघातक ही दिखायी पड़ेगी।

भारतीय—जैन, वैदिक तथा बौद्ध इन तीनों परम्पराओंमें परलोकके अस्तित्वका स्वीकार किया गया है। तो इन तीनों संस्कृतिके प्रणेता, उत्तराधिकारी और वाहक (प्रवर्तक) ये सभी विचारशून्य होंगे क्या? कभी नहीं। वर्तमान दुनियाके लोग ही बुद्धिवान हैं और भूतकालके लोग नहीं थे ऐसा कोई कह सकेंगे क्या? हरगिज (कभी) नहीं। अस्तु।

दूसरी बात वे यह करते हैं कि—नरक और स्वर्ग यह तो शास्त्रों या धर्मगुरुओं द्वारा उपस्थित की गयी मात्र कल्पित मान्यताएँ ही है। इन्होंने 'नरक' समझाते हुए लोगोंके सामने बड़ा हाऊ (भयंकर भय) उत्पन्न कर दिया है तो स्वर्ग दिखानेके लिए बड़ा प्रलोभन भी बताया। यह तो जनताको धर्ममें खींच लानेके लिए उनकी एक चाल मात्र है। वरना वास्तविक रूपमें देखेंगे तो स्वर्ग या नरक जैसी कोई चीज है ही नहीं। और जो कुछ भी है उसे आप अपनी आँखोंके सामने देख सकते हैं। इसके अलावा दूसरी सृष्टि है ही नहीं, अतः परलोक सम्बन्धी जो बातें हैं वे सब मिथ्या है एसी प्ररूपणा करते हैं।

परन्तु यह धर्मशास्त्र, तत्त्वज्ञान या वास्तविक विचारणासे अनभिज्ञ तथा संसार रसिकोंकी कल्पना मात्र है।

सर्वज्ञोंने चार गति बतायी हैं। १. मनुष्य, २. तिर्यच, ३. देव तथा ४. नारक। इनमें प्रथमकी दो गतियाँ प्रत्यक्ष हैं और शेष दोनों परोक्ष। प्रथमकी दोनों गतियोंके लिए 'इहलोक' शब्दका प्रयोग किया जाता है और तदनन्तर दोनोंके लिए 'परलोक' शब्दका प्रयोग किया जाता है।

विद्वक्के प्राणियोंको तमाम प्रवृत्तियोंके अन्तमें सुख तथा दुःख इन दोनोंका अनुभव नजरके सामने आता है। और इन सुख दुःखके भी असंख्य प्रकार बन सकते हैं, लेकिन इन्हें सिर्फ दो या तीन विभागोंमें बाँटें तो जघन्य और उत्कृष्ट अथवा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—इस तरह बाँट सकते हैं। इनमें जघन्य सुखका स्थान तिर्यचोंमें, मध्यम मनुष्योंमें और उत्कृष्ट देवलोकमें रहा है।

अब चारों गतियोंके जीव हमेशा शुभाशुभ, पुण्य-पाप, धर्म या अधर्म, अच्छी या बुरी—दोनों प्रकारकी प्रवृत्ति कर रहे हैं तो उनका फल भुगतनेके स्थान भी चाहिए कि नहीं? (यहाँ नरक-सिद्धिकी बात नहीं है अतः उसे छोड़कर सिर्फ देवलोककी सिद्धिके विषयमें ही विचार-विमर्श करेंगे।)

जब किसी एक जीवने जघन्य या उत्कृष्ट शुभ एवं सुकृत कर्म किया है, तब उसका फल भुगतनेका स्थान भी अवश्य होना ही चाहिए; तो जघन्य फल भुगतनेका स्थान मनुष्य तथा तिर्यच गति है और प्रकृष्ट फल भुगतनेका स्थान देवगति है।

प्रश्न—तो क्या इस लोकमें चक्रवर्त्यादिकी साक्ष्यी (वैभव) भोगनेवालेको हम प्रकृष्ट सुखी नहीं मान सकते कि जिससे हमें किसी अदृष्ट ऐसे स्थानकी कल्पना करने तक दौड़ लगानी पड़ती है?

उत्तर—चक्रवर्ती आदि मनुष्य भले ही सुखी है, फिर भी वह सर्वथा सुखी तो नहीं है। जब हमें तो प्रकृष्ट पुण्यका फल मात्र सुख ही हो ऐसा स्थल चाहिए, तब कोई चक्रवर्ती भी ऐसा नहीं मिलता है कि जहाँ दुःख रहा ही न हो। और मानवजाति इष्टानिष्ट द्वारा वियोग-संयोग, जरावस्था, रोग-शोकादिकसे कुछ न कुछ दुःखी होती ही है। वे आयुष्यको लेकर भी कंगाल स्थिति भुगतते हैं। तभी कहीं पर ऐसा योनि-जन्म या स्थान जरूर होना चाहिए कि जहाँ केवल सुख ही सुख वर्तित हो और वैसा स्थान तो एक मात्र देवयोनि ही है। जहाँ नहीं होते रोग, प्रायः नहीं होते प्रतिकूल संयोग, वहाँ तो अक्षय समृद्धि तथा विपुल वैभव भरे पडे मिलते हैं। वहाँ नित्य युवावस्था और पल्योपम तथा सागरोपम काल जितना दीर्घ आयुष्य भी है। मानवसुलभ तुच्छता और पामरताका जहाँ सर्वथा अभाव है और पौद्गलिक सुखकी पराकाष्ठा (चरम सीमा) प्रवर्तमान है।

इसी जगतमें जिस प्रकारसे कोई एक पाई सुखी, दो पाई सुखी, एक आना सुखी या दो आने सुखी यों बढ़ते-बढ़ते सौ गुने, हजार गुने सुखी होते हैं वैसे पौद्गलिक सुखकी अन्तिम पराकाष्ठावाले (चरम सीमावाले) जीव भी होने ही चाहिए। और अगर इसे जब दृष्ट दुनियामें न देख सकें तब उनका कोई दूसरा स्थल तो मानना ही पड़ेगा और वैसा अगर कोई स्थल भी है, तो वह है देवलोक।

साथ ही सूरज, चन्द्र आदिको भी हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं, और वे क्या हैं ? तो वे हैं देवोंके तेजस्वी रत्नमय गमनशील विमान। और अगर विमान हैं तो उनके चालक भी जरूर होंगे ही और जो चालक हैं वे देव ही हैं।

साथ ही कितने ही तपस्वियों एवं महर्षियोंके तपोबलके प्रभावसे देवों द्वारा प्रत्यक्ष बननेके कई प्रसंग भी हम सुन चुके हैं। विद्या मन्त्र-यन्त्रके प्रभावसे भी देव प्रत्यक्ष बननेके तथा उनके द्वारा अनेक कार्यसिद्धियाँ पानेके शतशः (सैंकड़ो प्रकारके) दृष्टांत (मिसाल) सुनते हैं और वर्तमानमें भी विशुद्ध अनुष्ठान-क्रियाके बलसे दैविक सहायता तथा सिद्धियाँ मिलनेके तथा स्वप्नमें दर्शन या बातचीत करनेके प्रसंग भी सुनते हैं। साथ ही हम मनुष्यमें भूत-प्रेत-जीन-झंड इत्यादि भूत बाधक व्यक्तियोंको (भूत या भूतोंके आवेशवाले) देखते हैं; तो वह क्या है ? वह देव प्रवेश ही है। अन्यथा जिस चीजका मूल व्यक्तिको ज्ञान नहीं होता ऐसी अज्ञात चीजें और गुप्त रहस्योंको (अपने आवेशके बाद) वे कहाँसे कह-बता सकते हैं ? इसके अलावा तप-ज्ञानादिक धर्मकी क्रियाका उत्कृष्ट फल भुगतनेके लिए भी ऐसी गतिके अस्तित्वका स्वीकार करना पड़ेगा ही और 'देव' यह 'घट' पदकी तरह व्युत्पत्तिमान विशुद्ध पद है। इस लिए 'देव' जैसी व्यक्तियाँ अदृष्टलोकमें होनी ही चाहिए।

उपर्युक्त सभी कारणों पर विचार-विमर्श करनेवाले आस्तिक व्यक्तियोंमें अब देवगतिके अस्तित्वके विषयमें कुछ भी शंका रहेगी नहीं।

*

*

*

वैमानिक निकायवर्ती नौ लोकान्तिक जो देव हैं वे पाँचवें ब्रह्मकल्पवर्ती तीसरे रिष्ट नामक प्रतरमें आयी हुयी अष्टकृष्णराजियोंके मध्य-मध्य भागोंमें आए हुए विमानोंमें बसते हैं। उन्हें ^{३५०} एकावतारी भी कहे गए हैं अतः उनका 'लोकान्तिक' नाम भी सान्वर्थक माना जाता है। इसके अतिरिक्त विषय वासना रहित होनेके कारण इन्हें 'देवर्षि' शब्दसे भी सम्बोधित किया जा सकता है। इन देवोंमें छोटे-बड़ोंका व्यवहार न होनेसे सभी अहमिन्द्र हैं। वे सभी तीर्थंकरों द्वारा गृहत्याग करनेके समयसे पूर्व उनके पास आकर प्रभुको प्रणाम करके, धर्मतीर्थ प्रवर्तन^{३५१} करनेकी विनती करते हैं, जो यह अपना शाश्वतिक आचार है।

३५०. मत-मतांतरसे सात-आठ भव।

३५१. बौद्धोंके विनयपिटकमें सहंपति ब्रह्मा आकर बुद्धसे अपनी ज्ञानप्राप्तिके बाद लोककृत्योन्मार्थक उपदेश करनेकी प्रार्थना करते हैं, ऐसा कहा गया है।

चारों निकायी देवोंके १९८ भेद किस प्रकार हैं ?

ऐसे तो देवका अर्थ 'सभी देव' ऐसा कर सकते हैं। और चार निकायाश्रयी देवोंके सिर्फ चार ही भेद हैं ऐसा भी मान सकते हैं, लेकिन हमें विशद ज्ञान-अनुभव हो इस लिए शास्त्रमें विभिन्न दृष्टिस्वरूप देवोंके प्रकार बताये हैं, फिर भी चारों निकायमें अन्तर्गत प्रकार गिनती करके बताये गए हैं।

		कुल संख्या	
भवनपति	इसकी दस निकायके	१०	= २५
	और वहाँ वर्तित परमाधार्मिकके	१५	
व्यन्तर	व्यन्तर	०८	= २६
	और वाणव्यन्तरके	०८	
	और ३५२ तीर्थकृजंभकसे जाने पहचाने	१०	
ज्योतिषी	चर ज्योतिषी	०५	= १०
	स्थिर ज्योतिषी	०५	
वैमानिक निकाय	—कल्पोपपन्न—		
	१२ देवलोकके	१२	
	तद्वर्तित किल्बिषिकके	०३	
	” लोकान्तिकके	०९	
	—कल्पपातीत—		
	नौ प्रवेयकके	०९	= ३८
	अनुत्तर देवलोकके	०५	
		९९	देवोंके प्रकार- भेद हुए।

इन ९९ को समयकी अपेक्षासे सोचने पर पर्याप्ता और अपर्याप्ता दोनों मिलाकर १९८ भेद बनते हैं।

३५२ तीर्थकरादि जैसे विशिष्ट पुण्यवान् आत्माओंके आवासमें धन-धान्यादिककी पूर्ति ये देव करते हैं। उनके अन्नजंभक, पानजंभक, वस्त्रजंभक ऐसे १० प्रकार हैं और ये जो जो चीज देते हैं उसी नामसे पहचाने जाते हैं।

३—आठ कृष्णराजियोंके नाम—

- | | | |
|---------------|-------------------------------|----------------|
| १. कृष्णराजी, | २. मेघराजी | ३. मेघा |
| ४. माघवती, | ५. वातपरिघ, | ६. वातपरिक्षोभ |
| ७. देवपरिघ, | ८. देवपरिक्षोभ—ये आठ नाम हैं। | |

४—वैमानिकमें विमान—अवस्थित = शाश्वत, वैक्रिय तथा पारियानिक = अशाश्वत।
(मनुष्यलोकमें आनेके लिए) ऐसे तीन प्रकार हैं।

५—सौधर्म—ईशानके विमान कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र तथा शुक्ल ये पाँच वर्णोंके, सनत्कुमार—माहेन्द्रके नील, लोहित, हारिद्र तथा शुक्ल इस प्रकार चार वर्णोंके, ब्रह्म—लांतकके विमान कृष्ण, नील, लोहित ऐसे तीन वर्णोंके; महाशुक—सहस्राके हारिद्र तथा शुक्ल ऐसे दो ही वर्णोंके तथा इसके ऊपर सभी कल्पोंके विमान सिर्फ श्वेत वर्णका ही हैं।

६—सौधर्मावतंसक तथा ईशानावतंसक विमानोंका विष्कंभ (लम्बाई—चौड़ाई) १२॥ हजार योजन है।

चारों निकायाश्रयी लघुपरिशिष्ट

१. देवोंका जन्म, मनुष्य आदिके जन्मकी तरह गर्भावासमें रहकर होता नहीं है, लेकिन देवलोकमें देवोंका जो जन्मस्थान है जिसे 'उपपातसभा' नामसे शास्त्रकार संबोधते हैं; इसी सभामें वस्त्रसे आच्छादित विविध अनेक शय्याएँ होती हैं, जहाँ देव उत्पन्न होते हैं। इतना ही नहीं बल्कि मनुष्यकी तरह इन्हें बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था जैसी कोई भी अवस्था भुगतनी पड़ती नहीं है। लेकिन वहाँ उत्पन्न होनेके बाद एक ही अन्तर्मुहूर्तमें सभी पर्याप्ति पूर्ण करके युवा-तरुण अवस्थावाले बन जाते हैं। यह अवस्था उन्हें जीवनपर्यंत रहती है। जन्मके बाद पूर्वोत्पन्न देव उन्हें स्नान करानेके लिए 'अभिषेकसभा' (स्नानागार)में ले जाते हैं। स्नानादिक क्रिया पूर्ण होते ही तुरन्त ही उन्हें 'अलंकारसभा'में ले जाते हैं, जहाँ देव सुन्दर-दिव्य वस्त्र तथा उत्तम एवं श्रेष्ठ अलंकार पहनते हैं। इस प्रकार वस्त्रालंकारसे सुशोभित बनकर चौथी 'व्यवसाय' सभामें ले जाते हैं, जहाँ विशाल पुस्तक भण्डार रहता है। इस भण्डारको इनके आगे खोल दिया जाता है और इसे पढ़कर देव देवलोकके योग्य विधि-नियम, आचार-परम्परा तथा स्वकर्तव्य एवं फर्जके ज्ञानसे सुमाहितगार बनते हैं। इसके बाद कार्याकार्यके निर्णय तय करते हैं। व्यवसायसभामेंसे नन्दा बावडीमें जाकर स्नान करके पवित्र होकर, प्रचूर भक्तिपूर्वक जिनपूजा करते हैं। तदनन्तर जहाँ भोग-उपभोगकी अर्थात् अशनपानादिककी तथा मौज-शौककी और देवांगनाओंके योग्य विषयोपभोगकी सम्पूर्ण सामग्री तैयार होती है उसी 'सुधर्मसभा'में वे जाते हैं और वहाँ देवलोक सम्बन्धी दिव्य भोगमें लीन (मग्न) होकर अपना समय व्यतीत करते हैं।

उपर्युक्त पाँच प्रकारकी ^{३५३}सभाएँ अनेक देवोंकी राजधानियोंमें होती हैं। तथा हरेककी अपनी अपनी बाह्य, मध्यम तथा आभ्यन्तर (भीतरी) यों तीन-तीन प्रकारकी परिषद् भी होती है। विभिन्न देवोंकी ये त्रिपर्यदाएँ विभिन्न नामोंसे अलंकृत हैं।

२. भवनपति तथा वैमानिकके इन्द्रोंके पास अपने-अपने विमानकी रक्षाके लिए चार-चार लोकपाल होते हैं। ये सभी अपने-अपने देवके विमानकी चारों दिशाओंमें प्रवर्तित (स्थापित) होते हैं। इन सभी लोकपालोंके नाम हरेकके विभिन्न श्रीस्थानांग सूत्रमें कहा गया है।

व्यन्तर तथा ज्योतिषीमें तो इस लोकपालकी जाति ही नहीं है। इसलिए वहाँके इन्द्रोंके पास लोकपाल कहाँसे हो सके ?

३. भवनपतिसे लेकर ईशानेन्द्र तकके इन्द्रों, लोकपालोंकी पट्टरानियों (महारानियों) ^{३५४}८८ ग्रहों तथा इन्द्रोंके सेनापतियोंके नाम श्रीस्थानांगसूत्रसे जान लें।

४. देव अपने च्यवनको अर्थात् मृत्युको छः मास पूर्व नीचेके कारणोंकी सहायतासे जान सकते हैं। जब मृत्युकाल निकट आता है तब 'युवावस्था' भी परिवर्तित होती (बदलती) जाती है, इसी कारण बल तथा कांतिमें ह्रासका अनुभव होता है। कल्पवृक्ष म्लान तथा कंपित होता है, स्वतेजोलेइयाहीन होती है, कंठकी अम्लान पुष्पमाला म्लान एवं मुरझाने लगती है, दैन्य तथा तन्द्राका आविर्भाव होने लगता है, बार-बार अरति होती है, जिन नये देवोंको देखकर हर्ष होता था इसके बजाय अब खेद होते देखकर वे शंकाशील बनते हैं तथा अवधिज्ञानके बलसे वे स्वायुष्य (अपने आयुष्य)का अन्तिम काल भी जान सकते हैं।

यह जानकर वे बहुत उद्विग्न होते हैं। सतत चिंतातुर रहते हैं। अहो! क्या यह लब्धि, विपुल वैभव, अपार सुख, दिव्य कामभोग आदिको छोड़कर मरना पड़ेगा? अरे! माताके उदरमें माताका ओजस तथा पिताका वीर्य-इन दोनोंका मिश्रित आहार करना पड़ेगा? अहो! अशुचि तथा महान् त्रासके स्थानरूप गर्भावासमें रहना पड़ेगा! ऐसी चिंतासे व्यग्र होते हैं।

५. देवलोकमें सुन्दर देवांगनाओंका हरण करने आदि प्रसंग पर जब भी कोई न-कोई भीषण संग्राम छेड़ा जाता है तब परस्पर बहुत ही ताड़न-तर्जन होती है, लेकिन देव

३५३. यहाँ 'सभा' शब्द स्थानसूचक है, लेकिन परिवारसूचक नहीं; अतः सभा और परिषद् दोनों भिन्नार्थक समझे ! परिषद्से परिवार सूचित है।

३५४. अठारसी ग्रहोंके नामोंकी मौलिकताके लिए अब तक कुछ निर्णय नहीं हो सका है।

वैक्रिय शरीरी होनेसे (निरूपक्रमायुषी) उनकी मृत्यु नहीं होती, किन्तु पीड़ाका दुःखद अनुभव तो अवश्य होता ही है ।

६. एक इन्द्र च्यवे-मरे और उसके स्थान पर तुरत ही दूसरा इन्द्र जो उत्पन्न न हो तो इन्द्र समान समृद्ध समझेजानेवाले सामानिक जातिके देव वहाँका शासन व्यवस्थित रूपसे चलयते हैं ।

७. सम्यग्दृष्टि देव उत्तमकुलमें जन्म लेते हैं, और मिथ्यादृष्टि प्रतिकूल प्रवृत्तिके कारण नीच कुलमें जन्म लेते हैं ।

८. वर्तमानमें देव-देवियोंकी जो आराधना होती है, उनमेंसे अधिकांश भवनपति, व्यन्तरनिकायके होते हैं । यक्ष-यक्षिणियाँ, दिक्भारियाँ, विशादेवियाँ, ह्रीं-श्री आदि षट् देवियाँ, सरस्वती, घन्टाकर्ण-क्षेत्रपाल आदि सभी इसी निकायके हैं ।

९. व्यन्तर और भवनपतिके इन्द्रादिक देव-देवियोंके स्वामित्वकी नगरियाँ, आनन्द-प्रमोदके स्थल मनुष्यक्षेत्रके बाहिर द्वीपोंमें हैं । यह एक विशेष घटना है ।

१०. वर्तमान दृश्य पृथ्वीके नीचे एक दूसरी अनोखी सृष्टि स्थित है, जहाँ पर भवनपति और व्यन्तर देवों आदिके स्थान हैं ।

११. देवशय्याके ऊपर जो देवदूष्य चादर और उसके ऊपर तथा नीचे रहे हुए पुद्गलोंको वैक्रियरूपमें परिणमित करनेको देव सम्बन्धी उपपात जन्म कहा जाता है ।

१२. इन्द्र, त्र्यम्बक, लोकपाल, अप्रमहिषियाँ पूर्वभवमें कौन थे, कैसे सुकृतकार्योंसे उन स्थानोंको प्राप्त किया, उनकी उत्पत्ति, त्रिकुर्बरूप शक्तियाँ, उनकी पर्षदा और सभाका विशद वर्णन, विषयसुखोंकी मादकता और भोगनेकी व्यवस्था, उनके विमानों और प्रासादोंकी रचना, उनके नाम, विमानोंका बाह्याभ्यन्तर स्वरूप, कल्याणकोंके प्रसंग पर कैसे आते हैं ? तथा इसी प्रकार उनकी आन्तरिक व्यवस्था और मर्यादाएँ इत्यादि स्वरूप अन्य ग्रन्थोंसे जान लेना चाहिये ।

समाप्त षष्ठं परिशिष्टम् ।

वाचकोंके लिए एक अगत्यकी स्पष्टता

‘बृहत्संग्रहणी’—‘संग्रहणीरत्न’से जानेवाले ग्रन्थके गुजराती भाषान्तरसे कराया गया हिन्दी अनुवाद लगभग १०० फर्मी जितना हो गया। अब अगर प्रकाशनार्थ एक प्रेसमें दें तो यह काम कब पूरा हो ? इस बातको ध्यानमें रखते हुए यह निर्णय लिया कि इसे शीघ्र प्रकाशनार्थ दो प्रेसोंमें कार्यका बटवारा कर देना हितकर होगा। अतएव सीरिअल नंबर निश्चित करना सम्भव नहीं था। प्रारम्भके प्रथम फर्मेसे ५० फर्मी तकका काम सोनगढ़के कहान प्रेसमें और दूसरा एकसे पैंतालीस फर्मी तकका काम अहमदाबादके भरतप्रेसमें शुरू कराया।

एक ही ग्रन्थ एक साथ दो प्रेसोंमें प्रारम्भ करवाने पर दूसरे विभागका भी पेज नंबर एकसे प्रारम्भ करना पड़ा है। तो इस प्रकार दूसरे नरकगति अधिकारसे शुरू होनेवाले पेजको एक नंबर देना पड़ा। पूर्वार्धके ५० फर्मे अर्थात् पेज नं. १ से लगाकर ३९३ तक हुए और उत्तरार्धके ४५ फर्मे अर्थात् पेज नं. १ से लगाकर ३६० हुए। दोनोंको मिलानेसे $५० + ४५ = ९५$ फर्मेके कुल मिलाकर ७५३ पृष्ठोंका मुद्रण हुआ।

एक ही ग्रन्थमें दो विभाग करने पड़े, तद्दहेतु यह खुलासा किया है।

—प्रकाशक





श्री शङ्खजय गिरिवराय नमः ।

बृहत् संग्रहणी हिन्दी भाषांतरका

उत्तरार्ध विभाग



— सूचना —

पूर्वार्धके पहले विभागमें भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक आदि देवगति विषयक तथा सूर्य, चन्द्र, ज्योतिषचक्र आदि अनेक विषयोंकी जानकारी आ गई है । और उत्तरार्धमें शेष तीन गति—नरक, मनुष्य और तिर्यञ्च गति आदि अनेक विषयोंकी जानकारी दी है ।



अथ नरकगतिप्रसंग में प्रथम स्थिति द्वार ॥

अवतरण—इस प्रकार चारों निकाय के देवों के भवन, उन की स्थिति, अवगाहना (छानबीन करना; देखना; विचारना; ग्रहण करना), उपपात विरह, च्यवन विरह, एकसमय उपपात संख्या, एक समय च्यवनसंख्या उनकी गति, आगति आदि नौ द्वारों का वर्णन और साथ ही साथ अन्य प्रकीर्णक स्वरूप तथा ग्रन्थांतर से कुछ विशेष स्वरूप भी बता दिया है। उसी देवाधिकार को समाप्त कर के अब नरकगति संबंधी स्थिति प्रमुख नौ द्वारों को पूर्वोक्त क्रमानुसार वर्णन करते हुए, देवनिकाय की तरह ही प्रथम द्वारमें प्रत्येक नरकों में बसते नारकों की उत्कृष्ट—आयुष्यस्थिति बताते हैं।

इअ देवाणं भणियं, ठिइपमुहं नारयाण वुच्छामि ।

इग तिन्नि सत्त-दस-सत्तर, अयर वावीस-तित्तीसा ॥ २०१ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २०१ ॥

विशेषार्थ—अधोलोक पर सात नरकपृथ्वी हैं। जिनके नाम—गोत्रादि हम आगे बतलायेंगे। यहाँ पर ग्रन्थकार उन पृथिवियों पर आये हुए नारकोंका आयुष्यप्रमाण वर्णित करते हुए पहली रत्नप्रभापृथ्वी के नारकोंकी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति एक सागरोपम की बताते हैं। दूसरी शंकराप्रभापृथ्वी के नारकों की तीन सागरोपम की, तीसरी बालुकाप्रभा की सात सागरोपम की, चौथी पंकप्रभा में दस सागरोपम की, पाँचवीं धूमप्रभामें सत्रह सागरोपमकी, छट्ठवीं तमः प्रभा में बाईस सागरोपम की और सातवीं तमस्तमःप्रभा में काल, महाकाल आदि नरकावास में तेतीस सागरोपम की आयुष्यस्थिति है। [२०१]

अवतरण—अब उन प्रत्येक की जघन्यस्थिति जाननेके उपाय (तरीके) तथा मध्यम-स्थिति कहते हैं।

सत्तसु पुढवीसु ठिई, जिट्ठोवरिमा य हिट्ठुपुहवीए ।

होइ कमेण कणिट्ठा, दसवाससहस्स पढमाए ॥ २०२ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २०२ ॥

विशेषार्थ—गत गाथा में सातों पृथिवियों की उत्कृष्टस्थिति बता दी है। अब जघन्य स्थिति को वर्णित करते हुए कहते हैं कि—उपर्युक्त पृथिवियों की जो उत्कृष्ट स्थिति है वही

नीचे की पृथिव्यों की अनुक्रम में जघन्यस्थिति बनती है। लेकिन रत्नप्रभा से ऊपर एक भी नरक न होने से यह नियम रत्नप्रभा के लिए ज़रूरी बनता नहीं है। अतः ग्रन्थकार स्वयं ही प्रथम रत्नप्रभा के नारकों की जघन्यस्थिति दस हजार साल होती है ऐसा बता देते हैं। अब शर्कराप्रभा की जघन्यस्थिति भी जान लें। ऊपर रत्नप्रभा पृथ्वी की उत्कृष्ट स्थिति जो एक सागरोपम की बतायी है उसे ही नीचे आयी हुयी शर्कराप्रभा पृथ्वी की जघन्य स्थिति (एक सागरोपम की) जानें। इसी प्रकार अनुक्रम से शर्कराप्रभा की तीन सागरोपम की जो स्थिति है उसे बालुकाप्रभा की जघन्यस्थिति समझें और पंकप्रभा की सात सागरोपम जघन्य, धूम-प्रभा की दस सागरोपम, तमःप्रभा की सत्रह सागरोपम की तथा तमस्तमःप्रभा की बाईस सागरोपमकी जघन्यस्थिति जानें। [२०२]

मध्यमस्थिति—तमाम नारकों में जघन्य तथा उत्कृष्ट के बीचको मध्यमस्थिति समझें।

॥ सातों नारकी की जघन्योत्कृष्टस्थितिका यंत्र ॥

नरक के नाम	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
१ रत्नप्रभा	१ सागरोपम	१०,००० साल
२ शर्कराप्रभा	३ ”	१ सागरोपम
३ बालुकाप्रभा	७ ”	३ ”
४ पंकप्रभा	१० ”	७ ”
५ धूमप्रभा	१७ ”	१० ”
६ तमःप्रभा	२२ ”	१७ ”
७ तमस्तमःप्रभा	३३ ”	२२ ”

अवतरण—प्रत्येक नारकी की समुच्चय-स्थिति को हम पहले बता चुके हैं। अब प्रत्येक नरक के प्रत्येक प्रतर में नारकों की स्थिति बताते हुए ग्रन्थकारश्री सबसे पहले रत्नप्रभापृथ्वी के प्रत्येक प्रतर पर प्रथम उत्कृष्टस्थितिका बयान करते हैं।

नवइसमसहसलक्ष्वा, पुञ्वाणं कोडि अयर दस भागो ।

एगोगभागवुड्दो, जा अयरं तेरसे पयरे ॥ २०३ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ २०३ ॥

विशेषार्थ—रत्नप्रभादिक पृथ्वी पर ही [वैमानिक कल्पवत्] विभिन्न प्रतर संख्या आयी हुयी है, जिसे ग्रन्थकार महाराज खुद ही आगे बतलानेवाले हैं। उनमें रत्नप्रभापृथ्वीपर ही तेरह प्रतर हैं, जिन के प्रथम प्रतर पर नारकों की उत्कृष्टस्थिति नब्बे हजार (९०,०००)

साल की, दूसरे प्रतरपर नब्बे लाख (९०,००,०००) साल की, तीसरे प्रतर के नारकों की उत्कृष्टस्थिति पूर्वकोटि वर्ष की, चौथे प्रतर पर एक सागरोपम के दसवें भाग के (एक दशमांश) सागरोपम की, पाँचवें पर दो—दशमांश सागरोपम की, छठे पर तीन दशमांश सागरोपम की, सातवें पर चार दशमांश की, आठवें पर पाँच दशमांश की, नववें पर छः दशमांश की, दसवें पर सात दशमांश, ग्यारहवें पर आठ दशमांश, बारहवें पर नौ दशमांश सागरोपम तथा तेरहवें प्रतर पर दस दशमांश अथवा एक सागरोपम की पूर्ण स्थिति आ जाती है। [२०३]

अवतरण—अब रत्नप्रभा के उन्हीं प्रतरोंकी जघन्यस्थितिका वर्णन करते हैं—

इयजिद्ध जहन्ना पुण, दसवाससहस्सलक्खपयरदुगे ।

सेसेसु उवरिजिद्धा, अहो कणिद्धा उ पइपुढवि ॥ २०४ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २०४ ॥

विशेषार्थ—इस प्रकार उत्कृष्ट स्थिति बताने के बाद अब उन प्रतरों की जघन्यस्थिति को वर्णित करते हुए बताया है कि—रत्नप्रभापृथ्वी के प्रथम दो प्रतरों में से प्रथम प्रतर की स्थिति दस हजार साल की और द्वितीय प्रतर पर [उसे सौ गुना कर के] दस लाख साल की होती है, शेष प्रतरों के लिए तो ऊपर के प्रतर की जो उत्कृष्ट स्थिति है उसे ही उसके नीचे आयी हुयी पृथ्वी की कनिष्ठा जघन्यस्थिति जानें। इसी नियमानुसार तीसरे प्रतर पर ९० लाख, चौथे पर पूर्वकोटि वर्ष, पाँचवें पर $\frac{१}{२}$ सागरोपम, छठे पर $\frac{१}{३}$, सातवें पर $\frac{१}{४}$, आठवें पर $\frac{१}{५}$, नौवें पर $\frac{१}{६}$, दसवें पर $\frac{१}{७}$, ग्यारहवें पर $\frac{१}{८}$, बारहवें पर $\frac{१}{९}$, तेरहवें पर $\frac{१}{१०}$ सागरोपम की जघन्यस्थिति जानें। [२०४]

अवतरण—इस प्रकार रत्नप्रभागत प्रतराश्रयी जघन्योत्कृष्ट स्थिति बतलाकर अब शेष पृथ्वीकी स्थिति प्रमाण जानने के लिए [वैमानिकवत्] 'करण' को बताते हैं—

उवरिखिइठिइविसेसो, सगपयरविहत्तइच्छसंगुणिओ ।

उवरिमखिइठिइसहिओ, इच्छिअपयरम्मि उक्कोसा ॥ २०५ ॥

गाथार्थ—ऊपर की पृथ्वी की स्थिति का विश्लेष कर के (नीचेकी इष्ट पृथ्वी की उत्कृष्ट स्थितिमें से कम करके) जो शेष बचे उसे, इच्छित अपने प्रतर की संख्या से भागने से या विभाज्य करने से जो संख्या आती है उसको इष्ट प्रतर की संख्या से गुनने से जो संख्या आये उसे, उस के (जिस इष्ट पृथ्वी के प्रतरों की स्थिति निकालते हैं, उस के) ऊपर की पृथ्वी की जो उत्कृष्ट स्थिति है उसके साथ जोड़ने से इच्छित प्रतर पर उत्कृष्ट स्थिति प्राप्त होती है। ॥ २०५ ॥

विशेषार्थ—वह इस प्रकार है—

रत्नप्रभा के तेरहों प्रतर की उत्कृष्ट स्थिति बतायी, अब दूसरी शर्कराप्रभा के प्रतरों की उत्कृष्ट स्थिति निकालने की होने से विश्लेष करने के लिए शर्कराप्रभाकी उत्कृष्ट तीन सागरोपम की स्थिति में से पहली रत्नप्रभा की उत्कृष्ट एक सागरोपम की स्थिति का विश्लेष (कमी) करने से शेष दो सागरोपम रहते हैं। इन दोनों सागरोपम को शर्कराप्रभा के ग्यारह प्रतरों में बाँटने के लिए एक सागरोपम के ग्यारह हिस्से करते हुए दो सागरोपम के बाईस हिस्से बनते हैं। अब इन सभी को ग्यारह प्रतर में बाँटने से दो-दो भाग प्रत्येक प्रतर में आते हैं। अब इष्ट प्रथम प्रतर पर स्थिति निकालने की होने से उन्हीं दो भागों को एक प्रतर से गुनने से फिरसे दो ही भाग आते हैं, उसे ऊपर की रत्नप्रभा के तेरहवें प्रतर की एक सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति के साथ जोड़ने से एक सागरोपम तथा एक सागरोपम के ग्यारह में से दो भाग (१ सा. $\frac{2}{11}$)का उत्कृष्ट आयुष्य शर्करा प्रभा के प्रथम प्रतर पर आयेगा। इसी प्रकार दूसरे प्रतर के साथ गुनने से $2 \times 2 = \frac{4}{11}$ आयेगा और उस में एक सागरोपम मिलाने से $1 \frac{4}{11}$ सागरोपम द्वितीय प्रतर की उत्कृष्ट स्थिति है। इसी प्रकार तीसरे प्रतर पर दो भाग बढ़ाने से $(1 \frac{4}{11}) + 1$ सागरोपम $\frac{15}{11}$ भाग, चौथे पर $1 \frac{4}{11}$ सा., पाँचवें पर $1 \frac{8}{11}$, छठवें पर २ सा. $\frac{2}{11}$, [क्यों कि ग्यारह भाग पूर्ण होते ही एक सागरोपम पूर्ण होता है। सातवें पर $2 \frac{6}{11}$, आठवें पर $2 \frac{10}{11}$, नौवें पर $2 \frac{4}{11}$, दसवें पर $2 \frac{8}{11}$ और ग्यारहवें पर $2 \frac{12}{11}$ अर्थात् बराबर तीन सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति (शर्कराप्रभा के ग्यारहवें प्रतर पर) आयी। इसी प्रकार अन्य पृथिव्यों के लिए भी इसी कारण की सहायता से सोचें—समझें। अधिक जानकारी पाने के लिए यन्त्र को देखें।

इसी प्रकार अपनी अपनी आयुष्यस्थिति तक, नारक जीव हमेशा अविर्तित दुःख-पीड़ाओं की अनुभूति करते हैं। क्षीणमात्र के लिए भी शाता का अनुभव वे करते

३२५ अच्छिन्निमीलणभित्तं, नत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं ।

नरए नेरइआणं, अहोनिंसि पच्चमाणाणं ॥ [जीवा०]

३२६ यदि अपने पूर्वभव में अग्निस्नान या शरीरछेदन की मध्यम कोटि के संक्लिष्ट परिणामरूप मरा हुआ जीव नरक में उत्पन्न होता है उसी समय पर ही उसे शाता की अनुभूति होती है अथवा कोई मित्रदेव आकर शाता का अनुभव करा दे तब, अथवा कल्याणक आदि प्रसंग पर कुछ ही समय थोड़ी सी शाता मिल भी जाती है। ऐसे कोई क्षणिक प्रसंग के बिना सदा अशाता का ही अनुभव करते हैं।

उववाएण व सायं, नेरइओ देवकम्मुणा वावि ।

अज्झवसाणनिमित्तं, अहवा कम्माणुभावेण ॥ १ ॥ [श्रीचन्द्रिया टीका]

नहीं हैं। हरेक आत्माओं को वैसी दुर्गति में न जाना पड़े इसलिए पाप की प्रवृत्तियाँ बंद करके सदाचारी-संयमी और पवित्र जीवन जीने के लिए प्रतिफल जागृत रहना चाहिए। [२०५]

॥ रत्नप्रभा के प्रति प्रतरपर जघन्योत्कृष्ट
आयुष्यस्थिति का यंत्र ॥

॥ शर्कराप्रभा के प्रतिप्रतर की
आयुष्यस्थिति का यन्त्र ॥

प्रतर	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१	दस हजार वर्ष	नब्बे हजार वर्ष
२	दस लाख वर्ष	नब्बे लाख वर्ष
३	नब्बे लाख वर्ष	पूर्व कोटि वर्ष
४	पूर्व कोटि वर्ष	$\frac{१}{१०}$ "
५	$\frac{१}{१०}$ सागरोपम	$\frac{१}{१०}$ "
६	$\frac{३}{१०}$ "	$\frac{३}{१०}$ "
७	$\frac{३}{१०}$ "	$\frac{४}{१०}$ "
८	$\frac{४}{१०}$ "	$\frac{४}{१०}$ "
९	$\frac{४}{१०}$ "	$\frac{६}{१०}$ "
१०	$\frac{६}{१०}$ "	$\frac{७}{१०}$ "
११	$\frac{७}{१०}$ "	$\frac{८}{१०}$ "
१२	$\frac{८}{१०}$ "	$\frac{९}{१०}$ "
१३	$\frac{९}{१०}$ "	$\frac{१०}{१०}$ एक सा.

प्रतर	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१	१ सागरीपम	१ सा० $\frac{२}{११}$ भाग
२	१ सा० $\frac{२}{११}$ भाग	१ " $\frac{४}{११}$ "
३	१ " $\frac{४}{११}$ "	१ " $\frac{६}{११}$ "
४	१ " $\frac{६}{११}$ "	१ " $\frac{८}{११}$ "
५	१ " $\frac{८}{११}$ "	१ " $\frac{१०}{११}$ "
६	१ " $\frac{१०}{११}$ "	२ " $\frac{१}{११}$ "
७	२ " $\frac{१}{११}$ "	२ " $\frac{३}{११}$ "
८	२ " $\frac{३}{११}$ "	२ " $\frac{५}{११}$ "
९	२ " $\frac{५}{११}$ "	२ " $\frac{७}{११}$ "
१०	२ " $\frac{७}{११}$ "	२ " $\frac{९}{११}$ "
११	२ " $\frac{९}{११}$ "	२ " $\frac{११}{११}$ "

॥ तीसरी वालुकाप्रभा की स्थिति ॥

प्रतर	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१	३ सागरोपम	३ सा० $\frac{१६}{१०}$ भाग
२	३ " $\frac{१६}{१०}$ भाग	३ " $\frac{१६}{१०}$ "
३	३ " $\frac{१६}{१०}$ "	४ " $\frac{१६}{१०}$ "
४	४ " $\frac{१६}{१०}$ "	४ " $\frac{१६}{१०}$ "
५	५ " $\frac{१६}{१०}$ "	५ " $\frac{१६}{१०}$ "
६	५ " $\frac{१६}{१०}$ "	५ " $\frac{१६}{१०}$ "
७	५ " $\frac{१६}{१०}$ "	६ " $\frac{१६}{१०}$ "
८	६ " $\frac{१६}{१०}$ "	६ " $\frac{१६}{१०}$ "
९	६ " $\frac{१६}{१०}$ "	६ " $\frac{१६}{१०}$ ऽसा.

॥ चौथी पंकप्रभा की स्थिति ॥

प्रतर	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१	७ सागरोपम	७ सा० $\frac{६६}{१०}$ भाग
२	७ सा० $\frac{६६}{१०}$ भाग	७ " $\frac{६६}{१०}$ "
३	७ " $\frac{६६}{१०}$ "	८ " $\frac{६६}{१०}$ "
४	८ " $\frac{६६}{१०}$ "	८ " $\frac{६६}{१०}$ "
५	८ " $\frac{६६}{१०}$ "	९ " $\frac{६६}{१०}$ "
६	९ " $\frac{६६}{१०}$ "	९ " $\frac{६६}{१०}$ "
७	९ " $\frac{६६}{१०}$ "	९ " $\frac{६६}{१०}$ १०सा०

॥ पाँचवीं धूमप्रभा नरक की स्थिति ॥

प्रतर	जघन्यायुष्यमान	उत्कृष्टायुष्यमान
१	१० सागरोपम	११ सा० $\frac{३}{५}$ भाग
२	११ सा० $\frac{३}{५}$ भाग	१२ " $\frac{३}{५}$ "
३	१२ " $\frac{३}{५}$ "	१४ " $\frac{३}{५}$ "
४	१४ " $\frac{३}{५}$ "	१५ " $\frac{३}{५}$ "
५	१५ " $\frac{३}{५}$ "	१७ सागरोपम

॥ छठवीं तमःप्रभा नरक की स्थिति ॥

प्र०	ज० आ०	उ० आयुष्य
१	१७ सा०	१८ $\frac{३}{५}$ सा०
२	१८ सा० $\frac{३}{५}$	२० $\frac{३}{५}$ सा०
३	२० $\frac{३}{५}$ सा०	२२ सा०
॥ सातवीं तमस्तमःप्रभामां ॥		
१	२२ सा०	३३ सा०

॥ इति प्रथमं स्थितिद्वारम् ॥

अवतरण—इस से पूर्व नारकी के प्रथम स्थितिद्वार को वर्णित करके दिखाया गया है । अब दूसरा भवनद्वार कहने से पहले नारकी के तथाविध वेदना का कुछ स्वरूप बताते हैं, जिस में प्रथम नरक क्षेत्रगत वेदना एवं पीड़ा के भयंकर प्रकार बताते हैं ।

सत्सु खित्तजविअणा, अन्नोन्नकयावि पहरणेहि विणा ।

पहरणकयाऽवि पंचसु, तिसु परमाहम्मिअकया वि ॥ २०६ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २०६ ॥

विशेषार्थ—अपने पूर्वभव में किये गये अनेक दुष्ट और भयंकर पापाचरणों से क्रूरता-भरी घोर हिंसाएँ, भयंकर झूठ बोलना, निर्दय चोरी करना, परस्त्री गमन, लक्ष्मी आदि पदार्थों पर अधिक मोह के कारण अनेक प्राणियों का घात इत्यादि करने से वे सभी आत्माएँ नरकगति योग्य आयुष्यका बन्द करके नरक में उत्पन्न होती हैं जिन्हें 'नारकी' के रूपमें पहचानी जाती है। अशुभ गति में उत्पन्न होनेवाले इन्हीं जीवों को अपने पूर्वकर्मोदय के कारण तीन प्रकारकी वेदनाओं का अनुभव करना पडता है।

१ 'क्षेत्र' से उत्पन्न वेदना, २ 'अन्योन्य' (परस्पर) से उत्पन्न होती वेदना और ३ संक्लिष्ट अध्यावसायी पंद्रह 'परमाधामी' देवकृत वेदना।

इन्हीं तीनों में से अन्योन्यकृत वेदना के पुनः दो भेद पडते हैं—१. शरीर से परस्पर उत्पन्न होती और २. शस्त्र द्वारा परस्पर उत्पन्न होती वेदना।

इन में क्षेत्रवेदना सातों नरक में है और अनुक्रम से नीचे—नीचे अशुभ, अशुभतर, अशुभतम मिलती है। अन्योन्यकृत वेदना में शरीर के माध्यम द्वारा होती अन्योन्यकृत वेदना सातों पृथ्वी में होती है और प्रहरणकृत वेदना प्रारंभ के पाँचों नरक में मिलती है तथा तीसरी परमाधामीकृत वेदना पहले तीन नरकों में मिलती है। [२०६]

अवतरण—और अब सबसे पहले क्षेत्र नामक वेदना जो कि नारकीय जीवोंको अपने ही नरकक्षेत्र के स्वभाव से ही दस प्रकार के दुःख देनेवाले पुद्गल परिणाम रूप होती है, उसे बताते हैं।

बंधण गइ संठाणा, भेया वन्ना य गंध-रस-फासा।

अगुरुलहु सइ दसहा, असुहा वि य पुग्गला निरए ॥२०७॥ (प्रक्षे. गा. ६५)

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २०७ ॥

विशेषार्थ—१ बन्धन—नारकों की बन्धनावस्था तथा प्रत्येक क्षण उसी प्रकार के आहारयोग्य पुद्गल के सम्बन्ध—ग्रहणस्वरूप बन्धन परिणाम (नतीजा) यह मानो भीषण जलन्ती अग्नि से भी अधिक भयंकर लगता है।

३५७. सत्तसु खेतसहावा अन्नोन्नोदीरिआय जा छट्ठी।

तिसु आइमासु विअणा परमाहम्मि असुरकया य ॥ १ ॥

यह गाथा अन्योन्यकृत वेदना को छट्ठे नरक तक ही बताती है। तदाशय ज्ञानीगम्य समझें।

२ गति—उन नारकों की गति रासभ (गधा) ऊँट आदि की कुगति के समान अत्यंत दुःखपूर्ण और वह भी तपे हुए लोह पर कदम रखने से भी अधिक कष्टदायक है ।

३ संस्थान—उनका शरीर एकदम कुब्ज-हुंडक संस्थानवाला दिखायी पड़ता है; अतः कटे हुए पंखोंवाले अंडजोत्पन्न पंछी के समान और देखते ही उद्वेग कराये ऐसे कुरूप दिखायी देते हैं ।

४ भेद—कुण्डादि से (कुभी इत्यादि से) नारकी के शरीर-पुद्गलों का विच्छेदन (विभाजन) यह शस्त्र की पैनी धारसे कोई हमारा शरीर काटे या खिचे और हमें दुःख हो इस से भी अधिक दुःखदायी यह विमोचन (निकाल फेंकना, दूर करना) लगता है ।

५ वर्ण—इनका वर्ण एकदम निकृष्ट, अत्यंत भीषण (भयानक) और मलिन है । क्योंकि उनके उत्पन्न होने के नरकावास बिना कपाट-खिडकी तथा बिना जालीवाले, चारों दिशाओंसे भययुक्त और घने अंधकारमय, श्लेष्म (कफ), मूत्र, विष्टा, स्रोत, मल, रुधिर, वसा, भेद और पीव (मवाद) इत्यादि समान अशुभ पुद्गलों से पोते हुए भूतल प्रदेशवाले, और श्मशान (मसान, मरघट) की तरह मांस, पूति-केश, अस्थि, नाखून, दाँत, चमड़ी इत्यादि अशुचि (अपवित्र, नापाक) तथा अप्रिय पुद्गलयुक्त आच्छादित भूमि-वाले होते हैं ।

६ गंध—इनकी गंध सडे हुए कुत्ते, लोमड़ी, बिल्ली, नेवलें, सर्प, चूहे, हस्ती, अश्व तथा गाय इत्यादि के मृत शरीर की जो दुर्गंध होती है उससे भी अधिक अशुभ-तर होती है ।

७ रस—नीमकी 'गणो' आदिसे भी अधिक कड़ुआ होता है ।

स्पर्श—इनका स्पर्शमात्र अग्नि, बिच्छू, कौच इत्यादि के स्पर्श से भी अधिक भयंकर एवं दुःखदायी होता है । वहाँ सातों पृथिवियों का स्पर्श अमनोज्ञ है तथा वायु और वनस्पतियों का स्पर्श भी उनके लिए तो जलनरूप ही होता है ।

९ अगुरुलघु—उनका नतीजा अगुरुलघु होनेपर भी तीव्र दुःख के आश्रय समान अति व्यथाकारक है ।

१० शब्द—दुःख से पीडित एवं कुचले हुए होने के कारण अत्यंत दुःखद आक्रंदरूप विलाप करने से उनके शब्द कर्षणा उपजाते हैं ।

इस तरह दस प्रकार के अशुभ पुद्गल अंजाम नारकी के लिए अवश्य होते ही हैं ।
[२०७] (प्रक्षेपक गाथा ४५)

अवतरण—क्षेत्रगत स्वाभाविक उत्पन्न होते दुःखदायी नतीजों को दिखानेके बाद अब नारकीय जीवों में अन्य दस प्रकार की वेदना का अनुभव बताते हैं तथा छट्ठी एवं सातवीं पृथ्वी के नारकों में कितने रोग होते हैं यह संख्या भी बताते हैं ।

नरया दसविहवेयण, सीओसिण —खुहा पिवास कंङ्कहि ।

परवस्सं जरं दाहं, भयं सोमं चेष वेयंति ॥ २०८ ॥

पणकोडी अट्टसट्ठी लक्खा, नवनवइसहसपंचसया ।

चुलसी अहिया रोगा, छट्ठी तह सत्तमी नरए ॥२०९॥

[प्रक्षेपगाथा ४६-४७]

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २०९ ॥

विशेषार्थ—क्षेत्रवेदना में दूसरी दस प्रकार की वेदनाओंका भी जो अनुभव नारकों को मिलता है उन्हें बताते हैं —

१. शीतवेदना—पौष (पूष) या माघ महीने की रात में, हिमालय पर्वत पर, स्वच्छ आकाश में, बिना अग्नि, किसी वायु की व्याधिवाले किसी नग्न दरिद्री को, सतत पवन के जोरसे हृदय, हाथ, पैर, दांत और होठ कंपते हों और उस के ऊपर शीत जल के छटकाव से जो शीत-ठंडी वेदना उत्पन्न होती है, उससे भी अनंतगुनी शीतवेदना नरकावास गत नारकी के जीवों को होती है ।

अगर उसे नरकावास से उठाकर माघ मास की किसी एक रात्री में पूर्ववर्णित ऐसे किसी भी स्थान पर लाकर रखें तो वह नारक जीव अनुपम सुख की प्राप्ति करता हो उसी तरह निद्राधीन हो जाता है अर्थात् नरक में उसने महाव्यथाकारक जिस शीत वेदना बरदाश्त (सहन) की है उसके हिसाब से तो यह वेदना उसे अधिक सुखदायी लगती है ।

२. उष्णवेदना—गर्मी के दिनों में प्रचण्ड सूर्य का मध्याह्न तपता हो, अवकाश में छाया के लिए कोई बादल भी न हो, उसी समय बिना छत्र, पित्त की व्याधिवाले किसी पुरुष को चारों ओर से प्रज्वलित अग्नि के ताप से जो पीडा उत्पन्न हो, उससे भी अनंतगुनी उष्ण वेदना नरक में स्थित नारकीय जीवों को मिलती है ।

ऐसी वेदना सतत सहन करनेवाले नारकियों को अगर वहाँ से उठाकर किशुक (पलाश, पलाश का फूल) समान लाल-लाल जलते ऐसे खदिर (खैर) के अंगारों के ढेर पर बिठाये जाएँ और बाद में फिर से इन्हीं अंगारों को बहुत तपाये या फूँके जायें, तो भी ये जीव [चंदन से लिप्त और मसृण (शीत) पवन खाने से भी अनुपम सुख पानेवाले किसी पुरुष की तरह] सुख पाते ही निद्रावश हो जाते हैं। अथवा नरक की अनुपमेय गर्मी के अनुभव के आगे, ये खदिर के अंगारे तो (महागर्मी से रीढ़ बनी हुई उसी काया को) उँडे लगते हैं। जरा सोचिए कि नारकजीवों को जो भुगतनी पडती है वह गरमी कैसी होगी? नरकमें सिर्फ नारकों का अपना (नरकावासाँका) उत्पत्ति स्थान ही हिम जैसा शीतल होता है। शेष समग्र भूमि खदिर के अंगारे से भी अधिक गर्म होने से उसकी तीव्र वेदना भुगतनी पडती है।

प्रथम रत्नप्रभा में उष्णवेदना अति तीव्र है, इस से अधिक उष्णवेदना अति तीव्ररूप से शर्कराप्रभा में, उससे अधिक अतितीव्रतम रूप से वालुकाप्रभा में हैं। चौथी पंकप्रभा में ऊपरितन भागपर वर्तित कुछ-कुछ नरकावासाओं में उष्णवेदना और नीचे के कुछ कुछ नरकावासाओं में शीतवेदानुभव मिलता है, पाँचवीं धूमप्रभा में कुल्लेक नरकावासाओं में शीतवेदना और नीचे कुल्लेक में उष्णवेदना। इस वेदनाको चौथी पृथ्वी की अपेक्षा उत्तरोत्तर अनन्तगुनी अर्थात् कि तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतमरूप जानें-समझें। छठी तमप्रभा में केवल महाशीत वेदना ही है जिसे पाँचवीं से अति तीव्रतर जानें, और सातवीं तमस्तमा पृथ्वी में महाशीतवेदना है जो इससे भी अतितीव्रतम है।

३. क्षुधा—भूख तो प्रतिपल और प्रतिक्षण जागृत बैठी ही है। और नारकियों का जठराग्नि इतना तो तीव्र प्रदीप्त होता है कि बार-बार डाले गये सूखे काष्ठों से प्रज्वलित अग्नि की तरह, अतितीव्र क्षुधाग्नि से सदा दसमान उदर-शरीरवाले रहते हैं। अगर वे समग्र जगतवर्ती अन्न-घृतादि पुद्गलों का आहार करें तो भी तृप्त होते ही नहीं हैं, लेकिन इससे विपरीत अपने अशुभ कर्म के उदय से अमनोज्ञ पुद्गल ग्रहण से उनकी क्षुधा बढ़ती ही जाती है।

४. तृष्णा—इनकी तृष्णा तो हमेशा कंठ, ओष्ठ, तालु और जिह्वादिक को सुखानेवाली, सारे समुद्र के अगाध जलका पान करने से भी तृषा शान्त न हो बैसी होती है।

५. कंड—(खरज)—इन्हें दुःखदायी खरज की खुजली ऐसी होती है कि उसे आरी या छूरे से कुतरने पर भी शान्त नहीं होती है।

६. परवशता—(पराधीनता)—उनकी पराधीनता हमसे भी अनंतगुनी त्रासदायी होती है।

७. ज्वर—इनका ज्वर (बुखार) इतना जोरों का होता है कि अपने से अनंतगुना दुःखदायक और जीवनपर्यंत रहनेवाला होता है।

८-दाह-९-शोक-१०-भय—इस से शरीर पर दाह, शोक-विलाप और भय ये तीनों वेदनाएँ हमसे भी अनंतगुनी इन्हें होती है।

साथ ही उन्हीं (मिथ्यादृष्टिवाले) नारकों को भवस्वभावगत प्राप्त होनेवाला विभंग-ज्ञान भी बड़ा दुःखदायी होता है, क्योंकि वह अशुभ जाति-स्थान का होने से उसी ज्ञान द्वारा चारों ओर से वे आनेवाले निरंतर दुःख के वैरी-शस्त्रादिक कारणरूप साधन देखते हैं। अभी आयेंगे ! ऐसा करेंगे !! वैसा करेंगे !!! इत्यादि भयरूप वे हमेशा डरते-कंपते ही रहते हैं।

इस तरह दस प्रकार की क्षेत्रगत वेदना कह—सुनार्यो [२०८] (क्षेपक गाथा ४६-४७)

अन्योन्यकृत वेदना—

प्रथम अन्योन्यकृत प्रहरण—शस्त्र-वेदना—

नारक दो प्रकार के होते हैं। एक सम्यग्दृष्टि और दूसरे मिथ्यादृष्टि। इनमें जो मिथ्यादृष्टि हैं उनकी दृष्टि मिथ्या होने से उनमें भेदज्ञान या अच्छे-बुरे का विवेकज्ञान होता नहीं है। दृष्टि के इसी विपर्यास के कारण वस्तु स्वरूप को जिस तरह देखना—पहचानना चाहिए उसी प्रकार वे पहचानते नहीं हैं, उलटा विपरीत ढंग से या तो उलटी रीति से मानते हैं; और इससे वे दुःख की तह की ओर न देखते हुए वर्तमान में दुःखकर्ता साधनों की ओर ही लक्ष्य करते हैं। इसी कारण से दुःख के निमित्त या प्रसंगों में वे—सामनेवाले व्यक्ति या चीज की ओर ही तीव्र-तीव्रतर-तीव्रतम क्रोधादिक कषाय करते हैं। तथा पुनः पुनः नया कर्मबंद उत्पन्न किये जाते हैं। असत् तथा असार दृष्टि के कारण कषायों को कटु विपाक कैसे-कैसे भुगतने पड़ेंगे इसका होश शायद उनमें नहीं है। तथा एकान्त दुःख देनेवाले की ओर लक्ष्यवान् बना होने से अपने विरोधी बल या जीवों के प्रति यकायक ताडन-तर्जनादिक के तुफानों में डूबा हुआ रहता है। अपने दोषों का इन्हें दर्शन होता ही नहीं है और बाद में दोनों पक्षों को कदर्शना ही भुगतनी पड़ती है।

इसका नाम है जीव की श्वानवृत्ति ! श्वान अर्थात् कुत्ता—पत्थर फेंकनेवाला कौन है ? उसे न देखते हुए वह पत्थर को ही काटने दौड़ता है । नतीजारूप उसे कुछ भी मिलता नहीं है, सिवा अपने मुख की पीड़ा बढ़ती है, और फिर वहाँ तो दूसरे पत्थर गिरने लगते हैं । इस प्रकार दुःखों का सिलसिला शुरु हो जाता है ।

दूसरे, सम्यग्दृष्टि नारकी जो होते हैं, उनकी दृष्टि मिथ्या न होकर सम्यग् अथवा सत्-सच्ची-सुंदर बनी होने से उन्हें भेदज्ञान-सच्चा विवेक प्राप्त होता है । परिस्थिति तथा प्रसंगोंके यथातथ्य-सच्चे स्वरूप को अच्छी तरह समझता होने से, उनका साध्य बिन्दु जागृत होने से वह वर्तमान दुःख या उनके साधनों की ओर अप्रीति-अरुचि, रोष या गुस्सा करेगा नहीं, बल्कि यह सोचेगा कि ऐसे प्रतिकूल संयोग उन्हें क्यों प्राप्त हुए ? इस प्रकार उसके मूल की ओर दृष्टि डालेंगे । “जन्मान्तर में मैंने ही अपनी अशुभ अनेकविध पापवृत्तियों द्वारा विषैले बीजों को बोया है जिनके नतीजे में ही ये महाकटुफल आज उग आये हैं । इसमें दूसरों का दोष क्या है ? वे तो निमित्तमात्र हैं । उपादान कारण तो मैं स्वयं ही हूँ, इस लिए हाल अपनी ही अशुभ प्रवृत्तियों के इस विपाकों को यथाशक्ति समभावसे भुगत लें । अगर उसी प्रकार तू बरदाश्त करके और समभाव में न रहते हुए विषमभाव धारण करके क्रोध करनेवाले, गालियाँ बोलनेवाले या भयंकर हमलेवरोंपर बार-बार क्रोधित बनेंगे या उनका मुकाबला करेंगे तो ऐसे अति संकिलष्ट नतीजों से पुनः जहरके बीज बोए जायेंगे और पुनः इसके नये विषैले फल पैदा होंगे जिनका पुनः भोग तुम्हें करना पड़ेगा । इस प्रकार दुःखोंका सिलसिलायुक्त विषचक्र घूमता ही रहेगा । दुःखोंके सिलसिले का अंत नहीं आयेगा और सच्ची आत्मिक शांति दूर सुदूर हटती भी जायेगी । इस लिए चेतन ! अपने आप का स्वभावधर्म सोच” । ऐसे विचारों से सम्यग्दृष्टि स्वयं जागृत बनती है जिसके फलस्वरूप वहाँ मार, कूट, भेदन तथा ह्येदन इत्यादिमें उचित संयम रखती है । वह पाप प्रवृत्तियोंको हेयरूप मानता होने से यहाँ पापाचरणका पश्चात्ताप सदा बना रहता है और ये सभी तर्कवितर्क तभी ही हो सकते हैं जब हमारा मन मूललक्षी बना हुआ होता है । इसका नाम ही है सिंहवृत्ति—अर्थात् प्रवृत्ति के मूल की ओर देखना । शेर के स्वाभावानुसार वह व्याघ्र के घातक तीर की ओर नजर भी नहीं डालेगा, बल्कि जिस दिशा से तीर आयेगा उसी और नजर उठाकर लपक पड़ेगा जिसकी वजह से दूसरे बानों के प्रहार से वह बच सके ।

इसी कारण समझदारी (बुद्धि, प्रज्ञा) के घर में सम्यग्दृष्टिवान् आत्मा निवास करती होने से उसे ही अधिक दुःख या कष्ट को बरदाश्त करना पड़ता है । इस लिए तो हम व्यवहार में भी यही बोलते हैं कि ' चतुर को चिन्ता, मूर्ख को क्या ? ' ठीक इसी प्रकार ' ज्ञानी को ही सभी उपाधि ! अज्ञानी को क्या ? ' यह बात यहाँ लागू पड़ती है । और इसी कारण ही मिथ्यादृष्टिवालों से अधिक सम्यग्दृष्टिवालों को मानसिक चिन्ता रहती है, जब कि मिथ्यादृष्टिवालों को कम चिन्ता रहती है ।

लेकिन सम्यग्दृष्टिवालों के पास दूसरों द्वारा दिये गये दुःखों सम्बन्धी तात्त्विक विचार होने से स्वयं दुःख बरदाश्त कर लेंगे, परंतु बदला (प्रतिकार) लेने के लिए सामनेवाले व्यक्ति को दुःख नहीं देंगे । इसी कारण उसे (मिथ्यादृष्टिवालों से) कम दुःख और कम कर्म बंद लगेगा, जब कि मिथ्यादृष्टिवालों के पास वैसी विचारधारा न होने के कारण वे क्रोधित होकर—सामनेवालों को मारकर—स्वयं दुःखी होकर दूसरों को भी दुःख पहुँचायेंगे । इसी कारण वे अधिक दुःखी तथा कर्मबंदी बनते हैं ।

लेकिन मानसिक दुःख की अपेक्षा सम्यग्दृष्टिवान् अधिक दुःखी होते हैं । वे दुर्गति के कटु विपाक को देखकर जन्मान्तर में की गई पापवृत्तियों का भारी अफसोस करते हैं ।

जिस प्रकार कोई एक कुत्ता ब्रामान्तर के अथवा अन्य विभाग के श्वानों को देखकर अत्यंत क्रोधित बनकर भौंकने—लडने लगता है तथा परस्पर पगादिकका प्रहार शुरु कर देते हैं, ठीक उसी तरह नारक जीव भी विभंग ज्ञान के बल से एक दूसरे को देखकर आँखें नीली—पीली करते हुए श्वानकी तरह वैक्रिय समुद्रघात से महा भयावह रूपों को धारण करके अपने—अपने नरकावास में क्षेत्रानुभाव जनित पृथ्वी परिणामरूप लोहमय त्रिशूल, शिला, मुद्गर माला, तोमर, असिपट्ट, खड्ग, यष्टि, परशु इत्यादि वैक्रिय जाति के शस्त्रों से तथा अपने हाथ पैर या दाँतों द्वारा परस्पर युद्ध—प्रहार करते हैं, जिसके कारण घायल होकर या विकृत रूपवाले होकर वे कसाईवाडे में पड़े हुए किसी भैंसे (महिष)की तरह महावेदनासे निःश्रास लेते हुए, खून भरे कीचड में लथपथ महा दुःख भुगतते हैं ।

इस प्रकार अन्योन्यकृत प्रहरणवेदना समझे ।

उपर बताया गयी सभी वेदनाएँ मुख्यतया शस्त्रप्रहार कृत होने से उनका स्थान प्रारंभ के पाँच नारकी में ही होता है ।

दूसरी अन्योन्यकृत शरीर वेदना—

शेष छट्ठे तथा सातवें नारकी में शरीर कृत अन्योन्यवेदना होती है इसलिए वहाँ रहनेवाले नारकी स्वयं, वज्रमय मुखवाले लाल रंग के कुन्धुओं तथा गोमय कीटक आदि को (शरीरसंबद्ध) विकुर्वकर एक-दूसरे के शरीर को उससे कुतरवाते हैं तथा ईख (गन्ना) के कीटक की तरह शरीर छाननी (छत्री, छननी, चालनी) जैसा आर-पार कराते हैं तथा शरीर के भीतर आगे-आगे बढ़ाते महागाढ वेदनाओं को परस्पर भुगतते हैं ।

इस प्रकार अन्योन्यकृतवेदना बतायी ।

अब शुरु के तीन नरकों में 'परमाधार्मिक' वेदना बताते हैं—

संक्लिष्ट अध्यवसायवाले परमाधार्मिक जाति के देव पंद्रह प्रकार के हैं । अम्ब, अम्बरिष, श्याम, शबल, रुद्र, उपरुद्र, काल, महाकाल, असिपत्र, धनु, कुम्भी, वालुक, वैतरणी, खरस्वर और महाघोष । वे सभी सान्बर्थ नामवाले हैं । वे नरकात्माओं को अतिदुःख देकर अपना आयुष्य पूर्ण होते ही अपने महापाप कर्म के वश होकर अंडगोलिक स्वरूप उत्पन्न होते हैं । इन्हीं अंडगोलिकों से नारकों को कैसी कैसी वेदनाएँ भुगतनी पडती हैं उसे बताते हैं ।

वे कभी-कभी गर्म लोहे के रस का पान कराते हैं, कदाचित् तपे हुए धधकते लोहे के खम्भे के साथ बलपूर्वक आलिंगन करवाते हैं, कभी-कभी कंटकीय शारमलिवृक्ष (सेमल का पेड़) पर चढाकर कष्ट एवं दुःख देते हैं, कभी-कभी लोहे के बड़े हथौड़े से कुचल (रौंद) डालते हैं, कभी-कभी बांस को हुरी से छेदकर उस में क्षारयुक्त गर्म किया हुआ धधकता तैल डालते हैं, तो कभी-कभी लोहे के भाले पर पिरोते हैं, अग्नि की भट्ठी में भूँजते हैं, तिलकी तरह चक्की में उरटे मस्तिष्क या उरटे शरीर

३५८ प्रथम 'अम्ब' नाम के परमाधामी लोग नारकों को ऊँचे उछालकर नीचे गिराते हैं, दूसरा इन्हें भट्ठे में पका सके ऐसे छोटे-छोटे टुकड़े करता है, तीसरा आंतर-हृदय को भेदता है, चौथा उनको काट-कूट करता है, पाँचवाँ भाला या बरछा में पिरोता है, छठा अंगोपांग को तोड़ डालता है, सातवाँ तलवार की धार जैसे तीक्ष्ण पत्तों का वन बनाकर नारकों को उसमें घुमाता फिराता है, आठवाँ धनुष्य से जोड़े गये अर्धचन्द्राकार बाणों से बौधता है, नौवाँ कुम्भी में पकाता है, दसवाँ कोमल मांस के टुकड़ों को कुटता है, ग्यारहवाँ कुंड में पकाता है, बारहवाँ उबलते हुए रुधिर और पीब (पीप, मवाद) से भरी हुई वैतरणी नदी बनाकर उसमें डालता है, तेरहवाँ कदम्ब पुष्प आदि के आकारयुक्त बेल में पचाता है, चौदहवाँ दुःख से डरे हुए और इषर-उषर भागनेवाले नारकों को चिला-चिलाकर, डरा-धमकाकर उन्हें

पीलते हैं अथवा आरी से काटते हैं। इतना ही नहीं, अपनी वैक्रियशक्ति से श्येनादि (बाज पक्षी) पशु-पक्षी—शेर, बाघ, तेंदुआ, लोमड़ी, गीघ और कंक पक्षी (एक मांसाहारी पक्षी जिसके पंख बाण में लगाये जाते थे) तथा उरुख आदि से अनेक प्रकार की कदर्थनाएँ (सताने-पीडा) करनेवाले जन्तुओं से पीडित करवाते हैं। गर्म की गई बालू पर तथा असिपत्र जैसे तीक्ष्ण धारवाले वन में प्रवेश कराते हैं। वैतरणी नदी में भी उतारते हैं, कुक्कुट की तरह आपस में लडा मारते हैं। युक्ति-प्रयुक्ति करके युद्ध भी कराते हैं। साथ ही ये परमाधामी लोग नारक के कान-नाक काटते हैं, आँखें फोड़ते हैं, हाथ-पैर काट डालते हैं, छाती जलाते हैं, कडाही में तलना, तीक्ष्ण त्रिशूल से भेदना और अग्निमुखी भयंकर जानवरों के पास भक्ष्य करवाने का कार्य करते रहते हैं।

इतना ही नहीं, नारकों को वे यमराज की कुरुहाडी से भी अधिक तीव्र धारदार तलवार से छेदते हैं। नारक अभी रुदन कर रहे हैं वहाँ तो इन्हें वे क्षुधातुर भयंकर विषैले बिच्छुओं से घेर लिए जाते हैं, उनके दोनों हाथोंको तलवार से काटकर तथा निर्बल करनेके बाद उनके समग्र बदनो को आरी से कटवाएँ जाते हैं। साथ ही गर्म-गर्म उबला हुआ सीसा पिलाते हैं या शरीर सुल्फाते हैं अथवा उन्हें कुंभी या मूषा अर्थात् धातु गालने-बनाने की भट्ठी में पकाते हैं। इन सब के कारण ये नारक चाहे जितना भी चिर्लाएँ, फिर भी प्रज्वलित खदिर (खैर का पेड) के ताप की ज्वाला में उन्हें भूँजे जाते हैं। साथ ही प्रज्वलित अंगारों के समान वज्र के भवनों में उत्पन्न होते हैं जहाँ विकृत शरीर वाले वे बडे ही दीन स्वरो में जब रुदन करते हैं वहाँ उन्हें फिर से जलाये जाते हैं। कर्म से पराधीन ये बेचारे या दीन जीव मदद के

रोकता है तो अंत में पंद्रहवाँ परमाधामी वज्र के कंटकोंवाले शालमलीवृक्ष पर नारकों को चढाकर उस पर लौघता है। इस प्रकार वे सभी नारकों को सिर्फ अपनी मौज की खातिर दुःख देकर स्वयं अनंता पाप-कर्मों को संचित करके, अत्यंत दुःख में मृत्यु पाकर अंडगोलिकरूप उत्पन्न होते हैं।

परमाधामी लोग मरकर अंडगोलिकरूप में उत्पन्न होकर किस तरह पकडे जाते हैं, उस सम्बन्धी वर्णन नीचे दिया गया है।

जहाँ सिन्धु नदी लवण समुद्र से मिलती है उसी स्थान से दक्षिण की ओर पंचपन (५५) योजन दूर जंबूवेदिका से साडे बारह योजन दूर एक भयानक स्थल है, वहाँ ३॥ योजन समुद्र की गहराई है और साथ ही ४७ अंशकारमय गुहाएँ भी आयी हुई हैं जिनके भीतर वज्रशृषभनाराच संघयणवाले महा-पराक्रमी, मांस-मदिरा और खियों के महालोल्य (आसक्त) ऐसे जलचर मनुष्य रहते हैं। वे बडे ही क्रूर, अप्रिय, स्पर्श से फटोर तथा देखने में अति भयंकर लगते हैं। वे साडे बारह हाथ ऊँची कायावाले तथा संख्याता वर्षायुषी होते हैं।

लिए चारों ओर देखते रहते हैं तब न तो कोई इनकी मदद करता है और न तो कोई उनका रक्षण करता है। धारदार तलवारें, भाले (बरछे) कुरुहाडियाँ चक्र, परशु, त्रिशूल, मुद्गर बाण, वांसले और हथौड़े आदि से उनके तालु-मस्तिष्कको फोड़ डालते हैं हाथ, कान, नाक, होंठ आदि को छेदते हैं और हृदय, पेट, आँखें तथा अंतडियाँ (अंत्र) भेद डालते हैं। ऐसे ऐसे दुःखोंको भुगतने वाले ये कर्मपटलांध, दीन नारक पृथ्वी पर गिरते-उठते हमेशा लौटते ही रहते हैं ! हा ! हा ! सरय ही वहाँ उनका कोई भी रखवाला नहीं होता !!!

इससे भी अधिक क्रूर देव उन सबको कुंभी में पकाते हैं तथा उन्हें ५०० योजन तक ऊँचे उछालफेंकते हैं अथवा अति वेदना के कारण स्वयं भी उछल पड़ते हैं। कभी कभी ऊपरसे नीचे पृथ्वी पर गिरते समय उनके बदन में भाले पियो देते हैं— अगर वज्र समान भयंकर चोंचवाले वैक्रिय पंखी उन्हें पकड़कर चिर-फाड़ डालते हैं और शेष जो बचते भी हैं, उनका वैक्रिय शरीररूप व्याघ्रादि हिंसक जानवरों द्वारा सर्वनाश करवाते हैं”।

इस प्रकार नरकगतिके महान दुःखों को प्राप्त करना यदि आप नहीं चाहते हों तो प्रत्येक जीव को अपना जीवन सुधारकर पापाचरणों को दूर करके प्रथम से ही सचेत होकर वीतरागकथित शुद्धमुक्तिदायक मार्गका पालन अवश्य करना चाहिए !

शंका—ये परमाधामी देव नारकोंको दुःख देते हैं इसका कारण क्या ? और दुःख देने से उनको नया कर्मबंधन लगता है या नहीं ?

इस सन्तापदायक स्थान से ३१ योजन दूर समुद्रमध्य में अनेक मनुष्यों की आबादीवाला रत्नद्वीप नाम का एक द्वीप (जहाँ वर्तमानकाल में हम जा नहीं सकते) हैं। वहाँके लोगों के पास वज्र (कठिन पत्थरों) से बनी हुई बड़ी-बड़ी चकियाँ होती हैं। वे लोग उन चकियों को मांस-मदिग से पोतते हैं और उनके मध्य में बहुत मद्य-मांस भरते हैं। इसके बाद वे सभी मद्य-मांस से भरे हुए तूँबडों से जहाज भरकर समुद्र में जाते हैं और उन्हीं तूँबडों (तूबों) को समुद्र में डालकर जलचर मनुष्यों को बहुत लुभाते हैं। लुब्ध ऐसे जलमनुष्य उन्हीं तूबों को खाते-खाते क्रमशः चक्री के पास आकर लुब्ध होकर उसमें गिरते हैं और अग्नि द्वारा पकाये गये मांस तथा मदिरा को दो-तीन दिन तक बड़े सुख-चैन से खाते-पीते रहते हैं, इतने में मौका देखकर रत्नद्वीपवासी शस्त्रसज्ज सुभट यंत्र से चक्री के ऊपर पड़ (चक्र) को संपृट करके उसी चक्री को युक्ति से चलाना शुरु करके उन्हें चारों ओर से घेर लेते हैं (क्योंकि ये जलमनुष्य बहुत शक्तिशाली होने से खूब सावधानी रखनी पड़ती है) ये बड़ी-बड़ी चकियों को बड़ी

-समाधान—ये परमाधामी अपने पूर्व भव में क्रूर कर्मी, संक्लिष्ट अध्यवसायी, पाप-कर्म में ही आनंद का अनुभव करनेवाले होने से पंचामिरूप मिथ्या कष्टवाले जन्मान्तर के अज्ञान कायकष्टो, अज्ञानतप आदि धर्मों के फल स्वरूप इतनी आसुरी विभृति को प्राप्त करते हैं। वहाँ दूसरों को दुःख देने का ही उनका स्वभाव होने के कारण वे उक्त वेदनाएँ देते हैं। जिस प्रकार यहाँ मनुष्यलोक में सर्प, कुक्कुट, वर्तक (नर बटेर पक्षी), लावक (लवा पक्षी) इत्यादि पंछियों को तथा हाथी, भैंसे, परस्पर विरोधी तथा मुक्के बाजों (Boxers) जो द्वन्द्व युद्ध करते समय आमने-सामने प्रहार करते हुए देखकर राग-द्वेष से पराभव पानेवाले पापानुबन्दी पुण्यवान् मनुष्यों को जिस प्रकार बहुत आनंद मिलता है, उसी प्रकार सभी परमाधामी भी नारकी जीवों को एक-दूसरे पर गिरते और प्रहार करते देखकर अत्यंत खुश होते हैं और आनंद के अतिरेक में तालियाँ बजाकर अट्टहास करते हैं, बल्ल उछालते हैं तथा धरती पर हाथ पटकते हैं, क्योंकि ऐसा आनंद तो उन्हें देवलोक में नाटकादि देखने पर भी मिलता नहीं है। ऐसे ये देव अधम कोटिके आनंद में राचनेवाले होते हैं।

यद्यपि अपने पापों के फलस्वरूप ही नारकों को ये देव दुःख देते हैं, लेकिन दुःख दे देकर ही अपनी आत्मा को उस में लीन करके बड़े खुश होते हैं, बड़े आनंद के साथ उस में डूबे रहते हैं तथा उन्हें मारकर अति आनंद पाते हैं; अतः महा पापी-निर्दय ऐसे ये देव महाकर्म बाँध कर अंडगोलकादि के समान अधम स्थानों में उत्पन्न होते हैं।

॥ इति प्रकीर्णवर्णनं समाप्तम् ॥

कठिनाई से एक साल तक चलाते ही रहे फिर भी उन्हीं जलचरों की हड्डियाँ थोड़ी-सी भी टूटती नहीं है, ऐसे भयंकर दुःख को बर्दाश्त करते-करते एक वर्षान्तपर वे अवसान पाते हैं और मरकर नरक में उत्पन्न होते हैं। (जैसी करनी, वैसी भरनी।)

इसके बाद उनके गुप्त भागों में आयी हुई अंडगोलियों को लेकर रत्न पाने के इच्छुक ये पुरुष चमरी गाय की पूंछ के बाल से उन अंडगोलियों को गूथकर अपने दोनों कानों पर लटकाकर समुद्र में प्रवेश करते हैं। इन गोलियों के प्रभाव से उनको कुलीर मत्स्यादि अथवा महामत्स्यादि जंतु हानि करते नहीं है तथा वे समुद्र में डूबते भी नहीं है। इतना ही नहीं, वे गोलियाँ जल में भी उद्योत मार्गदर्शक बन सकती हैं।

इस प्रकार घोर कर्म बाँधकर अंडगोलिक रूप उत्पन्न होकर, ऐसी भयंकर चक्षियों में पीसकर कठिन दुःखों को भुगतने पड़ते हैं। इस प्रकार महान् कर्म बाँधकर वे संसार में भटकते-फिरते रहते हैं।

अब ग्रन्थकार सिर्फ छठे तथा सातवें नारकीय जीवों में समय-समय पर कितने रोग होते हैं? इसे लिखते हुए यह बताते हैं कि—वे लोग पाँच करोड़ अड़सठ लाख, निन्यान वे हजार, पाँच सौ और चौरासी^{३५९} (५,६८,९९,२८४) जितने रोगों से संवृत्त होकर महादुःख एवं यातना को भुगतते रहते हैं । [२०९] (क्षेपक गाथा—४८) .

॥ नरकगति विषयक द्वितीय भवनद्वार ॥

अवतरण—प्रथम स्थितिद्वार कहने के बाद अब नरकगति के अधिकार में द्वितीय भवन द्वार शुरु करते हैं । इस में सबसे पहले सातों नारकी के नामों के गोत्र बताते हैं । हरेक नारक अपने गोत्र के नाम से ही पहचाना जाता है ।

रयणपह सकरपह, वालुअपह, पंकपह य धूमपहा ।

तमपहा तमतमपहा, कमेण पुढवीण गोत्ताई ॥ २१० ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २१० ॥

विशेषार्थ—द्वितीय भवनद्वार शुरु करने से पहले हम नारकी के 'गोत्रों'^{३६०} बताते हैं । प्रथम नारकी का नाम—१ रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा, ३ वालुकाप्रभा, ४ पंकप्रभा, ५ धूमप्रभा, ६ तमःप्रभा और ७ तमस्तमःप्रभा । ये सभी नाम सान्वय-सान्वयर्थ हैं ।

१ रत्नप्रभा—अर्थात् वज्रादि रत्नरूप धरती अथवा रत्न की प्रभा—बाहुल्य (बहुतायत्) जिस में है ऐसी पृथ्वी, इस प्रकार दोनों अर्थ हो सकते हैं । इसी कारण से उसे रत्नरूप-रत्नमयी अथवा रत्नबहुल कहा जाता है ।

३५९—वर्तमान वैज्ञानिक दुनिया में देखे या सुने जाते इन चित्रविचित्र नये-नये रोगों के आगे यह बात जग भी आश्चर्यजनक लगती नहीं है । “शरीर रोग मंदिरम्” ऐसा जो सूत्र कहा गया है यह सार्थक ही है । बहुत से रोग पहले से ही विद्यमान ही हैं; लेकिन निमित्त (कारण) मिलते ही उसका प्रादुर्भाव होने लगता है ; नरक में तो बहुत से अशुभ निमित्त उपस्थित (हाजिर) होते ही हैं अतः वहाँ दुःखों का अंतिम साम्राज्य प्रवर्तमान होने के कारण यह सब संभवित है ।

३६०—गावस्त्रायन्ते इति गोत्राणि ।

इसी प्रथम पृथ्वी में जो रत्नबाहुल्य कहा-बताया गया है इसे आप खरकांड के पहले रत्नकांडकी अपेक्षा से जान सकते हैं ।

यह रत्नप्रभा (प्रथम) पृथ्वी तीन हिस्सों में बँटी हुई है । पहला खरकांड (खर-कठिन, कांड-विभाग) कठिन भूमि भाग विशेष, दूसरा पंकबहुलकांड और तीसरा अप्बहुलकांड । पंक=कीचड़ विशेष, अप्=जल विशेष युक्त जो है वह ।

इस में पहला खरकांड सोलह विभागों में बँटा हुआ है । १ रत्नकांड, २ वज्र, ३ वैडूर्य, ४ लोहित, ५ मसारगल्ल, ६ हंसगर्भ, ७ पुलक, ८ सौगन्धिक, ९ ज्योतिरस, १० अंजन, ११ अंजन-पुलक, १२ रजत, १३ जातरूप, १४ अंक, १५ स्फटिक और १६ रिष्टरत्न—इस प्रकार हरेक नाम अपनी अपनी जाति के रत्न विशेष भू भाग से गर्भित होने से सान्बर्थक हैं । प्रत्येक काण्ड एक हजार (१०००) योजन मोटा तथा १६००० योजन ऊँचा होता है । यह नाप प्रारंभ के खरकाण्ड का है, दूसरा पंक-बहुलकांड ८४००० योजन मोटा और तीसरा अप्जल बहुलकांड ८०००० योजन मोटा होता है ।

इस प्रकार तीनों संख्याओं को कुल मिलाने से प्रथम घर्मा (रत्नप्रभा) पृथ्वी का मोटापन १,८०,००० योजन का हुआ । इन काण्डों की चर्चा इसी प्रथम पृथ्वी में ही है, शेष पृथ्वी में नहीं है । दूसरी शर्कराप्रभा—इस में बहुत से कंकरों का बाहुल्य होने के कारण, तीसरी बालुका—इस में रेती (बालूका) प्राधान्य होने के कारण सान्बर्थक है । इस प्रकार चौथी पंक—में कीचड़ का भाग विशेष होने से, पाँचवीं धूम—में अधिक धुआँ होने से, छठी तमः में आम तौर पर अंधकार होने से तथा सातवीं तमस्तम पृथ्वी में अंधकार ही अंधकार अर्थात् सिर्फ गाढ़ अंधकार ही होने के कारण वह भी सान्बर्थक है । ये सातों गोत्र सान्बर्थक हैं । इस प्रकार अनुक्रम से प्रत्येक पृथ्वी के गोत्र तथा आदि शब्द से काण्ड व्यवस्था भी बताई गयी है ।

अवतरण—अब प्रत्येक नारकी के मुख्य नाम तथा उसके संस्थान के आकार भी बताते हैं ।

घम्मा वंसा सेला, अंजण रिद्धा मघा य माघवई ।
नामेहिं पुढवीओ, छत्ताइच्छत्तसंठाणा ॥ २११ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २११ ॥

विशेषार्थ—ये सभी नाम निरन्वय अर्थात् बिना अर्थवाले हैं, इन में पहली पृथ्वी का नाम घर्मा, २ वंशा, ३ शेला, ४ अंजना, ५ रिष्टा, ६ मघा और सातवीं पृथ्वी का नाम है माघवती । इस प्रकार सातों पृथ्वियों के नाम आप जानें । ये नाम सान्वर्थक नहीं हैं ।

ये सातों पृथ्वियाँ 'छत्रातिछत्र' अर्थात् पहला छत्र छोटा (वहाँ फिर से) उसके नीचे का (आयाम-विष्कम्भसे) बड़ा उसके नीचे का और भी अधिक विस्तार युक्त एवं बड़ा इस प्रकार क्रमशः महाविस्तारवाले सात छत्र हों उसी प्रकार इन सातों पृथ्वियों का आकार बना रहता है । अर्थात् पहली पृथ्वी अल्प छत्राकार युक्त तो दूसरी उस से भी अधिक छत्र-विस्तार युक्त, यों क्रमशः अंतिम सातवीं पृथ्वी को महाछत्र विस्तार युक्त जानें । [२११]

असीह बत्तीसडवीस वीस अट्टार सोल अडसहसा ।

लक्खुवरि पुढविपिंडो, घणुदहिघणवायतणुवाया ॥ २१२ ॥

गयणं च पइड्डाणं, वीससहसाइं घणुदहिपिंडो ।

घणतणुवायागासा, असंखजोयणजुआ पिंडे ॥ २१३ ॥

गाथार्थ—यहाँ गाथा में बताया हुआ 'लक्खुवरि, पद प्रथम पंक्ति में बतायी हुयी सभी संख्याओं के आगे जोड़ना होगा और प्रथम पंक्ति का अंतिम पद 'सहसा' को हरेक संख्या के अंत में जोड़ना होगा, जिस के कारण क्रमशः पृथ्वीपिंड का प्रमाण (नाप) आ मिलता है । इस प्रकार प्रथम पृथ्वी का पिंडप्रमाण एक लाख के ऊपर अस्सी हजार योजन, दूसरी का एक लाख बत्तीस हजार, तीसरी का पिंडप्रमाण एक लाख अट्ठाईस हजार, चौथी का एक लाख बीस हजार, पाँचवीं का एक लाख अठारह हजार, छठी का एक लाख सोलह हजार तथा सातवीं का एक लाख आठ हजार पिंड-प्रमाण आप जानें । ॥ २१२ ॥

प्रत्येक पृथ्वीपिंड घनोदधि-घनवात-तनुवात और आकाश इन्हीं से चारों ओर से घिरा हुआ होता है । इन में घनोदधिपिंड (मध्य में) बीस हजार योजन का और घनवात, तनुवात तथा आकाश ये तीनों असंख्य योजन युक्त पिंडवाले होते हैं ॥ २१३ ॥

विशेषार्थ—पहली स्तनप्रभा पृथ्विका पिंडबाहुर्य—मोटापा एक लाख अस्सी हजार योजन का, दूसरी शर्कराप्रभा का एक लाख बत्तीस हजार योजन का, तीसरी बालुका-प्रभा का एक लाख अट्ठाईस हजार योजन का, चौथी पंकप्रभा का एक लाख बीस-हजार योजन का, पाँचवीं धूमप्रभा का एक लाख अठारह हजार योजन का, छठी तमः-प्रभा का एक लाख सोलह हजार योजन का तथा सातवीं तमस्तमःप्रभा का एक लाख आठ हजार योजन का जानें । यह सभी पृथ्वी प्रमाण^{३६} प्रमाणांगुल से जानें ।

हरक पृथ्वी घनोदधि, घनवात, तनुवात तथा आकाश इन चारों के आधार से टिकी हुयी है, अतः प्रत्येक पृथ्वी का बाहुर्य पूर्ण होते ही नीचे प्रथम घनोदधि, फिर घनवातादि इस प्रकार क्रमशः चक्रवाल अर्थात् चारों ओर से गोलाकार रूप में प्याले में प्यालों की तरह प्रतिष्ठित हैं ।

इन में घनोदधि पिंड का मोटापा बीस हजार योजन का, घनवात का असंख्य योजन का, तनुवात का इस से अधिक प्रमाणयुक्त असंख्य योजन का तथा आकाश का तनुवात से भी अधिक प्रमाण असंख्य योजन का है ।

यहाँ घनोदधि अर्थात् ठोस घना (बर्फ की तरह जमा हुआ) पानी । यह पानी तथाविध जगत् स्वभाव से चलता—फिरता नहीं है और न तो पृथ्वीयाँ उस में कभी डूबती हैं यह तो सदा—शाश्वत् है । घनवात अर्थात् ठोस (घना) वायु, तनुवात अर्थात् पतला वायु और इस के बाद आकाश अर्थात् अवकाश केवल पोलापन; और यह तो सर्वत्र सर्वव्यापक रहा है ही । इस से क्या बना ? इस सम्बन्धी नीचे से ही सोच विचार करें तो प्रथम आकाश, उसके ऊपर तनुवात, उसके भी ऊपर घनवात और घनोदधि तथा सब से ऊपर नरक पृथ्वी आयी है । [२१२-१३]

अवतरण : ये पृथ्वीयाँ अलोक को स्पर्श करती हैं या नहीं ? इसे अर्ध गाथा में लिखते हैं—

न फुसंति अलोगं चउ—दिसिंपि पुढवी उ वलयसंगहिआ ॥ २१३ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २१३ ॥

३६—हमारे उल्लेखानुक्रमके त्नापसे भी चारसौगुना अथवा हजारगुना बड़ा नाप, जिसकी व्याख्या आगे दी जायेगी ।

विशेषार्थ—प्रत्येक पृथ्वी की चारों ओर बलयाकार में घनोदध्यादि आये हुए हैं। ये मध्यभाग से अर्थात् तलवे के मध्यभाग से गत गाथा में कहे गये मानवाले होते हैं। उसके बाद ध्याले की तरह ऊर्ध्वभाग पर जाते-जाते ये क्रमशः प्रदेश (प्रमाण की) हानि से हीन-हीनमानवाले बनते बनते अपनी-अपनी पृथ्वी के ऊपरी अंत-भाग पर अति अल्प एवं पतले होकर भी चारों ओर से बलयाकार में अपनी-अपनी पृथिव्यों को अच्छी तरह से ढँकते हुए उपस्थित होने के कारण किसी भी दिशा से एक भी पृथ्वी अलोक का स्पर्श करती नहीं है।

इस घनोदधि आदि बल्यमान की ऊँचाई का स्वरूप अपनी-अपनी पृथ्वी की ऊँचाई के आधार पर सर्वत्र यथायोग्य (यंत्र द्वारा) सोंचे। [२१३]

अवतरण—इस से पहले जो पिंडप्रमाण (परिमाण, नाप,) दिखाया गया था, वह अधोभाग से मोटापा का मान बताता था। और अब प्रत्येक पृथ्वी की दोनों ओर के ये पिंड कितने बड़े एवं विस्तार वाले होते हैं? यह विष्कम्भमान बताते हैं।

रयणाए बलयाणं, लधपंचमजोअणं सड्डं ॥ २१४ ॥

विक्खंभो घणउदही-घणतणुवायाण होइ जहसंखं ।

सतिभागगाउअं, गाउअं च तह गाउअतिभागो ॥ २१५ ॥

पढममहीबलएसुं, खिवेज्ज एअं कमेण वीआए ।

दुति चउ पंचच्छगुणं, तइआइसु तंपि खिव कमसो ॥ २१६ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ २१४-१५-१६ ॥

विशेषार्थ—रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर छोर (अंत) की समश्रेणि पर चारों ओर से गोलाकार में उपस्थित घनोदधि, घनवात तथा तनुवातबल्य के विष्कम्भ (चौड़ाई) को अब बताते हैं। प्रथम घनोदधि की चौड़ाई छः योजन, घनवात की साढ़े चार योजन तथा तनुवात की डेढ़ योजन है। इन तीनों को एक साथ मिलाने से ऊपर के भाग से बारह योजन दूर अलोक पड़ता है।

इस प्रकार आप ठीक से समझ लीजिए कि घनोदधि, घनवात आदि गोलाकार रूप से पृथ्वी को चारों ओर से घिरे हुए आये हैं। [२१४]

अब अन्य पृथिव्यों के विष्कम्भ जानने के तरीके बताते हैं।

पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के घनोदधि के उक्त मान में एक योजन का तीसरा भाग, घनवात में एक कोस और तनुवात में सिर्फ एक कोस का तीसरा भाग मिलाने से दूसरी शर्कराप्रभा के अन्तवर्ती घनोदधिका विष्कम्भ $६\frac{२}{३}$ योजन, घनवातका ४॥ योजन और तनुवातका $१\frac{२}{३}$ योजन (अर्थात् एक योजन और एक योजन के बारहवें सात भाग) और इन तीनों विस्तार को कुल मिलाने से कुल १२ योजन $२\frac{२}{३}$ कोस दूर अलोक रहता है ।

शर्कराप्रभा में मिलाया हुआ घनोदधि आदि का जो विष्कम्भमान है उसे अनुक्रम से पुनः शर्कराप्रभा के मान में मिलाने से तीसरे नारकवर्ती घनोदध्यादिका नाप आता है । इस प्रकार क्रमशः दो, तीन, चार, पाँच, छः गुना करके इसे मिलाने से अथवा उत्तरोत्तर पृथ्वी में एक ही मान मिलाने से उसी पृथ्वीका घनोदध्यादि विष्कम्भमान आता है, जो इस प्रकार है—

वालुकाप्रभा के घनोदधि का $६\frac{२}{३}$ योजन, घनवात का ५ योजन, तनुवातका $१\frac{२}{३}$ योजन विष्कम्भ आता है । अतः यहाँ पर कुल १३ योजन $१\frac{२}{३}$ कोस दूर अलोक, पंकप्रभा के घनोदधिका ७ योजन, घनवातका $५\frac{२}{३}$ योजन, तनुवातका $१\frac{२}{३}$ योजन ; और इस प्रकार कुल मिला कर १४ योजन दूर अलोक यहाँ से शुरु होता है ।

पाँचवीं धूमप्रभा का घनोदधि $७\frac{२}{३}$ योजन—घनवात $५\frac{२}{३}$ योजन, तनुवात $१\frac{२}{३}$ योजन, इस—प्रकार कुल मिलाकर १४ योजन $२\frac{२}{३}$ कोस दूर अलोक आता है ।

छठी तमःप्रभा का घनोदधि $७\frac{२}{३}$ योजन, घनवात $५\frac{२}{३}$ योजन, तनुवात $१\frac{२}{३}$ योजन । इन सबको मिलाने से यहाँ से अलोक १५ योजन $१\frac{२}{३}$ कोस दूर शुरु होता है ।

सातवीं तमस्तमःप्रभा का घनोदधि पूर्ण ८ योजन, घनवात ६ योजन और तनुवात २ योजन कुल मिला कर तीनों का मान १६ योजन बन कर उतना दूर अलोक रहता है । [२१४—१६]

अवतरण—अब ग्रन्थकार यह सोचते हैं कि—पूर्व गाथा २१२—१३ में घनोदधि आदिका जो प्रमाण नाप वर्णित किया है तथा गाथा २१५—१६ में भी घनोदधि आदिका फिर से जो वर्णन किया है, इस से पाठकों को कुछ भ्रम होगा तो ? यह सोच कर उसी भ्रम का निवारण करने के लिए निम्न गाथा में समझाने का प्रयत्न करते हुए वे लिखते हैं—

मज्जे चिय पुढवि अहे, घणुदहिपमुहाण पिंडपरिमाणं ।
भणियं तओ कमेणं, हायइ जा वलय परिमाणं ॥ २१७ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २१७ ॥

विशेषार्थ—इस के पहले गाथा २१२-१३ में घनोदधि^{३६२} प्रमुख सारे पिंडोंका जो परिमाण बताया गया है वह तो नरक के अधोभागवर्ती पिंडोंका मध्यवर्ती मोटापन का नाप है, परंतु उस से पुनः जो परिमाण बताया गया है वह तो मध्यपिंडका २० हजार का मोटापन जहाँ होता है, वहाँ से क्रमशः दोनों ओर नाप में हानि होती होती जो यावत् बल्यान्त आता है वह उससे आगे के घनोदध्यादि का है । [२१७]

अवतरण—अब प्रत्येक नरकवर्ती नरकावासाओं की संख्या का प्रमाण बताते हैं ।

तीस पणवीस पनरस, दस तिन्नि पणूणएग लक्खाइं ।
पंच य नरया कमसो, चुलसी लक्खाइं सत्तसुवि ॥ २१८ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २१८ ॥

विशेषार्थ—नारकी जीवों को उत्पन्न होने के जो भयंकर स्थानक होते हैं उन्हें नरकावासा कहा जाता है । [जिन का विशेष वर्णन आगे बताया जाएगा ।]

पहली घर्मा पृथ्वी के नरक में नारकों की उत्पत्ति के लिए तीस लाख नरकावासा आये हुए है, दूसरी वंशा नारक में पचीस लाख, तीसरी शैला में पन्द्रह लाख, चौथी अंजना में दस लाख, पाँचवीं रिष्ठा में तीन लाख, छठी मघा में एक लाख में पाँच (५) कम अथवा (९९,९९५), जब सातवीं माघवती में सिर्फ पाँच ही नरकावास होता है ।

इस प्रकार सातों पृथिव्यों के कुल मिलाकर चौरासी लाख (८४,००,०००) नरकावासा बनते हैं । (२१८)

३६२—किसी को अगर शंका हो कि घनोदधि, घनवात और तनुवात की कमी करते जाना देसा जो कहा है और प्रमाण भी सिर्फ तीनों का ही बताया है तो वहाँ अवकाश का प्रमाण क्यों नहीं बताया गया है ?

तो इस के समाधान में यह कहना है कि आकाश द्रव्य तो सर्वत्र व्याप्त है ही । जहाँ घनोदधि, घनवातादिक है वहाँ भी वह तो है ही, क्यों कि अवकाश (खालीपन) देना ही उसका स्वभाव है । सर्वत्र व्याप्त पदार्थ का वास्तविक नाप हो ही सकता नहीं है ।

अवतरण—अब प्रत्येक नरक में कितनी-कितनी प्रतर संख्या होती है ? उसे बताते हैं ।

तेरिकारसनवसग, पणतिभिगपयरसव्विगुणवन्ना ।

सीमंताई अपइ-ट्टाणंता इंदया मज्जे ॥ २१९ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २१९ ॥

विशेषार्थ—देवलोक की तरह सातों नरक में भी प्रतर आये हुए हैं । इन में प्रथम रत्नप्रभा (घर्मा) नरक पृथ्वी में तेरह प्रतर, [इस के बाद दो-दो की संख्या कम करते जाने से] दूसरी शर्कराप्रभा (वंशा) में ग्यारह, तीसरी बालुकाप्रभा (शोला) में नौ, चौथी पंकप्रभा (अंजना) में सात, पाँचवीं धूमप्रभा (रिष्टा) में पाँच, छठी तमःप्रभा (मघा) में तीन, और सातवीं तमस्तमप्रभा (माघवती) नरक पृथ्वी में एक प्रतर आया हुआ है । इस प्रकार कुल मिलाकर उनचास (४९) प्रतरो सातों नरक में होते हैं ।

प्रत्येक नरक के मध्यभाग में इन्द्रक नरकावास आये हुए हैं, जिनमें सीमंत नाम का नरकावास आदि प्रतर के मध्यभाग में है जब कि अप्रतिष्ठान नरकावास अंतिम प्रतर के मध्य में आया है । [२१९]

अवतरण—इस के पहले, गाथाओं में यह बताया गया है कि प्रत्येक प्रतर के मध्य-मध्य भाग में इन्द्रक नरकावासा आये हुए हैं । और अब उन्हीं नरकावासाओं के नाम कौन-कौन से हैं ? तो दस गाथाओं द्वारा बताते हैं ।

सीमंतउत्थ पढमो, वीओ पुण रोरुअत्ति नैयव्वो ।

भंतो उणत्थ तइओ, चउत्थओ होइ उव्वंतो ॥ २२० ॥

संभंतमसंभंतो, विव्वंतो चैव सत्तमो निरओ ।

अट्टमओ तत्तो पुण, नवमो सीओत्ति णायव्वो ॥ २२१ ॥

वकंतमंउवकंतो, विकंतो चैव रोरुओ निरओ ।

पढमाए पुढवीए, तेरस निरइंदर्यौ एए ॥ २२२ ॥

थणिए थणए य तहा, मणए वणए य होइ नायव्वो ।

घट्टे तह संघट्टे, जिब्भे अवजिब्भए चैव ॥ २२३ ॥

लोले लोलावत्ते, तहेव थणलोलुए य बोद्धव्वे ।
 बीयाए पुढवीए, इक्कारस्स इंदया एए ॥ २२४ ॥
 तत्तो तविओ तवणो तावणो यँ पंचमो निदाघो अ ।
 छट्ठो पुण पज्जलिओ, उज्जलिओ सत्तमो निरओ ॥ २२५ ॥
 संजलिओ अट्टमओ, संपज्जलिओ य नवमओ भणिओ ।
 तइआए पुढवीए, एए नव होंति निरइंदा ॥ २२६ ॥
 आरे तारे मारे, वच्चे तमए य होइ नायव्वे ।
 खाडखडे अ खडखडे, इंदय निरया चउत्थीए ॥ २२७ ॥
 खाए तमए य तहा, झसे य अंधे अ तह य तमिसे अ ।
 एए पंचमपुढवीए, पंच निरइंदया हुंति ॥ २२८ ॥
 हिमँवँदललल्लके, तिञ्चि य निरइंदया उ छट्ठीए ।
 एक्को य सत्तमाए, बोद्धव्वो अप्पइट्ठाणो ॥ २२९ ॥

[प्रक्षेपक गाथा—४७ से ५६]

गाथार्थ—१ स्तनप्रभा पृथ्वी के पहले नरक के प्रथम प्रतर मध्य में दिशा, विदिशा-गत नरकावासाओं की सर्व पंक्तियों के बीच मुख्य 'सीमन्त' नामक नरकावास आया हुआ है, दूसरे प्रतर पर शेरुक, तीसरे प्रतर पर भ्रान्त, चौथे प्रतर पर उद्भ्रान्त, पाँचवें प्रतर पर संभ्रान्त, छठे प्रतर पर असंभ्रान्त, सातवें प्रतर पर विभ्रान्त नरकेन्द्र, आठवें प्रतर पर तप्त, नौवें प्रतर पर शीत, दसवें प्रतर पर वक्रान्त, ग्यारहवें प्रतर पर अवक्रान्त, बारहवें प्रतर पर विक्रान्त, और तेरहवें प्रतर पर शेरुक, नरकेन्द्र प्राप्त होता है । इस प्रकार प्रथम स्तनप्रभा में अप्रिय नामोंवाले ये तेरह नरकेन्द्र आवास आये हुए हैं । [२२०—२२२]

२ द्वितीय पृथ्वी के प्रतरों के बीच में अनुक्रम से १ स्तनित, २ स्तनक, ३ मनक, ४ वनक, ५ घट्ट, ६ संघट्ट, ७ जिह्व, ८ अपजिह्व, ९ लोल, १० लोलावर्त और ११ स्तनलोलुप जानें ।

इस प्रकार दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी में स्थित दूसरे नरक के ग्यारह प्रतरों के बीच ये ग्यारह नरकेन्द्र आवास आये हुए हैं । [२२३—२४]

३ तृतीय पृथ्वी के प्रतरों के बीच में अनुक्रम से १ तप्त, २ तपित, ३ तपन, ४ तापन, ५ निदाघ, ६ प्रज्वलित, ७ उज्ज्वलित, ८ संज्वलित, ९ संप्रज्वलित नरकेन्द्र हैं ।

इस प्रकार यहाँ तीसरी बालुकाप्रभा में ये नौ नरकेन्द्रावास आये हुए हैं ।

[२२५-२६]

४. चौथी पृथ्वी के प्रतरों के बीच में अनुक्रम से १ आर, २ तार, ३ मार, ४ वर्च, ५ तमक, ६ खाडखड और ७ खडखड ये नरकेन्द्रावास चौथी पंकप्रभा में जानें । [२२७]

५. पाँचवीं पृथ्वी के प्रतरों के बीच क्रमशः १ खाद, २ तमक, ३ झष, ४ अन्धक, ५ महातमिस्र—इस प्रकार पाँचवीं धूमप्रभा में पाँच नरकेन्द्र जानें [२२८]

६. छठी पृथ्वी के प्रतरों के मध्य में अनुक्रम से १ हिम, २ वार्दल ३ लल्लक—इस प्रकार छठी तमःप्रभा के तीन इन्द्रकावास आये हुए हैं ।

७. सातवीं पृथ्वी के प्रतर के बीच एक^{३६८} अप्रतिष्ठान नामक नरकेन्द्रावास जानें । [२२९]

विशेषार्थ—नहीं हैं । [२२०-२२९] (प्रक्षेपक गाथा ४७ से ५६ तक)

अवतरण—इन्द्रक नरकावासाओं के नाम कहने के बाद सातवीं नारकी के चार इन्द्रक की चारों दिशा में जो नरकावासा बताए हैं उनके नाम तथा दिशावास्तथान अब कहते हैं ।

पुध्वेण होइ कालो, अवरेण पइड्डिओ महाकालो ।

रोरो दाहिण पासे, उत्तरपासे महारोरो ॥२३०॥

[प्रक्षेपक गाथा ५७]

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥२३०॥

विशेषार्थ—इस सातवीं नारकी में आवलिकागत या पुष्पावकीर्णादिक की व्यवस्थादि न होने से ग्रन्थकार अलग गाथा के द्वारा प्रथम से ही उसकी लघु व्यवस्था बता देते हैं ।

३६८-दूसरे ग्रन्थों में सातों पृथ्वीगत नरकेन्द्र के नामों में तथा उनके क्रम में कहीं-कहीं पर अंतर (भेद) मिलता है ।

सातवीं नरक के प्रतर मध्य में एक लाख योजन का [जबूद्वीप के समान] गोलाकार में उपस्थित अप्रतिष्ठान नामक मुख्य इन्द्रक नरकावास आया है, जिसकी चारों दिशा में एक एक [अंतिम सर्वार्थसिद्ध पर ज्यों पाँच हैं उसी प्रकार यहाँ अंतिम नरक पर] नरकावास आया हुआ है। इन में पूर्वदिशावर्ती जो है उसका नाम है 'काल', अपर=पश्चिम दिशा में 'महाकाल', दक्षिण दिशावर्ती 'रौरव' और उत्तर दिशा में 'महारौरव' नाम का नरकावास है। [२३०] (प्रक्षेपक गाथा ५७)

अवतरण—अब प्रत्येक प्रतर पर उक्त इन्द्रक नरकावासा से कितनी-कितनी नरकावासाओं की पंक्तियाँ निकलती हैं? तथा उन्हीं पंक्तियों में कितनी-कितनी संख्या में नरकावासा आये हुए हैं। यह समझते हुए प्रथम पहले प्रतर की संख्या लिखते हैं कि—

तेहितो दिसि विदिसि, विणिग्गया अट्ट निरयआवलिया ।

पढमे पयरे दिसि, इगु-णवन्न विदिसासु अडयाला ॥२३१॥

गाथार्थ—वहाँ से (इन्द्रक नरकावासाओं से) दिशाओं में तथा विदिशाओं में आठ-आठ नरकपंक्तियाँ निकली हैं। उनमें प्रथम प्रतर पर दिशागत उनचास (४९) तथा विदिशागत अड़तालीस नरकावासा आये हुए हैं।

विशेषार्थ—जिस प्रकार वैमानिक निकाय के प्रतरों में आवलिकागत पुष्पावकीर्णों की व्यवस्था का वर्णन किया था। उसी प्रकार यहाँ भी नरकावासाओं की व्यवस्था रही हुई है।

गत गाथा में प्रत्येक प्रतर के मध्य में एक एक इन्द्रक नरकावास होता है यह बताया गया है। अब उस मध्यवर्ती इन्द्रक नरकावास से चारों मूल दिशाओं की चार तथा विदिशाओं की चार इस प्रकार कुल मिलाकर आठ नरकावासाओं की पंक्तियाँ विशेष प्रकार से हुई हैं। इन में प्रथम प्रतर में चारों दिशावर्ती प्रत्येक पंक्तियों में उनचास (४९) नरकावासा होते हैं, जब कि विदिशाओं में विभाजित पंक्तियाँ अड़तालीस (४८) नरकावासाओं से युक्त हैं। इस प्रकार प्रथम प्रतर में समझें। [२३१]

अवतरण—शेष प्रतर में किस प्रकार सोचें? उसके लिए एक नियम बताया है कि—

बीयाइसु पयरेसुं, इगइगहीणा उ हुंति पंतीओ ।

जा सत्तममहिपयरे, दिसि इक्किओ विदिसि नत्थि ॥२३२॥

गाथार्थ—दूसरे प्रतर से लेकर अन्य प्रतरों में, एक एक नरकावासा से हीन-न्यून युक्त पंक्तियाँ होती हैं, जिसके कारण एक एक हीन (कम) करते जाने से अंत में (यावत्) सातवीं पृथ्वी के प्रतर में सिर्फ दिशागत एक एक नरकावासा ही रहता है, जब कि विदिशा में एक भी रहता नहीं है। [२३२]

विशेषार्थ—अब द्वितीय प्रतर से लेकर प्रत्येक प्रतर में एक एक नरकावासा को आठों पंक्तियों के अंतिम-अंतिम भाग से कम करते जाने से, प्रथम प्रतर की दिशागत संख्या में से एक-एक संख्या कम करने से द्वितीय प्रतर पर दिशागत प्रत्येक पंक्ति में अड़तालीस-अड़तालीस (४८-४८) नरकावासाओं की संख्या रहती है और विदिशा में से एक-एक संख्या कम करते जाने से सैंतालीस-सैंतालीस (४७-४७) की संख्या रहती है। सातों नरक आश्रयी (पूर्वानुपूर्वी) प्रत्येक प्रतर पर इस प्रकार करने से अंतिम (यावत्) सातवीं माघवती पृथ्वी के प्रतर पर पहुँचते-पहुँचते चारों दिशाओं में सिर्फ एक-एक नरकावासा रहता है, लेकिन विदिशा में एक भी नरकावासा मिलता नहीं है, क्योंकि प्रथम प्रतर पर ही दिशागत संख्या से एक कम संख्या विदिशा में थी जिसके कारण यहाँ विदिशा में वह प्राप्त न हुआ।

अब पश्चानुपूर्वी अर्थात् उससे विपरीत (उलटा) क्रम से सोचने से अंतिम प्रतर के मध्य में अप्रतिष्ठान इन्द्रक तथा एक-एक आवास चारों ओर मिलता है। इसके बाद प्रत्येक प्रतर पर दो, बाद में तीन-चार-पाँच-छः इस प्रकार अनुक्रम से एक-एक संख्या की वृद्धि करने से तथा ४८ वें प्रतर से विदिशा में भी एक-दो-तीन इस प्रकार स्थापित करते करते वहाँ तक पहुँचें कि प्रथम प्रतर पर दिशा-विदिशा में बतायी गयी उक्त संख्या आ जाए। [२३२]

अवतरण—अब प्रत्येक प्रतर पर अष्टपंक्ति की मिली-जुली संख्या लाने के लिए सवा गाथा द्वारा 'करण' दिखाते हैं। और उस की सहायता से मिलनेवाली नरकवर्ती प्रथम प्रतर संख्या को भूमि और अंतिम प्रतर संख्या को मुख नाम से पहचाना जायेगा।

इष्टपयरेगदिसि संख, अडगुणा चउविणा सङ्गसंखा ।

जह सीमंतयपयरे, एगुणनउया सयातिभि ॥ २३३ ॥

अपहङ्गाणे पंच उ—२३३ १

- **गाथार्थ**—इष्ट प्रतर की एक दिशागत संख्या को आठ गुना करके उस में से चार की संख्या कम करने के बाद अवशेष संख्या को एक (इन्द्रक) सहित करने पर [इष्टप्रतर-संख्या प्राप्त होती है ।] जिस प्रकार सीमंतक नाम के प्रथम प्रतर पर ३८९ नरकावास की संख्या और अप्रतिष्ठान नामक अंतिम प्रतर पर पाँच की संख्या प्राप्त होती है ।

विशेषार्थ—पिछले वैमानिकनिकाय में प्रतिप्रतराश्रयी, समग्र निकायाश्रयी और प्रतिकल्पाश्रयी ये तीनों प्रकार की संख्या [विभिन्न तरीकों से] (१०८ वीं) एक ही गाथा से बतायी गयी थी, जब कि यहाँ कही जानेवाली नरकावासा की संख्या २३३-२३४ इन दो गाथाओं से कही जायेगी । और वैमानिकनिकाय में तो 'समग्र निकायाश्रयी और प्रतिकल्पाश्रयी' ऐसे दो ही प्रकार की संख्या ग्रन्थकार ने मूल गाथा में बतायी थी और तीसरी 'प्रतिप्रतराश्रयी' विमान संख्या तो ऊपर से बतायी गयी थी ।

जब कि यहाँ पर इन नरकावासाओं की प्रति प्रतर संख्या को भी ग्रन्थकार स्वयं ही मूल गाथा में कहेंगे । क्यों कि विदिशा की पंक्तियाँ अधिक संख्या में होने के कारण प्रति प्रतर संख्या को जानना यहाँ अति कठिन है; अतः यहाँ प्रतिप्रतराश्रयी, समग्र-नरकाश्रयी और प्रतिनरकाश्रयी ये तीन प्रकार से नरकावास संख्या कहते हैं । इन में यह गाथा 'प्रतिप्रतराश्रयी' संख्या को जो बताती है, वह इस प्रकार है—

इष्ट नरक के इष्ट प्रतर के लिए संख्या प्राप्ति का उदाहरण एवं दृष्टांत—यदि रत्न-प्रभा पृथ्वी के इष्ट प्रथम सीमंतप्रतर की संख्या निकालनी हो तो वहाँ एक दिशागत पंक्ति के नरकावास की संख्या जो ४९ है, उसे आठ से गुना करने से ३९२ होते हैं । [अब विदिशा में दिशा की अपेक्षा से एक-एक आवास कम होने के कारण] चारों विदिशाओं की चार संख्या को कम करने से दिशा-विदिशा के नरकावासाओं की कुल संख्या ३८८ आती है, इस में एक प्रतरवर्ची निकालने से उसी प्रतर की एक इन्द्रक नरकावास संख्या मिलाने से ३८९ की कुल संख्या इष्ट ऐसे प्रथम प्रतर पर आती है ।

इस प्रकार द्वितीयादि प्रतर पर करते—करते (तथा संख्या को जानते) जब अप्रतिष्ठान नरकावास पर पहुँचते हैं तब पाँच की कुल संख्या आती है, क्योंकि वहाँ एक-एक दिशावर्ची एक-एक नरकावास होने के कारण एक की संख्या को करण के नियमानुसार आठ से गुनने से ८ आते हैं, इन में से विदिशा के चार कम करने से शेष चार बचे रहते हैं, इन में इन्द्रकनरकावासा मिलाने से पाँच की कुल प्रतर संख्या आ मिलती है ।

मध्य के ४७ प्रतर के आवलिकागत नरकावासा की संख्या जानने के लिए यत्र देखिये । आवलिकागत संख्या को छोड़कर शेष संख्या जो रहती है उसे पुष्पावकीर्ण के प्रति प्रतर पर विचारें । प्रत्येक प्रतर पर पुष्पावकीर्ण की संख्या कितनी होती है ? इस सम्बन्ध में सच्ची हकीकत उपलब्ध हुई नहीं है ।

इति इष्टप्रतरे आवलिकागतावाससंख्याप्राप्त्युपायः ।

इस करण के अनुसार समग्र निकायाश्रयी को सोच-विचारने से प्रथम प्रतरवर्ती संख्या को मुख और अंतिम (४९ वीं) प्रतरवर्ती संख्या को भूमि कहा जाता है । और प्रत्येक नरकाश्रयी को सोचें तो इष्ट नरक की प्रथम प्रतर संख्या जिसे मुख और करके मिलनेवाली संख्या को प्रथम प्रतर की संख्या में से कम करने के बाद जो शेष संख्या रहती है

इस के उपरान्त दूसरे^{३६९} अनेक उपाय-करण हैं, जिन्हें ग्रन्थान्तर से देख लेना । [२३३ $\frac{१}{४}$]

अवतरण—पूर्व की गाथा में प्रत्येक प्रतराश्रयी संख्या बताकर अब यह पौनी गाथा, समग्र नरकाश्रयी और प्रत्येक नरकाश्रयी आवलिकागत नरकावास संख्या को जानने का करण बताती है । इस में वैमानिक निकायवत् यहाँ भी 'मुख तथा भूमि' के द्वारा प्राप्त होती दोनों प्रकार की संख्या बताते हैं ।

३६९—१. पहले तो पश्चानुपूर्वी पर (अंतिम-४९ वें प्रतर से ऊपर आना वह) भी यह करण ही पूर्वानुपूर्वी के नियमानुसार संख्या जानने के लिए उपयोगी बनता है ।

२. साथ ही एक दिशा तथा एक विदिशा इन दोनों की पंक्तिगत संख्याओं को कुल मिलाने के बाद उसे चार की संख्या से गुना करके फिर उस में एक इन्द्रक मिलाने से सर्वत्र प्रतरग्रत आवास संख्या प्राप्त होती है ।

३. साथ ही द्वितीय प्रतरों में प्रत्येक प्रतर की मिलती हुई अंक-संख्या में से एक को न्यून (कम) करके मिलनेवाली संख्या को प्रथम प्रतर की संख्या में से कम करने के बाद जो शेष संख्या रहती है वह उस प्रतर पर प्राप्त होती है ।

४. इस के अतिरिक्त चौथी रीत से पाँच (५) की संख्या को 'आदि' संज्ञा, ८ की संख्या को 'उत्तर' संज्ञा तथा ४९ की संख्या को 'गच्छ' संज्ञा देकर पश्चात् गच्छसंज्ञक तथा उत्तरसंज्ञक संख्याओं को एक साथ गुनने पर आई हुई संख्या में से आदि संज्ञक संख्या कम करने से [$४९ \times ८ = ३९२ - ५ = ३८७$] अंतिम घनसंख्या प्रथम प्रतर पर ३८९ की प्राप्त होती है । इस प्रकार द्वितीयादि प्रतर पर भी यथायोग्य उपाय हैं ।

५. साथ ही पाँचवीं रीति से इष्ट प्रतर की एकदिशि संख्या को आठ गुना करके उनमें से तीन कम करते हुए जो संख्या शेष रहती है उसे आवलिकागत की संख्या समझें ।

इसके सिवा अनेक करण होते हैं । अधिक जानकारी के लिए 'दिवेन्द्रनरकेन्द्र प्रकरण' में देखें ।

—पढमो मुहमंतिमो हवइ भूमि ।

मुहभूमिसमासद्वं, पयरगुणं होइ सव्वधणं ॥२३४॥

गाथार्थ—प्रथम प्रतरसंख्या को मुख और अंतिम प्रतरसंख्या को भूमि कहा जाता है । दोनों संख्याओं को कुल मिलाकर उस का अर्ध (आधा-आधा) भाग करे, और जो संख्या मिले उस का सर्व प्रतरसंख्या के साथ गुणन करने से सर्वसंख्या प्राप्त होती है । [२३४]

विशेषार्थ—वैमानिकवत् यहाँ भी यह एक ही गाथा समग्र नरकाश्रयी करण बताती है, तथा प्रतिनरकाश्रयी संख्याकरण भी बताती है; क्योंकि मुख तथा भूमि का ग्रहण सातों नरकाश्रयी तथा प्रत्येक नरकाश्रयी भी घटता है ।

१-समग्र नरकाश्रयी आवासों की संख्या प्राप्त करने का उदाहरण—प्रथम प्रतरवर्ती कुल ३८९ नरकावासों का समुदाय [पश्चानुपूर्वी प्रथम प्रतर का मुख होने के कारण] मुखसंज्ञक कहते हैं । और अंतिम प्रतर स्थानवर्ती ५, नरकावासों का कुल समुदाय (पश्चानुपूर्वी उसका आरंभ अथवा मूल होने से) भूमि संज्ञक से पहचाना जाता है ।

इस मुख तथा भूमि की संख्या को एकसाथ मिलाने से [३८९+५=]३९४ संख्या मिलती है, जिसको गाथानुसार अर्ध करने से १९७ संख्या बनती है । अब सर्व प्रतरों के आवलिकागत आवासों की कुल संख्या निकालनी है । इसलिए उस संख्या को ४९ प्रतरों से गुणित करने से दिशा तथा विदिशावर्ती आवलिकागत [आवलिका-प्रविष्ट] नरकावासों की ९६५३ संख्या आती है, [अब कुल ८४ लाख में से ९६५३ की संख्या कम करने से] ८३,९०,३४७ संख्या जो शेष रही, उसे सातों नरकाश्रयी पुष्पावकीर्ण की संख्या समझें, जिसे अब अगली गाथा में कही जायेगी ।

इस प्रकार समुच्चयरूप से करण-उपाय चरितार्थ हुआ ।

[सैमुच्चय के लिए दूसरा उपाय यह है कि—४९ प्रतर की एक ही ओर की आवाससंख्या (वैमानिक समयवत्) इकट्ठी करके चार से गुनने से ४९ इन्द्रक आवासों मिलते ही उक्त ९६५३ की संख्या भी आयेगी ।]

२-इष्टनरकाश्रयी आवाससंख्या की प्राप्ति का उदाहरण—अब प्रत्येक नरकाश्रयी

३७०-इस के अतिरिक्त नरकावास संख्या की प्राप्ति के अन्य करण भी होते हैं, इनमें से कुछ देवेन्द्र-नरकेन्द्र प्रकरण में दिये गये हैं, उन्हें देख लेना ।

निकालना हो तो प्रत्येक नरकों के आदिम प्रतर की कुल संख्या को मुख संज्ञक और अंतिम प्रतरवर्ती संख्या को भूमि संज्ञक मान लेना, बाद में उपर्युक्त मतानुसार सर्व गिनती करने से इष्ट नरक में आवाससंख्या प्राप्त होती है।

उदाहरण—जिस प्रकार रत्नप्रभा में प्रथम प्रतर पर ३८९ यह मुख संख्या और रत्नप्रभा के अंतिम तेरहवें प्रतर की २९३ की संख्या यह भूमि है, इन दोनों का समास करने से अथवा मिलाने से ६८२ की संख्या मिलती है उसका आधा ३४१, इसे उन्हीं तेरह प्रतरों से गुनने से ४४३३ की संख्या आती है। इतनी आवलिकागत संख्या प्रथम नरक में समझ लें। इस संख्या को प्रथम नारकी की गाथा २१७ में बताई गई ३० लाख नरकावासों की संख्या में से कम करने के बाद जो २९,९५,५६७ की संख्या शेष रहती है इसे पुष्पावकीर्णों की समझें। [दोनों को पुनः मिलाने पर ३० लाख की संख्या मिल जायेगी। इस प्रकार सभी नरक पर दोनों प्रकार की आवाससंख्या सोच लेना।]

इति प्रतिनरकाश्रयी उदाहरणम् ।

॥ प्रत्येक नरकाश्रयी [तथा एकत्र] आवलिका प्रविष्ट-पुष्पावकीर्ण आवास संख्याका यंत्र॥

नाम	मुख	भूमि	समास	अर्द्ध	प्रतर	पंक्तिवद्ध	पुष्पावकीर्ण	कुलसंख्या
सातों नरकाश्रयी	३८९	५	३९४	१९७	४९	९६५३	८३९०३४७	८४ लाख
१ रत्नप्रभा में	३८९	२९३	६८२	३४१	१३	४४३३	२९९२५६७	३० लाख
२ शर्कराप्रभा में	२८५	२०५	४९०	२४५	११	२६९५	२४९७३०५	२५ लाख
३ बालुकाप्रभा में	१९७	१३३	३३०	१६५	९	१४८५	१४९८५१५	१५ लाख
४ पंकप्रभा में	१२५	७७	२०२	१०१	७	७०७	९९९२९३	१० लाख
५ धूमप्रभा में	६९	३७	१०६	५३	५	२६५	२९९७३५	३ लाख
६ तम प्रभा में	२९	१३	४२	२१	३	६३	९९९३२	९९९९५
७ तमस्नमःप्रभा में	०	०	०	०	१	५	०	५

सातों नरकाश्रयी मुख भूमि संख्याकरण [वैमानिकवत्] यहाँ पर नहीं दिया गया है लेकिन ग्रन्थ में देख सकते हैं।

[दूसरी रीति से भी इसे अगर लाना हो तो प्रत्येक नरक की यथायोग्य प्रतर संख्या को तथा सर्व प्रतर की एक ही ओर (बाजू) की आवास संख्या को एकत्रित

करके, -उसे चार की संख्या से गुनकर स्वनरकप्रतर संख्या जितने इन्द्रकावासों को प्रक्षेपने से (फिर से ऊपर से मिलाने से) प्रत्येक नरक में इष्ट संख्या प्राप्त होती है। सामान्य गणित में भी अनेक तरीके मिलते हैं] [२३४]

॥ प्रासंगिक आवासों का स्वरूप-परिशिष्ट नं. ७ ॥

विशेष बात-यहाँ ग्रन्थकार ने वृत्त-त्रिकोणादि आवाससंख्या-प्राप्तिकरण, आवलिकाप्रविष्ट अथवा पुष्पावकीर्ण का विमानवत् अंतर-द्वार संख्या-संस्थानादि वर्णन लिखा नहीं है, परन्तु उपयोगी होने से ग्रन्थान्तर से उद्धृत कर नीचे दिया जाता है।

वृत्त, त्रिकोण इत्यादि का प्रति प्रतर पर संख्याकरण-सातों नरक में प्रत्येक प्रतर पर वृत्त-त्रिकोण (त्रिभुज) तथा चौकोन नरकवासों की संख्या आपको अगर जाननी हो तो वैमानिकनिकाय में बताया गया वृत्तादिकरण यहाँ योजना।

१. इसका मतलब यह कि यहाँ दिशा तथा विदिशा में पंक्तियाँ होने के कारण एक दिशा की तथा एक विदिशा की इस प्रकार दो पंक्तियों को लें। इसके बाद दोनों की आवास संख्या को तीन भागों में बाँट दें। और ऐसा करने से यदि शेष संख्या एक की बचे तो त्रिकोण में और दो बच जायँ तो एक त्रिकोण में और दूसरी चौकोन में मिला दें। चाद में दोनों पंक्तिवर्ती अलग-अलग रूप से वृत्त-त्रिकोण और चौकोन संख्या को इकट्ठी करके उस संख्या का समास करके अर्थात् उन्हें एक साथ मिलाकर उसे चार से गुने [अथवा दिशा-विदिशा की संख्या को प्रथम अलग निकालनी हो तो चार-चार पंक्तियों की भिन्न-भिन्न संख्याओं को चार की संख्या से गुनें।] जिसके कारण प्रथम प्रतर पर दिशा-विदिशा की एकत्रित हुई [अथवा दिशा-विदिशा की पृथक्-पृथक्] वृत्तादि आवाससंख्या प्राप्त होती है।

उदाहरण के तौर पर रत्नप्रभा की दिशागत पंक्ति की ४९ की संख्या को तीन हिस्सों में बाँटने से १६-१६-१६ और शेष में (आवास) १ बचता है, उस शेष को त्रिकोण में मिला देने से १७-१६-१६ संख्या बनती है।

अब विदिशागत पंक्ति की कुल ४८ की संख्या को तीन हिस्सों में बाँटने पर १६-१६-१६ संख्या बनती है। अब उस में दिशागत पंक्ति की आयी हुई संख्या को क्रमशः यथासंख्य रूप मिलाने से ३३ त्रि०, ३२ चौ० तथा ३२ वृत्त की संख्या बनती है। अब चारों पंक्तियों की संख्या लाने के लिए उन्हें चार से गुनने से क्रमशः १३२ संख्या त्रिकोण की, १२८ चौकोन की तथा १२८ वृत्ता की आयी। अब वृत्त की १२८ की संख्या में इन्द्रकवृत्त होने से मिलाने पर उसकी १२९ वृत्त की संख्या प्रथम प्रतर पर आयी। अब इन्हीं तीनों संख्याओं को एकत्रित करने से ३८९ की आवलिकागत उक्त संख्या आयीगी। इस प्रकार अन्य प्रतर के लिए यन्त्र देखिए।

प्रतिनरकस्थानाश्रयी तथा समग्रनरकाश्रयी त्रिकोणादि संख्या लाने का करण वैमानिकवत् सोचें। अन्य भी करण हैं जिन्हें ग्रन्थान्तर से देख सकते हैं।

आवलिक-पुष्पावकीर्ण नरकावासों का विशेष वर्णन—

नरकावास अंतर—आवलिकादि नरकावासों का परस्पर अंतर (वैमानिकवत्) संख्य-असंख्य योजन संभवित है।

प्राकारव्यवस्था—नरकावासों में उत्पन्न होनेवाले नरक पराधीन एवम् परवश होते हैं जो दुःख भोगने के लिए आये हैं। वहाँ कुछ भी अच्छी वस्तु या लूटनेलायक होता ही नहीं है, जिसके कारण नरकों के लिए प्राकारादि की व्यवस्था संभवित ही नहीं है। अतः वहाँ वह व्यवस्था नहीं है।

स्वामित्वभेद—वहाँ वैमानिक त्रिकोण, वृत्त, चौकोन में नरकावासों का मालिकी भेद जैसा कुछ भी नहीं है। साथ ही उन में बाँटने योग्य कुछ भी नहीं मिलता है। उच्च चीजों का मालिक सब कोई हो सकता है परन्तु ऐसे अशुभ एवं नरकावासों की आवलिकाओं में मालिक बनने के लिए कौन तैयार होगा? अर्थात् कोई भी नहीं।

उपरोपरि (सर्वोच्च, सर्वश्रेष्ठ) स्थान—वैमानिक निकाय की तरह यहाँ भी वृत्त के ऊपर वृत्त, त्रिकोण के ऊपर त्रिकोण तथा चौकोन के ऊपर चौकोन नरकावासा सर्वत्र है ऐसा समग्र प्रतर में क्रमशः सोच लेना।

स्पर्शादिक—ये सभी नरकावासा अशुभ, अति दुर्गन्धयुक्त स्पर्श करने के साथ ही महाहानि पहुँचानेवाले, अरुचि उपजानेवाले, अनेक मुद्दे इत्यादि की अति निन्द्य तथा दुर्गन्ध से भरे हुए, प्रकाशादि कुछ भी न होने के कारण और स्वयं अप्रकाशित होने से महा घनघोर अंधकारवाले होते हैं।

पुष्पावकीर्णाकार (संस्थान)—प्रत्येक पंक्तियों के आंतरों में बिखरे हुए—अलग-अलग फैलये हुए (पुष्पावकीर्ण) पुष्पवत् आवास रहे हैं। वे सब लेहयुक्त कोठे के आकार में, शराव के पीठ के आकार में, खाना पकाने के तवे के आकार में, थाली, तापसाश्रम, मृदंग (मुरज) वाद्य, नन्दीमृदंग, सुषोषा घंटा, मर्दल (मृदंग से मिलता-जुलता एक प्राचीन बाजा), भाँड़पटह (ढोल, नगाडा, डुग्गी) भेरी-ढक्का (नगाडा, ढोल) झलरी (हुडुका-एक बाजा) कुस्तुम्बक इत्यादि विभिन्न आकारवाले होते हैं। इन्हें देखते ही दर्शक के शरीर में कँप-कँपी आ जाये ऐसे भयंकर होते हैं। ये सभी नरकावास भीतर से गोल और बाहर से त्रिकोण तथा नीचे से क्षुर प्रशस्त्र के (क्षुर=क्षुरा-उस्तुरा) समान दृश्यवाले हैं।

आवलिकाप्रविष्टावासाकार—आवलिकागत नरकावासविमान खास करके मध्य नरकेन्द्र के आवास की चारों दिशा की पंक्तियों में पहले त्रिकोण, बाद में चौकोन फिर वृत्त, इस प्रकार पुनः त्रिकोण, चौकोन इत्यादि क्रमानुसार पंक्ति के अंत तक आये हुए हैं; लेकिन उन त्रिकोणादि आवासों के पीठ का ऊपरि मध्यभाग ग्रहण करके देखा जाये तो उन आवलिका गत नरकावास पुष्पावकीर्ण आकारवत् भीतर से वृत्ताकार और बाहर से चौकोन और नीचे से घास काटने के नुकीले तीक्ष्णहँसिया जैसे दिखाई देते हैं।

प्रत्येक प्रतरवर्ती सभी नरकेन्द्रावास गोल (वृत्त) ही होते हैं, लेकिन त्रिकोणादिक होते नहीं हैं।

आवलिकागत नरकावासों के नामों की पहचान—

प्रत्येक नरक में यथासंख्य उपर्युक्त कथनानुसार प्रतरों आये हुए हैं। प्रत्येक प्रतर तीन हजार योजन ऊँचा तथा चौड़ाई में असंख्य योजन लम्बा है। प्रत्येक प्रतर के बीच इन्द्रक नरकावास आये हुए हैं, जिनके आस-पास चारों दिशाओं में तथा चारों विदिशाओं में (अंतिम प्रतर वर्ज्य विदिशा), इस प्रकार आठ पंक्तियाँ नरकावासों की निकली हैं (जिनके आकारादिक का स्वरूप इसके पूर्व बताया गया है)।

रत्नप्रभा पृथ्वी में आये हुए मध्यवर्ती 'सीमन्तेन्द्रक' आवास की चारों ओर प्रवर्तित दिशावर्ती आवासों में प्रथम पूर्व दिशा के नरकावास का नाम सीमन्तकप्रभ, उत्तर में सीमन्तकमध्य, पश्चिम में सीमन्तावर्त तथा दक्षिण में सीमन्तकावशिष्ट हैं। इसके बाद पूर्व दिशा में से शुरू होती पंक्ति में स्थित

दूसरे से लेकर नरकावासा के नामों इस प्रकार बताते हैं । पहले का नाम है विलय, २-विलात्मा, ३-स्तनित, ४-आघात, ५-घातक, ६-कलि, ७-काल, ८-कर्षि, ९-विद्युत, १०-अशनि, ११-इन्द्राशनि, १२-सर्प, १३-विसर्प, १४-मूर्च्छित, १५-प्रमूर्च्छित, १६-लोमहर्ष, १७-खरपरुष, १८-अग्नि, १९-वेपिता, (वेपित=कंपित), २०-उदग्ध, २१-विदग्ध, २२-उद्वेजनक, २३-विजल (निर्जल, सूखा), २४-विमुख, २५-विच्छवि, २६-व्यधश् (मेदनेवाला, चोट करनेवाला), २७-अवलान, २८-प्रभ्रष्ट, २९-रूष्ट ३०-विरूष्ट, ३१-नष्ट, ३२-विगत, ३३-विनय, ३४-मंडल, ३५-जिह्व, ३६-उत्तरक, ३७-प्रत्तरक, ३८-अप्रतिष्ठित, ३९-खंड, ४०-प्रस्फटित, ४१-पापदंड, ४२-पप्टकपाचक, ४३-घातक, ४४-स्फुटित, ४५-काल, ४६-क्षार, ४७-लोल और ४८ लोलपाक्ष ।

अब उत्तरवर्ती पंक्ति के दूसरे से लेकर सभी नामों को जान लें ।

उक्त नामों को 'मध्य' पद लगाइए। उदाहरण के तौर पर-विलयमध्य, विलात्मामध्य इत्यादि । साथ ही इन्हीं नामों में मध्यआवर्त शब्द नाम के अन्त में तथा आदि में जोड़ा (लगाया) जाता है, परन्तु चार-चार आवास के अंतर पर मध्यविलय इस प्रकार मध्य शब्द आदि में पहले लगाया जाता है ।

और पश्चिमवर्ती पंक्तियों के लिए उन्हीं नामों के साथ 'आवर्त' पद लगाना। जैसे कि विलयाधर्त, विलात्माधर्त आदि । और मध्य आवर्त आदि जो पद लगाये जाते हैं वे प्रारम्भ में ऊपर बताये अनुसार विलयादि नाम के बाद लगाये जाते हैं लेकिन चार-चार आवास के अन्तर पर तो 'मध्यविलय' पहले लगाया ही जाता है ।

चौथी दक्षिण दिशावर्ती पंक्तियों के लिए उक्त नामों को अवशिष्ट पद लगाइए अर्थात् 'विलया-वशिष्ट, विलात्मावशिष्ट' इस प्रकार प्रत्येक नरक प्रस्तर पर प्रयोजित करें ।

इस आवास के देव अशुभ एवं अपवित्र होने से इनके नाम भी ऐसे ही अमंगलकारी तथा अप्रिय हैं ।

उत्पत्ति-वेदना-विचार—ये सभी नरकावास गोल (वृत्त) झरोखे जैसे होते हैं, वहाँ उत्पन्न होकर पुष्ट शरीर वाले ये नारको बड़ी कठिनता से इसी मुँह से (अर्थात् नरकावास के द्वार में से) बाहर निकलकर नीचे गिर जाते हैं, क्योंकि गवाक्ष (झरोखे) के समान होने के कारण भीतर का भाग विस्तीर्ण हो जाता है, लेकिन उसका मुँह अति संकीर्ण होता है। अतः कलश में प्रवेश करने वाले को छोटी नाली में से बाहर निकलते समय जैसा कष्ट पड़ता है वैसा उन्हें भी कष्टदायक लगता है, परन्तु अंत में परमाधामी इन्हें बड़े जोरों के साथ खींचकर जब बहार निकालते हैं। तब वे अति पीड़ित होकर बाहर निकलते हैं। उनका उत्पत्तिदेश (योनि-जन्मस्थल) हिमालय पर्वत के समान अतिशय शीतल है। इस प्रदेश को छोड़कर शेष सारे प्रदेश की जमीन खर के अंगारों के समान अति गर्म और उष्णवेदानामय है, इसी कारण से शीतयोनि में जन्म लेनेवाले सभी नारकों के लिए यह उष्णक्षेत्र अग्नि के समान अधिक कष्टदायक है ।

अवतरण—अब उस करण की सहायता से प्राप्त समग्र निकायाश्रयी आवलिकागत और पुष्पावकीर्ण की संख्या को ग्रन्थकार स्वयं ही कहते हैं—

छन्नवइसय तिपन्ना, सत्तसु पुढवीसु आवलीनरया ।

सेस तिअसीइलक्खा, तिसय सियाला नवइसहसा ॥ २३५ ॥

गाथार्थ—पूर्व कथित गाथा में कुच्छेक करण की सहायता से सातों नरक की कुल

मिलाकर ९६५३ की आवलिकागत नरकावास संख्या प्राप्त होती है। इसलिए ८४,००,००० (८४ लाख) संख्या में से ९६५३ की संख्या कम करने से शेष ८३,९०,३४७ की संख्या पुष्पावकीर्ण की प्राप्त होती है ॥ २३५ ॥

विशेषार्थ—गाथार्थवत् [२३५]।

॥ प्रत्येक नरकाश्रयी वृत्त-त्रिकोन-चौकोन नरकावासाओं की संख्या का यंत्र ॥

जाति नाम	पहली नरक	दूसरी	तीसरी	चौथी	पाँचवीं	छठी	सातवीं	सातों की कुल संख्या
वृत्त संख्या	१४५३	८७५	४७७	२२३	७७	१५	१	३१२१
तीसरी ,,	१५०८	९२४	५१६	२५२	१००	२८	४	३३३२
चौथी ,,	१४७२	८९६	४९२	२३२	८८	२०	०	३२००
सातों नरक की कुल पंक्तिवद्ध संख्या	४४३३	२६५५	१४८५	७०७	२६५	६३	५	९६५३

अवतरण—इससे पूर्व आवलिक तथा पुष्पावकीर्ण नरकावासों की विभिन्न अवस्था बताने के बाद अब ग्रन्थकार यहाँ पर नरकावासों का प्रमाण कहते हैं—

तिसहस्रसुचा सन्वे, संखमसंखिज्जविरथडाऽऽयामा ।

पणयाल लक्ख सीमंतओ अ लक्खं अपइठाणो ॥२३६॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥२३६॥

विशेषार्थ—सातों नरक पृथ्वी में प्रवर्तित सारे नरकावास [आवलिकागत और पुष्पावकीर्ण] तीन हजार (३०००) योजन की ऊँचाईवाले तथा चौड़ाई और लम्बाई में कोई संख्य योजन तो कोई असंख्य योजन ऐसे दोनों प्रकार के हैं। उदाहरण के तौर पर प्रथम नरकप्रतरवर्ती सीमन्त नामक इन्द्रक नरकावास [ढाई द्वीपप्रमाण] प्रमाणांगुल से ४५ लाख योजन का वृत्ताकार में और सातवीं नरकी के मध्य में प्रवर्तमान अप्रतिष्ठान नरकावासा भी प्रमाणांगुल से [जंबूद्वीप प्रमाण] एक लाख योजन का वृत्ताकार में आया हुआ है जिसके आसपास महारौरव, महाकाल, रौरव तथा काल—ये चारों असंख्य योजन के विस्तारवाले नरकावासा आये हुए हैं। इस प्रकार संख्य और असंख्य योजन प्रमाण इन्हीं आवासों का आप समझे। [२३६]

॥ प्रत्येक नारकीयों वृत्तादिनरकाशासोजीका यंत्र ॥ प्रथम रत्नप्रथमा नरक । [यंत्रक्रमांक ८२]

१ प्रतरमें	२ प्रतरमें	३ प्रतरमें	४ प्रतरमें	५ प्रतरमें	६ प्रतरमें	७ प्रतरमें
४३-४८ गो. त्रि. चौ. दि. ४६-४७-४६ वि. ४६-४६-४६	४८-४७ गो. त्रि. चौ. ४६-४६-४६ ४५-४६-४६	४७-४६ गो. त्रि. चौ. ४५-४६-४६ ४५-४६-४५	४६-४५ गो. त्रि. चौ. ४५-४६-४५ ४५-४५-४५	४५-४४ गो. त्रि. चौ. ४५-४५-४५ ४४-४५-४५	४४-४३ गो. त्रि. चौ. ४४-४५-४५ ४४-४५-४४	४३-४२ गो. त्रि. चौ. ४४-४५-४४ ४४-४४-४४
+३२-३३-३२ x ४ ४ ४	३१-३२-३२ x ४ ४ ४	३०-३१-३१ x ४ ४ ४	३०-३१-३० x ४ ४ ४	२९-३०-३० x ४ ४ ४	२८-३०-२९ x ४ ४ ४	२८-२९-२८ x ४ ४ ४
१२९-१३२-१२८ सक = कुल ३८६	१२५-१२८-१२८ = कुल ३८६	१२६-१२८-१२४ = कुल ३७३	१२९-१२४-१२० = कुल ३६५	१२७-१२०-१२० = कुल ३५७	११३-१२०-११६ = कुल ३४९	११३-११६-११२ = कुल ३४९
८ प्रतरमें	९ प्रतरमें	१० प्रतरमें	११ प्रतरमें	१२ प्रतरमें	१३ प्रतरमें	
४२-४९ गो. त्रि. चौ. दि. ४४-४४-४४ वि. ४३-४४-४४	४९-४० गो. त्रि. चौ. ४३-४४-४४ ४३-४४-४३	४०-३९ गो. त्रि. चौ. ४३-४४-४३ ४३-४३-४३	३९-३८ गो. त्रि. चौ. ४३-४३-४३ ४२-४३-४३	३८-३७ गो. त्रि. चौ. ४२-४३-४३ ४२-४३-४२	३७-३६ गो. त्रि. चौ. ४२-४३-४२ ४२-४२-४२	पठनी नारकीयो नेरडी प्रतर पर जोळ-त्रि. चौ. १४५३-१५०८-१४७२ तीनों किलापर पुल ४४३३ शेव पुष्पावलीजो २९९५५६७ = कुल ३० लास.
+२७-२८-२८ x ४ ४ ४	२६-२८-२७ x ४ ४ ४	२६-२७-२६ x ४ ४ ४	२५-२७-२६ x ४ ४ ४	२४-२६-२५ x ४ ४ ४	२४-२५-२४ x ४ ४ ४	
१०९-११२-११२ सक = कुल ३३३	१०५-११२-१०८ = कुल ३२५	१०५-१०८-१०४ = कुल ३१७	१०२-१०४-१०४ = कुल ३०९	१००-१०४-१०० = कुल ३०६	९७-१००-९६ = कुल २९३	

दूसरी शर्कश प्रभामें ॥	१ प्रतरमें	२ प्रतरमें	३ प्रतरमें	४ प्रतरमें	५ प्रतरमें	६ प्रतरमें	७ प्रतरमें
दिशा-विदिशाकी	३६ ३५	३५-३४	३३ ३२	३३ ३२	३२, ३३	३१-३०	३०-२९
संख्या उसके	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.
तीन भाग करणसे	१२-१२-१२	११-१२-१२	११-१२-११	११-११-११	१०-११-११	१०-११-१०	१०-१०-१०
दोनोंकी एक साथ मिलानसे +	११-१२-१२	११-१२-११	११-११-११	१०-११-११	१०-११-१०	१०-१०-१०	१०-१०-१०
चार(४)से गुननेसे और X	२३-२४-२४	२२-२३-२३	२२-२३-२२	२१-२२-२२	२०-२२-२१	२०-२१-२०	१९-२०-२०
गोलमें एक इन्द्रक	X ४ ४ ४	X ४ ४ ४	X ४ ४ ४	X ४ ४ ४	X ४ ४ ४	X ४ ४ ४	X ४ ४ ४
मिलानसे +	१२-१६-१६	११-१६-१२	११-१२-११	१०-११-११	१०-११-१०	१०-१०-१०	१०-१०-१०
प्रति प्रतर पर कुल संख्या	१३-१६-१६	११-१६-१२	११-१२-११	१०-११-११	१०-११-१०	१०-१०-१०	१०-१०-१०
प्रतर खानेकी पहचान	कुल २८५	कुल २७७	कुल २६९	कुल २६९	कुल २५३	कुल २४५	कुल २३७
दिशा-विदिशाके नरकावास	२१-२८	२८-२७	२७-२६	२६-२५	२५-२४	२४-२३	२३-२२
के तीन भाग करणसे	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.	गो. त्रि. चौ.
दि.	१ १० १०	१ १० १	१ १ १	१ १ १	१ १ १	१ १ १	१ १ १
वि.	१ १० १	१ १ १	१ १ १	१ १ १	१ १ १	१ १ १	१ १ १
दोनोंकी एक साथ मिलानसे +	१८-२०-११	१८-१९-१८	१७-१८-१८	१६-१७-१७	१६-१७-१६	१६-१६-१६	१६-१६-१६
चारसे गुननेसे और X	X ४	X ४	X ४	X ४	X ४	X ४	X ४
एक इन्द्रक मिलानसे +	१२-१०-१६	१२-१६-१२	११-१२-१२	१०-१२-१२	१०-१२-११	१०-१२-११	१०-१२-११
प्रति प्रतर पर कुल संख्या	१३-१०-१६	१३-१६-१२	१३-१२-१२	१३-१२-१२	१३-१२-१३	१३-१२-१३	१३-१२-१३

दूसरे नरकके कुल आवास

दूसरे नरकमें ग्यारह प्रतरके मिलकर
गोल त्रिकोण चौकोन
२७५ १२४ ८९६
पंक्तिखण्ड तीनोंको
एक साथ मिलानसे-२६१५
पुष्पावकीर्ण शेष - २४९३०५
दोनों मिलकर कुल नरकावास २५ लाख

॥ तीसरे बालुका प्रभा नरकमें
धृतादि नरका वासाओंका यंत्र ॥

१ प्रतरमें	२ प्रतरमें	३ प्रतरमें	४ प्रतरमें	५ प्रतरमें	६ प्रतरमें	७ प्रतरमें	८ प्रतरमें	९ प्रतरमें	कुल संख्या
२५-२४	२४-२३	२३-२२	२२-२१	२१-२०	२०-१९	१९-१८	१८-१७	१७-१६	गोल - ४७७
गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	त्रिकोण - ५१६
८-९-८	८-८-८	७-८-८	७-८-७	७-७-७	६-७-७	६-७-६	६-६-६	५-६-६	चौकोन - ४९२
८-८-८	७-८-८	७-८-७	७-७-७	६-७-७	६-७-६	६-६-६	५-६-६	५-६-५	कुल.पं.सं.
१६-१७-१६	१५-१६-१६	१४-१६-१५	१४-१५-१४	१३-१४-१४	१२-१४-१३	१२-१३-१२	११-१२-१२	१०-१२-११	१४८५
× ४	× ४	× ४	× ४	× ४	× ४	× ४	× ४	× ४	पुष्पावर्णि
६४-६८-६४	६०-६४-६४	५६-६४-६०	५६-६०-५६	५२-५६-५६	४८-५६-५२	४८-५२-४८	४४-४८-४८	४०-४८-४४	१४९८५१५
+ १	+ १	+ १	+ १	+ १	+ १	+ १	+ १	+ १	कुल
६५-६८-६४	६१-६४-६४	५७-६४-६०	५७-६०-५६	५३-५६-५६	४९-५६-५२	४९-५२-४८	४५-४८-४८	४१-४८-४४	१५ लाख.
कुल १९७	कुल १८९	कुल १८१	कुल १७३	कुल १६५	कुल १५७	कुल १४९	कुल १४१	कुल १३३	

॥ चौथे पंक्तप्रभा नामक नरकमें
वृत्तादि नरकावासाओंका यंत्र ॥

चौथे पंक्तप्रभामें	प्रत्तर १	प्रत्तर २	प्रत्तर ३	प्रत्तर ४	प्रत्तर ५	प्रत्तर ६	प्रत्तर ७	कुल संख्या
दिशा-विदिशाके तीन भाग करनेसे दि. वि. दोनोंका योगफल + करके चारकी संख्यासे गुननेसे	१६-१५	१५-१४	१४-१३	१३-१२	१२-११	११-१०	१०-९	गोल २२३ त्रिकोण २५२ चौकोन २३२
	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	
	५-६-५	५-५-५	४-५-५	४-५-४	४-४-४	३-४-४	३-३-३	
	५-५-५	४-५-५	४-५-४	४-४-४	३-४-४	३-४-३	३-३-३	
	१०-११-१०	९-१०-१०	८-१०-९	८-९-८	७-८-८	६-८-७	६-७-६	पंक्तिबद्ध ७०९
X ४	X ४	X ४	X ४	X ४	X ४	X ४		
६०-४४-४०	३६-४०-४०	३२-४०-३६	३२-३६-३२	२८-३२-३२	२८-३२-३२	२४-३२-२८	२४-२८-२४	पुष्पावकीर्ण १११२१३ दीनों मिलकर कुल १० लाख.
+ १	+ १	+ १	+ १	+ १	+ १	+ १	+ १	
४१-४४-४०	३९-४०-४०	३३-४०-३६	३३-३६-३२	२९-३२-३२	२९-३२-३२	२५-३२-२८	२५-२८-२४	
कुल १२५	कुल ११७	कुल १०९	कुल १०१	कुल ९३	कुल ८५	कुल ७७	कुल ७१	

॥ पाँचवें धूमप्रभा नरकके प्रत्येक प्रतरमें वृत्तादिसंख्याका यंत्र ॥

१ प्रतर पर	२ प्रतर पर	३ प्रतर पर	४ प्रतर पर	५ प्रतर पर	कुल संख्या
१-८	८-७	७-६	६-५	५-४	गोल - ७७
गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	त्रिकोण - १००
३-३-३	२-३-३	२-३-२	२-२-२	१-२-२	चौकोन - ८८
२-३-३	२-३-२	२-२-२	१-२-२	१-२-१	
५-६-६	४-६-५	४-५-४	३-४-४	२-४-३	पंक्तिबद्ध कुल - - २६५
× ४	× ४	× ४	× ४	× ४	पुष्पावकीर्ण - - २९९३५
२०-२४-२४	१६-२४-२०	१६-२०-१६	१२-१६-१६	८-१६-१२	
+१	+१	+१	+१	+१	
२१-२४-२४	१७-२४-२०	१७-२०-१६	१३-१६-१६	९-१६-१२	कुल संख्या - ३ लाख
कुल-६९	कुल-६९	कुल-५३	कुल-४५	कुल-३७	

॥ छठे तमः प्रभा नरक तथा सातवें तमस्तमाः प्रभा नामक नरकके प्रत्येक प्रतरमें वृत्तादिसंख्याका यंत्र ॥

छठे तमः प्रभा नामक नरकमें	प्रतर १	प्रतर २	प्रतर ३	कुल संख्या	सातवें तमस्तमाः प्रभा नामक नरकके प्रथम प्रतर पर
दिशा-विदिशाको तीन भागोंमें बाँटने पर	४-३	३-२	२-१	गोल-१५	१ पंक्ति बद्ध दिशागत त्रिकोण विमान-४ इन्द्रक-१
	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	गो.त्रि.चौ.	त्रिकोण-२८	
	१-२-१	१-१-१	०-१-१	चौकोन-२०	
पुनः मिलानेसे (योगफल)	२-३-२	१-२-२	०-२-१		कुल-५ नरकावासा पुष्पावकीर्ण नहीं है।
	× ४	× ४	× ४	पंक्तिबद्ध-६३ पुष्पावकीर्ण-९९९३२ =	
चारकी संख्यासे गुननेसे	८-१२-८	४-८-८	०-८-४		कुल ९९९९५
	+१	+१	+१		
इन्द्रक मिलानेपर प्रतिप्रतर संख्या	९-१२-८	५-८-८	१-८-४	कुल	
	कुल-२९	कुल-२९	कुल-१३	९९९९५	

अवतरण—अब नरकावास की तीन हजार योजन की ऊँचाई तथा उसकी व्यवस्था समझाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि—

हिद्धा घणो सहस्रं, उष्णि^{३०} संकोयओ सहस्रं तु ।

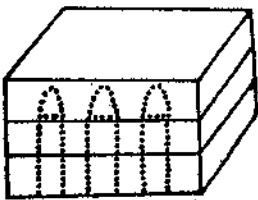
मज्जे सहस्रं छुसिग, तिन्नि सहस्रसिआ निरया ॥ २३७ ॥ [प्र. गा. ५८]

गाथार्थ—नीचे के हिस्से में एक हजार योजन का ठोस (घनीभूत) भाग होता है और ऊपर के हिस्से में भी एक हजार योजन का ठोस भाग होता है। सिर्फ ऊपरि भाग ही बाहरी दिखावे में धीरे-धीरे ऊपर जाते शिखर की तरह संकुचित बनता जाता है। और बीच का भाग जो एक हजार योजन का है वह एकदम खोखला होता है। और इसी भाग में ही नरक के जीवादि रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक नरकावास तीन हजार योजन का होता है। ॥२३७॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार मकान की प्लीन्थ होती है उसी प्रकार हरेक 'नरकावास' की भी प्लीन्थ होती है अर्थात् ठोस (मजबूत) भाग होता है। यह कितना होता है? तो वह गाथा में बताये गये मतानुसार एक हजार योजन का होता है। इसके बाद नारकी जीवों को जहाँ त्रास, दुःख और वेदना का परमाधामीयों के द्वारा अनुभव होता है वह भाग आता है। वह हिस्सा भी एक हजार योजन का खोखला होता है। परमाधामी लोग नारकी जीवों को ५०० योजन ऊँचा उछालकर भयंकर नुकीले मालों पर उठा लेते हैं यह सब इसी हजार योजन के पोले हिस्से में ही बनता है, और उसके बाद नरकावास का ऊपरि हिस्सा भी नीचे की तरह ही बिल्कुल पृथ्वीकारूप ठोस एवं घनीभूत ही होता है। यहाँ सिर्फ इतनी विशेषता है कि—ऊपरि भाग अंत में किसी मंदिर के शिखर की तरह ऊपर की ओर बढ़ता हुआ संकुचित बनता जाता है।

इस प्रकार तीन हजार योजन के ये आवास रत्नप्रभा के प्रतरों में आये हुए हैं।

इन तीन हजार योजन के नरकावासाओं के बीच में एक हजार योजन के पोले



भाग की भीतरी (अंदर की) भित्तियों में वज्रमय अशुभ वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण करके वैक्रिय शरीर के साथ उत्पन्न होते हैं। यह उत्पत्तिस्थान तो बड़ा होता है, लेकिन उसमें से बाहर निकलने का छिद्र छोटा होता है। इस प्रकार किसी घट (घड़ा) या गवाक्ष (झरोखा) के समान अतिशय सकीर्ण (संकुचित) मुखवाले और बड़े पेटवाले आवास

में उत्पन्न होते हैं। इसके बाद वहाँ से बाहर निकलने के लिए तुरंत प्रयत्नशील बनते हैं। लेकिन आवास का मुँह (द्वार) संकीर्ण होने के कारण वे बड़ी कठिनता से या बड़ी जबरदस्ती के साथ शरीर तो निकाल लेते हैं परन्तु इतने में तो कुचले जाते, दबे जाते, पीड़ाते ये नारक महाकठिन ऐसे नरक के तलवे पर धड़ाम से गिर पड़ते हैं। इस प्रकार वे स्वयं बाहर आते हैं। लेकिन कई बार नारक अपनी उत्पत्ति के बाद वहाँ से बाहर निकलने के लिए उसी छोटे से छिद्र में मुँह डालकर बाहर का भाग, जो कि पोला है उसे देखते हैं, इतने में वहाँ उपस्थित यमराज जैसे परमाधामी लोग इन्हें चोटी अथवा गरदन एकड़कर से बड़ी जबरदस्ती के साथ बाहर खींचते हैं, लेकिन बदन बड़ा एवं मोटा तथा निर्गमन द्वार छोटा एवं संकीर्ण होने के कारण किस प्रकार खिंचकर बाहर आ सकता है? अतः परमाधामी लोग अपने पैसे शस्त्रों से उनके शरीर के टुकड़े कर डालते हैं। उस वक्त नारक असह्य वेदना का अनुभव करते हैं। इस प्रकार परमाधामी उनके सारे बदन को बाहर निकालते हैं, परन्तु वैक्रिय शरीरी होनेके कारण वे पुद्गल फिर से एक हो जाते हैं और शरीर मूल स्थितिबत् बन जाते हैं। नरकावासाओं के बाहर आनेके बाद भी इन्हीं बेचारे नारकी जीवों को पलभर भी शांति कहाँ प्राप्त होती है? फिरसे परमाधामीकृत क्षेत्रजन्य या अन्योन्यकृत वेदना एवं पीड़ा सहने का कार्य नारक जीवों में शुरू हो जाता है।

इस प्रकार से नरकावासा की ऊँचाई घटानी चाहिए। [२३७] (प्र. गा. ५८)

अवतरण—नरकावासों का प्रमाण दर्शाने के बाद ग्रन्थकार अब उक्त पृथ्वीपिंड स्थान में नरकावास सर्वत्र होते हैं या कुछ ही भागों में होते हैं? इसके संबंध में बताते हैं।

छसु हिट्टोवरि जोयणसहसं बावन्न सड्ढ चरमाए ।

पुढवीए नरयरहियं, नरया सेसम्मि सव्वासु ॥ २३८ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥२३८॥

विशेषार्थ—प्रारम्भिक रत्नप्रभादि छ पृथिव्यों में हरेक पृथ्वी के यथायोग्य पिंडप्रमाण में से ऊपर और नीचे के एक हजार योजन पृथ्वीपिंड में नरकावास, नारक या प्रतर कुछ भी होता नहीं है अर्थात् यह ऐसा ही रिक्त सघन पृथ्वीभाग है। लेकिन शेष १,७८,००० योजन के सर्व भागों में नारकोत्पत्ति योग्य नरकावास यथायोग्य स्थान पर (उन-उन प्रतरों में) आये हुए हैं [क्योंकि उसी पृथ्वी के बाह्यन्यानुसार प्रतर का अंतर रहता है इसलिए अगली गाथाओं में जिस-जिस पृथ्वी में प्रतरों का जितना-जितना

अंतर बताया है, उतने—उतने अंतर पर नरकावास स्थान भी समझ लेना चाहिए।] जब अंतिम पृथ्वी माघवती में ऊपर तथा नीचे दोनों स्थानों से साढ़े बावन हजार योजन का क्षेत्र छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि वहाँ नरकावासा होते नहीं हैं; सिर्फ शेष तीन हजार योजन में ही नरकावास आये हुए हैं क्योंकि वहाँ एक ही प्रतर है। वह प्रतर ३००० योजन की ऊँचाई पर मिलता है, क्योंकि वहाँ नरकावासों की ऊँचाई भी उतनी ही होती है। [२३८]

अवतरण—अब उन पृथ्वीवर्ती प्रतरों का अंतर जानने के उपाय बताते हैं।

विसहस्त्रणा पृथ्वी, तिसैहंसगुणिएहिं निअयपयरेहिं ।

ऊणा र्वृणणिअपयरभाइआ पत्थडंतरयं ॥ २३९ ॥

माथार्थ—अपने (इष्ट नरक के) प्रतर की संख्या से तीन हजार (पीढा प्रमाण) की संख्या को गुनने से जो संख्या मिलती है उसे दो हजार न्यून ऐसे उस—उस पृथ्वीपिंड में से कम करने पर जो संख्या शेष रहती है उसे एकरूप न्यून प्रतर की संख्या से (क्योंकि प्रतर की संख्या से आंतरा एक संख्या न्यून होता है) भागने से पीढे का अंतर मिलता है ॥२३९॥

विशेषार्थ—इस गाथा का उपयोग छः पृथ्वी तक ही हो सकेगा क्योंकि सातवीं पृथ्वी पर तो प्रतर एक ही होने के कारण वहाँ अंतर कहाँ से पैदा हो सकेगा ? इसलिए यहाँ पर छः पृथ्वियों के विषय में क्रमशः कहा जायेगा। अतः यहाँ प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी के लिए उदाहरण देकर उपाय बताते हैं।

उदाहरण—रत्नप्रभा नामक पहली पृथ्वी का पिंडबाह्य एक लाख अस्सी हजार योजन है। उस पिंड प्रमाण को ऊपर से तथा नीचे से एक—एक हजार योजन कम करने पर १ लाख ७८ हजार का पिंड शेष रहता है। अब इसी पृथ्वी की प्रतरसंख्या तेरह की है तथा प्रत्येक प्रतर तीन—तीन हजार योजन उंचे हैं, अतः सबसे पहले केवल तेरह प्रतरों द्वारा रोके गये क्षेत्रप्रमाण को अलग निकालने के लिए तेरह को तीन हजार से (१३×३०००) गुनने पर ३९ हजार योजन तो मात्र प्रतरक्षेत्र ही आया है, अब इसे उक्त १ लाख ७८ हजार योजन के पिंड में से कम करने से १ लाख ३९ हजार का पृथ्वीक्षेत्र तेरह प्रतरों के बीच का अंतर लाने के लिए शेष बचता है।

अब [चार उँगलियों के आँतरे तीन ही होते हैं वैसे] तेरह प्रतर के आँतरे बारह होने से १ लाख ३९ हजार योजन के शेष बचे अंतरक्षेत्र के बारह भाग करने

पर ११.५८३ यो. $\frac{1}{3}$ योजन का प्रत्येक प्रतरवर्ती अंतर मिलता है, जिस बात को ग्रन्थकार अगली गाथाओं में स्पष्ट करते हैं। [२३९]

अवतरण—पूर्वगाथाओं में बताये हुए उपायों द्वारा प्राप्त रत्नप्रभादि पृथ्वीगत प्रतरों का अंतरमान अब ग्रन्थकार स्वयं ही बताते हैं।

तेसीआ पंच सया, इकारस चेव जोयणसहस्सा ।

रयणाए पत्थडंतरं—मेगो च्चिअ जोअणतिभागो ॥ २४० ॥

सत्ताणवइ सयाइं, बीयाए पत्थडंतरं होइ ।

पणसत्तरि तिन्नि सया, बारस सहसा य तइयाए ॥ २४१ ॥

छावडुसयं सोलस सहस्स पंकाए दो तिभागा य ।

अड्ढाइजसयाइं, पणवीस सहस्स धूमाए ॥ २४२ ॥

बावन्न सड्ढ सहसा, तमप्पभापत्थडंतरं होइ ।

एगो च्चिअ पत्थडओ, अंतररहियो तमतमाए ॥ २४३ ॥

[प्रक्षेप गा. ५९-६२]

गाथार्थ—१. रत्नप्रभा में निर्धारित केन्द्र से ११.५८३ $\frac{1}{3}$ योजन का अंतर प्रति प्रस्तर होता है। [२४०]

२. इस प्रकार शर्कराप्रभा के १५ प्रतर के १० आँतरों में ९७०० योजन का अंतर प्रतिप्रस्तर पर मिलता है।

३. बालुकाप्रभा के ९ प्रतर के आठ आँतरों के बीच १२३७५ योजन का अंतर प्रतिप्रस्तर होता है। [२४१]

४. पंकप्रभा के ७ प्रतरों के छः आँतरों के बीच प्रतिप्रस्तर पर १६१६६ $\frac{2}{3}$ योजन का अंतर होता है।

५. धूमप्रभा के ५ प्रतरों के चार आँतरों में २५२५० योजन का अंतर प्रतिप्रस्तर मिलता है। [२४२]

६. इस प्रकार तमःप्रभा के ३ प्रतरों के बीच दो आँतरों में ५२५०० योजन का अंतर प्रतिप्रस्तर पर है।

७. और सातवीं तमःप्रभा अंतर रहित है, क्योंकि वहाँ तो एक ही प्रस्तर होने के कारण अंतर संभवित रहता ही नहीं है। [२४३]

विशेषार्थ—विशेषार्थ सुगम एवं सरल ही है। इसकी अधिक जानकारी आप को नीचे दिये गये यन्त्र से भी प्राप्त हो सकेगी। [२४०-२४३] (क्षेपक गा. ५९ से ६२ तक)

॥ हरेक पृथ्वीवर्ती प्रतरों का परस्पर अंतर ॥

पृथ्वीयों के नाम	रत्नप्रभा	शंकराप्रभा	बाजुकाप्रभा	पंकप्रभा	धूमप्रभा	समं प्रभा	तमस्तमःप्रभा
प्रतर संख्या	१३	११	९	७	५	३	१
पृथ्वी पिंडमान	१८००००	१३०००	१२८०००	१२००००	११८०००	११६०००	१०८०००
दो-दो हजार की कमी करने के बाद	१७८०००	१३००००	१२६०००	११८०००	११६०००	११४०००	१०६०००
पृथ्वीगत सिर्फ सर्व	३९०००	३३०००	२७०००	२१०००	१५०००	९०००	३०००
प्रतरमान कम करने पर-	१३९०००	९७०००	९९०००	९७०००	१०१०००	१०५०००	०
प्रतरमान पर न्यूनमान	बारह से भागने पर	दस से भागने पर	आठ से भागने पर	छः से भागने पर	चार से भागने पर	दो से भागने पर	यहाँ प्रतर नहीं है।
एक संख्या , न्यून प्रतर पर	११५८३३५०	९७०००	१२३७५	१६१६६३	२२२५०	५१०००	५१५००
संख्या से भागने पर				यो०	यो०	यो०	यो०

नारकों का तीसरा अवगाहना द्वार

अवतरण—भवनद्वार कहने के बाद अब ग्रन्थकार नारकों का भवधारणीय तथा उत्तरवैक्रियादि शरीर का अवगाहना स्वरूप तृतीय द्वार शुरु करते हैं; जिसमें सबसे पहले भवधारणीय अवगाहना का प्रत्येक नारकी में ओष से—समुच्चय तक का वर्णन करते हैं।

पउणद्धणु छ अंगुल, रयणाए देहमाणमुक्कोसं ।

सेसासु दुगुण दुगुणं, पणधणुसय जाव चरिमाए ॥ २४४ ॥

गाथार्थ—रत्नप्रभा में उत्कृष्ट देहमान पौने आठ धनुष और छः अंगुल समुच्चय होता है और शेष पृथ्वीमें [समुच्चय] जानने के लिए उसी प्रमाण को दो-गुना दो-गुना करने से यावत् अंतिम पृथ्वी में पाँचसौ धनुष होते हैं । ॥ २४४ ॥

विशेषार्थ—भवधारणीय शरीर किसे कहा जाता है? इसकी व्याख्या तो हमने अपनी पूर्व गाथाओं के प्रसंगमें की है, फिर भी जीवनपर्यंत रहनेवाला स्वाभाविक जो शरीर होता है उसे भवधारणीय (वैक्रियशरीर) समझा जाता है। पहली रत्नप्रभा नरक पृथ्वीमें नारकियों का उत्कृष्ट देहमान पौने आठ धनुष [३१ हाथ] और ऊपर छः अंगुल का होता है, और शेष शर्कराप्रभादि में क्रमशः दो-गुनी वृद्धि करनी होनेसे दूसरी नरक में १५॥ धनुष और १२ हाथ का, तीसरे नरकमें नारकों का भवधारणीय उत्कृष्ट देहमान ३१। धनुष, चौथे नरकमें ६२॥ धनुष, पाँचवें नरकमें १२५ धनुष, छठे में २५० धनुष तथा सातवें नरकमें ५०० धनुष का उत्कृष्ट देहमान है। इस प्रकार पश्चानुपूर्वी से अथवा उल्टे क्रम से सातवें नरक से सोचना हो तो भी अर्ध-अर्ध कम करते-करते ऊपर जाने से भी यथोक्तमान आता है । [२४४]

अवतरण—इस प्रकार ओष से दर्शाकर प्रत्येक पृथ्वी के प्रत्येक प्रतर के देहमान को उत्कृष्ट से बताने के इच्छुक ग्रन्थकार प्रथम रत्नप्रभा के ही प्रत्येक प्रतर के लिए कथन करते हैं ।

रयणाए पढमपयरे, हत्थतियं देहमाणमणुपयरं ।

छप्पणंगुल सड्ढा, वुड्ढी जा तेरसे पुण्णं ॥ २४५ ॥

गाथार्थ—रत्नप्रभा के प्रथम प्रतर पर तीन हाथ का उत्कृष्ट देहमान होता है। इसके बाद प्रत्येक प्रतर पर क्रमशः साढ़े छप्पन अंगुल की वृद्धि करें, जिससे तेरहवें प्रतर पर पूर्णमान [७॥ धनुष छः अंगुल का] आ सके ॥ २४५ ॥

विशेषार्थ—रत्नप्रभा पृथ्वी के तेरह प्रतरमें से पहले प्रतर पर तीन हाथ का उत्कृष्ट भवधारणीय देहमान होता है, इसके बाद द्वितीयादि प्रतर के लिए प्रथम प्रतर के तीन हाथ में ५६॥ अंगुल की (अथवा दो हाथ-८॥ अंगुल) की क्रमशः वृद्धि करने से दूसरे प्रतर पर [३ हाथ + २ + ८॥ अंगुल, ५ हाथ - ८॥ अंगुल] १ धनुष, १ हाथ और ८॥ अंगुल मिलता है। तीसरे प्रतर पर १ धनुष, ३ हाथ और १७ अंगुल, चौथे प्रतर पर २ धनुष, २ हाथ और १॥ अंगुल, पाँचवें पर ३ धनुष, १० अंगुल, छठे पर ३ धनुष, २ हाथ और १८॥ अंगुल, सातवें पर ४ धनुष, १ हाथ और ३ अंगुल, आठवें पर ४ धनुष, ३ हाथ, ११॥ अंगुल, नवें पर ५ धनुष, १ हाथ, २० अंगुल, दसवें पर ६ धनुष, ४॥ अंगुल, ग्यारहवें प्रतर पर ६ धनुष, २ हाथ, १३ अंगुल, बारहवें पर ७ धनुष, २१॥ अंगुल तथा अंतिम तेरहवें प्रतर पर ७ धनुष, ३ हाथ और ६ अंगुल देहमान पूर्वोक्त कथनानुसार आता है। [२४५]

अवतरण—अब उसी उत्कृष्ट देहमान को शेष शर्करादि सातों पृथ्वी में इस प्रकार बताते हैं।

जं देहप्रमाण उवरि—माए पुढवीए अंतिमे पयरे ।

तं चिय हिट्टिम पुढवीए, पढमे पयरम्मि बोद्धव्वं ॥ २४६ ॥

तं चेगूणगसगपयर—भइयं बीयाइपयरखुड्ढि भवे ।

तिकर तिअंगुल कर सत्त, अंगुला सड्ढिगुणवीसं ॥ २४७ ॥

पण धणु अंगुल वीसं, पणरस धणु दुब्बि हत्थ सड्ढा य ।

बासट्टि धणुह सड्ढा, पणपुढवीपयरखुड्ढि इमा ॥ २४८ ॥

गाथार्थ—ऊपर आई हुई पृथ्वी के अंतिम प्रतर पर जो देह प्रमाण मिलता है वही देह प्रमाण नीचे आयी हुई पृथ्वी के प्रथम प्रतर पर अवश्य जानें। ॥ २४६ ॥

इन शर्करादिक लः पृथ्वियों के प्रथम प्रतर के लिए यह उपाय बताया गया है।

अब शर्करादिक छहों पृथ्वियों के अन्य प्रतरों के लिए ऐसा करें कि हरेक पृथ्वी में प्राप्त प्रथम प्रतरवर्ती देहमान को अपनी अपनी पृथ्वी में प्राप्त प्रतर की संख्या में से एक की संख्या कम करके भाग दें, भाग देने के बाद जो रकम या संख्या आती है वह उसी पृथ्वी के द्वितीयादि प्रतरों में वृद्धिकारक बनें। ऐसा करते करते अनुक्रम से (शर्करा में वृद्धि अंक) तीन हाथ और तीन अंगुल, तीसरी के लिए ७ हाथ और १९॥ अंगुल, चौथी के लिए ५ धनुष, २० अंगुल, पाँचवीं नरक के लिए १५ धनुष,

२॥ हाथ और छठी नरक में वृद्धिरूप अंक ६२॥ धनुष । इस प्रकार मध्यकी पाँचों नरक पृथिव्यों में भी इसी वृद्धि अंक के समान ही वृद्धि करे । [२४७—२४८]

विशेषार्थ—प्रथम रत्नप्रभा में देहमान तो पूर्व की गाथाओं में बता दिया है, अब २४६ वीं गाथाके अर्थानुसार उपरि रत्नप्रभाके अंतिम प्रतर पर उत्कृष्ट देहमान ७ धनुष, ३ हाथ और ६ अंगुल होता है जो नीचेकी दूसरी शर्कराप्रभा के प्रथम प्रतर पर होता है ।

२—उसके बाद उसी नरकके द्वितीयादि प्रतरों में जानने के लिए प्रथम उसके अंगुल कर दें । चार हाथ का एक धनुष होने से सात धनुष के २८ हाथ बनते हैं । अब उन में तीन हाथ ओर मिलानेसे ३१ हाथ—छः अंगुल हुए । अब फिर से उन्हीं ३१ हाथों के अंगुल बना लें [२४ अंगुल का एक हाथ होने से] चौबीस से गुनने पर ७४४ अंगुल आये; जिनमें शेष ६ अंगुल मिलाने से कुल ७५० अंगुल देहमान आया । उसी देहमान को शर्कराप्रभा के ११ प्रतर होने से गाथार्थ अनुसार एक न्यून (कम) करके भागना होने से, १० प्रतर से भागने से ७५ अंगुल प्रत्येक प्रतर वृद्धि करने के लिए हरेक के हिस्से में आता है । अर्थात् ७५ अंगुल के हाथ करने पर तीन हाथ और तीन अंगुल का वृद्धि अंक आता है । अब इसे प्रारंभ के अथवा पूर्वके देहमान में मिलाने से ८ धनुष २ हाथ और ९ अंगुल का देहमान शर्कराप्रभा के द्वितीय प्रतर पर आता है । पुनः उसी वृद्धि अंक को उस में मिलाने से तीसरे प्रतर पर ९ धनुष १ हाथ १२ अंगुल, चौथे पर १० धनुष १५ अंगुल, पाँचवें पर १० धनुष ३ हाथ १८ अंगुल, छठे पर ११ धनुष २ हाथ २१ अंगुल, सातवें पर १२ धनुष २ हाथ, आठवें पर १३ धनुष १ हाथ ३ अंगुल, नौवें पर १४ धनुष ६ अंगुल, दसवें पर १४ धनुष ३ हाथ ९ अंगुल और ग्यारहवें पर १५ धनुष २ हाथ और १२ अंगुल का उत्कृष्ट देहमान आकर रहता है ।

३—अब शर्कराप्रभा के अंतिम प्रतर का १५ धनुष २ हाथ और १२ अंगुल का मान तीसरी बालुकाप्रभा के प्रथम प्रतर पर मिलता है । दूसरे प्रतर के लिए उसी मान के रत्नप्रभा की तरह अंगुल कर के एक न्यून आठ प्रतर से भागने से गाथार्थ अनुसार सर्व प्रतर के लिए '७ हाथ और १९॥ अंगुल का वृद्धि अंक' आता है । इस अंक को प्रथम प्रतर के उक्त मान में मिलाने से तीसरे नरक के दूसरे प्रतर पर

१७ धनुष २ हाथ ७॥ अंगुल का उत्कृष्ट देहमान मिलता है । तीसरे प्रतर पर उस वृद्धि अंक को मिलाने से १९ धनुष २ हाथ ३ अंगुल का, चौथे पर २१ धनुष १ हाथ २२॥ अंगुल का, पाँचवें पर २३ धनुष १ हाथ १८ अंगुल का, छठे पर २५ धनुष १ हाथ १३॥ अंगुल का, सातवें पर २७ धनुष १ हाथ और ९ अंगुल का, आठवें पर २९ धनुष १ हाथ ४॥ अंगुल का तथा नौवें प्रतर पर उत्कृष्ट भव० मान ३१ धनुष और १ हाथ का आ जाता है । [२४७]

४—अब वालुका के अंतिम प्रतर में जो देहमान मिलता है वही ३१ धनुष १ हाथ का मान चौथी पंकप्रभा के प्रथम प्रतर पर भी जान लें, उसी मान में से एक कम कर के पंकप्रभा के ६ प्रतरों से भागने से प्रत्येक प्रतर के लिए '५ धनुष और २० अंगुल का वृद्धि अंक' निकल आता है । अब इस ५ धनुष और २० अंगुल को प्रथम प्रतर के देहमान में मिलाने से द्वितीय प्रतर पर ३६ धनुष १ हाथ २० अंगुल का देहमान आ मिलता है । इस प्रकार तीसरे पर ४१ धनुष २ हाथ १६ अंगुल, चौथे पर ४६ धनुष ३ हाथ १२ अंगुल, पाँचवें पर ५२ धनुष ८ अंगुल, छठे पर ५७ धनुष १ हाथ ४ अंगुल तथा सातवें प्रतर पर ६२ धनुष और २ हाथ का देहमान जानें ।

५—अब चौथी नरक के अंतिम प्रतर का यह मान पाँचवीं धूमप्रभा के प्रथम प्रतर पर ६२ धनुष, २ हाथ का मिलता है । यहाँ भी उसी प्रकार ही मान में से एक कम ऐसी इस पृथ्वी का चार प्रतर से भाग करने से प्रत्येक प्रतर में '१५ धनुष और २॥ हाथ का वृद्धि अंक' आता है । अतः इसी अंकमान को प्रथम प्रतर के मान में मिलाने से दूसरे प्रतर पर ७८ धनुष ०॥ हाथ (एक बहैत) का, तीसरे प्रतर पर ९३ धनुष ३ हाथ, चौथे पर १०९ धनुष १॥ हाथ तथा पाँचवें प्रतर पर १२५ धनुष का देहमान आता है ।

६—यही १२५ धनुष का देहमान नीचे की छट्ठी तमःप्रभा पृथ्वी के प्रथम प्रतर पर मिलता है । अब द्वितीयादि प्रतरों के लिए ठीक ऊपर की तरह ही उसी मान में से एक कम कर के उसे दो प्रतर संख्या से भागने से '६२॥ धनुष का वृद्धि अंक' आकर मिलता है । अब उसे १२५ धनुष के अंक में मिलाने से तमःप्रभा के दूसरे प्रतर पर १८७॥ धनुष का तथा तीसरे प्रतर पर २५० धनुष का देहमान आ मिलता है ।

॥ सातों नरक के 'प्रत्येक प्रतर-में' नारकियों के देहमान का उत्कृष्ट यन्त्र ॥

॥ १ स्तनप्रभा में ॥			
प्रतर	घनुष मान—	हस्त मान—	अंगुल मान—
१	०	३	०
२	१	१	८॥
३	१	३	१७
४	२	३	१॥
५	३	०	१०
६	३	२	१८॥
७	४	१	३
८	४	३	११॥
९	५	१	२०
१०	६	०	४॥
११	६	२	१३
१२	७	०	२१॥
१३	७	३	६

॥ २ शर्कराप्रभा में ॥			
प्रतर	घनुष मान—	हस्त मान—	अंगुल मान—
१	७	३	६
२	८	२	९
३	९	१	१२
४	१०	०	१५
५	१०	३	१८
६	११	२	२१
७	१२	२	०
८	१३	१	३
९	१४	०	६
१०	१४	३	९
११	१५	२	१२

॥ ३ बालुकाप्रभा में ॥			
प्रतर	घनुष मान—	हस्त मान—	अंगुल मान—
१	१५	२	१२
२	१७	२	७॥
३	१९	२	३
४	२१	१	२२॥
५	२३	१	१८
६	२५	१	१३॥
७	२७	१	९
८	२९	१	४॥
९	३१	१	०

॥ ४ पंकप्रभा में ॥			
प्रतर	घनुष मान—	हस्त मान—	अंगुल मान—
१	३१	१	०
२	३६	१	२०
३	४१	२	१६
४	४६	३	१२
५	५२	०	८
६	५७	१	४
७	६२	२	०

॥ ५ घूमप्रभा में ॥			
प्रतर	घनुष मान—	हस्त मान—	अंगुल मान—
१	६२	२	०
२	७८	०	१२
३	९३	३	०
४	१०९	१	१२
५	१२५	०	०

॥ ६ तमःप्रभा में ॥			
प्रतर	घनुष मान—	हस्त मान—	अंगुल मान—
१	१२५	०	०
२	१८७	२	०
३	२५०	०	०

॥ ७ तमस्तमःप्रभा में ॥			
प्रतर	घनुष मान—	हस्त मान—	अंगुल मान—
१	५००	०	०

७—अब सातवीं पृथ्वी में एक ही प्रतर होने से वहाँ बँटवारा करने की जरूरत नहीं पड़ती । अतः वहाँ ५०० धनुष का उत्कृष्ट भवधारणीय देहमान समझें । २४८]

अवतरण—इस प्रकार प्रत्येक प्रतर पर भवधारणीय शरीर की व्याख्या एवं परिभाषा करके ग्रन्थकार हरेक प्रतरोंमें उत्तरवैक्रिय शरीर का उत्कृष्ट देहमान कहने के साथ साथ शेषार्ध गाथा से पुनः दोनों शरीर का जघन्य रूप देहमान कितना होता है ? यह भी बताते हैं ।

इअ साहाविय देहो, उत्तरवेउन्विओ य तद्गुणो ॥

दुविहोऽवि जहन्न कमा, अंगुलअस्संख संखंसो ॥ २४९ ॥

गाथार्थ—इस तरह स्वाभाविक-भवधारणीय शरीर का मान बताया । अब प्रत्येक नरक में उत्तरवैक्रिय का शरीरमान जानने के लिए जिस जिस नरक में जो जो भवधारणीय मान बताया है, वहाँ वहाँ उसी मान को दो गुना—दो गुना करने से उसी पृथ्वी के नारकों का उत्तरवैक्रिय देहमान आता है । और दोनों शरीरों का जघन्यमान भी अनुक्रमें अंगुल के असंख्य तथा संख्य भागका होता है । यह जघन्यमान नारक की उत्पत्ति के समय का ही समझें ॥ २४९ ॥

विशेषार्थ—उत्तरवैक्रिय अर्थात् मूल वैक्रिय शरीर से, दूसरे वैक्रिय शरीरों की रचना वह । (इस के अधिक अर्थ इस से पहले बताये गए हैं) उत्तरवैक्रिय की यही शक्ति नारकों में तथाविध भवस्वभाव से ही प्राप्त होती है, भवधारणीय वैक्रिय तथा उत्तरवैक्रिय—ये दोनों देह (शरीर) अस्थि इत्यादि की रचना रहित केवल वैक्रिय पुद्गलों से बने होते हैं । इसमें देवोंका उत्तरवैक्रिय शुभ—मनोज्ञ और उत्तम पुद्गलों से बना हुआ होता है, तब नारकों का अशुभ—अमनोज्ञ और अनुत्तम पुद्गलों का होता है । हालाँकि वे नारक उत्तरवैक्रिय रचना से भी अधिक सुखद तथा शुभ विकुर्व सके ऐसा चाहते भी हैं, लेकिन तथाविध प्रतिकूलता अपने कर्मोदय के कारण दुःखद तथा अशुभ होकर सामने आकर खड़ी हो जाती हैं । और स्वे हुए उसी उत्तरवैक्रिय को टिकने काल उत्कृष्ट से लेकर अन्तर्मुहूर्त का होता है ।

पहले नरकमें उत्तरवैक्रिय मान १५ धनुष २ हाथ और १२ अंगुल का, दूसरे नरकमें ३१ धनुष १ हाथ का, तीसरे नरक में ६२ धनुष २ हाथ का, चौथे में १२५ धनुष, पाँचवें में २५० धनुष का, छठे में ५०० धनुष तथा सातवें में १००० धनुष का होता है ।

- सर्व नारकों की भवधारणीय शरीरकी जघन्य अवगाहना अंगुलके असंख्यातवें भाग की होती है, क्योंकि उत्पत्ति के समय उतनी ही होती है; और उत्तरवैक्रिय की जघन्य अवगाहना अंगुल^{के} के संख्यातवें भाग की होती है। इस अवगाहना को भी उत्पत्ति के समय की ही समझे। परंतु इसके बाद उसमें वृद्धि होती ही जाती है। लेकिन कुछेक आचार्य उत्तरवैक्रिय की जघन्य अवगाहना भी असंख्यातवें भाग की बताते हैं यह ठीक नहीं है, ऐसा श्री चन्द्रिया टीका में कहा है। क्योंकि इसका विरोध 'आगम' से ही होता आया है। [२४९]

- इति अवगाहना द्वारम् ॥

चौथा उपपात और पाँचवाँ च्यवनविरह द्वार

अवतरण—इस प्रकार तृतीय द्वार समाप्त हुआ। अब देववत् नारकों का चौथा उपपातविरह तथा पाँचवाँ च्यवनविरह द्वार बताते हैं।

सत्सु चउवीस मुहू, सग पनर दिणेगदुचउल्लम्मासा ।

उवचाय—चवणविरहो, ओहे बारस मुहूत्त गुरू ॥ २५० ॥

लहुओ दुहाऽवि समओ—२५०^३ ॥

विशेषार्थ—उपपात विरह अर्थात् एक जीव की (नरकमें) उत्पत्ति के बाद दूसरा जीव उत्पन्न होने में जो विलंब या अंतर रहता है तो कितना रहता है? वह। अथवा एक जीव की (नरक में) उत्पत्ति के बाद दूसरे जीव की उत्पत्ति के बीच का जो अंतरमान रहता है उसे 'उपपातविरह' कहा जाता है। और च्यवनविरह अर्थात् एक जीव का वहाँ से च्यवन होने के बाद, दूसरा पुनः कितना समय यावत् च्यवता नहीं है, यह। [इस की अधिक जानकारी देव द्वार प्रसंग में दी गई है।]

सार्तों पृथ्वी में अनुक्रम से उपपातविरह तथा च्यवनविरह समान होने के कारण दोनों द्वार को बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि पहली रत्नप्रभा पृथ्वी में एक जीव उत्पन्न होने के बाद दूसरा जीव उत्पन्न होने में अथवा एक जीव का च्यवन होने के बाद दूसरा जीव च्यवने में, २४ मुहूर्त का उत्कृष्ट से विरह—अंतर रहता है (उस के बाद कोई नया उत्पन्न होता है अथवा च्यवता है ही।) इस प्रकार दूसरे नरक में ७ दिन

३७३—अनुयोग द्वार की हारिभद्रीय टीका में बताया है कि—तथाविच प्रयत्न होने पर भी नारकों की अंगुल के संख्येय भाग की ही उत्तरवैक्रिय स्थिति रहती है।

का, तीसरे नरक में १५ दिन का, चौथे में १ मास का, पाँचवें में २ मास का, छठे में ४ मास का तथा सातवें नरक में ६ मास का विरह-अन्तरमान रहता है। अतः अपना-अपना समय-काल पूर्ण होते ही अपनी-अपनी पृथ्वी में अवश्य ही कोई दूसरा जीव उत्पन्न होता है अथवा च्यवता भी है। सिर्फ इतना ही नहीं लेकिन प्रत्येक नरक में जघन्य उपपात-च्यवनविरह एक ही समय का रहता है।

इन्हीं नारकों में सातवें नरक को छोड़कर शेष नरकों में प्रायः नारको सतत उत्पन्न होते ही रहते हैं तथा च्यवते ही रहते हैं। कभी कभी ही पूर्वोक्त विरह-अन्तर पडता है।

तथापि “लहुओ दुहाऽवि” इस पद के अनुसार (सातों पृथिव्यों में आये हुए) भी सातों नरक में जघन्य विरहमान ओष-सामान्य से एक समय का रहता है और उत्कृष्ट से ओष-सामान्यतः बारह मुहूर्त का रहता है।

- इति चतुर्थ-पञ्चम उपपात-च्यवन विरह द्वारम् ॥ [२५०^३]

॥ छट्ठा तथा सातवाँ एक समयगत उपपात-च्यवन संख्याद्वार ॥

अवतरण—अब छट्ठा ‘उपपातसंख्या’ तथा सातवाँ ‘च्यवनसंख्या’ नामक द्वार कहते हैं।

संखा पुण सुरसमा मुणेअव्वा ॥ २५०^३ ॥

विशेषार्थ—नरक में उत्पन्न होनेवाले तथा च्यवनेवाले जीवों की एक समय में कितनी संख्या होती है? तो इस के उत्तर में अनुक्रमसे उपपात-च्यवन संख्या देवों के समान ही जानें।

अर्थात् एक ही समय में नारकों नरक में जघन्य से एक-दो-तीन यावत् उत्कृष्ट संख्य, असंख्य तक उत्पन्न हो सकते हैं तथा एक-दो यावत् संख्य-असंख्य तक च्यवी भी सकते हैं। देवों के लिए भी ऐसा ही कहा गया है। [२५०^३]

नरकाधिकार में आठवाँ गतिद्वार

अवतरण—अब कौन-कौन-से जीव नरक में जाते हैं, उन्हें इसी आठवें गति-द्वार में बताते हैं।

संखाउपजत्तपणिदित्तिरिनस जंति नरएसु ॥ २५१ ॥

विशेषार्थ—संख्याता वर्ष की आयुवाले पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यको तथा मनुष्यों नरक में उत्पन्न होते हैं। इस से यह स्पष्ट होता है कि—असंख्य वर्षायुषी युगल्लिको ने

अतिक्रूर अध्यवसाय ने दयालु होने के कारण नरक योग्य कर्म बंद होता नहीं है, अतः वे नरक में उत्पन्न होते नहीं हैं। तिर्यचों में से भी सिर्फ पंचेन्द्रिय लिए गये हैं। अतः यहाँ एकेन्द्रियादि चार का निषेध हुआ है। पंचेन्द्रियों में भी देव-नारकी नहीं, क्योंकि देव मरकर नरक में नहीं जाते हैं तथा नारकी भी मरकर पुनः नरक में नहीं जाते हैं, इसलिए। लेकिन तथाविध रौद्राधिकअतिक्रूर अध्यवसायादिक से नरक आयुष्य के बंध हेतु उत्पन्न होने से, इन्हीं से ही उनका आयुष्यबंध होने के कारण वे वहाँ जाते हैं। वे बिना कारण, या बिना बंधन उत्पन्न होते नहीं हैं। अतः नरक गमन में मनोयोग की प्राधान्यता रहती है। इस के उपरांत महारंभी, महापरिग्रही जीव भी नरकमें जाते हैं। इस में भी अध्यवसाय की जितनी मलिनता होती है, उतना निम्न कोटि के नरकों में जाना पड़ता है। यही बात अब बादकी श्लेषक गाथाओं में बतायी जायेगी। [२५१]

अवतरण—कौन-से जीव नरकायुष्यों बाँधते हैं—उसी अध्यवसायाश्रयी गति अब बताते हैं।

मिच्छद्विद्धि महारंभ-परिग्रहो तिव्वक्रोह निस्सीलो ।

नरयाउअं निबंधइ, पावरुई [मई] रुहपरिणामो ॥ २५२ ॥

[प्रक्षेपक गाथा-६३]

गाथार्थ—विशेषार्थ के अनुसार— ॥ २५२ ॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्वी—‘मिथ्यादृष्टि’ अर्थात् जिनेश्वरकथित तत्त्वों की विपरीत श्रद्धा करनेवाला, शुद्धमार्ग की अरुचिवाला और उसी कारण महापाप की प्रवृत्ति में आसक्त रहनेवाला और अनेक अधर्मबहुल प्रवृत्तियों का वह उपासक होता है—गोशैलादिक की तरह।

महारंभी—महापाप के आरंभ-समारोह का करनेवाला, अनेक जीवों की हानि जिस में रही हो ऐसे दुष्ट-भयंकर धंधे-रोजगार आदि कार्यों का आरंभ करनेवाला—कौलसौकरीकादि चंडालवत्।

३७४—गोशालो-प्रभु महावीर को महान पीडा देनेवाला, स्वमत स्थापित करके स्वयं खोद्य सर्वत्र बनकर भगवान को इन्द्रजालिक कहनेवाला, -जिसकी कथा प्रसिद्ध है।

३७५—यह महाचंडाल श्री महावीर प्रभु के समय में हुआ है, जो हमेशा ५०० भैंसे को मारता था। बड़ो बड़ी मिलें, कारखाने, जंगल के व्यापारी, मटन के व्यापारी-ये सब महारंभी की कोटि में गिने जाते हैं।

महापरिग्रही—विपुल धन-कंचन-स्त्रियाँ आदि महान परिग्रह के रखनेवाले । इन में मग्गण सेठ, वासुदेव, वसुदेवादि मंडलिक राजा, सुभूम, ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्यादिक समझ लेना ।

तीव्रक्रोधी—तीव्र-महान क्रोध के करनेवाले बात बात में लडनेवाले दुर्वासा जैसे अत्यंत क्रोधी पुरुष तथा व्याघ्र सर्वादिक पशु ।

निःशील—किसी भी प्रकार के व्रत-नियम रहित, चारित्रहीन तथा शील चारित्र-ब्रह्मचर्यादिक से रहित अर्थात् परस्त्री लंपटादि हों, अनेक परनारियों के पवित्र शील को लट्टनेवाले हों । वेश्या जैसी स्त्रियों का तथा उनके यहाँ गमन करनेवाले पुरुष आदि प्रमुखों का इस में समावेश हो सके ।

पापरुची—पाप की ही रुचिवाला हो, पुण्य के कार्यों में जिसे प्रेम ही न होता हो, पुण्य कार्य को देखकर जो जलता हो, जिसे धर्म के कार्य देखने या सुनने भी पसंद न हों, जहाँ तहाँ पाप के ही कार्य करने में मशगूल हों ऐसे निठरले बहुत से लोग होते हैं, इस में उदाहरण देने की जरूरत नहीं है, असंख्य लोग देखने को मिलते हैं ।

रौद्रपरिणामी—रौद्र अर्थात् महा भयंकर परिणामी । अंतर में हिंसानुबंधी आदि रौद्रध्यान चलता ही हो । इन में छिपकली-बिल्ली-तंदुलीय मत्स्यादिक प्राणी तथा मनुष्य, जिन की सारा दिन अशुभ विचारधाराएँ ही चल्ती हों, अनेकों का अहित ही करते हों, घोर प्राणीवध तथा मांसाहारादिक करनेवाले हों ऐसी को गिने जा सकते हैं ।

ऐसे जीव अशुभ परिणति के योग से अतिक्रूर-दुर्ध्यान में प्रविष्ट होकर, नरका-युष्य को बांधते हैं और नरक में उत्पन्न होते हैं । दुःखी दुःखी होकर कष्ट में मरते हैं । अहोनिश दुःख में डूबे नारकों को (अमुक काल छोड़कर) नरक में निमिषमात्र भी सुख का समय नहीं है । दुःख के परंपरा की श्रेणी सतत चालू ही होती है ।

तो फिर सुख कब होता है ?

- १ उच्चवाष्ण व सायं, नेरइयो २ देवकम्मुणा वाचि
३ अज्झवसाण मिमित्तं अहवा ४ कम्माणुभावेण ॥ १ ॥

मात्र कदाचित् नीचे बताए जन्मकाल आदि प्रसंग में कुछ सुख होता है लेकिन वह स्वरूप मात्र और स्वरूपकाल टिकनेवाला होता है ।

३७६ सुभूम चक्रवर्ती परिग्रहकी प्रमाणातीत आसक्ति से छः खंड के ऊपरान्त सातवाँ खंड साधने का प्रयत्न करने पर मरकर सातवें नरक में उत्पन्न हुआ है, जो कथानक प्रसिद्ध है ।

जिस जीवने पूर्वभवमें अग्निस्नान (जल मरना) किया हो अथवा उसका किसीने खून किया हो, छेद किया हो ऐसे जीव नरकायुष्य पाकर कुछ कम संक्लिष्ट परिणाम स्वरूप उत्पन्न होते हैं। ऐसे जीवों को उपपात समय पर जन्मान्तर से प्राप्त अशाताकर्म उदय प्राप्त नहीं करता, साथ ही उस समय क्षेत्रकृत, परमाधामिक कृत या अन्योन्यकृत अशाता भी विद्यमान नहीं होती अतः उस समय शाताका अनुभव करते हैं।

दूसरा, किसी मित्रदेवकी सहाय से, जैसे नरक में दुःखी होते कृष्ण को देवलोक में गए हुए बलरामने देखकर पूर्व के प्रेमवश उनकी पीडा का शमन किया था, उसी तरह कोई मित्रदेव पीडा का शमन करके शाता समर्पित करता है, किन्तु पीडा में मिली यह शान्ति अल्पकालीन ही होती है, अधिक समय नहीं टिकती; क्यों कि ये देव अति बीभत्स तथा अशुभ स्थान में अधिक समय नहीं टिकते। शाता पूर्ण होने पर तत्रवर्त्ती पीडाओंका पुनः प्रादुर्भाव होता है।

तीसरा, कुछ हलुकर्मी नारक तथाविध शुभ निमित्त को प्राप्त करके जब सम्यक्त्व पाते हैं तब उन्हें, पूर्वभव में क्षायिक सम्यक्त्वादि विशिष्ट गुण को साथ में लेकर आए हों, इनको जिनेश्वरदेव आदि विशिष्ट पुरुषों के गुणों की अनुमोदनासे शुभअध्यवसाय होनेसे, महानुभाव जिनेश्वरदेवके जन्म, दीक्षादिक पांचों कल्याणकों के प्रसंग में, और साताकर्म के उदय से भी ये नारक जातिअंधको चक्षु मिलने से जैसा सुख प्राप्त हो, वैसा सुख स्वरूपकाल पाते हैं।

इतना ही नहीं लेकिन साथ ही कोई कोई उत्तम नरकजीव सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद, पाप का पश्चात्ताप करके अध्यवसाय की विशुद्धि में बढ़ते तीर्थकरनामकर्म भी उपार्जन करते हैं। सच्चमुच आत्मा की शुभाशुभ भावना की ही बलिहारी है। [२५२]

(प्रक्षेपक गाथा ६३)

अवतरण—अलग अलग जीवों के अध्यवसाय की विचित्रता से होती गति का नियमन बताते हैं।

असन्नि सरिसिव—पक्खी—सीह—उरगित्थि जंति जा लट्ठी।

कमसो उक्कोसेण, सत्तम पुढवी मणुअ—मच्छा ॥ २५३ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २५३ ॥

विशेषार्थ—असंज्ञी (मन रहित) समूर्च्छिम (गर्भधारण किये बिना उत्पन्न होते)

पंचेन्द्रियैः^१ तिर्यच नरक के योग्य अध्यवसाय को प्राप्त करके नरक में जाए तो अवश्य पहले ही नरक में जाए, उससे आगे आनेवाले नरक में जाते ही नहीं हैं। उसमें भी वहाँ वे उत्कृष्ट से पर्योपम के असंख्यातवें भाग के आयुष्य को लेकर अथवा जघन्य से दस हजार वर्ष के आयुष्य को लेकर उत्पन्न होते हैं। पहले नरक में और साथ ही न्यून आयुष्य लेकर उत्पन्न होते, होने से उन्हें पूर्वभव में नरकायुष्य के बन्ध के समय अधिक क्रूर अध्यवसाय होते नहीं हैं अतः ही वे अल्प दुःख के स्थानक में उत्पन्न होते हैं। इतनी विशेषता है।

दूसरे गर्भज भुजपरिसर्प वे चंदनगोह, पाटलागोह नेवला आदि प्रमुस्त जीव, गर्भावास में मृत्यु को पाते शायद नरक में अगर जाए तो यावत् दूसरे नरक तक (अर्थात् कोई पहले में, कोई संकिलष्ट अध्यवसायी दूसरे में इस तरह दोनों में जा सकते हैं।

गीध, बाज आदि मांसाहारी गर्भज पक्षी पहले से लेकर यावत् तीन नरक तक जा सकते हैं।

सिंह, चीत्ता व्याघ्र इत्यादि हिंसक गर्भज चतुष्पद पहले से लेकर यावत् चौथे नरक तक जा सकते हैं।

उरपरिसर्प अर्थात् पेट से चलनेवाले हरएक जाति के आसीविषदृष्टि विषादिक सर्पकी गर्भज जातियाँ लें, ये यावत् पाँचवें नरक तक जा सकते हैं।

महारंभी और अत्यंत कामातुर ऐसा चक्रवर्तीका स्त्रीरत्न आदि स्त्रियाँ पहले से यावत् छठे नरक तक ही जाती हैं।

महापाप का आचरण करनेवाले, महारंभ, महापरिग्रह युक्त गर्भज मनुष्य और गर्भज ऐसे तंदुलमत्स्यादिक जलचर जीव अति क्रूर-रौद्र अध्यवसाय को प्राप्त होते उत्कृष्ट से सातवें नरक तक भी जाते हैं। इस तरह उत्कृष्ट गति कही।

जघन्य से वे रत्नप्रभा के प्रथम प्रतर में उत्पन्न होते हैं, और मध्यम गति सोचें तो जिन के लिए जिस जिस नरकगति का नियमन बताया उससे पूर्वे और रत्नप्रभाके प्रथम प्रतर से आगे किसी भी प्रतर में उत्पन्न हो यह समझना। [२५३]

अवतरण—प्रायः नरक से आए पुनः नरकगति योग्य जीव कौन हों ? यह कहते हैं।

३७७—संमूर्च्छिम मनुष्य तो अपर्याप्तावस्थामें ही मृत्यु पाते होने से उन्हें नरकगति का अभाव होने से 'असन्नि' पदसे मात्र तिर्यच ही अपेक्षित हैं।

३७८ पापिनी स्त्री चाहे जितने कुकर्म करे परंतु जातिस्वभाव से बुरा को जो सातवें नरकी प्रायोग्य अध्यवसाय प्राप्त होते हैं वैसे तो उसे होते ही नहीं हैं जिससे 'स्त्री की अपेक्षा पुरुष का मन अधिक संकिलष्ट हो सकता है' यह सिद्ध होता है।

वाला दाढी पक्खी, जलयर नरयाऽऽगया उ अइकूरा ।

जंति पुणो नरएसुं, बाहुल्लेणं न उण नियमो ॥ २५४ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २५४ ॥

विशेषार्थ—क्रोध से भरे, अनेक की हानि करनेवाले व्याल अर्थात् सर्प—अजगर आदि जीव, दाढ़वाले ये व्याघ्र—सिंहादिक हिंसक जीव, गीध—चील आदि मांसाहारी पक्षी, मत्स्यादि जलचर जीव;—नरकगति में से आए होने पर भी, पुनः हिंसक प्रवृत्ति से अति क्रूर अध्यवसाय उत्पन्न होने के कारण नरकायुष्यका बन्ध करके नरक में यथायोग्यता से उत्पन्न होते हैं; परंतु इसका कोई निश्चित नियम नहीं है। मगर प्रायः पुनः नरक में जाते हैं। साथ ही कोई जीव तथाविधजातिस्मरणादिक के निमित्त को पाकर सम्यक्त्व का लाभ प्राप्त करके सद्गति को भी पाता है। [२५४]

उपपातविरह

॥ सातों नरक में च्यवनविरह—उपपातसंख्या—च्यवनसंख्या और उनके गतिद्वार विषयक यन्त्र

नरकनाम	ज० उ० विरह	उत्कृष्ट उ०च्य०वि०	ज०उ०उप० च्य० सं०	गतिद्वार—जाति—संघयणाश्रयि गति का नियमन
१ स्तनप्रभा में	१ समय	२४ मुहूर्त	जघन्यसे एक दो	अ०समु०प०प० तिर्यंचो पहले ही... —नरक में छेवट्टा सं. वाला आवे
२ शर्कराप्रभा में	”	७ दिवस	यावत्	भुजपरिसर्प दो नरक तक.... —छेवट्टा सं. वाला आवे
३ बालुकाप्रभा में	”	१५ दिवस	उत्कृष्टसे संख्य	पक्षी—खेचर....तीन नरक तक.... कीलिका संघयणवाला
४ पंकप्रभा में	”	१ मास	उपपात	सिंहादि चौपाये....चार नरक तक —अर्द्धनाराचवाला
५ धूमप्रभा में	”	२ मास	च्यवनसंख्या हो सकती है	उरपरिसर्प....पांच नरक तक — नाराचवाला
६ तमःप्रभा में	”	४ मास	सातों नरकमें	स्त्री आदि....छः नरक तक ऋषभनाराचवाला
७ तमस्तमप्रभा में	”	६ मास	[देववत्]	मनुष्य—मच्छो....सात नरक तक वज्रऋषभना० वाला

सातों नरकाश्रयी 'ओष से' उत्कृष्ट उपपात—च्यवनविरह १२ मुहूर्त और ज०से १ समय जानें

अवतरण—अध्यवसायाश्रयी गति कहकर अब संघयणाश्रयी गति को कहते हैं साथ ही नरक में कितनी लेश्या हो ? यह भी बताते हैं ।

दो पदमपुढवीगमणं, छेवट्टे कीलि आइ संघयणे ।

इक्कि पुढविबुड्ढी, आइतिलेसा उ नरएसु ॥ २५५ ॥

गाथार्थ—छेवट्ट संघयणवाला पहली दो पृथ्वी तक गमन करता है, बाद के कीलिकादि संघयण में एक एक पृथ्वी की वृद्धि करें । प्रथम के तीन नरक में आदि तीन लेश्याएँ होती हैं । ॥ २५५ ॥

विशेषार्थ—छेवट्ट अथवा तो सेवार्च संघयण के बलवाले जीवों का पहले और दूसरे, इन दो ^{३५} नरकों में गमन हो सकता है । कीलिका संघयणवाले का पहले से लेकर तीसरे तक, अर्धनाराचसंघयणवाले का यावत् चौथे तक, नाराचसंघयणवाले यावत् पाँचवें तक, ऋषभनाराचसंघयणवाले यावत् छठे तक और वज्रऋषभनाराच संघयणवाले यावत् सातवें नरक तक भी जाते हैं ।

उक्त संघयणवाले शुभ प्रवृत्ति करनेवाले हाँ तो, शुभ अध्यवसायके योग से उत्तरोत्तर देवादिक उत्तम गति को भी प्राप्त करें और प्रथम संघयणवाले तो उत्कृष्ट आराधना के योग से मोक्ष में भी चले जाएँ, जबकि वे ही अगर अशुभ प्रवृत्ति करें, तो उत्तरोत्तर अशुभस्थान को पाते ही प्रथम संघयणवाले भवांतर में सातवें नरक में भी जाने के योग्य बनते हैं । यह तो संघयण द्वारा नरकगति आश्रयी उत्कृष्ट गति कही ।

अब जघन्य से तो, सारे संघयणवाले, मन्द अध्यवसाय के योग से रत्नप्रभा के प्रथम प्रतर में उत्पन्न होते हैं और मध्यम अध्यवसायवाले जघन्य से आगे और उत्कृष्ट उपपात से अर्वाक् (पहले अर्थात् मध्यमें) उत्पन्न होते हैं ।

सातों नरक में समुच्चयमें प्रथम की कृष्ण-नील-कापोत ये तीन अशुभ लेश्या होती हैं, क्योंकि वे महादुर्भागी जीवों महामलिन अध्यवसायवाले होते हैं । [२५५]

अवतरण—अब वे तीन लेश्याएँ कहाँ ? किन्हें ? कौन कौनसी लेश्याएँ होती हैं यह बताते हैं ।

दुसु काऊ तइयाए, काऊ नीला य नील पंकाए ।

धूमाए नीलकिण्हा, दुसु किण्हा हुंति लेसा उ ॥ २५६ ॥

३७९ वर्तमान में छेवट्टा संघयण का मन्दबल होने से अध्यवसाय भी अति क्रूर न होने से- मुख्यतया मन्दानुभाववाले होने से वर्तमान जीव ज्यादा से ज्यादा दो नरक तक जाते हैं ।

गाथार्थ—विशेषार्थ अनुसार ।

विशेषार्थ—लेश्या किसे कहते हैं ? उसका विशेष स्वरूप अगर कि बहुत गहन है, तथापि किञ्चित् स्वरूप देवद्वार में दिया है अतः यहाँ अधिक लिखना मुलतवी रखा है । पहले दो नरक में एक कापोतलेश्या होती है परन्तु पहले में जितनी मलिन रूपमें होती है, उससे भी अधिक मलिन दूसरी शर्करप्रभा के जीवों में वर्तित होती है, तीसरी वालुकाप्रभा में कापोत और नील ये दो लेश्याएँ होती हैं । [इनमें जिनका साधिक तीन पर्योपमका आयुष्य है उन्हें कापोत और उससे अधिक-वाल्लोको नील होती है] चौथी पंकप्रभा पृथ्वी में एक नीललेश्या ही होती है, पाँचवीं धूमप्रभा में नील और कृष्ण ये दो लेश्याएँ होती हैं । [परन्तु उस नरक में जिन का साधिक दस पर्योपमका आयुष्य हो उन्हें नील और उनसे अधिकायुषी जीवों के कृष्ण लेश्या होती है ।] और अन्तिम तमः और तमस्तमःप्रभा इन दोनों नरकों में एक कृष्णलेश्या ही होती है । परन्तु पाँचवें से छठे की कृष्णलेश्या अति मलिन और उससे भी सातवें में तो केवल तीव्रतर संकिलष्ट-मलिन होती है । [२५६]

अवतरण—देव, नारकों के द्रव्यलेश्या का अवस्थितपन फिर भी भावलेश्या का जो बदलपन होता है वह इस गाथा द्वारा ग्रन्थकार महर्षि बताते हैं :—

सुरनारयाण ताओ, दव्वलेसा अवट्टिआ भणिया ।

भावपरावत्तीए, पुण एसिं हुंति छल्लेसा ॥ २५७ ॥

गाथार्थ—सुर और नारकों की द्रव्यलेश्या अवस्थित कही है, साथ ही भावना परावर्तनपने से उनके छः लेश्याएँ कही हैं । [२५७]

विशेषार्थ—पूर्वगाथा में प्रथम दो नारकी में कापोतलेश्या, तीसरी में कापोत तथा नीललेश्या इस तरह यावत् सातवीं नारकी में केवल कृष्णलेश्या बताई है । देवों के वर्णन प्रसंग में भी ' भवणवणपढमचउले सजोइसकप्पदुगे तेऊ ' इत्यादि गाथा से अमुक देवों के अमुक लेश्याएँ होती हैं ऐसा कहा है । देव और नारकों के कही लेश्याएँ अवस्थित हैं, अर्थात् जिन देवों के तथा जिन नारक जीवोंके जो जो लेश्याएँ कही हैं, वे लेश्याएँ अपने उपपात—जन्म से आयुष्य समाप्ति यर्षत (तथा दो अन्तर्मुहूर्त अधिक) तक रहनेवाली होती हैं । उन लेश्याओं में मनुष्य तथा तिर्यचों की लेश्या की तरह परावर्तन नहीं होता ।

शंका—जब देवों के तथा नारकजीवों के ऊपर बताये अनुसार अवस्थित लेश्याएँ होती हैं तो फिर सातवीं नारकी में भी सम्यक्त्व की प्राप्ति कही है वह किस तरह

संभवित है ? क्योंकि ऊपर के कथन के अनुसार सातवीं नरक में वर्तित नरक जीवों के सदाकाल कृष्णलेश्या ही होती हैं और सम्यक्त्व की प्राप्ति तो तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या हो तो ही संभवित हो सकती है। साथ ही देवों में संगमाधिक अधम देवों के सदाकाल तेजोलेश्या होने पर भी जगज्जंतु के उद्धारक परमात्मा महावीरदेव के समान संसारोदधिनिर्ग्रामक को छः छः महीने तक भयंकर उपसर्ग करने के फलरूप कृष्णलेश्या के परिणाम हुए वह भी किस तरह संभवित हो ? कृष्णलेश्या के सिवाय परमात्माको उपद्रव—उपसर्ग करने के परिणाम होते ही नहीं।

समाधान—ऊपर की शंका वास्तविक है और उस शंका के समाधान के लिए ही यह 'सुरनारायण ताओ' इत्यादि पदवाली गाथा को रचने की ग्रन्थकार महर्षि को जरूरत दीखी है। कहने का आशय यह है कि—लेश्या दो प्रकार की है। एक द्रव्यलेश्या और दूसरी भावलेश्या। इनमें देवों के तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या तथा नारकजीवों के कापोत नील और कृष्णलेश्या जो अवस्थितपन से रहनेवाली कही हैं वे द्रव्यलेश्या की अपेक्षासे कही हैं, परंतु भावलेश्या की अपेक्षा से नहीं। भावलेश्या की अपेक्षा से तो देवों के और नारकों के उन अवस्थित द्रव्यलेश्याओं के साथ छहों भावलेश्याएँ हो सकती हैं।

शंका—देव, नारकों को भी मनुष्य—तिर्यचों की तरह भावलेश्याएँ छहों होने का बताया जाता है। इस तरह भावलेश्या में समानता कही इस प्रकार तो मनुष्य—तिर्यचों—की द्रव्यलेश्या के समय की तरह, उनकी द्रव्यलेश्या का काल अन्तर्मुहूर्त क्यों नहीं ?

समाधान—मनुष्य, तिर्यचों के द्रव्यलेश्या के परिणाम तो अन्य लेश्या परिणाम उत्पन्न होने पर, पूर्वलेश्या परिणाम का उसमें संपूर्ण रूपान्तर हो जाता है, वैसा देव, नारक में बनता नहीं है। अतः उसे अन्तर्मुहूर्त का काल कहाँ से हो ही सके ? उन्हें तो स्वभाववर्ती लेश्या में अन्य भावलेश्या का परिणाम आ जाए तो वह मात्र स्पष्ट-अस्पष्ट प्रतिबिम्बत्व को ही प्राप्त करता है। और वह भी ज्यादा समय तक टिकता नहीं है। साथ ही जितना समय टिका हो उस समय तक अवस्थित लेश्या के मूल स्वरूप में कुछ परिवर्तन करता नहीं है, यही बात दृष्टांत से अधिक समझाते हैं। मनुष्यों, तिर्यचों के जिस समय जो लेश्याएँ होती हैं उस समय वैसे आत्मप्रयत्न से उस विद्यमान लेश्या के पुद्गलों को अन्य लेश्या के पुद्गलों (द्रव्यों) का संबंध होते ही विद्यमान लेश्या पलट जाती है, अर्थात् सफेद वस्त्र को लाल रंग का संबंध होते ही सफेद वस्त्र

अपना सफेदपन छोड़कर, लाल वस्त्र के स्वरूप में जिस तरह पलट जाता है उस प्रकार विद्यमान कृष्णलेश्या के द्रव्यों को (आगन्तुक) तेजोलेश्या के द्रव्यों का संबंध होने पर तेजोलेश्या के द्रव्यों का परिवल अधिक होने से कृष्णलेश्या के द्रव्य तेजोलेश्या रूपमें परिणत होते हैं और इस तरह कारण सामग्री को पाकर मनुष्यों, तिर्यचो को अन्तर्मुहूर्त में लेश्याओं का परावर्तन होता है ।

जब कि देवों को लेश्या के विषय में इस तरह नहीं होता, अर्थात् देव, नारकों के जो अवस्थित विद्यमान लेश्याएँ होती हैं उन लेश्याद्रव्यों को अन्य लेश्याद्रव्यों का संबंध होता है सही, परंतु मनुष्य, तिर्यचों के लेश्याद्रव्यों की तरह इन देव, नारकों के लेश्याद्रव्य रंगे हुए वस्त्र की तरह एकाकार रूप परिणत नहीं होते, परंतु इन आगन्तुक लेश्याद्रव्यों का आकार प्रतिबिंब सिर्फ विद्यमान लेश्याद्रव्य पर पड़ता है, अर्थात् स्फटिक स्वयं निर्मल होने पर भी लाल, पीली वस्त्रादि की उपाधि से लाल अथवा पीला दीखता है, परंतु वस्त्र और स्फटिक दोनों स्वयं अलग ही हैं; अथवा निर्मल दर्पण में वस्तु की विकृति के कारण विकारवाला प्रतिबिंब पड़ता है, लेकिन वस्तुतः वह वस्तु और दर्पण अलग ही हैं । इस तरह यहाँ विद्यमान लेश्याद्रव्यों के पर अन्य (आगन्तुक) लेश्याद्रव्यों का आकार प्रतिबिंब पड़ता है, परंतु तात्त्विक रीत से दोनों अलग हैं । इसे ही अर्थात् इस आकार अथवा प्रतिबिंब को ही देव, नारकों के त्रिण भावलेश्याएँ गिननी हैं । यह प्रतिबिंब अथवा मात्र आकार स्वरूप भावलेश्या जिस अवसर पर उत्पन्न होती है, उस अवसर पर नारक जीवों के कृष्णादि दुष्ट लेश्या विद्यमान होने पर भी (पूर्वोक्त भावलेश्या से तेजोलेश्यादि के संभववाली) सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है । और प्रतिपक्षी घटना में संगमादि को तेजोलेश्या अवस्थित होने पर भी; कृष्णलेश्या के फलरूप प्रभुको उपसर्ग करने के दुष्ट परिणाम भी होते हैं । इस पर से भावना परावर्तन से प्रतिबिंब स्वरूप भावलेश्याएँ आने पर भी, अवस्थित लेश्याओं के मूल स्वरूप में कुछ फरक नहीं होता । और ऊपर बताए अनुसार छ हों भावलेश्याओं को मानने में भी विरोध नहीं आता [२५७]

३८०—लेश्या क्या है ? उसकी उत्पत्ति किस में से होती है ? उसकी वर्णमवादि चतुष्क के साथ घटना, उसका अल्प बहुत्व, उसकी काल व्यवस्था, उसके अध्यवसाय स्थानक आदि वर्णन श्री उत्तराध्ययन, पत्रवणा, लोकप्रकाशादिक ग्रन्थ के द्वारा समझ लें ।

॥ नरकगति में नववाँ (९) आगतिद्वार ॥

अवतरण—इस तरह आठवें गतिद्वार को कहकर, अब नववाँ आगतिद्वार अर्थात् नारक स्वआयुष्य पूर्ण करके कहाँ कहाँ उत्पन्न होते हैं? और उत्पन्न होने के बाद कहाँ से निकलने वाले को क्या क्या लब्धियाँ प्राप्त हों? यह कहते हैं।

निरउज्वडा गम्भे, पञ्जत्तसंखाउ लद्धि एएसि ।

चकी हरिजुअल अरिहा, जिण जइ दिस सम्म पुहविकमा ॥ २५८ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २५८ ॥

विशेषार्थ—नरक गति में से निकले जीव—अनन्तर भव में पर्याप्ता—संख्याता वर्षा-युषी—गर्भज (तिर्यच मनुष्य) रूप में ही उत्पन्न होते हैं। इनके सिवाय समूच्छिम मनुष्य, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, मनुष्य देवो नारको लब्धि अपर्याप्ता में और असंख्य वर्षायुषी युगलिक में उत्पन्न होते नहीं हैं।

अब जब वे, गर्भज मनुष्य—तिर्यच रूप में उत्पन्न होते हैं तब उनके उत्पन्न होने के बाद क्या क्या लब्धि किन किन को प्राप्त होती है? यह कहते हैं।

इस लोक में चक्रवर्ती स्वरूप अगर नरक में से आकर उत्पन्न होनेवाला जीव हो तो वह, तथाविध भवस्वभाव से पहले ही नरक में से निकला होता है, मगर दूसरे किसी नरक में से नहीं, यह बात नरक की अपेक्षा से समझना।

बलदेव और वासुदेव—(यह हरि युगल) होनेवाले जीव, अगर नरक में से निकलकर होनेवाले हो तो पहले दूसरे ऐसे दो नरक में से निकलने वाले होते हैं, परंतु शेष नरकों में से नहीं।

अरिहा—कहने से अरिहत—तीर्थकर होनेवाले प्रथम के तीन नरक में से ही निकले होते हैं। शेष में से नहीं ही।

जिन अर्थात् केवली होनेवाले जीव, वह प्रथम के चार में से ही निकले हो सकते हैं, शेष में से नहीं ही।

३८१. प्रश्न—तीर्थकर और केवली में क्या फरक है? तीर्थकर धर्ममार्ग के आय प्रवर्तक माने जाते हैं। शासन पर उनकी ही आज्ञा वर्तित है। जब कि केवली इस प्रकार नहीं होते। साथ ही तीर्थकर राजा है, अतः अतिशयादिक की विशिष्टताएँ हैं। जब कि केवली प्रजा में से है, अतः ये विशेषताएँ नहीं हैं। तथापि दोनों के ज्ञान में तुल्यता (साम्य) जरूर है।

यति—अर्थात् सर्वविरति (सर्वथा गृह-संसार ममता पापादिक के त्यागरूप) चारित्र को ग्रहण करनेवाले जीव पहले पांच नरक में से आए होते हैं ।

दिसि—अर्थात् देश से विरति (सर्वथा त्याग नहीं वह) को अर्थात् आंशिक त्याग को धारण करनेवाले प्रथम के छहों नरक के जीव होते हैं, क्यों कि छठे नरक में से आये जीव अनन्तर भव में क्वचित् मनुष्य रूप में उत्पन्न होते हैं । अगर वहाँ अतिमलिन अध्यवसाय होते होने से अशुभ कर्मबंधन अधिक होता है जिस से यकायक मनुष्य भवप्राप्ति योग्य अध्यवसाय आते नहीं हैं तो भी कदाचित् किसी किसी नरकात्मा को प्राप्त शुभ परिणामों आ जाता है और मनुष्यायुष्य का बंध करता है । लेकिन बहुलता से तो तिर्यचरूप में ही उत्पन्न होता है । तथापि तथाविध विशुद्धि से मनुष्य हों तो भी तथाविध पुण्याई की विशुद्धि के अभाव में सर्वविरतिपन तो पा नहीं सकते परंतु देशविरतिपन को पा सकते हैं ।

और सम्यक्त्व तो सातों नरकों में से आए जीवों को प्राप्त हो सकता है ।

परंतु सातवें में से आए हुये को देशविरतिपना प्राप्त नहीं हो सकता साथ ही वे मनुष्यत्व न पाकर निश्चितरूप से तिर्यच योनि में ही उत्पन्न होते हैं ।

अगर वे गतभव में नरकायुष्य बांधा जाने से यहाँ नरक में उत्पन्न हुए होते हैं, परंतु गतभव में ही किए गए पुण्य के दूसरे संचय से, नरक में से निकलकर वे जीव उक्त लब्धियाँ प्राप्त करते हैं, परंतु जिन्होंने ने पूर्वभव में कुछ भी महान सुकृत्यो नहीं किये हैं, तप—त्याग—संयम स्वरूप सद्वर्तन का सेवन नहीं किया है । भगवद्भजन आदि मंगल प्रवृत्तियाँ नहीं की हैं केवल भयंकर पापाचरण का सेवन करके नरक में उत्पन्न हुए होते हैं वे तो अनन्तर भव में उक्त लब्धियों को पा ही नहीं सकते ।

साथ ही जो अरिहा—तीर्थकर होते हैं वे भी तीर्थकर भव की अपेक्षा से पूर्व के तीसरे भव में, विशति स्थानक में बताए उत्तम स्थान पदों की सर्वोत्तम कोटि की आराधना द्वारा तीर्थकरनामकर्म बांधने से अगाऊ अगर उन्हें वैसी प्रवृत्ति द्वारा उनके नरकायुष्य का बंध कर दिया हो तो उन्हें नरकगति में अवतार लेना पड़ता है । और वहाँ का काल पूर्ण करके अनन्तर भव में ही (श्रेणिकादिक की तरह) तीर्थकरनामकर्मकी की निकाचना, तीसरे अथवा उनके अंतिम मनुष्य भव में विपाकोदयरूप में उदयमें आता है । यह नियम न समझना । लेकिन जो बद्धनरकायुषी होकर फिर तीर्थकर-

नामकर्म बांधते हों उनके लिए ही यह समझना । परंतु अबद्वायुषी तो देव, मनुष्यगति में ही जाते हैं । [२५८]

अवतरण—अब आठवें द्वार में नारकों के अबाधज्ञान विषयक क्षेत्रमान के बारे में कहते हैं ।

रयणाए ओही गाउअ, चत्तारदुद्ध गुरुल्लहु कमेणं ।

पइ पुढवी गाउअद्धं, हायइ जा सत्तमि इगद्धं ॥ २५९ ॥

गाथार्थ—रत्नप्रभा में [उत्कृष्ट से] अबाधज्ञानका क्षेत्र चार कोस का और [जघन्य से] साढे तीन कोस का होता है, तत्पश्चात् प्रत्येक पृथ्वी के दोनों मान में आधा कोस हीन करते जाइए, यावत् सातवें में उत्कृष्ट से एक कोस और जघन्य से आधे कोस का रहे ॥ २५९ ॥

विशेषार्थ—अबाधज्ञान शब्द का अर्थ और उसकी व्याख्या देवद्वार प्रसंग में कही गई है ।

प्रथम रत्नप्रभा के नारकों का अबाधक्षेत्र उत्कृष्ट से मात्र चार कोस का और जघन्य से साढे तीन कोस का, दूसरे नरक के नारकों का उत्कृष्ट से ३॥ कोस का और जघन्य से ३ कोस का, चौथे में उ० ३ कोस और ज० २॥ कोस का, पांचवें में उ० से २ कोस और ज० से १॥ कोस, छठे में उ० से १॥ कोस और ज० से १ कोस, सातवें में उत्कृष्ट से अबाधि—दृश्यक्षेत्र १ कोस और ज० से ०॥ कोस का होता है ।

नारक जीवों को यह 'अबाधज्ञान' कहा उस में मिथ्यादृष्टि नारकों को तो वह ज्ञान विभंग—विपरीतरूप से होता होने से उनका वह ज्ञान उन्हें देखने में दुःखदायी है, क्योंकि इस से वे अपने को दुःख देनेवाले परमाधार्मिक जीवों को तथा अशुभ पुद्गलों को प्रथम से ही समीप आते हुए देखा करते हैं, अतः वे बेचारे लगातार चिंता और भय के बीच भारी कदर्थना पा रहे हैं । [२५९]

इति नवमगतिद्वारम् ।

॥ सातों नरकवर्ती लेश्या, अनन्तर भव में होती लब्धिप्राप्ति तथा उनका अवधिज्ञान क्षेत्रविषयक यन्त्र ॥

नरकनाम	कौनसी लेश्या ?	अनन्तर भव में मनुष्यतिर्यच रूप में क्या क्या लब्धि पावे ?	ज० अवधि	उ० अवधि
१. रत्नप्रभा वाले को	कापोत	अरिहंत-चक्रो-हरि-बलदेव-केवली-यति-देशविरति-सम्यक्त्व	३॥ कोस	४ कोस
२. शर्कराप्रभा वाले को	"	मात्र चक्रीत्व कम कर के शेष ७ लब्धियाँ पा सके "	३ कोस	३॥ कोस
३. बालुका-प्रभा वाले को	कापोत, नील	पुनः यहाँ हरि-बलदेव [कुल ३] कम कर के ५ कहें "	२॥ ,,	३ कोस
४. पंकप्रभा वाले को	नील	यहाँ अरिहंतादिक आदि की चार कम करके शेष ४ (चार) कहें "	२ ,,	२॥ ,,
५. धूमप्रभा वाले को	नील-कृष्ण	यहाँ आदि की पांच दूर करके यति, देशविरति, सम्यक्त्व ये ३ कहें "	१॥ ,,	२ ,,
६. तमःप्रभा वाले को	कृष्ण	आदि की छः निकालकर देशविरति सम्यक्त्व ये दो ही कहें "	१ ,,	१॥ ,,
७. तमस्तम-प्रभा वाले को	"	यहाँ एक सम्यक्त्व ही अनन्तर भवमें पावे "	०॥ ,,	१ ,,

॥ श्री कलिकुण्ड पार्श्वनाथस्वामिने नमः ॥

॥ नरकगति अधिकार में आठवाँ परिशिष्ट ॥

नारकों की सिद्धि—

शंका—देवों प्रत्यक्ष न होने पर भी मानव जाति में उन विषयक देखे जाते चमत्कारों से, उनके साथ संबंध रखनेवाले विद्या-मन्त्रोंकी साधना द्वारा इष्टफलसिद्धि होती होने से अनुमान से महष्टदेवों का अस्तित्व भले स्वीकार करें, लेकिन नरकगतिवर्ती नारकों की सिद्धि में तो ऐसा कोई अनुमान नहीं लगता और प्रत्यक्ष तो देखते ही नहीं तो फिर उनकी सत्ता कैसे मानी जाय ?

समाधान—देवों के पास तो दैविकशक्ति है और इसलिए उनकी उपासनाएँ होती हैं, जिस से वे अपनी दिव्यशक्ति का उपयोग उपासक के लिए करते हैं लेकिन नारक जीवों के पास तो ऐसा कुछ है ही नहीं इसलिए उनकी उपासना नहीं है और उपासना

द्वारा देखे जाते चमत्कारों का भी प्रसंग रहता नहीं अतः नरक के अस्तित्व के लिए देव-सिद्धि के जैसा अनुमान भले नहीं हो सकता; फिर भी अनुमान जरूर है। वह इस तरह-जैसे विश्व में जघन्य-मध्यम पापकर्म फल के भोक्ता देखे जाते हैं वैसे उत्कृष्ट-प्रकृष्ट पापफल के भोक्ता भी होने ही चाहिए। तो वे कौन? तो जिस तरह जघन्य, मध्यम कर्मफल के भोक्ता स्वरूप तीर्थंकर और मनुष्य हैं, उस तरह उत्कृष्ट कर्मफल भोक्ता स्वरूप दूसरे कोई नहीं, लेकिन नारक ही हैं।

शंका—क्या तीर्थंकर, मनुष्य में अत्यन्त दुःखी जो हो वह प्रकृष्ट पापकर्मफल का भोक्ता न माना जाए?

समाधान—जिस तरह सुख की पराकाष्ठा देवों में है उस तरह दुःख की पराकाष्ठा तीर्थंकर, मनुष्य में नहीं देखी जाती, इतना ही नहीं किन्तु सर्वथा दुःखी हो ऐसा कोई तीर्थंकर, मनुष्य, देखा नहीं जाता, अतः प्रकृष्ट दुःख के भोक्ता स्वरूप तीर्थंकर, मनुष्य से भिन्न कोई जाति माननी ही रही और वे ही ये नारक।

साथ ही जैसे अत्यन्त अल्पांशी दुःखवाले व्यक्ति हमें देखने को मिलते हैं, मध्यम दुःखवाले जीव भी हम देखते हैं वैसे सब से अधिकाधिक अन्तिम प्रकार के दुःख भोगने-वाले भी अवश्य होने ही चाहिए और वे हैं नारक, जो बात हम ऊपर कह गए।

इस तरह अनुमान से नारकों का अस्तित्व साबित होता है।

शंका—क्या आँख से और प्रयोग से सिद्ध हो उसे ही प्रत्यक्ष कहा जाए?

समाधान—इस चराचर विश्व में एक वस्तु स्वयं न देखी तो उसे अप्रत्यक्ष मान लेना यह क्या बुद्धिगम्य है सही? हरगिज नहीं। लोक में स्वप्रत्यक्ष के सिवाय दूसरा आप्तप्रत्यक्ष भी है। आप्त अर्थात् विश्वसनीय विशिष्ट ज्ञानियों का प्रत्यक्ष। यह आप्तप्रत्यक्ष स्वप्रत्यक्ष जितना ही आदरणीय माना जाता है। जैसे सिंह, अष्टापद, जिराफ आदि दूर दूर के जंगल के प्राणियों का प्रत्यक्ष दर्शन सर्व को नहीं होता, फिर भी अगर वे उन्हें अप्रत्यक्ष कहें तो योग्य है क्या? नहीं, अगर थोड़ा भी बुद्धिशाली होगा तो खुद ने नहीं देखा इसलिए उसका अभाव है ऐसा कभी नहीं कहेगा। वह सोचेगा कि मैंने नहीं देखा, मगर मुझ से बड़े आप्त हैं उन्होंने ने देखकर हमें कहा है अतः उसका अस्तित्व जरूर है। साथ ही इस देश के तथा विदेश के गाँव, नगरों नदी-समुद्रों आदि स्थलों तथा दूसरी अनेकानेक बाबतें सृष्टि पर विद्यमान होने पर भी जिसे हमने अपनी खुद की आँखों से कदापि नहीं देखा लेकिन दूसरे व्यक्तियों ने प्रत्यक्ष की है और फिर उसकी जानकारी हमें की है, ऐसा समझकर भी हम उसका स्वीकार नहीं करते क्या? अमेरिका का न्यूयॉर्क शहर स्वप्रत्यक्ष नहीं है, फिर भी नकशा द्वारा अमुक जगह पर है ऐसा बिना दलील हम सीधा ही स्वीकार क्या नहीं करते? अवश्य करते ही हैं, तो फिर अपने आप्त जो सर्वज्ञ हैं, जिन्होंने नारकों को स्वप्रत्यक्ष किये ही हैं, और बाद में ही हमें बताया है अतः नारकों का अस्तित्व अचूक मानना ही चाहिए।

साथ ही इन्द्रियप्रत्यक्ष वही प्रत्यक्ष कहा जाय यह भी एक मिथ्याभ्रम है। वस्तुतः इन्द्रियप्रत्यक्ष तो उपचार से ही प्रत्यक्ष कहा जाय। अन्यथा तत्त्वदृष्टि से वह भी परोक्ष ही है। अतः यह बात नकी हो जाती है कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वही वास्तविक रीत से प्रत्यक्ष कहा जाय, क्योंकि जिन्हें विशिष्ट ज्ञान लब्धि प्राप्त होती है उन्हें यह दृश्यमान इन्द्रियों से कुछ भी प्रत्यक्ष करने का प्रयोजन नहीं रहता, वे ज्ञानद्वारा ही सब कुछ आत्मप्रत्यक्ष कर सकते हैं। अतः जिस ज्ञान प्राप्ति में अन्य निमित्त की अपेक्षा रहे वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जाता अर्थात् जिस ज्ञान में इन्द्रियों की मदद निर्मितरूप बने उस ज्ञान को प्रत्यक्ष कैसे कहा जाय? नहीं ही कहा जाय। केवलज्ञानी को विश्व के चराचर सारे पदार्थों ज्ञान से आत्मप्रत्यक्ष होते हैं। उन्हें देखने के लिए बीच में इन्द्रियादि किसी निमित्त की जरूरत नहीं पड़ती, अतः अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष वही सच्चा प्रत्यक्ष है और वह अतीन्द्रिय ज्ञानियों से ही साध्य है। इस से यह हुआ कि इन्द्रियप्रत्यक्ष वह तात्त्विक रूप से वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है ऐसा निश्चित होता है।

केवलज्ञानियों ने देखी हुई और तत्पश्चात् उन से प्ररूपित हकीकतों का संपूर्ण सत्य रूप में स्वीकार करना चाहिए उसका क्या कारण?

तो केवलज्ञानी वही हो सकता है कि जो असत्य बोलने के राग-द्वेष-मोहादि हेतुओं को नष्ट करके भीतराग सर्वज्ञ बने हों। अतः ऐसा व्यक्ति ज्ञान से जो देखे वही कहे, असत्य प्ररूपणा कदापि न करते। तथा नरक और नरक के जीवों का प्रतिपादन इन्होंने ही किया होने से नारकी हैं और इनके होने के कारण उनके रहने के आधाररूप नरकस्थान भी हैं।

इस तरह सामान्य चर्चा से उभय की सिद्धि की गई।

तर्क से नरकसिद्धि—

दूसरी रीत से बौद्धिक या तार्किक दृष्टि से विचार करें—

(१) इस मानवसृष्टि पर एक मनुष्यने एक व्यक्ति का खून किया तो उसे विश्व की कोई भी राजसत्ता अधिकाधिक सजा करे तो एक ही बार फांसी की सजा करे जब कि दूसरी एक व्यक्ति ने असंख्य खून किये हों तो उसे भी वही एक बार फांसी की सजा करे, तो दोनों के अपराध में पेंसिफीक महासागर जैसा विशाल अंतर होने पर भी सजा समान ही, यह न्यायपूर्ण माना जाय क्या? हरगिज नहीं।

(२) दूसरे एक दुष्ट मनुष्य ने सैकड़ों, हजारों बलिक लाखों के पालक, पोषक, रक्षक यावत् योगक्षेम करनेवाले व्यक्ति का खून किया, तो क्या उसे देहांतदंड की सजा पर्याप्त है सही?

(३) तीसरे एक भयंकर युद्धखोर मनुष्य ने महाविश्वयुद्ध जगाया, समग्र दुनिया को यातना, दुःख, त्रास और मांस की भयंकर ज्वालाओं में धकेल दिया, लाखों के करुण संहार सरजाय, समग्र विश्व को त्राहि त्राहि (प्रायस्व प्रायस्व) की पुकार करवाई लेकिन अंत में उसका ही करुण अंजाम आया, स्वयं ही पराजित हुआ। कैद करके उसे लश्करी अदालत के समक्ष खड़ा किया, उसके अपराध के लिए न्यायाधीश फेसला दे तो, वो क्या देगा? एक बार की फांसी या दूसरा कुछ? तो इतनी सजा योग्य है क्या?

(४) अरे ! इस दुनिया में खुले रूप में या छिपकर, अनेक जीवों की हिंसा करना, असत्य और झूठ, डींग मारना, धोखाबाजी, दगा-कपट, प्रपंच, विश्वासघात, चोरियाँ करना, अब्रह्म, परस्त्री-वेद्या गमन करना, विकारी नजरें करना, अति मोह, ममत्व और मूर्च्छा में आसक्ति रखना, अन्य को घास देना, अनेक पापाचरण करना, महाआरंभ-समारंभवाले असंख्य पापों का आचरण करना ऐसे अनेक पाप-अपराध हुआ ही करते हैं जो कायदे के अनुसार अपराध नहीं गिने जाते, उन्हें तो मानव जाति की तरफ से सजा हो या न हो, कोई बार सबूत के अभाव में खूनी होने पर भी मुक्त हो जाए तो क्या उन्हें अपराध की सजा कुछ भी नहीं होगी ?

जवाब—ऊपर के चारों प्रश्नों का जवाब एक ही और वह यह कि अपराध के अनुसार (प्रमाण में) अगर सजा न हो तो सजा न्यायी कैसे मानी जाए ? और अपराधी होने पर भी सजा न हो तो यह भी कैसे चल सकता है ? राजसत्ता में चाहे जैसा चलता हो लेकिन 'कर्मसत्ता' नाम की एक अदृश्य महासत्ता बैठी है कि जहाँ पुण्य-पाप सबका बदल इन्साफ अवश्य होनेवाला है । इस में से इस दुनियाका कोई भी मनुष्य छटक नहीं सकेगा ।

अस्तु ।

तब मानवजाति के पास तो मात्र अंतिम कोटि की सजा अगर कोई भी हो तो देहांत दंड या फांसी की ही है । उस से अधिक है नहीं । एकबार फांसी हुई फिर उस देह का चैतन्य नष्ट हो जाता है । अंदर रहा हुआ सजा भोगनेवाला जीव अन्य योनि में जन्म लेने दौड़ पड़ता है; क्यों कि मानव (और पशु) जातिका शरीर औदारिक प्रकार के अणुओं का बना है और ये अणु एक बार चैतन्य विहीन बने कि फिर उस देह के अणु वहाँ चैतन्यवाले बनते नहीं हैं कि जिस से पुनः फांसी की सजा हो सके । यह स्थिति तो नरक के देह की ही है, अतः वहाँ पर्याप्त सजाओं के पात्र बन सकते हैं । तब पुनः प्रश्न यह होता है कि ऐसे भयंकर पापों की सजा है ही नहीं क्या ? इसका जवाब यह है कि-सजा है । जरूर है । अगर न हो तो यह सृष्टिभयंकर पापों और भयंकर मानवीओं से खदबदने लगे, यावत् उजड़ बन जाए । तब सजा कहाँ और कैसी है ? तो इसका जवाब भारत की संस्कृति के बहुतेरे धर्मशास्त्रों एक ही देते हैं कि-सजा भोगने के लिए एक स्थान जरूर है । भले वह दृश्य नजर से अदृश्य हो, मगर वह है ही और वह भूगर्भ-पाताल में ही है, इसे 'नरक' शब्द से पहचाना जाता है । पापी मनुष्यों के पापों का भार ही उन्हें स्वयं वहाँ खींच जाता है अर्थात् कर्मसत्ता उन्हें नरक के जेलों में सीधा ही धकेल देती है ।

ऐसे जेलो एक नहीं लेकिन सात हैं । हरेक जेल की सुविधा-व्यवस्था भिन्न-भिन्न है । प्रथम नरक से दूसरा भयंकर, वूसरे से तीसरा भयंकर, वहाँ अधिक दुःख, कष्ट, घास, यातनाएँ भोगने का इस तरह उत्तरोत्तर सातों नरको-जेलो अधिक भयंकर और घास-दायक हैं इन सातों नरकों को 'भूगर्भ जेल' से संबोधित किया जा सकता है ।

प्रथम के तीन जेलों में उत्पन्न होनेवाली कोठरियाँ भयंकर दुःखद, साथ ही वहाँ 'परमाधामी असुर' जेलरों के रूप में होते हैं, वे भयंकर स्वरूपों धारण करते हैं, नरक के जीवों को अगाऊ बताये अनुसार किये अपराधों की भयंकर सजा करते हैं। हर क्षण दिये जाते दुःखों, त्रास-वेदनाएँ, उनके भयंकर चीत्कार, अपार यातनाएँ सुनकर कंपन पैदा होता है। भले इस सृष्टि पर के भयंकर अपराधों को शायद कोई न जाने, भले उनके लिए सजाएँ न हों, अथवा हों तो कम भी हों, भले यहाँ शायद छूट जाएँ लेकिन अपराधों की पर्याप्त सजा भोगने के लिए इन भूगर्भ जेलों में गए बिना कभी चलनेवाला नहीं है। कुदरत के घरका इन्साफ अटल और बदल होता है, यह हिसाब संपूर्ण चूकते ही करना पड़ता है। वहाँ विनितियाँ, आँख या लांच-रिश्वत कुछ भी चलता नहीं है।

शेष चार नरक जेलों में परमाधामी कृत वेदना नहीं है लेकिन परस्पर शस्त्रजन्य, अन्योन्य खून-खराबी करने रूप तथा स्थानजन्य वेदनाएँ अकथ्य और अनंत हैं। जो वर्णन आगे किया गया है।

इस जेल की सजा मर्यादा हजारों-लाखों, करोड़ों नहीं बल्कि अरबों सालों की है।

अतः मानवजाति स्वयं सुन्न बनकर, 'पाप के फल अवश्य भोगने ही पड़ते हैं,' ऐसा समझकर पापमार्ग से लौटे। महाआरंभ-समारंभों को एक छोटीसी जिंदगी के खातिर, वित्ते भर के पैद के खड़े को भरने के खातिर छोड़ दे। अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग करे या संयम रखे! मानव या पशु पक्षी आदि सजीव सृष्टि पर दया रखे। उसकी दया का पालन करे, सबका रक्षण करे, सबका भला करे। मूर्च्छा-ममत्त्व के भावों को मर्यादित करे और धर्म से परिपूत जीवन, जीए। जिससे अति दुःखद नरकगति का भोग होने का न बनने पाए।

तीसरा मनुष्यगति अधिकार ।

अन्तर्गत पञ्चमगति [मोक्ष] अधिकार

मनुष्याधिकारमें प्रथम और द्वितीय स्थिति, अवगाहनाद्वारा

अवतरण—इस तरह लगभग ५९ गाथाओं से नस्क-गति अधिकार में नवों द्वारों का वर्णन कर के अब तीसरे मनुष्यगति अधिकार में 'भवन' सिवाय आठ द्वारों का वर्णन करते हैं, उनमें से ग्रन्थकार प्रथम 'स्थिति' और दूसरा 'अवगाहना' इन दो द्वारों को कहते हैं ।

गन्धनरतिपलिआऊ, तिगाउ उक्कोसतो जहन्नेण ।

सुच्छिम दुहावि अंतमुहु, अंगुलाऽसंखभागतणू ॥ २६० ॥

गाथार्थ—गर्भज मनुष्य की उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति तीन पत्योपम की और उनकी देह विषयक अवगाहना उत्कृष्ट से तीन कोस की होती है । उनका जघन्य से तथा समूच्छिम मनुष्यों का जघन्य तथा उत्कृष्ट से भी आयुष्य अंतमुहूर्त्त का और जघन्य से गर्भज मनुष्य की अवगाहना (उत्पत्ति कालाश्रयी) तथा समूच्छिम मनुष्य की उत्कृष्ट और जघन्य दोनों प्रकार की अवगाहना असंख्यातवें भाग की है ॥ २६० ॥

विशेषार्थ—यहाँ से मनुष्यगति का अधिकार शुरू होता है । उस में मनुष्यों के दो प्रकार हैं । समूच्छिम और गर्भज । इन दोनों को पंचेन्द्रिय समझना । सिर्फ समूच्छिम को मन न होने से शास्त्र की परिभाषा में 'असंज्ञी' कहा जाता है । जब कि गर्भजों के मन वर्तित होने से 'संज्ञी' (पंचेन्द्रिय) नाम से परिचित है ।

समूच्छिम जन्म अर्थात् क्या ?

कुल तीन प्रकार से जीवमात्र के जन्म होते हैं । १. समूच्छिम, २. गर्भज, ३. उपपात.

१. समूच्छिम=गर्भ की सामग्री के बिना ही जिस की उत्पत्ति हो वह । अर्थात् स्त्री-पुरुष के संयोग के बिना ही उत्पत्तिस्थान में वर्तित औदारिक पुद्गलों को शरीर-रूप में परिणत करना उसे (उन जीवों के लिए) समूच्छिम जन्म कहा जाता है ।

३८२. गर्भज से यह अंतमुहूर्त्त अंगुलासंख्य भाग से लघु जाते ।

दूसरी व्याख्या ऐसी भी है कि तीनों लोक में तमाम बाजुओं से देह के अवयवों की रचना हो उसे समूच्छिम जन्म कहा जाता है ।

दो शरीरों के संबंध से आत्मा की जो परिणति होती है उसे ही 'जन्म' कहा जाता है ।

यहाँ बाह्य और आध्यात्मिक पुद्गलों के उपमर्दन से जो जन्म हो वह समूच्छिम जन्म कहा जाए ।

काष्ठ की त्वचा, फल आदि पदार्थों में उत्पन्न होते कृमि आदि प्रकार के जो जीव हैं वे, उन्हीं काष्ठ, फल आदि में वर्तित पुद्गलों को शरीर रूप में परिणत करें उन्हें बाह्य पुद्गल के उपमर्दनरूप जानें ।

इस तरह जीवित गाय आदि के शरीर में उत्पन्न होते कृमि आदि जीव, उसी जीवित गाय आदि के शरीर के अवयवों को ग्रहण करके, अपने शरीररूप परिणाम को प्राप्त करे, उसे आध्यात्मिक पुद्गल के उपमर्दन रूप समूच्छिम जन्म समझना ।

गर्भजन्म—(पुरुष का) शुक्र और (स्त्री का) शोणित दोनों के मिलन के आश्रय रूप प्रदेश को 'गर्भ' कहा जाता है । और उस स्थान में उत्पन्न होनेवाला जीव 'गर्भज' कहा जाता है । इसे ही जरा अधिक स्पष्ट करें । स्त्री-पुरुष के मिथुन संयोग के बाद स्त्री की योनि में कोई जीवात्मा शीघ्र उत्पन्न होकर, तुरंत ही प्रथम क्षण में शुक्र और शोणित को — माताने खाए हुए आहार को आत्मसात् करनेवाला, अर्थात् स्वशरीर-रूप में परिणत करनेवाला वह 'गर्भज' जीव कहा जाता है ।

उपपातजन्म—परस्पर के मैथुन संयोग के बिना, उस उस क्षेत्र-स्थान निमित्त को पाकर एकाएक अंगुल के असंख्यातवें भाग में उत्पन्न होकर, शीघ्र मूल शरीरावगाह को धारण करना वह ।

यह जन्म देवों तथा नारकों के होता है । देव देवशय्या में तथा नारक वज्रमय भीत में रहे भयंकर आवासों में उत्पन्न होते हैं ।

शंका—समूच्छिम तथा उपपात दोनों के जन्म में स्त्री-पुरुष के संयोग की अपेक्षा नहीं है तो फिर दोनों को अलग अलग क्यों माने ? समूच्छिम में ही समावेश किया जाय तो क्या ?

समाधान—अगर ये शंका व्याजबी है लेकिन दोनों में भिन्नता यह है कि—संमूर्च्छन जन्म में औदारिक पुद्गलों का तथा उपपात में वैक्रिय पुद्गलों का ग्रहण है। अन्यथा वास्तव में तो तीन प्रकार के बदले एकै संमूर्च्छन प्रकार मानकर अवशिष्ट दो संमूर्च्छन के ही विशिष्ट स्वरूप मानें तो अनुचित नहीं है।

संमूर्च्छिम जीव कौन कौन से ?

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय—ये सारे जीव संमूर्च्छिम ही होते हैं। पंचेन्द्रिय के चार भेदों में से मनुष्य और तिर्यचों में भी संमूर्च्छिम पंचेन्द्रियो हैं।
संमूर्च्छिम मनुष्य कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

यहाँ पर चालू गाथा में संमूर्च्छिम तथा गर्भज मनुष्य के विषय में विचार चलता होने से संमूर्च्छिम मनुष्य कहाँ उत्पन्न होते हैं ? इसके उत्तर में समझना कि—वे अढाईद्वीप—समुद्र में वर्तित ५६ अन्तरद्वीप, १५ कर्मभूमि और ३० अकर्मभूमि के १०१ क्षेत्रों में वर्तित गर्भज मनुष्य के ही विष्टा, मूत्र (पेशाब) *लेप्प, कफ, वमन, पित्त, वीर्य, रुधिर, मृतकलेवर, स्त्री—पुरुष के मिथुन संयोग में, शहर की मोहरी—गटरों में तथा तमाम प्रकार के उच्छिष्ट, अशुचि और अपवित्र—गंदे स्थानों में औदारिक पुद्गल के साथ तथाप्रकार के जल—वायु का संयोग होने से ही शीघ्र, अल्प अथवा सैकड़ों से लेकर लाखों, करोड़ों तथा अरबों यावत् असंख्य तथा अनंत प्रमाण में उत्पन्न हो जाते हैं। क्षण के पहले जहाँ कुछ भी न था वहाँ हजारों मक्खियाँ, मच्छर, खटमल, तिड्ड तथा अन्य जंतु एकाएक उभर जाते हैं, ये संमूर्च्छिम जीव होने के कारण ही बनता है।

कुल चौदह अशुचिस्थानों में संमूर्च्छिम मनुष्यों के जन्ममरण सतत होते ही रहते हैं। ये जीव असंज्ञी (मन रहित) मिथ्यादृष्टि और अपर्याप्त ही होते हैं। गर्भज मनुष्यों के आश्रित उत्पन्न होने के कारण उनका उत्पत्ति क्षेत्र अढाईद्वीप समुद्र अर्थात् संपूर्ण मनुष्य क्षेत्र है, जो अगाऊ कहा जा चुका है।

गर्भज मनुष्यो—‘ गर्भे जायन्ते इति गर्भजाः ’ गर्भ में जो उत्पन्न हों वे गर्भज कहे जाते हैं। गर्भज मनुष्य भी, १५ कर्मभूमि, ३० अकर्मभूमि और ५६ अन्तरद्वीप में उत्पन्न होते हैं। वो अपर्याप्त—पर्याप्त दोनों प्रकार के होने से उनके कुल २०२ भेदो हैं।

३८५. अपरे वर्णयन्ति, सम्मूर्च्छनमेवैकं सामान्यतो जन्म । तद्धि गर्भोपातताभ्यां विशेष्यत इति ॥

[तत्त्वार्थ घृ. श्रुति]

‘कर्मभूमि में उरपन्न होनेवाले मनुष्यों के पुनः आर्य—अनार्य इस तरह दो भेद हैं ।

आर्यों—त्याग करने लायक का त्याग करके उपादेय गुणों को पाए हुए हों वे आर्यों कहलाते । दूसरी तरह दुर्लभ मानव जीवन को प्राप्त करके कर्तव्य का आचरण और अकर्तव्य का अनाचरण करके प्राप्त मानवता को सफल करने को प्रयत्नशील हों । विभावदशा को छोड़कर स्वभावदशा सम्मुख हो वह भी आर्य कहलाता है । ये आर्यों जहाँ रहते हों वे देशो भी आर्य कहलाते हैं । इस भूमि में धर्म के तमाम सदसंस्कारों की प्राप्ति के सुंदर साधन तथा योग वर्तित हैं, जिसके द्वारा मुक्ति की साधना साध्य की जा सकती है ।

ये आर्यों मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं : १. ऋद्धिप्राप्त २. अऋद्धिप्राप्त । ऋद्धिप्राप्त में तीर्थकरो, चक्री, वासुदेव, बलदेव, पवित्र विद्यावंतों और लब्धिवंतों का समावेश होता है । और अऋद्धिप्राप्त क्षेत्र^०, जाति, कुल, कर्म, शिल्प, भाषा इस तरह ये आर्य छः विभागों में हैं ।

अनार्यों—इस से विपरीत लक्षणवाले वे अनार्यों अर्थात् पापी प्रकृतिवाले, घोर कर्म करनेवाले, पाप की घृणा से वंचित और पाप का पश्चात्ताप नहीं करनेवाले होते हैं । शक, यवन, श्वर, शबर, गौड, द्रविड, औंध, पारस, मलय, मालव, अरब, हूण, रोमक, मरहट्ट आदि अनेक जातियों की गणना अनार्य में की है । यह कथन एकांतिक नहीं समझना ।

इस तरह गर्भज मनुष्यों की प्रसंगवश पहचान दी ।

इन मनुष्यों के आयुष्य और देहमान देश—काल के अनुसार भिन्नभिन्न होते हैं, लेकिन यहाँ इस गाथा में तीन पर्योपम जितना विशाल आयुष्य और तीन कोस के देहमान की जो विशालता बताई है वह, उस उस देश—क्षेत्रवर्ती युगलिकोंकी है, परंतु ये युगलिको अवसर्पिणी के पहले और उत्सर्पिणी के अंतिम आरा के समय विद्यमान हों वे ही समझना । (तथा देवकुरु—उत्तरकुरु के युगलिकों का आयुष्य कायम तीन पर्योपम होता है ।) अन्यथा सामान्य (युगलिक भाव रहित) मनुष्य का तो किसी काल में अधिकाधिक पूर्वक्रोड का आयुष्य और पाँचसौ धनुष्य का देहमान होता है ।

३८६. आरात् सर्वधर्महेयधर्मैभ्यो यातः प्राप्तगुणैरित्यार्यः । [प्रश्न १, पद टीका]

‘कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन् । तिष्ठति प्रकृताचारे, स वा आर्य इति स्मृतः ॥’ ३८५. इन सब प्रकारों का वर्णन ग्रन्थान्तर से जानें ॥ ३८८. पावः य चंडकम्मा अणारिया णिरिधणा णिरनुतावी ।

जघन्य से तमाम मनुष्यों का अंगुल के असंख्यातवें भाग का देहमान होता है ।
उत्तरवैक्रिय की रचना समूर्च्छिमां के होती ही नहीं है । गर्भज मनुष्य के वह
उत्कृष्ट साधिक लाख योजन और जघन्य से अंगुल के असंख्य भाग की होती है ।

मनुष्यों के भवनो-गृहो, अशाश्वत-अनिघमित होनेसे उनकी वक्तव्यता हो नहीं
सकती, अतः भवनद्वार का निषेध किया है । इसलिए यहाँ आठ ही द्वारों की प्ररूपणा
कही जाएगी । [२६०]

तीसरा और चौथा उपपात-च्यवनविरह तथा पाँचवाँ, छठा संख्याद्वार ॥

अवतरण—अब तीसरे और चौथे उपपात और च्यवनविरह द्वार के और पाँचवें
तथा छठे उपपात तथा च्यवन संख्याद्वार के विषय में कहते हैं ।

बारस मुहुत्त गम्भे, इयरे चउवीस विरह उक्कोसो ।

जन्ममरणेषु समओ, जहण्णसंखा सुरसमाणा ॥ २६१ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् सुगम हैं । ॥ २६१ ॥

विशेषार्थ—अब तीसरा उपपात-च्यवनविरह अर्थात् गर्भजमनुष्यके उपपात-
च्यवन (जन्ममरणाश्रयी) विरहकाल उत्कृष्ट से बारह मुहूर्त्त का पड़ता है । अर्थात् एक
जीव के उपपात (जन्म) या च्यवन (मरण) के बाद उक्त अंतर पर दूसरा उत्पन्न
हो-जन्म हो अथवा च्यवन हो-मरण हो । इतर-समूर्च्छिम मनुष्य को उत्कृष्ट से चौबीस
मुहूर्त्त का उपपात तथा च्यवनविरहकाल पड़ता है ।

दोनों के जघन्य से एक समय का उपपात तथा च्यवनविरहकाल होता है ।
अब दोनों की उपपात और च्यवन संख्या देवसमान-वह एक, दो यावत् उत्कृष्ट रूप से
संख्य-असंख्य होती है । इस तरह छः द्वारों का वर्णन किया । [२६१]

मनुष्याधिकार में सातवाँ गतिद्वार ॥

अवतरण—अब सातवाँ ' गतिद्वार ' उस मनुष्यगति में आनेवाले जीवो कौन
कौन से होते हैं, यह बताता है ।

सत्तममहिने रइए, तेऊ-वाऊ असंखनरतिरिए ।

मुत्तूण सेसजीवा-उप्पज्जंती नरभवंमि ॥ २६२ ॥

गाथार्थ—सातवें नरक पृथ्वी के नारको, तेज (अग्नि)काय के, वायु (पवन) काय के जीवों, असंख्य वर्षागुणी (युगलिक) मनुष्य-तिर्यंचो अनन्तर भव में मनुष्य होते न होने से उनके सिवा, शेष सर्व दंडक के जीव [उन छः नारकों के जीवों, देवों, तिर्यंचो] मनुष्य भव में उत्पन्न होते हैं । ॥ २६२ ॥

विशेषार्थ—सुगम है । [२६२]

अवतरण—इस गतिद्वार में ही विशेष स्पष्टीकरण करने पर मनुष्यलोकमें होनेवाले बर्हन् चक्रवर्ती आदि महापुरुष कहाँसे च्यवन पाकर आनेवाले होते हैं ? इस की विशेषता बताते हैं ।

सुरनेरइएहिं चिय, हवंति हरि-अरिह-चकि-बलदेवा ।

चउविह सुर चक्किबला, वेमाणिअ हुंति हरिअरिहा ॥ २६३ ॥

गाथार्थ—वासुदेव, अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, मनुष्यो निश्चयपूर्वक देव-नरकगतिमें से ही आए होते हैं । उनमें चक्रवर्ती तथा बलदेव हैं वे चारों प्रकारके देवनिकायों में से आए हुए और वासुदेव तथा अरिहंत वैमानिकनिकाय में से ही आए हुए होते हैं । ॥ २६३ ॥

विशेषार्थ—गाथा में बताया कि अरिहंतादिक महापुरुषों अवश्य देव तथा नरक में से आए होते हैं उनमें किस नरक में से कौन कौन होते हैं ? यह तो नरकगति अधिकार में कहा है । अब देवलोक के किस किस स्थान से कौन कौन होते हैं ? तो—

भवनपति—व्यन्तर—ज्योतिषी और वैमानिक, इन चारों निकायों में से च्यवन हुए हों वे बलदेव या चक्रवर्ती (दो ही) होते हैं । जिनेश्वर—अरिहंत होनेवाले, एक वैमानिक निकाय में से ही च्यवन पाकर आए होते हैं । और इसी तरह वासुदेव भी (फक्त अनुत्तर बर्ज्य) वैमानिकनिकाय में से ही आए होते हैं । परंतु तिर्यंच-मनुष्य में से च्यवन पाये जीव अनन्तर भव में उक्त विभूतियाँ नहीं पाते हैं । [२६३]

अवतरण—पूर्वोक्त बात पुनः कहकर वासुदेवों तथा चैत्रैवत्यादिक के मनुष्यरत्नों की कहाँसे च्यवन (आए हुए) पाये हो ? यह कहने के साथ विशेष हकीकत कहते हैं ।

हरिणो मणुस्सरयणाइं, हुंति नाणुत्तरेहिं देवेहिं ।

जहसंभवमुववाओ, हयगयएगिंदिरयणाणं ॥ २६४ ॥

३८९. प्रज्ञापना में नागकुमारनिकाय से वासुदेव हुए ऐसा कहते हैं ।

३९०. मनुष्य में से निकले हुए चक्रवर्ती होते हैं ऐसा भी कथन 'आवश्यकनिर्मुक्ति' में है ।

गाथार्थ—वासुदेव रूप में और चक्रवर्ती के मनुष्यरत्नरूप में अनुत्तर देव (च्यवन पाकर) अवतरते नहीं हैं और शेष हाथी, अश्व और एकेन्द्रिय सात रत्नों का उपपात यथासंभव जानें ॥ २६४ ॥

विशेषार्थ—वासुदेवो वैमानिकनिकाय तथा नरक में से ही आए होते हैं । जब वैमानिकनिकाय में से निकला जीव वासुदेव होवे तो अनुत्तर विमान के देवों को वर्जित करके शेष चार वैमानिकनिकायों में से आया हुआ जानें । प्रतिवासुदेव की गति वासुदेववत् समझना । चक्रवर्ती के आगे कहे जानेवाले महासुख-संपत्तिदायक उत्तमोत्तम चौदह रत्नों में से चक्रादिक सात रत्नों एकेन्द्रिय स्वरूप में होते हैं, जब कि शेष पुरोहितादि सात रत्नों पंचेन्द्रिय रूपमें हैं । इन सात पंचेन्द्रिय में पुनः हस्ति और अश्व ये दो रत्नों तिर्यचरूप में होते हैं और शेष पांच रत्नों मनुष्यरूप में होते हैं ।

ये पांच मनुष्यरत्नरूप में, सातवें नरक में से निकले जीव, तेज वाक्काय के जीव और असंख्य वर्ष आयुषी तिर्यच-मनुष्यों (अनन्तर भव में) जन्म नहीं लेते, क्योंकि उनके लिए मनुष्यभव प्राप्ति का २६२ गाथा में ही निषेध किया गया है । अतः उसे वर्जित करके शेष दंडकों में से पुरोहितादि पांचो पंचेन्द्रिय मनुष्य रत्नों [तथा मंडलीक राजा भी] रूप में अवतरते हैं । परंतु इतना विशेष कि—यदि वैमानिक में से पांच मनुष्यरत्नरूप में अवतरें तो अनुत्तररूप वर्ज्य शेष देवलोक में से ही समझना ।

अब पंचेन्द्रिय में शेष हस्ति-अश्व दो तिर्यच रत्नों का यथासंभव उपपात अर्थात् जिस दंडक में से निकले तिर्यच पंचेन्द्रियो होते हों उस उस स्थान से समझना, अर्थात् सातों नरक से संख्य वर्षायुषी नर-तिर्यच तथा भवनपति से लेकर सहस्रार तक के देवों उस रत्नरूप में अवतार ले सकते हैं, क्योंकि तब तक के देवों की तिर्यच में गति पहले कही जा चुकी है ।

साथ ही चक्रादि शेष सात एकेन्द्रिय रत्नरूप में, संख्य-वर्षायुषी तिर्यच, नर और भवनपति से लेकर ईशानरूप तक के देवों निश्चय रूप से उत्पन्न हो सकते हैं, अतः आगे के देवों के लिए तो वहाँ उत्पन्न होने का निषेध है । [२६४]

अवतरण—अब चक्रवर्ती के चौदह रत्नों के नाम तथा प्रत्येक का मान कहते हैं ।

वामपमाणं चक्रं, छत्तं दंडं दुहत्थयं चम्भं ।

बत्तीसंगुल स्वर्गो सुवष्णकागिणि चउरंगुलिया ॥ २६५ ॥

चउरंगुलो दुअंगुल, पिहुलो य मणी पुरोहि-गय-तुरया ।

सेणावइ, गाहावइ, वडूढइ स्थी चक्कि रयणाइ ॥ २६६ ॥

माथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ २६५—२६६ ॥

विशेषार्थ—द्रव्यदेवादि पांच प्रकारके देवोंमें चक्रवर्ती नरदेव के रूप में परिचित है । जिस तरह देवलोक में प्रधानस्थान इन्द्रका, उस तरह सर्व मनुष्योंमें चक्रीका स्थान सर्वोच्च है और इसीलिए उन्हें देव शब्दसे संबोधित किया है । वे छः खंडके अधिपति बनते हैं । इसके सिवाय भरत के छहों खंड के कोटानुकोटी मानवों के रूप का संख्य उसमें होता है अर्थात् वह सबसे सर्वोत्तम रूपवान होता है । उनके शरीर श्रेष्ठ सुवर्णवर्णी सुकोमल होते हैं । अन्य बहुत ऋद्धि—सिद्धियाँ होती हैं । इन सर्व ऋद्धिमें भी चक्रादि चौदह रत्नों की प्रधानता होती है । उन चौदह रत्नोंका स्वरूप इस तरह है ।

१. चक्र, २. छत्र और ३. दंड ये तीनों रत्नो व्यैर्म—वामप्रमाण अर्थात् प्रसारित उभय बाहुवाले पुरुष के दो हाथकी अंगुलियों के दोनों छोर के बीचका भाग [= ४ हाथ] प्रमाण सोच लेना । ४. चर्मरत्न केवल दो हाथ दीर्घ—लंबा है । ५. खड्ग रत्न बत्तीस अंगुल दीर्घ, ६. श्रेष्ठ सुवर्णकाकिणी रत्न चार अंगुल प्रमाण दीर्घ और दो अंगुल विस्तीर्ण, ७. मणिरत्न चार अंगुल दीर्घ और दो अंगुल विस्तीर्ण, मध्यमें वृत्त और विस्तीर्ण, तथा छः कोनोंसे शोभित है ।

इन सातों एकेन्द्रिय रत्नोंका माप चक्रवर्ती के आत्मांगुल से अर्थात् उसके अपने अंगुलमानसे जानें ।

आठवाँ पुरोहितरत्न, ९ गजरत्न, १० अश्वरत्न, ११ सेनापतिरत्न, १२ गाथापतिरत्न, १३ वार्द्धकीरत्न, १४ स्त्रीरत्न । इन सातों पंचेन्द्रिय रत्नोंका मान तत्काल वर्चित पुरुष, स्त्री और तिर्यचका जो मान उत्तम और प्रशस्त गिना जाता हो उस तरह होता है । इस तरह चक्रवर्ती के चौदह रत्नोंकी बात जानना ।

यहाँ सारे रत्नों का विस्तार, मोटाई अन्य ग्रन्थों से उपलब्ध न होनेसे मुख्यतया लंबाई ही बताई है । [२६५—२६६]

३८८, व्यासो बाह्योः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगनन्तरम् इत्यमरः ॥ ३८९. यह मान मध्यम लिया है । अन्यथा अन्यत्र तो ५० अंगुल लंबा, १६ अंगुल चौड़ा और अर्धअंगुल बड़ा कहा है; और जघन्यमान २५ अंगुल का कहा है । अतः उक्त मान को मध्यम गिनना योग्य है । यहाँ जंबू०प्र०अनु० द्वार, बृहत्-संग्रहणी वृत्तिकारादि मणि—काकिणी को, प्रमाणांगुल, आत्मांगुल और उत्सेवांगुल से मापने का कहते हैं, और प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रन्थो सातों एकेन्द्रिय रत्नों को आत्मांगुल से मापने का कहते हैं । तत्र शानीगम्य ।

अवतरण—अब ये रत्न किस किस स्थान में उत्पन्न होते हैं ? यह कहते हैं ।

चउरो आउह—गेहे, भंडारे तिन्नि दुन्नि वेअडूटे ।

एगं रायगिहम्मि य, नियनयरे चैव चत्तारि ॥ २६७ ॥

[क्षेपक गाथा ६४]

गाथार्थ—चार रत्न आयुधशाला में, तीन भंडारों में, दो बैताख में, एक राजा के गृहमें और शेष चार अवश्य निजनगर में उत्पन्न होनेवाले होते हैं ॥ २६७ ॥

विशेषार्थ—१. चक्ररत्न—चक्रवर्ती का जन्म उत्तम जाति और गोत्रमें, उत्तम राज-भोग कुलमें ही होता है । वो सर्वांग सामुद्रिकशास्त्रमें कहे उत्तमोत्तम १०८ लक्षणयुक्त होते हैं । महान् देदीप्यमान पुण्य के पुंजरूप होते हैं । चक्रवर्ती योग्यावस्था पाने पर राजगद्दी पर आता है । आनेके बाद यथायोग्य काल पर अपना महान् उदयारंभ होनेका योग्य समय होने पर प्रथम चक्राकार में वर्तित, जगमगाता, महान्, विविध प्रकार के मणि-मोतियों की मालाओं, घंटिकाओं तथा पुष्पमालाओंसे अलंकृत, चक्रीको सदा आधीन, सूर्य जैसे दिव्य तेजसे दिशाओं को प्रकाशमय करनेवाला, हजार देव-यक्षोंसे अधिष्ठित ऐसा चक्ररत्न शस्त्ररूप होनेसे अपने पूर्वजोंकी आयुधशालामें उत्पन्न होता है । सर्व रत्नों में और आयुधों में श्रेष्ठ होनेसे, तथा चक्रवर्ती के प्राथमिक दिग्विजय करानेवाला होनेसे, सबसे प्रथम यह उत्पन्न होता है । सर्वायुधों में सर्वोत्तम प्रभाववाला और दुर्जय, महारिपुओं पर विजय पानेमें सदा ही अमोघ शक्तिवाला यह रत्न, चक्रीसे शत्रुओं पर छोड़ने के बाद सैकड़ों वर्ष पर भी उसे मारकर ही [चक्री के स्वगोत्रीय को वज्र्य] चक्री के पास आनेवाला होता है । यह रत्न प्रायः आयुधशाला में जब उत्पन्न होता है तब हर्षित ऐसा शाला-रक्षक स्वयं ही प्रथम चक्ररत्न का वंदनादिकसे सत्कार करके स्वनृपति [जो अभी भावि चक्री-रूप है उन्हें] को हर्षानंदसे हृष्ट-पुष्ट वह सेवक राजसभा में खबर देता है । भावि चक्री और वर्तमान के महानृपति उस बात को सुनते ही महाआनन्द पाकर सात-आठ कदम चक्ररत्न के सम्मुख चलकर स्तुति-वंदनादिक करके, खबर देनेवाले शालारक्षक को प्रीतिदान में, मुकुट को वज्र्य पहने हुए सर्वाभूषण अर्पण करके तथा आजीविका का

३९०. प्रायः शब्द इसलिए है कि भावि चक्री सुभूम को मारने के लिए दानशाला के अस्थि प्रसंग में जब परशुरामने परशु रक्त्वा कि तुरंत ही वह परशु महापुण्यशाली सुभूम को कुछ भी न कर सका । उस समय रुष्ट बने सुभूम के हाथ में रहा अस्थि-थाली उसी समय सुभूम के विजय के लिए ही स्वयं चक्ररूप बन गई और उस चक्र से उसने परशुराम को मरण शरण किया ।

प्रबंध करवाकर खाना करते हैं। फिर नगर की अठारह आलमको खबर देकर, नगरशुद्धि कराके धूमधाम से प्रजा सहित नृपति पुष्प-चंदन, सुगंधी द्रव्योंकी विपुल सामग्रीपूर्वक शालामें जाकर चक्ररत्न की यथार्थ विनयपूर्वक पूजादिक विधियाँ करते हैं। फिर चक्ररत्नकी महिमा फैलाने अष्टौहिकादि महा महोत्सव करके, प्रजाको दान देकर, ऋणमुक्त करके आनंदानंद बरताते हैं। देवाधिष्ठित ये रत्न, छः खंडोंको जीतनेको जाते चक्रीको प्रथमसे ही स्वयं मार्गदर्शक और विजेता के रूप में चक्रीके आगे आगे चलते हैं और चक्री उनके पीछे चलता है और जब चले तब प्रमाणांगुल एक योजन चलकर खड़ा रहता है।

२. छत्ररत्न—यह भी आयुधशाला में ही उत्पन्न होता है। यह रत्न छातेकी तरह गोलआकारका, मस्तक पर धारण करने योग्य अति मनोहर होता है अतः शरद ऋतु के पूर्णचंद्र जैसा मनोहर, चित्र-विचित्र और ऊपर ९९ हजार [छातेमें होते हैं इस तरह] सुवर्ण की सलाइयोंसे अंदर के भाग में देखने पर पंजराकार जैसा शोभता, अन्तभाग में चारों तरफ मोती-मणिरत्न की मालाओंसे मंडित और छत्र के बाहर के ऊपरितन भाग में—चोटी पर अर्जुन सुवर्ण के शरचन्द्र जैसा स्वच्छ और उज्ज्वल शिखरवाला होता है।

देवाधिष्ठित यह रत्न वामप्रमाण होने पर भी चक्री के हस्तप्रभाव मात्र से ही [चर्मरत्न को ढंकने के लिए] साधिक बारह योजन विस्तीर्ण बनकर मेघादिक के उपद्रव से रक्षण करने को समर्थ होता है। जिस तरह भरतचक्री छः खंडोंको जीतने को जाते वक्त उत्तर भरतार्ध में युद्ध करते म्लेच्छ लोगों के आराधित मेघकुमार देवने चक्री सैन्य को कष्ट देने के लिए जब सात दिन तक वृष्टि की तब चक्री ने छत्र और चर्मरत्न को अद्भुत संपुट बनाकर समग्र सैन्य का रक्षण किया था। यह रत्न वृष्टि-ताप-पवन-शीतादि दोषोंको हरनेवाला, शीतकाल में गरमी और उष्णकाल में शीतलता देनेवाला और पृथ्वीकायमय होता है।

३. दंडरत्न—आयुधशाला में उत्पन्न होनेवाला यह रत्न, चक्री के कंधे पर रहता है। चक्री का आदेश होने पर मार्ग में आती अनेक ऊँची-नीची विषभूमि आदि सर्व को दूर करके समतल-सरल मार्ग कर देनेवाला, शत्रु के उपद्रवोंको हरनेवाला, इच्छित मनोरथों का पूरक, दिव्य और अप्रतिहत होता है। और जरूरत पड़ने पर यत्न-

पूर्वक उपयोग करने पर [सगरचक्री पुत्रवत्] एक हजार योजन गहरी अधोभूमि में अद्भुत वेगसे प्रवेश करके, जमीन खोदकर मार्ग कर देनेवाला, गुफाओंके द्वार खोलने में उपयोगी, वज्र का बना हुआ, तथा बीच में तेजस्वी रत्नोंकी पांच रेखा-पट्टियों से शोभित है ।

४. चर्मरत्न—चमड़े का बना हुआ यह रत्न, चक्री के लक्ष्मीमंडार में उत्पन्न होता है । यह रत्न श्रीवत्सादि आकारवाला, अनेक प्रकार के चित्रोंसे चित्रित, शत्रुसे दुर्भेद्य, चक्रवर्त्ती की सेना बैठ जाए तो भी झुके नहीं ऐसा होता है । इस रत्न का उपभोग यह है कि—जब चक्री छः खंडोंको जीतने जाते सेनापति रत्न को गंगा-सिंधु के निष्कृतों [प्रदेश] को सांभने को भेजता है तब सेनापति समग्र चक्री सैन्यको उसके पर बिठाकर गंगा-सिंधु जैसी महान नदियों को जहाज की तरह शीघ्र तैर जाता है, फिर भी लेशमात्र झुकता नहीं है । साथ ही समुद्रादिक तैरनेमें भी उपयोगी होता है । इसीलिए वामप्रमाण होने पर भी चक्री के स्पर्शमात्र से साधिक १२ योजन विस्तीर्ण होता है, जरूरत पड़ने पर गृहपति—मनुष्य रत्न उस चर्मरत्न पर बोये धान्य-शाकादिक को शाम को ही काट लेने योग्य करनेवाला और वैताड्य पर्वत की उत्तर दिशा में बसे म्लेच्छ राजाओं के साथ युद्ध होने पर, चक्री को परास्त करने को म्लेच्छ अपनेसे आराधित किये मेघकुमार असुरों के पास मेघवृष्टि करवाते हैं, उस प्रसंग पर उस वृष्टि से बचने को ऊपर के भाग में दक्षिण सम छत्र रत्न और नीचे चर्मरत्न विस्तृत करके उस चर्मरत्न पर चक्री की महासेना को स्थापित करके, चारों बाजु से संपुट बना दिया जाता है, फिर प्रस्तुत छत्र रत्न के साथ बीचमें मणिरत्न बांधा जाए, जिससे १२ योजन के संपुट में सर्वत्र सूर्यवत् प्रकाश पड़ता है, जिससे संपुट के गमनागमन सुखरूप हो सकता है । इस तरह एक विराट तंबू जैसा दृश्य हो जाता है ।

५. खड्गरत्न—तलवार जैसा यह रत्न भी आयुधशाला में उत्पन्न होता है । युद्ध में अप्रतिहत शक्तिवाला है । तीक्ष्ण धारवाला, श्यामवर्णका, पर्वत-वज्रादिक जैसी दुर्भेद्य वस्तु को, चर या स्थिर प्रकार में पदार्थ को भेदनेवाला, अद्भुत वैदूर्यादि रत्नलतासे शोभित, सुगंधमय, तेजस्वी होता है ।

३९२. यह रत्न पृथ्वीकायमय है, तो भी वह चर्म-चमड़े के जैसा मजबूत तलवेवाला और देखनेवाले को मानो चमड़ा ही बिछाया हो वैसा आभास उत्पन्न करनेवाला होनेसे उसका 'चर्म' शब्दसे व्यपदेश किया जाता है । अन्यथा सचमुच चमड़ा नहीं है । चमड़ा तो पंचेन्द्रिय जीवका संभवित है, जबकि ये रत्न एकेन्द्रिय हैं इसी तरह दण्डरत्न के लिए समझना, सातों रत्न पार्थिव स्वरूप में समझना ।

६. काकिणीरत्न—यह रत्न पहाड़ों को भी छिद सके ऐसा चक्रीके कोश-लक्ष्मीमंडार में उत्पन्न होता है। वह विषहर, अष्टजाति सुवर्णोंका बना है, छः दिशाओं में छः तिलोंवाला अतः ही पासे की तरह समचतुष्कोणाकार, १२ हाशिया और ८ कर्णिकावाला, ८-७-६ इत्यादि अनियमित तोले के जितने सुवर्ण प्रमाण का सुनार की एरण (लोहे का औजार) जैसा होता है। चक्री दिग्विजय करने जाए तब उत्तर भरतमें जाने आनेमें बीचमें आये वैताढ्य पर्वत की गुफाओंमें सूर्य-चन्द्र के प्रकाश के प्रवेशहीन, घोर अंधकारमय गुफा के मार्ग को सदाकाल प्रकाशमय करने महा-गुफाओं की पूर्व-पश्चिम दोनों बाजूकी दीवारों पर वृत्त अथवा गोमूत्राकार में इस काकिणी रत्न की अनीसे ४९ मंडलों का आलेखन करने में इस रत्न का उपयोग होता है। इस रत्नसे आलिखित (उत्कीर्ण) मंडल दिव्य प्रभावसे प्रकाशित होनेके कारण चक्रवर्ती के अस्तित्व पर्यन्त अवस्थित प्रकाश देनेवाले बनते हैं जिससे लोगोंका गमनागमन का मार्ग सुखरूप बनता है। साथ ही स्कन्धावार-छावनी में रहने के कारण, उसके हस्त स्पर्श से १२ योजन तक प्रकाश देकर रात्रि को भी दिवस बना देता है। तदुपरांत सब बटरवरो [मापने के घाट] के ऊपर का आलेख काकिणीसे किया जाता है, तब ही वह प्रमाणभूत गिना जाता है।

७. मणिरत्न—यह भी कोशागाररूप लक्ष्मी मंडार में उत्पन्न होनेवाला, निरुपम कान्तियुक्त, विश्व में अद्भुत, वैडूर्य मणि के प्रकार में सर्वोत्तम, सर्वप्रिय, मध्य में वृत्त और उन्नत छः कोनोंवाला, दूर तक प्रकाश देनेवाला शोभित होता है। इसका उपयोग जब सैन्य रक्षण के लिए चर्मरत्न और छत्ररत्न का संपुट बनाना हो तब संपुट में उद्योत करने के लिए छत्ररत्न के तुम्ब के साथ बांधा जाता है। अथवा तमिस्रागुफामें प्रवेश करते समय हस्ति पर बैठा चक्री, हस्ती के दक्षिण कुम्भस्थल में देवदुर्लभ ऐसे मणिरत्न को रखकर प्रकाश को १२ योजन तक फैलाता, अपने आगे और दोनों बाजूकी तीनों दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ गुफा लांघ सकता है और उत्तर भरत की विजय यात्रा में सफलता पाता है।

साथ ही वह रत्न मस्तक पर तथा हाथ में बांधा हो तो, सर्वोपद्रव हर कर, सुख-संपत्ति देनेवाला, सुरासुर-मनुष्य तिर्यचादिक के, सर्व शत्रुओंके उपद्रवोंको हरनेवाला है। मस्तकादि अंग पर बांधकर संग्राम में प्रवेश करनेवाला पुरुष, शत्रु के शस्त्रसे

अवध्य और भयमुक्त बनता है । मतांतरसे हाथ पर बांधने से सदा तरुणावस्था रहती है, और उसके नख-केश की वृद्धि भी नहीं होती ।

इति एकेन्द्रिय रत्नानि ॥

इस तरह सात एकेन्द्रिय रत्नोंकी व्याख्या की । अब सात पंचेन्द्रिय रत्नोंके बारेमें कहते हैं ।

८. पुरोहितरत्न—जखुरत पड़ने पर चक्री को शान्तिक—पौष्टिक आदि विविध कर्मानुष्ठान कराकर सफलता देनेवाले, महापवित्र, संपूर्ण गुणोपेत, चौदह विद्या में पारंगत, प्रवेश निर्गमन में मंगलकार्य करानेवाला, कवि—कुशल पुरोहित का काम करनेवाला ।

९. गज्जरत्न—यह गज महान् वेगवाला, सात अंगोंसे प्रतिष्ठित ऐरावण गज जैसा पवित्र, सुलक्षण, महापराक्रमी, अजेय ऐसे किल्लादिक को भी तोड़ डालनेवाला होता है । चक्री इस हस्ति पर बैठकर सदा विजययात्रा पाता है । यह रत्न देवाधिष्ठित होता है ।

१०. अश्वरत्न—चक्री का यह घोड़ा महान् वेगवाला, स्वभावसे ही सुंदर, आवर्त्तादि लक्षणवाला, सदा यौवनवाला, स्तब्धकर्णवाला, लंबाईमें १०८ अंगुल लंबा, और ८० अंगुल ऊँचा, कुचेष्टारहित, अल्पकोधी, शास्त्रोक्त सर्व लक्षणयुक्त, किसी भी जलाशय, अग्नि या पहाड़ोंको बिना परिश्रम उलंघन करनेवाला—महान् वेगवाला अजेय होता है ।

९-१० यह दोनों तिर्यचरत्नो वैताह्यपर्वत की तलहटी में उत्पन्न होते हैं और छः खंडोंकी विजय यात्रा में पराजित हुआ व्यक्ति उस समय चक्रीको भेंट स्वरूप देते हैं ।

११. सेनापति रत्न—यह पुरुष हस्त्यादि सर्वसेना का अग्रसर, चक्री का युद्ध मंत्री, यवनादिक अनेक भाषा—शास्त्र, तथा विविध लिपि—शिक्षा—नीति, युद्ध—युक्ति, चक्र, व्यूहादि विषयों का जानकार, समयज्ञ, विजय करने के क्षेत्र के जमीनादिक मार्ग का ज्ञाता, वफादार—परमस्वामिभक्त, तेजस्वी, प्रजाप्रिय, चारित्रवान, पवित्र गुणोंसे सुलक्षण होता है, और दिग्विजय में चक्री साथ में ही होता है । चक्री की आज्ञा होते ही चक्री की सहायके बिना ही चर्मरत्नसे गंगा—सिंधु के अपर तट पर जाकर, महाबलिष्ठ म्लेच्छ राजाओं के साथ, भीषण—खूँखार युद्ध करके सर्वत्र विजय पाकर चक्री का शासन स्थापित करता है ।

१२. गृह [गाथा] पतिरत्न—अन्नादिक के कोष्ठागारका अधिपति, चक्रीके महल—गृह के तथा सैन्य के भोजन, वस्त्र, फलफूल जलादिक आवश्यक तमाम वस्तुओं

की चिंता करनेवाला—पूरा करनेवाला, सुलक्षण, रूपवंत, दानशूर, स्वामिभक्त, पवित्रादि गुणवाला होता है। साथ ही दिग्विजयादि प्रसंग पर जरूरत होने पर अनेक प्रकार के धान्य तथा शाक को चर्मरत्न पर सुबह बोकर शाम को उगानेवाला होता है, [चर्मरत्न इस धान्योत्पत्ति के योग्य क्षेत्रतुल्य काम देनेवाला और गृहपति का कृषिकार की तरह समझना] जिससे सैन्य का सुखपूर्वक निर्वाह होता है।

१३. **वार्धकी रत्न**—अर्थात् महान् स्थपति, शिल्पकार, समग्र बढईमें श्रेष्ठ, चक्री के महलों, प्रासादों गृहों तथा सैन्य के लिए निवासस्थानों, गाँव, नगरोंको तैयार कर देनेवाला तथा पौषधशाला को एक ही मुहूर्त्त में वास्तुशास्त्र के नियम अनुसार, यथार्थ रूपमें व्यवस्थित बनानेवाला होता है। बांधकाम विभाग का अधिष्ठाता यह पुरुष होता है। साथ ही जब चक्री तमिस्रा—खंड प्रपात गुफामें जाए तब समग्र सैन्य को सुखरूप उतरने के लिए उन्नमा तथा निममा नामकी महानदियों के पर महान् सेतु—पुलों को बांधनेवाला।

१४. **स्त्रीरत्न**—वह महान् विद्याधरों तथा अन्य नृपतियोंके उत्तम गृह में उत्पन्न होता है। उसमें छः खंडों की नारियोंके एकत्रित तेजपुंज जितना तेज, दिव्यरूपादिक होता है। सामुद्रिकशास्त्र में कहे संपूर्ण स्त्रीलक्षण युक्त, मानोन्मान प्रमाणयुक्त, महादेदीप्यमान और सर्वांगसुंदर होता है। सदा अवस्थित यौवनवाला, रोम नख न बढे ऐसा, भोक्ता के बल की वृद्धि करनेवाला, देवांगना जैसा, स्पर्श करने पर सर्व रोगोंको हरनेवाला और कामसुख के धामसमान महाअद्भुत होता है। इस स्त्री (रत्न) को चक्री मूल शरीरसे भोगे तो कदापि गर्भोत्पत्ति नहीं होती। गर्भाशय की गरमी के कारण गर्भ ही नहीं रह सकता। गरमी के उदाहरण में—कुरुमती नाम की स्त्रीरत्न का स्पर्श होते ही लोहे का पुतला भी द्रवीभूत हो गया था यह उदाहरण प्रसिद्ध है।

इति पंचेन्द्रिय रत्नानि ॥

इस तरह ८-११-१२-१३-१४ की संख्यावाले सेनापति आदि पांच मनुष्य रत्नों अपने अपने नगर में उत्पन्न होते हैं और वे स्वकालिक उचित देह प्रमाणवाले होते हैं।

३९४. **पौषधे इति पौषधः**—जो धर्मकी पुष्टि करे वैसे क्रिया। 'पौषध' चार प्रकारका होता है। तप करना, शरीर सत्कार त्याग, ब्रह्मचर्यपालन और पापमय आचरणका त्याग, संक्षिप्तमें जिसमें साधुजीवन के स्वादका अनुभव हो वह। जैनो पर्वके दिनोंमें धर्मगुरु के पास जाकर इसकी आराधना करते हैं। ३९५. यह कार्य वार्धकीरत्न का है ऐसा आवश्यकचूर्णि बताता है।

इस तरह ये सजीव चौदह रत्न सदाशाश्वत, हरेक चक्री को प्राप्त होनेवाले, प्रत्येक एक एक हजार यक्षोंसे अधिष्ठित होते हैं। अतः उसके कार्यकी सहायमें उतने सहायक होते हैं। इसीलिए ये रत्न सर्वत्र विजय दिलानेवाले, सर्वत्र महासुख देते हैं परंतु पापयोगसे चक्री दूर खिसक जाए तो देव प्रभारहित ऐसे ये रत्न [सुभूम का जिस तरह देवसे पकड़ा हुआ चर्मरत्न छोड़ देनेसे नाश हुआ था वैसे] हानिकारक भी बनता है। चक्रवर्ती इन रत्नों को बहुमानपूर्वक संभालते हैं—रक्षा करते हैं—सेवन करते हैं और काम पड़ने पर यथेष्ट उपयोगमें लेता है। जैधैत्य से जंबूद्वीप में एक साथ चार चक्री हो सकते इस दृष्टि से उस समय $४ \times १४ = ५६$ रत्न और उत्कृष्ट काल में महाविदेह के २८ विजयोंमें २८, भरत—ऐरवत के एक एक इस तरह ३० चक्री वरित हो, तब समकाल में $६० \times १४ = ८४०$ रत्न हो सकते हैं। [२६७] (प्रक्षेपगाथा ६४)

॥ चक्री के चौदह रत्नोंकी दीर्घता—उत्पत्तिस्थान—उपयोग विषयक यंत्र ॥

रत्ननाम	रत्न	उद्भव	उपयोग	रत्ननाम	रत्न	उद्भव	उपयोग
१. चक्ररत्न	वाम प्रमाण	चक्रीकी आयुध शालामें	आकाशमें चलनेवाला शत्रु विजयकारी	८. अश्वरत्न	१०८ अं०	वैताड्य तलहटी	युद्धमें विजयदाता
२. छत्ररत्न	"	"	वृष्टि—वायुसे रक्षा करनेवाला	९. गजरत्न	तत्काल योग्य	"	महापराक्रमी युद्धमें विजयदाता
३. दंडरत्न	"	"	भूमिसमकारक	१०. पुरोहित	"	स्वस्व नगरे	पुरोहितका काम करनेवाला शान्तिक कर्मकृत्
४. खड्गरत्न	३२अं०	"	पहाडादि भेदक	११. सेनापति	"	"	युद्ध संचालक और निष्कूट जीतनेवाला
५. चर्मरत्न	२ हाथ	लक्ष्मी भंडारमें	धान्य बोनेमें उपयोगी	१२. गृहपति	"	"	मोज्य सामग्री तैयार करनार
६. काक्किणी	४ अं०	"	मंडल प्रकाशकृत्	१३. वार्धकी	"	"	पुल—गृहादिककृत्
७. मणिरत्न	२ अं०	"	दिव्य प्रकाशकृत्	१४. स्त्रीरत्न	"	राजगृहमें	चक्री के भोग्य

चौदह रत्नों का विस्तार—मोटाई मान खास लब्ध न होनेसे यहाँ नहीं दिया है।

अवतरण—अब चक्री के नवनिधि की हकीकत प्रक्षेपक गाथासे कही जाती है ।

पोंसपे पंडुए विंगलए, सच्चरयणमहापउमे ।

काले अ महाकाले, माणवगे तह महासंखे ॥ २६८ ॥ [क्षे. गा. ६५]

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २६८ ॥

विशेषार्थ—चक्रवर्ती के जिस प्रकार चौदह स्तन होते हैं उसी प्रकार नवनिधान भी प्राप्त हुए होते हैं । जिस अवसर पर चक्रवर्ती भरतक्षेत्र का विजय पाते पाते गंगानदी के मुख के पास अर्थात् समुद्र में जहाँ गंगा का संगम होता है, उस स्थान पर आवे, उस वक्त चक्रवर्ती के प्रबल पुण्य से आकर्षित देवाधिष्ठित देव संचालित नवों निधान पातालमार्गसे होकर चक्रवर्ती की राजधानी में आते हैं ।

ये नवों निधान बड़ी मंजूषा—पेटी के रूप में होते हैं । वह हरेक मंजूषा आठ योजन ऊँची, नव योजन चौड़ी और बारह योजन लंबी होती हैं । प्रत्येक मंजूषा के नीचे रथ के पहिये की तरह आठ आठ चक्र (पहिये) होते हैं और उनके मुख वैदुर्यमणिसे आच्छादित होते हैं । तथा वे सुवर्णमय, रत्नोंसे भरपूर और चक्र, चन्द्र और सूर्य के लक्षणसे युक्त होते हैं ।

चक्रवर्ती जब ६ खंडों को साध्य करके गंगा के पास विजय पाकर आता है तब गंगा के पास रहे इन निधानों को चक्री अष्टम तप के द्वारा आराधता है । उन निधियों के देव शरण में आने के बाद, चक्री की सेवा में सदा हाजिर रहने के वचनो देते हैं । फिर चक्री जब उनका सत्कार करके राजधानी की ओर मुडता है तब वे निधि पातालमार्ग से परंतु चक्री के पीछे पीछे आते हैं । और राजधानी के समीप आने के बाद वे निधि राजधानी के बाहर ही रहते हैं; क्योंकि प्रत्येक निधि चक्री की नगरी जितना मानवाला होनेसे नगर में कहाँसे समा सके ? इस तरह चक्री की गज—अश्व—रथ—पदाति आदि सेना भी नगर के बाहर ही रहती है ।

नवनिधान के जो जो नैसर्पादि नामो हैं उस उस नामवाले मुख्य नागकुमार देवो उस उस निधान के अधिष्ठायक हैं । वे पर्योपम आयुष्यवाले हैं ।

यहाँ किन्हीं शैलिकारों का ऐसा कथन है कि— इन निधानों में उस उस वस्तु की प्राप्ति को जणानेवाले शाश्वता—दिव्य 'कल्पग्रन्थो' हैं । उनमें अखिल विश्व का सर्व विधि

३९७. देखिए त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र—

इत्यचूस्ते वयं गंगामुखमागधवासिनः । आगतास्त्वां महाभाग ! त्वद्भाग्येन वशीकृताः ॥

३९८. अधिक जानकारी के लिए जंबूद्वीपप्रशस्ति—स्थानांग—प्रवचनसारोद्धारदि ग्रन्थ देखें ।

लिखा होता है । जब कि किन्हीं शास्त्रकारों का ऐसा कथन है कि— उन कल्पग्रंथों में बताए सर्व पदार्थ ही दिव्य प्रभावसे उस प्रत्येक निधानमें से [अथवा निधिनायक द्वारा] साक्षात् प्राप्त होता है । इन नवनिधानोंमें से किस निधान में क्या वस्तुएँ (अथवा जो विधियाँ बताई हों) होती हैं, इसका संक्षिप्त में नाम के साथ वर्णन किया जाता है ।

१. नैसर्पनिधि:— इस निधि के कल्पों में खान—ग्राम—नगर—पत्तन, निवेशन, मंडवक, द्रोणमुख, छावनी, हाट—गृहादि स्थापन का समग्र विधिषय जो अब वर्तमान वस्तुशास्त्र में भी दीखते हैं उस विषयक विषयो [पुस्तक वा साक्षात् वस्तु] इस प्रथम निधिसे प्राप्त होता है अथवा उन उन स्थानों का निर्माण होता है ।

२. पांडुकनिधि:—इस निधि के कल्पों में सुवर्णमुद्राएँ आदि की गिनती, धन—धान्य आदि का प्रमाण, उसे उत्पन्न करने की पद्धति, रुई, गुड, चीनी आदि सर्व का मान, उन्मान करने की सर्व व्यवस्था होती है । धन—धान्य की उत्पत्ति, बीजोत्पत्ति तथा हरेक प्रकार का गणित भी इस निधिसे हो सकता है ।

३. पिंगलनिधि:—इस निधि के कल्पों में पुरुषों तथा स्त्रियों के तथा हाथी, घोडे आदि के गहने—आभूषणो इत्यादि आभरण बनाने विषयक सारी व्यवस्था इस तृतीय निधान के आधीन है ।

४. सर्वरत्ननिधि:—चक्रवर्ती के सात एकेन्द्रिय रत्नों तथा सात पंचेन्द्रिय रत्नों ये सर्व इस निधि के प्रभावसे उत्पन्न होते हैं । इस निधान के प्रभावसे चौदह रत्न बहुत कान्तिमय होते हैं ऐसा कुछ लोग कहते हैं ।

५. महापद्मनिधि:—सर्व प्रकार के वस्त्र आदि की उत्पत्ति, रंगने—धोनेकी व्यवस्था का ज्ञान इस निधि के द्वारा होता है ।

६. कालनिधि:—अतीत, अनागत और वर्तमान विषयक सकल ज्योतिषशास्त्र विषयक काल ज्ञान, कृषि बनिजादि कर्म तथा कुंभकार, लोहार, चित्रकार, बुनकर, नापित इत्यादि मूलभेद २० और उत्तरभेदवाले सौ प्रकार के शिल्पो, साथ ही जगत के तीर्थकर—चक्री—बलदेव—वासुदेव के वंशों का शुभाशुभपन इस कालसंज्ञक निधि द्वारा होता है ।

३९९. हैमकोष में तो लोकप्रचलित इस प्रकार नवनिधि दर्शाये हैं । हिन्दु धर्मशास्त्र में भी—इसी प्रकार बताए हैं । महापद्मश्च पद्मश्च मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च, चर्चाश्च निधयो नव ॥ [का. र. श्लो. १०७]

७. महाकालनिधि:—लोहा तथा सोना—चांदी आदि धातुएँ और उनकी खानें तथा मणि—मोती—प्रवाल—हीरे—माणिक—चन्द्रकान्तमणि आदि रत्न ये सर्व वस्तुएँ इस निधि द्वारा प्राप्त होती हैं अथवा उनकी उत्पत्ति इस निधि में कही है ।

८. माणवकनिधि:—योद्धे, उनके पहनने के बस्तर, हाथ में धारण करनेके शस्त्र, युद्ध की कला, व्यूहरचना, सात प्रकार की दंडनीति आदि सर्व विधि इस निधान द्वारा जान सकते हैं ।

९. महाशंखनिधि:—नाटक, विविध काव्य, छंद, गद्य—पद्यात्मक चंपू, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और संकीर्ण इस तरह चारों प्रकार के काव्य—भाषाएँ इस नवम निधिसे जान सकते हैं ।

इस तरह चक्री के अपने परम पुण्योदय से मनुष्य जाति तथा मानवस्वभाव को उपयोगी तमाम साधन—सामग्री इन निधियों द्वारा प्राप्त होती है । [२६८] (श्लोक गाथा ६५)

॥ नौ निधियों के नाम तथा तद्विषय प्रदर्शक यन्त्र ॥

निधि नाम	निधिगत क्या क्या है ?	निधि नाम	निधिगत क्या क्या है ?
१. नैऋतनिधि	गाँव—नगर—गृहादि स्थापन विधि	६. कालनिधि	६३ शलाकाचरित्रो—उद्योतिष—शिल्पादि शास्त्र की विधि
२. पांडुकनिधि	धन—धान्य—मान की तथा उत्पत्ति की विधि	७. महाकालनिधि	मणि—रत्न—प्रवालादि धातु खानोंकी विधि
३. विंगलनिधि	स्त्री—पुरुष राजाश्रादि आभरण विधि	८. माणवकनिधि	सर्व शस्त्रोत्पत्ति—बस्तर नीति की विधि
४. सर्वरत्ननिधि	चक्रादि चौदह रत्नोत्पत्तिकी विधि	९. शंखनिधि	गायन—नाट्य काव्य वादित्रादिक की सर्व विधि
५. महापद्मनिधि	वस्त्रोत्पत्ति—रंगने की विधि बताई गई है ।	अन्य मतसे तो, इन वस्तुओं को ही साक्षात् निधिगत समझना । प्रत्येक निधिमान १२ योजन दीर्घ, ९ यो० विस्तार, ८यो० ऊँचाई का जानें ।	

अवतरण—अब सारे जंबूद्वीप में समकाल में उत्कृष्ट तथा जघन्यसे कितनी रत्न संख्या होती है ? यह कहते हैं ।

जंबूदीवे चउरो, सयाइ वीसुत्तराई उकोसं ।

रयणाइ जहणं पुण, हुंति विदेहंमि छप्पन्ना ॥ २६९ ॥

[प्रक्षेपक गाथा ६६]

गाथार्थ—जंबूद्वीप में उत्कृष्टसे ४२० और जघन्यसे ५६ रत्न महाविदेह के अंतर्गत होते हैं । ॥ २६९ ॥

विशेषार्थ—उत्कृष्टपद में जंबूद्वीप में कुल ३० चक्रवर्ती एक साथ हो सकते हैं, अतः महाविदेह की बत्तीस विजयोंमेंसे २८ विजयों में अठाइस क्योंकि शेष चार विजयों में वासुदेवों का संभव है और एक भरतक्षेत्र में, एक ऐरवतक्षेत्र में इस तरह कुल ३० चक्रवर्ती होते हैं । एक एक चक्रवर्ती के १४ रत्न होनेसे $३० \times १४ = ४२०$ कुल रत्न होते हैं । जबकि भरत, ऐरवत में और विदेह की अन्य २८ (अठाइस) विजयों में चक्रवर्ती नहीं होते, अंत में मात्र पुष्कलावती, वत्स, नलिनावती, वप्र इन चार विजयों की नगरी में जघन्यसे चार चक्रवर्ती होते हैं । (चार से न्यून चक्रवर्ती जंबूद्वीप में नहीं होते) तब कुल $(४ \times १४ =) ५६$ रत्न जघन्यसे जंबूद्वीप के महाविदेह में होते हैं । जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति में भी यही बात कही है । [२६९] (क्षेपक गाथा ६६)

अवतरण—अब 'युद्धशूरा' वासुदेवों के कितने शत्रु-रत्नों हों? यह कहते हैं ।

चक्रं धणुहं खग्गो, मणी गया तह य होइ वणमाला ।

संखो सत्त इमाइं, रयणाइं वासुदेवस्स ॥ २७० ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ।

विशेषार्थ—१. सुदर्शन चक्र, २. नंदक नाम का खड्ग तथा ३. मणि इन तीनों रत्नों का वर्णन पहले २६७ वीं गाथा में कहा गया है उसके अनुसार समझ लेना । मात्र चक्र को सुदर्शन नामसे पहचाना जाता है ।

४. धणुहं—धनुष, इसे शार्ङ्ग धनुष नाम का शस्त्र समझें । दूसरे किसीसे उठाया न जा सके वैसा यह धनुष बड़ा भारी, अद्भुत शक्तिवाला, जिसके टंकार मात्रसे शत्रु सैन्य त्रस्त होकर पलायमान हो जाए ऐसा होता है ।

५. गया—गदा, यह गदा चक्री के दंड रत्न जैसी महाप्रभावशाली, दूसरे किसीसे न उठाई जा सके ऐसी, अभिमानी शत्रुओं की भुजा के मद को तोड़ डालने-वाली और बलीष्ठ होती है ।

६. वणमाला—इस नाम की माला वासुदेव की छाती पर निरंतर लटकती होती ही है । वह माला कभी कुम्हलाती नहीं है । वह सर्व ऋतु के पुष्पोंसे सुंदर तथा अत्यंत सुगंधी होती है, तथा देवसमर्पित होती है ।

७ शंख—पांचजन्य, इस शंख को वासुदेव के सिवाय (तीर्थंकर वज्र्य) दूसरा कोई भी बजा नहीं सकता । उसकी आवाज होते ही शत्रु सैन्य भयभीत होकर भाग जाता है । इस शंख की आवाज १२ योजन तक सुनी जाती है । इस तरह सदा देवाधिष्ठित सात रत्न वासुदेव के होते हैं और बलदेव के तीन रत्न होते हैं, जिसकी हकीकत आगे अलग कही जाएगी । [२७०]

॥ मनुष्याधिकार में आठवाँ आगतिद्वार ॥

अवतरण—सातवें गतिद्वार को पूर्ण करके, अब आठवाँ आगतिद्वार बताया जाता है ।

संखर्नरां चउसु गइसु, जंति पंचसु वि पढमसंघयणे ।

इम दु ति जा अडुसयं, इम समए जंति ते सिद्धि ॥ २७१ ॥

गाथार्थ—संख्यात वर्ष के आयुष्यवाले मनुष्य मर कर चारों गति में जाते हैं, परंतु उन में जो प्रथम संघयणवाले हैं वे पांचों गति में जाते हैं ।

वे एक ही समय पर एक, दो, तीन यावत् एकसौ आठ तक सिद्धि पद को पाते हैं ॥ २७१ ॥

विशेषार्थ—संख्यात वर्ष के आयुष्यवाले पुरुष-स्त्री नपुंसकवेदी मनुष्य, देव-नरक-तिर्थंकर और (पुनः) मनुष्य इन चारों गतियों में उस उस गति योग्य परिणाम को प्राप्त होने पर उत्पन्न हो सकते हैं । [असंख्य वर्षायुष्यवाले युगलिक का निषेध किया] इन संख्यवर्षायुषी में जो प्रथम वज्रऋषभनाराच संघयणवाले हैं, (अन्य संघयण का निषेध हुआ) वे ही तदभव में शुभ अध्यवसाय प्राप्त होते ही चार गति के ऊपरांत पांचवीं गति अर्थात् मोक्षगति में भी जाते हैं ।

—अर्थात् जब जीव संविलष्ट अध्यवसायवाला, हिंसा में आसक्त, महारंभी, महा-परिम्रही, रौद्र परिणामी आदि पापाचरणवाला हो तब नरकायुष्य योग्य कर्मोपार्जन कर के नरकमें जाता है ।

४००. यहाँ तीर्थंकर-नम्री-वासुदेव-प्रतिवासुदेव-बलदेव [नारद-रुद्र] आदि उत्तम पुरुषों का संक्षिप्त स्वरूप तथा उनके जीवन की संक्षिप्त हकीकत देने का ग्रन्थविस्तार हो जानेके कारण मुक्तवी रखा है । ४०१. नर शब्द जातिवाचक होनेसे स्त्री-पुरुष-नपुंसक तीनों लेने के हैं ।

—जब जीव माया-कपट-छल में अधिक तत्पर हो, छोटे बड़े व्यसनों में रत रहता हो, अधिक खाया करता हो तो प्रायः तिर्यच गति योग्य कर्मोपादान करके तिर्यचगति में जाता है ।

—साथ ही मार्दव-आर्जवादि सरल गुण युक्त हो, शल्यवाला हो वह मनुष्य-गति में आता है ।

—तथा हिंसा, मृषा, स्तेय, मैथुन, परिग्रहादि पापों के त्यागी, गुणग्राही, बाल-तपादिक करनेवाले, दानरुचि, अल्पकषायी, आर्जवादि गुणोवाले जीव परिणाम की विशेषता से देवगति योग्य कर्मोपार्जन करके देवगति में जाते हैं ।

—और जब प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य की अभिव्यक्तिरूप-प्रकटनरूप-सम्यक्त्व अर्थात् सत्श्रद्धारूप परिणाम, सम्यक्ज्ञान परिणाम और प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह इन पांचों महापाप की निवृत्ति-त्यागरूप चारित्र परिणाम उत्पन्न हो-अर्थात् सम्यग्-श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के सहयोगसे जीवको विशिष्ट प्रकार का, सर्वोत्तम निर्मल कोटिका परिणाम उत्पन्न हो तब, विशुद्ध कोटिकी उम्र तपसंयमादि की आराधना द्वारा जीवन में सर्वोत्तम चारित्र, सर्वोत्तम ज्ञान-दर्शन और सर्वोत्तम शक्ति प्राप्ति के आडे आनेवाले ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय इन चारों घातीकर्मों का क्षय करके श्रेष्ठ कोटिका वीतरागभाव-चारित्र, सर्वोत्तम शक्ति तथा संपूर्ण लोकालोक को प्रकाशित करनेवाला केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त करता है । यह ज्ञान प्राप्त होनेके बाद जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त्त (छोटे बड़े अनेक अन्तर्मुहूर्त्तों समझना) उत्कृष्टसे कुछ न्यून पूर्वकोटि वर्ष पर्यंत केवलीपन में ही रहकर, शेष रहे भवोपग्राही (वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र) चार कर्मों को यथाकाल खपाकर, सकल कर्मसे मुक्त होकर, आत्मिक सुख में निमग्न वे आत्माएँ ऋजुगति से एक ही समय में मुक्ति सुख को प्राप्त करती हैं । अर्थात् चौदह राजलोक के अन्त में आई मुक्तात्माओं के रहने के लिए स्थानवर्ती जो सिद्धशिला है वहाँ पहुँच जाती हैं । वहाँ सादिअनंत स्थिति प्रमाण के अव्याबाध, अनंत आत्मिक सुखका उपभोग करता हैं । संसार की कारणभूत कर्मसत्ता नष्ट होनेसे, उसका कार्यभूत संसारभ्रमण दूर होनेसे, फिर से इस विश्व में उन्हें आने या अवतार लेने जैसा कुछ भी होता ही नहीं है ।

ये जीव एक ही समय में एक, दो, तीन इस प्रकार यावत् किसी काल में एक साथ १०८ तक मोक्ष में जा सकते हैं । [२७१]

॥ मनुष्यगति आश्रयी अष्ट द्वार व्यवस्थाप्रदर्शक यन्त्र ॥

आठों द्वारके नाम	ग० उत्कृष्टमान	ग० जघन्यमान	स० उत्कृष्टमान	स० जघन्यमान
१. स्थितिमान	३ पर्योपम	अंतर्मुहूर्त्त का	अंतर्मुहूर्त्त का	अंतर्मुहूर्त्त का
२. देहमान	३ कोसका	अंगुल असंख्य	अंगुल असंख्य	अंगुल असंख्य
३. उपपातविरह	१२ मुहूर्त्त	१ समय	२४ मुहूर्त्त	१ समय
४. च्यवनविरह	यावत् संख्य	”	”	”
५. उपपातसंख्या	”	एक-दो-तीन	यावत् असंख्य	एक-दो-तीन
६. च्यवनसंख्या	”	”	”	”
७. गतिद्वार	तेउकाय, वायुकाय इन दंडकों को छोड़कर शेष २२ दंडकों के जीव मनुष्य गति में उत्पन्न हो सकते हैं, परंतु इतना विशेष कि सात नारकी के एक ही दंडकमेंसे सातवीं नारकी कम करना, और इस तरह पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यच के दंडकमेंसे असंख्यवर्षायुषी युगलिक मनुष्य-तिर्यच कम करे: हरि-अर्हन्-वलदेव-वासुदेव और चक्री के पांच मनुष्य रत्नो देव-नरक से ही आए होते हैं। हस्ति तथा अश्व रत्न तिर्यच वर्जित करके तीनों गतिमेंसे आए होते हैं और सात एकेन्द्रिय रत्न भव० वैमा० से आए होते हैं।			
८. आगतिद्वार	संख्यवर्षायुषी मनुष्य चारों गतिमें जा सकते हैं, और उनमें जो वज्रऋषभ-नाराच संघषण से युक्त होते हैं वे तो मोक्ष सहित पांचों गतिमें जघन्यसे एक. दो यावत् उत्कृष्टसे एक समय में १०८ जाते हैं।			

अवतरण—अब आगतिद्वार में मनुष्यों की वेद-लिगाश्रयी गति की विशेषता कहते हैं।

वीसिथी दस नपुंसग, पुरिसद्वयं तु एगसमएणं ।

सिद्धाद् गिहि अन्न सलिग, चउ दस अट्टाहिअसयं च ॥ २७२ ॥

गाथार्थ—स्त्रियाँ उत्कृष्टसे एक समय में बीस मोक्ष में जाएं, नपुंसक उत्कृष्ट दस और पुरुष उत्कृष्ट से एक ही समय में एकसौ आठ मोक्ष में जाते हैं। लिगमें— गृहस्थ

४०२. अन्य दर्शन के तापसादि वेषरूप में भी मोक्ष में जा सकते हैं, क्योंकि वे सद्गुरु के योगसे वा तथाविध अन्य जिन धर्म के अनुमोदनादिक का आलंबन मिलने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य पाकर-प्राप्त करके उत्तरोत्तर शुभ भावनों के योगसे केवली होकर मोक्ष में जाते हैं, परंतु तापस के धर्मसे तो नहीं ही, क्योंकि वेषलिग चाहे वह हो परंतु जीवन में धर्म तो सम्यग्दर्शनादि मोक्ष में जाने के लिए होना ही चाहिए। साथ ही इसी प्रकार भले ही वेष गृहस्थ का हो परंतु जन्मान्तरीय संस्कारोंसे स्वाभाविक वैराग को पाकर, सम्यक् चारित्र्य को प्राप्त करके अन्तकृत केवली होकर मोक्ष में जाता है।

लिंग में एक समयमें चार, 'अन्य लिंग में (अर्थात् अन्य धर्म के तापसादिक लिंग में) दस और स्वलिंग में (स्व = अपने साधु लिंग में) उत्कृष्ट एक समय में एक—सौ और आठ मोक्ष में जाते हैं । ॥ २७२ ॥

विशेषार्थ—यहाँ लिंग अथवा वेदाश्रयी गति बताई है अगर चे यों तो वेदोंका अस्तित्व सर्वत्र है लेकिन यहाँ तो मनुष्यजाति आश्रयी वर्तित त्रिवेदका प्रसंग है अतः इसकी ही बात यहाँ समझानेकी है ।

पुरुषको पुरुष ही, स्त्रीको स्त्री ही तथा नपुंसकको नपुंसक ही इस तरह किस लिए पहचानते हैं ? तो इसका कारण (कर्मग्रन्थ की भाषा में) 'वेद' (साहित्यिक भाषा में) 'लिङ्ग' तथा लोकवाणी में 'जाति' कही वही है । यहाँ वेद लिंग या जाति ये समानार्थक शब्द हैं । इस वेद के हरेक के दो दो प्रकार हैं । वे १. द्रव्यवेद और २. भाववेद के नामसे हैं ।

द्रव्यवेद—अर्थात् पौद्गलिक आकृति—आकार, यह 'नामकर्म' की विविध प्रकृतियों के उदय के फलस्वरूप प्राप्त होता है ।

भाववेद—अर्थात् चित्त में उत्पन्न होता मानसिक विकार—अभिलाष उस मोहनीय कर्म के उदय के फलस्वरूप है ।

इस द्रव्यवेद और भाववेद के बिच साध्य—साधन तथा पोष्य—पोषक का संबंध रहा है ।

इस वेद के पुरुषवेद, स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद ये तीन प्रकार हैं । स्वस्व कर्मानुसार नामकर्म की विविध प्रकृतियों के उदयसे प्राणी पुरुषाकृति, स्त्री आकृति और नपुंसकाकृतिको प्राप्त करता है । इससे यह द्रव्यवेद कहा जाता है जिस की पहचान बाह्य-लिंग या चिह्नसे ही आसानीसे हो जाती है ।

अब भाववेद—जिसे तार्विक रीत से वेद कहना है, क्योंकि यहाँ भावका अर्थ ही इच्छा, अभिलाष—विकार करना है । यह वेद मोहनीयकर्म के उदय के फलरूप होता है, जो बात ऊपर कही भी है ।

४०३. विशेषतः उक्त दोनों लिंग में मोक्ष कहा वह, उनका शेष आयुष्य अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहा हो और केवलज्ञान हो तथा मोक्ष में चले जाए तदाश्रयी समझना । परंतु यदि अन्तर्मुहूर्त्त अधिकायुष्य हो तो जैन साधु का यथार्थ वेष अवश्य स्वीकार करना पड़ता है और फिर वैसे मोक्ष में जानेवाले स्वलिंग सिद्ध कहलाते हैं, गृहस्थ केवली स्वरूप कूर्मापुत्र का एक ही अपवाद है, जिसे केवलज्ञान होनेके बाद सकारण छः मास होने पर भी साधुवेष प्राप्त नहीं हुआ, और इसीलिए यह एक ही अपवाद आश्चर्यरूप कहा गया है ।

यहाँ भावपुरुष वेद के उदयसे जीवको स्त्रीके (विषयोपभोगरूप) संसर्गसुख की इच्छा होती है। भावस्त्रीवेद के उदयवाले जीवको पुरुष के संसर्गसुखकी इच्छा-अभिलाषा होती है, और भावनपुंसक वेद के उदय से स्त्री-पुरुष दोनों के संसर्गसुख की कामना होती है। इस तरह द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के वेद का स्वरूप कहा।

विकारमें अल्पबहुत्व—पुरुषवेद का विकार सबसे कम समय तक टिकता है। स्त्रीवेद का विकार उससे अधिक समय स्थायी रहता है और नपुंसक वेदका विकार स्त्रीवेदका विकार से भी अधिक विशेष समय तक टिकता है।

इन तीनों भाववेद की विकारस्थिति को शास्त्र में तीन उपमाओंसे समझाई है। अर्थात् पुरुषवेद तृणाग्नि के समान, स्त्रीवेद गोमय-अग्नि के समान और नपुंसकवेद नगरदाह-अग्नि के समान।

तृणाग्नि—तृण अर्थात् घास की आग जैसा। जिस तरह घास शीघ्र सिलग पड़ती है और बुझ भी जल्दी जाती है, उसी तरह पुरुषवेदवाले पुरुष का-स्त्री संसर्गरूप विकार-पुरुष की अपनी तथाप्रकार की विशिष्ट रचना और वेदके कारण सत्वर उत्थान पाता है और वह विकार जल्दी से शांत भी हो जाता है, स्त्रीवेद का विकार उपले की अग्नि जैसा या अंगारे जैसा है, जो उसकी विशिष्ट और गहन शारीरिक रचना के कारण (स्त्री को वह) जल्दी प्रकट नहीं होता, तथा प्रकट होनेके बाद (पुरुष संसर्ग होने पर भी) जल्दी शांत भी नहीं होता। और नपुंसक वेदका विकार तो नगर दाह के समान तप्त ईन्ट के जैसा होनेसे बहुत ही लंबे समयके बाद शांत होता है। नपुंसक को कामविकार प्रकट होने में कितना समय लगे इस संबंध में उल्लेख नहीं मिला अतः मध्यम समय की कल्पना ठीक लगती है।

पुरुष में कठोर भाव मुख्य होनेसे उसे कोमल तत्त्व का आकर्षण रहा करता है। स्त्री में अति मृदु-सुकोमल भाव का प्राधान्य होनेसे कठोरत्व (पुरुष) की अपेक्षा रहती है। जबकि नपुंसक में दोनों भावों का मिश्रण होनेसे दोनों तत्त्वों के उपभोग की झंझना रहा करती है।

क्रमशः तीनों वेद के लक्षण बताती श्री स्थानांग तथा पञ्चवर्णासूत्रकी टीकाओं से गाथाएँ नीचे उद्धृत की हैं।

४०४. दिग्भरीय मतानुसार।

मेहनं खस्ता दाढ्यं शोण्डीर्यं श्मश्रुं घृष्टता ।
स्त्रीकामितेति लिङ्गानि, सप्तपुंस्त्वे प्रचक्षते ॥

अर्थ—पुरुषका गुप्त लिग—चिह्न, कठोरता, दृढता—मकमता, पराकम, दाढी, घृष्टता और स्त्री संसर्ग की कामना ये सात पुरुषवेद के लक्षण हैं।

योनिर्मृदुत्वमस्थैर्यं सुग्धता वलीवतास्तनौ,
पुंस्कामितेति लिङ्गानि सैमस्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥

अर्थ—गुप्तांग चिह्न—योनि, कोमलता, चपलता, सुग्धता (भोलापन), सामर्थ्य—हीनता, स्तन का सद्भाव और पुरुष संसर्गकी कामना—ये सात स्त्रीत्व—स्त्रीवेदके लक्षण हैं।

स्तनादि—श्मश्रुकेशादिभावाऽभावसमन्वितम् ।
नपुंसकं बुधाः प्राहुर्मोहानलसुदीपितम् ॥

अर्थ—स्तन आदि स्त्री योग्य चिह्न, पुरुष योग्य दाढी—केश आदि चिह्न हों अथवा न भी हों अर्थात् पुरुष—स्त्री दोनों के समिश्र लक्षण न्यूनाधिक अंशमें विद्यमान हों और उभय लिग के संसर्ग की इच्छा का मोहाग्नि अत्यन्त प्रदीप्त रहता हो, उसे सुज्ञो^{००} नपुंसक कहते हैं।

इस तरह तीनों^{०००} वेद के लक्षण कहे।

इन वेदों का चारों गति में यथाविध अस्तित्व है, अर्थात् देवों में मात्र पुरुष—स्त्री दो ही वेद हैं, नपुंसकवेदी वहाँ कोई नहीं है। सातों नरको और तमाम समूर्च्छिमं जीवो मात्र एक नपुंसकवेदवाले हैं। अवशिष्ट मनुष्य तथा तिर्यच दो गति के शेष मनुष्यों तथा तिर्यचों में तीनों वेद होते हैं। [२७२]

४०५. यहाँ दाढी का उल्लेख किया 'मूछ' चिह्न नहीं लिया गया, यह वास्तविक भी है, क्योंकि अल्प मूछवाली स्त्रियाँ हो सकती हैं लेकिन दाढीवाली स्त्रियाँ (प्रायः) नहीं मिल पाती। ४०६. वलीवता इति पाठः विशेषोचितः अन्येषु कोपेषु वान्तपाठदर्शनात् वलीवोऽपौरुषषण्डयोः (अने० संग्रहे २/५३२) यह सामर्थ्यहीन-अविक्रम अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। ४०७. स्तनकेशवतीस्त्री स्याद् रोमशः पुरुषः स्मृतः। उभयोरन्तरं कृत्वा, तदभावे नपुंसकम् ॥ (स्थानांगवृत्ति) ४०८. महिलासहायो सरवन्न भेओ, मोहो महंती महुया य वाणी। ससद्भ्यं मुत्तमफेण्य च, एयाणि छ पंडगलक्षणाणि ॥ (रत्नसंचय)। ४०९. अन्य वेद भी हैं उन्हें लोकप्रकाश, विशेषावश्यक भाष्यादिकसे जानें ॥ ४१०. कतिपय समूर्च्छिम पंचेन्द्रियों को पुरुष—स्त्रीचिह्न सद्भाव कर्मग्रन्थ तथा सप्ततिका भाष्य में कहा है।

अवतरण—भिन्न भिन्न शरीर अवगाहना तथा स्थानाश्रयी सिद्ध होती संख्या जणाते हैं।

गुरु लहु मज्झिम दो चउ, अट्टसयंउड्डहोतिरिअलोए ।

चउवावीसट्टसयं, दु समुद्दे तिन्नि सेस जले ॥ २७३ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २७३ ॥

विशेषार्थ—उत्कृष्ट अवगाहनावाले जीव, उस उस काल में पांचसौ धनुष की ऊंची कायावाले जीव, एक समय में युगपत् दो ही संख्या में मोक्ष में जाते हैं, परंतु उससे अधिक नहीं जाते। साथ ही जघन्यसे दो हाथ की अवगाहना तक के जीव ही मुक्ति के योग्य हैं। दो हाथसे न्यून देहवाले तदभव में मुक्ति योग्य नहीं होते, अतः उस जघन्य अवगाहनावाले जीवों एक समय में अधिकाधिक चार संख्या तक सिद्ध हो सकते हैं, जब कि जघन्य दो हाथसे आगे तथा ५०० धनुष के अंदर (अर्थात् जघन्य उत्कृष्ट के बीच) की मध्यम अवगाहनावाले उत्कृष्ट से एक ही समय में १०८ सिद्ध हो सकते हैं।

ऊर्ध्वलोक से एक समय में उत्कृष्ट चार ही सिद्ध होते हैं। यहाँ ऊर्ध्वलोकसे देवनिकाय नहीं समझना परंतु एक लाख योजन ऊँचे ऐसे मेरुपर्वत पर आये नंदनवनमें से जानेवाले समझना, अर्थात् कोई लब्धिधारी विद्याधरादि मुनि, बैक्रियादि गमनशक्ति के द्वारा नंदनवन पर रहे श्री जिनचैत्यादिक को नमस्कारादि करने के हेतु गये हों और उस समय पर उनका आयुष्य पूर्ण होने का प्रसंग आ गया हो, इसलिए वे महात्माएँ अनशनादिक तपपूर्वक शुभध्यानाराधना करनेपूर्वक केवलज्ञान पाकर, अष्टकर्म का क्षय करके मुक्ति प्रायोग्य बनकर कालधर्म प्राप्त करें तब वे वहाँसे सीधे ही मोक्ष में जाते हैं, उस अपेक्षा से सोचना। यहाँ ऊर्ध्वलोक में भेद कर के सोचने पर पांडुकवनाश्रयी दो मोक्ष में जाते हैं।

इस तरह अधोलोक में एक समय में उत्कृष्ट से बाईस मोक्ष में जाते हैं। यहाँ

४११. यहाँ अधोलोककी संख्यामें दूसरे दो मत हैं। संग्रहणीका एक मत जोड़ने पर तीन मत होते हैं। संग्रहणी के सिवाय दूसरे जो दो मत हैं वे १. उत्तराध्ययनका और २. सिद्धप्राभूतग्रन्थका। उत्तराध्ययनके जीवाजीव विभक्ति अध्ययनमें 'वीसमहेतहेवेति' इस पाठसे २० संख्या ग्राह्य होती है। जबकि सिद्धप्राभूत में 'वीसपुहुत्तं अहोलोए'—एतत्टीका च विंशतेः पृथक्त्वं द्वे विंशती। यहाँ पृथक्त्वका अर्थ दो किया अतः दो बार बीस (और एक बीस) अर्थात् $20 + 20 = 40$ की संख्या हुई।

यह बात श्री चन्द्रिया टीकाकारने तथा श्री मल्यगिरिजी (संग्रहणी के) टीकाकारने बताई है। इसमें चन्द्रिया टीकाकार श्री देवभद्रसूरिजी कहते हैं कि—इस संग्रहणी गाथा में चउवावीससट्टसयम् पदमें चउहोवीससट्टसयम् यह पाठ रक्खा जाए तो ऊपर के दोनों मतों का समाधान हो जाए, मात्र एक श्री उत्तराध्ययन का ही मत अलग रहता है। इस तरह दो ही मतोंतर रहते हैं।

भी अधोलोक शब्दसे नरक न समझकर 'अधोग्राम' स्थान समझना । अर्थात् मेरु-पर्वत की पश्चिमदिशा की तरफ समभूतला से क्रमशः नीचे उतरता हुआ एक भूभाग आता है । वह पृथ्वी नीची नीची होती ४२,००० हजार योजन पर एक हजार योजन गहरी होती है और वह भूमिभाग महाविदेहक्षेत्रमें आया है जिसे कुबडीविजय कहा जाता है । वहाँ तीर्थकरादिक का सद्भाव होता है और उस समय तीर्थकर आदि आत्माएँ मोक्ष में जानेवाली होती हैं ।

और तिर्यग्लोकमें से उत्कृष्टा एक समय में १०८ मोक्ष में जाती है ।

तिर्यग्लोकमेंसे सामान्यतः एक समय में १०८ मोक्ष में जाए ऐसा कहा, परंतु हरेक स्थानसे १०८ जाए ऐसा नहीं होता । तिर्यग्लोकमें भी कर्मभूमिसे आये, पुष्टिग वैमानिक निकायसे आए, मध्यम अवगाहनावाले, साधुवेष [जैनमुनिवेष—स्वर्णिग] वाले और वे भी पुरुष ही होने चाहिए, कालसे उत्सर्पिणीका तीसरा और अवसर्पिणी हो तो चौथा आरा अवश्य हो; इस तरह संपूर्ण आठ विशेषणवाले ही, क्षपित कर्म-वाले होकर एक समय पर १०८ मोक्ष में जाते हैं ।

तिर्यग्लोक में भेद करके सोचने पर कोई उत्तम जीव देवादिक के संहरणादिकसे लवणादिक समुद्र में फेंका जाए और उसी समय जलमें स्पर्श होने के पहले अन्तरालमें अति उत्कृष्टवीर्योलास के द्वारा त्वरित घाती कर्माँ का क्षय करके अन्तर्द्वन् केवली होकर, जलमें डूबते ही शेष कर्माँ का क्षय करके तुरंत ही मोक्ष में जाए जैसे, अथवा किसी केवली जीव को भरतादिकक्षेत्रमेंसे उठाकर, दुश्मनदेव समुद्रमें फेंके और इतनेमें आयुष्य का अन्त आया हो और यदि मोक्षमें जाए ऐसे, इन दोनों प्रकारसे मोक्षमें जानेवाले जीव एक समयमें दो ही जाए ।

अब शेष जलाशयोंमेंसे—उन गंगादि नदियोंमें तथा द्रहादिक जलस्थानोंमें स्नान आदि हेतु गए जीव, जहाजादिकमें बैठे हों जैसे जीव किसी भी विशुद्ध और उत्तम निमित्तसे वहीं केवलज्ञान पाकर मोक्षमें जाए तो एक ही समयमें तीन (मतांतरसे चार) सिद्ध होते हैं ! [२७३]

अवतरण—पूर्वोक्त मनुष्य किस गतिसे आये एक समयमें कितने मोक्षमें जाए ? यह कहते हैं और साथ ही [वेद—गति—से आए हुआके भेदके बिना] प्रथम ओषसे—सामान्यतः चारों गति आश्रयी बताते हैं । तत्पश्चात् ढाई गाथा पदसे विशेष स्पष्ट करके बताएँगे ।

४१२. अवसर्पिणी के चौथे आरा के बदलेमें तीसरे आरे में ही श्री ऋषभदेवप्रभु १०८ जीवों के साथ मोक्ष में गये ऐसे । उल्टा बननेसे ही इसे आश्चर्य माना गया है ।

नरयतिरियागया दस, नरदेवगईओ वीस अट्टसयं ॥ २७३ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २७३ ॥

विशेषार्थ—नरक और तिर्यचगतिसे निकलकर मनुष्य बने हुए जीव यदि मोक्षमें जानेके योग्य बनकर मोक्षमें जाए तो उत्कृष्टा एक समयमें दस ही जाए। मनुष्यगतिसे मरकर पुनः मनुष्यगति पाये हुए ऐसे एक समयमें २०, देवगतिमेंसे निकलकर मनुष्य बने हुए एक समयमें १०८ मोक्षमें जाते हैं। [२७३]

अवतरण—अब किसी भी वेद के नाम ग्रहण बिना ही नारकादि प्रत्येक गतिमेंसे आये हुआ की सामान्य-विशेष से होती सिद्धि के बारेमें कहते हैं।

दस रयणासकरवालुयाउ, चउ पंकभूदगओ ॥ २७४ ॥

लुच्च वणस्सइ दस तिरि, तिगित्थि दस मणुअवीसनारीओ ।

असुराइवंतरा दस, पण तदेवीओ पत्तेअं ॥ २७५ ॥

जोइ दस देवी वीसं, विमाणि अट्टसय वीस देवीओ ॥ २७५ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २७४-२७५ ॥

विशेषार्थ—अब गत गाथामें जिस तरह 'नरकगति' ऐसे सामान्य शब्द का प्रयोग किया जिससे सातों नरक का ग्रहण न हो जाए इसलिए सर्व भ्रमको टालनेको यह गाथा बताती है कि—'नरक शब्द' से प्रथम के चार ही समझना, जिनमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा इन तीन नरकोंसे आए मनुष्य होकर एक समय पर दस सिद्ध हो जाए और चौथे पंकप्रभा से चार जीव मोक्षमें जाते हैं, परंतु धूमप्रभादि अंतिम तीन नरकसे आये हुआको अनन्तर भवमें सर्वविरतिका उदय नहीं होनेसे उनका निषेध किया है।

अब तिर्यचगतिमें भी पृथ्वीकाय और अपकायमें से निकलकर आये एक समय पर उत्कृष्टसे चार, तेउ-वाउकाय के लिए तो अनन्तर भवमें (२६४ गाथा में) मनुष्य प्राप्ति का निषेध बताया होनेसे वे सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि सिद्धिगमन मनुष्यके सिवा अन्य गतिसे नहीं है। अब वनरपतिकायसे आये ६, और (त्रसकायमें) पंचेन्द्रिय पुरुष तिर्यचमेंसे या स्त्री तिर्यचमें से आये मनुष्य होकर १० जाते हैं। (यहाँ विकले-

४१३. सिद्धप्राप्त में तो देवगतिसे आये हुआको वर्य शेष तीनों गतिसे आए दस दस मोक्षमें जाए ऐसा कहा है। सत्य तो बहुश्रुत या केबलि भगवंत जानें।

न्द्रियसे आये, अतः भवस्वभावसे ही सिद्धि प्राप्तके योग्य सामग्री नहीं मिलती, जो आगे बताया जाएगा ।)

तीसरी मनुष्यगतिसे आये पुनः मनुष्य होकर २० जीव एक समय पर मोक्षमें जाएँ । मनुष्य की स्त्रियाँ पुनः मनुष्यत्व पाई हों तो वे भी २० संख्या पर सिद्ध होती हैं, इसमें खास कोई भेद नहीं है ।

चौथी देवगतिमें विशेषरूपसे कहते हुए बताते हैं कि—असुरकुमारादिक भवनपतिके दसों निकायोंसे और व्यन्तर निकायमें से निकलकर आये एक समय पर १० और उन्हीं दोनों निकायोंकी देवियाँ च्यवित होकर मनुष्य बनकर सिद्ध हों तो ५, ज्योतिषी निकायसे आए १०, और उनकी देवियाँ आई हों वे २० और चौथे वैमानिक-निकायसे आये उत्कृष्टा एक समयमें १०८ और वैमानिककी देवीसे आये मनुष्य होकर एक ही समय पर २० सिद्ध होते हैं । [२७५]

॥ नरक आदि गतिसे आये जीवोंकी एक ही समयमें
ओध और विशेषसे सिद्ध संख्याका यन्त्र ॥

गति विभाग नाम	समय सिद्धि	निर० समय	गति विभाग नाम	समय सिद्धि	निर० समय
१. नरकगतिसे आयेकी ओधमें	१०	४	मनुष्यसे मनुष्य बने	१०	४
पहले तीन नरकसे आये	१०	४	मनुष्यनी-स्त्रीसे आये	२०	४
चौथे पंकप्रभासे आये	४	२	देवगतिसे आये ओधमें	१०८	८
शेष ५-६-७ इन तीन न०से आये	मोक्ष नहीं	×	१. भवनपतिकी प्रत्येक निकायमेंसे	१०	४
२. तिर्यच गतिसे आये ओधमें	१०	४	भव० प्रत्येक नि०की देवीसे आ०	१०	४
पं. तिर्यचसे निकलकर आये	१०	४	२. व्यन्तरकी प्रत्येक नि०से आ०	१०	४
पं. तिर्यचिणी स्त्रीसे आये	१०	४	व्य० प्रत्येक नि०की देवीसे आ०	५	२
पृथ्वीकायसे निकलकर आये	४	२	३. ज्योतिषीनिकायसे आये	१०	४
अपकायसे निकलकर आये	४	२	ज्योतिषी देवीसे आये	२०	४
वनस्पतिकाय से निकलकर आये	६	२	४. वैमानिक प्रत्येक कल्पसे आये	१०८	८
३. मनुष्यगतिसे आये ओधमें	२०	४	वैमानिक देवीसे आये	४	२

अवतरण— इस तरह नारकादि गति से आये हुआ की सामान्य-विशेषसे सिद्धि कहने के बाद अब पुरुषादि वेदसे आये हुआ की समय सिद्धि कहते हैं ।

तह पुंवेएहिंतो, पुरिसा होऊण अट्टसयं ॥ २७६ ॥

सेसट्टभंगएसुं, दस दस सिज्झंति एगसमयम्मि ॥ २७६ ॥

गाथार्थ— इस तरह पुरुषवेदसे उद्धार पाये हुए पुरुष होकर एकसौ आठ मोक्षमें जाते हैं और शेष आठ भांगोंमें दस दस एक समयमें सिद्ध होते हैं ॥ २७६ ॥

विशेषार्थ— वेद द्वारा होती सिद्धिसंख्याका प्रकार बताते हुए बताते हैं कि—यहाँ वेद द्वारा कुल नव भांगमें सिद्धिसंख्या विचारनेकी है अर्थात् (१) पुरुष वेदवाले देवों, मनुष्यों तथा तिर्यचोंमेंसे निकले जीव (१) कुछ पुरुषरूपमें जन्म लेते हैं (२) कुछ स्त्रीरूपमें और (३) कुछ नपुंसक रूपमें जन्म लेते हैं । इस तरह तीन भांगे । इसी तरह स्त्री वेदवाली देवियाँ, मनुष्यनीयाँ (नारियाँ) और तिर्यचिनियाँ मरकर (४) कुछ पुरुष (५) कुछ स्त्रियाँ और (६) कुछ नपुंसको होते हैं । इस तरह दूसरे तीन भांगे । (कुल छः हुए) इस तरह नपुंसक ऐसे नारकों, मनुष्यों तथा तिर्यचोंमें से निकलकर (७) पुरुष (८) स्त्री और (९) नपुंसक रूपमें जन्मते हैं । इस तरह नौ भांगे हुए । इन नौ भांगों से सिद्ध किस तरह हो सके यह समझाते हैं ।

प्रथम त्रिभंगमें—पुरुषवेदी देव मरकर पुरुष-नररूपमें जन्म लेकर मोक्षमें जाए एक समयमें एक साथ अधिकाधिक १०८ जीव जा सकते । वे देवो मनुष्य-स्त्री रूपमें जन्म लेकर मोक्षमें जाएँ तो एक समयमें दस जाएँ और वे देवो अगर नपुंसक रूपमें जन्म लेकर मोक्षमें जाएँ तो भी दस ही मोक्षमें जाएँ ।

द्वितीय त्रिभंगमें—स्त्रीवेदी देवियाँ मरकर पुरुषो होकर मोक्षमें जाएँ तो दस ही जायँ और वे ही देवियाँ स्त्री-नपुंसक रूपमें जन्म लेकर मोक्षमें जायँ तो भी दस ही जायँ ।

तृतीय त्रिभंगमें—इसी तरह नारकादि गतियों के नपुंसको पुरुष, स्त्री या नपुंसक रूपमें मोक्षमें जाए तो दस ही जायँ ।

शंका—यहाँ पर आप देवीसे आए दस ही सिद्ध हों ऐसा कहते हैं लेकिन गत गाथा में तो ' वैमानिकों, ज्योतिष्क देवियों और स्त्रीमेंसे आएँ बीस सिद्ध होते हैं ' ऐसा कह चुके हैं तो क्या समझना ?

४१४. देवलोकमें नपुंसकवेदी नहीं होते अतः उनका नामोल्लेख नहीं किया गया । और नरकमें केवल नपुंसकवेद ही है, दूसरा वेदोदय है ही नहीं ।

समाधान—ऊपरके प्रश्नका समाधान यह है कि—इस गाथामें प्रत्येक भांगमें अलग अलग व्याख्यान कहा है और गत गाथामें समुच्चयमें व्याख्यान किया है जिससे कुछ विरोध नहीं आता अर्थात् जिस तरह इस गाथामें केवल पुरुष होकर जायँ तो कितने ? स्त्री होकर जायँ तो कितने इस तरह अलग अलग रीतसे कहा है । जब कि गत गाथाकी व्याख्यामें तो द्विसंयोगसे—त्रिसंयोगसे मिलकर मोक्षमें जायँ तो बीस जायँ ऐसा कहा है । अर्थात्—पुरुष—स्त्री होकर सिद्ध हों, पुरुष—स्त्री—नपुंसक तीनों एकत्र होकर एक समयमें सिद्ध हों तो बीस हों सकते हैं । यह विशेषता समझना । इस पद्धतिके अनुसार सर्व भांगों के बारेमें सोचें । यहाँ गति—जाति—वेदादि आश्रयी बात की ।

ग्रन्थान्तरसे खास जानने योग्य बात बताई जाती है । उसमें क्षेत्राश्रयी विशेष कहते हैं । मेरुपर्वत के नंदनवनमें से अगर मोक्षमें जाँएँ तो एक समय में चार, पंडकवनमें से जाँएँ तो दो, महाविदेहकी एक विजयमेंसे जायँ तो बीस, प्रत्येक अंक्रमभूमिमें से संहरण किये गये मोक्षमें जायँ तो दस, प्रत्येक कर्मभूमिमेंसे जायँ तो १०८, कालाश्रयी विशेष कहते शास्त्रमें बताया है कि—उत्सर्पिणी के तीसरे तथा अवसर्पिणीके चौथे^{१५} आरेमें १०८ मोक्षमें जायँ और अवसर्पिणीके पाँचवें^{१६} आरेमें २० मोक्ष जायँ और शेष^{१७} पहले, दूसरे और छठे आरेमें और प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें संहरणसे दस मोक्षमें जायँ । [२७६—३]

नवभंग यन्त्र

१. पुरुषसे पुरुष होकर १०८	४. स्त्रीसे पुरुष होकर १०	७. नपुंसकसे नपुंसक होकर १०
२. पुरुषसे स्त्री होकर १०	५. स्त्रीसे स्त्री होकर १०	८. नपुंसकसे स्त्री होकर १०
३. पुरुषसे नपुंसक होकर १०	६. स्त्रीसे नपुंसक होकर १०	९. नपुंसकसे पुरुष होकर १०

अवतरण—अब सिद्धिगति आश्रयी उपपातविहकाल तथा च्यवनाभावको बताते हैं ।

विरोही छमास गुरुओ, लहु समओ चवणमिह नत्थि ॥ २७७ ॥

४१५. यह मत सबको मान्य है अतः पश्चिमविदेहकी अंतिम दो विजयोंमें होकर चालीस मोक्षमें जायँ ।

४१६. परन्तु चालु अवसर्पिणी के (चौथे आरेमें न जाकर) तीसरे आरेके अंत में ही उत्कृष्ट अवगाहना-वाले ऋषभदेव सहित १०८ जीव मोक्षमें गये वह नहीं होने योग्य घटना अनंता कालमें हुई अतः उसे आश्रयरूप मानी है । ४१७. चौथे, पाँचवें आरेमें तीर्थ होनेका कहा है । ४१८. महाविदेहमें केवलशान पाये केवलीको अगर भरतादि क्षेत्रमें कोई बैरी देव लावे, तो वहाँसे वह मोक्षमें जाय इस अपेक्षासे (इस भरत-ऐरवतमें) किसी भी आरेमें मोक्ष समझना ।

विशेषार्थ—सिद्धिगतिमें जघन्यविरह एक समयका ही पड़ता है । समय पूर्ण होने पर पुनः समय समय पर असंख्य जीव मोक्षमें बहा करते हैं । अब उत्कृष्ट विरहकाल कितने समयका ? वह कहते हैं कि छः मासका, अर्थात् किसी कालमें कोई भी जीव मोक्षमें न जाए ऐसा विरहकाल उत्कृष्टसे छः मासका भी आ जाता है ।

सिद्धिगतिमें गए जीवोंका च्यवनविरह होता ही नहीं है, क्योंकि वे शाश्वतसादिअनंत स्थितिवाले होनेसे उनका च्यवन नहीं हो सकता, साथ ही च्यवन-अवतरण के हेतुमूल कर्मोंको उन आत्माओंने निर्मूल कर डाला है ।

दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।

कर्मबीजे तथा दग्धे, नारोहति भवाङ्कुरः ॥

“जिस तरह बीज अत्यन्त जल जाने पर उसमेंसे नये अंकुर प्रकट नहीं होते उसी तरह कर्मरूपी बीज अत्यन्त दग्ध होने पर भवरूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होते” । अतः कारणमूल कर्म नष्ट होते ही, उसके कार्यरूप संसार स्वतः नष्ट होता ही है । [२७७]

अवतरण—इस तरह मर्यादित कितनी कितनी संख्या पर कितने कितने समय यावत् मोक्षमें जाने पर विरहकाल प्राप्त हो ? यह कहते हैं ।

अड सग छ पंच चउ तिन्नि, दुन्नि इक्को य सिज्झमाणेसु ।

बत्तीसाइसु समया, निरंतरं अंतरं उवरिं ॥ २७८ ॥

बत्तीसा अडयाला, सट्टि बावत्तरी य अवहीओ ।

चुलसीई छन्नउई, दुरहिअमट्टत्तरसयं च ॥ २७९ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २७८-२७९ ॥

विशेषार्थ—एक समयमें ही एक, दो, तीनसे लेकर बत्तीसकी संख्या तकके जीव निरंतर सिद्ध हों अर्थात् बिना अंतरके सतत मोक्षमें जायें तो आठ समय तक ही जायें । बाद में नौवें समयमें कोई भी जीव मोक्षको प्राप्त ही नहीं करता, इस एक समयका अंतर अवश्य पड़ता ही है । तत्पश्चात् दसवें समयसे भले ही पुनः बत्तीस-बत्तीस सिद्ध होते जायें परंतु वह प्रक्रिया आठ आठ समय तक ही चालू रहती है । फिर जघन्यसे एक समयका अंतर अवश्य पड़ता ही है ।

बत्तीस के बाद तैंतीससे लेकर अडतालीस तकके जीव समय समय पर सिद्ध होते जायें तो सात समय तक, फिर समयादिकका अंतर पड़ता है, ४९ से प्रारंभ करके ६० तक के (अर्थात् किसी समय ४९, दूसरे समय ५०-५३-५९, किसी समय अंतमें ६०)

जीव समय समय पर सिद्ध होते जायँ तो छः समय तक मोक्षमें जायँ, फिर समयादिकका अंतर अवश्य पड़ता है, ६१ से ७२ तककी संख्या सिद्ध होती जाए तो पांच समय यावत् पुनः समयादिकका अंतर, ७३ से लेकर ८४ तककी संख्या चार समय यावत् सतत सिद्ध हो, फिर अंतर पड़ता है, ८५ से ९६ तककी संख्या तीन समय यावत् पुनः अंतर, ९७ से १०२ तककी संख्या दो समय यावत् पुनः अंतर पड़ता है, और १०३ से आरंभ करके १०८ तककी संख्या सिद्ध हो तो एक ही समयमें सिद्ध हो। फिर दूसरे ही समयसे समयादिकका अंतर अवश्य पड़े ही। आठ समय सिद्ध प्रकारमें दूसरे दो प्रकारान्तर भी हैं। इन्हें श्री स्थानांगसूत्रवृत्ति और संग्रहणीकी मलयगिरि टीकासे जान लें। [२७८-२७९]

अवतरण—अब ये जीव सिद्ध तो होते हैं लेकिन वह सिद्ध स्थान कैसा, कितना और कहाँ है? यह भी कहते हैं, क्योंकि सांख्यमतानुयायी ऐसा मानते हैं कि 'मुक्ताः सर्वत्र तिष्ठन्ति, व्योमवत् तापवर्जिताः' अर्थात् संसारके तापसे रहित ऐसी मुक्तात्माएँ आकाशकी तरह सर्वत्र रहती हैं। अतः उस एकांगी मतका निराकरण करनेके लिए मुक्तात्माके विशिष्ट क्षेत्र प्रमाणको कहते हैं।

पणयाललक्ष्वजोयण-विक्खंभा सिद्धसिल फलिहविमला ।

तदुवरिग जोअणंते, लोगंतो तत्थ सिद्धद्धिई ॥ २८० ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २८० ॥

विशेषार्थ—वैमानिक निकायके अंतिम अनुत्तर के मध्यवर्ती सर्वार्थसिद्ध नामके महाविमानसे ऊपर बारह योजन जाने पर वहाँ ही ४५ लाख योजनके विष्कम्भवाली, (वृत्त होनेसे आयाम भी उतना ही) स्फटिक समान निर्मल, ईषत्प्रागभारा नामकी सिद्धशिला आई है। इस शिलासे ऊपर उत्सेधांगुल प्रमाणवाले एक योजनके अंतमें लोकका अंत आता है, वहाँ तक सिद्धके जीवोंकी स्थिति—अवगाहना है।

विशेषतः ये जीव लोकके अंतभागमें स्पर्शकर रहे हैं, उन जीवोंका कभी पुनरागमन नहीं होता। यह शिला सिद्धभूमि, ईषत्प्रागभारा आदि बारह नामोंसे परिचित स्वेत, सुवर्णमय और कुछ पीतवर्ण संयुक्त, ऊर्ध्व (सीधा) छत्रके आकारमें संस्थित, बीसे भरे कटोरेके समान, प्राण-भूत-जीव-सत्त्वोंको सुख देनेवाली तथा हिम-गौक्षीर जैसी उज्ज्वल है।

अन्य आचार्य सर्वार्थसिद्ध विमानसे बारह योजन दूर (सिद्धशिला नहीं लेकिन) लोकका अन्त है, ऐसा कहते हैं। तत्त्व केवली जानें। [२८०]

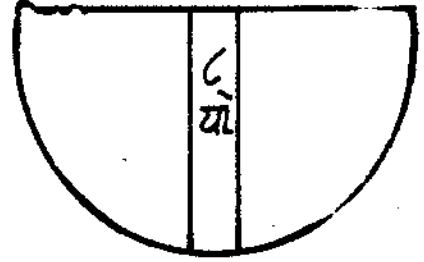
अवतरण—उस सिद्धशिलाकी मोटाई कितनी ? यह कहते हैं ।

बहुमज्जदेसभाए, अट्टेव य जोयणाई बाहल्लं ।

चरिमंतोसु य तणुई, अंगुल संखेज्जई भागं ॥ २८१ ॥

[प्रक्षेपक गाथा ६७]

गाथार्थ—यह सिद्धशिला बराबर मध्यमें, लंबाई चौड़ाईमें आठ योजन जितने घेरेके भागमें ऊपरसे नीचे तक आठ योजन मोटी है । तत्पश्चात् उस मोटाईको सर्व दिशा-विदिशाओं में एक एक प्रदेशमें (और योजनान्तमें अंगुल पृथक्त्व प्रमाण) हीन करते करते यावत् शिलाके अन्तिम भागमें पहुँचने पर अंगुलके असंख्यातवें भाग जितनी पतली हो । अर्थात् मक्खीके पंखसे भी अधिक पतली होती है । ॥ २८१ ॥



विशेषार्थ—सुगम है । [२८१] (क्षेपक गाथा ६७)

अवतरण—सिद्ध हुए जीवोंकी उत्कृष्ट तथा मध्यम अवगाहना कहते हैं ।

तिन्नि संयो तित्तीसा, धणुत्तिभागो य कोसल्लभागो ।

जं परमोगाहोस्यं, तो ते कोसस्स ल्लभागो ॥ २८२ ॥

[प्रक्षेपक गाथा ६८]

गाथार्थ—तीनसौ तैंतीस धनुष और एक धनुषका तीसरा भाग, यह प्रमाण एक कोसके छठे भागरूप होनेसे, दूसरे शब्दमें एक कोसके छठे भागकी सिद्धोंकी उत्कृष्ट अवगाहना है ।

विशेषार्थ—सिद्धगतिमें जानेवाले जीव मनुष्यमवमें उत्कृष्ट से ५०० धनुषकी अवगाहनावाले (अतः अधिक शरीरी नहीं) और जघन्यसे दो हाथकी अवगाहनावाले (अतः न्यून शरीरी नहीं) तथा जघन्यसे आगे और उत्कृष्टसे अर्वाक्-अंदरके सर्व

४१९. यह गाथा संग्रहणी टीकामें दी है । ४२०. कोई उत्कृष्टसे ५२५ धनुष अवगाहना मानता है क्योंकि सिद्धप्राभृतमें भी उ० अवगाहना सिद्धोंकी ५०० धनुष पृथक्त्वमें कही है, वहाँ पृथक्त्व शब्द बाहुल्यवाची होनेसे यहाँ २५ धनुष अधिक गिनते हैं । ४२१. शंका—५०० धनुषकी ही कायावाला मोक्षमें जाए तो ५२५ धनुषकी कायावाली मरुदेवा माता कैसे मोक्षमें गई ?

समाधान—उत्तम संस्थानवाली स्त्रियों के लिए सामान्य स्थिति ऐसी होती है कि वह उस कालके योग्य संस्थानवाले पुरुषसे कुछ न्यून प्रमाणकी होती है । इस हिसाबसे जब मरुदेवाके पति नाभिकुलकर ५२५ धनुष थे, तब मरुदेवा को कुछ न्यून प्रमाण मानें तो ५०० धनुषके ही वास्तवमें समझना चाहिए । दूसरा खुलासा भाष्यकारने यह किया है कि- मोक्षमें गई तब मरुदेवा हाथीके स्कंध पर थी अतः कुछ

मध्यम अवगाहनावाले जीवो कहलाते हैं । सामान्य ऐसा नियम है कि—अन्तिम समयमें मनुष्य के मूलशरीरकी जो अवगाहना हो उसके तीसरे भागकी हीन अवगाहनामें वे जीव मोक्षमें उत्पन्न होते हैं, अतः ५०० धनुषकी उत्कृष्ट कायावाले जीव चौदहवें गुणस्थानकमें—अयोगी अवस्थामें शैलेशीकरणके समय, सूक्ष्मक्रियाअप्रतिपाती ध्यानके बलसे अपने शरीरके मुख—उदरादि सारे पोले भागोंको स्वात्म प्रदेशोंसे पूरा करते हैं । और सर्व आत्म प्रदेशोंको एकत्र करनेपूर्वक प्रदेशघन करनेसे (जो शरीर विस्तृत था, उसके पोले भाग पूरित हो जानेसे तीसरे भागसे हीन हुआ, क्योंकि प्रायः स्वशरीरमें तीसरे भागका पोलापन होता है ।) ५०० धनुषकी कायाका मान तीसरे भागसे हीन होनेसे ३३३ धनुष और एक धनुषका तीसरा भाग—अथवा एक कोसका छठा भाग इतना हुआ । इसी अवगाहनामें ये जीव लोकान्तमें आए सिद्धस्थानमें उत्पन्न होते हैं, अतः इस सिद्धस्थान पर पहुँचने के बादकी परम—उत्कृष्ट अवगाहना एक कोसके छठे भाग (३३३ ध०) की जाने ।

॥ इति उत्कृष्टावगाहना ॥

मध्यमअवगाहना, वह सात हाथके शरीरवाली आत्मा (जिस तरह प्रभु महावीर) सूक्ष्म ध्यान बलसे पूर्वोक्त रीतसे प्रदेशघन करनेपूर्वक तीसरे भागसे हीन होनेसे सिद्धमें उत्पन्न हो तब ४ हाँथ और १६ अंगुली होती है ऐसा शास्त्रमें कहा है । सचमुच तो जघन्यसे आगे और उत्कृष्टसे अर्वाक्, वह सर्व मध्यम अवगाहना ही कहलाती है । फिर भी आगममें निश्चितरूपसे (४ हाथ—१६ अं०) कही है अतः इस प्रकार यहाँ कहा है ।

॥ इति मध्यमावगाहना ॥

सिमटी कायावाली थीं अतः उस समय ५०० धनुष जितनी ऊँचाईवाली थी । [भाष्यकार मत] संग्रहणी वृत्ति (श्री चन्द्रिकाकी गाथा २०७) करने तो स्पष्ट अभिप्राय देते हुए बताया है कि ' आगममें जघन्यमान सात हाथ और उत्कृष्ट पांचसौ धनुष कहा है वह प्रायः वैसा होता है ऐसा समझना लेकिन एकांत नियम न समझना ' अर्थात् जघन्यमें अंगुल पृथक्त्व और उत्कृष्टमें धनुष पृथक्त्वसे न्यूनाधिक भी हो सकता है । और इसके लिए ' सिद्धप्राभृत ' का प्रमाण दिया है ।

सिद्धप्राभृतमें—“...पंचेव धनुसयाहं, धनुहपुहुत्तेण अहिभाइं ” एतत्टीकाव्याख्या च—“ पृथक्त्व शब्दो बहुत्ववाची, बहुत्वं चेह पञ्चविंशतिरूपं द्रष्टव्यमिति ” इससे यह सिद्ध हुआ कि सिद्धप्राभृतकरने पृथक्त्वका अर्थ २५ धनुष अधिक किया है । इस तरह खुलासे किये हैं ।

४२२. इस अवगाहनाको मध्यम अवगाहना कही इसे उपलक्षणवाली जाने अर्थात् जघन्य—उत्कृष्टके बीचकी तमाम अवगाहनाओंका ग्रहण समझ लें । यहाँ शंका उपस्थित होगी कि ऊपर निश्चितरूपसे मध्यम अवगाहनाका प्रमाण कैसे कहा जा सके ? तो खुलासा यह है कि—तीर्थकर जैसे विशिष्ट व्यक्तिको उद्देश्य करके मध्यम अवगाहना बतानेकी इच्छासे यह प्रस्ताव रखना पडा है, परंतु वास्तविक रूपमें वैसा न समझना । अन्य केवलियोंकी अनेक रीतसे अवगाहना हो सकती है ।

वे सिद्ध होनेवाले जीव मृत्युके समय सोते-बैठे-खड़े, सीधे-उलटे या संक्षिप्तमें जिस जिस अवस्थामें रहकर काल पाए, वैसे ही संस्थानमें, उसी आकारमें, सिद्धस्थानमें उत्पन्न होते हैं । साथ ही अंतिम समयमें पोलापन पूरित होनेसे अनिश्चित आकृतिवाला प्रदेशघन होता होनेसे उस संस्थानको (घटाकाशकी तरह) निश्चित नाम दिया नहीं जा सकता, इसीलिए सिद्धके जीवोंको दीर्घ-ह्रस्व संस्थान नहीं है, साथ ही अशरीरी होनेसे वृद्धित्व नहीं है । [२८२] (क्षेपक गाथा ६८)

अवतरण—अब सिद्धोंकी जघन्य अवगाहनाका वर्णन करते हैं ।

एगा य होइ रयणी, अट्टेव य अंगुलेहिं साहीया ।

एसा खलु सिद्धाणं, जहन्न ओगाहणा भणिया ॥ २८३ ॥

(प्रक्षेपक गाथा ६९)

गाथार्थ—एक हाथ और आठ अंगुल अधिक जितनी सिद्धोंकी जघन्य अवगाहना कही है ॥ २८३ ॥

विशेषार्थ—दो हार्थकी कायावाला संसारी जीव पूर्वोक्त गाथामें कहे नियम अनुसार शुधिर भागोंको पूर कर प्रदेशघन करे तब दो हाथका तीसरा भाग हीन होनेसे शेष १ हाथ और ८ अंगुल अवगाहनावाला रहता है । और फिर तुरंत सिद्ध हो तब (तेज अवगाहनामें सिद्धात्माएँ सिद्धस्थानमें उत्पन्न होनेसे) १ हाथ अधिक ८ अंगुल सिद्धोंकी जघन्य अवगाहना निश्चयरूपमें होती है । [२८३] (क्षेपक गाथा ६९)

॥ इति मनुष्याधिकारः समाप्तः, तस्मिन् समाप्ते तस्य अष्टद्वाराण्यपि पूर्णानि ॥

४२३. भिन्न भिन्न आकार ग्रहणमें कारणभूत कर्म है । अब मुक्तिगामी आत्मा कर्महीन हुई होनेसे नया आकार ग्रहण करानेवाली कर्मसामग्री रही नहीं है अतः अंतिमभवमें अन्तसमयमें जिस आकारमें मरे उसी आकारवाले आत्मप्रदेशोंसे सिद्धस्थानमें स्थिर हो जाए । ४२४. कूर्मापुत्रवत् अथवा सात हाथके मानवाले यन्त्रपीलनसे संकुचित हुए हों उनकी ।

सेरिसामंडन श्री लोढण (सेरिसा) पार्श्वनाथाय नमः ।

॥ मनुष्यगतिके अधिकार प्रसंग पर परिशिष्ट सं-९ ॥

इस ग्रन्थमें देव, नरक, मनुष्य और तिर्यच इन चार गति और पंचमगति मोक्षका और उसके लिए उपयोगी अनेक विषयोंका वर्णन किया है, उसमें सर्वप्रथम ऊर्ध्व-अधो-स्थानमें रहे देवलोकका वर्णन किया, जिसमें प्रासंगिक स्वगोल विषयक हकीकत भी बताई । तत्पश्चात् अधोवर्ती देवलोकके साथ ही शुरु हुई नरकगतिका वर्णन भी किया । अब तिच्छालोकवर्ती रही मनुष्यगतिकी कतिपय हकीकतोंका संक्षिप्त वर्णन करनेका है । मनुष्यगतिमेंसे ही किसी भी जीवका मुक्तिगमन होता होनेसे इस मनुष्यगति वर्णन प्रसंगके साथ ही साथ सिद्धशिला और मुक्तात्मा विषयक हकीकत भी दसवें परिशिष्ट द्वारा कहेंगे ।

अगरचे मनुष्यगति विषयक हकीकत जीवविचार, दंडक प्रकरणमें आ ही गई है और इस ग्रन्थका अध्ययन इन ग्रन्थोंके अध्ययनके बाद ही (प्रायः) होता होनेसे उस हकीकतको पुनः बतानेकी ज्यादा अगत्य नहीं है, लेकिन शायद कोई सीधे ही इस ग्रन्थके अध्ययन करनेवाले जैन-जैनेतर व्यक्तियोंके लिए उसका पुनरावलोकन करना समुचित मानकर संक्षिप्त जरूरी समालोचना कर लें ।

प्रथम तो बौद्ध राजलोक प्रमाण गिनी जाती विराट दुनियामें सबसे कम निवास-क्षेत्र मनुष्योंका है । अर्थात् वे तिच्छालोक पर रहे असंख्य द्वीप-समुद्रमेंसे सिर्फ अटार्ई-द्वीप क्षेत्रमें ही रहे हैं, जिसके अंदर हम भी रहते हैं वह जंबूद्वीप, (लवणसमुद्रके बादका) वृसरा धातकीखंड द्वीप और तत्पश्चात् (कालोदधिसमुद्रके बाद आए पुष्करवरद्वीपका अर्ध भाग होनेसे) अर्धपुष्करद्वीप- इस तरह अटार्ईद्वीप जितनी ही जगह मनुष्योंके रहनेके लिए हैं । जंबूद्वीप १ लाख योजनका और तत्पश्चात् आए एक एक समुद्र-द्वीपद्विगुण-द्विगुण प्रमाणवाले हैं ।

इस अटार्ईद्वीपमें बसते मनुष्य दो प्रकारके हैं । १. आर्य और २. म्लेच्छ । आर्य कर्मभूमिमें उत्पन्न होते हैं तथा अनार्य अकर्मभूमि और अन्तर्द्वीपमें उत्पन्न होते हैं ।

कर्मभूमि—अर्थात् जहाँ कर्म कहलाते क्रिया-व्यापार वर्तित हों, अस्ति, मसी, कृषि अर्थात् शस्त्र, विद्या, कला, शिल्प, कृषि आदिकी अनेक प्रवृत्तियाँ चलती हों, तथा ज्ञान और चारित्रकी जहाँ उपासनाएँ होती हों वे । ऐसी भूमियाँ कुल पंद्रह हैं । जिनमें पांच भरत क्षेत्रों, पांच ऐरवत क्षेत्रों और पांच महाविदेह क्षेत्रोंका समावेश है । जंबूद्वीपमें एक भरत, एक ऐरवत और एक ही महाविदेह है । जबकि धातकी खंड और अर्धपुष्कर, ये द्वीप तो बलयाकार होनेसे दोनों बाजू पर उन क्षेत्रोंका स्थान होनेसे, एक ही नामके दोनों बाजूके होकर दो दो क्षेत्र रहे हैं ।

अकर्मभूमि—कैसे कहा जाए ? कर्मभूमिसे विपरीत अर्थात् जहाँ अस्ति, मसी, कृषि आदि किसी भी प्रकारकी क्रिया या व्यापार सर्वथा नहीं है, साथ ही श्रुत और चारित्र धर्मकी भी प्राप्ति नहीं है और जहाँ आर्योंसे भिन्न अनार्यों-म्लेच्छोंका निवास होता है वह । इस भूमिमें उत्पन्न होनेवाले युगलिक ही होते हैं । अतः वे भोगभूमि अथवा युगलिक

(जुगलीआ) क्षेत्रोंके रूपमें प्रचलित हैं। युगलिक अर्थात् युगलरूपमें जो जन्म लें और तत्भूमि योग्य व्यवहार करें वे। इस भूमिकी स्त्रियाँ मृत्युके लिए छः मास शेष रहें तब एक ही बार प्रसूता होती हैं। और उस समय नर-नारीका एक ही युगल प्रसूत होता है। और वही बड़ा होने पर पति-पत्नी बनता है। इस भूमिका ऐसा ही परापूर्वसे व्यवहार प्रवर्तमान है। इस भूमिमें दस प्रकारके कल्पवृक्ष हैं। और वे वृक्ष ही युगलिकोंकी इच्छा अनुसार पहनने-ओढ़ने, खाने-पीने, सोने-बैठने, प्रकाश-संगीत आदि भोग उपभोगके सारे साधन देते हैं; जिससे जो परम आनंदमें समय बिताते हैं। दूसरा कोई वहाँ उद्यम नहीं है। वहाँ क्लेश-कलह जैसा कुछ भी नहीं होता। बाह्यदृष्टिसे वे सब तरह सुखी होते हैं। तीव्र राग-द्वेष न होनेसे इस युगलिक मनुष्यको कर्म बंध कम होता है। युगलिक मरकर देवगतिमें ही जाते हैं।

तीस अकर्मभूमि कौनसी? —तो अढाईद्वीपवर्ती, पांच हैमवंत, पांच हरिवर्ष और पांच देवकुरु, पांच उत्तरकुरु, पांच रभ्यक, पांच हैरण्यवंत ये सब क्षेत्र मिलकर तीस होते हैं।

छप्पन अन्तर्द्वीपके मनुष्य- जंबूद्वीपके भरतक्षेत्रकी उत्तरमें आप हिमवंत पर्वतके पूर्व-पश्चिम छोर लवण समुद्रमें विस्तारित हैं। हरेक छोर दंतुशलके आकारमें उत्तर-दक्षिणकी तरफ विस्तृत होकर रहे हैं जिन्हें (दंष्ट्राप) 'दाढ़ें' कहा जाता है। इसी तरह ऐरवत क्षेत्रकी दक्षिणमें शिखरी पर्वतके दोनों छोर समुद्रमें गप हैं और उनके दोनों छोरमेंसे दो दो 'दाढ़ें' निकली हैं। इस तरह एक पर्वतकी चार दाढ़ोंके हिसाबसे दो पर्वतोंकी आठ दाढ़ें हुई, हरेक दाढ़ पर सात सात अंतर्द्वीपो हैं। आठ दाढ़ोंके मिलकर ५६ अन्तर्द्वीप होते हैं। तमाम द्वीपोंमें अकर्मभूमिकी तरफ युगलिक मनुष्य ही बसते हैं।

इस तरह कर्मभूमि १५, अकर्मभूमि ३०, अन्तर्द्वीप ५६ इन तीनों मनुष्य क्षेत्रोंका जोड़ १०१ होता है। इतने भेद मनुष्यके हुए। इन क्षेत्रोंमें ही मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य गर्भज तथा संमूर्च्छिम इस तरह दो प्रकारके होते हैं। साथ ही गर्भज पर्याप्ता और अपर्याप्ता दो प्रकारके हैं और संमूर्च्छिम मात्र अपर्याप्ता ही होते हैं क्योंकि वे अपर्याप्ता ही मृत्यु पाते हैं। इससे १०१ गर्भज पर्याप्ता और अपर्याप्ता मिलकर २०२ भेदो और संमूर्च्छिमके १०१ भेदो मिलकर ३०३ भेदो होते हैं।

संमूर्च्छिम मनुष्य गर्भज मनुष्यके विद्या, मूत्र, बलगम, नासिकाका मैल, वमन, मवाद, स्तन, वीर्य आदि चौदह अशुचि स्थानकों में उत्पन्न होते हैं।

समाप्तं नवमं परिशिष्टम् ।

॥ सिद्ध, उनका स्थान और परिस्थिति विषयक परिशिष्ट सं. १० ॥

जैन शास्त्रमान्य चौदह राजप्रमाण विश्वमें अनंतानंत जीवात्माएँ हैं । चैतन्य स्वरूपमें वे सब समान हैं । अनंता जीवोंको सुविधाके लिए शास्त्रकारोंने दो विभागोंमें बाँट डाला है । १. संसारी २. सिद्ध । इनमें एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके देव, नरक, मनुष्य और तिर्यच इन चार गतिमें वर्तित जीव 'संसारी' कहलाते हैं । द्रव्यबंध और भावबंधसे होता अन्य जन्मोंका संसरण-भ्रमण शेष होनेसे उन्हें 'संसारी' रूपमें पहचाना जाता है । इन जीवोंके ५६३ भेद हैं । इन भेद-प्रभेदोंकी गिनती किस तरह है । इसे 'जीवविचार' नामके प्रकरण ग्रन्थसे अभ्यासियोंको जानना योग्य है ।

दूसरे प्रकारमें आते हैं 'सिद्ध' । जैसे संसारी, ये भी जीव हैं उसी तरह सिद्ध भी जीव ही है । यहाँ शंका जरूर हो सकती है कि, संसारी जीवोंके तो इन्द्रियादि दस प्राण हैं लेकिन सिद्धोंके तो 'सिद्धाणं नत्थि देहो, न आउ कम्मं न पाणजोणिओ' इस कथनानुसार इन्हें प्राण हैं ही नहीं फिर उन्हें जीव कैसे कहे जाएँ ?

क्योंकि जीवकी व्याख्या 'जीवति प्राणान् धारयतीति जीवः' । जो प्राणोंको धारण करता है वह जीव । जबकि यहाँ पर तो एक भी प्राण नहीं है तो क्या समझना ? इसका समाधान यह है कि, 'प्राणको जो धारण करे वह जीव' इसमें प्राणके आगे कोई भी विशेषण नहीं रक्खा गया, अतः यहाँ प्राणोंसे बाह्य दस प्राणोंको ही समझना नहीं है परंतु प्राण तो दो प्रकारके हैं । १. द्रव्यप्राण २. भावप्राण । पाँच इन्द्रियोंके पाँच प्राण, मनःप्राण, वचनप्राण, कायप्राण, भाषाप्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण ये दस-द्रव्य या बाह्य प्राण हैं, और ज्ञानप्राण, दर्शनप्राण और चरित्रप्राण ये तीन भावप्राण हैं । कर्मसंगजन्य द्रव्यप्राण भले ही सिद्धोंके नहीं है, परंतु कर्मसंगके अभावमें संपूर्णतया प्रकट हुए भावप्राण तो जरूर है ही, भावप्राण ही सच्चा चैतन्य है । इस तरह संसारी और सिद्ध दोनों प्राण धारण करनेवाले हैं ।

अब सिद्ध अथवा मोक्ष कब और कैसे हो अथवा मोक्ष किसे कहा जाए ? इसके लिये उसकी पूर्वभूमिका समझानी जरूरी है ।

जगतमें जीवो अनंता हैं अतः उन जीवोंकी कर्म-प्रवृत्तियोंके प्रकारो भी अनंता है । उनके असरो असंख्याती हैं, परंतु उन असंख्य अनंतकी अनंत व्याख्याएँ क्या कम हो सकती हैं ? अतः उन तमाम प्रवृत्तियोंका विभाजन करके उन कर्मोंको आठ प्रकारमें बाँटे गये हैं ।

(१) विशेष-ज्ञान-बोधगुणका आवरण करे वह ज्ञानावरणकर्म । (२) सामान्यज्ञान-बोधको आच्छादित करे वह दर्शनावरण । (३) सुख या दुःखका अनुभव करावे वह वेदनीय । (४) आत्माको मोह-असमंजस, व्यथा, विकलताएँ पैदा करावे वह मोहनीय ।

(५) भवधारण स्थिति-मर्यादा उपस्थित करावे वह आयुष्य । (६) अलग अलग गति, जाति, विविध शरीर आदिका निर्माण करनेवाला नामकर्म । (७) उच्च और नीचका व्यवहार उत्पन्न करनेवाला गोत्रकर्म । (८) लेन-देनमें या वस्तुके उपभोगमें या शक्तिके उपयोगमें विघ्न करनेवाला अंतरायकर्म ।

इन अष्टकर्मोंमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये कर्म घाती हैं; शेष चार अघाती हैं। 'घाती' अर्थात् आत्माके ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यादिक मूलगुणोंका घात करे वह घाती और जो मूलगुणोंका नाश न करे वह 'अघाती' रूपमें पहचाना जाता है। आठों कर्मोंमें राजा, सेनापति या सरदारका स्थान रखनेवाला मोहनीय कर्म है। संग्राममें सेनापतिकी पराजय न हो तब तक शेष लश्कर जीता नहीं जा सकता, वैसे यहाँ भी कर्म शत्रुके साथके संग्राममें मोह महाराजा या सेनापतिकी पराजय न हो तब तक शेष सातों कर्मोंका बल नहीं टूटता। सेनापतिकी मृत्यु होने पर या शरणमें आने पर, लश्कर अपने आप भाग जाय या शरणमें आवे, वैसे मोह सेनापति पर विजय होनेसे शेष सातों कर्म स्वयं शीघ्र पराजित हो जाते हैं। दूसरी तरहसे मोहनीयको शरीरकी धोरी नसकी भी उपमा दी जा सके। वो टूटने पर मनुष्यकी मृत्यु जल्दी हो जाती है।

ऊपरकी भूमिका इसलिए की कि- यहाँ 'मोक्ष' तत्त्व और उसकी प्राप्तिके लिए बात करनेकी है, यह मोक्ष प्राप्ति उसे ही होती है जिसे केवलज्ञान-सर्वज्ञत्व और केवल-दर्शन-सर्वदर्शित्व प्राप्त हुआ हो। क्योंकि प्राप्तिके पहले इन दोनोंकी जरूरत अनिवार्य मानी गई है। और यह केवलज्ञान तथा केवलदर्शन तब हो सकता है, जब उनके प्रति-बंधक स्वरूप चार घातीकर्मोंका नाश हो।

यहाँ एक वस्तु समझ लेना जरूरी है कि इस विश्वमें जैन परिभाषामें 'कर्मण वर्गणा' के नामसे परिचित अनंतानंत जड परमाणु-पुद्गलो सर्वत्र ठांस ठांस कर भरे पड़े हैं। ये परमाणु हमारे दृश्य चक्षुसे अदृश्य होते हैं। हम देख नहीं सकते। प्रत्येक आत्मा क्षण क्षण पर (१) मिथ्यादर्शन (असत्, विचार-श्रद्धा), (२) अविरति (अत्याग), (३) प्रमाद, ४ कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) और (५) योग, (मन-वचन-काय) कर्म बंधन, इन पांच हेतुओं द्वारा जब जब शुभ या अशुभ प्रवृत्ति करती है उसी समय आत्मा उक्त कर्मण वर्गणाके पुद्गलों अपनी तरफ खिंचती है और उसी समय (उन अणुओंमें कर्म परिणाम उपस्थित होता है।) उन परमाणुओंका आत्मप्रदेशोंके साथ मिलन होता है, जिस समय मिलन हुआ उसी समय उन अणुओंमें शुभाशुभ फल, उसे देनेकी समय-मर्यादा आदि साथ ही साथ निश्चित हो जाता है। इस तरह कर्मका बंध होता है।

जबकि उससे प्रतिपक्षी सम्यक् दर्शन, विरति (त्याग), अप्रमाद, कषायत्याग (क्षमा, नम्रता, सरलता और संतोष) इत्यादि हेतुओंसे कर्मबंधके हेतुओंका अभाव होनेसे नवीन कर्मबंध होना बंद हो जाता है।

यहाँ साधक आत्माके लिए साधनक्रम ऐसा है कि, प्रथम तो उसे प्रतिक्षण आत्मामें आते हुए कर्मोंको रोकनेका कार्य करना पड़ता है इसके लिए ऊपर कहे गए प्रतिपक्षी चारित्र्यादिक गुणों के द्वारा कर्मका संवरण-रुकावट कर दे। इस तरह नयोंको तो रोके। अब क्या करना? तो अब सत्तामें रहे पूर्वसंचित अनंतकर्मों हैं उनकी तप-स्वाध्याय-ध्यानादिक

द्वारा निर्जरा-क्षय कर डालते हैं। इस तरह बंधे कर्मोंको नष्ट करनेकी सामान्य स्थूल प्रक्रिया समझाई।

इसी तरह सर्वज्ञ होनेवाली आत्मा आठ कर्मोंमेंसे चार घाती कर्मोंके बंद-हेतुओंका अभाव और निर्जरा इन दो पुरुषार्थ द्वारा सामान्य नहीं लेकिन आत्यन्तिक क्षय कर देता है।

इन चारमें ऊपर कहा गया वैसे मोह सबसे अधिक बलवान कर्म है। अतः सबसे प्रथम उसका सर्वथा विनाश हो। तत्पश्चात् ही शेष घातीकर्मोंका नाश शक्य और सुलभ बन जाता है। अतः साधक प्रथम अध्यवसायोंके ऊर्ध्वमान विशुद्ध परिणामसे, राग-द्वेषादि स्वरूप मोह योद्धेको सख्त शिकस्त-पराजय देकर* पश्चात् अंतर्मुहूर्त्तमें ही शेष तीन घाती कर्मोंका शीघ्र सर्वथा नाश करता है। अर्थात् आत्मप्रदेशमेंसे हमेशाके लिए विदाय लेते हैं। प्रतिबंधकोंके कारण नष्ट होते ही उस उस कार्यरूप आवरण भी नष्ट हुए और उसी समय विश्वके त्रैकालिक समस्त द्रव्य पदार्थ और उनके पर्याय अवस्थाओंको आत्मसाक्षात् करनेवाले अथवा प्रकाश फैलानेवाले अनंत ऐसे केवलज्ञान-केवलदर्शन, दूसरे शब्दोंमें सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्वको प्राप्त करते हैं।

इतनी सीमा पर पहुँचने पर भी अभी जीवको मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ, क्योंकि आठमेंसे चार घाती कर्म नष्ट हुए लेकिन वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र इन चार कर्मोंका उदय चालू है और 'मोक्ष' तो संपूर्ण कर्मके क्षयको ही कहा जाता है, जिसे आत्यन्तिक कर्मक्षय कहना है। सामान्यतः तो प्रतिसमय नये नये कर्मोंका बंध और बद्धकर्मका अनेकशः क्षय तो हुआ ही करता है। लेकिन नवीन कर्मबंधको रोके बिना अनुदयमान सत्तागत पडे पुराने कर्मों का सर्वथा क्षय अशक्य होनेसे, आत्यन्तिक क्षयकी योग्यता अभी उपस्थित ही नहीं हुई और मोक्ष प्राप्ति तो कृत्स्नकर्मके क्षयके बिना शक्य ही नहीं है। अर्थात् उदयमान, अनुदयमान कर्मकी निर्जरा और नये कर्म बांधनेकी योग्यताका अभाव होना चाहिए। यहाँ सर्वज्ञत्व और वीतरागत्व दोनों वर्त्तमान हैं फिर भी चार पंगु अघाती कर्म जिनसे आत्मा देहके द्वारा अन्यान्य प्रवृत्तियाँ कर सकती है वह तो विद्यमान है अतः उन कर्मोंका भी आत्यन्तिक क्षय जब कर डालती है अर्थात् आठों कर्म आत्मप्रदेशोंमेंसे सर्वथा क्षीण हो जायँ तब ही 'संपूर्ण कर्मक्षय' हुआ कहा जाए। आगे किसी कालमें नया कर्म बंधन होनेवाला नहीं है अतः संसार नहीं है। संसार नहीं है अतः 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' की परंपरा भी नहीं है।

जिस तरह बीजके जल जानेसे अंकुर नहीं उगता उसी तरह कर्मबीज जल जानेसे जन्मांकुर नहीं उगता। जैसे दग्ध काष्ठकी अग्नि उपादान कारणरूप काष्ठसमूहके अभावमें स्वयमेव निर्वाण पाता है, उसी तरह सर्व कर्मके क्षयसे कर्मरूप काष्ठसमूहके अभावमें वह आत्मा स्वयमेव निर्वाण (मुक्ति) पाती है।

सर्व कर्मसे मुक्त होनेपर आत्माके अन्तिम समयका कर्म जिस समय क्षीण हो, उसीके साथ उस देहमेंसे आत्मा निकल जाती है। अन्तिम प्रस्तुत शरीरका त्याग करता है। जिस आकाशप्रदेश पर रहकर मृत्यु हुई उस प्रदेशकी समश्रेणीमें ही सीधा ही चौदह राजलोकके ऊर्ध्वभागमें अन्तिम स्थल पर वर्त्तित सिद्धशिला पर आप लोकान्तमें जहाँ

* यहाँ तक आत्मा सिर्फ उच्चस्थ वीतराग दशावाला है, अभी सर्वज्ञ नहीं हुआ।

अनंतानंत सिद्धात्मा रहते हैं, वहाँ उत्पन्न हो जाती है और वहाँ सदा ही-अक्षय-अचल-अव्याबाध अनंत सुखकी भोक्ता बन जाती है ।

आत्मागत जन्मके मृत्यु स्थानसे ऊर्ध्वलोकान्तमें जब गति करती है तब एक साथ एक ही समय पर तीन कार्य होते हैं । १. शरीरका वियोग, २. सिद्धयमानगति और ३. लोकान्त प्राप्ति । यह एक असाधारण घटना है, तथा चिंतनीय ऐसी वैज्ञानिक रहस्यपूर्ण है ।

औदारिक शरीरका वियोग होने पर आत्मा विदेही-अदेही बनती है, इससे अनादि-कालके अनर्थकारक देहसंगसे छूटनेसे हमेशाके लिए दुःखमुक्त बनता है ।

इस ऊर्ध्वगतिको सिद्धयमानगति कही है । यह गति ऊर्ध्व ही कैसे हो ? इसके लिए क्या हेतु हैं ये दृष्टांतके साथ शास्त्रमें दिये हैं ।

सिद्धयमानगतिके चार हेतु—

१. पूर्वप्रयोग हेतु, २. असंग हेतु, ३. बन्धलेद हेतु ४. ऊर्ध्वगौरव हेतु ।

पूर्वप्रयोग हेतु दृष्टान्त—पूर्वबद्ध कर्म छूट जानेके बाद भी, उस कर्मके छूटने पर आया वेग-आवेश अथवा आगेके कार्यमें सहायक होनेवाली पूर्वकी क्रिया वह । यहाँ इसे समझने कुम्हारके चक्रका दृष्टांत उपयोगी है । जिस तरह कुम्हार हाथमें रखी लकड़ीसे चक्र-चाक घुमाता है और फिर उस लकड़ी और हाथ दोनोंको उठा लेता है । लेकिन इस पूर्व क्रिया-प्रयत्नसे जो वेग आता है उसके बलसे चाक जैसे स्वतः घूमता है, वैसे सर्वथा कर्ममुक्त बना जीव भी पूर्व कर्म-संस्कार जनित आवेगके कारण स्वस्वभावानुसार ऊर्ध्वगति ही करता है और उस गतिका कार्य लोकान्तमें पहुँचते ही पूर्ण होता है, क्योंकि उससे आगे अलोक है, और वहाँ धर्मास्तिकायके^{४२५} अभावमें जीव या पुद्गल किसीकी गति नहीं होती । प्रथम हेतु पूर्वप्रयोग दृष्टांतसे^{४२६} समझाया ।

२. असंग हेतु दृष्टांत—इसमें प्रसिद्ध तुम्बेका दृष्टांत दिया जाता है । जिस तरह घास-मिट्टीके अनेक थरो-लेपो चढाकर भारी बना, पानीमें डुबोया, तुम्बा लेपके भारसे पानीमें ही तलमें नीचे पडा रहता है लेकिन जब उसके परके माटीके थर-लेप पानीके संसर्गसे जब संपूर्णतः धुलकर-साफ हो जाते हैं तब तत्क्षण तुम्बा अपनी सतह पर ही रहनेके स्वभावसे पानी पर तैर आता है । आठ प्रकारकी कर्मरूप माटी के थरों या लेपोंसे

४२५. यह कहनेका कारण यह है कि लोकके बाद उसके आसपास अलोक है और उसमें जीवाजीवादि छः द्रव्योंमेंसे मात्र एक आकाश द्रव्य ही है । शेष पांचमेंसे एक भी द्रव्य नहीं है, अतः गति या स्थिति सहायक धर्मास्तिकाय या अधर्मास्तिकायके अभावमें एक प्रदेश जितनी भी गति अलोकमें संभवित नहीं है । बिल्कुल निर्जीव प्रदेश है और वह विश्व-मूलक चौदह राजलोकसे अनंत गुण है । ४२६. इस पूर्व प्रयोगमें हिंडोले (झूले) और बाण प्रयोगके भी दृष्टांत दिये जाते हैं । हिंडोलेको हाथ या पैरसे पीछे धकेलकर फिर हाथ पैरका प्रयत्न बंद हो जाए तो भी किये हुए पूर्व प्रयत्नके बलसे वह झूला फिरसे आगे धँस जाता है इस प्रकार यहाँ समझना । घनुर्धारी बाणको इष्ट स्थान पर पहुँचाने प्रथम पीछे खिंचनेका प्रयोग करके फिर बाण छोड़ता है, तब पीछे खिंचनेके प्रयत्नका अवलंबन लेकर आगे लक्ष्यस्थानमें पहुँच जाता है, इस प्रकार समझना ।

ल्लित जीव संसार रूप जलमें डुबा रहता है, परंतु सम्यग्दर्शनादिके रत्नत्रयी रूप जलके संसर्गसे प्रतिबंधक कर्मरूपी माटी द्रव्यका संग दूर होते ही ऊर्ध्वगति करता है ।

३. बन्धछेद हेतु—बन्धनके छेदसे समझाया जाता दृष्टांत बन्धछेद हेतु है । जिस तरह परंडके कोश-संपुट-(फली)में रहा परंडबीज^{४२७} आतापके-शोषणादिक हेतुसे, बन्ध संपुटका उच्छेद होते ही ऊर्ध्व उड़कर, शीघ्र बाहर निकलकर दूर पड़ता है, उसी तरह अहिंसा, संयम, तपादिकके उच्च धर्माचरणसे कर्मरूपी बन्धन छिद जाने पर मुक्तिगामी आत्माकी भी उसी प्रकार सहसा ऊर्ध्वगति ही होती है ।

इस तरह होने पर आत्मा अपने असल घरमें जा पहुँचती है और फिर कभी घर बदलनेका रहता ही नहीं है और वहाँ अनंतकाल तक, अनंत सुखोंका उपभोग करता है ।

४. ऊर्ध्वगौरव अथवा तथागति परिणामहेतु-जीव तथा पुद्गल ये दोनों द्रव्य स्वाभाविक तौर पर गतिशील हैं । दोनोंमें फर्क इतना ही है कि-जीव ऊर्ध्वगौरवधर्मा (अर्थात् ऊँचे जानेके स्वभाववाले) तथा पुद्गल स्वभावसे ही अधोगौरवधर्मा (नीचे जानेके या तिर्यक् जानेके स्वभाववाले) हैं । जिस तरह पाषाणकी अधोगति, वायुकी तिर्यक्-गति तथा अग्निज्वालाकी ऊर्ध्वगति स्वभावसे ही साहजिक है उस तरह इन जीवोंकी ऊर्ध्वगति स्वभावसे ही है, फिर भी इनका गतिवैकृत्य अर्थात् कभी गति न करनी, टेढा-मेढा-तिरछा परिभ्रमण जो कुछ देखा जाता है वह प्रतिबन्धक कर्मद्रव्यके संगके कारण और अन्यकी प्रेरणासे ही । तात्पर्य यह हुआ कि-कर्मजन्यगति ऊर्ध्व, अधो, तिर्यक् तीनों रीतसे होती है और कर्मरहित मुक्तात्माकी सिर्फ ऊर्ध्वगति ही हो सकती है, दूसरी नहीं ही । तब जीवके ऊर्ध्वगमनका साहजिक स्वभाव यह चौथा हेतु हुआ ।

चारित्रवान ऐसे मुनिमहात्माकी आत्मा मोक्षमें जाते वक्त^{४२८} सर्वांगसे निकलती है ।

देहमेंसे आत्मा निकलकर मोक्षमें जाए तब^{४२९} अस्पृशद्गतिसे अर्थात् बीचके या आग्वाज्जके किसी भी आकाश प्रदेशोंको स्पर्श किये बिना ही ऋजुगतिसे सीधा ही एक समय पर मोक्षमें जाता है क्योंकि तब ही एक समयमें सिद्ध हो सके ।

जहाँ एक सिद्ध है वहीं अनंत सिद्ध हैं ।

सामान्यतः सिद्धके संस्थान नहीं हो सकता तो भी पूर्वभव की अपेक्षासे औपाधिक आकारका स्थूलसे व्यपदेश किया जा सकता है । अरूपी द्रव्य होनेसे वास्तविक रूपमें नहीं ही ।

सिद्ध आत्माके अष्टकर्म क्षय होनेसे अष्ट महागुणोंकी प्राप्ति होती है । इनमें १. ज्ञानावरणीय कर्मक्षयसे अनन्तज्ञान । २. दर्शनावरणीय कर्मक्षयसे अनन्तदर्शन । ३. वेदनीय कर्मक्षयसे अनन्तसुख । ४. मोहनीय कर्मक्षयसे शुद्ध क्षायिक सभ्यकत्व तथा क्षायिक चारित्र । ५. आयुष्य कर्मक्षयसे अक्षयस्थिति । ६. नामकर्मक्षयसे अरूपीपन । ७. गोत्रकर्मक्षयसे अनन्त अवगाहना । ८ अंतराय कर्मके क्षयसे अनन्तवीर्यशक्ति ।

४२७. यहाँ यन्त्रबन्धन, काष्ठ और पैडाच्छेदका दृष्टांत भी घटाते हैं । ४२८. मृत्युकाल पर तमाम आत्मप्रदेशों फामें जमा हो जाते हैं और अंतमें वहाँसे आत्मा निकले तो नरकमें, जंघासे निकले तो तिर्यक् योनिमें, छातीसे निकले तो मनुष्यमें, मस्तकमेंसे निकले तो देवगतिमें जाता है । [—स्थानांग सूत्र. ५.]

४२९. यहाँ उववाई, महाभाष्य और पंचसंग्रहकी वृत्तिके प्रतांतर भी हैं ।

सिद्ध होने पहलेकी (अंतिम भवकी) अवस्थाको उद्देशित करके सिद्धके पंद्रह प्रसिद्ध भेदो हैं, जो नवतत्त्वप्रकरण में आ गये हैं । १. जिनसिद्ध (तीर्थंकर रूपमें सिद्ध होता है) २. अजिनसिद्ध (तीर्थंकर पद रहित) ३. तीर्थसिद्ध (तीर्थ स्थापनाके बाद जानेवाले) ४. अतीर्थसिद्ध (तीर्थ स्थापनाके पहले जानेवाले) ५. गृहलिंगसिद्ध (गृहस्थ वेषमें मोक्षमें जानेवाले) ६. अन्यलिंगसिद्ध (४३° संन्यासी, तापसादि अतीतके वेषमें रहकर मुक्तिमें जानेवाले) ७. स्वलिंगसिद्ध (जैन मुनिके वेषमें ही जानेवाले) ८. खोलिंगसिद्ध (खीजातिके चिह्नवाले देहसे मोक्षमें जानेवाले) ९. पुरुषलिंगसिद्ध (पुरुषके चिह्नवाले देहसे जानेवाले) १०. नपुंसकलिंगसिद्ध (नपुंसकसूचक देहाकृतिसे मोक्षमें जानेवाले) ११. प्रत्येकबुद्धसिद्ध (गुरुके उपदेशके बिना वैरागका कोई निमित्त पाकर संजम लेकर मोक्षमें जानेवाले) १२. स्वयंबुद्धसिद्ध (गुरु उपदेशके बिना भी स्वकर्म कमजोर पड़ते ही वैराग्योद्भव होनेसे दीक्षा लेकर मोक्षमें जानेवाले) १३. बुद्धबोधिसिद्ध (गुरुका वैराग्योपदेश पाकर संजम लेकर मुक्तिमें जानेवाले) १४. एकसिद्ध (एक समयमें एक ही मोक्षमें जाँ वे) और १५. अनेकसिद्ध (एक समयमें अनेक मोक्षमें जाँ वे) इन भेदोंको संक्षिप्त भी किये जा सकते हैं ।

जो मनुष्य गतिशील, पंचेन्द्रिय, त्रस, भव्य, संज्ञी, यथाख्यात चारित्र्यी, क्षायिक सम्यक्त्वी, अनाहारी, केवलज्ञान तथा केषलदर्शनी हो वही मोक्षमें जा सकता है । अर्थात् कथित मार्गणामेंसे ही मोक्ष होता है ।

समय समय पर मुक्तिगमन चालू ही होनेसे सिद्धके जीवो अनन्ता हैं । वे लोकके असंख्यातत्रे अर्थात् पहले कहा है वैसे सिद्धशिला पर १ कोसके छठे भाग जितने आकाशक्षेत्रमें रहते हैं ।

ये सब आत्माएँ समान सतह पर उपरसे लोकान्तको स्पर्श करके रही हैं, लेकिन हरेक आत्माके आत्मप्रदेश लंबाईमें समान रूपमें सज्ज नहीं होते परंतु ऊँची नीची भवगाहना पर रहे होते हैं । अतः ऊपरसे समान दीखे लेकिन नीचेके भागमें समान पंक्तिमें न हों ।

ये जीव विषमावगाही-समावगाही होनेसे ज्योतिमें ज्योति मिल जाए इस तरह परस्पर अन्तर बिना ध्याप्त होकर रहे हैं, अतः जहाँ एक सिद्ध है वहीं दूसरे अनंत सिद्ध हैं ।

सिद्ध होनेके बाद उन्हें मृत्यु या जन्म कुछ भी नहीं होता । शाश्वत काल वहीं रहनेवाले हैं, जो बात पहले बताई गई है ।

साथ ही सिद्धके जीव अयोगी, अलेशी, अकषायी, अवेदी है ।

सिद्धोंका सुख कितना है ?

सिद्ध परमात्माओंका जो सुख है वैसा सुख देव या मनुष्यको कदापि होता ही नहीं । देव, मानवके सुख अपूर्ण, अशाश्वत तथा दुःखमिश्रित हैं जबकि मुक्तिका सुख संपूर्ण, शाश्वत तथा दुःखके मिश्रण रहित अखंड-अमिश्रित सुख है । इस सुखका प्रमाण समझानेके लिए शास्त्रमें उदाहरण दिया है कि-तीनों कालमें उत्पन्न हुए चारों निकायके देव जो सुख भोग गये उसका, वर्तमानमें भोग रहे हैं उसका तथा भविष्यमें भोगेंगे उसका जोड़ करने पर अनंत प्रमाणका सुख होता है । इस अनंत सुखको एकत्र करके अनंत वर्गोंसे वर्गित-गुणित किया जाने पर भी मोक्ष सुखके प्रमाणकी तुलनाके पात्र नहीं होता ।

इस सुखकी अनिर्वचनीय अपूर्वमधुरताको ज्ञानसे जानने पर भी वे-जिस तरह मृगा आदमी गुड़ आदि मधुर पदार्थकी मिठासको नहीं कह सकता उसी तरह नहीं कह सकते। जैसे कोई ग्रामीण जन, राजवैभवके सुखका उपभोग करनेके बाद अपने गाँवमें जाए और भोगा हुआ सुख कैसा था ? ऐसा किसीके पूछने पर गाँवमें प्रस्तुत सुखकी उपमा दी जा सके वसी वस्तु के अभावमें कहनेकी इच्छा होने पर भी उदाहरण देकर भी समझाया न जा सके ऐसा इस सुखके बारेमें है। सिद्ध जैसा सुख दूसरे किसी स्थान पर है नहीं, अतः फिर किसकी उपमा दी जा सके।

प्रश्न—मोक्षमें कंचन, कामिनी, वैभवविलास, खानापीना आदिका कुछ भी सुख नहीं है, तो फिर वहाँका सुख अनन्त कहा जाए तथा उस सुखको असाधारण विशेषणोंसे अलंकृत किया जाए, तो यह कथन बराबर होगा क्या ?

उत्तर—हाँ, ज्ञानियोंका कथन संपूर्ण सच है। संसारके पौद्गलिक-मायावी सुख तो क्षणिक, दुःखमिश्रित तथा नश्वर है। साथ ही सुख तो कर्मोदय जन्य है। कर्मके उदयसे भूख लगती है, काम-भोगोंकी इच्छा होती है और अंतमें उसका उपभोग होता है। लेकिन जिसके ये कर्म ही क्षीण हो गये हों उसे संसारके कामभोगोंमें क्या आनन्द आने-वाला था ? अर्थात् कुछ भी नहीं। संसारके तमाम पदार्थों स्त्री-पुत्र, धन, आवास, अन्न यह सब कब तक मीठा लगता है ? जब तक वे अनुकूल रहे, सुखके कारणभूत रहें तब तक, लेकिन जब वे दुःखोंके कारणभूत बन जाए तब वे सुख ही कटु लगते हैं। तब हुआ क्या कि इन्द्रियजन्य पौद्गलिक भाव के सुख सच्चे सुख ही नहीं हैं। परंतु आत्मासे उत्पन्न हुआ सम्यग् ज्ञानादि रत्नत्रयीजन्य सुख ही सच्चा सुख है। पौद्गलिक सुख पर पदार्थजन्य है इसीलिए वह स्वाधीन सुख नहीं है। आत्मिक सुख स्वजन्य है, अतः अंतरके आनंदमेंसे उत्पन्न होनेवाला है अतः स्वाधीन सुख है, सिद्धात्माओंको स्वज्ञानसे देखनेमें, स्वदर्शनसे जाननेमें, स्वचारित्रसे स्वगुणमें रमनेमें जैसा अनन्त आनन्द-सुख होता है वैसा दूसरे किसीको नहीं होता। यहाँ योगियों को या ज्ञानपूर्वक त्यागी जीधन जीनेवालों को कभी कभी आनंदकी अद्भुत लहरियाँ आ जाती है, उस समय उन्हें समस्त दुनियाके सुखों बिलकुल फीके, निस्तेज लगते हैं। सांसारिक सुख खुजली जैसे है जिसे खुजली हो वही खुजलाता है, उसे ही खुजलानेका सुख मिलता है। लेकिन जिसे वह दर्द ही नहीं उसे खुजली जन्य सुख क्या होता है ? बिलकुल नहीं। छोटा बालक रूपयका मूल्य समझता नहीं है अतः लेनेका इन्कार करके पतासा ही पसंद करता है ऐसा ही मुक्ति सुख के लिए है। भोग-विलासमें मोहांध बने हुए को पतासे जैसे संसारके सुखों का ही मूल्य होता है। परंतु अमूल्य मुक्ति सुखका मूल्य नहीं होता।

मुक्तिका सुख कैसा है ? उस विषयक उदाहरण—

मनुष्य और देवों को जो सुख नहीं है, वह सुख सिद्धात्माओंके है। तीनों कालमें उत्पन्न हुआ अनुत्तर विमानवासी देवोंसे भूतकालमें भोगा हुआ, वर्तमानमें भोगनेका और भविष्यमें भोगा जानेवाला— इन तीनों कालके सुखको एकत्र करके अनन्त वर्गसे वर्गित (अनन्तावार वर्ग गुना) करें तो भी मोक्षसुखकी तुलना न पाई जा सके।

यह सुख किसी भी इन्द्रियसे ग्राह्य नहीं है, ^{४३१} वचनगोचर नहीं है, मनोग्राह्य नहीं है; तर्क ग्राह्य भी नहीं है; लेकिन सूक्ष्म बुद्धिसे अर्थात् सर्वज्ञसे ग्राह्य है। तप-ध्यानसे महासाधना करनेवाला इसका साक्षात्कार कर सकता है।

अन्यथा इस सुखकी मधुरताको केवली भगवान् ज्ञानसे जानने पर भी-गुडको खानेवाला मृगा आदमी गुडके स्वादको जानने पर भी उसकी मिठास नहीं बता सकता-कह सकता वैसे स्वमुखसे नहीं कह सकते।

जैसे मन यथेप्सित अन्न-पानीका भोजन करनेके बाद पुरुष अपनेको तृप्त हुआ समझता है वैसे ही सिद्धात्माएँ स्वात्मगुणसे तृप्त हुई होनेसे वे कभी अतृप्त होती ही नहीं हैं अतः वे सदा सुखी ही होती हैं।

साथ ही वस्तुतः तीनों जगत्में मोक्षकी उपमा देने लायक कोई दृष्टांत है ही नहीं। वह तो उपमाके लिए अगोचर ही है। उसके लिए उषवाईसूत्रमें एक दृष्टांत भी दिया है।

एक जंगलमें एक म्लेच्छ भील निराबाध रूपसे रहता था। एक बार उसी अटवीमें उलटी चालके घोड़ेके कारण मार्गभ्रष्ट होकर पासमें रहता एक राजा वहाँ आ पहुँचा। म्लेच्छने उसे देखा। उसने राजाका यथोचित सत्कार किया और मार्ग भूले हुए राजाको मार्ग बताकर उसे अपने देशमें पहुँचा दिया। अब वह म्लेच्छ प्रतिगमन करनेकी तैयारी करता है लेकिन राजाने देखा कि इसने मुझ पर उपकार किया है अतः उसका बहुत आतिथ्य करना चाहिए। राजाने उसे रहनेके लिए विशाल महल दिया। राजाका माननीय था अतः प्रजाका भी वह माननीय बन गया।

यह गरीब म्लेच्छ जन ऊँचे महलकी अटारीमें मनहर बाग-बगीचोंमें सुंदर स्त्रियोंसे परिवृत्त अनेक प्रकारके विषय सुखोंको भोगता है।

इतनेमें वर्षाऋतु आ गई। आकाशमें मेघाडम्बर हुए, मृदंगके जैसी मधुर गजनाएँ होनेसे मयूर केकारव करते नाच उठे, यह देखकर उसे अपना अरण्यवास याद आया तथा वहाँ जानेकी तीव्र अभिलाषाके कारण, अंतमें राजाने उसे रजा दी, अतः वह अपने अरण्यवासमें आ पहुँचा।

वहाँ उसे अपने परिवारजन, मित्रोंने पूछा: भाई, आप जहाँ रह आप वह नगर कैसा था? वहाँ कैसा आनंद भोगा? परंतु जंगलमें नगरकी वस्तुओंके समान, वस्तुओंके अभावके कारण कहनेकी अत्यन्त उत्कंठा होने पर भी वह म्लेच्छ एक भी वस्तुको समझा नहीं सका।

इसी तरह उपमाके अभावमें सिद्ध परमात्माका सुख नहीं कहा जा सकता।

भिन्न भिन्न दर्शनकारोंकी मुक्ति विषयक मान्यतामें तफावत भले ही हो लेकिन एक बावत पर सब संमत हैं कि मुक्तिसुख सद्, चिद्, आनंद स्वरूप है। इससे अधिक चर्चा यहाँ अप्रस्तुत है।

समाप्तं दशमं परिशिष्टम्।

४३१. भगवानने कहा है कि वह सुख वाणी, बुद्धि, मति किसीसे ग्राह्य नहीं है। तर्ककी भी मति नहीं, वह दीर्घ, ह्रस्व, गोल या त्रिकोण भी नहीं है, कृष्णादि वर्णरूप भी नहीं है। वह कोई जाति भी नहीं है अर्थात् उसकी उपमा देने लायक कोई पदार्थ विश्वमें है ही नहीं।

चौथा तिर्यचगति अधिकार

तिर्यच शब्दसे - सूक्ष्म-स्थूल एकेन्द्रिय,
दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय-
पशुपक्षी, जलचर, स्थलचर, खेचर आदि
जीव सृष्टि समझे ।

*

॥ तिर्यच जीवोंकी संक्षिप्त पहचान । परिशिष्ट सं. ११ ॥

सूची — यहाँसे चौथी तिर्यच गतिका संक्षिप्त अधिकार शुरु होता है। उसके पहले तिर्यच जीवोंका परिचय देना चाहिए। यद्यपि श्वेताम्बर संघमें अध्ययनका वर्तमान क्रम ऐसा है कि प्रथम जीवविचारादि प्रकरण पढ़कर बादमें ही संग्रहणी जैसे ऊपरके ग्रन्थ पढ़े जाते हैं, इससे लाभ यह होता है कि-प्रस्तुत प्रकरणोंमें चारों गति तथा मोक्ष विषयक प्राथमिक उपयोगी हकीकतें होनेसे उसका उसने अध्ययन किया होता है, फिर इस ग्रन्थको पढ़नेसे बहुत सरलता और आनंद होता है। अतः ऊपरके इस ग्रन्थमें सर्व वाक्यों का पुनरावर्तन नहीं होता, फिर भी पढ़े, न पढ़े सबके लाभके लिए तिर्यच जीवों का संक्षिप्त परिचय देता हूँ, जिससे सविशेष रस, आनंद और सुलभता बढ़ने पावे।

जगतवर्ती संसारी जीव दो प्रकारके हैं। एक स्थावर और दूसरा प्रस।

स्थावर—तापादिकसे पीड़ित होनेसे स्वइच्छापूर्वक गमनागमन कर न सके वह।

प्रस—इच्छापूर्वक [तापसे पीड़ित होनेके कारण छायामें तथा ठंडीसे पीड़ित होनेके कारण तापमें] गमनागमन करनेवाले वह।

यहाँ जीवोंका मूलस्थान अनादिकालसे 'निगोद' है जो एकेन्द्रिय जीवका ही भेद है। और इस तरह एकेन्द्रियके भवों का परिभ्रमण करनेके बाद प्रसस्वरूप विकलेन्द्रिय के भवमें जीव क्रमशः आते हैं। प्रथम स्थावर-एकेन्द्रिय के भेद कहे जाते हैं।

स्थावर जीव एकेन्द्रिय कहलाते हैं, क्योंकि उसे एक ही इन्द्रिय (स्पर्शमात्र) होती है और वह पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वाउकाय और वनस्पतिकायके भेदसे पांच प्रकार रूप है। पुनः वनस्पतिकाय, साधारण तथा प्रत्येकसे दो भेदवाली है। पुनः [प्रत्येक वनस्पति भेद वर्ज्य] पांचों स्थावरों के 'सूक्ष्म' और 'बादर' इस तरह दो भेद पड़ते हैं, अतः कुल १० भेद हुए। और प्रत्येक वनस्पति तो बादर ही होनेसे उसका सिर्फ एक भेद जोड़नेसे कुल ११ भेद स्थावर जीवों के हैं। उसे पुनः पर्याप्ता—अपर्याप्ता विभागमें सोचने पर कुल बाईस भेद एकेन्द्रिय—स्थावरोंके होते हैं।

सूक्ष्म स्थावर—अर्थात् अनन्ता सूक्ष्म जीवोंका समुदाय एकत्र हो तो भी [सूक्ष्म-नामकर्मके उदयसे अत्यंत सूक्ष्मत्व रहता होनेसे] हमारे चर्मबन्धुसे देखा न जा सके वह। ये पांचों पृथिव्यादि सूक्ष्म स्थावर चौदह राजलोकमें काजलकी डिब्बियाकी तरह ठाँस ठाँस कर अनन्तानंत भरे हैं, पौद्गलिक पदार्थोंसे कोई भी स्थल मुक्त नहीं है, तथा ये जीव मारने पर भी मरते नहीं हैं, हनने पर हन्यमान नहीं। उसमें भी सूक्ष्म साधारण वनस्पति सूक्ष्म निगोदके नामसे भी परिचित है। [जिसका कुछ स्वरूप वर्णन ३०१ वीं गाथामें आया।] ये जीव भी अनन्ता हैं। इन सब सूक्ष्म जीवोंकी भव-आयुष्य स्थिति अंतर्मुहूर्त्त की है।

बादर स्थावर-एक अथवा असेख्य-बहुत एकत्र हों तब चर्मचभ्रुसे देखा जाए वह बादर कहलाता है। बादर स्थावर प्रत्येक भेद सहित पृथिव्यादि छः प्रकारसे है।

प्रथम बादर पृथ्वीकायमें-पृथ्वीके दो भेद हैं। एक कोमल और दूसरा कर्कश। उनमें कोमल पृथ्वी सात रंगवाली होनेसे सात भेदवाली है। काली, हरी, पीली, लाल, श्वेत, पांडु आदि रंगकी। नद्यादिकके पानीकी बाढ उतरनेसे अत्यन्त भापवाले प्रदेशकी कोमल-चीकनी-पंकरूप माटी वह कोमल पृथ्वी, जबकि कर्कश पृथ्वी चालीस भेदवाली है। उनमें १८ भेद स्फटिक, नीलम, चंदन, वैडूर्यादि मणिरत्नोंके और शेष २२ भेद, नदी तटकी माटी, बडी-सूक्ष्म रेती (रेत), छोटे पत्थर, बडी शिलाएँ, उस, लवण, सुवर्ण, सोना, चांदी, सीसा, तांबा, लोह, जसत, वज्र [सप्त धातुएँ], हरताल, हिंगुल, मनशील, प्रवाल, पारद, सौवीर, अंजन, अभ्रक पड, अभ्रक मिश्रित रेत आदिके हैं। ये सर्व वस्तुएँ प्रथम सजीवरूपमें होती हैं। परंतु उत्पत्तिस्थानसे अलग होनेके बाद अग्नि आदि के संयोगसे तथा हस्तपादादि साधनोंसे मर्दन होनेसे निर्जीव बनती हैं। फिर उन पदार्थोंमें हानि होती है लेकिन वृद्धि नहीं होती।

बादर अप्काय-बरसात का शुद्ध जल, स्वाभाविक हिम, बर्फ, ओले, ओस, कुहरा, घनोदधि, ओसकण, कुआँ, समुद्र आदि सर्व प्रकारका जल वह।

बादर तेउकाय-बालू शुद्ध अग्नि, वज्रकी अग्नि, ज्वालाका, स्फुलिंग का अंगार, विद्युत, उल्कापात, चिनगारियाँ, कणकी, सूर्यकान्तमणिकी, उपलादिककी, काष्ठ-कोयले आदि सर्व जातिकी अग्नि वह।

बादर वाउकाय-दिशावर्ती-ऊर्ध्व-अधो-तिर्यक् वायु, झंझावातका, गुंजार करता, गोलाकारमें घूमता घनवात, तनुवात आदि अनेक भेदोंमें।

बादर वनस्पतिकाय-वह प्रत्येक और बादर साधारण। उसमें एक शरीरमें एक ही जीववाली वह प्रत्येक, वृक्षके फल, फूल, त्वचा, काष्ठ, मूल, पत्र, बीज आदिमें एक एक जीव है। अतः वह प्रत्येक के प्रकारमें गिना जाता है। साथ ही सारे वृक्षका सर्वव्यापी अन्य एक स्वतंत्र जीव अलग होता है। वह प्रत्येक वनस्पतिके वृक्ष-गुच्छादिक जातिसे १२ भेद हैं। अतः आगे ही कहे जाते साधारण वनस्पतिके भेद को वर्ज्य शेष धान्य, अनेकविध पुष्पकी जातियों के पुष्प-फल, पत्र-लताएँ-कमल, शाकादिक द्रव्योंवाले सर्व प्रकारके वृक्ष इन्हें बादर प्रत्येक वनस्पतिमें सोच लेना।

बादर साधारण वनस्पतिकाय-इन बादर साधारण वनस्पतिके जीवोंकी उत्पत्ति, तत्पश्चात् आहार, श्वासोच्छ्वास ग्रहण आदि क्रियाएँ सर्व एक साथ ही होती हैं। यह अनंतकायस्वरूप बादर वनस्पति अनेक भेदोंमें है। कंद. [अदरक, आलू, लहसुन, प्याज तमाम प्रकारके कंदकी जाते] पाँचों रंगकी फुनगी, काई, बिलारी के छाते के आकारके टोप, अदरक, हरी हलदी, नाजर, मोथ, थैग, पालक, कोमल फल, थुहर, गुग्गुल, गिलोय, सिंघाडे आदि प्रसिद्ध बत्तीस अनंतकायादि सर्व प्रकारसे अपने घटित लक्षणोंवाली जो जो हों उन्हें समझ ले।

लक्षण क्या है ? तो जिनकी नसें, जोड़, गांठें गुप्त हों साथ ही जिनके दूट जानेसे समान सुंदर हिस्से हो जाते हों, छिद्र जानेसे फिरसे उगें वैसी हों आदि मुख्य छः लक्षणोंसे परिचित, अनेक प्रकारोंवाली साधारण वनस्पति समझना।

वस्तुतः सर्व वनस्पतियाँ उगते समय तो साधारण स्वरूपमें ही होती हैं। फिर अमुक समय होनेके बाद कतिपय प्रत्येक नाम कर्मवाली प्रत्येक स्वरूपमें परिवर्तित होती हैं। और साधारण नाम कर्मके उद्भववाली कतिपय साधारण रूपमें रहती हैं। इति स्थावर जीव व्याख्या।

प्रस जीव—(पकेन्द्रियं सिवायके शेष) दो इन्द्रिय, तेन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव वे।

दो इन्द्रियके भेदोंमें—कुक्षिमें (पेट) तथा गुदा द्वारमें होते कीड़े, काष्ठमें उत्पन्न होनेवाले कीड़े (घुने), गंडोले, कंचुपे, जलौकापे, धुन्न, कीटक, शंख, छोटे शंख, कौडियाँ छीपे, चंदनादि जीव। जिनके चमडी और जिहा दो ही इन्द्रियाँ हैं वे दो इन्द्रिय।

तेन्द्रियो—सर्व प्रकार की चींटियाँ, घृनेली, उद्देही, लीख, जू, खटमल, इंद्रगोप, इल्लियाँ, सावा, कानखजूरे, गोबरके धान्यके कीड़े, चौर कीड़े, पाँचों प्रकार के कुथुए आदि इन जीवोंके शरीर, जिहा और नासिका ये तीन इन्द्रियाँ हैं।

चउरिन्द्रियाँ—बिच्छू, मकड़ी, अमर, भ्रमरी, कसारी, मच्छर, तिड्ड, मक्खी, मधु-मक्खी, पतंगे, डाँस, खद्योत विविध रंगके पंखवाले कीड़े—जीव, घासमकड़ी इन जीवोंके शरीर, जिहा, नासिका तथा आँख ये चार इन्द्रियाँ होती हैं।

पकेन्द्रियसे लेकर चउरिन्द्रिय तक के सर्व जीव संसृच्छिम ही (वह नर-मादाके संयोगके बिना स्वजातिके मललार, मृतकादिके संयोगसे-स्पर्शसे उत्पन्न होनेवाले) होते हैं, परंतु गर्भज नहीं होते।

पंचेन्द्रिय—देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यच इस तरह चार प्रकार हैं। उनमें देव १९८ भेदोंमें, नारकी ७ भेदोंमें, मनुष्य ३०३, तिर्यच ४८ भेदोंमें हैं। प्रथम तीन का वणन किया गया है और अंतिम तिर्यच पंचेन्द्रियका अब कहनेका है।

तिर्यच पंचेन्द्रियके मुख्य तीन भेद हैं—जलचर, स्थलचर और खेचर। १. 'जलचर' मुख्यतया जलमें रहकर जीनेवाले हैं। उनके मत्स्य, कछुए, ग्राह-मगर, शिशुमार इस तरह मुख्यतया पांच प्रकार हैं। २. 'स्थलचर' जमीन पर चलनेवाले, उनके तीन भेद हैं। १. चतुष्पदजीव वे एक-दो खुरवाले, नाखूनवाले गाय, भैंस, बाघ, हाथी, सिंह, बिल्ली आदि चार पैरवाले। २. उरपरिसर्प-पेटसे चलनेवाले-फनवाले-फनरहित सर्प आसालीक, महारग, अजगरादि। ३. भुजपरिसर्प-भुजासे चलनेवाले नेवले, छिपकली, गिलहरी, गिरगीट, चंदनगोह, पट्टगोह आदि।

३. 'खेचर'—वह आकाशमें विचरनेवाले, ये दो प्रकारके हैं। रीपों के पंखवाले तथा चमडेके पंखवाले। रोमज पक्षी हंस, सारस, बगुले, उल्लू, चील, तोते, कौवे-चिडियाँ

४३९. अपेक्षासे गतिमान होनेसे तेउ और वाउके जीवोंको 'गतित्रस' भी कहे जाते हैं।

आदि। ये सब रीयेंके पंखवाले 'रोमज' पक्षी होनेके कारण कहे जाते हैं और चर्मज पक्षी—चमगादड़ आदि चमड़ेके पंखवाले होनेसे चर्मज पक्षी कहलाते हैं। साथ ही मनुष्य-लोकके बाहर बंद तथा विस्तृत पंखवाले समुद्रगक तथा वितत पक्षी इस तरह चार प्रकारके पक्षी हैं।

ये तिर्यक् पंचेन्द्रियवर्ती जलचर, स्थलचर तथा खेचर सर्व संसृच्छिम और गर्भज इस प्रकार दो भेदवाले हैं।

इस तरह पकेन्द्रिय जीवोंके २२ भेद, विकलेन्द्रियके पर्याप्ता अपर्याप्ता होकर ६ भेद, कुल २८ हुए। तिर्यक् पंचेन्द्रियमें जलचरका एक स्थलचर-चतुष्पद, उरपरिसर्प और भूज-परिसर्प इस तरह ३ भेद, और एक खेचर, इस प्रकार कुल पांच भेद (इनमें सूक्ष्म-बादरत्व नहीं होता) ये संसृच्छिम-गर्भज दो भेदमें गिननेसे १० भेद हुए। इससे पर्याप्ता अपर्याप्ता होकर २० भेद तिर्यक् पंचेन्द्रिय जीवोंके जानें। पूर्वके २८ + २० जोड़नेसे कुल ४८ भेद तिर्यक् जीवोंके जानें।

वाचकोके लिये एक ज्ञातव्य बात।

यह संग्रहणी या संग्रहणीरत्न ग्रन्थ जैनधर्मका एक आदरणीय, विचारणीय, माननीय और अत्युपयोगी ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमें ऊर्ध्व-आकाशके अन्तसे लेकर अधो आकाशके अन्त तक (प्रायः) दृश्य-अदृश्य जो विश्व है उसका वर्णन और इस विश्वमें ऊर्ध्वाकाशके अन्त भागमें जो सिद्धशिला है जिस स्थानको मोक्ष कहा जाता है। वहाँसे लेकर देवलोक, ज्योतिषलोक, मनुष्यलोक और उसके बाद निम्न निम्न भागमें रही हुई सात नरक पृथिवियाँ और उनमें रहे हुए पकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके सूक्ष्म और स्थूल जीवोंका विविध प्रकारसे वर्णन किया गया है। जैनधर्मकी कतिपय महत्त्वपूर्ण जानने योग्य बातोंका उसमें संग्रह किया गया है। इस ग्रन्थको पढ़नेसे तीनों लोक, भूगोल, खगोल आदि विषयोंकी जानकारी उपलब्ध होती है।

यह ग्रन्थ हिन्दी भाषी जनता के लिए, जैन-अजैन जिज्ञासुओंकी ज्ञानवृद्धिके लिए आनंद और संतोष हो इसी कारणसे हमने अनेक उपयोगी चित्रोंके साथ छपवाया है।

॥ अथ तिर्यग्गति अधिकारे प्रथम स्थितिद्वार ॥

अवतरण—जिस तरह मनुष्यगतिमें भवनके बिना आठ द्वार कहे, उसीके अनुसार तिर्यग्गतिके भी आठ द्वारोंका वर्णन करनेसे पहले 'स्थितिद्वार' को स्थूल रूपमें कहते हैं।

वावीस—सग—ति—दसवाससहस्रगणि तिदिण वेदिआईसु ।

वारस वासुणुषण दिण, छ मास तिपलिअड्डिई जिड्डा ॥ २८४ ॥

गाथार्थ—पृथ्वीकाय जीवोंकी उत्कृष्ट आयुष्य—स्थिति २२ हजार वर्षकी, अप्कायकी ७ हजार वर्ष, वाउकायकी ३ हजार वर्ष, वनस्पतिकायकी^{१००} १० हजार वर्षकी, अग्नि-कायकी ३ अहोरात्र, दोइन्द्रियकी १२ वर्ष, त्रिइन्द्रियकी ४९ दिवस, चउरिन्द्रिय जीवोंकी ६ मास और तिर्यच पंचेन्द्रियोंकी ३ पर्योपमकी उत्कृष्ट स्थितियाँ जानें ॥ २८४ ॥

विशेषार्थ—अब चतुर्थ तिर्यग्गतिके अधिकारमें आठ द्वारोंके बारेमें कहते हैं।

यहाँ तिर्यच पांच प्रकारके हैं। एक इन्द्रियवाले, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। इनमें एकेन्द्रिय पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पतिके भेदसे पांच प्रकारके हैं। अर्थात् पांच भेद एकेन्द्रियके तथा दोइन्द्रियसे पंचेन्द्रिय तकके चार, कुल नौ भेद तिर्यचके हैं। इनमें आठ भेद तो संमूर्च्छिमपनेमें हैं। तथा पंचेन्द्रिय गर्भज और संमूर्च्छिम दो प्रकारसे है। यहाँ गर्भज तथा संमूर्च्छिमके भेदकी अपेक्षा बिना ही सामान्यतः नौ प्रकारके तिर्यचोंकी स्थिति—आयुष्यको बताते हैं।

भिन्न—भिन्न स्थिति आगे कहेंगे। यहाँ जो स्थिति कही वह वादर स्थावरोंकी समझना, साथ ही वादर साधारण वनस्पतिकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी जानें। सूक्ष्म स्थावरोंकी तो उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्तकी, जघन्य क्षुल्लक भवकी है।

यहाँ गाथार्थमें जो उत्कृष्ट स्थिति कही वह प्रायः निरुपद्रव स्थानमें वर्तित जीवोंकी समझना, कि जहाँ उनके आघात प्रत्याघातोंके निमित्त बनते न हों अन्यथा प्रायः मध्यम-कक्षाके आयुष्यवाले जीव ही अधिक समझना। [२८४]

अवतरण—अब पृथ्वीकायके भेदोंमें सूक्ष्म स्थिति बताते हैं।

४३३. प्रश्न—सिद्धगिरि पर वर्तित रायण वृक्ष जो सदाकालसे शाश्वत माना जाता है उसके दस हजार वर्ष होने पर नाश होना चाहिए उसके बजाय अब तक सजीव चलता आया है तो इसका समाधान क्या? उत्तर—उस वृक्षके जीव चालू आयुष्य पूर्ण होने पर पुनः वहीं उत्पन्न होते हैं अथवा अन्य जीव उस स्थलमें आकर उत्पन्न होते हैं तथा वृक्ष हमेशा सजीव रहा करता है।

सण्हा य सुद्ध-वालुअ, मणोसिल सकराय खरपुदवी ।

इग-चार चउद-सोलस-ऽठारस-बावीससमसहसा ॥ २८५ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २८५ ॥

विशेषार्थ—गत गाथामें उपर बताये गए भेदमें पृथ्वीके कोमल तथा कर्कश दो भेद बनाये थे उनमें सात रंगवाली मरु आदि स्थलकी मृदु-कोमल पृथ्वीकी उत्कृष्ट भवस्थिति एक हजार वर्षकी है । पृथ्वीके ४० भेद हैं । उनमें गोशीर्षचंदनादिक जैसी शुद्ध-कुमार सुकोमल मिट्टीकी बारह हजार वर्षकी, वालुका-उस नदी प्रमुख रेतकी चौदह हजार वर्षकी, मनःशिला और पाराके सोलह हजार वर्षकी, शर्करा अर्थात् थोड़े टुकड़े-कंकड (सुरमादिक)की अठारह हजार वर्षकी, तथा खर अर्थात् शिला पाषाणरूप कठिन पृथ्वीकी २२ हजार वर्षकी होती है । शेष भेद अन्तर्गत सोच लेना । [२८५]

अवतरण—अगाऊ तीन पर्योपमकी स्थिति सामान्यतः कही है, अब पंचेन्द्रिय तिर्यचोके भेदमें जो स्थितिविशेष है उसे कहते हैं ।

गन्धभुअजलयरोभय, गन्धोरग पुव्वकोडि उकोसा ।

गन्धचउप्पयपक्खिसु, तिपलिअपलिआअसंखंसो ॥ २८६ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ २८६ ॥

विशेषार्थ—गर्भज भुजपरिसर्प (भुजासे चलनेवाले) नेवले, चूहे, गिलहरी, छिपकली आदिकी तथा गर्भज और संमूर्च्छिम जलचर मत्स्य, मगर-व्हेल, कछुआ तथा दूसरे अन्य जीवोंकी, गर्भज उरपरिसर्प (पेटसे चलनेवाले) अजगर, गोह, सर्पादिककी करोडपूर्वकी उत्कृष्ट आयुष्यस्थिति है । तथा गर्भज चतुष्पद गाय, सिंह आदिकी उत्कृष्ट ३ पर्योपमकी, गर्भज-खेचर मोर, हंस, उरुलू, कौए, चिडियाँ आदि पक्षियोंकी पर्योपमके असंख्यातर्वे भागकी होती है ।

यहाँ उत्कृष्ट स्थिति जिनकी कही है, वे सारे जीव उस स्थितिवाले हों ऐसा न समझना, लेकिन उससे न्यून स्थितिवाले भी बहुत होते हैं । साथ ही यह उत्कृष्ट स्थिति और आगे कहे जाते तिर्यचोकी स्थिति प्रायः निरुपद्रव स्थानोंमें वर्तित हों उनकी समझना । ऐसा निरुपद्रव स्थान तो अढाईद्वीपके बाहरका गिना जाता है । [२८६]

अवतरण—गत गाथामें पूर्वकोटी आयुष्य कहा तो पूर्व किसे कहा जाए ?

पुव्वस्स उ परिमाणं, सयरि खलु वासकोडिलक्खाओ ।

उप्पन्नं च सहस्सा, बोद्धव्वा वासकोडीणं ॥ २८७ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार ॥ २८७ ॥

विशेषार्थ—पहले, पृष्ठ २३-२७में 'समयसे' लेकर पुद्गल परावर्त तकका स्वरूप और कोष्ठक दिया गया है। उसके अनुसार चौरासी लाख वर्षका एक 'पूर्वीग' होता है, उस पूर्वीगके साथ पूर्वीग संख्याको गुना करनेसे (८४ लाखको ८४ लाखसे) पूर्वका परिणाम आता है। उसकी वर्ष संख्या सत्तर लाख करोड़-छप्पन हजार करोड़ सालकी [७०५६,००,००,०००,०००] ज्ञाने । [२८७]

अवतरण—गर्भजकी स्थिति बताकर, अब समूर्च्छिम तिर्यच पंचेन्द्रिय स्थलचरादिककी स्थिति बताते हैं ।

सम्युच्छपणिदिअथलखयररगभुअग जिद्वुठिइ कमसो ।

वाससहस्रा चुलसी, विसत्तरि तिपण्ण बायाला ॥ २८८ ॥

गाथार्थ—तिर्यच पंचेन्द्रियमें समूर्च्छिम स्थलचर गाय-भैंस आदि चतुष्पद जीवोंकी अनुक्रमसे उत्कृष्ट स्थिति ८४ हजार वर्षकी, समूर्च्छिम खेचर-हंस-मोर-चिडियाँ आदि पक्षियोंकी ७२ हजार वर्षकी, समूर्च्छिम (स्थलचर) उरपरिसर्प सर्पादिककी ५३ हजार वर्षकी तथा (स्थलचर) समूर्च्छिम भुजपरिसर्पकी ४२ हजार वर्षकी उत्कृष्ट स्थिति होती है। सबकी जघन्यस्थिति आगे कहेंगे । ॥ २८८ ॥

विशेषार्थ—सुगम है । [२८८]

अवतरण—सर्व तिर्यचोंकी उत्कृष्ट भवस्थिति कही । अब उन दोनोंकी स्थितिका साम्यत्व होनेसे उनकी उत्कृष्ट कायस्थिति कहते हैं ।

एसा पुढवाईणं, भवट्टिई संपयं तु कायट्टिई ।

चउएगिदिसु नेया, ओसप्पिणिओ असंखेज्जा ॥ २८९ ॥

गाथार्थ—इस तरह पृथ्वी आदि जीवोंकी भवस्थिति कही । अब कायस्थितिको बताते हुए ग्रन्थकार चार एकेन्द्रियोंके बारेमें असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणीका कायस्थिति-काल-प्रमाण कहते हैं । यहाँ 'ओसप्पिणिओ' यह पद परवाची होनेसे उपलक्षणसे पूर्व वाची उत्सर्पिणीका भी ग्रहण हो जाता है । ॥ २८९ ॥

विशेषार्थ—कायस्थिति अर्थात् क्या ? पृथ्व्यादिक किसी भी प्रकारके जीव अपनी अपनी ही पृथ्वी आदि काया (स्थानमें) में मरकर, पुनः जन्म लेकर, फिर पुनः मरकर, साथ ही उसी स्थानमें पुनः जन्म लेकर इस प्रकार बार बार उत्पन्न हो तो कितने काल तक उत्पन्न हो ? उसका नियमन वह ।

यहाँ एकेन्द्रिय जीवोंमें एक वनस्पतिकायको वर्जित करके शेष पृथ्वी, अप्, तेउ और वाउ-कायकी उत्कृष्टसे असंख्य अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी प्रमाण स्वकायस्थिति है। यहाँ पृथ्व्यादिक चारकी यह स्थिति ग्रन्थकारने ओघसे अर्थात् सामान्यतः [सूक्ष्म बादरकी विवक्षाके बिना] समुच्चयमें बताई, परंतु वस्तुतः यह काल स्थितिमान सूक्ष्म पृथ्वी-अप्-तेउ-वाउ इन चारकी है। लेकिन बादरकी नहीं है, लेकिन सूक्ष्ममानके अंदर बादरका समावेश हो जाता है।

इससे पृथक् विचारणामें सूक्ष्म पृथ्वी-अप्-तेउ-वाउकी कालसे असंख्य उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी कायस्थिति और क्षेत्रसे लोकाकाश जितने असंख्य लोकके असंख्य आकाशोंके प्रदेशोंमेंसे, प्रत्येक क्षणमें एक एक आकाशप्रदेश अपहरते, उन प्रदेशोंको हर लेनेमें जितना काल जाए उतने समयकी है। ये आकाशप्रदेश संपूर्णतया हर लेनेमें उसका काल असंख्य कालचक्र [लेकिन सादिसांत] जितना होता है, क्योंकि कालसे क्षेत्र अधिक सूक्ष्म है।

चार एकेन्द्रियोंके ओघसे जो असंख्य उत्सर्पिणी अवसर्पिणी स्थिति कही थी उसमें उसे सूक्ष्म-बादर प्रकारसे पृथक् करके, सूक्ष्म पृथ्वी आदि चारकी कायस्थिति तो कही। अब बादर पृथ्वी-अप्-तेउ तथा वाउकाय इन प्रत्येककी सत्तर कोटानुकोटी सागरोपमकी [३॥ कालचक्र जितने कालकी] है। इन चारों पृथ्वी आदि चार बादरोंकी ओघसे भी उतनी ही स्थिति समझना। [संख्याका अरूपत्व होनेसे] बादरमें क्षेत्रके द्वारा पृथक् गणना नहीं होती, अतः बादर पृथ्वी आदिकी कायस्थिति सूक्ष्मसे न्यून होती है। [२८९]

अवतरण— एकेन्द्रियमें पृथ्व्यादि चारकी स्थिति कही। अब शेष वनस्पतिकायकी कहनेके साथ दोइन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय जीवोंकी कायस्थिति बताते हैं।

ताउ वणम्मि अणंता, संखिज्जा वाससहस विगलेसु ।

पंचिदित्तिरिरेसु, सत्तडुभवा उ उक्कोसा ॥ २९० ॥

४३५. पृथ्वीकायादि जीवोंकी पर्याप्तपनकी कायस्थिति आयुष्प्रस्थिति जितनी होती है, अतः वे जीव अपनी उस संपूर्ण स्थितिका उपभोग स्वस्थानमें ही आंतर आंतर पर उपजनेसे सात आठ भवसे करते हैं क्योंकि उनके पर्याप्ता भव इतने होते हैं। फिर नौवें भवमें उसी योनिमें पर्याप्तपन प्राप्त न करे परंतु स्थानांतर हो, ऐसी जब पृथ्वीकाय एक भवाश्रयी २२ हजार वर्षकी कायस्थिति है तो आठ भवकी १७६ हजार वर्षकी होती है। इस तरह ४ पर्याप्ता अप्कायकी ५६ हजार वर्ष, अमिकायकी २४ दिवस, वायुकायकी २४ हजार वर्ष, वनस्पतिकायकी ८० हजार वर्षकी है। इसमें भी लब्धि अपर्याप्तत्वकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी होती है। यह स्थिति बारबार अपर्याप्तावस्थामें भ्रमांतरमें बारबार जाए और उसके अन्तर्मुहूर्त्तके कतिपय जन्म होते उसका जोड़ करें तो उक्त मान हो।

गाथार्थ—वही कायस्थिति वनस्पतिमें भी अनंता [उत्स० अवस०] समझना । विकलेन्द्रियमें संख्याता वर्ष सहस्रकी तथा पंचेन्द्रिय तिर्यचमें उत्कृष्ट सातसे आठ भवकी जानना । ॥ २९० ॥

विशेषार्थ—एकेन्द्रियके पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजकाय, वाउकाय तथा वनस्पतिकाय इस तरह पांच भेद हैं । इनमें प्रथमके पृथ्वी आदि चारों जीव सूक्ष्म और बादर ये दो प्रकारके हैं । पुनः इस पांचवीं अंतिम वनस्पतिकायकी दो जातें हैं, एक प्रत्येक वनस्पति और एक साधारण वनस्पति । प्रत्येक वनस्पति एक शरीरमें एक जीववाली है जबकि साधारण यह एक शरीरमें अनंता जीववाली है । इस साधारण वनस्पतिके जीवोंका शरीर इसे ही दूसरे शब्दोंमें अनंतकाय अथवा निगोद रूपमें पहचाना जाता है । इसमें प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है जबकि साधारण वनस्पति [अथवा निगोद] वह सूक्ष्म [निगोद] और बादर [निगोद] इस तरह दो भेदमें है ।

गाथामें कही सांख्यवहारिककी कायस्थिति—

यहाँ ग्रन्थकारने गाथामें जो अनंती उत्सर्पिणीकी—अवसर्पिणीकी स्थिति बताई है वह सामान्यतः ओषसे पाँचवीं वनस्पतिकायकी [वह प्रत्येक—साधारण, सूक्ष्म या बादरकी विवक्षाके बिना ही] बताई है, तथा उसे सांख्यवहारिक निगोद जीव आश्रयी बताई है [क्योंकि प्रायः सर्वत्र^{१६} सांख्यवहारिकाश्रयी ही वर्णन आता है] तथा वही स्थिति सूक्ष्म सांख्यवहारिकको घटती है । इसी स्थितिको क्षेत्र तुलनासे घटित करें तो अनन्ता लोकाकाशका आकाश प्रदेशप्रमाण [अर्थात् प्रति समय एक एक आकाश प्रदेश अपहरते जितने समयमें वह निर्मूल हो उतना समय वह] और वह असंख्य पुद्गल परावर्तकाल प्रमाण है और उस पुद्गल परावर्तका असंख्यत्व एक आवल्लिकाके असंख्य भागके समयकी संख्या तुल्य है ।

यहाँ कालसे अनादि अनंत अर्थात् अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी, क्षेत्रसे अनन्ता लोकाकाश—प्रदेश—असंख्य पुद्गलपरावर्त [जो आवल्लिकाके असंख्य भागके समय तुल्य है] इन चारोंकी व्याख्या तुल्य कालको सूचित करनेवाली हैं ।

असांख्यवहारिक अर्थात् क्या ? अर्थात् जो जीव अनादिकालसे सूक्ष्म निगोदमें पड़े हैं, किसी भी समय तथाविध सामग्रीके अभावमें बाहर निकलकर व्यवहार राशि—[वह

४३६. इसीलिए मरुदेवा माता के लिए विरोध उपस्थित नहीं होगा, क्योंकि वह तो अनादि [असांख्य०] निगोदसे आए थे । जबकि मूल गाथा तो मर्यादित समय बताती है अतः आदि हो सके वैसा है और यदि यह कथन असांख्यवहारिक (अव्यवहारिक राशि) को लागू करें तो मरुदेवा माताके लिए दोष उपस्थित हो, यह न हो इसलिए सांख्यवहारिककी समझना ।

सूक्ष्म—बादर पृथ्वीकायादिपनसे विविध व्यवहार] में आए नहीं हैं वे असांव्यवहारिक । ये असांव्यवहारिक जीव दो प्रकारके हैं । एक तो अनादि अनंत स्थितिवाले और दूसरा अनादिसान्त स्थितिवाले । अनादि अनंत स्थितिवाले असांव्यवहारिक जीव कदापि व्यवहार राशिमें नहीं आए और आनेवाले भी नहीं हैं । [और उनकी स्थिति अनंत पुद्गल परावर्त जितनी है] और अनादिसान्त कायस्थितिवाले असांव्यवहारिक जीव अब तक व्यवहारराशिमें आए नहीं लेकिन आनेवाले हैं । [उनकी स्थिति अनंत पुद्गल परावर्तनकी, लेकिन पूर्वापेक्षया न्यून है ।] इन दोनों प्रकारके जीव अनन्ता हैं ।

सांव्यवहारिक अर्थात् क्या ? जो जीव अनादि निगोदमें से तथाविध सामग्रीके योगसे पृथ्व्यादिक [सूक्ष्म या बादर] के व्यवहारमें एक बार भी आए हों वे सांव्यवहारिक । ये जीव भी अनन्ता हैं और वे सादिसान्त स्थितिवाले हैं ।

असांव्यवहारिक निगोद सूक्ष्म ही होता है क्योंकि वहाँ व्यवहारपन नहीं होता । जबकि सांव्यवहारिक निगोद सूक्ष्म तथा बादर दोनों होते हैं ।

सूक्ष्मनिगोदकी कायस्थिति तीन प्रकारसे है ।

१. अनादिअनंत, २. अनादिसान्त, ३. सादिसान्त ।

इनमें प्रथमकी दो स्थिति असांव्यवहारिक सूक्ष्मको घटती है । और अंतिम सांव्यवहारिक सूक्ष्म—बादर दोनोंको घटती है ।

१. इनमें अनादिअनंत कायस्थिति है वह, असांव्यवहारिक जीव कि जो अनादि सूक्ष्म निगोदसे निकले नहीं हैं और निकलनेवाले भी नहीं हैं उनकी हैं । और वह कालसे अनंत उरसर्पिणी—अवसर्पिणी प्रमाण है । और वह असंख्य नहीं परंतु अनन्त पुद्गलपरावर्त प्रमाण है ।

२. अनादिसान्त यह भूतकालमें जो कभी भी सूक्ष्म निगोदसे बाहर आए नहीं परंतु भविष्यमें आनेवाले हैं वैसे असांव्यवहारिक निगोदकी अनादिसान्त कायस्थिति है । यह स्थिति भी अनन्त पुद्गलपरावर्त जितनी है, क्योंकि बीता काल तो अनन्ता हैं और भविष्यमें अगरचे व्यवहारमें आनेवाले हैं तो भी कतिपय का तो भाविकाल अब भी

४३७. अस्थि अणुता जीवा, जेहि न पत्तो तसाइ परिणामो ।

ते वि अणुताणुता निगोदवासं अणुवसंति ॥ [विशेषणवती]

४३८. यह पृथ्वीकाय, यह अप्काय, इत्यादि व्यवहार जिसका हो सके वह ।

अनन्ता है। लेकिन विशेष यह कि-अनादिअनंत स्थितिकी अपेक्षासे न्यून है, अतः मर्यादित है और इसीलिए ये जीव वर्तमानमें असांव्यवहारिक गिना जाए, तथापि भावि सांव्यवहारिक रूपमें संबोधित किया जा सकता है।

सूक्ष्म-बादर सांव्यवहारिककी कायस्थिति-सादिसान्त-तीसरे प्रकारमें सादिसान्तकी कायस्थिति कहते हैं-उसमें प्रथम जो जीव सूक्ष्मनिगोदमेंसे निकलकर एक बार भी बादर-पृथ्वी आदिमें उत्पन्न हुए हैं वे सांव्यवहारिक कहे जाते हैं। इस सांव्यवहार राशिमें आनेके बाद, पुनः कर्मयोगसे वे जीव सूक्ष्मनिगोदमें उत्पन्न हों तो भी वे सांव्यवहारिक ही कहलाते हैं, परंतु इस तरह सांव्यवहार राशिवाले सूक्ष्म निगोदकी कायस्थितिमें तथा अनादि सूक्ष्म निगोदकी कायस्थितिमें बहुत ही तफावत है। प्रथम कह गए उस अनुसार अनादि (असांव्यवहारिक) सूक्ष्म निगोदकी कायस्थिति अनादिअनंत तथा अनादिसांत है। जबकि इस सांव्यवहारिक सूक्ष्म निगोदकी कायस्थिति सादिसांत है। अतः अनादि सूक्ष्म निगोदमेंसे बादरपृथ्वी आदिमें आनेके बाद पुनः सूक्ष्म निगोदमें जाए तब सूक्ष्म निगोदत्वका आदि हुआ, तथा अधिकाधिक असंख्य उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रहकर फिर अवश्य पुनः बादर पृथ्वीकाय आदिमें आने पर सूक्ष्म निगोदत्वका अंत हो, इस अपेक्षासे सांव्यवहारिक सूक्ष्म निगोदकी कायस्थिति सादिसान्त समझना।

जितने जीव सांव्यवहारिक राशिमेंसे मोक्षमें जाँ उतने ही जीव असांव्यवहारिकमें से निकलकर सांव्यवहारिक राशिमें उत्पन्न हों वे सांव्यवहारिक कहलाते। ये सांव्यवहारिक जीव पहले कहे अनुसार सूक्ष्म-बादर दो भेदमें हैं अतः जब सूक्ष्मनिगोदमें [वह चौदहराज लोकवर्ती असंख्य गोलेंमें] वर्तित हो तब सांव्यवहारिक सूक्ष्म निगोदीया, तथा जब बादर निगोद [वह कई फूल आदि तत्प्रायोग्य वनस्पति] में हो तब सांव्यवहारिक बादर निगोदीया कहलाता है।

इस सादिसान्त सांव्यवहारिक सूक्ष्मनिगोदकी कायस्थितिका प्रमाण कितना है ? यह कहते हैं।

सूक्ष्म सांव्यवहारिक निगोदकी स्थिति —

सांव्यवहारिक सादिसान्त सूक्ष्म निगोदकी कायस्थिति कालसे असंख्य उत्सर्पिणी अवसर्पिणी, क्षेत्रसे असंख्य लोकाकाशका आकाशप्रदेश प्रमाण, [अर्थात् उसमेंसे प्रत्येक क्षणमें एक एक प्रदेश हरनेमें जो समय लगे वह।] उसका समय असंख्य कालचक्र जितना होता है और असंख्य कालचक्रके समय अंगुलीप्रमाण आकाशश्रेणीमें रहे हुए आकाशप्रदेश

प्रमाण हैं। और वे प्रदेश गिनतीमें असंख्य उत्सर्पिणी अवसर्पिणीके समय जितने हैं, क्योंकि कालसे भी क्षेत्रको अधिक सूक्ष्म गिना है। यह स्थिति केवल सांव्यवहारिक सूक्ष्म निगोदाश्रयी जानें और ओघसे सांव्यवहारिक निगोदकी [सूक्ष्म-बादर विवक्षा रहित] स्थिति पहले बताई गई है।

बादर सांव्य० निगोदकी स्थिति—

अब बादर सांव्यवहारिक साधारण निगोद [वनस्पति]की कायस्थिति कालसे सत्तर कोटिकोटी सागरोपमकी है। अल्प स्थितिपनसे क्षेत्रकी स्थिति घटती नहीं है।

बादर प्रत्येक वनस्पतिकी कायस्थिति ७० कोटानुकोटी सागरोपमकी है। यहाँ भी क्षेत्रगणना नहीं है।

बादर वनस्पतिकी अर्थात् बादर प्रत्येक अथवा बादर साधारण वनस्पतिके भेदके बिना दोनोंकी एकत्र अर्थात् केवल बादर वनस्पतिकी कायस्थिति सोचें तो कालसे अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी तथा क्षेत्रसे ढाई पुद्गलपरावर्त जितनी बढ़ जाए, क्योंकि बादर प्रत्येकसे बादर साधारणमें, बादर साधारणसे बादर प्रत्येकमें इस तरह बारबार जाने आनेसे बढ़ाई पुद्गल परावर्त तक बादर वनस्पतिमें घूमे, बादमें स्थानांतर हो।

सबकी ओघसे कायस्थिति—

समग्र एकेन्द्रियपनकी जातिके रूपमें ओघसे कायस्थिति कालसे अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी, क्षेत्रसे असंख्य पुद्गलपरावर्त जितनी अथवा आवलिकाके असंख्य भागके समय जितनी, सूक्ष्म पृथ्वीकायादिक चारकी ओघसे भी असंख्य उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालप्रमाण, बादर दृष्ट्यादिक चारकी ओघसे ७० कोटानुकोटी साग०, बादर प्रत्येककी ७० को० को० साग० की, बादर साधारण निगोदकी भी ओघसे ७० कोटानुकोटी साग० की, सूक्ष्म निगोदमें अनादिअनन्त स्थितिवाले असांव्यवहारिक निगोदकी अनन्ता तथा अनन्त पुद्गलपरावर्त तथा अनादिसान्त स्थितिवाले असांव्यवहारिक निगोदकी कायस्थिति अनन्ती उत्सर्पिणी अवसर्पिणी भी आखिरमें मर्यादित तो सही और सांव्यवहारिक सादिसान्त स्थितिवाले सूक्ष्म निगोदोंकी असंख्य उत्सर्पिणी अवसर्पिणी अथवा असंख्य पुद्गलपरावर्त प्रमाण जानें, और सांव्यवहारिक केवल निगोदकी अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण जानें। सबकी जघन्य कायस्थिति अन्तर्मुहूर्तकी है जो आगे कही जाएगी।

यह सारी पृथ्व्यादिककी स्थिति पर्याप्ता—अपर्याप्ताकी विवक्षा रहित समझना। पर्याप्ता अपर्याप्ताकी पृथक् पृथक् समझ गत गाथाकी टिप्पणीमें दी है।

विकलेन्द्रियकी कायस्थिति—

दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय तथा चउरिन्द्रिय इन तीनोंकी ओषसे स्थिति सोचें तो संख्यात सहस्र वर्षोंकी है। अब यदि प्रत्येककी पृथक् पृथक् सोचें तो पर्याप्ता दोइन्द्रियकी उत्कृष्ट संख्याता वर्षकी [संख्याता हजार वर्ष नहीं क्योंकि दोइन्द्रियकी उत्कृष्ट भवस्थिति ही १२ वर्षकी है और जब लघुमान—प्रमाणवाले उसके अमुक भव सतत हों तो संख्याता वर्षोंकी ही] कायस्थिति है। त्रिइन्द्रियकी संख्याता दिवसोंकी तथा चउरिन्द्रिय जीवोंकी संख्याता मासकी [क्योंकि पूर्वोक्त रीतसे दिवस—मासकी न्यून प्रमाणवाली भवस्थिति होनेसे भव-संख्या आश्रयी] कायस्थिति सोचना।

पंचेन्द्रियकी कायस्थिति—

पंचेन्द्रिय तिर्यच तथा पंचेन्द्रिय मनुष्योंकी भी उत्कृष्ट कायस्थिति सात अथवा आठ भवकी होती है। इन भवोंके वर्ष कितने हों ? तो सात आठ भवका काल एकत्र करें, तो तीन पर्योपम और [पूर्वकोटी पृथक्त्वसे अधिक] सात पूर्व कोटी वर्ष अधिक हो इसलिए उतनी कायस्थिति भी कहलाए। [क्योंकि संख्याता वर्षके आयुष्यवाले गर्भज मनुष्य तथा तिर्यचोंमें जीव पूर्व कोटीके आयुष्यमानमें उत्कृष्ट सात बार उत्पन्न हो और आठवाँ बार उत्पन्न हो तो युगलिकपनसे ही उत्पन्न हो, तत्पश्चात् अन्य योनिमें भवका परावर्तन होता है, अतः पूर्वोक्त कायस्थिति संभव होती है।]

और आठवाँ भव कहा तो वह आठवाँ भव, सातके बाद होता है सही, परंतु वह संख्यवर्षका नहीं लेकिन अवश्य असंख्य वर्षके आयुष्यवाला युगलिक—मनुष्य अथवा तिर्यच पंचेन्द्रियको और वहाँ उतना आयुष्य पूर्ण करके नवें भवमें देवरूपमें अवश्य उत्पन्न होता है। अतः आठवें भवकी असंख्य वर्षायुष्यस्थिति उन तीन पर्योपमके मानवाली ही होनेसे तीन पर्योपम वे, और उसके पहले पूर्वकोटी वर्षके मानवाले सात भव करें, दोनों स्थिति एकत्र होने पर तीन पर्योपम तथा सात पूर्वकोटी वर्षकी कायस्थिति आ जाए।

संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यचोंकी उत्कृष्ट कायस्थिति [पूर्वकोटी पृथक्त्व] सात पूर्व करोड वर्षकी है, क्योंकि संमूर्च्छिम मर मरकर पुनः पुनः संमूर्च्छिम तिर्यचमें उत्पन्न हों तो पूर्वकोटी प्रमाण कायस्थितिवाले यावत् सात भव तक उत्पन्न होते हैं। [परंतु अगर आठवाँ भव करना हो तो गर्भज रूपमें तथा असंख्य वर्षकी स्थितिवाले तिर्यचमें करें और फिर देवभवमें जाएँ।]

- संमू० पंचे० मनुष्यकी अन्तर्मुहूर्त्त पृथक्त्व [२से ९ मु०]की कायस्थिति है।

देव—नारककी कायस्थिति होती नहीं है। क्योंकि देव मरकर तुरंत देव हो नहि सकता। यहाँ प्रसंग होनेसे तिर्यच तथा मनुष्यकी भी कायस्थिति कही, परंतु देवों तथा नारकोंके तो कायस्थिति ही नहीं होती; क्योंकि देवको मरकर पुनः देवरूपमें या नारकीको मरकर पुनः नारक रूपमें अनन्तर भवमें उत्पन्न होना ही नहीं पडता। बिचमें अन्य योनिमें अवश्य जाना पडे, अतः उनकी कायस्थिति नहीं कही। परंतु अपेक्षासे उनकी भवस्थिति वही उनकी कायस्थिति औपचारिक रूपमें मात्र बोली जाए, वास्तवमें तो नहीं ही।

अब पंचेन्द्रियमें ही जीव [पंचेन्द्रियपनमें ही चारों गतिमें] भ्रमण करे तों साधिक हजार सागरोपमकालकी कायस्थिति हो [पंचेन्द्रियके पर्याप्तपनकी ही स्थिति सागरोपम पृथक्त्व होती है।] और दोइन्द्रियादि सर्व त्रसजीवोंमें भ्रमण करे तो एक साथ यावत्, संख्याता वर्षाधिक दो हजार सागरोपमकी कायस्थिति हो। तत्पश्चात् भवपरावर्तन हो ही। इन जीवोंको पर्याप्त—अपर्याप्त आदिकी स्थिति ग्रन्थान्तरसे जानें। [२९०]

अवतरण—अब अर्धगाथासे जघन्यमें भव—आयुष्य स्थिति तथा कायस्थिति कहते हैं।

सन्वेसिपि जहन्ना, अंतमुहुत्तं भवे अ काए य ॥ २९०३ ॥

गाथार्थ—पूर्वोक्त गर्भज संमूच्छिम—सूक्ष्म या बादर सर्व पृथ्वीकायादिकसे लेकर सर्व तिर्यच तथा मनुष्योंकी भवस्थिति [आयुष्य] जघन्यसे अन्तर्मुहूर्त्तकी [देव—नारककी १० हजार वर्षकी] और कायस्थिति भी [पर्याप्त अपर्याप्तकी ओघसे या पृथक्] जघन्य अन्तर्मुहूर्त्तकी ही जानें, तत्पश्चात् जीवका अनन्तर भवमें परावर्तन होता है। [२९०३]

विशेषार्थ—सुगम है। [२९०३]



॥ चारों गतिके जीवोंका कायस्थिति प्रदर्शक यन्त्र ॥

तिर्यचभेद	पर्याप्ता अपर्याप्ता	प्रत्येकाध्वयी कालसे — क्षेत्रसे	ओघसे कालसे क्षेत्रसे	पर्याप्ताकी पृथक्	सर्वकीज०
सूक्ष्मपृथ्वीकाय	मिश्ररूपमें	असंख्य उ०अ०-असंख्य लोकाकाश	अ०उ०अ०अ०-लोका०	प्रत्येक पृथ्वी अनुसार	<p>पृथ्वीका अणु, अणुपृथ्वीकी अणु या लोका अणु से पृथ्वीपृथ्वी [अणु या अणु] अणुपृथ्वी</p>
सूक्ष्मअणुकाय	"	"	"	"	
सूक्ष्मतेजकाय	"	"	"	"	
सूक्ष्मवायुकाय	"	"	"	"	
सूक्ष्मवायुकाय	"	अनंत उ०अ० अनंत लोकाकाश	प्रत्येकवत्	"	
बादरपृथ्वीकाय	"	अनंत उ०अ० अनंत लोकाकाश	प्रत्येकवत्	"	
बादरअणुकाय	"	७० को०कोटी सा०गणना नहीं है।	७० को० कोटीसागरो०	सं०सह०वर्ष० २लाख० ६ह०वर्ष	
बादरतेजकाय	"	"	"	५६ हजार वर्ष	
बादरवायुकाय	"	"	"	२४ दिवस	
बादरसा०वनस्पति	"	"	"	२४ हजार वर्ष	
बा०प्रत्येक वन०	"	"	"	सं० सहस्र वर्ष	
दोहन्त्रिय	"	"	"	८० हजार वर्ष	
त्रिद्विन्द्रिय	"	संख्याता सहस्रवर्ष	संख्याता सहस्रवर्ष	संख्याता वर्ष	
चत्वरिन्द्रिय	"	"	"	संख्याता दिवस	
सं० तिर्यचपंचे०	"	सात पूर्व कोटी वर्ष ३ पद्योपम ७ पूर्व कोटी वर्ष	"	संख्याता मास	
ग० तिर्यचपंचे०	"	३ पद्योपम ७ पूर्व कोटी वर्ष	एक हजार सागरोपम संख्याता वर्ष	पृथक्वर्षात- सागरोपम	
स०मनुष्यकी	"	अन्तर्गृहर्त्त पृथक्व	उतनी ही	X	
ग०मनुष्यकी	"	३ पद्यो० ७ पूर्व कोटी	"	X	
देवगणकी	"	कायस्थिति नहीं है अपेक्षासे भवस्थिति	"	X	

॥ तिर्यचोंका द्वितीय अवगाहना द्वार ॥

अवतरण—कायस्थितिपूर्वक तिर्यचोंका स्थितिद्वार कहकर अब अवगाहना द्वारको ओष [सामान्य अथवा समुच्चय] से कहते हैं ।

जोअणसहस्समहिअं, एगिदिअदेहमुकोसं ॥ २९१ ॥

वितिचउरिंदिसरीरं, बारस जोअणतिकोसचउकोसं ।

जोअणसहस पणिदिअ, ओहे वोच्छं विसेसं तु ॥ २९२ ॥

गाथार्थ—एकेन्द्रियका उत्कृष्ट देहमान कुछ अधिक ऐसे हजार योजन, दोइन्द्रिय जीवोंका शरीर बारह योजन, त्रिइन्द्रियका तीन कोस, चउरिन्द्रियका चार कोस (१ यो०), तिर्यच पंचेन्द्रियका हजार योजनसे कुछ अधिक, यह सर्वमान ओषसे अर्थात् समुच्चयमें कहा । विशेषसे अर्थात् भिन्न भिन्न भेद करके आगे कहेंगे । ॥ २९१-२९२ ॥

विशेषार्थ—एकेन्द्रिय शब्दसे मुख्य किसे ग्रहण करें ? वह आनेवाली गाथामें कहनेवाले हैं । यहाँ तो समुच्चयमें एकेन्द्रियकी साधिक हजार योजनकी अवगाहना कही है । इस तरह यावत् पंचेन्द्रियकी भी यहाँ ओषसे (समुच्चयसे) ही अवगाहना कही है, परंतु आनेवाली गाथामें अवगाहनाके पृथक् पृथक् नाम ग्रहणपूर्वक क्रमशः कहेंगे । [२९१-२९२]

अवतरण—अब विशेषसे अवगाहना कहते हुए प्रथम एकेन्द्रियके बारेमें कहते हैं ।

अंगुलअसंखभागो, सुहुमनिगोओ असंखगुण वाउ ।

तो अगणि तओ आऊ, तत्तो सुहुमा भवे पुढवी ॥ २९३ ॥

तो नायरवाउगणी, आऊ पुढवी निगोअ अणुकमसो ।

पत्तेअवणसरीरं, अहिअं जोयणसहस्सं तु ॥ २९४ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ २९३-२९४ ॥

विशेषार्थ—यहाँ स्थावर में पृथ्वी—अप्—तेउ—वाउ—वनस्पति ये पांच भेदो हैं । इनमेंसे वनस्पतिके दो भेद हैं । १ प्रत्येक और २. साधारण । [इसमें साधारणके तीन नाम है, निगोद कहिए, अनन्तकाय कहिए या साधारण कहिए । तीनों समानार्थक हैं] अतः पृथ्व्यादि चार और साधारण वनस्पति इन पांचोंके सूक्ष्म तथा बादर ऐसे दो भेद हैं इनमें सूक्ष्मनिगोदको साधारण वनस्पति जानें । जबकि प्रत्येक वनस्पति केवल बादर स्वरूपमें ही है, लेकिन सूक्ष्म नहीं ।

यहाँ प्रथम सूक्ष्मनिगोद [सूक्ष्म साधारण वनस्पति]का शरीर अंगुलका असंख्यातवाँ भाग प्रमाण, उससे असंख्यातगुना एक सूक्ष्म वायुकाय जीवका, उससे असंख्यातगुना एक सूक्ष्म अग्निकायका, उससे असंख्यातगुना बड़ा सूक्ष्म अप्कायका, उससे असंख्यातगुना सूक्ष्म पृथ्वीकायका समझना। उससे भी असंख्यातगुना एक बादर वायुकायका, उससे असंख्यातगुना एक बादर अग्निका, उससे असंख्यातगुना बादर अप्कायका, उससे असंख्यातगुना बादर पृथ्वीकायका, उससे भी असंख्यातगुना बड़ा अनुक्रमसे बादर निगोदका जानें। यहाँ असंख्याताके असंख्याता भेदो होनेसे उत्तरोत्तर अंगुलका असंख्यभाग, असंख्यातगुना बड़ा सोचें।

और प्रत्येक वनस्पतिकायका शरीर साधिक हजार योजनका होता है। ऐसी बड़ी अवगाहना, गहरे जलाशयोंकी कमल आदि वनस्पतिमें ही मिलेगी। परंतु पृथ्वी पर अन्य किसी वृक्षपंक्तिकी नहीं मिलेगी।

इस तरह एकेन्द्रियकी अवगाहनाका वर्णन किया।

इन जीवोंके देहमानके अल्पबहुत्वमें उत्तरोत्तर असंख्यगुण शरीर बताया है तो अंतिम बादर निगोदका बहुत बड़ा हो जाएगा क्या? इसका उत्तर यह है कि—उत्तरोत्तर अपेक्षासे भले बड़ा हो, लेकिन अंतमें तो अंगुलके असंख्य भागका ही होता है, स्व-स्वशरीर स्थानमें तमाम जीव अंगुलके असंख्येय भाग प्रमाण ही जानें। [२९३—२९४]

अवतरण—यहाँ शंका होती हो कि पूर्वोक्त जीवोंके देहमान उत्सेधांगुलसे बताये; जबकि समुद्र तथा पद्मद्रहादि जलाशयोंके मान तो प्रमाणांगुल मानवाले [अर्थात् उत्सेधांगुलसे चारसौ गुने बड़े] हैं, तो उत्सेधांगुलके मानवाले वनस्पत्यादिकके हजारयोजनका मान प्रमाणांगुलसे निष्पन्न हजार योजन गहरे, समुद्र—द्रहादिकमें कैसे घटेगा? क्योंकि द्रहमान तो शरीरमानसे चारसौ गुना गहरा होता है, तो फिर उसमें हजार योजनसे अधिक मानवाली वनस्पतिकाय रूप वनस्पतिका संभव किस तरह हो सके? उसके समाधानके लिए ग्रन्थकार जणाते हैं कि—

४३९. यह अभिप्राय श्री चन्द्रिया संग्रहणीका है और उसके टीकाकार देवभद्रसूरिजीने उसके समर्थनमें भगवतीजी श० १९, उ. तीसरेका पाठ भी प्रस्तुत किया है। जब कि जिनभद्रगणि क्षमाभ्रमणजी ऊपरके विधानसे अलगा पडते हैं। वे तो उनकी संग्रहणीकी वर्णतसरारण एगं निलसरारणं प्रमाणेण (गा० ३११) इस माथाका 'अनन्त शरीरी साधारण वनस्पतिकायके जीवोंका जो शरीर प्रमाण वही प्रमाण वायुकायके शरीरका ऐसा स्पष्ट कहते हैं। और उसकी टीका कहते हुए सर्वभूमि टीकाकार श्री मलयगिरिजी 'यावत्प्रमाणं साधारणवनस्पति शरीरं तावत्प्रमाणमेव वायुकायिकैकजीवशरीरमिति' इस तरह निश्चयात्मक रीतसे स्पष्ट व्याख्यान करते हैं।

उत्सेहंगुलजोअण-सहस्समाणे जलासए नेयं ।

तं वल्लि पउमपमुहं-अओ परं पुढवीरुवं तु ॥ २९५ ॥

गाथार्थ—उत्सेधांगुलसे हजार योजन मानवाले जलाशयोमें वह वेल, पद्म—कमल प्रमुख [प्रमुख शब्दसे वैसे वनस्पतिरूप अन्य कमलादिक] जनें । इससे [अधिक मानवाले जहाँ हों वे] दूसरे सर्व पृथ्वीकायरूप जनें । ॥ २९५ ॥

विशेषार्थ—यहाँ उत्सेधांगुल क्रमशः साथमें रखे आठ नौ के बिचके भागकी जितनी लंबाई हो वह । और उस उत्सेधांगुलको चारसौ गुना करने पर एक ही प्रमाणांगुल होता है । इस उत्सेधांगुलमें हजार योजन गहराईवाले वे—समुद्र, द्रवादिगत आए हुए गोतीर्थादि जलाशयोमें ये साधिक हजार योजन प्रमाणवाले प्रत्येक वनस्पतिस्वरूप लता, कमल आदि सोचें ।

[पूर्व गाथा के 'अहियं जोयणसहस्सं' इस पदसे अधिकत्व कितना ले ? तो (हजार योजन जलकी गहराई और) जलसे कमल जितना ऊँचा रहे उतना]

जहाँ उत्सेधांगुलसे नहीं लेकिन प्रमाणांगुलसे निष्पन्न हजार योजन गहरे समुद्रादि स्थानकमें कमलका अस्तित्व हो वहाँ उन कमलको (पृथ्वीकायके जीवोंसे) पृथ्वीकाय स्वरूप ही सोचें । आकार तो सारा कमल जैसा होने पर भी वे वनस्पतिकायरूप नहीं होते अर्थात् वे पृथ्वीकायके जीवोंके शरीरसे ही बने होते हैं । जैसे प्रमाणांगुल निष्पन्न १० योजन गहरे पद्मद्रवमें श्रीदेवीका कमल पृथ्वीकायस्वरूप है वैसे । क्योंकि शरीरका माप उत्सेधांगुलसे नापनेका कहा है ।

समुद्रमें उत्सेधांगुलसे हजार योजन गहराईवाले स्थलमें गोतीर्थादि [हजार योजन गहराईवाले] स्थान भी आए हैं । तत्रवर्ती कमलो पृथ्वीकाय तथा वनस्पतिकाय इस तरह दोनों प्रकारके सोचें, अतः इस शेष गोतीर्थादि स्थानकमें भी पूर्वोक्त गाथामें कहा गया वल्ली—पद्मप्रमुख प्रत्येक वनस्पतिका साधिक हजार योजनका अवगाह सोचें । साथ ही अढाईद्वीपके बारह हजार योजन जितनी बड़ी बड़ी लताएँ भी हैं । [२९५]

अवतरण—एकेन्द्रियकी अवगाहना कहकर, अब दोइन्द्रियसे लेकर तिर्यच पंचेन्द्रिय जीवोंके नामग्रहणपूर्वक क्रमशः देहमानके बारेमें कहते हैं ।

४४०. गोतीर्थ—अर्थात् जलमें रहा ऊँचा ऊँचा चढता तालाबकी तरह ढालवाला (बैठी हुई गावके आकर जैसा) भाग ।

४४१. जोयणसहस्समहिअं और उत्सेहंगुलओ० इत्यादि 'विशेषणवती' की गाथाएँ साक्षी देती हैं ।

वारसजोअण संखो, तिकोस गुम्मी य जोयणं ममरो ।
मुच्छिमचउपयभुअगुरग, गाउअधणुजोअणपुहुत्तं ॥ २९६ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् ॥ २९६ ॥

विशेषार्थ—अढाईद्वीपके बाहर स्वयंभूरमणादि समुद्रमें उत्पन्न होते शंस आदि प्रकारके दोइन्द्रिय जीवोंका उत्कृष्ट देहमान बारह योजनका, त्रिइन्द्रिय—कानसजुरे, मकोडे आदि की लंबाई तीन कोसकी, चउरिन्द्रिय—भ्रमर, बिच्छू, मक्खी आदि का देहमान एक योजनका होता है ।

तिर्यच पंचेन्द्रियमें संमूर्च्छिम चतुष्पद [अढाईद्वीपके बाहर जो होते हैं] वो हाथी आदिका उत्कृष्ट देहमान कोस पृथक्त्व अर्थात् [दो से नौ कोस तककी संख्या पृथक्त्व कहलाता है] दो से नौ कोस तकका, संमूर्च्छिम भुजपरिसर्प नेवले आदिका धनुष ^{***}पृथक्त्व दो से नौ धनुष तक, और संमूर्च्छिम उरपरिसर्प सर्पादिकका योजनपृथक्त्व दो से नौ योजन तक में यथायोग्यरूपमें होता है ।

ऐसी बृहत् अवगाहनावाले ^{***}जीव प्रायः अढाईद्वीपके बाहर जहाँ मनुष्योंकी तो बसती ही नहीं है, केवल तिर्यच ही वहाँ होते हैं, परंतु मनुष्य क्षेत्रमें तो जीव अरुप अवगाहनावाले होते हैं । [२९६]

अवतरण—प्रस्तुत कथन संमूर्च्छिम गर्भजमें उतारते हैं ।

गम्भचउप्पय छग्गाउआइं भुअगा उ गाउअपुहुत्तं ।

जोअणसहस्सगुरगा, मच्छाउभए वि अ सहस्सं ॥ २९७ ॥

गाथार्थ—गर्भजचतुष्पद हाथी आदिका [देवकुरु-उत्तरकुरुमें] उत्कृष्ट देहमान छः कोसका, गर्भज भुजपरिसर्प नेवले आदिका गन्वृतपृथक्त्व [दो से नौ कोसका] सर्प—अजगरादिक गर्भज उरपरिसर्पोंका एक हजार योजनका है [यहाँ स्थलचर जीवोंका वर्णन पूर्ण हुआ ।] तथा जलचरमें स्वयंभूरमण समुद्रवर्ती संमूर्च्छिम तथा गर्भज दोनों

४४२. किसी किसी स्थान पर (जीवविचारादिककी वृत्तिमें) 'उरगाभूयगा य जोयणपुहुत्तं' पाठसे योजन पृथक्त्व जणाते हैं लेकिन वह घटित नहीं लगता ।

४४३. प्रायः कहनेका कारण,—अन्तर्मुहूर्त्तके आयुष्यवाले, जन्म होते ही शीघ्र १२ योजन जितनी कायावाले होकर तुरंत मृत्यु पाने पर, पृथ्वीमें बारह योजन जितना बड़ा गड्ढा पडता है । चक्रीकी—सेना—नगर भी समा जाए, ऐसी जातिके आसालिक सर्प भी जो दोइन्द्रिय (मत्तांतरसे तिर्यच पंचेन्द्रिय) जातिके हैं, वैसे महाकाय प्राणी उक्त कथनसे अढाईद्वीपमें (कर्मभूमिमें ही) भी हो सकते हैं और वे मिथ्यादृष्टि तथा अन्तर्मुहूर्त्तके आयुष्यवाले होते हैं ।

जलचर - मत्स्योका भी एक हजार योजनका देहमान होता है । [यहाँ जलचर भी पूर्ण हुए ।] ॥ २९७ ॥

विशेषार्थ—सुगम है । [२९७]

अवतरण—उसी खेचरके बारेमें कहकर सर्वका जघन्यमान कहते हैं ।

पक्षिखदुग्धपुहत्तं, सञ्वाणंगुलअसंखभाग लहू* ॥ २९७^३ ॥

गाथार्थ—खेचरमें हंस, तोते, चमगादड़ आदि प्रकार के समूर्च्छिम तथा गर्भज पक्षियोंका धनुष पृथक्त्व [२से ९ घ०] का देहमान है । [इति तिरश्चामुत्कृष्टावगाहना]

एकेन्द्रियसे लेकर यावत् पंचेन्द्रिय तकके सर्व तिर्यचोकी अवगाहना [उपपात-समयाश्रयी] जघन्यसे अंगुलके असंख्यातवें भागकी जानें । ॥ २९७^३ ॥

विशेषार्थ—वैक्रिय शरीरकी लब्धिवाले तिर्यच जीवों दो हैं । एक पर्याप्तबादर वायुकाय और दूसरा पर्याप्ता संख्यातावर्षायुषी गर्भज पंचेन्द्रिय । इनमें तथाविधि लब्धि-प्रत्ययिक वैक्रियशरीरी वायुकायकी अवगाहना जघन्योत्कृष्ट दोनों प्रकारसे, अंगुलके असंख्यातवें भागकी ही होती है । जब कि उक्त प्रकारके तिर्यच पंचेन्द्रिय जीवोंकी जघन्य अवगाहना अंगुलके संख्य भागकी है जबकि उत्कृष्ट अवगाहना तो योजनशतपृथक्त्व [२०० से ९०० यो० तक] की है । [२९७^३] [इति जघन्यावगाहना]

तीसरा-चौथा उपपात-च्यवन विरहकाल तथा पाँचवां-छठा
उसका संख्याद्वार ॥

अवतरण—अवगाहना के द्वारको बताकर, तीसरे, चौथे उपपात च्यवनविरह द्वारको कहने-पूर्वक, पाँचवें छठे संख्याद्वारमें उपपात तथा च्यवन संख्या जघन्यसे कहते हैं । एकेन्द्रिय का उत्पात और च्यवन प्रतिसमय चालु होनेसे उसे इन दो द्वारोंका संभव नहीं है, अतः इन्हें छोड़कर दोइन्द्रियादिक जीवोंमें द्वार घटना कहते हैं ।

विरहो विगलासन्नीण, जम्ममरणेषु अंतमुहू ॥ २९८ ॥

गब्धे मुहुत्त बारस, गुरुओ लहुओ समय संख सुरतुल्ला ॥ २९८^३ ॥

गाथार्थ—विकलेन्द्रिय अर्थात् दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंका तथा

असंज्ञीसे समूर्च्छित तिर्यच पंचेन्द्रियका जन्म-मरणके विचका उपपात तथा च्यवनविरहकाल उत्कृष्ट से अंतर्मुहूर्त्तका जानें । गर्भजपंचेन्द्रियतिर्यचका उत्कृष्ट उपपात तथा च्यवनविरह बारह मुहूर्त्तका जानें ।

अब उपपात तथा च्यवनसंख्याको जणाते शेष दोइन्द्रियादिसे यावत् पंचेन्द्रिय तकके सर्व जीवोंकी एक समय उपपात तथा च्यवनसंख्या देव तुल्य [वह एक, दो, तीन यावत् संख्य असंख्य] जानें । एकेन्द्रिय जीवोंकी संख्या आगे कहते हैं । ॥ २९८३ ॥

विशेषार्थ—यहाँ सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय जीवोंका उपपात तथा च्यवन विरहकाल नहीं है । इसी लिए ग्रन्थकारने कहा भी नहीं है । इसका कारण यह है कि—पृथ्व्यादिक चार तथा [परस्थान-स्वस्थानाश्रयी] निगोदके जीवोंकी उत्पत्ति और मरण संख्या असंख्य और अनन्ता प्रमाणमें प्रतिसमय होती है, जिससे विरहकालका नियमन ही घटता नहीं । यही खुलासा गाथा ३०० के अर्थमें ग्रन्थकार खुद ही देनेवाले है । इति विरहकालमानम् ॥ २९८३ ॥

अवतरण—अब एकेन्द्रियका उपपात-च्यवनविरह नहीं है, इसे बताकर उन जीवोंकी उपपात-च्यवनविरह संख्याको विशेष प्रकारसे जणाते हैं ।

अणुसमयमसंखेजा, एगिदिअ हुंति अ चवंति ॥ २९९ ॥

वणकाइओ अणता, एकेकाओ वि जं निगोआओ ।

निच्चमसंखो भागो, अणतजीवो चयइ एइ ॥ ३०० ॥

गाथार्थ — विशेषार्थवत् ॥ २९९-३०० ॥

विशेषार्थ — यहाँ ग्रन्थकारके 'एगिदिय' शब्द व्यवहारसे पांच प्रकारके एकेन्द्रिय-मेंसे प्रथमके चारको ग्रहण करें । जिससे पृथ्वी, अप्, तेउ, वायुकायके जीवो, सामान्यतः समय समय पर असंख्याता उत्पन्न होते हैं और असंख्याता च्यवीत होते हैं; परंतु कभी भी एक, दो या संख्याताकी संख्या नहीं होती ।

वनस्पतिकायके जीव तो हमेशा स्वस्थानकी अपेक्षासे अनन्ता उत्पन्न होते हैं और अनन्ता च्यवित होते हैं । [परस्थानकी अपेक्षासे लें तो असंख्य जीवोंका उत्पन्न होना-मरना होता है । क्योंकि (सूक्ष्म या बादर) निगोदकी वर्ज्य शेष चारों निकार्यों तथा त्रसकायके जीवोंकी संख्या ही असंख्याती है ।]

अब स्वस्थानकी अपेक्षासे अनन्ता किस तरह उत्पन्न होते हैं ? इसका समाधान यह है कि—एक एक निगोदमें विवक्षित समय पर जो अनंत जीव हैं, उनमेंसे एक ही अर्थात् निश्चित क्रिये समय पर (सूक्ष्म या बादर) निगोदका (अनंतजीवात्मक) असंख्या-

तवाँ भाग ही एक एक समयमें मरता है । (च्यवित होता है) और पुनः उसी समय पर अनंत जीवात्मक एक असंख्यातवाँ भाग परभवमेंसे आकर उत्पन्न होता है । [एक निगोद में अनन्ता जीव च्यवन-उत्पत्तिमें प्राप्त होते हैं तो सर्व निगोदोंकी बात करें तो तो पूछना ही क्या ?] इस तरह प्रतिसमय एक एक असंख्यांश घटते घटते विवक्षित निगोदके सर्व जीवो मात्र अन्तर्मुहूर्त्तमें ही परावर्त्तन पाते हैं, जिससे अन्तर्मुहूर्त्त व्यतीत होने पर दूसरे समय पर देखें तो विवक्षित निगोदोंमें सर्व जीव नये ही आए होते हैं, और पूर्वका एक भी जीव विद्यमान नहीं होता; इस प्रकार जैसे एक निगोद अन्तर्मुहूर्त्त मात्रमें सर्वथा परावर्त्तन पावे वैसे जगतकी हरेक निगोद भी अन्तर्मुहूर्त्त मात्रामें परावर्त्तन पाती है, इस तरह सदाकाल निगोद प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त्तमें सर्वथा नई नई उत्पन्न होती हैं । परंतु वह निगोद कभी भी जीवरहित नहीं होती और इसी लिए इन जीवोंका जन्म-मरणका विरहकाल भी नहीं होता । [२९९-३००]

अवतरण-निगोद गोलकरूप है; तो उस गोलेकी संख्या कितनी ? आदि स्वरूपके बारेमें कहते हैं ।

गोला य असंखिज्जा, अस्संखनिगोअओ हवइ गोलो ।

एकैकम्मि निगोए, अणंतजीवा गुणोयन्वा ॥ ३०१ ॥

गाथार्थ—गोले असंख्यात हैं, असंख्य-असंख्य निगोदोंका एक गोला होता है और एक एक निगोदमें अनन्ता जीव जाँने ॥ ३०१ ॥

विशेषार्थ—समग्र लोकाकाशमें गोले भरे होनेसे निगोदके सर्व गोले असंख्यात हैं । एक एक निगोदके गोले में निगोदिये जीवके साधारण शरीर असंख्य असंख्य हैं, [समावगाही असंख्य निगोदोंका नाम ही गोला है] साथ ही एक एक निगोदमें ज्ञानी महर्षियोंने अनंत अनंत जीव कहे हैं, इस एक एक निगोदाश्रयी जीवो तीनों कालके सिद्धके जीवोंसे अनंतगुने आज हैं और अनंतकाल जाने पर भी अनंतगुने ही रहनेवाले हैं; जिसके लिए कहा है कि

‘जइआइ होइ पुच्छा जिणाणभग्गमि उत्तर तइया ।

इक्कस्सय निगोयस्स अणंतभागो अ सिद्धिगओ ॥ १ ॥’

स्पष्ट है । इसीलिए कहा है कि—

“घटे न राशि निगोदकी, बढे न सिद्ध अनंत ।”

पुद्गलोंसे सर्व लोक जैसे व्याप्त हैं वैसे जीवोंसे भी यह लोक सर्वत्र व्याप्त है अर्थात् निगोदादि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव अंजनचूर्णसे भरी डिब्बियाकी तरह ठांस ठांस कर

लोकमें सर्वत्र रहे हैं; उन सूक्ष्मजीवोंका मनुष्यादि जीवोंको हलचलसे, शस्त्रादिकसे, अभिसे भी नाश नहीं होता । ये जीव किसी भी कार्यमें अनुपयोगी तथा शस्त्रादिकके घातसे अविनाशी चर्मचक्षुसे अदृश्य होनेसे 'सूक्ष्म' कहलाते हैं, इनसे विपरीत लक्षणवाले जीव 'बादर' कहलाते हैं ।

इस निगोदके जीव दो प्रकारके हैं । १ सांख्यव्यवहारिक, २ असांख्यव्यवहारिक । जो जीव अनादि सूक्ष्म निगोदसे एक बार भी निकलकर शेष सूक्ष्म-बादर पृथ्व्यादि जीवोंमें उत्पन्न होते दृष्टिपथमें आते हैं वहाँ वे पृथ्व्यादि विविध नामके व्यवहार (अनादिकालसे 'सूक्ष्म निगोद' रूपका सूक्ष्मत्व नष्ट करके अन्य नामसे व्यवहार होना वह) के योगसे सांख्यव्यवहारिक गिना जाता है । साथ ही सांख्यव्यवहारिककी छाप पाये हुए जीव दुर्भाग्य योगसे पुनः निगोदमें जाए तो भी एक बार व्यवहारमें आ गये होनेसे, वहाँ भी उनका व्यवहार सांख्यव्यवहारिक रूपमें ही होता है ।

असांख्यव्यवहारिक वे कहलाते जो जीवो अनादिकालसे गुफामें जन्म लेते और गुफामें मरे की तरह सूक्ष्म निगोदमें ही रहे हैं, कदापि बाहर निकलकर बादरत्व या त्रसादिकपन पाये नहीं हैं । [मतांतरसे कदापि सूक्ष्म निगोद वर्जित करके अन्य पृथ्वी आदि सूक्ष्म या बादरके व्यवहारमें नहीं आये हैं वे]

जितने जीवो सांख्यव्यवहारिक राशिमेंसे मोक्षमें जाएँ, उतने ही जीवो असांख्यव्यवहारिक राशिमेंसे निकलकर सांख्यव्यवहारिक राशिमें आते हैं । जिससे व्यवहारराशि हमेशा समान रहे, जबकि असांख्यव्यवहारिक राशि हर समय घटती जाए, (परंतु कदापि अनंत मिटकर असंख्य न ही हो ।) इस निगोदमें भव्य तथा अभव्य जीवो सदाकाल अनंत-अनंत ही होते हैं । ऐसे भी अनंतभव्य जीवो हैं कि जो सामग्रीको पानेवाले नहीं हैं और मुक्तिमें जानेवाले भी नहीं हैं ।

निगोद अर्थात् 'अनंत जीवोंका साधारण एक शरीर' जो स्तिबुकाकार (पानीके बुलबुले) समान है ।

इस निगोदमें वर्तित जीव समकालमें उत्पन्न होनेवाले होते हैं, अनंतजीवोंकी शरीर रचना, उच्छ्वास, निःश्वास, आहारादि योग्य पदुगलोंका ग्रहण विसर्जन आदि, एक साथ ही समकालमें होता है, और इसीसे साधारण (समान स्थितिवाले) रूपमें पहचाने जाते हैं ।

ये सूक्ष्म निगोद जीव बादर निगोदसे असंख्य गुना होनेसे अनंत हैं, अनंत जीवोंका औदारिक शरीर एक ही होता है (तैजस-कामण प्रत्येकके अलग ही होते हैं) और उसका देहमान अंगुलके असंख्यातवें भागका मात्र है, इतनी एक सूक्ष्म शरीरावगाहनामें

अनंत जीव किस तरह समा जाए ? ऐसी शंका होती है, परंतु जिस तरह लोहेके गोलेमें अग्नि, एक कमरेमें वृत्तित दीपकके तेजमें अन्य सैकड़ों दीपकका तेज, एक तोले पारेमें १०० तोले सोनेके औषधबलका समावेश इत्यादि रूपी पदार्थका अवगाहन (प्रवेश-संक्रान्त) होता है, वैसे एक, दो यावत् अनंत जीवो भी एक दूसरेमें प्रवेश करके-संक्रमण करके एक ही शरीरमें समान अवगाहनामें रहें, उसमें द्रव्योंके परिणाम-स्वभावकी विचित्रता देखने पर कुछ भी आश्चर्य नहीं है। एक शरीरमें रहे अनंत निगोदके जीव अव्यक्त (अस्पष्ट) वेदनाका जो अनुभव करते हैं वह सातवीं नरक पृथ्वीसे भी अनंतगुनी दुःखदायक है। भले प्रकटरूपमें वेदना नरककी है किन्तु अप्रकटरूपमें तो इन जीवोंकी ही वेदना बढ जाती है।

इस निगोदकी ३७ प्रकारसे व्याख्या होती है जो श्री लोकप्रकाश ग्रन्थके तीसरे सर्गसे जानें।

इस निगोदका संस्थान सामान्यतः हुंडक है, परंतु वास्तवमें तो अनियमित आकारका है। निगोदका देहमान अंगुलके असंख्यातवें भागका है। निगोदके जीव संघयण रहित हैं।

बादर निगोदका किंचित् अधिक स्वरूप जीवके ५६३ भेदके वर्णनमेंसे देखना। निगोद गोलक, उत्कृष्ट पद, जघन्य पद तथा समावगाही-विषमावगाहीपन तथा अवगाहनादि सर्व स्वरूप निगोद छत्तीसी तथा आगमशास्त्रोंमें से देखें। [३०१]

अवतरण—असांव्यवहारिक जीवो कितने हैं ? उसका मान कहते हैं।

अत्थि अणंता जीवा, जेहि न पत्तो तसाइपरिणामो।

उप्पज्जंति चयंति य, पुणोवि तत्थेव तत्थेव ॥ ३०२ ॥

गाथार्थ—एसे अनंत जीव हैं कि जो जीव त्रसादिक लब्धिपरिणामको पाये नहीं है, क्योंकि वे (असांव्यवहारिक जीव) वहीं पर बारबार उत्पन्न होते हैं तथा (बारबार) मरते हैं। ॥ ३०२ ॥

विशेषार्थ—पूर्व गाथामें इसका स्वरूप कहा गया है कि जो जीव कदापि सूक्ष्म वनस्पतिपन वर्ज्य सूक्ष्म पृथ्वीकायादि, बादर निगोद-पृथ्वीकायादिपन पाये ही नहीं हैं, परंतु सूक्ष्म निगोदमें ही पुनः पुनः जन्म-मरण करते हैं, वैसे अव्यवहारराशिवाले अनंतानंत हैं। [३०२]

अवतरण—अब प्रत्येक वनस्पतिमें अनंतकायका संभव कब हो ?

सन्वोऽपि किसलयो खलु, उगममाणो अणंतो भणिओ ।
सो चैव विवड्ढंतो, होइ परिचो अणंतो वा ॥ ३०३ ॥

गाथार्थ—सर्व किसलय मी [प्रारंभकी उद्गम अवस्था—कोमल पणोंके समय] अर्थात् प्रथम उद्गम अवस्थावाली वनस्पतियाँ उगते समय निश्चित अनंतकाय होती हैं, ऐसा श्री तीर्थकर तथा गणधरभगवंतोंने बताया है तथा पश्चात् वृद्धि पाते वे ही वनस्पति किसलय, प्रत्येक होनेवाले हों तो प्रत्येक होते और साधारण वा अनंतकाय [बादर निगोदस्वरूप] होनेवाले हों तो अनंतकाय होते हैं । ॥ ३०३ ॥

विशेषार्थ—यहाँ भावार्थ ऐसा समझना कि—कोई बीज भूमिमें बोया हो तो, मृत्तिका और जलके संयोगसे उसी बीजका जीव मृत्यु पाकर उसीमें पुनः उत्पन्न होकर अथवा उसी बीजका जीव मरकर अन्य स्थानमें जाए तो दूसरा कोई पृथ्वीकायादिकमेंसे मरा हुआ जीव इस बीजमें उत्पन्न होकर प्रथम उस बीजकी विकस्वर अवस्था करे तथा विकस्वर अवस्था करके स्वयं मूलरूपमें परिणत हो और प्रथम विकस्वर अवस्था होनेके बाद उसमें तुरंत ही अनंत जीव उत्पन्न होकर किसलय अवस्था रचते हैं । ये उत्पन्न हुए अनंत जीव मरनेके बाद, उस मूल स्थानमें उत्पन्न हुआ जीव उस किसलयमें व्याप्त हो जाता है ।

प्रत्येक वनस्पतिके इन किसलयोंका अनंतकायत्व (अवस्था) अन्तर्मुहूर्त्त टिकता है । तत्पश्चात् वे किसलय प्रत्येक (एक एक शरीरमें एक एक जीववाला) होते हैं, क्योंकि निगोदकी उत्कृष्ट स्थिति मी अन्तर्मुहूर्त्तकी ही है । जबकि प्रत्येक हों तब अन्य अनंत जीव मर जाते हैं ।

हजारों वनस्पतियोंके जीवोंके—अनेक गहन रहस्य, उनकी अकल समस्याएँ तथा अद्भुत विचित्रताओंसे भरे हैं । उनके अभ्यासके लिए अनेक जिदगियाँ देनी पड़े वैसे हैं । मानवकी बुद्धिमें समझमें न आवें वैसे रहस्य उनमें देखनेको मिलते हैं, लेकिन मानव स्थूल बुद्धिवाला प्राणी है, उससे सूक्ष्म रहस्योंके भेदो थोड़े ही सुलझनेवाले हैं ? वहाँ श्रद्धावादका ही समादर करना पड़ेगा । [३०३]

अवतरण—अब यह एकेन्द्रियत्व जीव किस [कर्मके] कारणसे प्राप्त करता है ? यह कहते हैं ।

४४६. पृथ्वीकायादिकको साधारण या अनंतकायत्व नहीं है; इसका कारण उसमें अनंत जीवात्मकत्व नहीं है वह है । परंतु उन्हें प्रत्येक नामकर्मका उद्भव होनेसे प्रत्येक वनस्पतिकी तरह हरेकके आगे 'प्रत्येक' शब्द लानेमें हरकत नहीं है ।

जया मोहोदयो तिव्वो, अन्नाणं सुमहब्भयं ।

पेलवं वेअणीयं तु, तथा एगिदिअत्तणं ॥ ३०४ ॥

गाथार्थ—जब मोहोदय अर्थात् मैथुनाभिलाषकी अत्यन्त गाढ-तीव्रता वर्तित हो। अच्छी तरह अनाभोगरूप—महाभयानक [क्योंकि अज्ञान वस्तु सचेतन ऐसे जीवको मी कठिनाईमें डालकर अचेतनरूप करता है उस अज्ञानसे कौन डरता नहीं? अर्थात् सर्व कोई डरता है।] ऐसा अज्ञान वर्तित हो, असार—अशातारूप वेदनीय कर्म उदयमें आया हो, तब जीव महादुःखसे ऐसा एकेन्द्रियत्व प्राप्त करता है अतः मैथुनाभिलाष, अज्ञानको दूर करनेके लिए शील—संयम तथा ज्ञानोपासनामें उद्यमशील बनना । ॥ ३०४ ॥

विशेषार्थ—गाथार्थवत् सुगम है । [३०४]

॥ तिर्यचोंका सातवाँ गतिद्वार ॥

अवतरण—उष्पात, च्यवन, विरहकाल तथा उसकी संख्याके द्वारों इस तरह चारों द्वार बत्ताकर अब कौनसे जीव तिर्यचमें जाए? वह गतिद्वार कहलाता है ।

तिरिण्णु जंति संखाउ-तिरिनरा जा दुक्कप्पदेवा उ ।

पज्जत्तसंखगब्भय-बादरभूदग परित्तेसुं ॥ ३०५ ॥

तो सहसारंतसुरा, निरया य पज्जत्तसंखगब्भेसु ॥ ३०५३ ॥

गाथार्थ—संख्याता वर्षायुषी तिर्यच तथा मनुष्य तिर्यचमें जाते हैं और यावत् दो कल्प तकके देव, पर्याप्ति संख्यातायुषी गर्भज, तिर्यच तथा पर्याप्ति बादर पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पतिमें जाते हैं और उससे उपरके [सनत्कुमारसे लेकर] सहस्रारान्त तकके देव तथा सर्व नारको, पर्याप्ता संख्याता वर्षायुषी गर्भज तिर्यचमें जाते हैं । ॥३०५३॥

विशेषार्थ—गाथाके तिर्यच शब्दसे सूक्ष्म और बादर एकेन्द्रिय—दोइन्द्रिय—त्रिइन्द्रिय-चउरिन्द्रिय तथा संख्यातायुषी पंचेन्द्रिय तिर्यच लेना तथा मनुष्योंसे समूर्च्छिम तथा संख्य वर्षायुषी गर्भज पंचेन्द्रिय मनुष्य, वे सर्व स्वभवमेंसे मरकर [नरक—देव—युगलिकरव वर्ज्य] तिर्यचमें जाते हैं। अर्थात् पर्याप्ता वा अपर्याप्ता ऐसे एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय तिर्यचमें जाते हैं ।

साथ ही गाथाके 'यावत् दो कल्प' शब्दसे भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा वैमानिक निकायके सौधर्म, ईशान इस कल्प तकके देव लेने हैं। ये देव मरकर पर्याप्ता

संख्यातावर्षायुषी गर्भज तिर्यचमें और पर्याप्ता ^{४४७}बादर पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पतिमें जा सकते हैं । उससे आगेके सनत्कुमारसे लेकर सहस्रार तकके देव तथा सर्व नारक पर्याप्ता संख्यवर्षायुषी गर्भज तिर्यचमें जाते हैं, उससे ऊपरके कल्पके देव मरकर तिर्यचमें नहीं आते । [३०५३]

॥ तिर्यचोंका आठवाँ आगतिद्वार ॥

अवतरण—अब तिर्यच स्वभवसे मरकर कहाँ जाते हैं ? वह ^{४४८}आगतिद्वार तथा किस लब्धि-शक्तिको प्राप्त करे ? यह कहते हैं ।

संख्यर्षिदिअतिरिआ, मरिउं चउसु वि गइसु जंति ॥ ३०६ ॥

थावर विगला नियमा, संखाउअ तिरिनरेसु गच्छंति ।

विगला लभेज्ज विरइं, सम्मंपि न तेउवाउच्चुआ ॥ ३०७ ॥

गाथार्थ—संख्यातायुषी पंचेन्द्रियतिर्यच जीव मरकर चारों गतिमें जाते हैं । स्थावर-विकलेन्द्रिय मरकर निश्चित रूपसे संख्यातवर्षायुषी तिर्यच तथा मनुष्यमें जाते हैं । वहाँ विकलेन्द्रिय [सर्व] विरतिको प्राप्त करते और तेउ तथा वायुकायके जीव मरकर सम्यक्त्वको भी नहीं पाते । ॥ ३०६-३०७ ॥

विशेषार्थ—संख्यातावर्षायुषी पंचेन्द्रियतिर्यच जीव मरकर एक मोक्षको छोड़कर शेष ^{४४९}देव-^{४५०}नरक-तिर्यच-मनुष्य इन चारों गतिमें जाते हैं । स्थावरोंसे सूक्ष्म-बादर एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय-दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय तथा चउरिन्द्रिय, स्वभावसे च्युत होकर अनन्तरभवमें निश्चित एकेन्द्रियसे लेकर संख्यात वर्षायुषी तिर्यचपंचेन्द्रियमें तथा मनुष्यमें ही जाता है, परंतु असंख्य वर्षायुषी तिर्यच मनुष्यमें तथा देव नारकीमें नहीं जाते और वहाँसे आते भी नहीं ।

४४७. देव, नारकी और असंख्य आयुषी तिर्यच-मनुष्य, सूक्ष्ममें गमन नहीं करते वैसे वहाँसे आते भी नहीं हैं । ४४८. संग्रहणी ग्रन्थकारके टीकाकारने-अन्यभवसे विवक्षित भवमें आवे उसे गति कही तथा विवक्षित भवसे अन्यगतिमें जाए उसे आगति कही है । यहाँ विवक्षा भेद प्रमाण है । अन्यथा अन्य स्थल पर विपरीत रीतसे अर्थात् विवक्षित भवसे अन्यत्र जाए उसे गति तथा अन्यभवसे उसमें-विवक्षित भवमें आवे उसे आगति कही है । ४४९. संमू० पंचेन्द्रिय तिर्यच नरकमें जाए तो पहले नरक तक ही । ४५०. संख्य वर्षायुषी देवलोकेमें यावत् आठवें कल्प तक जाता है, तथा असंख्य आयुषी गर्भज तिर्यच स्वभव तुल्य अथवा उससे न्यून स्थितिवाला देवत्व प्राप्त करे लेकिन अधिक स्थितिवाला नहीं । साथ ही असंख्य आयुषी खेचर तथा अन्तर्दीपोत्पन्न पंचेन्द्रिय तिर्यच भवनपति-व्यन्तर तक ही जाता है क्योंकि इससे आगे तो पल्पोपमके असंख्यातवें भागवाली स्थिति नहीं है, इससे असंख्यायुषी ईशानसे आगे नहीं जाते । जो बात देवद्वारमें आई गाथा परसे समझमें आ सकती है ।

इनमें जो विकलेन्द्रिय मस्कर अनन्तरभवमें मनुष्यत्व पाए हों तो वहाँ सर्व विरति-पनेको पा सकते हैं, परंतु सर्व विरतिपन पाकर उसी भवमें सिद्ध होते नहीं हैं। साथ ही तेज तथा वायुकायके जीव अनन्तर भवमें तथाविध भवस्वभावसे मनुष्यरूपमें उत्पन्न नहीं होते, परंतु शेष तिर्यचमें ही उत्पन्न होते हैं, और भारी कर्मके उदयसे भवस्वभावसे ही सम्यक्त्वके लाभसे भी वंचित ही रहते हैं। विकलेन्द्रिय तथा तेज, वायुकायके सिवाय शेष संमूर्च्छिम-गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यच तथा मनुष्य और सूक्ष्म बादर पृथ्वी-अप-वनस्पतिके जीव तो अनन्तरभवमें मनुष्यत्व पाकर मुक्तिको भी पाते हैं। [३०६-३०७]

अवतरण—इस तरह आठों द्वार समाप्त करके, अब तिर्यचोंकी लेख्या कहनेके पूर्व मनुष्यगति अधिकारमें मनुष्याश्रयी लेख्या नहीं कही गई थी, लाघवार्थ उसे भी तिर्यचोंकी व्याख्याके प्रसंग पर यहाँ कहते हैं।

४५१. **सम्यक्त्व** अर्थात् क्या ?—निश्चय दृष्टिसे सर्वज्ञभाषित तत्त्वों परका यथार्थ श्रद्धान, जड-चैतन्यका सच्चा विवेक करनेवाली दृष्टि। व्यवहारदृष्टिसे सुदेव, सुगुरु, सुधर्मका स्वीकार तथा कुदेव, कुगुरु, कुधर्मका अस्वीकार।

अनादिकालसे मिथ्याज्ञान तीव्रमोह-अविद्याके कारण जीवको सदसत् वस्तुका विवेक जाग्रत होता नहीं, अतः सत्में असत् और असत्में सत्बुद्धि धारण करके, तदनुसार स्वीकार करके, तदनुकूल आचरण करता है। परिणाम स्वरूप असत्का स्वीकार उसे असत् मार्ग पर-अधोगतिमें ले जाता है। और इसलिए उसका संसारचक्र कभी भिदता नहीं और संसारसे मुक्त होकर, मुक्तिकी मंजिल पर कभी पहुँच नहीं सकता।

अनादिकालसे जीवनमें उपस्थित की गई रागद्वेषकी तीव्र मोहग्रन्थी किसी पुण्योदयसे यदि भेदी जाए तो मिथ्याबुद्धि टले, अज्ञान कम हो और सदबुद्धि पैदा हो तथा सदसत्का सच्चा विवेक प्रकट हो जाए। इसके प्रकट होने के बाद ही जीवनका प्रारंभ होता है। तब तककी अनेक भवकी प्रवृत्ति शून्य तुल्य है अर्थात् आत्मकल्याणके लिए नहीं केवल संसारवर्धक के लिए ही होती है।

अतः हरेक आत्माको मिथ्यात्व दूर करके जिन-प्रणीततत्त्वों पर यथार्थ श्रद्धा करनी चाहिए जिसे हम सम्यग्दृष्टि कहते हैं।

देशविरति-सम्यक्त्वकी प्राप्ति चौथे गुणस्थानकमें होती है।

श्रद्धान होनेके बाद परमात्माके सिद्धान्तोंको श्रवण करनेके बाद अमुक अंशमें पापप्रवृत्तिका त्याग करे तब समझना कि उस आत्माने देशसे उतने अंशमें विरति कहते त्याग किया कहा जाता है।

यह त्याग हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह इत्यादिका समझना। यह चौथी सम्यक्दृष्टिके गुण-स्थानक बाद के पाँचवें गुणस्थानकमें होता है।

सर्वविरति-सर्व अर्थात् सर्वथा-संपूर्ण, विरति कहनेसे त्याग। देशविरतिमें आंशिक त्याग होता है, वह गृहस्थाश्रमियोंके लिए है। जब जो आत्मा संसारकी मोहमायाका अर्थात् घर-कुटुंब, परिवार, दौलत तमाम प्रकारका त्याग करके साधु-मुनि-श्रमण बन जाती है तब उसे मन, वचन, कायासे सर्वथा हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह इत्यादि पापोंका हृदयके भावसे, प्रेमसे त्याग करनेका होता है। यह त्याग करनेवाले साधु ही होता है, और वह आत्मा इस छठे गुणस्थानकवाला गिना जाता है।

पुद्वीदग परित्तवणा, बीर्यरपज्जत्त हुंति चउलेसा ।

गन्मयतिरिनराणां, छल्लेसा तिन्नि सेसाणं ॥ ३०८ ॥

गाथार्थ—बादरपर्याप्ता पृथ्वीकाय, अप्काय और प्रत्येक वनस्पतिकायमें प्रथमकी [कृष्ण-नील-कापोत तथा तेजो] चार लेश्याएँ होती हैं। गर्भज, तिर्यच और मनुष्योंके छहों [कृष्ण-नील-कापोत-तेजो-पद्म और शुक्ल] लेश्याएँ होती हैं। और शेष बादर-पर्याप्त तेजस्काय, वायुकाय, सूक्ष्म तथा अपर्याप्ता पृथ्व्यादि स्थावर साधारण वनस्पति, अपर्याप्त प्रत्येक, विकलेन्द्रिय, समूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच तथा मनुष्योंके प्रथमकी [कृष्ण-नील-कापोत] तीन लेश्याएँ होती हैं। ॥ ३०८ ॥

विशेषार्थ—लेश्या किसे कहा जाए ? यह विषय आगे देवद्वारमें आ गया है। यहाँ बादर पर्याप्त पृथ्व्यादिमें चार लेश्याएँ कही तो चौथी तेजो लेश्याका संभव किस तरह हो ? इसका समाधान गाथा ३१० के विवरणमेंसे मिलेगा। तिर्यचमनुष्यके छः लेश्याएँ कही हैं, क्योंकि ये जीव अनवस्थित परावृत्त लेश्यावाले हैं, जो बात गाथा ३११ के विवरणसे ही समझमें आएगी। [३०८]

अवतरण—अब लेश्याका परिणाम जीवको किस गतिमें कब परावर्तन पाए ? यह ओघसे कहते हैं।

अंतमुहुत्तम्मि गए, अंतमुहुत्तम्मि सेसाए चेव ।

लेसाहिं परिणया हिं, जीवा वच्चंति परलोयं ॥ ३०९ ॥

[प्रक्षेपक गाथा ७०]

गाथार्थ—अंतमुहुत्त जाने पर तथा अन्तमुहुत्त शेष रहने पर, लेश्यामें परिणमन भाववाले होने पर जीव परलोकमें जाते हैं। ॥ ३०९ ॥

विशेषार्थ—सुगम है। अन्यथा इस विषयक अधिक समझ अगली गाथामें ही कहते हैं। [३०९] [प्रक्षेपक गाथा ७०]

अवतरण—उक्त गाथाके दो प्रकारके नियमनमें, क्या क्या जीव हो सकते हैं ? यह स्पष्ट करते हैं।

तिरिनरआगाभिभवल्लेसाए अइगाए सुरा निरया ।

पुव्वभवलेससेसे, अंतमुहुत्ते मरणांमिति ॥ ३१० ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ ३१० ॥

- विशेषार्थ—तिर्यचों तथा मनुष्योंको आगामी भवकी लेइयाके परिणमनका अन्तर्मुहूर्त्त काल व्यतिक्रमसे तथा देव, नारकोंके पूर्वभवकी (अन्यभव अपेक्षासे) अर्थात् स्वभवकी चलती लेइया, अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहने पर मरणको पाती है ।

अतः ही यहाँ याद रखना जरूरी है कि—कोई भी लेइया नवीन उत्पन्न हो तब [नर—तिरि—अपेक्षासे] उसके आद्य—प्रथम स्वरूपमें किसी भी जीवका परभवमें उपपात नहीं होता, साथ ही कोई भी लेइया जो परिणत हुई चलती हो उसके चरमसमयमें भी [देव—नारक—अपेक्षासे] किसी भी जीवका पारभक्तिक उपपात—जन्म नहीं लेता ।

इसीलिए गत गाथामें ग्रन्थकारने जणाया है कि किसी भी नवीन लेइयाके परिणमनका [नर—तिरि] अन्तर्मुहूर्त्तकाल व्यतिक्रमसे तथा साथ ही [देव—नारकके स्वभवकी] परिणत लेइयाका अन्तर्मुहूर्त्त काल शेष रहे तब जीव परलोकको प्राप्त करता है ।

तात्पर्य यह हुआ कि—आगामी भवके आद्यसमय पर जीवोंको अन्य लेइयाके परिणाम नहीं होते । [क्योंकि नर—तिरिको स्वभवका अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहे तब ही भविष्यमें होनेवाली गतिके लायक लेइयाका विपर्यास होता है तथा बादमें उसी लेइयामें उत्पन्न होता है और देव नारकको स्वभवकी लेइयामें ही उत्पन्न होना है ।] साथ ही पाश्चात्य भवके चरम समय पर भी उससे अलग लेइया परिणाम होते नहीं हैं । अतः नियमन यह हुआ कि “ जीव जिस लेइयामें मरे उसी लेइयामें आगामी भवमें उत्पन्न होता है । इसीलिए कहा जाता है कि देव—नरकके भवमेंसे लेइया आगामी भवमें रखने आती है तथा तिर्यच—मनुष्यके भवमें लेइया लेनेके लिए आती है ” ।

३०८ वीं गाथा बादर पर्याप्त पृथ्व्यादिकको जो चौथी तेजो लेइया भी कही वह इसी नियमके बल पर ही, अर्थात् भवनपतिसे लेकर ईशानान्त तकके तेजोलेइयावाले देव मरकर जब बादर पर्याप्त पृथ्वी, अप् तथा प्रत्येक वनस्पतिमें उत्पन्न हो तब एक अंतर्मुहूर्त्त जितनी तेजोलेइया सहित उत्पन्न होते होनेसे उतना काल वहाँ तेजो लेइयाका संभव है, अपेक्षासे तेजो सहित चार लेइयाएँ कहीं हैं । [३१०]

अवतरण—अब तिर्यच तथा मनुष्यकी लेइयाका स्थितिकाल कहते हैं ।

अंतर्मुहूर्त्तठिईओ, तिरिअनराणं हवंति लेसाओ ।

चरमा नराण पुण नवं—वाखणा पुव्वकोडी वि ॥ ३११ ॥

गाथार्थ—पृथ्वीकाय आदि तिर्यचोंकी तथा संमूर्च्छिम और गर्भज मनुष्यकी यथायोग्य जो लेइयाएँ होती हैं वह जघन्यसे और उत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्त्तकी स्थितिवाली होती है,

परंतु विशेष यह है कि, मनुष्योंकी [गर्भज मनु०] अंतिम लेश्याकी अर्थात् शुक्ललेश्याकी उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून [देशोन नौ वर्ष न्यून] पूर्व करोड वर्षकी होती है। ॥ ३११ ॥

विशेषार्थ—यहाँ मूल गाथामें 'नववासूणा' नौ वर्ष न्यून ऐसा पद है परंतु इस गाथाके टीकाकारने उस शब्दकी व्याख्या करते 'नववासूणा' शब्दसे ऐसा विशेष स्पष्टार्थ बताया है कि नौ वर्ष न्यून नहीं लेकिन कुछ ^{४५३}न्यून ऐसे नौ वर्ष न्यून पूर्व करोड वर्षकी स्थिति शुक्ल लेश्याकी भी है, और उतने प्रमाणवाली उत्कृष्ट स्थिति [पूर्व करोड वर्ष उपरान्तके आयुष्यवालोंको संयम प्राप्तिका अभाव होनेसे] पूर्व करोड वर्षके आयुष्यवाले मनुष्योंने कुछ अधिक आठ वर्षकी उम्र होनेके बाद [^{४५४}साधिक आठ वर्षकी वयमें] केवलज्ञान उत्पन्न किया हो वैसे केवलीकी शुक्ललेश्या आश्रयी [वह उत्कृष्ट स्थिति] ^{४५५}जोने । इसके सिवाय शेष मनुष्योंकी शुक्ललेश्या तो उत्कृष्टसे भी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाणवाली ही है। [३११]

अवतरण—गतिआगतिद्वारको पूर्ण किया, अतः ही तिर्यचद्वारकी समाप्तिको बताते हुए ग्रन्थकार प्रथम चारों गतिकी नहीं कही गई अलग अलग व्याख्याका संबंध जोडते हैं।

तिरिआण वि टिड्पमुहं, भणिअमसेसं वि संपयं वोच्छं ।

अभिहिअदारब्भहिअं, चउमइजीवाणं सामन्नं ॥ ३१२ ॥

गाथार्थ—तिर्यचोंके भी स्थिति प्रमुख आठों द्वार कहे । अब शेष रही वक्तव्यताके बारेमें कहेंगे । उसमें कहे गए द्वारोंसे प्रासंगिक उपयोगी जो अधिक वर्णन, उसे चार गतिके जीव आश्रयी सामान्यसे कहेंगे । ॥ ३१२ ॥

४५३. लोकप्रकाशकारने द्रव्यलोकमें 'नववासूणा'का अर्थ श्रीउत्तराध्ययन, पन्नवणाकी वृत्तिक्रम आधार लेकर नौ वर्ष न्यून पूर्व करोड ऐसा किया और उसी संग्रहणीकी गाथाकी टीकाका अर्थ अलग करके दो कथन ये उपस्थित किये कि 'न्यून ऐसे नौ वर्षमें न्यून पूर्व करोड वर्ष' और कुछ अधिक आठ वर्षमें न्यून पूर्व करोड वर्ष इस प्रकार दो तथा प्रथम बताया वह नौ वर्ष न्यून पूर्व करोड वर्ष इस तरह तीन कथन जणाकर बहुश्रुतके पास सप्रन्वय करने जणाया है ।

४५४. किंचिद् न्यून नौ वर्ष अथवा साधिक आठ वर्ष ये दो वाक्यो लगभग समान अर्थदर्शक समझने चाहिए ।

लोकप्रकाशकारने तीन कथन भिन्न भिन्न दिलाये, उसके अनुसार गर्भाष्टम, जन्माष्टम तथा जन्माष्टमकी दीक्षा सिद्ध होगी । इससे गर्भाष्टमसे धनुत्तरका जपन्य अंतर तथा मोक्षगमनका जपन्यायुष्य भी अच्छी तरह मिल जाएगा ।

४५५. श्री द्रव्यलोकप्रकाशमें कहे अनुसार उत्तराध्ययन सूत्रवृत्ति और प्रज्ञापनावृत्तिमें नौ वर्ष न्यून पूर्व करोडकी उत्कृष्ट स्थिति कही है, 'वह आठ वर्षकी उम्रमें दीक्षा लेनेके बाद एक वर्षके चारित्रपर्यायके बिना केवलज्ञान उत्पन्न न हो' इस हेतुको दिखाकर कही है और जहाँ उस हेतुकी अपेक्षा नहीं है वहाँ साधिक आठ वर्षमें चारित्र पाकर शीघ्र क्षपक होकर केवलज्ञान पा सकता है इस अपेक्षासे देशोंके नौ वर्ष अथवा साधिक आठ वर्ष न्यून पूर्व करोड वर्ष प्रमाणकी वह स्थिति हो सकती है ।

॥ तिर्यंच जीवोंके

	भेदनाम	भवस्थिति		अवगाहना	
		जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट
ए	सूक्ष्म पृथ्वीकाय	क्षुल्लक भव	अन्तर्मु०	अंगुला- संख्य भाग	अंगुला- संख्य भाग
के	सूक्ष्म अप्काय	क्षुल्लक भव	"	"	"
	सूक्ष्म तेउकाय	"	"	"	"
	सूक्ष्म वायुकाय	"	"	"	"
	सूक्ष्म सा० वन०	"	"	"	"
न्द्रि	बादर पृथ्वीकाय	अन्तर्मुहूर्त्त	२२ ह० वर्ष	"	"
	बादर अप्काय	"	७ हजार वर्ष	"	"
	बादर तेउकाय	"	तीन दिवस	"	"
	बादर वायुकाय	"	तीन ह० वर्ष	"	"
य	वा० सा० वन०	"	अन्तर्मु०	"	"
	वा० प्रत्येक वन०	"	दस ह० वर्ष	"	साधिकसहस्रयो०
* त्रि क ले न्द्रि य	दोइन्द्रिय	"	१२ वर्ष	"	१२ योजन
	त्रिइन्द्रिय	"	४९ दिवस	"	३ कोसका
	चउरिन्द्रिय	"	छः मास	"	१ योजन
* ति र्यं च पं चे न्द्रि य	संमू० जलचर	"	पूर्व करोड वर्ष	"	१ ह० योजन
	ग० जलचर	"	"	"	"
	संमू० चतुष्पद	"	८४ ह० वर्ष	"	कोस पृ०
	ग० चतुष्पद	"	३ पल्योपम	"	छः कोसका
	संमू० उरपरि०	"	५३ ह० वर्ष	"	पृथक्त्व
	ग० उरपरि०	"	पूर्व करोड वर्ष	"	१ ह० यो०
	संमू० भुजपरि०	"	४२ ह० वर्ष	"	धनुःपृथक्त्व
	ग० भुजपरि०	"	पूर्व करोड वर्ष	"	२ से नौ कोस
	संमू० खेचर	"	७२ ह० वर्ष	"	धनुःपृथक्त्व
	ग० खेचर	"	पल्यो० असं० भागमें	"	२ से नौ धनुः०

आठ द्वारका यंत्र ॥

उप० च्य० वि० जघन्य - उत्कृष्ट	उ० च्य० सं० जघ०-उ०	गति	आगति	लेश्या	स्थिति
विरह नहीं है-विरह नहीं है	१ से लेकर असंख्य यावत्	<p>संख्यवर्षायुषी अपर्याप्ता एकै० से लेकर पंचेन्द्रिय तकके सं० गर्भज तिर्यच तथा मनुष्य एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके तिर्यचोभि जाते हैं। और भवनपतिसे लेकर दो कल्प तकके देव उस पर्याप्ता संख्यवर्षायुषी गर्भज तिर्यचमें और पर्याप्ता अपर्याप्ता संख्यात वर्षायुषी एकेन्द्रिय से लेकर बाहर पृथ्वी, अप् और प्रत्येक वनस्पति में जाते हैं उससे उपर के सहस्रार तकके देव तथा नारक पर्याप्ता संख्यवर्षायुषी गर्भमें ही तिर्यच रूपमें उत्पन्न होते हैं।</p> <p>संख्यवर्षायुषी पंचेन्द्रिय तिर्यच जीव मरकर चारों गतिमें जाते हैं। साथ ही एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय मरकर निश्चित संख्यवर्षायुषी सर्व तिर्यच-मनुष्यमें जाते हैं। सिर्फ तेज-वाउ एक मनुष्यमें न जाकर तिर्यचमें जाते हैं, यह विशेष है।</p>	आद्य तीन अन्तर्मु०		
" "	" "		" "	" "	" "
" "	" "		" "	" "	" "
" "	" "		" "	" "	" "
" "	असंख्यान्त		" "	" "	" "
" "	" "		" "	" "	" "
" "	" "		" "	" "	" "
" "	" "		" "	" "	" "
" "	" "		" "	" "	" "
१ समय	" "		" "	" "	" "
" "	१ मु०		असंख्य तक	" "	" "
" "	" "		" "	" "	" "
" "	" "		" "	" "	" "
" "	" "		" "	" "	" "
" "	१२ सुवर्षा		" "	" "	" "
" "	१ अन्तर्मु०	" "	" "	" "	
" "	१२ मु०	" "	" "	" "	
" "	अन्तर्मु०	" "	" "	" "	
" "	१२ मु०	" "	" "	" "	
" "	अन्तर्मु०	" "	" "	" "	
" "	१२ मु०	" "	" "	" "	
" "	अन्तर्मु०	" "	" "	" "	
" "	१२ मु०	" "	" "	" "	

विशेषार्थ—सुगम है । [३१२]

॥ अथ सर्वसाधारण अधिकार ॥

अवतरण—अब चारों गति आश्रयी वेदकी व्याख्या कहते हुए, किसे किसे क्या क्या वेद हो ? इसे कहते हैं ।

देवा असंख नरतिरि, इत्थीपुंवेअ गम्भनरतिरिआ ।

संखाउआ तिवेआ, नपुंसगा नारयाईआ ॥ ३१३ ॥

माथार्थ—देव तथा असंख्यवर्षके आयुष्यवाले [युगलिक] मनुष्य—तिर्यचोमें स्त्रीवेद और पुरुषवेद इस प्रकार दोनों वेद हैं, साथ ही संख्यवर्षके आयुष्यवाले गर्भज मनुष्य और तिर्यच स्त्री, पुरुष और नपुंसक इस तरह तीन वेदवाले होते हैं । तथा नारक और 'आइ' शब्दसे एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, समूर्च्छिम तिर्यच, मनुष्य ये सर्व एक नपुंसक वेदवाले ही होते हैं । ॥ ३१३ ॥

विशेषार्थ—वेद यह पुरुषको स्त्री तथा स्त्रीको पुरुष विषयक संबंधकी अभिलाषारूप, देहाकृतिरूप तथा नेपथ्यरूप [नाटक करनेवालेकी अपेक्षासे] इस तरह तीन प्रकारका है । शेष अधिक व्याख्या देवद्वारमें कही है । [३१३]

अवतरण—पूर्व कही गई वस्तुएँ, देह, पृथिवियाँ, विमानादिकका माप किस किस अंगुलसे नापा जाता है ? यह कहते हैं ।

आयंगुलेण वत्थुं, सरीरमुस्सेहअंगुलेण तहा ।

नगपुढविविमाणाई, मिणसु पमाणंगुलेणतु ॥ ३१४ ॥

माथार्थ—आत्मांगुलसे वास्तु [अर्थात् कूप—तालाबादि], उत्सेधांगुलसे जीवोंके शरीर और प्रमाणंगुलसे पर्वत, पृथ्वी, विमानादि नापे जाते हैं । ॥ ३१४ ॥

विशेषार्थ—प्रथम आत्मांगुल अर्थात् क्या ? तो आत्मांगुलका शब्दार्थ—अपना अंगुल यह । अपना अर्थात् किसका ? तो जिस जिस कालमें (उस उस समयकी अपेक्षासे) शास्त्रमान्य ऊँचाईसे जो जो पुरुष प्रमाणोपेत गिने जाते हों, उनका आत्मीय—अपना जो अंगुल उसे ही यहाँ आत्मांगुल समझना । और वह उत्तम पुरुषोंके अंगुलके मापसे निर्णयभूत होती वस्तुएँ आत्मांगुलके प्रमाणवाली गिनी जाती हैं ।

जिस तरह भरत—सगरचक्रीके समयमें भरत तथा सगरके आत्मांगुलसे आगे कही

जातीं जो जो वस्तुएँ मापी जाएँ वे आत्मांगुलें प्रमाणवाली गिनी जाएँ क्योंकि उस समय उचित मानवाले वे गिने जाते हैं । इस तरह श्री वीर भगवानके समयमें उन कालोचित परमात्मा श्री महावीरदेवके आत्मांगुलसे वह वस्तु मापी जाएँ ।

यह आत्मांगुल उस उस कालके पुरुषोंके आत्मीय अंगुलाधीन होनेसे, कालादि भेदसे अनवस्थित होनेसे यह माप अनियत है ।

आत्मांगुलसे क्या क्या वस्तु नापी जाए ? आत्मांगुलसे वस्तु नापनेका कहा वह वस्तु तीन प्रकारकी है । (१) खात, (२) उच्छ्रित और (३) उभय प्रकारकी । इनमें खात= अर्थात् खोदकर तैयार किये कुएँ, कंदरा, तालाब आदि । उच्छ्रित=अर्थात् ऊँचाईवाले पदार्थ घर-प्रासादादि धवलगृह । उभय=अर्थात् खात और उच्छ्रित दोनों प्रकारकी वस्तुएँ जिसमें हों वे, वैसी वस्तुमें कंदरा सहितके प्रासाद, गृहो समझना ।

अधिक स्पष्टतासे कहें तो नगरों तथा जंगलके सर्वप्रकारके जलाशय, कुएँ, भौँति भौँति की बावडियाँ, सरोवर, तालाब, नदियाँ, समुद्र, द्रह, गुफाएँ, अशाश्वत पर्वत, खदानों, वृक्षो, उद्यान, उपवन, नगरमार्ग, राजभवन, लोकगृह, दुकानें, वाहन, पशु, शरीरादिकके मानो इत्यादि वस्तुएँ उस उस कालमें श्रेष्ठ माने जाते पुरुषके अंगुलसे मापा जाए उसका माप निश्चित होता है, ऐसा लगता है ।

लेकिन इतना विवेक समझना ठीक लगता है कि, आत्मांगुलसे नापी जातीं वस्तुएँ अशाश्वत और प्रमाणांगुलसे मापी जातीं वस्तुएँ शाश्वत समझना । ऊपर बताई गई वस्तुएँ आत्मांगुलसे इसलिए नापनेकी है कि, ये वस्तुएँ उस उस कालके लोगोंके शरीरानुसारी मापके साथ मेल रखती ही होनी चाहिए । यदि ऐसा न करें तो उत्सेधांगुल या प्रमाणांगुलकी गिनतीसे माप दिखाए जाएँ तो गोटाले या भ्रम उपस्थित हों और व्यवहार चलना मुश्किल हो जाए ।

उदाहरण स्वरूप श्री ऋषभदेव भगवानके अस्तित्व कालमें उत्सेधांगुलसे २०० हाथ गहरा कुआँ हो तो क्या उस कुएँको '२०० हाथका यह कुआँ है' ऐसी प्रसिद्धि जरूरी

४५६. जिस कालमें जो पुरुष अपने अंगुलप्रमाणसे १०८ अंगुल ऊँचे हों उनका अंगुल ही आत्मांगुल कहा जाए । परंतु इससे न्यूनधिक प्रमाणवाले पुरुषोंका जो अंगुल है उसे आत्मांगुल नहीं लेकिन आत्मांगुलभासू कहा जाए, ऐसा प्रवचनसारोद्धार वृत्ति कहती है । और प्रज्ञापनावृत्तिकार कहते हैं कि जिस कालमें जो मनुष्य हों उनके अंगुलका जो प्रमाण हो उसे यहाँ आत्मांगुल समझना । इस तरह दोनों के बीच तफावत-फर्क रहता है, क्योंकि प्रवचनसारोद्धार वृत्तिकार १०८ अंगुलकी ऊँचाईका नियमन करता है जब कि प्रज्ञापना वृत्तिकार वैसा नियमन नहीं करते । अतः वे इस अंगुलको अनियत गिनाते हैं ।

सही ? नहीं । इस तरह लिखे तो लोगोंको अपने हाथका हिसाब मन पर सतत वर्तित होनेसे यह गिनती अमोत्पादक हो जाए । अतः उस उस समयके लोगोंके (अपने) आत्मांगुलसे माप कर उसी तरह उसकी प्रसिद्धि हो सके । और इसके लिए अंगुल किसका पसंद करे ? हर किसीका ? तो नहीं, क्योंकि एक ही समयके लोगोंमें भी अंगुलकी दीर्घताका अल्पांशमें न्यूनाधिकत्व होता है, अतः उस कालमें सशक्त, नीरोगी और लक्षणोंसे जो पुरुष श्रेष्ठ मान्य हो उसका माप लेनेका, क्योंकि वही सच्चा-बराबर अंगुल होता है । उसके आधार पर ही अंगुल, पाद, बिता, हाथ यावत् योजन तकके मापो प्रवर्तमान होते हैं । उस कालमें श्री ऋषभदेवस्वामी या भरतचक्रवर्ती युगश्रेष्ठ पुरुष समान गिने जाते थे, इसलिए उनका अंगुल ग्रहण किया गया है । उनका अंगुल ही प्रमाणांगुल भी निश्चित हुआ है, क्योंकि वह अंगुल उत्सेधांगुलसे चारसौ गुना दीर्घ है ।

अब इस युगश्रेष्ठ व्यक्तिके अंगुलानुसारी हाथके मापसे २०० उत्सेधांगुलवाला कुआँ कितने हाथका गिना जाए ? तो बराबर १२ हाथका गिना जाए । और उसी रीतसे प्रसिद्ध किया जाए । और इस रीतका व्यवहार ही अनुकूल, उचित तथा माफिक रहे और ऐसा व्यवहार ही लोकमान्य बने ।

१. अब उत्सेधांगुल किसे कहा जाए ? उत्सेध=अर्थात् (परमाणुसे प्रारंभ करके) क्रमशः ऊर्ध्ववृद्धि द्वारा प्राप्त होता अंगुल । यह किस तरह वृद्धि होने पर प्राप्त होता है, यह बात अब पीछेकी ३१६ और ३१७ वीं गाथामें कहेंगे ।

२. उत्सेधांगुलसे क्या वस्तु मापी जाए ? देव आदि जीवोंके शरीरोंका प्रमाण शास्त्रमें जो कहा है वह इस अंगुलके हिसाबसे ही समझना ।

३. प्रमाणांगुल किसे कहा जाए ? प्रमाणांगुल शब्दका अर्थ क्या ? युगकी आदिमें हुए श्री ऋषभदेव भगवान अथवा तो भरतचक्रवर्ती जिसमें प्रमाण रूप है और इसलिए उनका जो अंगुल वह प्रमाणांगुल कहलाता है । यह अंगुल कितना बड़ा होता है ? इसके लिए (गाथा ३१८ अनुसार) बताया है कि, उत्सेधांगुलसे चारसौ गुना लंबा और मात्र अट्ठाई गुना अथवा २॥ उत्सेधांगुल चौड़ा, इसे 'प्रमाणांगुल' कहा जाता है । ^{४५७} श्रीऋषभदेव भगवानका तथा भरतचक्रवर्तीका अंगुल इतना ही था ।

जिनमद्रीया संग्रहणी (गा० ३५०) आदि स्थल पर उत्सेधांगुलसे हजार गुना प्रमाणांगुल

४५७. भगवान उत्सेधांगुलसे ५०० धनुष ऊँचे थे और आत्मांगुलसे १२० अंगुल ऊँचे थे । ५०० ध० के अंगुल ४८ हजार होते हैं । उसे १२० आत्मांगुलसे बटा करें तो ४०० उत्सेधांगुलका १ ऋषभांगुल आ जाए ।

कहा है, लेकिन इससे विसंवाद न समझना। वहाँ यह अपेक्षा है कि ४०० गुनी लंबी और २॥ गुनी चौड़ी उत्सेधांगुलकी श्रेणिको २॥ के बदले एक ही अंगुल चौड़ी रखकर शेष १॥ अंगुल रहती चौड़ाईको ४००के साथ जोड़ दी जाए तो $४०० + ४०० + २०० = १०००$ उत्सेधांगुल लंबी और एक उत्सेधांगुल चौड़ी ऐसी सीधी श्रेणि हो। अथवा लंबाई और व्यास को गुना करे $४०० \times २॥$ तो भी हजार अंगुल हो। इस प्रमाणांगुलका क्षेत्रफल हुआ।

इस प्रमाणांगुलसे जो वस्तुएँ नापनी हैं, उनमें तीन प्रकारका प्रमाणांगुल उपयोगमें लिया जाता है। कुछ कहते हैं कि प्रमाणांगुलकी मात्र दीर्घतासे ही पृथ्वी, पर्वत नापना लेकिन विष्कम्भ-चौड़ाई एकत्र न लें अर्थात् सूची अंगुलसे ही नापें। दूसरे ऐसा कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं। लेकिन प्रमाणांगुलके क्षेत्रफलसे (अर्थात् हजार उत्सेधांगुलरूप) मापना। जबकि तीसरा पक्ष कहता है कि दीर्घता न लें-क्षेत्रफल न लें। मात्र विष्कम्भ अर्थात् २॥ उत्सेधांगुल विस्तारसे ही मापना।

यहाँ प्रथम पक्षमें प्रमाणांगुलीया एक योजनमें उत्सेधांगुल प्रमाणवाले ४०० योजन, दूसरे पक्षमें एक हजार योजन और तीसरे पक्षमें १००० योजन (अर्थात् दस कोस) आते हैं।

प्रमाणांगुलसे क्या वस्तुएँ नापी जाती हैं?—मेरु आदि शाश्वत पदार्थ धर्मादि नरक पृथिव्याँ, सौधर्मावतंसकादि सर्व विमानो और गाथामें कहे 'आई' शब्दसे अन्य शाश्वत भवन-नरकावास-द्वीप-समुद्रो आदि शाश्वत पदार्थ ले लें। प्रमाणांगुलसे अचल और शाश्वत गिने जाते पदार्थ नापनेके हैं इसे ध्यानमें रखना। [३१४]

अवतरण—गत गाथामें किस अंगुलसे क्या वस्तु नापी जाए इतना ही कहा था परंतु ये तीनों अंगुल किसे कहा जाए इस बाबतमें ग्रन्थकारने कहा नहीं था। (अलवच विशेषार्थमें इस बातका इशारा किया है।) अब गाथाद्वारा ही उत्सेधादि अंगुलकी गिनती परमाणुसे आरंभ की जाती है अतः 'परमाणु' किसे कहा जाए? उसकी व्याख्या करते हैं।

^{४५५}सत्थेण सुत्तिक्खेण वि, छित्तुं भित्तुं व जं किर न सक्का ।

तं परमाणुं सिद्धा, वयंति आइ पमाणानं ॥ ३१५ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ ३१५ ॥

४५८. अनुयोगद्वार तथा अंगुलसिचरीमें तीसरे पक्षको ही योग्य गिना है और यह माप जघन्य होनेसे पृथ्व्यादिके मापमें ठीक अनुकूल रहता है। तत्त्वं तु केवलीगम्यं। ४५९. क्वचित् अन्वय अनुसार शब्दार्थ क्रम रखा है।

विशेषार्थ—उत्सेधांगुलकी व्याख्यामें कहा गया है कि वृद्धि पाता अंगुल वह उत्सेधांगुल । इस उत्सेधांगुलकी वृद्धिकी शुरुआत परमाणुसे होती है । यह परमाणु दो प्रकारका है, एक सूक्ष्म परमाणु तथा दूसरा व्यावहारिक परमाणु ।

इसमें सूक्ष्म परमाणुकी व्याख्या बताते ज्ञानी महर्षि कहते हैं कि सूक्ष्म परमाणु एक आकाशप्रदेश जितने प्रमाणवाला, जिस प्रमाणके दो विभाग केवलज्ञानी भी बुद्धिसे न कर सके ऐसा अविभाज्य, साथ ही अप्रदेशी तथा सर्वसे सूक्ष्म हैं । ऐसे सूक्ष्म अनन्त परमाणु एकत्र हों तब [निश्चयनयसे अनंत सूक्ष्म परमाणुओंसे बना हुआ सूक्ष्मस्कंध होता है और व्यवहारनयसे] एक व्यवहार "या" व्यावहारिक परमाणु बना कहा जाए ।

अति तीक्ष्ण ऐसे खड्गदि शस्त्रसे जिस अणुको छिदनेकी, छिद्र करने या भिदनेके लिए अर्थात् दो भाग करनेके लिए कोई भी शक्तिमान नहीं है । उस अणुको परमाणु [घटादिकी अपेक्षासे सूक्ष्म अणु] कहा जाए, ऐसा सिद्ध—सर्वज्ञ पुरुषो अपने ज्ञानचक्षुसे निश्चयपूर्वक हमसे कहते हैं । और उसे सर्व प्रमाणोंका आदिमूत अंश कहते हैं ।

सूक्ष्म परमाणुकी अपेक्षासे व्यावहारिक परमाणुके भी बुद्धिसे ज्ञानी अनंत भाग करते हैं और व्यावहारिक परमाणु भी अनंत प्रदेशी होते हैं । [३१५]

अवतरण—अब परमाणुकी शुरुआत करके उत्सेधांगुलका मान बताते हैं ।

परमाणू तसरेणू, रहरेणू वालअग्ग लिक्खा य ।

जूअ जवो अट्टगुणो, कमेण उस्सेहअंगुलयं ॥ ३१६ ॥

अंगुलल्लकं पाओ, सो दुगुण विहत्थी सा दुगुण हत्थो ।

चउहत्थं घणु दुसहस, कोसो ते जोअणं चउरो ॥ ३१७ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् सुगम है । ॥ ३१६—३१७ ॥

यहाँ ग्रन्थकारने गाथालाघवकी बुद्धिसे परमाणुसे सीधा त्रसरेणुका प्रमाण कहा, लेकिन परमाणु और त्रसरेणुके बिचके उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका आदि प्रमाण नहीं कहे, फिर भी हम तो वह भी ग्रन्थान्तरसे समझ लें ।

विशेषार्थ—पूर्वगाथामें व्यावहारिक परमाणुका स्वरूप कहा । गत गाथामें कहे गए ऐसे "अनन्तव्यावहारिक परमाणुसे एक उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका (यह भी अत्यन्त सूक्ष्म

४६०. अनंत सूक्ष्म परमाणु विस्त्रसा परिणामसे संघातविशेषको जब पाए तब उसका एक 'व्यावहारिक परमाणु' बना कहा जाए । ४६१. श्री मलयगिरिजी संग्रहणीकी टीकामें आठ व्यावहारिक परमाणुसे एक उत्श्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका कहते हैं । उन्होंने कहाँका प्रमाण देखकर लिखा होगा वह ज्ञानीगम्य है, क्योंकि अन्य आगम-ग्रन्थोंमें बहुधा उपरोक्त कथन ही देखा जाता है, तो भी इस गाथाके 'अट्टगुणो' इस शब्दसे उनका भी आठ आठ गुना करनेका उद्देश हो तो वह ज्ञानीगम्य ।

प्रमाण) होती है, वैसे ^{४६१}“आठ उत्लक्षणश्लक्षिकासे पुनः एक श्लक्षणश्लक्षिका होती है, आठ श्लक्षणश्लक्षिकासे एक ऊर्ध्वरेणु होती है, आठ ऊर्ध्वरेणुसे एक ‘त्रसरेणु’ होता है, आठ ^{४६२}“त्रसरेणुका एक रथरेणु होता है, आठ रथरेणु मिलकर देवकुरु—उत्तरकुरुक्षेत्रके जीवोंका एक बालाग्र ^{४६३}“बालके अग्रभाग जितना प्रमाण होता है, और उसी बालाग्रको आठ गुना करनेसे एक रथकक्षेत्रके युगलिकका बालाग्र होता है, उसे आठ गुना करनेसे हैमवन्त और हैरण्यवन्त क्षेत्रके युगलिकका बालाग्र होता है, उससे आठ गुना मोटा पूर्वविदेह तथा पश्चिमविदेहके मनुष्योंका बालाग्र तथाविध ^{४६४}“क्षेत्र प्रभावसे होता है, उससे आठ गुना मोटा बालाग्र भरत, ऐरवत क्षेत्रके मनुष्योंका होता है और वैसे आठ बालाग्र एकत्र होनेसे एक ^{४६५}“लीखका माप होता है। आठ लीखें मिलकर एक जूँ (मस्तककी जूँ) प्रमाण होता है, आठ जूँ की मोटाई मिलकर एक यव (जूँ) के मध्य भागकी मोटाईका माप आता है और आठ ‘यवमध्य’ मिलकर एक ^{४६६}“उत्सेधांगुल [अपना एक अंगुल] होता है।

इस व्याख्यासे स्पष्ट होता है कि, अंगुलमाप अपनी उंगलीकी चौड़ाइका ही समझना है। व्यवहारमें भी चार—छः अंगुल प्रमाण कपडः मापनेका होता है तब अंगुलीकी चौड़ाइसे ही मापा जाता है। अतः जो लोग उत्सेधांगुल खड़ी उंगलीके पहले

४६२. जीवसमासके सूत्रकार, प्रारंभसे ही अनंत परमाणु मिलकर एक उत्लक्षणश्लक्षिका कहते हैं ये अनंत परमाणु व्यावहारिक या सूक्ष्म लेना इसे स्पष्ट नहीं करते। साथ ही अनंत उत्लक्षणश्लक्षिका मिलकर एक श्लक्षणश्लक्षिका कहते हैं और उस श्लक्षणश्लक्षिका को ही पुनः व्यावहारिक परमाणु कहते हैं। इस तरह दोनों रीतसे उनका कथन भिन्न पडता है। कुछ स्थल पर उत्लक्षण और श्लक्षणश्लक्षिका माप गिनतीमें ही नहीं लिया ये विवक्षाभेद हैं। ४६३. मलयगिरि सं. टीकामें आठ त्रसरेणु कहनेके बाद ‘आठ त्रसरेणुसे एक बालाग्र, आठ बालाग्रसे लीख’ इस तरह व्याख्या की है। ४६४. यह बालाग्र जन्नावस्थाका लेना या अन्यावस्थाका गिनना इसका स्पष्ट खुलासा नहीं मिलता। परंतु पत्थोपमादिककी गिनतीमें मस्तक मुंडानेके बाद सात दिन तक बालाग्रका ग्रहण किया है, तदनुसार यहाँ भी सोचना उचित लगता है। ४६५. एक ही बालाग्रमें सूक्ष्मता और स्थूलताकी भिन्नता उस क्षेत्र तथा उस उस कालके प्रभावको आभारी है। अनुक्रमसे शुभ कालकी हानि होने पर केशगत स्थूलता विशेष बढ़ती है। ४६६. यह अभिप्राय—संग्रहणी वृत्ति, प्रवचन-सारीद्वार वृत्ति, अनुयोगद्वार आदिका है। जबकि जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिके वृत्तिकार पूर्व—पश्चिम विदेहके आठ बालाग्रसे एक लीख होती है वैसे कहते हैं। ४६७. अनुयोग द्वारमें—‘पाद’ के बाद अंगुलकी संख्याके द्विगुण द्वारा अन्य माप भी दर्शाये हैं, लेकिन शैलीभेद है परंतु तत्त्वसे वह एक ही है। ‘भरतनाट्य’ में नीचे अनुसार प्रकार है।

अणवः अष्टौ रजः प्रोक्तौ तान्यष्टौ बाल उच्यते ।

बालास्त्वष्टौ भवेत्लिक्षा यूकालिक्षाष्टकं भवेत् ॥

यूकास्त्वष्टौ यवः प्रोक्तः यवास्त्वष्टौ तथाङ्गुलम् ।

अङ्गुलानि तथा हस्तमनुर्विशतिरुच्यते ॥

वेद तक होना समझते हैं यह उनका भ्रम ही सूचित करता है । और अंगुल गिनतीके साथ वेदेका कुछ ही संबंध नहीं है और यह माप व्यावहारिक भी बन नहीं सकता, फिर भी खड़ी अंगुली मापकर 'उत्सेधांगुल' निश्चित ही करना हो तो आडे आठ जो रखकर उसकी बिचकी मोटाईकी श्रेणीसे खुशीसे कर सकते हैं ।

यहाँ एक बात खास ध्यानमें रखनी कि 'प्रमाणांगुल'के मापमें लंबाईके साथ चौड़ाईकी गिनती भी बताई है, जबकि उत्सेधांगुल और आत्मांगुलमें यह नहीं बताई । अतः इन दोनों अंगुलोंको सूचीश्रेणिकी तरह, एक ही दीर्घ मापसे समझनेके और उसी तरह मापनेके हैं ।

छः उत्सेधांगुलसे एक पाद (पगका माप) होता है, दो पादसे एक वित्ता, दो वित्सेसे [विससित्त] एक हाथ, चार हाथसे एक धनुष, दो हजार धनुषसे एक कोस, चार कोससे एक योजन होता है । आज कल इस देशमें इसी मापका व्यवहार चलता है ।

परमाणुकी व्याख्या कह चुके हैं । अब उत्क्ष्ण—श्लक्ष्णिका, श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका यह भी अत्यन्त सूक्ष्म होती है परंतु परमाणुकी अपेक्षासे उत्तरोत्तर अधिक मानवाला माप कहा जाए । तत्पश्चात् ऊर्ध्वरेणु—वह स्वतः अथवा पर—वायु आदि के प्रयोगसे ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् गति करता अथवा जाली, छप्परके छिद्रमें सूर्यके किरणोंमें उडती दीखती रजका एक कण [रजकण] वह । 'त्रसरेणु'—परप्रयोगसे अर्थात् नगरादिकके वायुप्रयोगसे गति करनेवाला रजकण । 'रहरेणु'—रथके चलनेसे उसके पहियेसे उडनेवाली धूलका रजकण वह । यह रजकण कुछ अधिक स्थूल है । [३१६-३१७]

अवतरण—उत्सेधांगुलमानको बताकर, मूल गाथाके द्वारा प्रमाणांगुलकी व्याख्या करते हैं ।

चउसयगुणं पमाणं—गुलमुस्सेहंगुलाउ बोधव्वं ।

उस्सेहंगुल दुगुणं, वीस्सायंगुलं भणियं ॥ ३१८ ॥

गाथार्थ—उत्सेधांगुलसे चारसौ गुना बड़ा प्रमाणांगुल जानें और उत्सेधांगुलसे द्विगुण भगवान महावीरका एक अंगुल कहा है । ॥ ३१८ ॥

विशेषार्थ—इस गाथामें उत्सेधांगुलसे प्रमाणांगुल ४०० गुना दीर्घ कहा लेकिन चौड़ा कितना यह बताया नहीं है, तो (अन्य ग्रन्थानुसार) उसकी चौड़ाई २॥ उत्सेधांगुल समझना । अर्थात् ४०० उत्सेधांगुल लंबा और २॥ ३० अंगुल चौड़ा हो उसे प्रमाणांगुल कहा जाता है । ऐसा अंगुल श्रीऋषभदेव भगवान अथवा भरत चक्र-

बर्लीका था, अतः एक दूसरी वस्तु सिद्ध हुई कि श्री ऋषभदेव या भरतका आत्मांगुल वही प्रमाणांगुल भी होता था । लेकिन यह मेल उसी कालमें देखनेमें आता है, लेकिन उसके बादके कालके लिए नहीं । फिर तो आत्मांगुल तथा प्रमाणांगुलका मेल नहीं मिलता । अतः आत्मांगुलप्रमाण हमेशा अनियमित होता है । जब कि प्रमाणांगुल प्रमाण, उसकी व्याख्या अनुसार हमेशा नियत ही है ।

* यहाँ अंगुल विषयक कुछ चर्चा उपयोगी होनेसे दी गई है ।

१. प्रथम शंका—उत्सेधांगुलसे प्रमाणांगुल हजारगुना है, और यह हजारगुना प्रमाणांगुलमान, उस भरतचक्रीके एक आत्मांगुल बराबर कहा जाता है । इससे भरतचक्री श्री महावीरस्वामी से पाँचसौ गुना बड़े शरीरवाले होंगे । क्योंकि 'श्रेष्ठ पुरुषो स्वात्मांगुलसे १०८ अंगुल ऊँचे होते हैं' इस वचनसे भरतचक्री भी आत्मांगुलसे १०८ अंगुल ऊँचे हुए । इन हजारगुने उत्सेधांगुलसे एक प्रमाणांगुल—वही भरतचक्रीका स्वात्मांगुल है, जो बात पहले कह गये । अतः भरतचक्रीके एक स्वात्मांगुलके हजार उत्सेधांगुल तो १०८ स्वात्मांगुलके उत्सेधांगुल कितने ? तो त्रिराशिगणितके हिसाबसे १०८०००—एक लाख आठ हजार इतने भरतशरीरके उत्सेधांगुल आए । अब भगवान् वर्धमानस्वामी जिनके मतसे उत्सेधांगुलकी ही अपेक्षासे २१६ अंगुल [और आत्मांगुल १०८] थे उनके मतसे ही १०८००० को बटा करने पर, महावीरकी अपेक्षासे भरतचक्री पाँचसौ गुने बड़े, अथवा तो भरतकी अपेक्षासे श्री महावीर पाँचसौवें अंशमें छोटे बनते हैं । ये ५०० गुने बड़े या उतने अंशमें छोटी श्री वर्धमान प्रभु की देह किसीको इष्ट नहीं है, क्योंकि महावीरकी कायाके मापकी अपेक्षासे भरत ४०० गुने ही बड़े अथवा उनसे श्री महावीर चारसौवें अंशमें छोटे होने चाहिए, और होते हैं ५०० गुने बड़े इसका क्या कारण ? [यह ५०० गुनापनकी प्रथम शंका]

२. दूसरी शंका—अब 'उत्सहंगुलदुगुणं वीरस्सायंगुलं भणियं' इस गाथाके उत्तरार्ध-चरणसे उत्सेधांगुलसे द्विगुण वीरपरमात्माका स्वात्मांगुल [अपना अंगुल] कहा है, तो यहाँ ऊपरकी शंकामें श्री महावीर महाराजा को १०८ अंगुल ऊँचे कहे वैसे कैसे ठीक होगा ? क्योंकि उक्त गाथाके अर्थानुसार भगवान् स्वात्मांगुलसे ८४ और उत्सेधांगुलसे १६८ अंगुल होते हैं ।

वह इस तरह—भगवान् स्वयं उत्सेधांगुलसे प्राप्त होती सात हाथकी [स्वात्मांगुलसे ३॥] कायावाले थे, अब २४ अंगुलका एक हाथ होता होनेसे, सात हाथके अंगुल गिननेसे [$7 \times 24 = 168$] अंगुल आए । ऐसे दो उत्सेधांगुलसे एक वीरविभुका आत्मांगुल

होनेके कारण १६८ उत्सेधांगुलको दो से बटा करनेपर अर्थात् उसका आधा करनेसे ८४ स्वात्मांगुल श्री वीरका शरीर होता है तो फिर भगवान स्वात्मांगुलसे १०८ अंगुल और उ० से० २१६ अंगुल ऊँचे थे ऐसा दूसरे लोग क्यों कहते हैं ? और अगर उनका यह कथन यथार्थ हो तो वीर प्रभुकी सात हाथकी ऊँचाई किस तरह होगी ? क्योंकि 'द्विगुण उत्सेधांगुलसे वीरका एक आत्मांगुल' होता होनेसे १०८ आत्मांगुलके उत्सेधांगुल २१६ होंगे । इनके हाथ बनाने को [२४ अंगुलका एक हाथ होने से] २४ अंगुलसे बटा करनेसे नौ हाथ प्रमाण श्री वीरकी काया होगी, और यह कायाप्रमाण यथोक्त अंगुलसे विसंवादी होनेके कारण कोई सम्भव नहीं है । और १०८ स्वात्मांगुल लेनेसे 'उत्सेहंगुलदुगुणं' इत्यादि कथन असत्य होता है, तो १०८ स्वात्मांगुलका समाधान क्या ? यह शंका जिनके मतसे श्री महावीर १०८ अंगुल ऊँचे हैं ऐसा कहनेवालोंकी हैं, क्योंकि १०८ आत्मांगुलके कथनसे गाथाका नियम निभता नहीं है ।

३. तृतीय शंका—साथ ही जो लोग श्री वीरको स्वात्मांगुलसे १२० अंगुल मानते हैं, उनके मतसे 'दो उत्सेधांगुलसे एक वीरात्मांगुल' यह नियम कैसे निभेगा ?

इस तरह तीन शंकाएँ उपस्थित हुईं । एक तो वीरप्रभुके १०८ आत्मांगुली अनुसार वीर प्रभुसे 'भरतचकी ५०० गुने' होते हैं वह, दूसरी श्री वीरप्रभुको स्वात्मांगुलसे १०८ अंगुल ऊँचे कहते हैं वह । और तीसरी प्रभु श्री वीरको १२० आत्मांगुलसे कहते हैं वह ।

यहाँ श्री वीरको एकमतने १०८ आत्मांगुल (२१६ उ०) कहा, अतः वास्तवमें प्रथम '५०० गुने भरत बडे' की शंका हुई, क्योंकि १०८ प्रमाण लेनेसे 'उत्सेहंगुलदुगुणं' यह नियम निभता नहीं है । हमें इस कथनकी पुष्टिके लिए नियम तो निभाना है । और जो लोग वीर को १२० आत्मांगुलीय कहते हैं उनके मतसे एक रीतसे समचतुष्क क्षेत्रफलके हिसाबसे, और ८४ आत्मांगुल प्रमाण वीर कहलाते हैं वह, इन दोनों मतसे 'उत्सेहंगुल' कथन घटित होता है । मात्र १०८का कथन अलग पड़ता है, अतः उसी बात अब सोचें ।

प्रथम शंका निरास—पूर्वोक्त शंकामें एक हजार उत्सेधांगुलमें एक प्रमाणांगुल कहा और अंगुल को उसी भरत का आत्मांगुल कहा वह तो मानो योग्य है । परंतु उक्त शंकामें "श्रेष्ठ पुरुष स्वात्मांगुलसे १०८ अंगुल ऊँचे होते हैं और इस वचनानुसारसे

भरतचक्री को भी श्रेष्ठ पुरुषमें गिनकर उसकी १०८ आत्मांगुल ऊँचाई मानकर वीर प्रभुसे ५०० गुने कहे।” परंतु वहाँ भरतचक्रीको ‘श्रेष्ठ पुरुष गिनकर १०८ आत्मांगुली’ गिनती स्वीकार की वही प्रथम मूल है क्योंकि ‘अनुयोगसूत्रकार चक्री—वासुदेव तथा तीर्थंकर स्वात्मांगुलसे १२० अंगुल और शेष अधिक प्रधान पुरुष १०८ अंगुल ऊँचे होते हैं’ ऐसा कहा है, अब जब भरतचक्री स्वात्मांगुलसे १२० ऊँचे अंगुल बने, तब १२० स्वात्मांगुलका [९६ अंगुल का एक धनुष इस हिसाबसे] भरतका स्वात्मांगुली एक धनुष आया।

इससे हमारे उत्सेधांगुलसे भरतचक्री ५०० धनुष ऊँचे हुए। अब एक आत्मांगुलके धनुष निकालने त्रैराशिकका उपयोग करें, इससे भरत आत्मांगुलीय सवा धनुषसे उत्सेधांगुलके ५०० धनुष हों तो (भरतके ही) एक आत्मांगुलमें कितने धनुष हों? त्रिराशि स्थापना १।—५००—१ इस तरह होता है। प्रथमकी राशि अंशसहित [अपूर्ण] है, अतः गुण्य गुणककी रकमको समान करनी पड़ेगी, इसलिए हरेकके हाथ बना दें। जिससे सवा धनुष के [१।×४] भरतांगुलीय ५ हाथ और मध्यमराशिके ५००×४=२००० हाथ—अन्तराशिके १×४=४ हाथ। अब तीनों रकमकी पुनः त्रिराशि स्थापित करें=५—२०००—४ इसमें अन्त्य की ४ राशिसे मध्यकी २००० राशि को गुननेसे ८००० होते हैं, उसे प्रथमकी ५ राशिसे बटा करनेसे १६०० हाथ, एक स्वात्मांगुल [जैसे बृहत्] धनुषके आए, उस हाथकी संख्याके उत्सेधांगुलीय धनुष करने [चार हाथका एक धनुष होनेसे] चारसे बटा करनेसे ४०० धनुष आए।

जवाब यह निकला कि आत्मांगुलके एक धनुष में उत्सेधांगुलके ८०० धनुष समा जाए, इस नियमानुसार आत्मांगुलके एक हाथसे उत्सेधांगुलके ४०० हाथ, एक आत्मांगुलमें उत्सेधांगुल ४०० और एक आत्मांगुलीय योजनमें [हमारे] ४०० उत्सेधांगुलीय योजन समा जाए।

इस तरह एक श्रेणी प्रमाणांगुल मापमें ४०० उत्सेधांगुल होते हैं, ऐसा साबित हुआ। यहाँ पाठकोंको शायद शंकाका आविर्भाव होगा कि—पहले तो एक प्रमाणांगुलमें १००० उत्सेधांगुल कहे थे उसका क्या? उसका समाधान यह है कि—एक हजार उत्सेधांगुलकी जो गिनती होती है वह तो ४०० उत्सेधांगुलकी चौड़ाईवाली दीर्घश्रेणीकी अपेक्षासे अर्थात् एक प्रमाणांगुलके ४०० उत्सेधांगुलको विष्कम्भ सहित गिननेसे ४०० अंगुल दीर्घ और २।। अंगुल मोटी ऐसी एक अंगुलप्रमाण विस्तारवाली श्रेणीकी लंबाई [४००×२।।] १००० अंगुलकी आवे इस दीर्घश्रेणीकी अपेक्षासे कहा है; बाकी तो वास्तविक ‘४००’ उत्सेधां-

गुलसे एक प्रमाणांगुल' होता है ।

इस तरह अपेक्षासे हजार उत्सेधांगुलसे अथवा विष्कम्भयुक्त ऐसे प्रमाणांगुलसे [४०० उ०] शाश्वत पृथ्वी-पर्वत-विमानादिक प्रमाण मापनेके कहे हैं उसे मापें । इस बाबतमें मतांतर है उसे गाथा ३१४ के विशेषार्थमें बताया है ।

दूसरी शंकाका समाधान—अब ग्रन्थकारने 'उत्सेहंगुलदुगुणं' नियम बांधा है उस नियमसे भगवानकी सात हाथकी कायाके हिसाबसे वीर भगवान स्वात्मांगुलसे ८४ अंगुल होते हैं उसमें तो शंकाको स्थान नहीं है । लेकिन जिनके मतसे भगवान १०८ आत्मांगुल [स्वहस्तसे ३॥ हाथ] ऊँचे हैं वे तो इस ग्रन्थकारके 'उत्सेहंगुलं' मतसे अलग ही पड़ते हैं, क्योंकि उनके मतसे दो उत्सेधांगुलसे एक वीरात्मांगुल नहीं किन्तु त्रिराशिके हिसाबसे १६ उत्सेधांगुलसे एक वीरात्मांगुल होते हैं, अतः स्पष्ट मतांतर ही मानना पड़ेगा ।

तीसरी शंकाका समाधान—जिनके मतसे भगवान १२० स्वात्मांगुल हैं उनका मत भी देखनेसे अलग ही पड़ता है, परंतु समचतुष्क क्षेत्रफलके हिसाबसे 'उत्सेहंगुलदुगुणं' नियम चरितार्थ होता है । वह इस तरह—

भगवान स्वात्मांगुलसे १२० अंगुल हैं उसे २४ से बटा करने से (१२० अंगुलके) पांच हाथ आए, उसे समचतुरस्र बाहा प्रतिबाहारूप क्षेत्रगणितसे उतनेसे (५×५=) गुननेसे २५ होता है । अब श्री महावीरका देह सात हाथ हैं, उसका क्षेत्रफल [७×७] ४९ हाथ आता है । हाथ, पण्डि, एडीकी किंचित् वृद्धि करनी चाहिए इससे ५० हाथ होते हैं । इन पचासका आधा करनेसे २५ हाथ आवें, २५का क्षेत्रफल ५ हाथ आनेसे प्रथम कहे अनुसार १२० आत्मांगुल होनेसे दो उत्सेधांगुलसे एक वीर आत्मांगुल प्राप्त हुआ ।

परंतु बाहा गणित उस समचतुरस्र क्षेत्रफलकी अपेक्षासे विचारेंगे तो तो भगवंतका एक आत्मांगुल, १ उत्सेधांगुल और दूसरे उत्सेधांगुलके पाँचवें दो भाग अर्थात् १½ उत्सेधांगुल प्रमाणका होगा क्योंकि भगवंतको उत्सेधांगुलसे १६८ अंगुल तो कायम रखने हैं ही, परंतु आत्मांगुलसे जो १२० अंगुल कहने हैं उसके लिए आत्मांगुल १२० और १६८ उत्सेधांगुलके बिच बँटवारा करना पड़ेगा अर्थात् १२० आत्मांगुलके १६८ उत्सेधांगुल, तो एक आत्मांगुलके कितने ? इसके जवाबमें १½ प्रमाण वीरात्मांगुल होंगे ।

इस तरह समझने योग्य हकीकतें कहीं, इसकी अधिक चर्चा अंगुलसिचरीसे समझना । [३१८]

अवतरण—अब चार गति आश्रयी जीवोंकी योनिसंख्या कहते हैं ।

॥ परमाणुसे आरंभ करके अंगुल—योजन तकके प्रमाणका यन्त्र ॥

अनन्त सूक्ष्म परमाणुका	१ व्यवहार परमाणु	८ युकासे	१ यवमध्य
अनन्त व्य० परमाणुकी	१ उत्क्ष्णश्लक्ष्णिका	८ यवमध्यका	१ उत्सेधांगुल
८ उत्क्ष्णश्लक्ष्णिका	१ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	२०९७१५२ परमाणुसे	” ”
८ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	१ ऊर्ध्वरेणु	४०० उत्से० १ प्रमाणांगुल	
८ ऊर्ध्वरेणुका	१ त्रसरेणु	२ उत्से० १ वीरांगुल	
८ त्रसरेणुका	१ रथरेणु	६ उत्सेधांगुलसे	१ पाद
८ रथरेणुका	१ कुरुयुगलिकवालाग्र	२ पादका	१ वित्ता
८ कुरुवालाग्रका	१ हरि० रम्यक्वालाग्र	२ वित्तिका	१ हाथ
८ ह० रम्यक्वालाग्र	१ हैम० हैर० बालाग्र	२ हाथकी	१ कुक्षी
८ है० है० बालाग्रका	१ पूर्वापरविदेहवा०	२ कुक्षी या वामसे	१ दंड, १ धनुष एक युग या सुसल नालिकादि
८ पूर्वापर विदेहवा०का	१ भरतैरवतवालाग्र	अथवा ४ हाथसे	
८ भरतैरवतवा० की	१ लीख	या वामसे वा ९६	
८ लीखकी	१ युका	अंगुलसे	२००० धनुषसे
		४ कोसका	१ योजन

पुढवाइसु पत्तेअं, सगवणपत्ते अणंत दस चउदस ।

विगले दु दु सुरनारयतिरि. चउ चउ चउदस नरेसु ॥ ३१९ ॥

जोणीण होंति लक्खा, सव्वे चुलसी इहेव विप्पंति ।

समवण्णाइसमेआ, एगत्तेणेव सामन्ना ॥ ३२० ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् सुगम है । ॥ ३१९-३२० ॥

विशेषार्थ—यहाँ प्रथम जीवोंकी योनि संख्या कहकर फिर दूसरी गाथाके अर्थसे योनि की व्याख्या करते हैं ।

पृथ्व्यादिमें—अर्थात् पृथ्वी, अप्, तेउ और वायुकाय इन प्रत्येककी सात सात लाख प्रमाण योनि संख्या ज्ञानीपुरुषोंने ज्ञानचक्षुसे देखकर कही है । प्रत्येक वनस्पतिकायकी दस लाख योनि, अनन्त [साधारण] वनस्पतिकायकी चौदह लाख, विकलेन्द्रिय अर्थात्

दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय इन प्रत्येककी दो-दो लाख, देवता, नास्क और पंचेन्द्रिय त्रिर्यच प्रत्येककी चार चार लाख, मनुष्यकी चौदह लाख योनिसंख्या है। सर्व मिलकर बीवायोनिकी संख्या ४४० चौरासी लाख होती है, जो प्रसिद्ध है।

“४४” योनि किसे कहे ? तो तैजस और कार्मण शरीरधारी जीव जिस स्थानमें औदारिक, नैक्रिय शरीरके योग्य पुद्गल स्कंधोंके साथ (तप्तलोहवत्) जुडे उसे 'योनि' कहते हैं। अथवा एक जन्ममेंसे मृत्यु पाकर दूसरा जन्म धारण करने को दूसरे जन्मके योग्य देहकी रचनाके लिए ग्रहण किये पुद्गल, सहवर्ची कार्मण शरीरके साथ जहाँ तप्तलोहजलवत् एक बन जाए उसे भी योनि कहते हैं। योनि आधार है और जन्म आधेय है।

अगरचे व्यक्तिभेदसे वे योनियाँ असंख्य प्रकारकी हो जाती हैं, क्योंकि सर्व जीवोंके शरीरकी संख्या उतनी है और प्रत्येकको व्यक्तिगत गिननेसे वर्णादि भेदसे उतनी होती ही है, परंतु यहाँ व्यक्तिभेदसे गिनती नहीं करनी है, साथ ही उस तरह गिनती भी अशक्य है, अतः समान वर्ण, गंध, रस, स्पर्शवाली संख्य-असंख्य जितनी योनि हों [वे भी] उन उन समान वर्णादिवाली सर्वयोनिकी एकत्र एक जाति हुई कहलाती है, जैसे समान रंगवाले सैकड़ों या हजारों घडे भी जातिभेदसे एक ही जातिके गिने जाते हैं वैसे, और इस तरह करें तो ही प्रति जीवराशिमें लाखकी संख्यामें होती योनिकी गिनती मिल जाएगी। [३१९-३२०]

अवतरण—योनि विषयक व्याख्या कहकर अब किस जीवनिःकायमें कितनी कुलकोटी है ? उसे कहते हैं।

एगिदिएसु पंचसु, बार सग ति सत्त अडुवीसा य ।

विअलेसु सत्त अड नव, जलखहचउपयउरग भुअगे ॥ ३२१ ॥

अद्धतेरस बारस, दस दस नवगं नरामरे नरए ।

बारस छवीस पणवीस, हुंति कुल कोडि लखवाई ॥ ३२२ ॥

इग कोडि सत्तनवई, लख्वा सड्डा कुलाण कोडीणं ॥ ३२२ ॥

४६८. संग्रहणीकी लघु टीकामें व्यक्तिभेदके लिए अनन्त शब्द प्रयुक्त है तो वहाँ जीवकी विवक्षासे समझना। शरीरकी विवक्षासे तो असंख्य शब्दका ही प्रयोग होता है। एक ही प्रकारके वर्णवाली या रंगवाली अल्प अलग योनि है वह व्यक्तिभेदसे। उदाहरण स्वरूप एक समान रंगवाले १०० घोडे व्यक्तिभेदसे भी ही माने जाते हैं। ४६९. योनिकी संख्यावाली गाथाएँ कहकर ३२२ से लेकर ३२५ वीं गाथाओंका स्वरूप समाप्त करके फिर ये गाथाएँ प्रस्तुत होतीं तो ? ४७०. एक ही समान रंगवाले १०० घोडे भी जातिभेद से एक ही जातिके गिने जाते हैं, वैसे अलग अलग असंख्य योनियाँ भी समान वर्णादिककी अपेक्षासे संख्यासे एक ही योनि गिनी जाती है।

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ ३२१-३२२ ॥

विशेषार्थ—कुलकोटी अर्थात् क्या ?—तो जिनकी उत्पत्ति योनिमें ही हो वे कुल कहलाते ।

अनेक प्रकारके जीवोंके एक ही योनिमें भी बहुत कुल उत्पन्न होते हैं । उदाहरण स्वरूप एक ही उपलेके पिंडके अंदर कृमि, बिच्छु, कीड़े आदि अनेक प्रकारके क्षुद्र प्राणियोंके अनेक कुल होते हैं ।

उनमें पृथ्वीकायकी बारह लाख कुलकोटी, अप्कायकी सात लाख, तेउकायकी तीन लाख, वायुकायकी सात लाख, वनस्पतिकायकी अठाइस लाखकी है । [यहाँ सूक्ष्म-बादरकी भिन्न भिन्न नहीं बताई ।] दोइन्द्रियकी सात लाख, त्रिइन्द्रियकी आठ लाख, चउरिन्द्रियकी नौ लाख है, तिर्यच पंचेन्द्रिय जीव में जलचर जीवोंकी साढे बारह लाख, खेचरोंकी बारह लाख, चतुष्पद जीवोंकी दस लाख, उरपरिसर्पकी दस लाख और भुजपरिसर्पकी नौ लाख कुलकोटी है ।

और मनुष्यकी बारह लाख, देवताकी छब्बीस लाख और नारकीकी पचीस लाख कुलकोटी है ।

कुल सर्व जीवोंकी कुलकोटीकी सर्व संख्या मिलकर एक करोड़ साढे सतानवे लाख [१९७॥ लाख] है । [३२१-३२२ ॥]

अवतरण—अब पूर्वोक्त [आभ्यन्तर] योनिके ही संवृतादि भेद कहे जाते हैं ।

संवृडजोणि सुरेगिदिनारया, विश्रड विगल गब्भूमया ॥ ३२३ ॥

गाथार्थ—संवृत्तयोनि देव-एकेन्द्रिय-नारक जीवोंकी और विवृत्तयोनि विकलेन्द्रियकी और गर्भज जीवोंकी उभय [संवृत्त-विवृत्त] योनि है । ॥ ३२३ ॥

विशेषार्थ—संवृत्त-अर्थात् अच्छी तरह ढकी हुई । विवृत्त-खुली हुई और संवृत्त-विवृत्त अर्थात् पूर्वोक्त दोनों प्रकारकी अर्थात् मिश्र ।

चारों प्रकारके देव, एकेन्द्रिय वे पृथ्वी-अप्-तेउ-वायु और वनस्पति तथा सातों नारकोंकी संवृत्त योनि है ।

संवृत्त योनि किस तरह ?—देवलोकमें देव दिव्य शय्याओंमें उत्पन्न होते हैं ।

४७१. इस कुलकोटीकी संख्याके बारेमें आचारांगदि ग्रन्थोंका कथन अलग पडता है । साथ ही लोकप्रकाशमें भी देवताकी कुल संख्या बारह लाख कही है आदि संख्याकी बाबतमें मतांतर हैं । कुलकोटीकी ऊपर बताई व्याख्यासे अधिक संतोषजनक व्याख्या देखनेको नहीं मिलती ।

ये शर्याएँ देवदुष्य वस्त्रोंसे आच्छादित होती हैं। यह देवशर्या और आच्छादित देवदुष्य वस्त्र, दोनों के अंतरमें देवोंका उपात होता होनेसे वे आच्छादित रूपमें उत्पन्न होते हैं, अतः वह संवृतयोनि कहलाती है। इस तरह एकेन्द्रियोंकी संवृतयोनि तो स्पष्ट पहचानी नहीं जाती, अतः अस्पष्टयोनि भी संवृत ही गिनी जाती है। सारतों नरकोंकी संवृतयोनि उपरसे अच्छी तरह आवृत्त गवाक्षकी कल्पनासे समझमें आ सकता है, क्योंकि नारको गवाक्षके अंदर ही (नरकावासमें) उत्पन्न होते हैं अतः उपरसे आच्छादित योनिवाले हैं।

विवृतयोनि किस तरह ? विकलेन्द्रिय अर्थात् दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय इन तीनोंकी विवृतयोनि हैं। जलाशयादिके स्थानोंकी तरह वह स्पष्ट खुली दीखती ही है।

“” संवृत-विवृत किस प्रकार ?—आच्छादित और प्रकट अथवा स्पष्ट-अस्पष्ट रूपमें हो उसे मिश्रयोनि भी कह सकते हैं,। वह गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यच तथा मनुष्योंकी संवृत-विवृत योनि है, जब ये जीव उदरमें गर्भरूप में उत्पन्न होते हैं तब गर्भ दीखता नहीं है, अतः गर्भ संवृत होता है, परंतु बाहर उदर वृद्धि आदि द्वारा अनुमान हो सके इसलिए वह विवृत है। इन्हें आभ्यन्तर योनियाँ समझना। बाह्य लिम्बाकार योनिस्वरूप तो ग्रन्थकार आगे कहनेवाले हैं। [३२३]

अवतरण— अब चारों गतिमें से कौनसी जीवायोनि सचित्त, अचित्त या मिश्र तथा शीतोष्णादिपनसे है ? यह कहते हैं। यहाँ कहा जाता स्वरूप आभ्यन्तर योनिका समझना। बाह्य योनिका स्वरूप गाथा ३२५ में कहेंगे।

अचित्तजोणि सुरनिरय, मीस गम्भे तिभेअ सेसाणं ।

सीउसिण निरय सुगम्भ, मीसे ते उसिण सेस तिहा ॥ ३२४ ॥

गाथार्थ—देवों और नारकोंकी अचित्त योनि, गर्भज जीवोंकी मिश्रयोनि तथा शेष जीवोंकी सचित्त, अचित्त और सचित्तचित्त इन तीन भेदोंसे तथा पुनः मिश्रयोनि, शीत-योनि तथा उष्णयोनि इस तरह तीन प्रकार स्पर्शकी दृष्टिसे है। इनमें नारकों, देवों तथा गर्भज जीवोंकी मिश्र [शीतोष्ण], तेउकायकी उष्णयोनि तथा शेषजीवोंकी शीत, उष्ण और शीतोष्ण इस तरह तीनों प्रकारकी है। ॥ ३२४ ॥

४७२. तीसरी योनिसे उत्पन्न हुए जीव अल्प, दूसरीसे असंख्यगुने उनसे अयोनिज-अर्थात् सिद्धके जीव अनन्तगुने, और उनसे प्रथम योनि उत्पन्न अनन्तगुने हैं।

विशेषार्थ—सचित्तयोनि अर्थात् जीवके प्रदेशोंके साथ एक हो गए जीवंत आत्माके शरीरका जो भाग, जिसमें जंतु उत्पन्न हों तब वह सचित्त योनिप्रदेश गिना जाता है। अथवा जीवप्रदेशके साथ संबंध रखनेवाली योनि वह सचित्तयोनि।

अचित्तयोनि—जीवप्रदेशसे सर्वथा रहित सूखे काष्ठ जैसी अथवा जीवप्रदेशके साथ संबंध न रखती योनि वह।

प्रश्न—यहाँ किसीको शंका हो कि तीनों लोक सूक्ष्म जंतुओंसे स्वचास्वच भरा है, तो फिर अचित्तयोनि [अजीव] पन कैसे संभवित हो? साथ ही अचित्तयोनि कदाचित् सचित्तत्व प्राप्त करे या नहीं?

उत्तर—अचित्तयोनि तथाविध स्वभावसे सूखे काष्ठ जैसी होनेसे ही सूक्ष्म जन्तु सर्वत्र व्याप्त होने पर भी, अचित्तयोनिके उपपातस्थानके पुद्गलो, उन सूक्ष्म जीवप्रदेशोंसे अन्योन्य संबंधवाले नहीं होते, अतः अचित्तयोनि को कभी भी सचित्तपन नहीं होता।

मिश्रयोनि— [सचित्ताचित्त] किस प्रकार हो?—सचित्त और अचित्त पुद्गलोंके संबंधवाली होती योनि वह। अतः मनुष्यको तिर्यचकी योनिमें शुक्र [वीर्य] तथा शोणित—रुधिर पुद्गल रहे होते हैं। उनमें से जो पुद्गल आत्माके साथ जुड़े हुए हैं वे सचित्त और जो नहीं जुड़े हुए हैं वे अचित्त [क्योंकि आत्मा सजीव है]। इस सचित्ताचित्तका संबंध जिसमें होता हो वैसी योनिको मिश्रयोनि कही जाती है।

वह इस तरह—स्त्रियोंके शरीरमें, नाभिके नीचे विकस्वर पुष्पोंकी मालाके जैसी लगती, दाई तथा बायीं दोनों बाजू पर दो नसें रही हैं। ये दोनों नसें जहाँ जुड़ती हैं वहीं, उन नसोंके साथ जुड़ी अधोमुखी अमरुद अथवा तो कमलके गोटेके आकार जैसी योनि पदार्थकी रचना है। यहाँ आभ्यन्तर योनिकी बात होनेसे योनि अर्थात् गर्भाशय समझना, कि जहाँ गर्भकी उत्पत्ति होती है। इस योनि या गर्भाशयके बाहरके भागमें आग्रमंजरी जो मांसकी बनी मंजरीयाँ होती हैं। ये मंजरीयाँ रुधिर झरनेके स्वभाववाली है, अतः सामान्यतः (प्रायः) हर मास रुधिरको झरती हैं। (तब स्त्री रजस्वला, अडचनवाली या एम. सी. वाली कहलाती है।) इस रुधिरके कतिपय बिन्दु—कण अमरुदाकार गर्भाशयमें नसोंद्वारा दाखिल हो जाते हैं और वहाँ टिके रहते हैं। तब पुरुषके साथ सम्बन्ध होनेसे पुरुषवीर्यके अमुक बिन्दुएँ भी उसी गर्भाशयके स्थानमें प्रवेश करने पर वहाँ स्त्री—रज या रुधिर और पुरुष वीर्यका मिश्रण हो जाता है। इन शुक्र मिश्रित शोणित पुद्गलोंमें से जिन पुद्गलोंको योनिने आत्मसात् किये हों वे पुद्गल

सचित्त अर्थात् सजीव है और शेष जो रहते हैं वे अचित्त माने जाते हैं। इस तरह मानवी स्त्रीकी योनि का मिश्रण समझना। जीव जब वहाँ उत्पन्न हो तब प्रथम समय यही मिश्र आहार करता है।

कुछ आचार्य ऐसा कहते हैं कि—रुधिर सचित्त है और वीर्य अचित्त है। कुछ महर्षि रुधिरको भी अचित्त कहते हैं। और योनिगत आत्मप्रदेशोंको ही सचित्त कहते हैं, और इस तरह मिश्रयोनिपन घटाते हैं।

पहले देव, नारकोंकी अचित्तयोनि और गर्भज नर, तिर्यचोंकी मिश्रयोनि कही। अब शेष जीवोंमें सर्व संमूर्च्छिम अर्थात् एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय, संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यच, मनुष्य, उन्हें सचित्त, अचित्त और मिश्र यों तीनों प्रकारकी हैं। वह किस तरह हो ?

जीवित गाय आदि जीवोंके शरीरमें पडते कृमि आदि जंतुओंकी सचित्त योनि। [जीवके संबंधवाली होनेसे] अचित्त सूखे काष्ठमें उत्पन्न होते धुने आदिकी अचित्त योनि। अर्धसूखे [हरा—सूखा ऐसा] लकड़े तथा गाय आदिके शरीरके क्षत—घाव बगैरह स्थानमें उत्पन्न होते, धुने तथा कृमि आदि जंतुओंकी मिश्रयोनि समझना। यह हकीकत स्पष्ट समझमें आ सकती है।

योनिके शीतादिक स्पर्श प्रकार और उसके अधिकारी—स्पर्शकी दृष्टिसे योनि-स्थानों का विचार करें तो योनि तीन प्रकारकी है। १ शीत, २ उष्ण, ३ शीतोष्ण। अर्थात् जिसका स्पर्श ठंडा लगे, या गरम लगे, या तो ठंडा, गरम दोनों प्रकारका अनुभव करावे वैसा।

किस प्रकारकी योनि कहाँ है ? अथवा उसके अधिकारी जीव कौनसे हैं ? तो प्रथमकी तीन नरक पृथिव्योंमें नारकोंके जो उपपात क्षेत्र हैं वो शीत योनिवाले हैं। शेष क्षेत्र उष्णस्पर्शी हैं। जिससे शीत योनि ही उष्णक्षेत्रमें आवे तब नारकों को वहाँकी उष्णवेदनाका कटु अनुभव होता है। जैसे युरोप जैसे ठंडे प्रदेशमें उत्पन्न हुए मनुष्यको उष्ण कटिबंध जैसे देशकी गरमी असह्य लगे वैसे। चौथी पंकप्रभाके ऊपरके भागमें बहुत उष्ण वेदनावाले नरकावासियोंकी शीत योनि और थोड़े शीत वेदनावाले जीवोंकी उष्णयोनि, इस पृथ्वीमें उपपात क्षेत्रोंके सिवायके स्थल दोनों प्रकारके (शीत-उष्ण) स्पर्शवाले होनेसे दोनों प्रकारकी वेदनाका अनुभव होता है। पाँचवीं-पृथ्वीमें बहुत शीत वेदनावाले आवासोंकी उष्णयोनि, थोड़े उष्णवेदनावाले आवासोंकी शीत अर्थात् छठी तथा

सातवीं इन दोनों नरक पृथिवियोंमें शीतवेदनाका अनुभव करनेवाले नारकोंकी उष्णयोनि है और इन शीत योनिवाले नारकोंकी वेदना अत्यन्त दुःसह है, और उष्णयोनिकी वेदनाका अनुभव करनेवाले नारकोंकी शीत योनि है। ये नारको तीव्र-असह उष्णवेदनाका अनुभव करते हैं।

यहाँ प्रतिकूल कर्मादयसे योनिके प्रकारसे उलटा ही वेदका क्रम समझाया है।

कुछ आचार्यों आद्यकी तीन पृथ्वीमें उष्णयोनि, चौथीमें शीत और उष्ण दो और अंतिम तीनोंमें एक शीतयोनि कहते हैं। इस मतको उपेक्षणीय माना है।

साथ ही तमाम देवोंकी तथा गर्भज तिर्यच, पंचेन्द्रिय और मनुष्योंकी मिश्र अर्थात् ^{१०३}शीतोष्णरूप स्वभाववाली योनि है, क्योंकि उनके उपपात क्षेत्रो वैसे ही स्पर्शवाले हैं। तेउकायकी केवल उष्णयोनि स्पष्ट है। शेष पृथ्वी, अप्, वायु, वनस्पति, विकलेन्द्रिय, संमूर्च्छिम तिर्यच पंचेन्द्रिय तथा मनुष्योंकी तीनों प्रकारकी हैं अर्थात् उनमें अमुक शीतयोनि, अमुक उष्ण तथा अमुक मिश्रयोनियाँ हैं। [३२४]

अवतरण—अब मनुष्यकी स्त्रीकी योनिका बाह्य (ऊपरका) आकार भिन्न भिन्न जीवाश्रयी कैसा कैसा होता है यह कहते हैं।

हयगम्भ संखवत्ता, जोषी कुम्भुन्नयाइ जायंति ।

अरिहहरिचकिरामा, वंशीपत्ताइ सेसनरा ॥ ३२५ ॥

गाथार्थ—शंखावर्ता योनि वह हतगर्भा है। अरिहंत, चक्री, बलदेव, वासुदेव, कूर्मान्नतामें उत्पन्न होते हैं और अवशेष नरो-मनुष्यो, वंशीपत्रामें उत्पन्न होते हैं। ॥३२५॥

विशेषार्थ—मनुष्योंकी बाह्य लिंगाकाररूप योनि तीन प्रकारसे है। १. शंखावर्ता योनि, २. कूर्मान्नता, ३. वंशीपत्रा।

शंखावर्ता—यह शंख जैसी भ्रमीवाली होती है अर्थात् इस योनिमें शंख जैसे आवर्त-आंटे होनेसे शंखावर्ता कहलाती है। यह योनि निश्चयसे 'हतगर्भा' होती है, अतः इस योनिमें जीव उत्पन्न होता है और देहरचना भी करती है, लेकिन अंतमें अंदरकी अत्यन्त गरमीके कारण शरीर नष्ट हो जाता है और जीव दूसरी जगह चला जाता है, जिसे गर्भहत हुआ कहा जाता है। कभी भी वह गर्भ शरीरकी संपूर्ण रचना करके माताके गर्भमें से बाहर आकार जन्मधारी बने वैसा होता ही नहीं है, क्योंकि शंखावर्त

येनिवाली स्त्रियाँ अत्यंत प्रबल कामाग्निवाली होनेसे उनमें इतनी सारी उष्णता रहती है कि उत्पन्न हुए गर्भके जीवका विनाश ही हो जाता है। यह योनि चक्रवर्त्तीकी मुख्य षटरानीरूप स्त्री रत्नके होती है। अतः ही कहा जाता है कि ब्रह्मदत्त चक्रीकी^{४७४} कामातुर क्नी स्त्रीरत्न कुरुमतिके हस्तस्पर्शसे लोहेका पुतला भी द्रवीभूत हो गया अर्थात् गल गया।

कूर्मोन्नता—कछुएके पीठकी तरह उपसी—उन्नत भागवाली योनि। इस योनिमें ही अरिहंत परमात्मा, वासुदेव चक्रवर्त्ती और बलदेव [अर्थात् प्रतिवासुदेवको छोडकर शेष शलाकापुरुष] निश्चिय उत्पन्न होते हैं।

वंशीपत्रा—जो योनि बांसके जुडे दो पत्र समान आकारवाली हो वह। इस योनिमें शेष सर्व प्रकारके मनुष्य ही [तिर्यच नहीं, क्योंकि इन तीनों प्रकारका योनिकथन मनुष्यकी स्त्रीका ही है।] उत्पन्न होते हैं, तिर्यच पशु—पक्षियोंकी योनियोंका बाह्यकार अनियत है, इसलिए कहा नहीं है। मनुष्य स्त्रीकी बाह्ययोनिका यह स्वरूप भी कहा।

इस तरह योनिके संवृतादि भेद, आभ्यन्तर योनिके सचित्ताचित्तादि भेद और बाह्ययोनिके शंखावर्तादि भेद—प्रकार दर्शाये।

इसके सिवाय शुभयोनि कौनसी और अशुभयोनि कौनसी? वह भी आगमग्रन्थोंमें बताया है। शुभयोनि किसे कही जाए और अशुभयोनि किसे कही जाए, उसे वाचको स्वयं समझ सकते हैं; क्योंकि व्यक्तिकी उत्तमता और अधमता देखकर शुभाशुभपनका निर्णय सुखपूर्वक किया जा सकता है। [३२५]

अवतरण—यहाँसे ग्रन्थकार बारह गाथाओं द्वारा आयुष्यकी मीमांसा प्रस्तुत करते हैं। 'आयुष्य या जीवन' यह एक ऐसी वस्तु है कि जो संसारके प्राणीमात्रको प्रिय है। जीना किसे नहीं भाता? अर्थात् सबको भाता है। मरना किसीको भी प्रिय नहीं है, फिर भी सबको अप्रिय ऐसी मृत्यु को भेंटना ही पडता है। यह जीवन जो जिया जाता है, उसमें कारण आयुष्य नामका कर्म है। यह कर्म जिस प्रकारका हो वैसे जिया जाए। तब यह कर्म किस किस जातिका कैसे प्रकारका है? उसका वर्णन सबको जानना आवश्यक होनेसे यहाँ से शुरू किया जाता है। इसमें प्रथम गाथामें आयुष्यमें उत्पन्न होतीं सात स्थितियोंको जैन सिद्धान्तकी शैली और परिभाषाद्वारा वर्णित करते हैं।

४७४. कामातुर होकर स्पर्श करे तो ही लोहपुतलेका द्रवीभूतपन ले। सारा दिन हमेशा ऐसी उष्णता नहीं रहती, वरना सुवर्ण-रत्नके आभूषण पहनती हैं उन्हें पहननेका असंभव ही हो जाए।

आउत्स बंधकालो, अबाधकालो अ अंतसमओ य ।

अपवत्तऽणपवत्तण उवकमऽणुवकमा भणिया ॥ ३२६ ॥

गाथार्थ—आयुष्यका (१) बंधकाल, (२) अबाधाकाल, (३) अंतसमय, (४) अपवर्तन, (५) अनपवर्तन, (६) उपक्रम और (७) अनुपक्रम आदि सात स्थान यथायोग्य कहे हैं । ॥ ३२६ ॥

विशेषार्थ—१. बंधकाल—बंधकाल अर्थात् बंध योग्य काल । अब शंका हो कि बन्ध काहेका ? तो जवाबमें परमवायुष्यका ।

एक ऐसा नियम है कि, हरेक आत्माको एक गतिमें से दूसरी गतिमें कोई भी देह धारण करनी हो, फिर चारों गतिमें से किसी भी नामरूप हो तो उसका, उसे चालू भवमें ही निर्णय करना पडता है । यह निर्णय न हो तब तक इस देहमें से आत्मा छूट नहीं सकती । तात्पर्य यह कि, परमवके आयुष्यको चालू भवमें ही बंध करना पडता है । यह बन्ध कब करना चाहिए ? उसका निर्णय करना वह बन्धकाल । यह निर्णय कालसमय अबके बादकी ही गाथामें ग्रन्थकार जणाएगा ।

प्रस्तुत भवके गतिमान आयुष्यमें प्रथम बन्धकाल आता है । बन्धकालके समय उसके साथ साथ ही अबाधाकालकी मर्यादा जीव निश्चित कर ही डालता है । अतः दूसरी व्याख्यामें अबाधाकाल अर्थात् क्या ? तो उस विषयक विशेष व्याख्या तो गाथा ३२९ में करेंगे, लेकिन संक्षिप्त व्याख्या यह कि—

२. अबाधाकाल—चालू भवमें बन्धकाल समय पर जीवको परमवके—जिस गतिमें जिस जाति स्थानमें उत्पन्न होना हो वहाँ के—आयुष्यका बन्ध किया, यह बन्ध करनेके बाद वह बद्धायुष्य उदयमें न आवे अर्थात् जब तक निश्चित किये जन्ममें उत्पन्न नहीं होता । इन (बंध—उदय) दोनोंके बिचका जो अंतर—काल जितना हो, उसे अबाधा-काल कहा जाए ।

३. अंतसमय—अनुभूत (द्रव्य—काल) दोनों प्रकारका गतिमान आयुष्य पूर्णताको पाए वह । जिसे 'मृत्यु' शब्दसे भी पहचाना जाता है ।

उपरकी तीनों स्थितिका अनुभव जीव मात्रको अवश्य करनेका ही होता है, अतः तीनोंकी व्याख्या साथमें की और अब पश्चात् की चार स्थितियोंका अनुभव जीव मात्र के लिए वैकल्पिक है । अतः उसका वर्णन बादमें लिया है ।

चार स्थितिमें प्रथम स्थिति (अपवर्तन) आयुष्यकी कमी हो उसको सूचित करता है। दूसरी स्थिति (अनपवर्तन) चाहे कैसे भी प्रतिकूल संयोगोंमें आयुष्य-समय मर्यादाका जरा भी हास न हो उसे सूचित करता है।

अब यह कमी किस कारणसे होती है और किससे नहीं होती? इसके दो कारण बताये हैं। एकका नाम 'उपक्रम' दिया है और दूसरीका नाम 'अनुपक्रम' दिया है। उपक्रम अपवर्तनका कारण है और अनुपक्रम अनपवर्तनका कारण है। इस तरह यहाँ कार्यकारण भावकी व्यवस्था समझना। यहाँ दोनों कारणोंकी व्याख्या भी जणाते हैं।

४. अपवर्तन—लंबे अरसे तक क्रमशः वेदने-भोगने योग्य बंधी आयुष्य स्थिति को, तथाप्रकारके उपद्रवादि अनिष्ट निमित्तो मिलनेसे परावर्तन हो अर्थात् दीर्घ स्थितिको ह्रस्व-अल्पस्थिति करके भोगे वैसे आयुष्यको अपवर्तन जातिका कहा जाए।

एक सिद्धान्त समझ रखना कि, जन्मान्तरकी बद्धआयुष्य कभी संभवित है; लेकिन उसमें बढ़ावा तीनों कालमें नहीं हो सकता। अर्थात् १०० बरसका आयुष्य बांधकर जन्मा १०० वर्षसे उपरांत, एक घण्टा तो क्या, एक पल भी अधिक नहीं जी सकता, उलटा १०० बरसायुषी पांच वर्षमें या यावत् गर्भमें उत्पन्न होते तुरंत ही मृत्यु पा ले यह संभवित है।

५. अनपवर्तन—अपवर्तनसे विपरीत, जन्मान्तरसे प्रस्तुत भवमें भोग्यमान जितना आयुष्य बांधकर आया हो उतना अवश्य भोगता ही है। अर्थात् जिसमें परिस्थितिका जरा भी हास हुए बिना संपूर्णरूपसे भोग सके वह।

६. उपक्रम—आयुष्यका अपवर्तन-फेरफार=हास करनेवाले कारण।

७. अनुपक्रम—उपक्रमसे उलटा अर्थात् आयुष्यका हास करनेवाले कारणोंका अभाव, उसके पर आयुष्य के साथ संबंध रखनेवाली बाबतें बताईं।

आयुष्यकर्म विचारणा

अब हम आयुष्यके बारेमें थोड़ी समीक्षा सोचेंगे। इसमें प्रथम आयुष्य अर्थात् क्या? जिसके द्वारा जीव विवक्षित किसी भी भवमें, अथवा उस विवक्षित भवके देहमें अमुक काल पर्यंत रह सके उस शक्ति-साधनका नाम आयुष्य अथवा जिससे जीव पर-भवमें जा सके उसका नाम भी आयुष्य। अपनी देहमें अपनी आत्मा जितना समय रह सके, वह इस आयुष्य शक्तिके बलसे ही। तब यह शक्ति क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें यह आयुष्य कोई दृश्य विद्युतादि शक्ति, पदार्थ या रसायनादि नहीं है, परंतु यह एक

प्रकारका कर्म ही है। और जैनेोंने कर्मवादकी नींव रूप माने स्थूल आठ प्रकारके कर्मोंमें से यह आठवाँ कर्म है, जिसे 'आयुष्यकर्म' ऐसे नामसे पहचाना जाता है। कर्म हुआ अर्थात् जैनसिद्धांतके अनुसार वे कर्म एक पदार्थरूपसे हैं, जिसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श रहे हैं, लेकिन अत्यन्त सूक्ष्मभावको पाये होनेसे वे चर्मचक्षुसे दृश्य नहीं होते, लेकिन ज्ञानदृष्टिसे ज्ञानी जरूर देख सकते हैं। पदार्थ हुआ अतः वह पुद्गल-परमाणु के समूहरूप है। इस आयुष्यके पुद्गल जिस आत्माने जिस प्रकारके जितने एकत्र किये हों उस तरह उतना समय यह जीव शरीरमें रह सकता है। इन पुद्गल-परमाणुओंका जीव भोगद्वारा क्षय कर दे कि तुरंत ही, उसी क्षण, आत्मा वर्तमान देहमें से निकलकर अन्य जीवायोनिमें प्रवेश कर देता है और वहाँ उत्पन्न होकर तद्भवयोग्य देहकी रचना करता है।

इससे तात्पर्य यह निकला कि-इस आयुष्यके पुद्गल जीव को अमुक काल या वर्षों तक देहमें टिकानेवाले हैं। यह आयुष्य पुद्गलके समूहरूप है। इसके पर ही जीवन या मरणका आधार होता है।

इस आयुष्यके पुद्गलोंके साथ कालका भी संबंध है अर्थात् इन पुद्गलोंको जिस जन्मान्तरसे जीव बांधकर लाया वह कितने समयमें भोगनेके होते हैं? इसके लिए कालका नियमन भी होता है। इससे जीवको भवांतरमें जाना हो तब, पुद्गल और काल दोनोंका क्षय करना पडता है; अतः ही शास्त्रीय शब्दमें आयुष्यके दो भेद करके समझाया है।

(१) द्रव्यआयुष्य और (२) कालआयुष्य।

१. द्रव्य अर्थात् पुद्गल तथाप्रकारके कर्म पुद्गलोंके द्वारा जिया जाय वह द्रव्यायुष्य। तेलके बिना दीपक जल नहीं सकता वैसे इस आयुष्य कर्मके पुद्गलोंके बिना आत्मा (देहमें) जी ही नहीं सकती। ये पुद्गल वही ही द्रव्यायुष्य। इसकी मददसे ही यथायोग्य काल जीवित रहा जाता है। प्रत्येक आत्मा विवक्षित भवमें जो आयुष्य पुद्गलों का उपभोग करता रहता है उसके लिए एक अटल नियम समझ लेना कि भूतकालके-गतजन्मके बंधे कर्म उदयमें आए भोगते हैं। और वर्तमान जन्ममें बंधे हुए आयुष्य पुद्गल उसके भावि जन्ममें भोगनेके होते हैं। इससे समझना कि आज वर्तमानमें जो आयुष्य पुद्गल भोगता होता है, वे पुद्गल जन्मांतरके बंधे जितने हैं उतनोंका संपूर्ण क्षय न हो जाए तब तक जीव कभी भी वर्तमान देहमेंसे छूट सकता है।

नहीं। प्रत्येक परमाणु भोगा जाना ही चाहिए। तत्पश्चात् ही जीव की मृत्यु होती है और गत्यन्तरमें आत्मा चली जाती है। यह नियम द्रव्यायुष्यके लिए है।

२. अब दूसरा प्रकार कालायुष्यका है। द्रव्यायुष्यके जैसा इस आयुष्यके लिए नियम नहीं है। अर्थात् जितना बांधकर लाया हो उस सारे कालका अनुभव या भोग करना ही पड़े अर्थात् उतने बरस तक जीना ही चाहिए ऐसा नहीं है, इसमें विकल्प है इसलिए भोगना पड़े अथवा न भी पड़े। इस कालायुष्यको जरा विस्तारसे समझ लें।

द्रव्य आयुष्यकी मददसे जीव—आत्मा (जघन्य अंतर्मुहूर्त्तसे लेकर उत्कृष्ट सागरोपम तक) जी सकता है अथवा उस उस देहमें टिक सकता है। इसीका नाम काल आयुष्य। काल अर्थात् समय। फिर उस समयसे लेकर अंतर्मुहूर्त्त, घड़ी, प्रहर, दिवस, मास, वर्ष कुछ भी समझना।

इस कालायुष्यकी व्याख्या द्रव्यायुष्यसे भिन्न है। अर्थात् जीव गतजन्ममें द्रव्यायुष्यके बन्धके समय, कालायुष्यका बन्ध भी एकत्र कर देता है। लेकिन जैसे द्रव्यायुष्यका अपवर्तन होता ही नहीं है और इसलिए उसका पूर्ण क्षय ही करना पड़ता है लेकिन कालायुष्यका संपूर्ण क्षय करना ही पड़े ऐसा एकांत नियम नहीं है अर्थात् उसमें अपवर्तन मतलब कि हास भी हो जाए।

उदाहरण स्वरूप गत जन्ममें सौ सालके वर्षके आयुष्यकी मर्यादा निश्चित करके फिर यहाँ वर्तमानकालमें मनुष्य रूपमें जन्मे तो वह जीव सौ साल तक जीएगा ही ऐसा निश्चित न कहा जा सके। बिचमें कोई उपद्रव या अकस्मात आवे तो अंतर्मुहूर्त्तमें ही मृत्यु पा जाए। और आज बहुत उदाहरण देखते हैं जिसे व्यवहारमें अकाल मृत्यु के रूपमें पहचाना जाता है।

इससे मथितार्थ यह निकला कि, द्रव्य आयुष्यमें अपवर्तन नहीं है। वह अनपवर्तनीय है जबकि कालायुष्यमें विकल्प होनेसे वह अपवर्तन तथा अनपवर्तन दोनों प्रकारसे भोगा जाता है।

शंका—द्रव्यायुष्य पूर्ण भोगा जाए तो तत्सहचारि कालायुष्य न भोगा जाए ऐसा कैसे बने? यह बात तो विचित्र लगे!

समाधान—आयुष्यकी स्थिति या लयमें प्रधान कारण आयुष्य कर्मके पुद्गल ही हैं। पुद्गल ऐसी वस्तु है कि धीरे धीरे भोगी जाए और शीघ्र भी भोगी जाए। इसका आधार आत्माके मन्द—तीव्र अधवसाय पर है।

ऊपर उदाहरण दिया उसके अनुसार, एक जीव सौ साल तक चल सके उतने आयुष्यके पुद्गल बांधकर अवतरित हुआ और पांच वर्षकी उम्र होने पर किसी उपद्रव अथवा अकस्मातकी वजहसे हार्टफेल हुआ और पाँचवें वर्षमें ही मृत्यु हुई; तब इस जीवने कालायुष्य पूर्ण न किया, कालके ९५ वर्ष पडे रहे, लेकिन इस तरह ९५ वर्ष भोग सके उतने पुद्गल उस समय पडे रहते क्या ? हरगिज नहीं। आयुष्यका एक भी पुद्गल वा परमाणु शेष रहता ही नहीं, संपूर्ण भोगा ही जाता है, क्योंकि प्रथम ही कह दिया कि द्रव्यायुष्यका अनपवर्तन अर्थात् फेरफार हो सकता है।

लेकिन एक ख्याल निश्चितरूपसे समझ रखना कि आयुष्यमें हानिका फेरफार शक्य है लेकिन वृद्धिका नहीं।

अब कालायुष्यमें कोई उपद्रव या अकस्मात रुकावट न करे तो तो सौ वर्ष पूरा करके ही मृत्यु पाए और उस समय द्रव्यायुष्य सौ वर्ष तक भोगा जाए तथा कालायुष्य भी उतने ही वर्ष तक भोगा जाए, इस कालायुष्यको अनपवर्तन कहा जाए।

शंका—आयुष्यके पुद्गलोंका क्षय हुआ और स्थिति—समयका क्षय न हुआ तो सौ वर्षकी स्थिति तक चले इतने पुद्गलों को जीव पांच वर्षमें, अरे ! अंतर्मुहूर्तमें किस तरह भोग डाले ?

समाधान—ऊपरकी शंकाका समाधान यह कि, जैसे एक दीपकमें तेल भरा हो, ज्योति धीरे धीरे जलती हो तो, वह दीपक यथासमय जलना पूर्ण कर दे लेकिन कोई मनुष्य उस दीपककी लौ को अधिक प्रज्वलित करे तो दीपकका जलना शीघ्र पूर्ण हो जाता है तथा तेलका संपूर्ण क्षय हो जाता है। उस समय तेल संपूर्ण उपयोगमें आ जाने पर भी दीपक जल्दी जल गया ऐसा बोलते हैं। और दूसरा दृष्टांत यह कि एक १०० हाथ लम्बी डोरी सीधी सारी रखी है। इस डोरी को कोई एक छोर पर जलावे तो वह धीरे धीरे जलती हुई उसके नियमानुसार योग्य समय पर जल जाए, लेकिन उसी १०० हाथकी डोरीको अगर गोल लपेटकर जलाया जाए तो तो बहुत कम समयमें जलकर खत्म हो जाए।

ऊपरके ^{४७५}दृष्टांतोंके अनुसार आयुष्यमें घटा लेना चाहिए कि—सौ वरसका अनपवर्तनीय आयुष्य बांधकर आया जीव समय समय पर क्रमशः आयुष्यके कर्म पुद्गलोंका क्षय

४७५. यहाँ भिगेई दो धोतीका तथा बंधी और अलग ऐसी धासकी गंजीका भी दृष्टांत घटाया जाता है।

करता जाए और बिचमें उस आयुष्य कर्मको कुछ भी उपक्रम न लगे—अर्थात् अनुपक्रम स्थिति रहे—तो तो पूरे सौ वर्ष पर ही मृत्यु पाए। लेकिन जन्मांतरमें १०० सालका आयुष्य बांधते समय साथमें ऐसे प्रकारके शिथिल मनोभाव जुड़े कि जिससे वह आयुष्य बांधा तो था सौ सालका ही लेकिन शिथिलभावका बांधा, तो वैसे जीवको (आगे गाथा ३३७ में जणाये अनुसार) अलग अलग प्रकारके उपद्रव, आघात, प्रत्याघात लगते कि सौ वर्ष तक चले ऐसे आयुष्य पुद्गलोंको बड़े बड़े समूहमें शीघ्र भोगकर क्षय कर डाले, तो थोड़े वर्षोंमें ही जीवनदीपक बूझ जाए। अरे! भयंकर कोटिका रेम्भ, अकस्मात्, शस्त्रादिकका घात या भय आदि हों तो अंतर्मुहूर्त्तमें भी जीवनज्योत् स्वप्न हो जाए, जिसे व्यवहारमें अकाल मृत्यु कहते हैं।

इस तरह आयुष्य विषयक भूमिका बताई। [३२६]

अवतरण—अब इन सातों आयुष्यद्रोणोंका क्रमशः विस्तारसे वर्णन करते हैं जिसमें प्रथम बंधकाल जो जीवोंके जितना होता है उसे घटाते हैं।

बंधंति देव—नारयअसंखनरतिरि छमाससेसाऊ।

परभवियाउ सेसा, निरुवकमति भागसेसाऊ ॥ ३२७ ॥

सोवकमाउआ पुण, सेसतिभागे अहव नवमभागे।

सत्तावीसइमे वा, अंतर्मुहुत्तं तिमे वा वि ॥ ३२८ ॥

गाथार्थ—(निरूपकमायुषी) देव—नारक, असंख्यवर्षायुषी युगलिक मनुष्य तथा तिर्यच (अपने चलते भवका) छः मँस आयुष्य बाकी रहे तब परभवका आयुष्य बांधते हैं। तथा शेष जीवोंमें निरूपकमायुषी निश्चयसे, अपने आयुष्यका शेष तीसरा भाग बाकी हो तब, और जो सोपकमायुषी हैं वे अपने आयुष्यके शेष तीसरे भागमें परभवकायुष्य बांधते हैं; लेकिन निश्चयसे नहीं। इसीलिए स्वआयुष्यके बाकीके नौवें भागमें, सत्ताईसवें भागमें, (इस तरह तीसरे तीसरे भागमें) आखिर स्वआयुष्यके अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्तमें भी परभव विषयक आयुष्य जरूर बांधते हैं। ॥ ३२७—३२८ ॥

विशेषार्थ—गत गाथामें आयुष्यके साथ संबंध रखनेवाली सात बातें बताई और साथ साथ ग्रन्थान्तरसे आयुष्य विषयक मीमांसा की। अब सात बातोंमें से पहली बाबते

३७६. यह वचन प्रायिक समझना, क्योंकि ठाणांग सूत्रमें अध्याय छठेकी टीकामें छः भास शेष रहने पर आयुष्य न बांधे तो घटते हुए यावत् अन्तर्मुहूर्त्तमें भी बांधे ऐसा कहा है।

बन्धकालकी है। प्रस्तुत भवके अंदर परभवके आयुष्यका बंध चारों गतिमेंसे किन जीवोंका किस समय हो ? यह बात यह युग्म-दोनों गाथामें कहते हैं।

बन्धकाल विषयक थोड़ी दूसरी हकीकत समझ लेनी जरूरी है। वह यह कि अभ्यासीको एक सिद्धान्त समझ लेना कि, किसी भी जीवात्माका परभवमें उत्पन्न होनेके भाविस्थानका सर्वांगी निर्णय उसके वर्तमानभवमें ही निश्चित होता है। और वह निर्णय होनेके बाद ही वर्तमान देह-चोला छोड़ता है। जब तक यह निश्चय न हुआ हो तब तक कोई भी शक्ति नहीं है कि इस देहमेंसे निकल सके। क्योंकि जैन सिद्धांत के अनुसार जीव (मुक्ति न हो तब तक) सूक्ष्म शरीरधारी तो हमेशा रहता ही है, लेकिन स्थूल शरीरधारी भी हमेशा होता है, मात्र तफावत इतना कि एक भवमेंसे दूसरे भवमें जाते उत्पन्न होनेका स्थान सीधा न हो तो ज्यादासे ज्यादा पांच समय स्थूलदेहके बिना रहता है। अन्यथा किसी न किसी गति-योनि योग्य शरीरको "पा" ही लेता है। और उसे पानेके लिए उसे पूर्वभवमें ही निर्णय करना पड़ता है। शरीर यह तो जीवने कर्मराजासे लिया भाडेका घर है। उसकी मुदत पूरी होने पर खाली कर देना है लेकिन उसके पहले पुराना घर बदलकर नये घरमें जाना है, उस घरकी निश्चितता अगाऊसे कर ही लेता है, जिससे एक देह छोड़नेके बाद तुरंत ही दूसरी देहमें जीव प्रवेश कर देता है।

यहाँ जीवोंका बन्धकाल तीन प्रकारका है। १. छः मास शेष रहे तब, २. अवश्य तीसरा भाग शेष रहे तब और ३. तीसरे तीसरे भागसे।

गाथामें निरुपक्रम=निरुपक्रम और सोपक्रम=सोपक्रम शब्द प्रयुक्त किया है। उसका अर्थ संक्षिप्तमें गत गाथामें ही आ गया है। विस्तृत अर्थ आगे कहेंगे। यहाँ उसका संक्षिप्त अर्थ ऐसा है कि, निर्गतानि उपक्रमाणि यस्मात्-इति निरुपक्रमम्। जो आयुष्य उपक्रमोंका निमित्त बननेका नहीं है वह निरुपक्रम आयुष्य। जिसे गत गाथामें 'अनपवर्तन' शब्द द्वारा कहा गया है। दोनों एकार्थक वाचक है और उपक्रमैः सह वर्तमानमायुः तत् सोपक्रमम्। अर्थात् उपक्रमोंके आवात-प्रत्याघातका भोग होनेवाला वह। जिसे गत गाथामें 'अपवर्तन' शब्द कहा गया है।

कतिपय गति और स्थानो ही ऐसे हैं कि, जहाँ उत्पन्न होनेवाले जीवका आयुष्य निरुपक्रमी अथवा अनपवर्तनीय ही होता है। ऐसे जीव कौनसे ? तो देवगतिमें उत्पन्न होने-

४७७. कुछ धमेवाले मृगयुके बाद आत्मा आकाशमें ऊँची रहती है, अमुक समय देह रहित रहता है आदि कथन करते हैं, लेकिन वह जैनदर्शनसंमत नहीं है।

वाले त्रिभुज प्रकारके देव, नरकगतिमें उत्पन्न होनेवाले नारक और "असंख्य वर्षायुषी मनुष्य और तिर्यच समझना । इन जीवोंको चाहे ऐसे उपद्रव या संकट आवें तो भी उनकी अकाल मृत्यु होती ही नहीं । पीडाएँ होनी हों तो भले हों, लेकिन प्राणत्याग तो संपूर्ण आयुष्य पूर्ण होने पर ही होता है ।

इन चारों प्रकारके निरुपक्रमी जीवोंके लिए एक ही नियम कि उनके बंधे आयुष्यके छः मास बाकी रहे कि तुरंत ही उसी समय नारकोंके लिए परभवायुष्यका बन्ध करे, फिर भी एक मत ऐसा है कि छः मास "उत्कृष्टरूपसे समझना । लेकिन तब बंध न करे तो जघन्य मृत्युके बिच अंतर्मुहूर्त्त शेष रहे तब भी वह करे ।

दूसरे संख्यात वर्षके आयुष्यवाले एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जो निरुपक्रमायुष्यवाले हैं, वे अपने आयुष्यका तीसरा भाग शेष रहे तब अवश्य परभवायुष्यका बंध करते हैं । यह निरुपक्रमायुषीका बंधकाल कहा ।

इनमें सोपक्रमायुष्यवाले एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय अपने अपने आयुष्यका तीसरा भाग "शेष रहे उस समय परभवके आयुष्यका बंध करते हैं । अथवा नवाँ भाग (अर्थात् तीसरे भागके त्रिभाग) शेष रहे तब बंध करें, उस वक्त बंध न करें तो फिरसे सत्ताइसवाँ (अर्थात् त्रिभाग-त्रिभाग-त्रिभाग) भाग शेष रहे तब अवश्य बंध "करें ।

सत्ताइसवें भागमें बंध न कर सकें तो अंतमें मृत्यु समयके-अंतिम अन्तर्मुहूर्त्तमें तो अवश्य करें ही करें । क्योंकि अब अंतिम बंधसमय वही है ।

कुछ आचार्य मतांतरसे ऐसा कहते हैं कि सत्ताइसवें भागमें बंध न हो तो फिर अंतिम अन्तर्मुहूर्त्त समय पर हो ऐसा भी नहीं है, लेकिन सत्ताइसवें भागसे क्रमशः त्रिभागमें बंधकाल होता ही है ।

४७८. कोई आचार्य युगलिकके लिए पत्योपमका असंख्यातवाँ भाग शेष रहे तब परभवायुष्यका बंध मानते हैं । ४७९. पन्नवणादि सूत्रमें सिर्फ 'तीसरे, नवें भागमें' परभवायुष्य बांधे ऐसा कहा है, लेकिन उसका अर्थ तो ९९ वर्षवाला ३३ वें वर्षमें बांधे ऐसा भी हो जाए, लेकिन वह इष्ट नहीं है, अतः तीसरे भागसे नहीं, लेकिन तीसरा भाग शेष रहे, ऐसा समझना यह कथन सर्वको संमत है । ४८०. सिञ्चि-भागे सिञ्चिभागे सिञ्चिभागत्तिभागत्तिभागे [प्रज्ञापना] शेष त्रिभागमें अर्थात् ३, ९, २७, ८१, २४३, ७२९, २१८७ इत्यादि जो अंक तीन तीन गुने हों उस रकमरूप भागकी कल्पना, उसे त्रिभाग कल्पना कहते हैं । ४८१. देखिए, भगवती श. १४ उ०१. ।

अब त्रिभागकी घटना सोचें—जिस जीवका आयुष्य ९९ बरसका हो, उस जीवको तीसरे भागसे परमवायुष्यका बन्ध पड़े तो कब ? तो समझना कि ९९ वर्षके दो भाग कम करें तो ६६ वर्ष पूरे होने पर या ६७ वें वर्षके प्रारंभके दिनमें किसी भी क्षण बंध पड़े। अब उस समय बन्ध न पडा तो शेष ३३ वर्ष रहे, उसके नवें भागमें अर्थात् निन्यानवे वर्षमें ३ वर्ष ८ मास शेष रहे तब, परमवायुष्यका बंध पडता है, तब भी न बांधे तो फिरसे ३-८ महीनेमें २७ वें भागसे बांधता है।

अपर परमवायुष्यके कालका जो सिद्धान्त या मर्यादा है, उसे स्थूल और सामान्य कक्षाके लिए जणाई है। सर्वथाके लिए यह नियम न समझना तथा यह अफर है ऐसा भी न समझना। [३२७-३२८]

अवतरण—इस तरह बंधकालके बारेमें कहकर अबाधाकाल और अंतसमय तथा प्रसंगोपात ऋजु तथा वक्रा गति कितने समयकी हो ? उसका स्वरूप भी कहते हैं।

जहमे भागे बंधो, आउस्स भवे अबाधकालो सो ।

अंते उजुगइ इग समय, वक्र चउर्पंचसमयता ॥ ३२९ ॥

गाथार्थ—जितने भागसे आयुष्यका बंध हुआ हो वहाँसे लेकर, (उस परमवायुष्य उदयमें न आवे तब तकका) अबाधाकाल कहलाता है। अन्तसमय अर्थात् मरणसमय, उस अन्तसमयमें [परभवमें जाते जीवको] एक समयकी ऋजुगति तथा चार-पांच समयकी वक्रागति होती है। ॥ ३२९ ॥

विशेषार्थ—जिन जीवोंने अपने आयुष्यके छः मास शेष रहे अथवा स्वायुष्यके त्रिभागसे—सत्ताइसवें या किसी भी भागमें परमवायुष्यका बंध किया हो, उस परमवायुष्यके बंधकालसे लेकर, जब तक वह बद्ध परमवायुष्य उदयमें न आवे, तब तकका अनुदय अवस्थारूप—अपान्तरालकाल (बिचका काल) उस जीवके आयुष्यका अबाधाकाल कहलाता है। जैसे कि देव—नारक या युगलिक अपने आयुष्यान्तके छः मास शेष रहे तब ही परमवायुष्यका बंध करते हैं। उस बंधकालके बाद छः मास व्यतीत होने पर मरण पानेसे उस बद्धायुष्यका उदय होता है। यहाँ बंधकाल और उदयकालके बिच छः मासका ही स्पष्ट जो अंतर पडा वही, उन जीवोंके लिए अबाधाकाल कहलाता है। वैसे अन्तिम अन्तमुहूर्त्तका परमवायुष्य बांधे तो उसे अपान्तराल काल अन्तमुहूर्त्तका ही होनेसे उतना अबाधाकाल गिना जाए। ऐसा सर्वत्र समझ लेना।

अन्तसमय—चालू भवके आयुष्यकी समाप्ति होना, और फिर तुरंत ही परभवायुष्यका उदयमें आना, इसे मृत्यु भी कहा जा सके।

ऋजुवक्रागति—जीव अन्त समय पर आयुष्य पूर्ण करके परभवमें जाता है, तब जीवको एक समयकी ऋजुगति तथा चार-पांच समय तककी अर्थात्—एक वक्रा, द्विवक्रा, त्रिवक्रा और चतुर्वक्रा, ये दो-तीन-चार और पांच समयवाली वक्रागतियाँ उदयमें आती हैं।

अंगुलके असंख्यातवें भाग प्रमाणकी अति सूक्ष्म मानवाली संसारी आत्मा तैजस—कर्मण नामके सूक्ष्म शरीरको धारण करके परभवमें उत्पन्न होनेके स्थान पर दो गतिसे पहुँचता है। एक ऋजु और दूसरी वक्रा।

ऋजुगति एक ही समयकी है, क्योंकि जीवका मृत्युस्थान और उत्पत्तिस्थान दोनों समश्रेणिसे अथवा समांतर पंक्तिसे व्यवस्थित हो तो, मृत्युसमय बादके एक ही समयमें जीव उत्पन्न हो जाता है। इसे दूसरा समय लगता ही नहीं है। इसीलिए इस गतिका ऋजु यह नाम अन्वर्थक है। ऋजु अर्थात् सरल—सीधी गतिको समश्रेणिसे न हो लेकिन तिच्छु—विदिशामें सीधा न हो तो जीवको (आकाश प्रदेशकी श्रेणिमें) काटकोन करके बटना पड़ता है। आत्माकी गति हमेशा सीधी ही दिशागत होती है किन्तु तिरछी या चाहे उस रीत से जानेकी नहीं होती। वह तो प्रथम सीधी जाकर फिर मुड़े तो उसके मोड़ोंके काटकोन होते रहते हैं। जितने मोड़ लेने पड़े उतने समय रास्तेमें बढते हैं। ऐसे मोड़ संसारी जीवोंको (चतुर्विग्रहामें) ज्यादा से ज्यादा तीन और किसी समय (पंचविग्रहागतिमें) चार होते हैं। [३२९]

अवतरण—पूर्वोक्त दोनों गतिके ही विषयमें निश्चय और व्यवहार से परभवायुष्यका उदय और परभव विषयक आहार कब हो ? उस संबंधमें कहते हुए ऋजुगतिमें आहार और उदय तथा वक्रामें मात्र आयुष्यका उदय समय कहते हैं।

उज्जुगइ पढम समए, परभविअं आउअं तहाऽऽहारो ।

वक्राए बीअसमए, परभविआउं उदयमेइ ॥ ३३० ॥

गाथार्थ—ऋजुगतिके प्रथम समय पर परभवके आयुष्यका उदय तथा प्रथम समयमें ही आहार और वक्रागतिमें द्वितीय समय पर परभवायुष्यका उदय होता है। ॥ ३३० ॥

विशेषार्थ—गाथा १८८में ऋजु और वक्रागति विषयक ठीक ठीक समझ दी है, फिर भी थोड़ी अधिक स्पष्टताके साथ कुछ नई समझ भी जाननी जरूरी है।

**॥ चारों गतिजाश्रयी वेद-योनि-कुलकोटी संख्या तथा
योनिभेदों और प्रकारोंका यन्त्र ॥**

	चतुर्गति भेद	वेद	योनि सं०	कुलकोटी	योनि भेद	योनिस्वभाव
ए के न्द्रि य	पृथ्वीकाय	नपुंसक	७ लाख	१२ लाख	संवृत	शीत-उष्ण-शीतोष्ण
	अपकाय	"	"	७ लाख	"	"
	तेजकाय	"	"	३ लाख	"	उष्ण
	वायुकाय	"	"	७ लाख	"	शीत-उष्ण-शीतोष्ण
	सा० वनस्पति बा० प्रत्येक०	"	१४ लाख १० लाख	} २८ लाख	"	"
			"		"	
वि क ले न्द्रि य	दोइन्द्रिय	"	२ लाख	७ लाख	"	"
	त्रिइन्द्रिय	"	"	८ लाख	"	"
	चउरिन्द्रिय	"	"	९ लाख	"	"
ति र्य च पं चे न्द्रि य	संमू० जलचर	"	ति	१२॥ लाख	"	"
	संमू० चतुष्पद	"	र्य	१० लाख	"	"
	संमू० उरपरि०	"	च	१० लाख	"	"
	संमू० भुजपरि०	"	पं०	१८ लाख	"	"
	संमू० खेचर	"	नी	१२ लाख	संघृत-विघृत	"
	ग० जलचर	स्त्री-पुं.न०	कु	१२॥ लाख	"	शीतोष्ण
	ग० चतुष्पद	तीनों वेद	ल	१० लाख	"	"
	ग० उरपरि०	"	४	१० लाख	"	"
	ग० भुजपरि०	"	ला	९ लाख	"	"
	ग० खेचर	"	ख	१२ लाख	"	"
	* देव	स्त्री०पुं०२	४ लाख	२६ लाख	संघृत	"
	* नारक	नपुंसक	"	२५ लाख	"	शीत-उष्ण
	सं० मनुष्य ग० मनुष्य	"	} १४ला०	} १२ लाख	विघृत	शीत-उष्ण-शीतोष्ण
		तीनों वेद			विघृत-संघृत	शीतोष्ण

जीव पुनर्जन्म लेने या अपुनर्जन्म (मोक्ष) अवस्था प्राप्त करने जाए तब उसे दो गति द्वारा जाना पड़ता है। एक ऋजु और दूसरी वक्रा।

ऋजुगति तो उस शब्दके अर्थसे ही समझी जाती है। वह सरलगति है। मोक्षमें जानेवाला जीव सर्व कर्मसे मुक्त होनेसे उसकी मृत्यु तथा उत्पत्ति दोनों स्थान सीधी समश्रेणियों ही होते हैं, जिससे वह मुक्तात्मा एक ही समय पर स्थूल या सूक्ष्म दोनों प्रकारकी देहका त्याग करके सीधी ही, एक ही समयमें प्राप्य स्थानप्रदेश पर पहुँच जाती है, अतः उसे एक ही समयवाली, इष्ट स्थान पर पहुँचानेवाली ऋजुगति ही होती है।

लेकिन संसारी जीव तो देहधारी हैं अतः उन्हें ऋजुके उपरान्त वक्रागति भी होती है, अतः वक्राके प्रकार, उसका काल, इस अंतराल गतिमें आहारकी व्यवस्था आदि बावतें यहाँ कही जाती हैं।

वक्रागति नाममें ही वक्र शब्द पड़ा है, अतः उसकी व्याख्या भी मुश्किल है। गतगाथामें कहा जैसे जीवको वक्रागतिमें उत्पन्न होना हो तो उसे स्वकर्मोदय मोड अर्थात् मार्गमें काटकोन करके बढ़ना पड़ता है। ऐसे मोड या काटकोन ज्यादासे ज्यादा चार तक करनेके प्रसंग बनता है। उससे एक भी मोड अधिक नहीं होता, चौथा मोड पूर्ण होने पर स्थूल देहधारी बनने परजन्म धारण कर ही लेता है। इससे यह हुआ कि जिस संसारी जीवको 'एकवक्रा गति' से उत्पन्न होनेका निर्माण हो तो एक मोड लेकर उत्पन्न हो जाए। 'द्विवक्रा' वालेको दो मोड-काटकोन करने पड़ते, 'त्रिवक्रा' वालेको तीन और 'चतुर्वक्रा' वालेको चार मोड होते हैं।

इन वक्राओंमें कितना समय जाए? तो हरेक वक्रामें एक संख्या बढाकर कहना। अर्थात् एकवक्रामें दो समय, द्विवक्रामें तीन, त्रिवक्रामें चार और चारवक्रामें पांच समय मृत्युसे उत्पन्न होनेके बिच होते हैं।

दो गतिकी जरूरत है क्या? हाँ। चेतन और जड कहो, अथवा जीव और पुद्गल कहो, ये पदार्थ गतिशील हैं। ये गतिशील पदार्थ स्वाभाविक रूपमें ही निश्चित नियमपूर्वक ही गति करनेवाले हैं, और उसकी स्वाभाविक गति तो आकाशप्रदेशकी समश्रेणिके अनुसार ही होती है (जिस आकाशप्रदेश श्रेणिको हम तो देख ही नहीं सकते।) अर्थात् दिशाओंकी समानान्तर होती है। अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधो इन छः में से किसी भी दिशामें समश्रेणियों होती है। लेकिन दिशासे विदिशामें या विदिशामेंसे दिशामें सीधी सीधी नहीं होती। अतः विश्रेणीगमन नहीं होता। लेकिन

सब जीवोंके लिए समश्रेणी गति संभवित भी नहीं है। इसलिए जो जीव उस कर्मवशवर्ती हैं उन्हें तो विश्रेणीसे भी गति करनी पडती है, जिसे हमें वक्रागति कहनी है। तब जैसे मोड आया कि गतिमें एक समयका काल ज्यादा जाएगा ही इसीलिए ऊपर कह आएँ कि एकवक्राको एक समय, दो वक्राको दो समय जाएँ आदि।

वक्रागति किस तरह बनती है ?

ऊर्ध्वलोककी किसी भी दिशामेंसे अधोलोककी उलटी दिशामें, अधोलोककी दिशामेंसे ऊर्ध्वलोककी विरुद्ध दिशामें अथवा विदिशामेंसे दिशामें या दिशामेंसे विदिशामें किसी भी भागमें उत्पन्न होना हो तो मोड होते हैं और इससे वक्रागति बनती है।

एकवक्रा किस तरह ?

एक जीव ऊर्ध्वलोकमें पूर्वदिशामें मृत हुआ, उत्पन्न होनेका स्थान अधोलोकमें (उलटी) पश्चिम दिशामें है, तो प्रथम पूर्वमेंसे सीधा मृत्यु प्रदेशकी समश्रेणिसे अधोलोकमें उतरे, वह कहाँ तक उतरे ? तो अधोलोकमें पश्चिमदिशामें जिस श्रेणि प्रदेश पर उत्पन्न होना है वह श्रेणी पूर्वमें जहाँ तक जाती हो वहाँ तक, यहाँ तक तो सीधा आया। अब यहाँ पूर्वमेंसे मोड लेकर, सीधी ही श्रेणीसे पश्चिमदिशामें उत्पत्ति स्थानमें पहुँच जाता है। यहाँ ऊपरसे नीचे पश्चिमदिशाके उत्पत्ति स्थानका अनुसंधान करनेवाली श्रेणी (अथवा समश्रेणी सतह) स्थान पर आया उसका एक समय और वहाँसे मोड लेकर उत्पत्ति स्थान पर पहुँचा वह दूसरा समय। इस प्रकार दो समयवाली 'एकविग्रहा' वक्रा बनती है।

द्विवक्रा किस तरह ?

यह गति तीन समयकी है। एक जीव त्रसनाडी गत ऊर्ध्वलोककी विदिशा—अग्नि कोनेमें भर गया, उसे उत्पन्न होनेका स्थान अधोलोककी विदिशा—वायव्य कोनेमें है। अतः विदिशामेंसे मृत्यु पाकर विदिशामें ही उत्पन्न होना है। जीव समश्रेणीमें ही गति करनेवाला है। इस सिद्धान्तके अनुसार, अग्नि कोनेमें जो श्रेणि ऊपर है उसी श्रेणिके प्रदेशोंकी लाइनको स्पर्श करता हुआ सीधा पूर्व दिशामें प्रथम समयमें आ गया। दूसरे समयमें मोड लेकर पूर्वमें से सीधा ही नीचे अधोलोककी पश्चिम दिशामें, अग्नि दिशाके उत्पत्तिस्थानकी जो श्रेणी है उसी श्रेणी पर आया और वहाँसे तीसरे समय मोड—काटकोव होकर त्रसनाडीकी ही अग्निदिशाके उत्पत्तिस्थानमें पहुँच गया। इस तरह अग्निसे पूर्वमें एक समय, पूर्वसे पश्चिममें नीचे उतरने पर एक वक्रा होने पर दूसरा समय हुआ और पश्चिम

से अग्निमें जाने पर दूसरा मोड़ और तीसरा समय हुआ। इस तरह तीन समयकी त्रिवक्रा गति समझना।

त्रसनाडीवर्ती जो त्रस जीव मरकर पुनः त्रस होनेवाले हैं उन जीवोंको वक्रामें एक वक्रा और त्रिवक्रा ये दो गतियाँ ही होती हैं। बादकी दो वक्रा होती ही नहीं, क्योंकि त्रसनाडीमें मरे और पुनः त्रसनाडीमें जन्म लेनेवाले त्रस जीवोंमें अधिक वक्रा—मोड़ करनेके होते ही नहीं अतः उन्हें ऋजुगति तो है ही।

जो स्थावर जीव हैं, जो मरकर पुनः स्थावर होनेवाले हों उनके ऋजुगतिके उपरंत चारों वक्रागति होती हैं। उन्हें तमाम गतियाँ प्राप्त होती हैं। इन स्थावरोंके त्रिवक्रा और चतुर्वक्रा दो अधिक कहीं तो कैसे !

त्रिवक्रा किस तरह ?

स्थावर जीव तो चौदह राजलोकमें सर्वत्र ठांस ठांस कर व्याप्त भरे हैं। वह त्रसनाडीमें भी है और त्रसनाडीके बाहर भी है। जब त्रस जीव तो मात्र बिचकी त्रसनाडीके स्थानमें ही होते हैं। इसलिए स्थावरोंका क्षेत्र सर्वव्यापक है।

किसी स्थावरजीवकी सूक्ष्मदेहधारी आत्मा, बाईं बाजूकी त्रसनाडीके बाहर अधोलोककी विदिशामें मर गयी है। और उसे उत्पन्न होना है त्रसनाडीकी दाहिनी बाजू पर ऊर्ध्वलोककी दिशामें, तब वह प्रथम तो त्रसनाडीके बाहर प्रथम समय पर विदिशामें से दिशामें चलती है, दूसरे समय पर (प्रथम काटकोन करके) दाहिनी बाजूसे त्रसनाडीके अंदर दाखिल होती है, तीसरे समय पर (दूसरा काटकोन करके) त्रसनाडीके अंदर ही ऊँची जाती है और चौथे समय पर सीधी ही—तीसरे समयमें जहाँ थी वहाँसे—उसी श्रेणीसे (बाईं बाजू पर) त्रसनाडीके बाहर निकलकर उत्पत्तिस्थानमें जाकर खडी रहे। इस तरह अधोलोककी दिशामें से ऊर्ध्वलोककी विदिशामें जाना हो अथवा ऊर्ध्वमेंसे अधोमें आना हो तो यही क्रम समझ लेना।

इस तरह दिशामें से विदिशामें या विदिशामें से दिशामें जानेके लिए स्थावरोंकी चार समयकी त्रिवक्रा कही।

चतुर्वक्रा किस तरह ?

त्रिवक्रामें दिशा—विदिशाकी बात थी। इसमें इतनी अधिक कि यह गति विदिशामें से (दिशा नहीं लेकिन) विदिशामें ही उत्पन्न होनेवाले के लिए होती है। ऊपर विदिशामेंसे ऊर्ध्वलोकमें त्रसनाडीके बाहर दिशामें जाकर अटका था। यहाँ त्रसनाडीके बाहर विदिशामें जानेका एक स्टेशन बड़ा, अतः दिशामेंसे फिरसे विदिशाके उत्पत्ति स्टेशन पर

पहुँचता है अतः वहाँ एक मोड बड़े और एक समय भी बड़े। इस तरह "पाँच समयकी चतुर्वका गति हुई। इस तरह वक्रागतिका स्वरूप कहा।

अब मूल गाथाका अर्थ कहा जाता है। यह गाथा निश्चयनय से और व्यवहारनय से (अथवा सूक्ष्मदृष्टि या स्थूलदृष्टि) इस गतिमें परभवके आयुष्यका उदय और आहार कब होता है यह बताते हैं।

ऋजुगतिमें तो जो संसारी जीव हैं उनके लिए तो प्रथम समय पर ही आयुष्योदय और प्रथमसमय पर ही आहार कहा। अतः इन दोनों बातोंमें एक भी समयका अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि समयांतर हो तो आहार लेना पड़े लेकिन इस गतिवालेको तो एक ही समयमें उत्पन्न होनेका अर्थात् जिस समय मृत्यु हो उसके दूसरे ही समय पर उत्पन्न हो जाए। साथ ही पूर्वभवके शरीर द्वारा अंतिम समय पर आहार ग्रहण किया है और उसके बादके समय पर ही उत्पन्न होते ही वहाँ उत्पत्तिस्थानमें योग्य आहार कर लेता है। अर्थात् इस गतिवाले संसारी जीव सदा आहारी ही होते हैं। यह बात व्यवहारनयसे घटित है।

निश्चयनयसे अर्थात् अधिक सूक्ष्मता और चौकसाईसे सोचें तो परभवके प्रथम समयमें ही पूर्वशरीरका परिशाट-त्याग होता है। जिस समय पर सर्वात्मप्रदेशों द्वारा पूर्व शरीरका परित्याग हो उसी समय जीवकी परभव गति होती है और उसी आद्य क्षणमें परभव के आयुष्यका उदय होता है। अतः शरीरान्त और नूतन शरीर प्राप्तिका कार्य उसी समय युगपत् होता है।

वक्रागतिमें आयुष्य उदय और आहार कब ?

ऋजुगतिकी बात की, अब वक्रगतिमें जाते जीवको परभवायुष्यका उदय कब हो ? तो द्वितीय समयमें होता है ऐसा गाथाकार कहते हैं।

परंतु यह कथन स्थूल व्यवहारनयसे है अर्थात् इस नयसे कथन करनेवाले पूर्व भवके अन्तसमयको (अभी शरीर त्यागका जो एक समय बाकी है, जो वक्रांमें गया नहीं है तो भी) वक्रागतिका प्रारंभ हो गया होनेसे और वक्रागतिके परिणामाभिमुख हुआ होनेसे उस अन्तसमयको ही कुछ लोग व्यवहारसे वक्रगतिका आदि समय मान लेते हैं और इसीलिए उनके मतसे भवान्तरके आद्य समय पर अर्थात् [पूर्वभवके अन्त समयकी

४८२. यह पाँच समयवाली वक्रा बहुत अल्प जीवाभित होनेसे बहुत स्थूल पर उसकी विवक्षा नहीं की जाती।

अपेक्षासे] वक्रागतिके दूसरे समयमें [वस्तुतः प्रथम समय है] परमवायुप्यका उदय है ऐसा जो कहते हैं उसे वे व्यवहारनयसे-स्थूलदृष्टिसे कहते हैं, परंतु उसे वास्तविक सूक्ष्मदृष्टिस्वरूप निश्चयनयसे नहीं कहते ।

निश्चयनयसे सोचें तो वक्राके प्रथम समय पर ही परमवायुप्यका उदय कहा जाए क्योंकि चालू जन्मके अन्तिम समयको कहीं वक्राका प्रथम समय नहीं कहा जाएगा । [बाकी व्यवहार निश्चयवाले दोनोंका परमवायुप्यका उदय कथनका समय तो जो है वही आता है । विवक्षा मात्र ही समझनी है ।]

आत्मा अन्तसमयमें गतिके सम्मुख बनती है । अभी पूर्वभवके अन्तसमयमें रही होनेसे वहाँ शरीरके प्रदेशोंका संघात (ग्रहण) परिशाट (त्याग) चालू है, जिसके कारण यह अन्त समय निश्चयसे अभी पूर्वभवका ही है लेकिन परभवका नहीं, क्योंकि अभी पूर्वभवका शरीर अन्तसमय पर भी विद्यमान है, इस शरीरका सर्वथा त्याग न हो तब तक अपांतरालगतिका उदय ही कहाँसे होनेवाला था ? अतः देहत्याग तो प्रस्तुत भवके अन्तिम समयान्त पर और आगामी भवके (या वक्राके) स्पष्ट प्रथम समयमें ही होता है । साथ ही पूर्वशरीरका, पुद्गलोंका संघात या परिशाट नहीं होता, उसी समय आयुप्यके साथ गति भी उदयमें आती है, अतः परभवके आयुप्यका उदय वक्रागतिमें निश्चयनयसे आद्यक्षणमें ही गिना जाता है । [३३०]

अवतरण—गत गाथामें वक्रामें आयुष्योदय कहा लेकिन आहार समय नहीं कहा था अतः इस गाथामें अधिक समयवाली वक्रागतिमें जीव कितना समय आहारी या अनाहारी हो ? ये दोनों बातें नयाश्रयी कहते हैं ।

इगदुत्तिचउवक्रासु, दुगाइसमएसु परमवाहारो ।

दुगवक्राइसु समया, इग दो तिचि अ अणाहारा ॥ ३३१ ॥

गाथार्थ—एक, दो, तीन और चार समयकी वक्रागतिमें द्वितीयादि समयोंमें परभवका आहार जानें, अर्थात् अनुक्रमसे द्विवक्रागतिमें एक समय, त्रिवक्रागतिमें दो समय और चतुर्वक्रागतिमें तीन समय अनाहारक होते हैं । ॥ ३३१ ॥

विशेषार्थ—गत गाथामें वक्राका स्वरूप कहा था । अब इस गाथामें वक्रागतिमें ही व्यवहार और निश्चय दोनों नय दृष्टिसे आहार और अनाहारकका समय कहते हैं ।

व्यवहारनयकी दृष्टिसे हरेक वक्रामें जीव पहले समय और अन्तिम समयमें आहारक ही होता है । तात्पर्य यह निकला कि, दो से अधिक समयवाली वक्रामें ही यथायोग्य अनाहारपन मिलता है । यहाँ प्रथम एक वक्राका विचार करें तो वह दो ही समयकी

है, अतः व्यवहारनयमें उसके दोनों समय आहारक ही होते हैं। एक भी समय अनाहारक नहीं होता, क्योंकि जब शरीर छोड़ता है उसी समयमें औदारिकादि पुद्गलोंका लोमाहार करके शरीर छोड़कर प्रथम समयमें एक वक्रामें दाखिल हुआ और उसी वक्राके दूसरे समय पर तो उत्पत्ति प्रदेशमें पहुँच भी गया। जिस समय पर पहुँचा उसी समय पर कर्मण काययोग द्वारा तद्भवयोभ्य ओजाहार स्वरूप परमाणुओंका आहार ग्रहण करता है।

इसलिए एक वक्रामें दोनों समयोंको व्यवहारनयसे आहारी समझना।

तीन समयकी द्विवक्रागतिमें एक वक्रागतिवत् व्यवहारनयसे प्रथम समय आहारी, दूसरा समय अनाहारी और तीसरा समय [परभव विषयक] आहारी। कुल २ (दो) समय आहारक और एक समय अनाहारकपनेके समझना।

त्रिवक्रागतिके चार समयमेंसे व्यवहारनयसे पूर्ववत् पहला [प्रस्तुत भवाश्रयी] और अंतिम [परभवाश्रयी] चौथा समय आहारी और दूसरा—तीसरा ये दो मध्यके समय अनाहारी। अर्थात् यहाँ दो समय आहारक तथा दो समय अनाहारक।

चतुर्वक्रागतिके पाँच समयमेंसे व्यवहारनयसे आदि और अंतिम इन दो समयको आहारी और बिचके तीन समयको अनाहारक जानें।

इस व्यवहारनयाश्रयी कथनमें बिचके समय अनाहारक और पहले, अंतिम समय आहारक हैं। अब निश्चयनयकी अपेक्षासे जणाते हैं।

ऊपरका सारा कथन व्यवहारनयसे गाथानुसार कहा, लेकिन निश्चयनयसे सोचें तो [एकवक्रागतिमें व्यवहारनयसे दोनों समय आहारी जनाने पर भी] एक समय निराहारी मिलेगा, क्योंकि जीव पूर्व देहमेंसे छूटा तब उस परभवके प्रथम समयमें पूर्व शरीरके साथ जीवका सम्बन्ध रहा न होनेसे और ग्रहण करनेके परभवके शरीरकी अभी प्राप्ति हुई न होनेसे उस समय आहार नहीं लेता और दूसरे समय अपना उत्पत्तिस्थान पाकर आहार करता है इसलिए एक वक्रागतिमें भी एक समय अनाहारी है।

४८२. इस पंच समयवाली वक्रागति जीवको क्वचित् संभवित है, क्योंकि मूलसूत्रमें चार समयवाली गति तकका उल्लेख है, परंतु भगवती, स्थानांग वृत्तिकार वक्रागतिमें अनाहारककी चिंता-प्रसंगमें 'एको द्वौ वाऽनाहारकः' कहकर एक समय, दो समय अनाहारकपन बताते हैं और 'वा' शब्द ग्रहणसे तीन समय भी अनाहारक गिनते हैं। यहाँ परभव जाते जीवको बेलकी नयके अनुसार इष्टस्थल पर पहुँचानेमें उदयमें आता आनुपूर्वीका उदय उत्कृष्ट चार समयका कहा है और उस चार समयका उदय सहचारी पाँच समयकी वक्रागतिसे जाए तो ही संभवित है, अतः विरोध न समझना।

तत्पश्चात् द्विवकामे निश्चयनयसे ऊपर अनुसार दो समय अनाहारी, त्रिवकामे तीन समय अनाहारक और चतुर्वकामे चार समय अनाहारी होते हैं, क्योंकि सर्व वक्रागतिमें अंतिम एक समय आहार सहित होता है।

यहाँ निश्चयनयाश्रयी अंतिम समय आहारक तथा शेष अनाहारक हैं अतः व्यवहारनयमें उत्कृष्टसे तीन समय और निश्चयनयमें उत्कृष्टसे चार समय अनाहारकरूप समझना । ॥ ३३१ ॥

अवतरण—अब चौथा अपवर्तन किसे कहा जाए और आयुष्यमें वह क्या कार्य करता है, यह कहते हैं।

वैर्हुंकालवेअणिज्जं, कम्मं अप्पेण जमिह कालेण ।

वेइज्जइ जुगवं चिअ, उइअसव्वप्पएसग्गं ॥ ३३२ ॥

अपवत्तणिज्जमेयं आउं, अहवा असेसकम्मं पि ।

बंधसमए वि बद्धं, सिट्ठिलं चिअ तं जहा जोग्गं ॥ ३३३ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ ३३२—३३३ ॥

विशेषार्थ—इस विश्वमें तिर्यच या मनुष्य बहुत लंबे काल तक वेदी-भोगा जा सके ऐसे दीर्घ स्थितिवाले आयुष्यकर्मको या उसके दलिकों (प्रदेश-परमाणुओं) को भी अपवर्तना नामके एक करण (प्रयत्न) से, भविष्यमें क्रमशः उदयमें आनेवाले सत्तागत रहे आयुष्य पुद्गलोंको एक साथ ही उदयमें लाकर अल्पकालके अंदर ही वेद-भोग डालें, अर्थात् अनुभव करके क्षीण कर देते हैं। इसलिए सौ साल तक जी सकनेवाला अंत-सुहृत्तमें भी प्राणत्याग कर सकता है। इस प्रकारके मूलस्थितिमेंसे परावर्तन पानेवाले आयुष्यको अपवर्तनीय आयुष्य कहा जाता है। गत भवमें बंधकालमें मन्द अध्यवसाय आनेसे प्रस्तुत आयुष्य शिथिल बंधसे बांधा था। किसी समय प्रतिकूल उपक्रमादि निमित्त मिलते ही दीर्घकालीन स्थितिमें धक्का लगनेसे अनुदित आयुष्य प्रदेश आत्मप्रयत्नसे सतह पर आ जाँएँ और उसे जीव भारी वेगसे शीघ्र भोग डाले और भोग पूरा होने पर शरीरसे आत्मा अलग होकर गत्यन्तरमें जन्म लेने चली जाती है।

४८४. यहाँ अर्थान्वयके अनुसार शब्दक्रम रक्खा है। ४८५. यहाँ बंधकालकी स्थितिसे भोगकालकी स्थिति बहुत कम होती है। सामान्य कालसे युद्धकालमें भयंकर रोगका तांडव चलता हो तब, आश्रयजनक अकालमृत्युकी जो घटनाएँ बनती हैं, वे प्रायः अपवर्तनीय प्रकारके आयुष्यके कारण हैं।

अमर कोई शंका करे कि दीर्घ स्थितिको संक्षिप्त करनेका विचित्र परावर्तन इस एक ही कर्ममें बनता है या दूसरेमें भी होता है ? तो यह अपवर्तनाकरण हरेक कर्ममें होता है। और समस्त प्राणियोंमें ऐसे परावर्तन बनते ही रहते हैं, और दीर्घकाल भोग्य कर्मोंका हास करके स्वरूपकाल भोग्य बना देते हैं।

शंका—विद्यार्थी आयुष्य कर्मोंकी अपवर्तनीय घटना जानकर कहता है कि आपका यह कथन यथार्थ नहीं है क्योंकि इससे तो 'कृतनाश' और 'अकृतागम' नामका दोष खड़ा होता है, जबकि शास्त्रवचन तो निर्दोष होना चाहिए।

तब प्रथम तो यह दोष क्या है ? यह समझ लें, सैद्धान्तिक और दार्शनिक ग्रन्थोंमें ऐसे दोषका निरूपण आता है। उसका अर्थ यह है कि, जो कार्य हो वह स्वयंभू फल दिये बिना ही अगर नष्ट हो जाए तो कृतनाश (कियेका नाश) दोष कहलाए। और जो कार्य किया ही नहीं है, फिर भी उस कार्यका जो फल हो उसे भोगने का बने, यह 'अकृतागम' (नहीं कियेका आगमन) दोष कहलाता है। अर्थात् कारण होनेसे कार्यनाश और कारणके अभावमें कार्योत्पत्ति।

उक्त दोषको घटाते हुए वे कहते हैं कि, गतजन्ममें आयुष्यकर्म जितनी स्थितिका बांधा हो, उतनी स्थितिका भोगा जाना ही चाहिए लेकिन अपवर्तनमें तो हास होता होनेसे क्रमशः पूर्णकाल जितना भोगा नहीं जाता, अतः 'कृतनाश' बनता है। और अपवर्तनमें दीर्घकालीन कर्म पुद्गलोंको स्वरूपकालमें ही भोग लेनेकी क्रिया होती है लेकिन उतने अल्पकालका तो वह कर्म नहीं बांधा, तो फिर उस तरह कैसे क्रिया संभवित हो सके ? इससे 'अकृतागम' होता है।

समाधान—इसका समाधान ऊपर आ गया है, फिर भी ग्रन्थकारका ही जवाब समझ लें। वे ३२८ वीं गाथाके उत्तरार्धमें 'बंधसमएऽवि बद्धं सिद्धिलं' यह जवाब देकर उक्त दोषका इन्कार करते हैं। इसका अर्थ यह है कि गत जन्ममें आयुष्य बांधा तब उसके परिणाम ही मन्द कोटिके थे। अतः ग्रहण किए गए आयुष्य पुद्गल मजबूत रूपसे जत्थाबंद ग्रहण नहीं हुए जिससे वे निर्बल रहे और इस लिए प्रबल प्रयत्नसे मेघ बन गये। इस लिए आयुष्यकर्मबंध शिथिल ही बांधा गया था, ऐसे शिथिल बंध पर देश-काल अर्थात् किसी क्षेत्र या किसी कालकी अपेक्षा पाकर, स्नेह भयादि जन्य अध्व-वसायादि उपक्रम लगे इसलिए आयुष्यकी अवश्य अपवर्तना हो सकती है। इससे हुआ क्या

कि नये जन्ममें एकाएक शिथिलबन्ध नहीं हुआ है, गतजन्ममें ही उसका कारण कार्य भाव हो गया है इतना उक्त दोनों दोषका असंभव है ।

अपवर्तन और अनपवर्तनमें तफावत अगाऊ बताया है फिर भी पुनः दृष्टांतसे सोचें तो समान भिगोई गई दो धोतीमेंसे एकको बराबर खुली करके सुखाई और दूसरीको सिमटी हुई भीगी रख दी । खुली की हुई जल्दी सूख जाती है और सिमटी हुई विलंबसे सूखती है । यहाँ जलका प्रमाण दोनोंमें समान है । शोषण "क्रिया सम ही—समान परिस्थितिमें ही चलता है फिर भी समयमें न्यूनाधिकपन कैसे हुआ ? तो वस्त्र विस्तार और संकोचके तफावतके कारण ही । यहाँ जीव आयुष्यकर्मके पुद्गलोंको, अपवर्तन या अनपवर्तनमें समान ही भोगते हैं । (समान प्रमाण हो वहाँ) मात्र अपवर्तनमें आत्मा एक साथ भोगकर क्षय करते है और अनपवर्तनमें क्रमशः भोगा जाता है ।

यह अपवर्तनीय आयुष्य सोपकमी ही होता है अर्थात् इस आयुष्यका क्षय बाह्य उपक्रमोंके निमित्तसे ही होता है । जब कि अनपवर्तनीयमें उपक्रम नहीं आते ऐसा नहीं है । आवे भी सही, लेकिन वहाँ वे उपक्रम अपना कुल भी बता नहीं सकते । जो बात आनेवाली गाथामें ही कहते हैं । [३३२—३३३]

अवतरण—अब पांचवें अनपवर्तन आयुष्यकी व्याख्या कहते हैं ।

जं पुण गाढ निकायणबंधेण पुण्वमेव किल बद्धं ।

तं होइ अणपवत्तण जोगं कमवेअणिअफलं ॥ ३३४ ॥

गाथार्थ—विशेषार्थके अनुसार । ॥ ३३४ ॥

विशेषार्थ—शिथिल बंधवाले अपवर्तनीय आयुष्यकी बात कही, अब गाढ बंधवाले और इसी कारण अनपवर्तनीय कहे जाते आयुष्यकी बात करते हैं ।

इस जीवको गत जन्ममें आयुष्यके बन्धकालमें तथाप्रकारके तीव्रकोटिके परिणाम आ जाए तो उस समय जन्मान्तरके लिए ग्रहण किए जाते आयुष्यके पुद्गल बड़े प्रमाणमें और मजबूत जस्थेमें पिंडित करके ग्रहण करता है अतः इस आयुष्यका बन्ध बहुत ही गाढ—मजबूत पडता है, जिसे निकाचित—निरूपकमी और इस गाथाके शब्दानुसार अनपवर्तनीय बन्ध कहा जाता है । ऐसे आयुष्यको कोई उपक्रम ही नहीं लगता, लगे तो आयुष्य स्थितिके एक समय जितना भी हास करने शक्तिमान नहीं बनता, ऐसा आयुष्य जीवका जन्मान्तरमें उदय आवे तब क्रमशः ही भोगा

४८६. बिजलीके चूल्हे और देशी चूल्हे पर समान प्रमाण पानीकी शोषण क्रियाका दृष्टांत भी घटाया जा सकता है । इसके बारेमें तो अनेक दृष्टांत मिलेंगे ।

जाता है, अर्थात् जितने वर्षका बंधा हो उतने वर्ष तक पूरा पूरा भोगकर सर्वायुष्य-दलिकोंका क्षय करके बादमें ही मृत्यु पाता है।

इसमें "अपवर्तनको कोई स्थान नहीं है। इस आयुष्यका भोगकाल, बंधकालकी स्थितिमें हास नहीं करता।

यहाँ पाठकोंको ख्यालमें रखना कि शुभ कर्मके अच्छे परिणामका तीव्र आनंद होता है और वैसे कर्मका अनपवर्तनीय बंध पडे तो उसकी हरकत नहीं लेकिन अशुभ कर्म करते उसके तीव्र परिणाम, खोटी मस्ती और उच्छ्रंखल आनंद आ गया तो उस कर्मका गाढ बंध पडेगा और उसके उदयके समय जीवको उसके तीव्र कटु फल अवश्य भोगने पडेगे, जो रोने पर भी नहीं छूटेगे, अतः अशुभ, पाप, हिंसा, क्रोध, मान, माया, लोभ और विषय वासनाओंकी अनिष्ट-विकारी प्रवृत्तियाँ करनी पडती हों तो भी उस समय उनमें तल्लीन नहीं बनना, संसारी प्रवृत्तियोंका सर्व व्यवहार अनासक्तपनसे करना।

अपवर्तनमें तीव्र आरंभ समारंभकी प्रवृत्तिसे किसी अशुभ गतिका आयुष्य निकाचितपनसे बंध गया, और फिर आप चाहे वैसे निष्पाप प्रवृत्ति करें, सुकृतके कार्यों करें लेकिन निकाचित बना आयुष्य एक बार तो दुर्गतिमें घसीदे बिना नहीं रहता जिसके लिए श्रेणिक आदिके उदाहरण प्रसिद्ध हैं।

श्रेणिकको गर्भवती मृगीके शिकारकी क्रूर हिंसक प्रवृत्ति करनेसे जिस समय आयुष्यका बंधकाल आया तब नरकायुष्यका निकाचित बंध गिरा दिया और उसके बाद खुद तरण-तारणहार, भुवनगुरु, अहिंसा और क्षमामूर्ति भगवान महावीरका महापुण्ययोग हुआ, जिसके कारण तीर्थंकर नामकर्म भी बांधा, लेकिन मरकर उसे नरकमें तो जाना ही पडा। हमारा भी बन्धकाल कब आ जाएगा उस क्षणका ज्ञान नहीं है, अतः सद्गतिके अभिलाषीको हमेशा शुभभाव, यावत् शुद्धभावमें तन्मय रहना। [३३४]

४८७. यहाँ एक आपवादिक वाक्य शास्त्रमें नजर आती है वह भी कहनी चाहिए। विशेषार्थमें कहा कि अनपवर्तनीय आयुष्य हो उसका कमी हास नहीं होता। लेकिन एक उल्लेख ऐसा मिलता है कि "अकर्मभूमिके तीन पल्पोपमायुधी युगलिक तिर्यच-मनुष्य अंतर्मुहूर्तकाल प्रमाण आयुष्यको छोडकर शेष अन्तर्मु० न्यून तीन पल्पोपम आयुष्यकी अपवर्तना-हास करते हैं।" जिससे शंका हो कि इस तरह होनेसे तो सिद्धान्तभंग होता है। अगर अनपवर्तन हो तो उस आयुष्यको निरूपक्रम या निकाचित कैसे कहा जाए? निकाचित हो तो वैसे बनना ही न चाहिए। इसका समाधान संक्षिप्तमें यही कि आयुष्यके निकाचित बंध योग्य अव्यवसायमें प्रत्येक स्थितिके अनुक्रमसे असंख्यगुण असंख्यगुना है। इससे यह आयुष्य एक समान ही नहीं लेकिन असंख्य भेदवाला है अतः कोई कोई आयुष्य अपवर्तनाको भी पा सकता है।

अवतरण—यहाँ अपवर्तनीय जीव कौन और अनपवर्तनीय आयुष्यवाले कौन इसे कहते हैं।

उत्तम—चरमशरीरा, सुरनेरइया असंखनरतिरिआ ।

हुंति निरुवकमाऊ, दुहा वि सेसा मुणेअव्वा ॥ ३३५ ॥

गाथार्थ— विशेषार्थवत् । ॥ ३३५ ॥

विशेषार्थ—उत्तम शब्दसे मनुष्य जातिमें उत्तम—प्रधान गिने जाते पुरुषोंको लेने होनेसे, हरेक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकालमें अनादि नियमानुसार होनेवाले बारह चक्रवर्ती, नव वासुदेव, नव प्रतिर्वीसुदेव, नव बलदेव और 'चरमशरीरी' अर्थात् जिसे शरीर धारण 'चरम' कहते अंतिम ही है, फिरसे उसे सूक्ष्म या स्थूल एक भी देह धारण करनी ही नहीं रही अर्थात् उसी भवमें जो मोक्षमें जानेवाले हैं वैसी आत्माएँ, जिसमें तीर्थंकर, गणधर, केवली आदिका समावेश होता है, इसके उपरांत देव गतिके सर्व देव, नौरंक, असंख्य वर्षके आयुष्यवाले युगलिक मनुष्य—तिर्यच ये सब अनपवर्तनीय आयुष्यवाले हैं।

शेष सर्व मनुष्य—तिर्यच जीव दोनों प्रकारके (अथवा तीनों प्रकारके) अर्थात् निरुपक्रम अनपवर्तनीय, सोपक्रम अपवर्तनीय (और सोपक्रम अनपवर्तनीय) आयुष्यवाले जानें। [३३५]

अवतरण—अब अपवर्तनीय और अनपवर्तनीयका हेतुभूत उपक्रम तथा अनुपक्रम (अथवा निरुपक्रम) प्रकार और उसकी व्याख्याको कहते हैं।

जेणाउमुवकमिज्जइ, अप्पसमुत्थेण इयरगेणावि ।

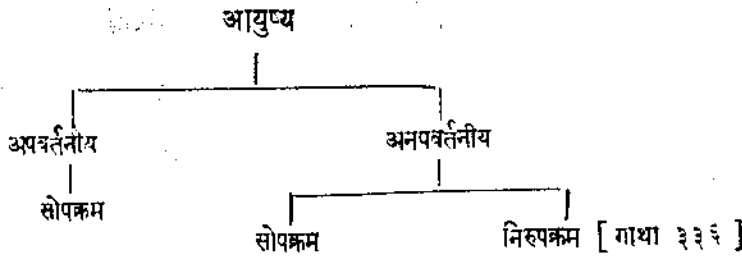
सो अज्झवसाणाई, उवकमोऽणुवकमो इयरो ॥ ३३६ ॥

४८८. कोई प्रतिवासुदेवका शलाकापुरुषमें ग्रहण नहीं करता, कोई उत्तम शब्दसे तीर्थंकर, गणधर, वासुदेव, बलदेव ग्रहण करता है। ४८९. लोकप्रकाश सर्ग ३, श्लो० ९०, चरम शरीरी तथा शलाका पुरुष इस तरह अलग अलग उल्लेख किया है। ४९०. तत्त्वार्थ बृहद्बृत्तिमें देवी, तीर्थंकरों तथा नारकोंको ही निरुपक्रमायुषी कहते हैं। शेषको सोपक्रमी और निरुपक्रमी दोनों कहते हैं। इससे उक्त युगलिक सोपक्रमी हो जाते हैं, लेकिन यह बहुधा इष्ट नहीं है। साथ ही कोई तो देव और असं० युगलिकको अनपवर्तनीय निरुपक्रमी कहते हैं, जबकि चरमशरीरीको अलग करके उसे सोप० निरुप० अनपवर्तनीय आयुषी कहते हैं और शेषको उपरोक्तवत् कहते हैं। [जिसका प्रतिषेध कर्मप्रकृति 'अद्वाजोगुक्रोसं' गाथाकी टीकामें भी पडा है।] ४९१. जो अकाल मृत्यु होती है उसे कालायुष्यसे जानें, क्योंकि प्रदेशायुष्य तो संपूर्ण भोगना ही पड़ता है।

गाथार्थ—अपनी आत्मासे समुत्पन्न हुए आन्तरिक जो अघ्यवसायादि हेतु विशेषसे अथवा इतर अर्थात् दूसरे विष-अग्नि-शस्त्रादिकके बाह्य जिन निमित्तसे आयुष्य उपक्रम पाए—अर्थात् दीर्घकाल पर वेदने योग्य आयुष्य स्वरूप कालमें वेद कर पूर्ण किया जा सके वैसा व्यवस्थित कर दे वह अपवर्तन हेतुमूल उपक्रम कहलाता और दूसरा उससे विपरीत अनुपक्रम (अथवा निरूपक्रम) जनिं । ॥ ३३६ ॥

विशेषार्थ—उपक्रम—अनुपक्रमकी व्याख्या अगाऊ से ही विशेषार्थमें बता दी है । लेकिन यहाँ तो ग्रन्थकार स्वयं ही उपक्रम किसे कहा जाए, इसे गाथाके पूर्वार्धमें दोनों प्रकारके हेतु प्रस्तुत करके समझाते हैं । उस हेतुका उत्तरार्धमें उल्लेख भी किया है और साथ साथ उपक्रमसे विपरीत अर्थात् जिसमें उपक्रमका अभाव है वह अनुपक्रम या निरूपक्रम है यह भी बताया है, जिसे अर्थापत्तिसे स्वाभाविक रीतसे समजा जा सके वैसा है ।

यहाँ एक दूसरी बात भी समझ लेनी चाहिए कि अपवर्तनीय आयुष्य तो मानो सोपक्रमी ही होता है, परंतु अनपवर्तनीय आयुष्य तो निरूपक्रमी ही होता है, ऐसा हम दृढतापूर्वक समझ चुके हैं, लेकिन उसमें भी अपवाद है । सर्वथा ऐसा नहीं है । इसका इशारा गाथा ३३४ की टिप्पणीमें किया है, तथा वहाँ बताया है कि क्वचित् उपक्रम भी लगता है । इसके उपरांत दूसरा समझना यह है कि इस आयुष्यमें क्वचित् उपक्रम खड़ा होता है । प्रत्यक्ष दीखता भी है, लेकिन वह निश्चित बनी आयुष्यकी डोरी को संक्षिप्त करनेका कार्य लेश मात्र नहीं करता, लेकिन वह तो मात्र वहाँ निमित्त—कारण-रूप ही प्रस्तुत हुआ होता है । नहीं कि उपादानरूपमें या आयुष्यका क्षय करने के लिए । अलम्बत स्थूल ज्ञान या दृष्टिवालेको ऐसा भास होता है, लेकिन वास्तवमें सूक्ष्म दृष्टिवालेको वैसा भास नहीं होता । क्योंकि जितना आयुष्य था वह प्राकृतिक रूपमें क्रमशः ही क्षीण होता जाता है । इसमें बराबर अन्तकाल पर ही कोई उपक्रम हाजिर हो जाए और अंतिम दो चार घण्टेका जो आयुष्य हो वह उपक्रमकी वेदनाके साथ पूर्ण भोग डाले (लेकिन जरा भी हास न ही हो) और दृश्य उपक्रमसे मृत्यु सरजी ऐसा देखनेवाला कहे, लेकिन वास्तवमें ऐसा नहीं होता, सिर्फ वह तो सहयोगरूपमें ही रहता है । अतः आयुष्यके नीचे अनुसार भी प्रकार हो सकते ।



अवतरण—वह उपक्रम जीवको सात प्रकारसे लगता है उसे कहते हैं।

अर्ज्वंसाणनिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाए ।

फासे आणापाणू, सत्तविहं झिज्जैए आउं ॥ ३३७ ॥

गाथार्थ—सुगम है । ॥ ३३७ ॥

विशेषार्थ—यहाँ सात प्रकारके उपक्रमोंके नाम बताते हैं। अगरचे विश्वमें अनंता उपक्रम हैं लेकिन यहाँ अवान्तर भेदोंको दूर करके, इन सबका वर्गीकरण करके उन्हें सात प्रकारमें ही समा देते हैं, अर्थात् अनंताका मूल ये सात ही हैं ऐसा समझना। ये सात कौनसे? तो— १. अध्यवसान, २. निमित्त, ३. आहार, ४. वेदना, ५. पराघात, ६. स्पर्श, ७. आनप्राण। अब इन सातोंकी विशेष व्याख्या करते हैं।

१. **अध्यवसान**—उपक्रम, अध्यवसान कहो या अध्यवसाय कहो, दोनों एक ही अर्थके वाचक हैं। अधि—आत्मनि अवतिष्ठति इति—जो आत्मामें उत्पन्न हो वह।

हरेक (संज्ञी) आत्माके अंदर 'मन' हृदय या अंतःकरणसे पहचाना जाता एक एक पुद्गल द्रव्य रहा है। जो द्रव्य अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओंका बना होता है। और वह समग्र देहव्यापी है, परंतु दिग्बन्धोंकी मान्यतानुसार मात्र हृदयव्यापी नहीं है तथा नैयायिकोंकी तरह अणुप्रमाण भी नहीं है। यह 'मनोद्रव्य' विश्वमें एक ऐसी अदृश्य, अद्भुत, अगम्य और विचित्र वस्तु है कि अणु, हाइड्रोजन या कोबाल्ट बॉम्ब को टूटनेवाले या कृत्रिम ग्रहों को बनानेवाले अच्छे—अच्छे वैज्ञानिक भी इसे देख-जान सकें ऐसा नहीं है तो फिर उसका पृथक्करण करने की तो बात ही कहाँ रही? उसके अप्रतिहत और अकरूप्य वेगको मापसे समझनेको एक सर्वज्ञके सिवाय कौन शक्तिमान है? कोई भी नहीं।

४९२. यह गाथा आवश्यक निर्युक्तिकी है। ४९३. सिज्जए, भिज्जए। इति पाठां। ४९४. जैन और नैयायिक अध्यवसायको आत्माका धर्म मानते हैं लेकिन सांख्य बुद्धिका धर्म मानते हैं।

यह मन—हृदय मनुष्यके उपरांत (अमुक) पशु पक्षियोंको भी मिला है। वह पुद्गल द्रव्य होनेसे पुद्गलके संकोच, विकोच स्वभावके कारण छोटी देहमें, बड़ी देहमें देहको व्याप्त होकर रहा है। मन शरीरमें अमुक जगह पर ही रहा है ऐसी मान्यता बराबर नहीं है। उदाहरणके तौर पर कोई कहे कि मन हिया—हृदयके भागमें जमकर रहा है तो यह बात बराबर नहीं है। क्षणभर मानो कि अगर ऐसा ही हो तो हृदयके सिवायके शरीरके किसी भी भागको किसी चीजका स्पर्श हो, उष्ण या शीत पदार्थका हो तो कुछ स्पर्श हुआ है उसका अथवा वह शीत है या उष्ण है उसका कुछ ख्याल आता ही नहीं। पैरमें कांटा लगे तो भी दुःखका कुछ अनुभव नहीं होना चाहिए। जबकि सच्ची परिस्थिति यह है कि शरीरके किसी भी भागमें किसी भी चीजका स्पर्श हो या सुई भोंकी जाए तो तुरंत ही उसके स्पर्शका और साथ साथ स्पर्शजन्य वेदनाका जो अनुभव होता है वह होता ही नहीं। हाँ! इतना सही कि हरेक वस्तुके मर्मस्थान अवश्य होते हैं, इस कारणसे मनका मर्मस्थान (मर्म अर्थात् मुख्य—महत्त्वका) हृदयका भाग है इतना जरूर कहा जा सकता है।

एक बात ध्यानमें रखना कि ८४ लाख जीवायोनिरूप संसारमें ५८ लाख योनिगत जीव संकुलमें जन्म लेनेवाले अनंता जीवोंके तो मन ही नहीं होता। तत्पश्चात् जीवके विकास क्रमके अनुसार पंचेन्द्रिय जीवोंवाली योनिमें मनकी शुरुआत होती है। इसमें भी दो भाग हैं। एक मनवाले पंचेन्द्रिय और दूसरे मन रहित। जिसे तत्त्वज्ञानकी परिभाषामें (मनवालों को) संज्ञी और (मन रहितोंको) असंज्ञी कहे जाते हैं।

अब गाथाके मूल अर्थको देखें

(१) अध्यवसान—अध्यवसाय=आत्मामें या मनमें उत्पन्न होते असंख्य विचारोंमें से, आयुष्य क्षयमें तीन प्रकारके विचार मृत्युको आमंत्रित करते हैं। तीन प्रकार इस तरह हैं। १. रागदशामेंसे जो राग उत्पन्न हुआ हो वह राग अनेक संकल्प—विकल्पों द्वारा पुष्ट होता है और जिसके प्रति आपका राग अथाग, अविहङ्ग और रोम रोम उत्पन्न हुआ हो तब वह व्यक्ति या वस्तु प्राप्त नहीं होती, अनेक युक्ति—प्रयुक्तियाँ, छलप्रपंच, लोभलालच और अनेक रीतसे मेहनत करने पर भी जब न मिले तब, वह रागवाली व्यक्ति या वस्तुके अलाभमें जीव झुर झुर कर ऐसा बन जाए कि अंतमें जब ज्वर-बुखार

४९५. यहाँसे लेकर यह गाथा पूर्ण हो तब तकका भाषांतर, छपे पुराने फरमे सं. २०२०में गूम हो जानेसे फिरसे सं. २०३६में लिखा गया है।

आवे, उसका शरीर क्षीण होता जाए, (क्षय) तपेदिक रोग हो या तो हाटफेल होनेसे वह आयुष्यकी डोरीको तोड़ डालता है।

इनमें दूसरे सब रागसे विजातीय-स्त्री-पुरुषके बिचका राग किसी अलग परिस्थितिको निर्माण करनेवाला है। मानव जीवनमें स्त्री-पुरुषके बिचके रागने सैकड़ों मनुष्योंको आत्म-हत्याएँ करवाई हैं। इनमें मी स्त्रीसे पुरुषका प्रमाण अधिक होता है। स्त्रीसे पुरुषका मन ऐसी बाबतमें अधिक ऊर्मिशील, आवेशमय, उतावला तथा राग जागने पर विचार और विवेकशून्य बन जाता है। खुद कौन है उस परिस्थितिको और जिस स्थानमें या जिस स्थितिमें है वह वहाँ शक्य है या नहीं? उसका सान-भान बिसर जाता है। इस विषयमें एक घटनाको सोचें।

रागदशासे जल्दी होती मृत्युके बारेमें एक उदाहरण

जैसे कि-किसी युवान-पुरुषको किसी युवती-स्त्री पर आकर्षण होनेसे राग जन्मा, फिर उस रागमें वासनाकी विकृत जुड़ गई, अनादिकालजन्म संस्कारको लेकर कामाग्नि प्रज्वलित हुई। लौटाकी कोई शक्यता न रही, इसलिए अग्निने दावानलका रूप लिया। ऊँघ-मूत्र, प्यास, आमिंद सब खतम हुआ। वह स्त्री किसी भी संयोगमें मिलनेवाली नहीं थी। अंतमें उसे याद कर करके, उसे अनुलक्ष्य भांति-भांतिके मनोरथोंके महलो बांधता ही रहा, इसमें उसे असफलता मिलनेसे शीघ्र हताश होनेसे मन भंग हो गया, ऐसा व्यक्ति टी. बी.-तपेदिक, हाटफेल या तो आत्महत्याको आमंत्रण देता है, बांधी हुई मृत्युकी-आयुष्यकर्मकी मर्यादाको तोड़ देता है। काम शास्त्रादिकमें कामीजनकी दश दशाएँ बताई हैं, उसमें मी अंतमें मृत्यु ही लिखी गई है।

इस तरह किसी युवतीको किसी युवानके प्रति राग हो गया। इस देशकी नारी जातिके लिए युवानको पाना यह तो अति अशक्य बाबत होती है। फिर वह काम-विह्वल नारी कामाग्निमें जलती हुई मृत्युके किनारे पर पहुँचती है। इस तरह दोनों दृष्टांत घटा लेना।

४९६. चित्तइ दुदुडु मिच्छइ, दीहं निससह तह जरे दाहे । भक्त-अभोग-मुच्छा, उम्माय-नयाणई मरणं ॥ १ ॥ प्रथम रागवाले व्यक्तिके लिए सतत चिंता-ध्यान, फिर रागीको देखनेकी इच्छा, उसके न मिलने पर दीर्घ निःश्वास। फिर तनमनके इस भ्रमके कारण बुखार-तापका प्रारंभ होता है, फिर जलन होती है, इससे जठराग्नि मंद पडनेसे भोजन पर अरुचि होती है। खाना नहीं भाता, अशक्ति आती है इससे हीस्टीरिया-चक्र, मूर्च्छा जनमते हैं, फिर उन्माद होता है, शरीर धीरे धीरे घिस जानेसे अन्तमें मृत्युकी शरण हो जाता है।

लोगोंके या अस्ववारी के द्वारा प्रेममें असफल बने कितने ही युवान-युवतियोंकी आत्महत्याके किस्से आपने पढे-सुने हैं। सयाने और समझदार जीवोंको तो शुरुआतसे ही इस दिशाकी ओर मनको लगाना ही नहीं चाहिए। कदाचित् लग गया तो मनकी लगामको खिचकर पूर्ववत् जोरसे स्थिर कर देना और सामनेवाले व्यक्तिको तुरंत भूल जाना, याद ही नहीं करना। इस तरफ पराङ्मुख हो जाना। यह इस घटनाका बोधपाठ है। धर्मोपदेश और सद्विचारोंका सहारा लिया जा सके, विद्यार्थी अगर अपेक्षा रखे कि एकाध छोटासा उदाहरण दीजिए न। तो पढ़िए-

राग पर पानीकी प्याऊवाली स्त्रीका दूसरा उदाहरण

कहीं युवान पहल करता है तो कहीं युवती पहल करती है। लेकिन यहाँ जो दृष्टांत देता हूँ वह एकपक्षीय अर्थात् एकतरफा जन्मी रागदशाका है।

गरमीकी ऋतुमें प्रवास करता एक स्वरूपवान, सुंदर, सशक्त युवान मार्ग पर पानीकी प्याऊ होनेसे पानी पीने आया। इस प्याऊमें पानी पिलानेका काम एक सुंदर युवान स्त्री करती थी। यह स्त्री युवानका सौंदर्य आदि देखकर उसके पर मुग्ध मोहित बन गई, उसके सामने वह तिरछी नजर से देखती ही रही। नारीजाति किस तरह अपने हिये में जन्मे रागकी आगको बता सके? वह युवान पुरुष संस्कारी, खानदान था इसलिए उसने तो नीची आँख रखकर पानी पिया और चला गया। अनजाने भी उस स्त्रीके हृदयको हर लिया। इस बाजू पर यह युवती दूर दूर तक उस युवानको देखती ही रही। उसके हृदयमें तो स्नेहका सागर उमड पडा, वह तो अत्यन्त रागा-सक्त दशामें और विरह व्यथाके भारी पंजे में फँस गई। मन और मस्तककी समतुला गँवाती चली। शीघ्र जमीन पर पटक गई। हार्ट पर बहुत दबाव बढ़ गया। उस पुरुषमें लयलीन बनी युवती अंतमें मरणकी शरण हुई। स्त्री कामातुर बनी हो या न बनी हो लेकिन दोनों स्थितिमें वासना रहित रागदशा भी दस प्राणकी मारक बन सकती है।

(२) स्नेहदशा के कारण भी मृत्यु होती है। अर्थात् जिसके प्रति जिसे अत्यन्त अकरूपनीय स्नेह हो, उस स्नेहमें जोरदार प्रतिकूलता खडी हो जाए, तथा अति स्नेहमय व्यक्तिकी मृत्युके अशुभ समाचार सुने जाए, इसलिए स्नेहीजन, इस स्नेहमें पडा फाट या मृत्युका आघात सहन नहीं कर सकता और एकाएक हार्ट पर अंतिम कोटिका दबाव आनेसे लहूकी गति छिन्नभिन्न हो जानेसे, हार्टकी नसोंमें से पसार होता रुधिर-

लहू एक क्षणके लिए रुक जाने पर उसी क्षणमें उस व्यक्तिका आयुष्य पूर्ण हो जाता है। इस तरह स्नेहदशाके कारण बहता आयुष्यका प्रवाह खतम हो जाता है। स्नेहके बारेमें भी शास्त्रमें एक दृष्टांत दिया है, उसे यहाँ प्रस्तुत करता हूँ।

स्नेहदशाके कारण होती मृत्यु पर एक उदाहरण

एक पति—पत्नीके बिच अत्यन्त आत्मीयता थी। पत्नी बहुत ही पतिव्रता और प्रेमी थी। पतिको व्यापार—बनिजके लिए बाहर जाना हुआ। गाँवके मसखरे युवान इन दोनों पति—पत्नीके बिच कितनी गाढ़ मित्रता—प्रेम है इसे जानते थे। मसखरे युवानोंको हुआ कि आज प्रवासी पतिकी पत्नीके प्रेमकी थोड़ी परीक्षा और मजाक करें। उस पतिके मित्रको ज्ञात हुआ कि अपना मित्र आज अमुक समय पर घर लौटनेवाला है, यह बात उसने उन युवानोंसे की। उन्हें मसखरी—मजाक करनेकी जो स्वाहिश थी उसके लिए मौका मिल गया। पैदल चलकर आता हुआ पति गाँवसे थोड़ी दूर था तब वे युवान उसके घर पर दौड़े जाकर उसकी पत्नीको बराबर विश्वास आ जाए इस तरह मुँहका दिखावा और वाणीसे करुण शब्द कहकर बोले कि 'तुम्हारा पति कल गाँवमें चल बसा है।' तुम्हें खबर देने हम आए हैं। यह बात सुनते ही निराधार दशाका अनुभव करती वह स्त्री, असाधारण गहरे स्नेहके कारण पतिके वियोगका भारी आघात लगनेसे मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। तुरंत ही उसका प्राण—पक्षी उड़ गया। प्रेमकी परीक्षा करने आए वे युवान तो अपनी मसखरीका ऐसा भयानक परिणाम देखकर भाग गए। थोड़ी ही देरमें उसका पति हर्ष भरा उत्साह—आनंदके साथ घर आया। घरमें पैर रखते ही पत्नीको मरी देखकर—जानकर, सार्थवाह पतिके भी पत्नी परके अनन्य—अपार हार्दिक स्नेह—प्रेम के कारण अपनी नजर समक्ष पत्नीकी मृत्यु सह न सका, उसे भी प्रचंड आघात लगा और उसका भी हार्टफेल होनेसे वहीं गिर पड़ा और मर गया।

परस्परके गाढ़ स्नेह—प्रेमके कारण दोनोंकी जीवन—दोरी एकाएक टूट गई। इन दोनोंकी मृत्यु स्नेह—परिणाम से हुई। ऐसा दूसरी अनेक बातोंसे बन सकता है।

प्रश्न—राग और स्नेहमें क्या तफावत है? ऐसा प्रश्न कदाचित् हो तो उसका उत्तर दोनों दृष्टांतोंसे समझमें आवे वैसा है फिर भी उसकी सामान्य व्याख्या यह है कि अपरिचित व्यक्ति पर जो भाव हो जाय वह 'राग' और परिचित व्यक्ति पर जो भाव हो जाए वह 'स्नेह'। राग या स्नेह द्विपक्षीय या उभयपक्षीय भी हो सकता है। संसारमें ऐसी घटनाएँ दिन—प्रतिदिन हजारों बनती रहती हैं।

(३) भारी भय—डरसे भी मृत्यु होती है उस पर दृष्टान्त

किसी भी प्रकारका, भयंकर कोटिका भय होने पर भी व्यक्तिको हार्टफेल होनेसे मर जाता है, उसका दृष्टांत देखिए—

हिन्दु जनता जिन्हें भगवान सम पूजते हैं। हमारे यहाँ भी जो भावि उःसर्पिणीमें अमम नामके तीर्थकर होनेवाले हैं वे श्रीकृष्ण जब वासुदेवरूपमें भगवान श्री नेमिनाथजी के कालमें (इ. स. पूर्व तीन हजार वर्ष पर) थे तब वे जैनधर्मी थे और (२२ वें तीर्थकर) श्री नेमिनाथजी भगवानके भक्त—श्रावक थे ।

श्रीकृष्ण वासुदेवके एक पुत्र गजसुकुमार थे। उनका लम्ब वासुदेवने सोमिल नामके ब्राह्मणकी कन्याके साथ किया था। बादमें भगवानकी देशना—प्रवचन सुनकर गजसुकुमारको बैराग होने पर दीक्षा ली। दीक्षा लेनेके बाद वे उत्कृष्ट कोटिके त्याग तपमें लग गए। एकांत जंगलमें विशुद्ध ध्यान अधिक निराबाधपनसे हो इस हेतुसे द्वारिका नगरीके बाहर जंगलमें ध्यान करने गये। इसकी सोमिलको खबर हुई। दीक्षा ली तबसे सोमिलको अपने जमाई गजसुकुमार पर बहुत ही रोष हुआ था। उसका बदला लेनेका मौका नहीं मिलता था। जमाई जंगलमें अकेले खड़े हैं यह मालूम होते ही मौका मिल गया। सोमिल अपने जमाईको कुशलतासे मारनेको उपयोगी सामग्री लेकर जंगलमें पहुँचा। ध्यानस्थ गजसुकुमार मुनिके मस्तक पर माटीकी पालि बांधी, और फिर उसमें खैरके अंगारे भरे और आग जला दी। लेकिन कदाचित् किसीको खबर हो जाए तो? अतः तुरंत ही शीघ्र शहरमें लौटा। दरवाजेमें दाखिल हुआ, कि सामनेसे श्रीकृष्णजी गजसुकुमारको वंदन करने जा रहे थे। सोमिलने ज्यों ही कृष्णको देखा त्यों ही नाहिमत हो गया। अरे! बाप अब मेरी बारी आ गई। ऐसा प्रचण्ड भय पैदा हुआ कि उस भयके आघातसे सोमिलका हार्ट वहीं पर फट गया—बैठ गया और मृत्यु पाई।

इस तरह कराल—भयंकर कृत्यके परिणामके भयसे कितने ही लोग मृत्युको भेंटते हैं।

इस तरह राग, स्नेह और भय से होते मरणका वर्णन समाप्त होनेसे पहले 'अध्यवसान' नामके प्रकारकी व्याख्या पूर्ण हुई।

२. निमित्त उपक्रम—जीवकी मृत्युमें हजारों निमित्त कारण बनते हैं। निमित्तमें तो सैकड़ों बाबतोंका उल्लेख किया जा सकता है। संक्षिप्तमें बतावें तो—विषपान, शरीर पर लगती बंदूककी गोली, चाबुक, लकड़ी, कुरहाडी आदि विविध शस्त्रों—हथियारों के प्रहार, बम्बमारी, आंधी, जलकी ज्वार—लहरें, अग्निस्नान, गलेमें फंदा, अचानक गिर

जाना, किसी वस्तुका अकस्मात् माथे या शरीर पर पडना, सर्पादिक जहरीले जीवोंके उपद्रव, रेखे आदिके अकस्मात्, ऐसे अनेक कारणोंसे जब अकस्मात् मृत्यु हो तब उनमें 'निमित्त' नामका उपक्रम कारण गिनाता है।

३. आहार उपक्रम—देहको जिलानेवाला आहार—खुराक है। खुराककी बाबतमें प्रजामें अब भी बहुत अज्ञान प्रवर्तमान हैं। शरीर-शास्त्र और आहारशास्त्रका आवश्यक—अनिवार्य ज्ञान मी न होनेसे प्रजा—लोग भ्रांति—भ्रांतिके रोगोंका भोग बनती रही है।

खुराकसे मृत्यु किस तरह होती है? तो लंबे अरसे तक खुराक न लेनेसे, अति अल्प या अधिक खुराक लेनेसे, शुष्क, अति स्निग्ध या अहितकारी भोजन लेनेसे आयुष्य घट जाता है। लंबे अरसे तक आहार न लेनेसे आयुष्य कम हो जाता है। इसमें एक बात और ध्यानमें रखनी कि यह नियम सबके लिए सर्वथा लागू ही पड़े ऐसा न समझना। क्योंकि अपने यहाँ छः छः महीनेसे उपवासी होने पर भी ऐसा कुछ भी बनने नहीं पाता।

बहुत कम खुराक लेनेसे शरीर कृश—क्षीण हो जाने से जैसे मृत्यु हो जाती है, वैसे अधिक खुराक लेनेसे भी मृत्यु हो जाती है। इसलिए हमारे यहाँ राजा संप्रतिके अगले ही जन्मका उदाहरण बहुत प्रचलित है।

खुराकमें पथ्य क्या और अपथ्य क्या? ऋतुकालके आहार क्या? आरोग्य निभाव के नियम क्या? इस बाबतका जिसे ज्ञान हो उसे आहार विषयक उपक्रम (प्रायः) हरकत नहीं करते।

४. वेदना उपक्रम—शरीरमें एकाएक भयंकर रोगकी वेदना उत्पन्न होने पर आयुष्यको धक्का लगनेसे आयुष्य भंग हो जाता है। इस वेदनामें शूल, धनुर्वा जैसे रोग गिने जा सकते।

५. पराघात उपक्रम—भयंकर अपमान सहन करना पडा, किसीने अधिक अनिष्ट किया, अथवा किसी गहरे गड्ढे—खाईमें गिरनेसे या पर्वत पर से झंपापात होनेसे आघात, पछाड लगी, ऐसे कारणोंसे जो मृत्यु पाए वह।

६. स्पर्श उपक्रम—इसमें जहरीली हवा, बिजलीके करंट, भयंकर विषका स्पर्श, जिसका शरीर ही जहरभय हो, स्पर्श मात्रसे ही शरीरके छिद्रों द्वारा जहर प्रवेश करके

प्राणका विनाश कर डाले तथा विषकन्याका स्पर्श ऐसे कारणोंसे प्राणका विनाश हो वह ।

७. आणप्राण उपक्रम—आणप्राण अथवा प्राणापान प्राण अर्थात् उच्छ्वास और अपान अर्थात् निःश्वास । तात्पर्य यह कि श्वास लेना और छोड़ना वह श्वासोच्छ्वास । शरीरमें चेतना—जीव है या मर गया है ? इसे जाननेका यह अतिमहत्त्वका साधन है, वह शरीरमें रहा हुआ एक प्राण ही है ।

इस श्वासोच्छ्वास से मृत्यु कब हो ? तो जब जहरीली हवा श्वासोच्छ्वास द्वारा अंदर जाए तब उसकी धीरे धीरे मृत्यु होती है । रातको कमरेमें लालटेन जलती हो और फिर कमरा बंद करके सो जानेसे लालटेन के मिट्टीके तेलके जलनेसे निकलता मृत्यु हो जाए ऐसा जहरीली कार्बन गैस भरनिंदमें श्वासोच्छ्वास द्वारा अंदर जाती रहे तो सुबह होते ही जितने सोये हों वे सब (प्रायः) मृत्यु पाते हैं । वैसे ही एक जेहलके अंदर पांच कैदी रह सके ऐसी कोठरीमें ५० जनोंको बंद करके दरवाजे बंद किये जाएँ, और बाह्रका प्राणवायु मिलता बंद हो जाए तो सब मृत्युकी शरण होते हैं । (कलकत्ताकी काली कोठरीका उदाहरण प्रसिद्ध है) इसके उपरांत दम, श्वासके भयंकर रोमों के कारण-श्वास रुँध जानेसे भयंकर अकुलाहट—घबराहट होनेसे शीघ्र आयुष्य समाप्त हो जाता है ।

ऊपरके मुख्य—महत्त्वके सात प्रकारके उपक्रम—धके लगनेसे धीरे धीरे भोगे जा सकें ऐसे आयुष्यके पुद्गलोंके उपक्रमके समय जीव तीव्रातितीव्र गतिसे भोग डालता है । जीवन जीनेमें उपादान कारणभूत आयुष्यकर्मके दलिये पूरे हो जाने पर जीव उस शरीरमें एक समय—क्षण भी नहीं रहता, देहमेंसे निकलकर परलोकमें सिधाव जाता है ।

ये उपक्रम अपवर्तनके योग्य ऐसे आयुष्यमें फेरफार कर सकते हैं लेकिन अनपवर्तनीय आयुष्यमें तो कुछ फेरफार नहीं कर सकते ।

यों तो विवक्षित (मनुष्य—तिर्यचके) किसी भी भवमें जन्मे तब से ही जीव आयुष्य कर्मके दलिये—पुद्गलोंको प्रति समय स्वपाता ही रहता है, उसमें जात जातके उपक्रम

४९७. प्राचीनकालमें शत्रुराजाको मालूम न हो इस तरह मार डालनेको, ऐसी विषकन्याएँ तैयार की जाती थीं । इस स्त्रीका समग्र शरीर कातिल जहरीला बन जाए इसलिए उसे छोटी उभ्रसे ही शरीरमें खुराकके साथ या औषधद्रव्यके साथ थोड़ा थोड़ा जहरीला द्रव्य दाखिल किया जाता है । लम्बे अरसेके बाद उसकी सातों धातुएँ जहरीली बन जाती हैं । ऐसी कन्या—स्त्री विषकन्याके नामसे पहचानी जाती है । फिर जरूरत पड़ने पर उस कन्याका शत्रुके साथ कपटसे संबंध जुडवाते हैं और विषकन्याकी देहका स्पर्श होनेसे राजाकी मृत्यु होती है और इस तरह किसने मार डाला यह पकडा नहीं जाता ।

लगते हैं, आघात-प्रत्याघात लगते हैं, तब वह आयुष्य पुद्गलोंको अवश्य अधिक स्वप्न देता है। और अति जोरदार अकस्मात् या उपक्रम लगे तो देखते ही देखते आयुष्यके पुद्गलोंको अकल्पनीय ऐसे तीव्रवेगसे—कर्मकी उदीरणासे उदयमें लाकर जीव भोग लेता है, अर्थात् समाप्त कर देता है। जीवन जीनेका यह अनिवार्य उपादान—साधन स्वलास होनेसे फिर जीव किस तरह जी सके ?

प्रश्न—किसी भी प्रकारका उपक्रम—उपद्रव हो तब अगर तत्काल उचित उपाय किए जाएँ तो बहुत बच जाते हैं, तो इसमें क्या समझना ?

उत्तर—इस प्रश्नके खुलासे के लिए इसी पुस्तककी गाथा ३३६ का अर्थ देखिए। जो जीव सोपक्रमी अनपवर्तनीय आयुष्य बांधकर आया हो उसे चाहे उतने उपक्रम भले लगे लेकिन उसका आयुष्य स्वप्न नहीं होता। उपक्रमके उपायोंके आयोजनसे अच्छा हो जाए और ज्यादा जीए इससे आयुष्य बढ़ गया ऐसा न समझना।

ये सारे उपक्रम अपवर्तनीय सोपक्रम प्रकारके आयुष्यका ही अपवर्तन—हास करते हैं। लेकिन अनपवर्तनीय निरूपक्रम प्रकारके बंधे आयुष्यका कभी अपवर्तन नहीं कर सकते।

३३५ वीं गाथामें चरमशरीरी आदि जिन जिन जीवोंको निरूपक्रमी (उपक्रमका असर हो ऐसे) आयुष्यवाले जनाये हैं। वहाँ समझमें थोडा विवेक रखनेका कि इन जीवोंको कभी उपक्रम लगते, पीडा भी देते, पीडासे मृत्यु भी पाते दीखते। यहाँ जीवके सामने उपक्रमकी उपस्थिति जरूर है लेकिन अगाऊ बताया है वैसे, उस आयुष्यका अपवर्तन अर्थात् दीर्घायुषीको अल्पायुषी नहीं कर सकता।

मृत्यु उपजावे वसा उपक्रम—घटना बने तब इन जीवोंके लिए ऐसा ही समझना कि सहजपनसे भोगे जाते आयुष्यकी पूर्णाहुति आ पहुँची हो तब ही उसे मृत्यु योग्य उपक्रम लगता है, कुदरती रीतसे ही परस्पर ऐसा योग बन पाए। हाँ, उपक्रम निमित्त रूपमें जरूर दीखे और मानो कि इस उपक्रमसे ही मर गया ऐसा दीखे भी सही, परंतु हकीकतमें ऊपर कहा वैसे समझना।

आयुष्यकी घटनाके साथ संबंध रखनेवाली जो बावतें अगाऊ कह गए उनका पुनः तात्पर्य यहाँ दिया है। *

१. बंधकाल—परभवका आयुष्य बांधनेका समय भोगे जाते आयुष्यकालमें कब होता है उसका निर्णय वह बंधकाल। देवों—नारकों असंख्याता वर्षवाले मनुष्यों, तिर्यचोके

लिए नियम कि, भोगे जाते आयुष्यके छः महीने शेष रहे तब परभवका आयुष्य बांधे। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और अनपवर्तनीय आयुष्यवाले तिर्यच-मनुष्य अपने निश्चित हुए आयुष्यके तीसरे भागका परभवायुष्य बांधे। लेकिन अपवर्तनीय आयुष्यवाले तिर्यच-मनुष्य अपने निश्चित किए गए आयुष्यके तीसरे भागका परभवायुष्य बांधे। एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियवाले तिर्यच-मनुष्य हैं वे अपने आयुष्यके तीसरे तीसरे भागका बांधे। अगर पहला तीसरे भागका न बांधे तो उसके बादका तीसरे तीसरे भागका बांधे अर्थात् नवें भागका, सताइसवें भागका बांधे। इस तरह आगे समझ लेना।

२. **अबाधाकाल**—परभवका आयुष्य बांधनेके बाद वह बंधा आयुष्य जब तक उदयमें न आया हो तब तक वह बंध-उदयके बिचका अपान्तरकाल।
३. **अंतसमय**—आयुष्यकी पूर्णाहुतिका अन्तिम (निष्ठा) समय वह।
४. **अपवर्तन**—लम्बे काल पर वेदने-भोगने योग्य आयुष्य कम कालमें भोगने योग्य बने वह। यह आयुष्य सोपक्रम भावका ही होता है।
५. **अनपवर्तन**—जो आयुष्य कभी अल्प न बने। जितना बांधा हो उतना पूरा हो ही वैसा आयुष्य।
६. **उपक्रम**—दीर्घ आयुष्यको चाहे उस प्रकारसे संक्षिप्त-अल्प करे वह। ऐसे उपक्रम अनेक होने पर भी उनका वर्गीकरण करके उपक्रमोंका सातमें समावेश करके यहाँ बताये हैं। इन उपक्रमोंका वर्णन ऊपर हो गया है।
७. **अनुपक्रम**—जिस आयुष्यको कभी उपक्रम अर्थात् किसी भी प्रकारसे धक्का-हरकत न पहुँचे और पूरा पूरा भोगा जा सके वह। इसमें कभी उपक्रमका प्रसंग बन जाए लेकिन वह सिर्फ उपस्थित होनेके लिए होता है। परंतु वह आयुष्यकी जीव-डोरीको कभी अल्प नहीं कर सकता। [३३७]

अवतरण—किसी भी जीवको जीवन जीनेके लिए छः शक्तियोंकी आवश्यकता होती है। जनमते ही अल्प समयमें अपने अपने कर्मानुसार अपने अपने योग्य शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है। यह शक्ति वही पर्याप्ति। पर्याप्ति या शक्ति एक ही शब्दके वाचक शब्द हैं। अब यहाँ गाथामें छः पर्याप्तिओंके नाम बताकर किस किस जीवको अपने कर्मानुसार कितनी कितनी पर्याप्तियाँ-जीवन शक्तियाँ प्राप्त होती हैं यह भी कहेंगे।

आहार सरीरिदिअ, पञ्जती आणपाणभासमणे ।

चउ पंच पंच छप्पिअ, इग-विगला सन्निसन्नीणं ॥ ३३८ ॥

गाथार्थ—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इस नामकी छः पर्याप्तियाँ हैं। उनमें एकेन्द्रियके चार, विकलेन्द्रियके पांच, असंज्ञि पंचेन्द्रियके पांच और संज्ञी पंचेन्द्रियके छः होती हैं। ॥ ३३८ ॥

विशेषार्थ—गाथाका विशेषार्थ यहाँ विस्तारसे प्रस्तुत करता हूँ। क्योंकि पर्याप्ति श्वास महत्त्वकी समझने जैसी बाबत है। इसे अगर विस्तारसे न समझाया जाए तो उसका यथार्थ रहस्य समझमें नहीं आ सकता।

इन पर्याप्तिओंकी व्याख्या शुरु करने पहले उस विषयक कुछ भूमिका अगर प्रस्तुत करूँ तो विद्यार्थीओं तथा पाठकोंको रसदायक लगेगा और रहस्य अधिक स्पष्ट होगा।

नामकर्मके उदयके कारण औदारिकादि (तीन) शरीररूपमें परिणत हुए पुद्गलोंमें से उस उस शरीरके योग्य ऐसे मस्तक, छाती, पेट, पीठ, दो हाथ और दो जंघाएँ (पग) ये आठ अंग और उन अंगोंमेंसे निकलती उनके ही अवयवरूप अंगुलियाँ तथा नाक, कान आदिरूप उपांग, पुनः उनके ही अवयवरूप रोमराजी, बाल, पलकें, हाथ-पगकी रेखाएँ आदि "अंगोपांग रूप स्पष्ट विभागो बनते हैं। अर्थात् वैसी परिस्थिति प्राप्त होती है। उपरान्त उसी तरह श्वासोच्छ्वासके योग्य ऐसा श्वासोच्छ्वास नामका नामकर्म यह पर्याप्ति नामकर्म के उदयसे प्राप्त होती है। भाषा पर्याप्ति नामकर्मके कारणसे भाषा वर्गणाके पुद्गल ग्रहणसे भाषायोग्य लब्धि तथा मनःपर्याप्ति नामकर्मके कारण मनोवर्गणाके पुद्गलोंसे मनोलब्धि अर्थात् चिंतनशक्ति प्राप्त होती है। लेकिन इन तीनों शक्तियोंकी क्रिया-व्यापार या उपयोग तो अनुक्रमसे श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन पर्याप्तिके कारण ही शक्य बनता है।

ये पर्याप्तियाँ पर्याप्त नामकर्मके उदयसे जीवको प्राप्त होती हैं।

पर्याप्तियोंका स्वरूप सुचारु रूपसे समझमें आवे इसलिए कुछ बाबतें स्थूल रूपमें संक्षिप्तमें बताईं।

४९८. पर्याप्तिका सूक्ष्म और विस्तारपूर्वक विवेचनके लिये ३३९ गाथाके बाद दिया हुआ बारहवाँ परिशिष्ट देखिये। ४९९. नामकर्मकी अनुकूलता या प्रतिकूलता पर अंगोपांगकी न्यूनाधिकता, अनुकूलता या प्रतिकूलताका आधार होता है। ५००. नामकर्म अर्थात् क्या ? नामकर्म यह ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकारके कर्मके प्रकारोंमेंसे एक प्रकार है। इस नामकर्मके ९३ या १०३ जो भेद हैं, उनमें पर्याप्त नामकर्म भी एक भेद है। वह नामकर्ममें होनेसे यह विशेषण प्रयुक्त है।

प्राथमिक रीतसे उपयोगी थोड़ी अन्य बातें भी समझ लें ।

ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक्लोकसे युक्त चौदहराजलोक प्रमाण जितना महाविराट विश्व, चर्मचक्षुसे अदृश्य तथा दृश्य (इन्द्रिय ब्राह्म और अभ्राह्म) ऐसे अणु-परमाणु या उनके स्कंधो-समूहोंसे सर्वत्र व्याप्त हैं । स्वचास्वच भरे हैं । इन अणु-परमाणु आदि को शास्त्रीय परिभाषामें पुद्गल या पुद्गल स्कंधोंसे पहचाने जाते हैं ।

ये पुद्गल दो प्रकारके हैं । जो पुद्गल स्कंध जीवोंको आहार, शरीर आदिके उपयोगमें आवें वे ग्रहण प्रायोग्य वर्गणाओंके रूपमें पहचाने जाते हैं । और जो अणु-परमाणुओंसे सभर पुद्गलस्कंध जीवोंको आहार-शरीर आदिके उपयोगमें नहीं आ सकते उन्हें अग्रहण प्रायोग्य वर्गणाओंके रूपमें पहचाना जाता है । त्रिकालज्ञ-सर्वज्ञोंने ज्ञानचक्षु-द्वारा देखीं ग्रहण प्रायोग्य पुद्गल वर्गणाएँ आठ प्रकारसे बताई हैं । उनके नाम इस तरह हैं—

आठ प्रकारकी वर्गणाएँ

१. औदारिकवर्गणा २. वैक्रियवर्गणा ३. आहारकवर्गणा ४. तैजसवर्गणा ५. श्वासोच्छ्वासवर्गणा ६. भाषावर्गणा ७. मनोवर्गणा और ८. कर्मणवर्गणा ।

आठ प्रकारके कार्योंके लिए आठों वर्गणाओंकी जरूरत पड़ती है । औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कर्मण इन पांचों वर्गणाके पुद्गल पांच शरीरोंके लिए उपयोगी है । श्वासोच्छ्वास वर्गणा श्वास लेने छोड़ने के कार्योंमें और वचन-व्यवहार अथवा भाषा बोलनेके कार्योंके लिए भाषावर्गणा और विचार करनेके लिए मनोवर्गणा उपयोगी है ।

संक्षिप्तमें विश्वके तमाम जीवोंकी देह तथा इन्द्रियोंकी रचना, श्वासोच्छ्वास क्रिया, भाषा-वचन-व्यवहार और विचार करना आदिमें ये वर्गणाएँ महत्त्वका-मुख्य भाग लेती हैं ।

औदारिक वर्गणाके जो पुद्गल हैं वे, औदारिक शरीर तथा उसके योग्य अंगो-पांग तथा इन्द्रियोंकी रचनामें, वैक्रिय वर्गणाके पुद्गल, वैक्रिय शरीर और उसके योग्य इन्द्रियाँ आदिकी रचनामें, आहारक वर्गणाके पुद्गल, आहारक शरीर और उसके योग्य इन्द्रियाँ आदिकी रचनामें उपयोगी बनते हैं ।

मनुष्य और तिर्यक् गतिमें भव प्रायोग्य शरीर औदारिक है और देव तथा नरक गतिमें भव प्रायोग्य शरीर वैक्रिय है । जबकि आहारक शरीर तो मात्र भाव चारित्रवान्

५०१. वर्गणा अर्थात् दृश्य अदृश्य विश्वमें विविध प्रकारके वर्तित परमाणुओंके बने स्कंधोंके समुदाय । ५०२. इस शरीरका विशेष वर्णन ३४४ वीं गाथाके विवरणमें देखना ।

मनुष्य ही रच सकता है। अर्थात् उत्तमोत्तम कोटिका संयमी साधु ही रच सकता है। किसी संसारी गृहस्थोंको यह शरीर उपलब्ध होता ही नहीं।

केवल तैजस और कार्मण शरीरको स्वतंत्र अंगोपांग या इन्द्रियाँ नहीं होती। लेकिन जो औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरके लिए तथा इन्द्रियोंके लिए पर्याप्तियाँ की हैं। वे ही पर्याप्तियाँ तैजस और कार्मण शरीरके लिए औदारिक आदिके साथ समझ लेनी है।

इतनी भूमिका बताकर अब पर्याप्तिका स्वरूप शुरू करते हैं।

पर्याप्ति विषयक निवेदन

जीव एक भवमें मृत्यु पाकर देहका त्याग करके अन्य गतिमें जन्म लेता है। उस समय उसे उत्पन्न होनेके साथ ही (प्रथम समयसे ही) अपनी जीवनयात्रामें उपयोगी हों ऐसी कम से कम चार और ज्यादा से ज्यादा छः प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त कर लेनी चाहिए। अगर इन शक्तियों या साधनोंको प्राप्त न करे तो जीवनका अस्तित्व भी न रहे। इन शक्तियोंकी सहायता होने पर ही जीवन जीना शक्य बनता है। देहधारियोंके लिए जितनी तक जीनेके लिए शक्तिकी अनिवार्य जरूरत होती है। खूबी तो यह है कि ये शक्तियाँ जन्मके बाद एक अंतर्मुहूर्त्त (एक मुहूर्त्त अर्थात् ४८ मिनटसे कम काल) में जीव प्राप्त कर लेती हैं।

ये शक्तियाँ विविध प्रकारके पुद्गलोंके समूहमें से उत्पन्न होती होनेसे विविध पुद्गलों का यथायोग्य संचय करने लगती हैं। इन पुद्गलोंको अथवा तो उनसे उत्पन्न होती (आहारादि क्रिया कर सकें वैसी) शक्तिको पर्याप्ति कहा जाता है।

यह संचय जीव करता होने से जीव कर्त्ता है। पुद्गलोपचय द्वारा जो शक्ति पैदा हुई उस शक्तिसे ही जीव आहार ग्रहणमें और शरीरादि कार्यों के निर्वहनमें समर्थ बनता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि यह शक्ति ही जीवनका करण है।

५०३. तैजस और कार्मण ये दो शरीर, संसारी जीवोंकी औदारिक वगैरह शरीरादि कारणसे जैसी आकृति होती है वैसी आकृतिका अनुसरण करते हैं। क्योंकि ये दो शरीर दूधमें शक्करकी तरह मिले रहते हैं। अतः उन्हें स्वतंत्र अंगोपांगका संभव नहीं है जब कि औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन शरीरोंकी आकृतियों को जीवात्मा अनुसरण करता होनेसे उसे अंगोपांग घटमान है और वे अंगोपांग छूटे 'नामकर्म' नामकी एक कर्मसत्ताके उदयसे होते हैं। तैजस, कार्मण दोनों शरीर हमसे प्रत्यक्ष देखे नहीं जाते। मात्र अनुमान से ग्राह्य हैं। ५०४. पुद्गल अर्थात् जिनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हो वैसे परमाणु, अणु प्रदेश या स्कंध।

इस पर्याप्ति करणसे ही आहारादिकका स्वस्व विषयमें परिणमन—शरीर निवर्तन आदि क्रिया होती है।

हम जान आए कि पर्याप्तियाँ देहधारी जीवोंको, जीवन जीनेकी शक्तिको प्रगट करनेमें या जीवन जीनेमें प्रबल कारणभूत हैं। और जीवन जीनेके लिए वे असाधारण रूपमें आवश्यक और अनिवार्य साधनरूप हैं।

पर्याप्तिकी सरल—स्पष्ट व्याख्या इस तरह है।

पर्याप्ति अर्थात् शक्ति—सामर्थ्यविशेष। यह शक्ति पुद्गल द्रव्यके संचयसे प्रकट होती है। अब इसे स्पष्टतासे समझें।

जीव किसी भी योनिमें उत्पन्न हो तब उत्पत्ति स्थानमें रहे जिन पुद्गलोंको प्रथम बार ही ग्रहण करे उन पुद्गलोंका शाश्वत नियम अनुसार जीव समय समय पर जिन पुद्गलोंको ग्रहण करता रहता है उनके साथ योग होता है, यह योग होनेसे एक विशिष्ट शक्ति—कार्यका निर्माण होता है। यह शक्ति जीव जिन जिन पुद्गलों को ग्रहण करता रहे, उन पुद्गलोंको दो विभागमें बाँटनेका कार्य बराबर बजाता है। अर्थात् गृहित पुद्गलोंमें से खल—मलादि प्रकारके योग्य पुद्गलोंको अलग कर देता है और रस प्रायोग्य हों उन्हें उस रूपमें अलग करता है। ऐसी पर्याप्तियाँ—शक्तियाँ छः हैं। वे इस तरह—

छः पर्याप्तियोंकी व्याख्या

१. आहार पर्याप्ति—उत्पत्ति प्रदेशमें आये हुए जीव जिस शक्तिसे उत्पत्ति स्थानमें रहे बाह्य (ओजाहार) आहारके पुद्गलोंको ग्रहण करे और उन पुद्गलोंको खल और रसरूपमें परिणत करे उस शक्तिका नाम आहार-पर्याप्ति है।

खल अर्थात् आहार परिणमन (पाचन)की क्रिया द्वारा आहारमेंसे मल—मूत्रादि रूपसे तैयार हुआ असारभूत पुद्गलोंका समूह और रस अर्थात् खुराककी पाचनक्रियामें से ही सात

५०५. जिस गतिमें जीवने जो शरीर धारण किया हो, उस शरीरका मृत्यु के बाद विद्योग और विनाश हो जाता है और उस स्थूल शरीरमें रहा जीव जब परलोकमें विदाय लेता है तब उसके साथ 'तैजस' और 'कार्मण' के नामसे परिचित दो सूक्ष्म शरीर होते ही हैं। ये दो शरीर तो अनादिसे जीवके साथ रहे ही हैं। और मोक्ष न हो तब तक वे रहनेवाले हैं। जन्मस्थानमें जीव इन दोनों शरीरों के साथ उत्पन्न हो तब प्रथम जिस आहारका ग्रहण होता है वह मुख्यतया तैजस कार्मण काययोग द्वारा होता है। आहार पर्याप्ति उस समय अवान्तर कारणरूप होती है, परंतु आहार पर्याप्तिका प्रधान कार्य तो औदारिक नामकर्मसे ग्रहण किये आहारके पुद्गलोंमेंसे उपर बताया वैसी योग्यतावाला बनाना यही है। ५०६. अपने शरीरमें सुखादि द्वारा जो खुराक जाती है वह प्रथम पेटमें जाती है और वहाँ जानेके बाद शारीरिक क्रियाएँ होती हैं इससे उसमें विभाग पड जाते हैं, एक खल रूपमें अर्थात् मल—मूत्र रूपमें और दूसरा रस रूपमें।

धातुरूपमें परिणत वैसे सारभूत पुद्गलोंका जैल जैसा। खुराकमेंसे निष्पन्न होता प्रवाही रस। इस रसमेंसे ही रुधिर (=खून-लहू) मांस आदि सात धातुएँ बनती हैं और यह कार्य अभी जिसकी व्याख्या करनी है उस शरीर पर्याप्ति द्वारा होता है।

ऊपरकी व्याख्या वास्तवमें तो मात्र औदारिक देहकी आहार पर्याप्तिको ही लागू पड़ती है लेकिन वैक्रिय या आहारक देहकी आहार पर्याप्तिको लागू नहीं पड़ती। क्योंकि इन दो शरीरोंमें विष्टा, मूत्र और सात धातुएँ होती ही नहीं। यह फक्त औदारिक शरीरमें ही होती हैं। अतः इसका सर्वसामान्य अर्थ इस तरह होता है—

‘ग्रहण क्रिये आहारमेंसे शरीर रच सके वैसे योग्यतावाले आहारको शरीर रच सके वैसे योग्यतावाला करे और शरीर रचनामें उपयोगी न हो सके वैसे अयोग्यतावाले आहारको उससे अलग कर दे’ उसका नाम ‘आहार पर्याप्ति’।

इस प्रकारका अर्थ तीनों शरीरकी आहार पर्याप्तिमें घटेगा।

यह पर्याप्ति एक ही समयमें पूर्ण होती है।

२. शरीर पर्याप्ति—जीव पुद्गल समूहमेंसे प्राप्त हुई जिस शक्तिसे औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरके योग्य रसीभूत-रसरूपमें बने आहारके सूक्ष्म पुद्गलों को सात धातु रूपमें अथवा शरीर रूपमें यथायोग्यपनसे परिणत करता है वह इस शरीर शक्ति (पर्याप्ति)के प्रभावसे ही।

सात धातुओंसे शरीरके अंदर रहे रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र (वीर्य) ये सात वस्तुएँ समझना। रस अर्थात् खाई हुई खुराक पेटमें जाने पर उसमेंसे रस बने—मोटे प्रवाही रूपमें बने, रसरूपमें बने आहारमेंसे (सात धातु प्रायोग्य उन पुद्गलोंमेंसे) लहू बनता है, लहूमेंसे मांस और उसमेंसे मेद (चरबी) और उसमेंसे अस्थि अर्थात् हड्डियाँ बंधती हैं, फिर उसमेंसे मज्जा बननेका कार्य शुरू होता है और अंतमें शुक्र (वीर्य) नामकी धातुका निर्माण होता है। तात्पर्य यह कि खाई हुई खुराकमेंसे ही वह पर्याप्ति उपरोक्त सात धातुओं—द्रव्योंको बनाती है। यह औदारिक देह सात धातुओं से बनी है और इसलिए शरीरकी गति, प्रगति, वृद्धि—पोषण, रक्षणादिकमें उपयोगी बनते हैं।

५०७. प्रथम जल प्रवाही रस हो वह रस धातुकी प्रारंभिक अवस्था है। अतः उस अपक्व रसको रसधातु रूप न समझना। वह तो उसके बाद तैयार होता है। ५०८. रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा (अस्थिके अंदर रहा चीकना पदार्थ) और वीर्य, ये सातों धातुके रूपमें परिचित होनेसे ये सात धातुएँ कहलाती हैं। मूल वैक्रिय शरीरमें ये सात धातुएँ नहीं होती। उत्तर वैक्रियमें अन्तिम धातुमें विकल्प संभवित हो सके। आहारक शरीर तो सातों धातुओंसे रहित होता है।

यहाँ शरीर काययोगकी प्रवृत्तिमें समर्थ हो तब तक शरीरकी रचना हो जाती है। यह रचना शरीर पर्याप्तिये की। एक अंतर्मुहूर्त्त तक शरीर पर्याप्तिये शरीर रचना योग्य पुद्गलोंका ग्रहण—संचय करनेसे शरीर—शक्ति निर्माण होने लगी। मात्र शरीर बना अर्थात् इन्द्रियोंसे रहित ढांचा—आकार तैयार हुआ।

३. इन्द्रिय पर्याप्ति—शरीर पर्याप्तिके समय सात धातु रूपमें परिणत आहार (या सात धातुरूप द्रव्य) में से जिस जीवको जितनी इन्द्रियाँ प्राप्त करनेकी हों उन उन इन्द्रियोंके योग्य पुद्गल तुरंत ही ग्रहण करके इन्द्रिय रूपमें परिणत करनेसे इन्द्रियोंकी रचना हो जाए। फिर वे इन्द्रियाँ अपने अपने विषयज्ञानमें समर्थ बन जाएँ। इससे इन्द्रिय पर्याप्तिकी परिणामाप्ति हो जाए। इस रचनामें एक अंतर्मुहूर्त्त काल लगता है।

शरीर रचनाके साथ सुसम्बद्ध ऐसे आहार, शरीर और इन्द्रिय इन तीन पर्याप्तियों का वर्णन समाप्त हुआ।

तत्पश्चात् तीन पर्याप्तियाँ, शरीरसे बाहर रहे और भिन्न भिन्न प्रकारकी वर्गणाओं जन्य पुद्गलोंके द्वारा तैयार हो सकती हैं, जिन्हें अब समझेंगे।

४. श्वासोच्छ्वास—विश्वमें कतिपय जीव नासिका द्वारा, जबकि कतिपय जीव अपने शरीरके रोम—छिद्रों द्वारा प्राणवायु (Oxygen) ग्रहण करता है। इस श्वासोच्छ्वासकी क्रिया जीव किस शक्ति—बलसे कर सकनेमें समर्थ बने? तो आद्य प्रारंभ तो श्वासोच्छ्वास नामकी क्रिया द्वारा प्राप्त शक्तिसे होता है। इस क्रियाके लिए उसे आकाश या अवकाशमें रहे एक प्रकारके सूक्ष्म पुद्गलोंका आलंबन (सहारा) लेना पड़ता है।

अब इस क्रियाकी प्रक्रिया और उसका क्रम देखें

अखिल ब्रह्मांडमें सर्वत्र अर्थात् अवकाश और सर्व पदार्थों के अंदर विविध प्रकार के अनंत पुद्गल स्कंध अनादि अनंतकालसे विद्यमान है। ये स्कंध आठ प्रकारकी कर्मवर्गणाओंके होते हैं। इस संसारके संचालनके मूलमें ये वर्गणाएँ कर्म ही होते हैं। इन वर्गणाओंमें एक श्वासोच्छ्वास नामकी स्वतंत्र वर्गणा है। जो वर्गणा या उसके पुद्गल स्कंध श्वासोच्छ्वासकी क्रियाके लिए ही सहायक—उपयोगी है। उत्पत्ति स्थानमें आए जीवको श्वासोच्छ्वासकी क्रियाके बिना नहीं चलता, क्योंकि जीवको जीनेके लिए शुद्ध प्राणवायुकी

५०९. डॉक्टरों या सायन्स कहता है कि, यह क्रिया तो कुदरती है। जब कि जैन तत्त्वज्ञान कहता है, नहीं, कुदरती जरा भी नहीं है। इसके पीछे तथाप्रकारका पूर्वसंचित कर्म ही कारण है। यह कर्म जैसा बांधा हो वैसे श्वासोच्छ्वासकी अनुकूलता—प्रतिकूलता मिलती है। विश्वके या विश्ववर्ती पदार्थोंके संचालनके पीछे जैन तत्त्वज्ञानने बताई हुई कर्मकी अत्यन्त सुव्यवस्थित प्रक्रिया-धियरी पड़ी है। इसके आधार पर ही गति-स्थिति या प्रगतिकी क्रियाएँ होती हैं।

अविरत जल्दतर होती है, इसे लेकर अशुद्ध बने प्राणवायुको फिरसे बाहर निकालना पड़ता है। यह क्रिया नासिका द्वारा होती है, लेकिन इस क्रियामें ताकात वह श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति खड़ी करती हैं। अतः जीव-आत्मा तुरंत ही यह ताकात प्राप्त करनेको आसपास या अवकाश-आकाशमें रहे श्वासोच्छ्वास प्रायोग्य दलिकों-स्कंधोंको खिचकर श्वासोच्छ्वासकी क्रियाके रूपमें परिणत करता है। फिर श्वास-अवलंबन ले या ग्रहण करे-रोके और फिर तुरंत ही उसका उच्छ्वासन करे अर्थात् श्वासका विसर्जन करे-छोड़ दे, इससे ग्रहण किये गए पुद्गल फिरसे आकाश-अवकाशमें दाखिल हो जाएँ, फिरसे ले-छोड़े, इस तरह चलता रहे। अन्तर्मुहूर्त्त तकमें जीव इस क्रिया के लिए समर्थ बन जानेसे यह चौथी पर्याप्ति पूर्ण हो जाए।

कर्मपुद्गल ऐसे सूक्ष्म-सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं कि सर्वज्ञ-त्रिकालज्ञानी जीवके सिवाय कोई जीव प्रत्यक्ष देख जान नहीं सकता।

५. भाषा-श्वासोच्छ्वासकी तरह आठ प्रकारकी वर्गणाओंमें एक भाषावर्गणा है। यह वर्गणा भाषा अर्थात् बोलनेमें उपयोगी दलिकों (अणु-परमाणु) वाली है।

जीवको जब जब बोलनेकी इच्छा हो तब तब, अखिल ब्रह्मांडमें रहे भाषा बोलनेमें (शब्दात्मक या ध्वन्यात्मक) उपयोगी भाषावर्गणाके पुद्गलोंको ग्रहण करके भाषारूपमें परिणत किये। बोलना हो तब तक अवलंबन लेकर फिर (बोलनेका बंद होने पर) उन पुद्गलोंका अवकाशमें विसर्जन कर देते हैं अर्थात् उन पुद्गल स्कंधोंका त्याग कर देते हैं।

इस शक्तिको उत्पत्ति समय ही जीव एक अन्तर्मुहूर्त्तमें ही प्राप्त कर लेता है। फिर वह शक्तिको 'भाषा पर्याप्ति' इस नामसे संबोधित की जाती है। यह शक्ति प्राप्त कर लेनेसे जीव हमेशाके लिए बोलनेकी क्रियामें समर्थ हो गया। अब जब जब बोलनेकी इच्छा होती है तब तब जीव तुरंत ही आकाशमेंसे पुद्गलोंको अकरूपनीय गतिसे ग्रहण करके वाणी रूपमें परिणत करके वचनरूपमें छोड़ता है। उसके बाद उन पुद्गलोंका अकरूपनीय समयमें अपने आप विसर्जन हो जाता है। चेतन या जड द्वारा उत्पन्न होते हरेक आवाजके पुद्गल एक सैकंडके करोडवें भागमें ब्रह्मांड व्यापी बन जाते हैं। वे तुरंत पुनः अवकाशमें मिल जाते हैं।

६. मनःपर्याप्ति-विचार भी ऐसे वैसे नहीं किया जा सकता। इसके लिए भी एक प्रकारकी अगम्य शक्ति-बलकी जरूरत पड़ती है। उस बलका सहारा-मदद मिले तो ही व्यक्ति विचार और बादकी कक्षाका चिंतन-मनन भी कर सके।

. इस शक्ति-बलका नाम मनपर्याप्ति है। यह विचार करनेके लिए जिन पुद्गलोंकी जरूरत पड़ती है, वे उपरकी तरह आठ वर्गणामेंसे मनोवर्गणाके दलिक-स्कंध हैं।

जीवकी उत्पत्तिके समय विचारकी ताकात प्राप्त करनेके लिए अन्तर्मुहूर्त्त तक अवकाशवर्ती मनोवर्गणाके पुद्गलोंको आहरण ग्रहण करता रहता है, आवश्यक पुद्गलोंका संचय होने पर उन पुद्गलोंको विचारके रूपमें बदलता-परिणत करता-संस्कारी बनाता रहता है, फिर विचार करना हो तब तक अवलंबन रूपमें रखकर, विचारधारा पूर्ण होने पर उन स्कंधोंका विसर्जन करता है। यह क्रिया पूर्ण होनेसे मनःपर्याप्ति प्राप्त हो चुकती है। अब जब जब विचारोंका ग्रहण, परिणमन और विसर्जन करना हो तब उपरोक्त प्रक्रिया होती रहेगी।

*

अब किस जीवको कौनसी पर्याप्ति हो ?

एकेन्द्रिय जीवोंको आहार-शरीर-इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास, ये प्राथमिक चार पर्याप्तियाँ होती हैं। विकलेन्द्रिय अर्थात् दोइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय और चउरिन्द्रियके पांच पर्याप्तियाँ, असंज्ञी पंचेन्द्रियके [संमू०] मेंःपर्याप्तिके सिवायकी वे ही पांच पर्याप्तियाँ और संज्ञी पंचेन्द्रिय अर्थात् जिन्हें मन है वैसे [गर्भज] जीवोंके छहों पर्याप्तियाँ होती हैं।

पर्याप्ति विषयक विशेष विचारणा

विशेष विचारें तो लब्धि अपर्याप्ता जीवके तीन पर्याप्तियाँ होती हैं, अर्थात् सर्व अपर्याप्ता संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय, तिर्यच तथा मनुष्य और अपर्याप्ता एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियके प्रथमकी तीन पर्याप्तियाँ हैं। लब्धि अपर्याप्ता गर्भजसंज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय तथा मनुष्यके भी वे ही तीन पर्याप्तियाँ हैं।

लब्धि पर्याप्ता एकेन्द्रियके चार पर्याप्तियाँ, लब्धि पर्याप्ता विकलेन्द्रियके तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय [वे संमूर्च्छिम तिर्यच] के पाँच पर्याप्तियाँ हैं। संमूर्च्छिम मनुष्य लब्धि पर्याप्त न होनेसे उनकी बात यहाँ नहीं की है।

लब्धि पर्याप्ता मनुष्य, गर्भज तिर्यच, देव और नारकी इनके छहों पर्याप्तियाँ होती हैं। क्योंकि लब्धिपर्याप्त तिर्यच मनुष्य अपूर्ण पर्याप्तिमें मरते नहीं और देव,

५१०. संज्ञा या मन एक नहीं फिर भी उनकी आहारादिककी प्रवृत्ति आहार संज्ञाके कारण समझनी। अथवा असंज्ञीको भी अल्पमनोद्रव्योंका ग्रहण (क्षयोपशमरूप भावमन) है और इसीसे वह इष्टकार्यमें प्रवृत्ति तथा अनिष्टमें अप्रवृत्ति करता है। परंतु इससे उसे मनःपर्याप्ति नहीं समझें।

नारकी लब्धि अपर्याप्ता नहीं होते, लेकिन लब्धि पर्याप्ता ही होते हैं। अतः वे इष्ट पर्याप्ति पूर्ण करते ही हैं।

लब्धि और करण पर्याप्ता और अपर्याप्ताके भेद

पर्याप्ति समाप्त होनेके कालके लिए जीवके भी पर्याप्त और अपर्याप्त ऐसे दो भेद पड़ते हैं। वहाँ जो जीव स्वयोग्य [जिसे जो हो वह] पर्याप्तियाँ पूर्ण करके मृत्यु पाए तो जीव पर्याप्ता कहा जाता और दरिद्रने किये निष्फल मनोरथकी तरह जो जीव स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण किये बिना मरे, तो वह जीव अपर्याप्ता कहा जाए, पर्याप्तपन प्राप्ति होना वह पर्याप्त नाम कर्मके उदयसे होती है और अपर्याप्तपन अपर्याप्त नाम कर्मके उदयसे जीवको होता है, इस तरह जीव के पर्याप्ता और अपर्याप्ता दो भेद मुख्य हैं। और इन भेदोंमें पुनः अवान्तर भेद भी है और ऐसे भेद चार हैं, वे इस तरह—

१. लब्धि अपर्याप्ताकी व्याख्या—जो जीव स्वयोग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण किये बिना ही मृत्यु पाएँ वे जीव पूर्वभवमें बांधे गए अपर्याप्त नाम कर्मके उदयसे, जब लब्धि अपर्याप्त हों तब एकेन्द्रियके पर्याप्ति चार, फिर भी चार पूर्ण न करके तीन पूर्ण करके ही [चल्ती चौथीमें] मरण पा जाए, उसे लब्धि अपर्याप्त एकेन्द्रिय कहा जाता है। यहाँ इतना समझना कि तीनों पर्याप्तियोंको तो कोई भी जीव पूर्ण करता ही है लेकिन चौथी (एके० को) अथवा चौथी, पाँचवीं [विकलेन्द्रिय, असंज्ञी पंचे० को] अथवा चौथी, पाँचवीं, छठी ये तीन पर्याप्तियाँ [संज्ञी पंचे० को] अधूरी ही रह सकती हैं।

२. लब्धि पर्याप्ताकी व्याख्या— जो जीव स्वस्वयोग्य जो जो पर्याप्तियाँ हों, उन्हें पूर्ण करके ही मृत्यु पाए उन जीवोंको [पर्याप्ति पूर्ण करनेके बाद या पहले भी] लब्धि पर्याप्ता कहा जाता। वे पूर्वभवबद्ध पर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे ही स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण कर सकनेको समर्थ बनते हैं।

५११. प्रथमकी तीन पर्याप्तियोंको सर्व जीव अवश्य पूर्ण करते हैं और शेष पर्याप्तियोंको करें या न करें। इसका कारण यह है कि जीव भवमें वर्तित हो वहाँसे परभवका आयुष्य बांधनेके बाद अन्तर्मुहूर्त्त उसी भवमें रहकर फिर मृत्यु पाकर परभवमें उत्पन्न होता है। क्योंकि परभवायुष्य प्रस्तुत भवमें ही बंधता और इसीसे उस परभवका स्थान यहाँ नियत करके ही जीवकी मृत्यु होती है। अब आयुष्यका बंध इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण करनेके पहले होता ही नहीं, इस कारणसे प्रथमकी तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करनेके बाद चौथी अधूरी रहे तब (अन्तर्मुहूर्त्त तक आयुष्यका बंध करके उसका अन्तर्मुहूर्त्त अवाधकाल भोगने जितना जी कर) मरण पाता है अतः चौथी पर्याप्ति अधूरी ही रहती है, इसलिए।

सूचना—५११. के बाद सीधा टिप्पण नं. ५२१ समझना, बिचके १० के टिप्पण नंबर रद्द समझना। क्योंकि अमाऊ २४ पक्षे जो छपे थे वे गूम हो जानेसे नया लिखना पडा, जिससे पुरानेमें दूसरे क्या टिप्पण मने किये थे, वे याद नहीं हैं।

३. करण अपर्याप्ताकी व्याख्या—जिस जीवने स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण अभी तक नहीं की है, परंतु वह उसे पूर्ण करेगा ही, लेकिन वहाँ तक वह करण अपर्याप्ता ही कहा जायेगा। इसका तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति स्थानमें समकाल पर स्वयोग्य पर्याप्तिकी रचनाका जो प्रारंभ हुआ है वह जहाँ तक समाप्त नहीं होता वहाँ तक जीव करण अपर्याप्ता माना जाता है।

पूर्वोक्त लब्धि अपर्याप्त-पर्याप्त- इन दोनों जीवोंमें करण अपर्याप्तापन होता है, अर्थात् लब्धि-अपर्याप्ता जीवोंके लिए बहता था, अर्थात् मृत्यु और उत्पत्तिके बीचके समय पर और इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण न हो वहाँ तक उन्हें करण अपर्याप्ता कहा जाता है।

इसी प्रकार लब्धि पर्याप्ता जीव एक भवमेंसे दूसरे भवमें जब पसार होता है वहाँसे लेकर छः पर्याप्तिकी पूर्ण प्राप्ति नहीं कर सकता है वहाँ तक उसे करण अपर्याप्ता माना जाता है। इसमें लब्धि पर्याप्ता जीव तो प्रथम करण अपर्याप्ता होनेसे जब भी वह पर्याप्तिको पूर्ण करेगा तब करण पर्याप्ता तो बनेगा ही, जबकि लब्धि अपर्याप्ताके लिए तो करण पर्याप्ताका सवाल उठता ही नहीं है।

४. करण पर्याप्त-समकालमें प्रारंभकी हुई स्वयोग्य सर्व पर्याप्तियोंको पूर्ण करनेके बाद ही जीव करणपर्याप्ता कहा जाता है। यह सब देखते हुए हमें यह जरूर लगता है कि लब्धि पर्याप्ता ही करण पर्याप्ता हो सकता है।

लब्धि, करण, पर्याप्त-अपर्याप्तकी काल विवक्षा

१. जीवका लब्धि अपर्याप्तापनका काल, भवके प्रथम समयसे [जीव पूर्वभवसे छूटता है उसी समयसे लेकर] उत्पत्ति स्थानमें आकर इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण नहीं करता वहाँ तक का अर्थात् कुल मिलाकर अन्तर्मुहूर्त्तका होता है। जिससे रास्ते पर चलते समय अर्थात् मृत्यु और उत्पत्ति (जन्म)के बीचके समयमें भी जीव लब्धि अपर्याप्त होता है। इस समय इसका भी जघन्योत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त्तका होता है।

२. लब्धि पर्याप्तपनका काल उत्पत्तिके समयसे लेकर अर्थात् पूर्वभवसे छूटता है वहाँसे लेकर नये जन्मके अन्त्य समय तक अर्थात् जीव जहाँ तक जिन्दा रहता है वहाँ तक का रहता है। इसमें यहाँ देवोंके लिए उत्कृष्टकाल तैंतीस सागरोपमका तथा मनुष्योंके लिए तीन पर्योपमका समझें। अतः राह पर चलता हुआ जीव अर्थात् मृत्यु और उत्पत्ति

के बीचके समयका जीव भी लब्धि पर्याप्ता कहा जाता है। शास्त्रमें भी जहाँ जहाँ पर्याप्ता जीव बताया गया है, उन्हें लब्धि पर्याप्ता ही समझें। और जहाँ अपर्याप्ता कहा है वहाँ इन्हें प्रायः लब्धि अपर्याप्ता ही जानें। क्योंकि वचनित् करण अपर्याप्ताकी अपेक्षा रखकर भी त्रिवक्षा की गयी है इसलिए यहाँ स्पष्ट करना जरूरी है। लब्धि पर्याप्ताका उत्कृष्टकाल व्यापक दृष्टिसे सागरोपम शतपृथक्त्व कहा गया है, जबकि जवन्य अन्तर्मुहूर्त्तका होता है।

३. करण अपर्याप्तापनका काल भवके प्रथम समयसे लेकर स्वयोग्य सर्व पर्याप्ति पूर्ण नहीं करता वहाँ तक अर्थात् कुल मिलाकर अन्तर्मुहूर्त्तका रहता है। इतना ही नहीं, अपनी राहपर चलता हुआ जीव भी करण अपर्याप्ता माना जाता है इसका भी ध्यान रखें।

४. करण पर्याप्तपनका काल अन्तर्मुहूर्त्त न्यून अपने-अपने आयुष्यके प्रमाण जितना ही समझा जाना चाहिये। क्योंकि जीव विवक्षित भवमें आकर अन्तर्मुहूर्त्तके बाद पर्याप्तियाँ पूर्ण करने पर करण पर्याप्ता बनता है। इसलिए लब्धि पर्याप्ताके आयुष्यमेंसे पर्याप्ति पूर्ण करनेका अन्तर्मुहूर्त्त काल छोड़कर शेष पूर्ण जीवन तकका काल [देवोंमें जिस प्रकार अन्तर्मुहूर्त्त न्यून ३३ सागरोपम तथा मनुष्यमें अन्तर्मुहूर्त्त न्यून ३ पर्योपम रहता है इसे] करण पर्याप्ता समझना चाहिए।

लब्धि अपर्याप्त	भवके प्रथम समयसे	अंतर्मुहूर्त्त तक ।
लब्धि पर्याप्त	भवके प्रथम समयसे	स्व आयुष्य तक ।
करण अपर्याप्त	भवके प्रथम समयसे	अंतर्मुहूर्त्त यावत् ।
करण पर्याप्त	अंतर्मुहूर्त्त न्यून	स्व आयुष्य पर्यन्त ।

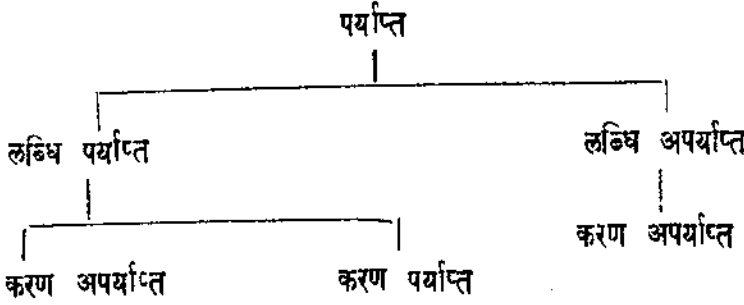
चारों प्रकारोंमें समकाले एक साथ कितने संभवित हो सकते हैं ?

१. जीव लब्धि अपर्याप्त होता है उसी समय तो ठीक है कि वह लब्धि अपर्याप्त तो है ही, लेकिन उस समय करण अपर्याप्तपन भी घट सकता है। इन्द्रिय पर्याप्ति पर पर्याप्ताकी अपेक्षा करण पर्याप्तपन भी घटे।

२. लब्धि पर्याप्ताके समय लब्धि पर्याप्त तथा करण अपर्याप्त होते हैं।

३. करण अपर्याप्तामें करण अपर्याप्तके साथ लब्धि अपर्याप्ता और लब्धि पर्याप्ता होते हैं।

४. करण पर्याप्तामें करण पर्याप्त लब्धि पर्याप्ता पूर्ववत् अपेक्षासे लब्धि-अ. प. भी होता है।



पर्याप्तिका प्रारंभ समकाल पर और समाप्ति अनुक्रम पर

जीव उत्पत्ति स्थानमें आनेके बाद स्वयोग्य सर्व पर्याप्तिका प्रारंभ [एक साथ] समकाल पर ही करने लगता है, परंतु उसकी समाप्ति अनुक्रमसे करता है, क्योंकि तैजस, कार्मण शरीरके सहकारसे आत्माने उत्पत्ति स्थानमें प्रथम समय पर शुक्र, रुधिरादि जो जो पुद्गल ग्रहण किये, उनके द्वारा ग्रहण किये और अन्य ग्रहण किए जाते और अबसे ग्रहण होनेवाले पुद्गलोंको भी, खलरसपनसे अलग करनेकी शक्ति प्राप्त हो गई। अतः आहार पर्याप्तिकी परिसमाप्ति हुई सही, परन्तु प्रथम ग्रहण किए गए उन पुद्गलोंने शरीर आदिकी रचना कुछ अंशमें प्राप्त की परन्तु संपूर्ण नहीं, अर्थात् प्रथम समयग्रहीत पुद्गलोंमेंसे कतिपय खलपनसे, कतिपय रसपनसे [सात घातुपनसे], कतिपय इन्द्रियपनसे, कतिपय श्वास उच्छ्वास कार्यमें, कतिपय भाषाके कार्यमें और मनःकार्यमें सहायकपनसे परिणत हुए हैं और उतने अल्प अल्प पुद्गलों द्वारा आत्माको उस उस कार्यमें कुछ अंशमें शक्ति प्राप्त हुई है उस कारणसे सर्व पर्याप्तियाँ समकाल पर शुरु होती हैं ऐसा कहा जाता है, लेकिन हरेककी समाप्ति तो अनुक्रमसे ही होती है।

पर्याप्तियाँ क्रमशः समाप्त क्यों होती हैं ?

छहों पर्याप्तियोंका समकाल पर प्रारंभ होने पर भी अनुक्रमसे पूर्ण होनेका कारण आहारादिक पर्याप्तियोंके पुद्गल अनुक्रमसे सूक्ष्म-सूक्ष्मतर परिणामवाले रचने पड़ते हैं तब, अर्थात् पहली आहार पर्याप्ति स्थूल, दूसरी शरीर पर्याप्ति उससे सूक्ष्म, इस तरह यावत् छठी पर्याप्ति अधिक अधिक पुद्गलोपचयसे सूक्ष्मतर होता है और अधिक अधिक पुद्गल प्राप्त करनेमें काल भी अधिक लगता है।

उदाहरणके तौर पर-जिस तरह सेर रुई कातनेका छहों कातनेवाली समकाल पर कातने लगे, तो भी मोटा सूत कातनेवाली अंटा जल्दी पूर्ण करती है और उससे सूक्ष्म सूक्ष्मतर कातनेवाली क्रमशः अंटा विलंबसे पूर्ण करती है, वैसा पर्याप्तियोंकी समाप्तिमें समझना है।

चारों गति आश्रयी पर्याप्तिक्रम

औदारिक शरीरी मनुष्य और तिर्यच इन दो गतिके तमाम जीवोंकी प्रथम आहार पर्याप्ति एक समयमें ही पूर्ण होती है और उसके बाद अन्तर्मुहूर्त्त अन्तर्मुहूर्त्तकाल पर अनुक्रमसे शेष शरीर-इन्द्रिय आदि पांचों पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं। सबका सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त्त होता है, क्योंकि अन्तर्मुहूर्त्त-काल के माप-प्रकार असंख्य हैं।

वैक्रिय शरीरी ऐसे देव, नारक आहार पर्याप्ति प्रथम समयमें पूर्ण करते हैं, शरीर पर्याप्ति एक अन्तर्मुहूर्त्तमें, और शेष चार अनुक्रमसे एक एक समयके अन्तरमें समाप्त करते हैं।

यहाँ सिद्धान्तमें देवको भाषा तथा मनकी पर्याप्ति समकाल पर एक साथ समाप्त होनेका बताया है, उस अपेक्षासे देवको छः नहीं लेकिन, पांच पर्याप्तियाँ बताई हैं। जीव उत्तर-वैक्रिय शरीर बनावे तब और कोई चौदहपूर्वधर आहारक शरीर रचे तब पर्याप्तिका क्रम देवकी पर्याप्तिकी व्याख्या अनुसार समझना।

उत्तरदेहके लिए पर्याप्तिकी भिन्न रचना

कोई लब्धिवंत जीव उत्पत्तिस्थानमें आकर अपने मूल शरीरकी रचनाके समय पर स्वयंभ्य चार अथवा छः पर्याप्तियोंको ही समाप्त करता है। उन पर्याप्तियोंसे वह जीव सारे भव पर्यन्त पर्याप्ता गिनाता है। परन्तु वैक्रियादि लब्धिवाला वह जीव प्रस्तुत पर्याप्तावस्थामें जिस नूतन शरीर अर्थात् वैक्रिय शरीरको बनावे, तब उसी शरीर योग्य चार अथवा छः पर्याप्तियाँ जो रचनी पड़ें उन्हें फिरसे नये सिरेसे ही रचता है। उत्पत्तिके समय पर रची पर्याप्तियाँ उत्तमशरीरके लिए उपयोगी नहीं होतीं।

जिन लब्धि पर्याप्ता बादर वायुकाय जीवोंमेंसे कतिपय वायुकाय जीव वैक्रिय शरीर रचनेमें समर्थ हैं, उन्होंने उत्पत्तिके समय पर औदारिक शरीर विषयक जो चार पर्याप्तियाँ रची थीं वे विद्यमान होने पर भी दूसरा नूतन उत्तरवैक्रिय शरीर रचते समय फिरसे नई ही चार पर्याप्तियोंको रचनी पड़ती हैं।

इसी तरह आहारक शरीरकी लब्धिवाला लब्धिवन्त *चौदह पूर्वधर महात्माको आहारक शरीर रचने पर उत्पत्ति समयकी औदारिक विषयक छः पर्याप्तियाँ शरीर रचनामें काम नहीं आती इसके लिए तो उन्हें आहारक देहके योग्य नयी छः पर्याप्तियोंकी रचना करनी ही पड़ती है।

* आहारक शरीर चौदह पूर्वधरकी लब्धिवाला ही रच सकता है।

तात्पर्य यह कि वैक्रियलब्धिवन्त मनुष्योंके मूलदेहकी छः पर्याप्तियाँ अलग और उत्तर वैक्रिय देहकी छः पर्याप्तियाँ भिन्न होती हैं ।

पर्याप्ति विषयक पुद्गल कौनसे मानना ?

छहों पर्याप्तिथोंके पुद्गल औदारिक शरीरीको औदारिक वर्गणाके, वैक्रिय शरीरीको वैक्रिय वर्गणाके और आहारकको आहार वर्गणाके होते हैं । प्रथम समय पर ग्रहण किये जाते आहार पर्याप्तिके पुद्गलोंमें तीनों ही वर्गणाओंमेंसे होते हैं । आहारक शरीर और मनः पर्याप्तिके पुद्गल शरीरमें सर्वत्र व्याप्त हैं । उच्छ्वास, भाषा पर्याप्तिके पुद्गलका स्थान अकथ्य है । इन्द्रिय पर्याप्तिका स्थान शरीरके नियत किये गए (शरीरके ऊपर और अंदर) भागमें है । विशेषमें जीभ-जिह्वा इन्द्रियके पुद्गल बाह्याकारमें दीगती जीभके स्थानवर्ती ही होते हैं । लेकिन समग्र शरीरमें नहीं ।

छहों पर्याप्तियाँ पुद्गल स्वरूप हैं वह

पर्याप्ति पुद्गल स्वरूप है और वह कर्तात्माके करण-साधनरूप है । तथा उस करणसे, संसारी आत्माको आहार ग्रहणादि सामर्थ्य-शक्ति पैदा होती है और वह करण-शक्ति जिन पुद्गलों द्वारा रची जाती है वे आत्मासे ग्रहण किये गए पुद्गल जो तथाविध परिणतिवाले हैं [कारण कार्यभावसे] उन्हें ही पर्याप्त शब्दसे बोला जाता है और इस हेतुसे ही ये सारी जीव-शक्तियाँ पुद्गल जन्य हैं क्योंकि जीवके सर्व कुछ पौद्गलिक व्यापार उस पुद्गल समूहको अवलंबित ही हैं । अगरचे जीवकी स्वयं शक्ति अपार और अवाच्य है, परंतु वह सिद्धावस्थामें है, जबकि संसारीमें वह शक्ति पुद्गल द्वारा प्राप्त होनेके कारण वह पौद्गलिक है । 'द्रव्य निमित्तं हि संसारीणां वीर्यमुपजायते' इस प्रमाणसे ।

प्राणका कारण पर्याप्ति-पुनः इन पर्याप्तिओंकी रचना होनेसे उसमेंसे अगली गाथामें कहे जाते जीवके दस प्राण उत्पन्न होते हैं । अतः कारणरूप ऐसी पर्याप्तिका कार्य प्राण ही है । इस तरह पर्याप्तियाँ और उन सम्बन्धित बाबतोंका वर्णन पूर्ण हुआ ।

पर्याप्तिके अनुसंधानमें कुछ कहने लायक

दृश्य अदृश्य अखिल (चौदहराजलोकरूप) विश्वमें दो प्रकारके जीव हैं । एक सिद्ध और दूसरे संसारी । सिद्धात्माएँ इस संसारसे (देव, मनुष्य, नरक, तिर्यच गति रूप) सर्वथा मुक्त हुई होती हैं । अब पुनः वे कभी जन्म नहीं लेतीं ऐसी आत्माओंको सिद्धात्माएँ या सुवितगामी आत्माएँ कहते हैं ।

इन जीवोंका स्थान कहाँ है? इसके समाधानमें जणानेका यह कि ये जीव जो मोक्ष पाकर सिद्ध बन गए वे इस ब्रह्मांडमें चौदह राजलोकमें असंख्य आकाशको बेधकर ऊर्ध्वतिऊर्ध्व—अकरूपनीय इतनी दूर—सुदूर जाँ (शास्त्रदृष्टिसे सातराज दूर) तब अखिल विश्वके चरम भाग पर पथरकी बनी ४५ लाख योजनकी गोलाकार विराट् शिला आकाशमें ऊँची रही हैं, उसके पर अनंतानंत, सदाके लिए विदेही—देहरहित असंख्य प्रदेशरूप प्रमाणवाली, विविध आकारकी, आत्माएँ अनंत काल तक एक ही स्थानमें रहनेवाली बनी रहती हैं। वहाँ पहुँची हुई को कभी किसी कालमें वहाँसे जन्म लेनेको इस संसारमें अवतार नहीं लेना पड़ता। शरीर है तब तक ही संसार है। तब तक सारे बंधन और दुःख है। संसार है इसलिए कर्म है। जहाँ कर्म है वहाँ चारों गतियाँ—स्थान देव, मनुष्य, नरक, तिर्यचमें परिभ्रमण है। और तब तक बंधनों और विविध दुःखोंकी प्राप्ति है। आत्मा सत्प्रयत्नों, सत्कर्माँद्वारा जिस भवमें—जन्ममें कर्मका सर्वथा अन्त ला दे तब वह सीधी मोक्षमें पहुँच जाती है। और सिद्धशिला पर, शिलासे थोड़ी दूर रहे आकाशवर्ती स्थानमें जहाँ अनंतानंत आत्माएँ अनन्ता कालसे ज्योतिमें ज्योति समा जाए उस प्रकार रही हैं उसमें वे समा जाती हैं। फिर भी प्रत्येक सिद्धात्माको व्यक्तिरूपसे तो सदाकाल स्वतंत्र रूपमें ही समझना।

हम देख आए कि जो कर्मसे लिप्त हैं। वे ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक्लोकमें (त्रस-नाडीमें) तथा उसके बाहर घूमा करते हैं। शक्ति दोनों प्रकारमें है। एकमें चैतन्य शक्तिका पूंज है। दूसरेमें पौद्गलिक शक्ति है। यह शक्ति पुद्गल द्रव्यके सहारे या निमित्तसे प्राप्त होती है।

संसारी जीव मात्र वह सूक्ष्म हो या स्थूल, स्थावर हो या त्रस वह जहाँ जहाँ जन्म ले वहाँ वहाँ जीवन निर्वाहके लिए, भावि जीवन निभानेके लिए, जीवनके आवश्यक कार्य करनेके लिए पुद्गल जन्य शक्ति—बल प्राप्त करनेकी उसे अनिवार्य जरूरत पड़ती है, अर्थात् उस उस जन्मके योग्य शक्तियाँ जन्मनेके साथ ही प्राप्त करनी पड़ती हैं। अगर उन्हें प्राप्त न करे तो वह उन कार्योंको कदापि नहीं कर सकता, और कुछ भी व्यवहार चला नहीं सकता। इन शक्तियोंको प्राप्त करनेका प्रारंभ पर्याप्तियों द्वारा होता है। जैसे कि—जीव आहार पर्याप्तिकी शक्ति प्राप्त न करे तो आहार करनेको समर्थ न बने, उस तरह शरीर या इन्द्रियोंको न बना सके, श्वासोच्छ्वास न ले सके, बोल न सके,

विचार न कर सके। इन सब कार्योंके लिए जीव जिन जिन बलोंको उपस्थित करे उसीका दूसरा नाम *पर्याप्ति।

इस पर्याप्ति रूप करण-साधन विशेषकी मददसे जीव इन ताकतोंको खड़ी करने में समर्थ बना। ये शक्ति-ताकत पुद्गल द्रव्यके निमित्तसे ही प्रकट होती हैं।

पर्याप्ति एक प्रकारके कर्मका ही प्रकार है। कारण के बिना कार्य नहीं होता। जीव कारण रूपमें कर्मको ही मानता है। पाठकोंको यह मुद्दा खास ध्यानमें रखना चाहिए।

पर्याप्तियाँ पूर्ण होने पर क्या क्या शक्तियाँ प्राप्त हों ?

ऊपर बताया कि उन उन पर्याप्तियों द्वारा उस उस प्रकारके बल प्राप्त करता है तो वह किन किन शक्तियोंको प्राप्त करता है और उन शक्तियोंसे क्या क्या कार्य बजाता है, इसे विस्तारपूर्वक देखें।

१. आहार पर्याप्ति पूर्ण होने पर आहार ग्रहण करनेकी शक्तिके साथ ग्रहण किये गए आहारके परिणमनके साथ उसे खल (अर्थात् जिन जरूरी मलमूत्रादि भाग और) रस (और जरूरी भाग) रूपमें अलग करनेकी क्रियामें जीव समर्थ बनता है।

२. उसके बाद तुरंत शरीर पर्याप्ति पूर्ण करने पर क्या हो? उससे शरीरकी विविध क्रियाएँ, देहके योग्य और पोषक ऐसे रोमराजी द्वारा ग्रहण किए जाते लोमाहारको और मुख द्वारा लिए जाते कवल आहार रूप पुद्गलोंको शरीररूपमें परिणत करनेकी अर्थात् बनानेकी क्रियामें जीव समर्थ बन जाता है।

३. इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने पर पांचों इन्द्रियोंके विषय बोधमें जीव समर्थ बनता है अर्थात् स्पर्श किस प्रकारका है? उसका स्वाद कैसा है? उसकी गंध कैसी है? विषय दर्शन कौनसा है? और श्रवण ध्वनि काहेकी है? इन पांचों विषयोंका ज्ञाता बन सकता है।

४. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण होने पर श्वासोच्छ्वास लेनेकी (तत्प्रायोग्य पुद्गलों का ग्रहण-परिणमन और विसर्जन-लेने छोड़नेकी) क्रियामें जीव समर्थ बनता है और यह

* रोजबरोजकी अविरत होती शारीरिक क्रियाओंके लिए जिन शक्तियोंकी जरूरत पडती है उसका दूसरा नाम पर्याप्ति है। दूसरा अर्थ कारणमें कार्योंपचार करके शक्तिको उत्पन्न करनेमें कारणभूत पुद्गलोपचय भी पर्याप्ति है। तत्त्वार्थभाष्य-वृत्तिकी व्याख्या यह है कि शक्तिमें निमित्तभूत पुद्गलोपचय सम्बन्ध क्रियाकी परिसमाप्ति। इस तरह शक्ति-सामर्थ्य, शक्तिके जनक पुद्गल और उस क्रियाकी परिसमाप्ति इस तरह तीन अर्थ फलित होते हैं।

होते ही श्वासोच्छ्वास 'प्राण' नामके भेदका सर्जन होता है इसीलिए पर्याप्तिको कारणरूप और प्राणोंको उसके कार्य रूप माने हैं। जो बात आगेकी गाथामें आनेवाली ही है।

५. भाषा पर्याप्ति पूर्ण होने पर जीवको बोलनेकी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है।

६. मनःपर्याप्ति पूर्ण होने पर विचार, चिंतन, मनन आदि मनके व्यापार करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है और परिणाम स्वरूप 'मनोबल' नामका (दस प्राणमेंसे एक) प्राण जन्म लेता है।

शरीर पर्याप्तिसे 'कायबल' नामका प्राण। इन्द्रिय पर्याप्तिसे पांच इन्द्रिय रूप पांच प्राण। भाषा पर्याप्तिसे 'वचनबल' रूप प्राण और मनः पर्याप्तिसे 'मनोबल' रूप प्राण पैदा होते हैं। 'आयुष्य' नामका प्राण उत्पन्न करने कोई शक्ति प्राप्त करनेकी जरूरत न होनेसे कारणरूपसे किसी नई पर्याप्तिकी अगत्य नहीं रहती फिर भी आहार पर्याप्ति आयुष्य प्राणको टिकाने में मुख्य कारण रूप होनेसे उसे सहकारी कारण रूपमें मानी जा सकती सही।

तत्त्वार्थभाष्य वृत्तिके आधार पर छः पर्याप्तिओंकी विशिष्ट समझ

१. एक घर बनाना हो तो प्रथम ईंटें, लकड़े, माटी, चूना आदि सामग्री एक साथ एकत्र की जाती है। यह सारी सामग्री घरके दलिक अर्थात् साधन रूपमें है। इस सामग्रीमेंसे कौनसी कहाँ उपयोगमें लेना वह क्रमशः निश्चित किया जाता है।

इस तरह यहाँ उत्पत्ति स्थानमें उत्पन्न होता जीव प्रथम समय पर उस उस योग्यता-वाले विविध रीतसे उपयोगी पुद्गलोंको सामान्यरूपमें ग्रहण करे उसका नाम आहार पर्याप्ति। इस पर्याप्तिके समय अनेक कार्योंका प्रारंभ होता है।

२. अब जैसे घरके लिए एकत्र की गई उस सामग्रीमेंसे जो लकड़ा था उसमेंसे इसका पाट, इसका स्तंभ, इसकी बारी बनेगी ऐसा सोचा जाता है, वैसे प्रथम समय पर ग्रहण किए गए पुद्गलोंमेंसे अमुक पुद्गल शरीर वर्गणा योग्य होनेसे उन पुद्गलोंसे शरीर बनता होनेसे जीव शरीरको बनानेमें समर्थ बनता है। परिणाम स्वरूप उस समय घरकी लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई, मोटाई निश्चित होती है, इस तरह यहाँ शरीरका स्वरूप निश्चित होता है।

३. उसके बाद घरमें कितने दरवाजे रखना? कहाँ रखना? निर्गमनके दरवाजे कहाँ रखना इसका निर्णय किया जाता है। साथ ही इन्द्रिय पर्याप्ति द्वारा अवेश करना, निकलना आदि मार्ग निश्चित होते हैं।

४-५. उच्छ्वास, भाषामें भी तत्प्रायोग्य पुद्गलोंका गमनागमन होता ही है। अतः उसकी घटना इन्द्रिय पर्याप्तिके साथ घटित होनेसे उस प्रकार समझ लेना।

६. मुकाम तैयार होनेके बाद दीवानखाना, बैठकका कमरा, सोनेका, भोजनका स्थान कहाँ रखना आदि हिताहितकी दृष्टिसे सोचकर जैसे निश्चित किया जाता है वैसे पांच पर्याप्ति रचकर फिर अपने हिताहितकी दृष्टिसे किस प्रकार चलना, किस तरह सारा व्यवहार करना इसके लिए विचारशक्ति रूप मनःपर्याप्तिकी जरूरत पड़ती है।

इस तरह पर्याप्तियोंकी घरके साथ घटना बताकर समझ दी गई।

क्या मन पर्याप्तिरूप नहीं है ?

तत्त्वार्थग्रन्थमें मनः पर्याप्तिको इन्द्रिय पर्याप्तिमें गिनकर पांच पर्याप्तियोंका वर्णन किया है। व्यवहारमें भी मनको छठी इन्द्रिय संबोधित की जाती है। शंका हो कि मन तो अनिन्द्रिय है तो उसे इन्द्रिय कैसे गिना जाए ? इसका जवाब यह है कि इन्द्रियोंकी तरह मन साक्षात् किसी विषयका ग्राहक नहीं है अतः उसे स्पष्ट रूपसे इन्द्रिय नहीं कहा जाता, लेकिन सुखादि वगैरहका साक्षात् अनुभव वह करता होनेके कारण उस अपेक्षासे और साथ ही मन, इन्द्र अर्थात् आत्मा और उसका लिंग-लक्षण होनेके कारण इस अर्थकी दृष्टिसे इन्द्रिय कही जाती है। इस दृष्टिसे इन्द्रिय पर्याप्तिमें समावेश किया जा सकता है।

आहार पर्याप्तिकी दूसरी व्याख्या— तत्त्वार्थभाष्यकारने की आहार पर्याप्तिकी व्याख्या अलग रीतसे है। वे बताते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, भाषा आदि सारी पर्याप्तियोंके योग्य दलिक द्रव्योंको ग्रहण करने रूप क्रियाकी समाप्ति वह आहार पर्याप्ति।

सबका प्रारंभ साथमें, अन्त साथमें नहीं—छः पर्याप्तियोंमें प्रथमकी तीन पर्याप्तियों—शक्तियोंका कार्य तो प्रथम समयसे ही शुरु हो जाता है जबकि उच्छ्वासादि अन्तिम तीन पर्याप्तियोंका कार्य उन उन वर्गणाओंके ग्रहण, उन उन पुद्गलोंकी रचनाके बाद होता है। परंतु तीनोंका प्रारंभ तो प्रथम समयसे ही शुरु हो जाता है।

प्रथम समय पर सामान्य स्वरूपमें ग्रहण किए जाते पुद्गलोंमेंसे जीव कुछको शरीर रूपमें उपयोगमें लेता है, कुछका इन्द्रियोंकी रचनाके काममें उपयोग करता है, कुछको उच्छ्वास करण, भाषाकरणरूपमें और कुछको मनःकरणरूपमें उपयोगमें लेता है। पुद्गल

ग्रहणके समय छः रचना या कार्योंके लिए उपयोगी पुद्गलोंको उपयोगमें लेता जाता है और बिन उपयोगी हों उन्हें साथ साथ ही छोड़ता जाता है ।

इस तरह छहों पर्याप्तियोंके पुद्गलोंकी रचनाका प्रारंभ तो प्रथम समयसे ही शुरू होता है । लेकिन समाप्ति साथमें नहीं होती इसे ध्यानमें रखना चाहिए । [३३८]

अवतरण—यह गाथा पर्याप्तिके अर्थ रहस्यका प्रतिपादन करता है । अगरचे इसके पहलेकी गाथाओंमें पर्याप्तिके बारेमें बहुत ही चर्चा हो गई है । लेकिन वह टीका या ग्रन्थान्तरसे भाव द्वारा की । लेकिन संग्रहणीकर्ता को तो संग्रहणी की मूलगाथा द्वारा पर्याप्तिका अर्थ कहना था, जो इस गाथाके पहले कहा ही नहीं गया था । वह अर्थ कुछ विशेषरूपमें मूलगाथा द्वारा बताते हैं ।

आहारसरीरिदिय, ऊसासवउमणोभिनिव्वत्ति ।

होइ जओ दलियाओ, करणं पइ सा उ पज्जत्ती ॥ ३३९ ॥

गाथार्थ— दलियारूप पुद्गल समूहसे आहारादि छः कार्योंकी रचना होती है उन दलिकोंका अपने अपने विषयरूप जो परिणमन और उस परिणमनके प्रति शक्तिरूप जो करण वह पर्याप्ति । इनमें जीव कर्ता, पुद्गलोपचयोत्पन्न शक्ति वह करण तथा आहारादि परिणमन वह क्रिया है । यह गाथा क्लिष्टार्थक है । ॥ ३३९ ॥

विशेषार्थ—गाथाके अर्थसे यह स्पष्ट होता है कि कर्तारूप 'जीव' है । पुद्गलोपचय शक्ति वही 'करण' है और आहारादिका परिणमन वह 'क्रिया' है ।

ग्रन्थान्तरगत बताए गए पर्याप्तिके विभिन्न अर्थ

१. आहार आदि पुद्गलोंको ग्रहण करनेमें और तद्रूप परिणाम लानेमें पर्याप्ति नाम कर्मके उदयसे पुद्गलोपचय द्वारा उत्पन्न हुई जीवकी जो शक्ति वह ।

२. शक्तिके आलंबन-कारणरूप जो पुद्गल वे ।

३. शक्तिकी और शक्तिके कारणभूत पुद्गल समूहकी निष्पत्ति वह ।

४. उन उन शक्तियोंके कारणभूत पुद्गल समूहकी क्रियाकी परिसमाप्ति ।

यह पर्याप्ति अर्थात् (अपेक्षासे) एक प्रकारकी आत्मशक्ति । वह शक्ति पुद्गल समूहके आलंबनसे होती है । आत्मा विवक्षित भवमें उत्पन्न हुई कि कोथलेमें प्रक्षिप्त अग्निकी तरह जीव तुरंत ही प्रतिस्मय आहार और शरीरादिके निर्माणके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करने लगता है । और फिर वह कार्य जीवन पर्यंत चालू रहता है । लेकिन उस

आहारादि पुद्गल समूहके ग्रहण द्वारा प्रत्येक आत्मा साथ साथ यथायोग्य समयमें ही आवश्यक अन्य जो कार्यों "११" उन्हें भी करनेके लिए छः प्रकारकी शक्तियोंको (अग्नि-पावर) तैयार कर लेती है। और इन छः शक्तियोंके द्वारा ही छः क्रियाओंका कार्य आजीवन शक्य बनता है। इन छः प्रकारकी शक्तियोंको (पावरोंको) उत्पत्तिके एक ही अंतर्मुहूर्त्तमें तैयार कर लेती है। जो जिंदगी तक कार्यरत रहती ही हैं। [३३९]

श्री भीडभंजनपार्श्वनाथाय नमः

पर्याप्ति विषयक स्पष्ट तारण—परिशिष्ट नं. १२

टिप्पणी—पर्याप्तिके विषयमें बहुत विशद् विवेचन दिया जा चुका है। परंतु उसका तारण करके स्पष्टतापूर्वक और सरल करके दिया जाए तो इस विषयको समझना अधिक सुगम हो जाए। अतः छूट पूट तात्पर्यों द्वारा यहाँ प्रस्तुत किया है। पर्याप्ति* और नामकर्मकी प्रकृतियोंका क्या सम्बन्ध है वह भी समझमें आएगा।

*

कोई भी जीव एक भवमेंसे च्यवित होकर (मरकर) एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय या बहुसंखि पंचेन्द्रियके भवमेंसे किसी भी भवमें उत्पन्न हो कि तुरंत ही वह भवप्रायोग्य, आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, श्वासोच्छ्वासपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति इन छहों पर्याप्तियोंका अथवा जिस भवमें जितनी पर्याप्तियाँ हों उतनी पर्याप्तियोंका उत्पत्तिके प्रथम क्षणसे ही उस जीवको प्रारंभ होता है। आत्मा जिस क्षण उत्पत्तिस्थानमें आती है उसी क्षणसे किन किन पुद्गलोंका किस किस कारणसे उसे ग्रहण होता है और ग्रहण होनेके बाद उन पुद्गलोंमें जीवन पर्यंत जिनसे जिया जा सके और जीवका कार्य व्यवहार चल सके ऐसी क्या क्या जीवन शक्तियाँ-पर्याप्तियाँ प्रकट होती हैं उस बाधतका व्यवस्थित क्रम इस तरह है।

इस क्रमके निरूपणका प्रारंभ हो उसके पहले कतिपय मुख्य हकीकतें बताई जाएँ तो क्रमका निरूपण समझनेमें बहुत सुलभता हो।

१. कोई भी संसारी जीवात्मा किसी भी गतिमें से च्यवकर (मरकर) आयुष्यकर्म तथा गतिकर्मके बंधके अनुसार निश्चित रूप उत्पत्तिस्थानमें ऋजुगतिसे अथवा वक्रगतिसे

५२१. प्रतिसमय आहारग्रहण, यथायोग्य धातुरूप शरीर रचना, इन्द्रियोंकी रचना, श्वासोच्छ्वास ग्रहण, वचनोच्चार, मनन-विचार, जीवननिर्वाह के ये छः आवश्यककार्य गिने जाते हैं। अलग अलग जीव आश्रयी इन कार्योंमें न्यूनधिकपन होता है।

* शरीरपर्याप्ति, काययोग, कायबल, शरीरनामकर्म वे चारों क्या है? उनका परस्पर सम्बन्ध है क्या? कार्य कारणभाव है? या भिन्न भिन्न कार्योंके वाचक हैं? इसी तरह श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, श्वासोप्राण और श्वासो० नाम कर्म ये क्या क्या हैं? इत्यादि बावतोंको समझना भी जरूरी है।

जिस क्षण पर आता है उस क्षण पर उस आत्माके कर्मण काययोग अवश्य होता है। किसी भी प्रकारका योग अगर न ही हो तो आत्मा अक्रिय गिनी जाती है और अक्रिय आत्मा किसी भी प्रकारके पुद्गलोंको ग्रहण नहीं करती। कर्मण काययोग अथवा औदारिक काययोग आदि कोई भी काययोग हो तो ही आत्मप्रवेश चलित अवस्थावाले होते हैं और ऐसी चलित अवस्थाके कारण ही आत्मा शरीरादि योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करती है।

२. उत्पत्तिके प्रथम क्षणसे ही प्रत्येक जीवके उस उस भवप्रायोग्य औदारिक शरीर +लब्धि, (देव-नारकीके वैक्रिय शरीर लब्धि) इन्द्रियलब्धि, श्वासोच्छ्वासलब्धि, (दोइन्द्रियसे असंखि पंचेन्द्रिय तक) भाषालब्धि और (संखि पंचेन्द्रियके) मनोलब्धि होनेके साथ उस लब्धिके कारणभूत औदारिक शरीर नामकर्म, वैक्रिय शरीर नामकर्म, श्वासोच्छ्वास नामकर्म, मतिज्ञानावरण-श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम विशेषतः अवश्य होता है।

३. आहारपर्याप्तिका कार्य ग्रहण किए जाने पर शरीर योग्य पुद्गलोंको बल और रसके विभागमें बांटनेका है। रसरूपमें वर्तित पुद्गलोंको सात धातुमय शरीररूपमें परिणत करना शरीरपर्याप्तिका कार्य है। सात धातुरूपमें परिणत हुए पुद्गलोंको उन उन विषयोंको ग्रहण करनेमें और जाननेमें असाधारण कारणरूप वर्तित अभ्यन्तर द्रव्येन्द्रिय (उपलक्षणसे बाह्य द्रव्येन्द्रिय) रूपमें परिणत करना इन्द्रियपर्याप्तिका कार्य है।

४. आहारपर्याप्तिकी अपेक्षा शरीरपर्याप्तिका कार्य सूक्ष्म होनेसे अधिक समयकी जरूरत पड़ती है, शरीरपर्याप्तिकी अपेक्षा इन्द्रियपर्याप्तिका कार्य सूक्ष्मतर होनेसे उससे भी अधिक समय चाहिए।

५. इन तीनों पर्याप्तिओंमें औदारिक अथवा वैक्रिय पुद्गलोंका (आहारक शरीर प्रसंग पर आहारक वर्गणाके पुद्गलोंका) ही ग्रहण और परिणमन है, परंतु बादकी तीन पर्याप्तियोंकी तरह पुद्गल भिन्न भिन्न नहीं हैं।

६. उच्छ्वासलब्धि अर्थात् श्वासोच्छ्वासकी योग्यता संसारी सर्व जीवोंके अवश्य होती है और उसमें कारणभूत श्वासोच्छ्वास नामकर्म भी सर्व संसारी जीवोंके होता है, परंतु श्वासोच्छ्वासकी शक्ति हरेक संसारी जीवमें नहीं होती। (श्वासोच्छ्वास) पर्याप्त नामकर्मके उदयवालोंके ही श्वासोच्छ्वास की शक्ति (और कार्यरूप प्रवृत्ति) होती है। लेकिन (श्वासोच्छ्वास) अपर्याप्त नामकर्मके उदयवालोंके उच्छ्वास लब्धि और उसमें कारणभूत उच्छ्वास नामकर्म होने पर भी श्वासोच्छ्वासकी शक्तिका अभाव होता है।

भाषकलब्धि और मनोलब्धि (विचारलब्धि) इसमें नामकर्मकी तथा अन्य भवतिकर्मकी कोई भी प्रकृति कारण नहीं है, लेकिन ज्ञानावरण-दर्शनावरणका क्षयोपशम इस उभय लब्धिमें कारण हो, ऐसा मानना अधिक उचित लगता है। इन दोनों प्रकारकी लब्धियोंमेंसे भाषकलब्धि दोइन्द्रियसे संखिपंचेन्द्रिय तकके सर्व जीवोंमें होती है और मनोलब्धि

संज्ञिपंचेन्द्रिय जीवोंमें ही हो सकती है। फिर भी दोइन्द्रिय आदि जीवोंमें भाषापर्याप्ति नामकर्मकी अनुकूलता हो और संज्ञिपंचेन्द्रिय जीवोंमें मनःपर्याप्ति नामकर्मकी अनुकूलता हो तो ही भाषक-बोलनेकी शक्ति और विचार करनेकी शक्ति प्रकट होती है। बोलनेकी भाषकशक्तिमें भाषायोग्य पुद्गलोंका ग्रहण, परिणमन, आलंबन और विचारशक्तिमें मनोयोग्य पुद्गलोंका ग्रहण, परिणमन, आलंबन और विसर्जन है।

८. प्रथमकी आहार, शरीर और इन्द्रिय इन तीनों पर्याप्तियोंमें ग्रहण किये गए और उन उन रूपमें परिणत हुए औदारिक आदि पुद्गल औदारिक आदि शरीरके साथ संबद्ध-रूपसे रहते होनेसे इन तीनों पर्याप्तियोंमें ग्रहण और परिणमन ये दो क्रियाएँ थीं। लेकिन श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन तीनों पर्याप्तियोंमें ग्रहण किये गए और उन उन रूपमें परिणत हुए श्वासोच्छ्वासके, भाषाके और मनके पुद्गलोंका औदारिक आदि शरीरके साथ अधिक समय संबंध रहता नहीं है। परंतु निःश्वासरूपमें, वचन रूपमें या विचार रूपमें उन उन पुद्गलोंका विसर्जन होता होनेसे और विसर्जनकी क्रिया आलंबनपूर्वक ही होती होनेसे बादकी तीनों पर्याप्तियोंमें ग्रहण, परिणमन, आलंबन और विसर्जन इस तरह चार क्रियाएँ अवश्य होती हैं।

९. आहार, शरीर और इन्द्रियपर्याप्तिके कार्य करते हुए श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इन तीनों पर्याप्तियोंका कार्य उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर होनेसे बादकी पर्याप्तियोंमें अधिक समय लगता है।

१०. ऊपर बताये कारणसे ही उत्पत्तिके प्रथम क्षणसे ही उस उस भवकी अपेक्षासे वर्तित छः, पांच या चार सारी पर्याप्तियोंका आरंभ समकाल में होता है, परंतु समाप्ति अनुक्रमसे होती है।

११. आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनकी लब्धि यह भिन्न वस्तु है। जबकि आहार, शरीर, इन्द्रिय यावत् मनकी शक्ति अर्थात् पर्याप्ति यह भिन्न वस्तु है, और लब्धि तथा शक्तिके कारणरूप कर्म भी भिन्न भिन्न हैं।

१२. निगोदमें वर्तित भव्य जीवको मोक्षकी लब्धि अर्थात् मोक्षकी योग्यता है, लेकिन मोक्ष पानेकी शक्ति नहीं है। यह शक्ति तो मनुष्यत्व, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि बाह्य अभ्यन्तर अनुकूलता मिले तब ही प्रकट होते हैं। उसी तरह श्वासोच्छ्वास भाषक-मनोलब्धि उन उन जीवोंमें यथायोग्य अवश्य होती है, परंतु उन लब्धियोंका शक्तिरूप प्राकट्य उसे पर्याप्ति नामकर्मकी अनुकूलता हो तो ही होता है। इतने तात्पर्योंको ध्यानमें रखनेके बाद अब पर्याप्ति विषयक क्रमशः निरूपण प्रस्तुत होता है।

*

उत्पत्तिस्थानमें पहुँचनेके साथ प्रथम क्षणमें ही जीव कामेज काययोगकी मददसे औदारिक आदि नाम कर्मांद्यके कारणसे औदारिक आदि शरीर योग्य पुद्गलोंको तथा श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गलोंको (और दोइन्द्रियसे असंज्ञि पंचेन्द्रिय तकका उत्पत्तिस्थान हो तो भाषायोग्य पुद्गलोंको तथा संज्ञि पंचेन्द्रियका उत्पत्तिस्थान हो तो मनोवर्णनाके पुद्गलोंको) ग्रहण करता है।

पुद्गलोंको ग्रहण करनेवाला कर्ता स्वरूप जीव है, ग्रहण होनेवाले औदारिकवि-
पुद्गल कर्म हैं। कामेण काययोग करण है। औदारिक आदि प्रति विशिष्ट पुद्गलोंका
ही ग्रहण हो उसमें औदारिक आदि प्रति विशिष्ट नामकर्मका उदय कारण है। इन
पुद्गलोंके आहरण-ग्रहण करनेको आहार पर्याप्ति गिनी जाती है। उपरांत ग्रहण किये
गए उन उन पुद्गलोंमेंसे निःसार भाग दूर करना और सारभूत विभाग अलग करनेका
नाम भी आहार पर्याप्ति है। इन पुद्गलोंके उपचय द्वारा जो जो शक्तियाँ भविष्यमें
प्रकट करनी हैं, उन शक्तियोंको निःसार पुद्गलोंको दूर करके सारभूत पुद्गलोंमेंसे
प्रकट करनी हैं।

रोटी या रोटा बनाना हो तब आटा लेनेके बाद छलनीसे छानकर थूले जैसा
निःसार भाग निकालकर जो बारीक आटा छलनीसे नीचे पड़ता है उसका कणक बांध-
नेके बाद क्रमशः रोटी बनती है। उस तरह औदारिक योग्य पुद्गल हों या श्वासोच्छ्वास
भाषा किंवा मनोयोग्य पुद्गल हों उन हरेक प्रकारके ग्रहण किए जाते पुद्गलोंमें अमुक
भाग निःसाररूप और अमुक भाग साररूप होता है। उन दोनोंका विभाग करना यह
कार्य भी आहार पर्याप्तिका है। सिर्फ दूसरी पर्याप्तिकी अपेक्षा आहार पर्याप्तिमें एक
विशेषता है कि उत्पत्तिके जिस-प्रथम क्षणमें पुद्गलोंका ग्रहण हुआ उसी क्षणमें
उस आहार पर्याप्ति नामकी शक्तिने ग्रहण होते पुद्गलोंमें सार और निःसार (रस
और खल) ऐसे दो विभाग किए इतना ही नहीं परंतु प्रकट हुई उस आहार पर्या-
प्तिरूप शक्तिने उत्पत्तिके प्रथम क्षणसे जीवनके अंतिम समय तक प्रत्येक समय पर
अथवा जब जब जरूरत लगी तब तब उसके कार्य योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करनेका
तथा साथ साथ उसमें खल और रसका विभाजन करनेका कार्य भी चालू रखा। आहार
पर्याप्ति नामकी शक्ति प्रकट होनेका क्षण उत्पत्तिका प्रथम समय और उस शक्तिका
कार्य प्रथम क्षणसे लेकर जीवनके अंतिम समय तक है। आहार पर्याप्ति कारण है और
जीवनपर्यंत ग्रहण होते पुद्गलोंमें खल और रसका विभाजन कार्य है। इस अपेक्षासे
ही आहारपर्याप्ति (खल और रसको अलग करनेकी शक्ति) प्रकट होनेमें एक समयका
ही काल है।

जिस क्षणमें आत्मा उत्पत्तिस्थानमें आई उसी क्षणमें ऊपर बताए अनुसार औदारिक
आदि पुद्गलोंको ग्रहण करनेका तथा उनमें खल और रसका विभाग करनेका कार्य
हुआ। उत्पत्तिके प्रथम क्षणसे ही सार भाग (रस) रूपमें विभक्त हुए औदारिक आदि
पुद्गलोंको सात धातुरूपमें अर्थात् शरीररूपमें परिणत करनेका कार्य भी शुरु किया।
लेकिन ग्रहण किए गए पुद्गलोंमें खल और रसका विभाग करना उस कार्यकी अपेक्षा
रसीभूत पुद्गलोंको सात धातुरूपमें-शरीररूपमें परिणत करनेका कार्य सूक्ष्म होनेसे एक
दो समयमें उन पुद्गलोंको सात धातुरूपमें परिणत करनेकी शक्ति प्रकट न हुई परंतु
अंतर्मुहूर्त्त तक प्रत्येक समयमें शरीर पर्याप्ति नामकर्मके उदयका असर उन रसीभूत
पुद्गलों पर चालू रहनेके बाद उन पुद्गलोंमें ही एक ऐसी शक्ति पैदा हुई कि उत्पत्तिके
प्रथम क्षणसे अन्तर्मुहूर्त्त तक ग्रहण किए गए औदारिक आदि पुद्गलोंमें आहार पर्याप्तिने
जो सारभूत भाग अलग किया था उसमें तो सात धातुरूपमें-परिणमन हुआ। परंतु आगे

भी जीवनपर्यंत-ग्रहण किए जानेवाले औदारिक आदि पुद्गलोंमें आहार पर्याप्ति द्वारा खल और रसरूपमें विभाजन होनेके बाद सात धातुरूपमें उन पुद्गलोंका परिणमन उस शक्ति द्वारा होता रहे। इस शक्तिका नाम शरीर पर्याप्ति।

शरीर पर्याप्तिरूप शक्ति प्रकट करनेका काल उत्पत्तिके प्रथम समयसे अन्तर्मुहूर्त तकका है। और प्रकट हुई शक्तिके फल स्वरूप ग्रहण होते आहार योग्य पुद्गलोंको सात धातुरूपमें परिणत करनेका कार्य उत्पत्तिके बाद अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जीवनपर्यंत है।

इसी तरह इन्द्रिय पर्याप्ति नामकर्मके उदयका असर उत्पत्तिके प्रथम क्षणसे दो अन्तर्मुहूर्त तक पहले क्षणसे ग्रहण होते और खल-रसरूपमें अलग, पड़े हुए तथा सात धातुरूपमें परिणत औदारिक पुद्गलों पर इस प्रकार चालू रही कि अंतर्मुहूर्त पूर्ण होने पर सात धातुरूपमें परिणत और आगे जीवनपर्यंत सात धातुरूपमें परिणमन प्राप्त करनेवाले पुद्गलोंका अभ्यन्तर द्रव्येन्द्रियरूपमें परिणमन हो ऐसी शक्ति उन पुद्गलोंमें प्रकट हुई। इस शक्तिका नाम इन्द्रिय-पर्याप्ति।

इसी तरह उत्पत्तिके प्रथम समयसे उच्छ्वास लब्धिके साथ उच्छ्वास नाम कर्मोदयके कारण श्वासोच्छ्वास वर्णनाके पुद्गलोंका ग्रहण तो चालू ही था। साथ साथ उच्छ्वास पर्याप्ति नामकर्मका उदय भी चालू था। आहार पर्याप्तिका एक समय, शरीर पर्याप्तिका एक अन्तर्मुहूर्त और इन्द्रिय पर्याप्तिका दूसरा एक अन्तर्मुहूर्त पसार होनेके बाद तीसरा एक अन्तर्मुहूर्त-इतना काल पसार हुआ तब उच्छ्वास पर्याप्ति नाम कर्मोदयके कारण ग्रहण किए गए तथा आगे होनेवाले उच्छ्वास वर्णनाके पुद्गलोंमें उच्छ्वासरूप परिणमन, बादमें अवलंबन लेकर, निःश्वास रूपमें विसर्जन करनेकी जो शक्ति प्रकट हुई उसका नाम श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति।

पाँचवीं भाषा पर्याप्ति और छठी मनःपर्याप्तिमें इसी तरह व्यवस्था समझनेकी है। फक्त शरीर पर्याप्तिमें एक अन्तर्मुहूर्तका काल, इन्द्रिय पर्याप्तिका उत्पत्तिके प्रथम क्षणसे दो अन्तर्मुहूर्त, श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिके लिए उत्पत्तिके प्रथम समयसे तीन अन्तर्मुहूर्त, इस तरह भाषा पर्याप्तिके लिए चार अन्तर्मुहूर्त और मनःपर्याप्तिके लिए उत्पत्तिके प्रथम समयसे पाँच अन्तर्मुहूर्त जानें।

इस तरह 'पर्याप्तियों'की विशिष्ट समझ पूर्ण होती है।



अवतरण—पर्याप्तिकी व्याख्या बताई। अब इन पर्याप्तियोंमेंसे ही प्राणोंकी निष्पत्ति होती है। अर्थात् पर्याप्ति यह प्राणका कारण और प्राण यह कार्य है। अतः इस गाथामें प्राण कितने हैं यह बताकर, किसे कितने प्राण हैं? यह बताते हैं।

पण इंदिय ति बलूसा, आउ अ दस पाण चउ छ सग अदूठ ।

इग दु ति चउरिंदीण असन्नि सन्नीण नव दस य ॥ ३४० ॥

गाथार्थ— पांच इन्द्रिय, मन, वचन और काय ये तीन बल, उच्छ्वास और आयुष्य इन दसको प्राण कहते हैं। इनमें एकेन्द्रियके चार, दोइन्द्रियके छः, त्रिइन्द्रियके सात, चउरिन्द्रियके आठ, असंज्ञिपंचेन्द्रियके नौ और संज्ञिपंचेन्द्रियके दस प्राण होते हैं। ॥३४०॥

विशेषार्थ—यह गाथा 'प्राणोंको' जणानेवाली है। अतः पहले प्राण अर्थात् क्या? इसे समझ लें। 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'अण'—प्राणने धातु परसे घञ् प्रत्यय लगनेसे 'प्राण' शब्दका निर्माण होता है। और 'प्राणिति—जीवति अनेनेति प्राणः'—इस व्युत्पत्तिसे जिसके द्वारा जीवित रहा जाए उसे 'प्राण' कहा जाता ऐसा स्पष्टार्थ निष्पन्न होता है।

यह प्राण एक ही प्रकारका है या अनेक प्रकारका ?

यह प्राण दो प्रकारका है। १. द्रव्य (प्राण) और २. भाव (प्राण)।

द्रव्य प्राण किसे कहा जाए ?

१. जिस संयोगमें यह जीवित है ऐसी प्रतीति हो या व्यवहार किया जाए वह।
२. अथवा जिसका वियोग होने पर 'यह मर गया' ऐसी प्रतीति या व्यवहार हो।
३. अथवा यह जीव है लेकिन अजीव नहीं है। यह जीव है लेकिन मरा हुआ नहीं है। ऐसी प्रतीति करानेवाले बाह्य लक्षण।

४. जिसके योगसे आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध टिक सके, उसे अथवा उसके योगको प्राण कहा जाए इत्यादि।

ऐसे द्रव्य प्राणोंकी संख्या दस है। ये प्राण जीवोंके ही होते हैं। जीवके सिवा अन्य किसीमें नहीं होते। इस कारणसे द्रव्य प्राणोंको जीवके बाह्य लक्षणोंके रूपमें भी पहचाने जा सकते हैं। जीवके बाह्य लक्षण कौनसे? इसके जवाबमें दस प्राण ऐसा कहा जा सकता है। संक्षिप्तमें किसी भी जीवके संयोग संबंधसे रहे द्रव्यप्राण उसी जीवके बाह्यप्राण या बाह्यलक्षण हैं। इस कारणसे प्राणको उसके दूसरे पर्यायवाचक शब्दमें 'जीवन' भी कहा जा सकता है।

भावप्राण—जीवके साथ तादात्म्य विषयक ज्ञानादि जो गुण रहे हैं उन्हें भी प्राण कहे जाते हैं। और उन्हें 'भाव' विशेषण लगाकर 'भावप्राण'के रूपमें पहचाने जाते हैं। इन भावप्राणोंसे ही जीव जीवके रूपमें पहचाना जाता है लेकिन द्रव्यप्राणसे नहीं। द्रव्यसे जो पहचाना जाता है वह तो औपचारिक है।

ये भाव प्राण कौनसे ?

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य ये चार आत्माके भाव प्राण हैं, ये प्राण न्यूनाधिकरूपमें प्राणीमात्रमें होते हैं। ज्ञानादि भावप्राणकी मात्रा अस्पांशमें भी बिलकुल अविकसित ऐसे निगोदादिक सूक्ष्मतम जीवोंमें होती है। अगर इतनी मात्रा भी न मानें तो जीव जैसी वस्तुका अस्तित्व ही न हो सके। और उसे अजीव कहनेका समय आ जाए। लेकिन ऐसा कभी बना नहीं है और बननेवाला भी नहीं है। अक्षरके अनंतवें भाग जितनी ज्ञानमात्राका प्रकाश, सत् पुरुषार्थसे बढ़ता बढ़ता अनंत गुना हो जाए अर्थात् अनंत ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य प्राप्त हों, तो वैसी आत्माएँ सर्वज्ञ, वीतराम अथवा (अपेक्षासे) मुक्तात्मा कहलाती हैं। और वास्तवमें तो सच्चे प्राण वे ही हैं। द्रव्यप्राण तो संयोगाधीन हैं, मृत्यु होनेके साथ ही (एकको छोड़कर शेष) वियोगी बननेवाले हैं। अलब्धता मोक्षके लक्ष्यसे 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' यह शरीर धर्मका साधन रूप होनेसे उसका योग्य रक्षा—पालन जरूरी है, परंतु भाव प्राणको हानि न हो इस तरह ही। क्योंकि द्रव्यप्राणसे भावप्राणकी कीमत असाधारण है। मोक्ष प्राप्तिके समय इन भावप्राणोंका अनंत उद्घाटन ही काम आनेवाला है। द्रव्यप्राण तो सदाके लिए छोड़ देनेका हैं। क्योंकि वे शारीरिक या पौद्गलिक धर्म हैं। और मोक्षमें उनका अभाव होता है। अतः सबको भावप्राणके विकास और रक्षाके लिए सतत संचितपनसे प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस पाठ्य ग्रंथमें इतना इशारा ही पर्याप्त है।

इन ज्ञानादि आभ्यन्तर प्राणोंको जीवके आभ्यन्तर लक्षण कहे जा सकते।

समग्र संसारी जीवोंको यथायोग्य इन्द्रियादि द्रव्यप्राण और ज्ञानादि भावप्राण अवश्य होते हैं। जबकि सिद्ध जीवोंके मात्र भावप्राण ही होते हैं।

५२२. सम्यग् या मिथ्यात्व ऐसी अपेक्षा यहाँ नहीं बताई है। ५२३. आजकल 'शरीरमाद्यं खलु भोगसाधनम्' ऐसा नास्तिकताका पोषक ऐसा अनिच्छनीय उलटा प्रचार शुरु हुआ है। वह बहुत दुःखद है। यह आर्यप्रजाको शोभता नहीं।

संसारी जीव इस द्रव्यप्राणके आधार-बलसे ही उस उस जीवायोनिका जीवन जी सकते हैं और इसी लिए पहले जणाया है कि प्राण ही जीवन है। जिन जिन जीवोंके जिस जिस संख्यामें प्राण कहे हैं, वे प्राण विद्यमान हों तो ही जीव जीवित रहता है, अथवा 'जी रहा है' ऐसा कहा जाता है। ये प्राण समय मर्यादा या अकस्मात् आदि कारणसे नाश होने पर 'जीवकी मृत्यु हुई' कहा जाता है। सारांश जीवन मरणकी संक्षिप्त व्याख्या 'उस उस भव विषयक द्रव्य प्राणोंका योग वह (आत्माका) जीवन और विवक्षित भवके प्राणोंका वियोग वही मरण।' यद्यपि आत्माका जन्म नहीं और मृत्यु भी नहीं।

वह तो अजन्मा और अमर है, शाश्वत है। किसी समय कोई 'आत्मा मर गई' ऐसा वाक्य बोल देता है। लेकिन वह सच्ची परिस्थितिके अज्ञानके कारण, किंवा स्थूल व्यवहारसे बोलता है। लेकिन उसके पीछेकी ध्वनि तो 'प्रस्तुत भव प्रायोग्य प्राणोंका त्याग करके आत्मा परलोकमें गई' यही व्यक्त होती है।

द्रव्य प्राण कितने हैं ?

द्रव्यप्राणोंकी संख्या दस है। वह इस तरह—पांच इन्द्रियाँ—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण। तीन बल—मनोबल, वचनबल और कायबल। श्वासोच्छ्वास और आयुष्य। यहाँ क्रमशः उसका विस्तृत वर्णन दिया जाता है। प्रथम पांच इन्द्रियोंकी व्याख्या दी जाती है।

जैसे वैज्ञानिक यांत्रिक साधनों और रसायनों द्वारा एक एक पदार्थका सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं, और पदार्थके विविध पहलुओंका स्याल देते हैं, वैसे अर्हन् तीर्थकर

५२४. आत्माके द्रव्यप्राणको नुकसान पहुँचाना या उसका वियोग करना उसका नाम हिंसा। द्रव्य-प्राणोंके रक्षणके साथ जीवका रक्षण करना उसका नाम अहिंसा। हिंसा अहिंसाकी ऐसी व्याख्या की जाती है और उसमें 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा, तदऽभावेऽहिंसा' इस सूत्रकी साक्षी दी जाती है। अल-बत्ता अपेक्षासे यह बात बराबर है परंतु यह स्थूल व्याख्या है। लेकिन सच्ची व्याख्या यह है कि सिर्फ अन्य जीवके द्रव्यप्राणोंको ही नहीं परंतु अपने ज्ञानादि भावप्राणको हानि पहुँचाना भी हिंसा है। इतना ही नहीं लेकिन अपनी आत्माके सम्यग्ज्ञानादि गुणोंके विकासके लिए पुरुषार्थ न करना, प्रमादाधीन बनकर उपेक्षा या उदासीनता दिखाना वह सच्ची हिंसा है। और उसका विकास या रक्षण करना सच्ची अहिंसा है। अतः ही 'प्राणव्यपरोपणं' उमास्वातीय सूत्रमें प्राणके आगे द्रव्य या भाव ऐसा कोई विशेषण नहीं लगाया। अतः प्राणसे द्रव्य ऊपरांत भावप्राण लेने ही हैं। मुख्यको गौण और गौणको मुख्य समझा गया, माना गया, परिणाम स्वरूप भावप्राण तरफकी दृष्टि गौण बन गई। परंतु उसका विचार विकास प्रत्येक आर्थिके लिए स्वाभाविक धर्म बनना चाहिए। ५२५. उपलब्धि अर्थात् जाननेकी शक्ति, कर्मावरणका अभाव होनेसे आत्मा सर्व वस्तुओंको जान सकती है।

भगवंत तप और संयमकी सर्वोच्च कोटिकी साधनाके अन्तमें प्राप्त किये गए केवलज्ञान द्वारा प्रत्येक द्रव्यों-पदार्थोंको आत्म प्रत्यक्ष करते हैं, तब सूक्ष्म परमाणुसे लेकर अनेक पदार्थोंका अद्भुत विज्ञान और रहस्य उनकी वाणीमें प्रकट होते हैं। उस शास्त्रवाणीमेंसे इन्द्रिय विषयक उपलब्ध माहितीमेंसे सर्वज्ञ कथित आवश्यक रसमद माहिती दी जाती है। इन्द्रियोंके साथ संसारी प्राणी मात्रका अविनाभावि संबंध है। क्योंकि जहाँ जहाँ इन्द्रियाँ हैं वहाँ वहाँ जीव है।

इन्द्रिय अर्थात् क्या ? तो इसके लिए प्रथम इन्द्रिय-शब्दका अर्थ समझना चाहिए 'इदि-या इदुपरमैश्वर्ये' इस धातु परसे र्क प्रत्यय लगाकर 'इन्देनात् इति इन्द्रः' अर्थात् सर्व उपलब्धि या सर्व उपभोगके परमेश्वर्यसे शोभित वह इन्द्र। वह कौन ? तो देवलोकके इन्द्र नहीं लेकिन यौगिक अर्थसे 'आत्मा' ही लेना है। और सत्त्वी तरहसे लोकोत्तर परमैश्वर्यवान् वही है। सर्व पदार्थोंकी जानकारी और विविध भावोंके उपभोगका ऐश्वर्य आत्माको ही होता है। इन्द्रस्य लिङ्ग-चिह्नमिति इन्द्रियम्, इन्द्रन सृष्टमिन्द्रितम् इस व्युत्पत्तिसे 'इन्द्र' अर्थात् आत्मासे सजित वस्तु वह इन्द्रिये। फलितार्थ यह कि आत्माका परिचायक जो चिह्न अथवा जिससे आत्मा जैसी वस्तुकी सिद्धि हो उसे 'इन्द्रिय' कहा जाता है।

इन्द्रियोंसे आत्मा किस तरह साबित हो सकती है ? तो इन्द्रियाँ-स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच हैं। इनमें स्पर्शन (त्वचा या चमडी) द्वारा गरम या ठंडा, कोमल या कठोर, रसनाके द्वारा खट्टा-खारा, मीठा-कडुआ, घ्राणके द्वारा सुगंध-दुर्गंध, चक्षुके द्वारा रूप-रंगका और कर्णके द्वारा शब्द या आवाजके जो जो विषय हैं उन्हें जाननेवाली और अनुभव करनेवाली आत्मा ही है। इन्द्रियोंके उन उन विषयोंका अंतिम अनुभव आत्मा ही करती है। यद्यपि आत्मा अपूर्ण स्थितिमें होनेसे उसे सीधा सीधा अनुभव नहीं होता लेकिन इन्द्रियों द्वारा होता है। लेकिन वह होता है आत्माको ही, नहीं कि इन्द्रियोंको और अगर इन्द्रियोंको होता है ऐसा मानें तो-

५२६. परलोकमें अपान्तराल गतिमें मात्र आयुष्यप्राण होता है और वह प्राण आगामी भवका समझना। आयुष्यप्राण के लिए पर्याप्तिकी जरूरत नहीं होती क्योंकि उसे किसी शक्ति-बलकी जरूरत नहीं होती। एक दूसरे भवके आयुष्य नामके प्राण प्राणके बिच कोई अंतर नहीं पडता, एक पूर्ण होते ही दूसरा हाजिर ही होता है। इसके बिना संसारी जीवकी गति ही रुक जाए। ५२७. उपभोग अर्थात् आत्माको होता विविध प्रकारके भावोंका अनुभव। ५२८. इन्द्रेणाऽपि दुज्यं तत् इन्द्रियम्। इन्द्र अर्थात् आत्मा। आत्मासे भी मुश्किलसे जीती जा सके वह। ऐसी भी व्युत्पत्ति हो सकती है।

१. मृत्युके बाद मृतकमें पांचों इन्द्रियाँ विद्यमान हैं, तो मृतकको भी इन्द्रियजन्य बोध होना चाहिए, लेकिन वैसा नहीं दीखता। उस वक्त एक भी विषयका अनुभव-अवबोध नहीं होता। अतः विषयोंका भोक्षता या दृष्टा अगर कोई है तो चैतन्यवान ऐसी 'आत्मा ही' है।

२. उपरांत किसी विशिष्ट आत्माके मोहादिकके आवरण अमुक प्रमाणमें दूर होने पर आत्मप्रत्यक्ष अवधि आदि ज्ञान पैदा हो तब वह आत्मा इन्द्रियोंकी सहायके बिना ही विषयोंको जानती है, अनुभव करती है। अतः इन्द्रियाँ ही जानती हैं, ऐसा कहना बराबर नहीं है।

साथ ही एक सामान्य नियम ऐसा है कि, जिस मनुष्यने जिस वस्तु या विषयका अनुभव किया हो, भविष्यमें वही वस्तु या विषयका स्मरण वही मनुष्य कर सकता है, परंतु इन्द्रियाँ नहीं। और अगर इन्द्रियाँ ही जानती हैं, ऐसा कहेंगे तो-अमुक समयके बाद इन्द्रियोंका नाश हो जाने पर मृतकालमें इन्द्रियजन्य जो स्मरण उपस्थित हुए थे उनका भी नाश हो जाना चाहिए, लेकिन वह तो नहीं होता। अतः विषयावबोध करनेवाली इन्द्रियाँ नहीं लेकिन आत्मा ही है और यही युक्तियुक्त और संगत है।

यह इन्द्रिय कैसे प्राप्त होती है? जातिनामकर्म, अंगोपांग नामकर्म और निर्माण नामकर्मके उदयसे प्राप्त होती है।

पांच प्राण रूप पांच इन्द्रियोंके प्रकार

पांचों इन्द्रियोंके नाम (१) चमडी (२) जीम (३) नाक (४) आँख और (५) कान है।

इन्द्रियोंके मुख्य दो भेद हैं। (१) द्रव्येन्द्रिय और (२) भावेन्द्रियें।

प्रथम द्रव्येन्द्रियके चार उपप्रकार

द्रव्येन्द्रियके पुनः दो भेद पड़ते हैं। निवृत्ति और उपकरण। अर्थात् निवृत्ति इन्द्रिय और उपकरण इन्द्रिय। दोनोंके पुनः बाह्य और आभ्यन्तर अर्थात् बाह्य निवृत्ति इन्द्रिय और आभ्यन्तर निवृत्ति इन्द्रिय। बाह्य उपकरण और आभ्यन्तर उपकरण इन्द्रिय ऐसे उपभेद हैं।

५२९. अन्य स्थल पर दस इन्द्रियोंका उल्लेख आता है। लेकिन वहाँ पर ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके हिसाबसे वे गिनी गई हैं। उपरोक्त पांच ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। और वाक्, हाथ, पग, गुदा और लिंग ये क्रियाकारक होनेसे इन्द्रियोंके रूपमें मानकर भेद दर्शन कराया है। ५३०. द्रव्येन्द्रियाँ न हों तो 'यह द्रव्येन्द्रिय यह दोइन्द्रिय' ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता। इस व्यवहारमें भावेन्द्रियको कारण मानें तो तो लब्धिइन्द्रियसे हरेक जीव पंचेन्द्रिय होता है। और फिर तो आपत्के सारे जीवोंको पंचेन्द्रिय ही कहने पड़ते।

भावेन्द्रियके दो उपप्रकार

• पुनः भावेन्द्रियके दो प्रकार हैं। लब्धि और उपयोग अर्थात् (१) लब्धि भावेन्द्रिय (२) उपयोग भावेन्द्रिय। इस तरह प्रकार बताकर, उसकी व्याख्या करते हुए प्रथम द्रव्येन्द्रियके प्रकारोंका स्वरूप कहते हैं। प्रथम हरेकका संक्षिप्त शब्दार्थ देखें।

द्रव्येन्द्रिय—जड़ पुद्गलोकी बनी हो वह। 'निवृत्ति' अर्थात् आकृति आकार—रचना वह। 'बाह्य' अर्थात् बाहरके दृश्य भागमें वर्तित। 'आभ्यन्तर' अर्थात् अंदरके भागमें वर्तित। 'उपकरण' विषय ग्रहण करनेमें उपकार करनेवाली शक्ति विशेष वह। यह शक्ति 'बाह्य' और 'आभ्यन्तर' दो प्रकारसे है।

दो प्रकारकी निवृत्ति इन्द्रियाँ

बाह्य निवृत्ति इन्द्रिय—निर्माणनाम कर्मसे रचित और अंगोपांग नाम कर्मसे निष्फल बनी, पुद्गलैस्संघोंसे दीखती, बाह्यरचना विशेष। हरेक जीवोंके उन उन इन्द्रियोंके स्थान पर अथवा शरीरके अमुक स्थानमें इन्द्रिय सूचक बाह्य आकृति—रचना विशेष हो वह। जिसे देखकर यह कान है, यह आँख है, ऐसा समझा जा सके वह। जैसे कान पपड़ीसे कानको, अंडाकार जैसी आकृतिसे आँखको, अमरुद जैसी आकृतिसे नाकको पहचान लेते हैं। लेकिन यह बाह्य निवृत्ति बाह्यरचना हरेक जीवोंके समान नहीं होती। मनुष्यकी बाह्य इन्द्रियोंके आकारोंमें न्यूनाधिक भिन्नता मालूम पड़ती है। पशु पक्षी आदिके नाक, कान आदिमें भिन्नता होती है। सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रियके लिए बाह्य निवृत्तिकी आवश्यकता स्वीकार्य नहीं है, इस बाह्य निवृत्तिके भिन्न भिन्न जीवाश्रयी आकार भिन्न होनेसे, उसके आकारोंका नियत वर्णन अशक्य होनेसे उसके आकार नहीं कहे हैं। आगे जो आकार कहे जाएँगे वे आभ्यन्तर निवृत्ति नियताकार होनेसे उन्हें अनुलक्षित करके ही कहेंगे।

आभ्यन्तर निवृत्ति इन्द्रिय—इन्द्रियोंके अन्दरके भागकी रचना। यह रचना दिखाई देती इन्द्रियोंके बाह्य आकारके अंदर, अथवा तो आकारके अंतर्गत देहके अवयवरूप भिन्न भिन्न आकारमें रचित, विषय ग्रहण करनेकी शक्तिवाले, अपनी आँखसे अगोचर

५३१. पुद्गल विषयकी निर्माणनामकर्मरूपी सुतारसे आयोजित और अंगोपांगनामकर्मसे निष्पन्न, इन्द्रिय ऐसे शब्दसे परिचित, आत्मप्रदेशोंसे व्याप्त, कर्णशङ्कुलि (कान पपड़ी, गोलक) इत्यादि आकार विशेष वह बाह्य निवृत्ति, और उत्सेवांगुलके असंख्यातवाँ भागप्रमाण शुद्ध आत्मप्रदेशोंकी निश्चित स्थानमें चक्षु आदि इन्द्रियोंके आकारमें रचित जो रचना, वह आभ्यन्तर निवृत्ति। यह अर्थ आन्तरांग वृत्तिकारका है।

ऐसे स्वच्छ पुद्गलोंकी बनी हैं। अथवा उस उस आकारमें रचित शुद्धआत्मप्रदेश जैसे कि चक्षुमें पुतली, कानमें कानका परदा आदि। यह आभ्यन्तर निवृत्ति ही सच्ची इन्द्रियाँ हैं। विषय ग्रहण शक्ति इसमें होती ही है।

यहाँ एक बात स्पष्ट समझाई कि, इन्द्रियोंके बाह्य आकार भिन्न भिन्न प्रकारके हो सकते हैं, जिसे बाह्य निवृत्तिसे पहचाना जाता है। परंतु अंदरके भागमें रही, पुद्गलोंकी रचनाके रूपमें रही वास्तविक पाँचों इन्द्रियोंकी रचना, तमाम जीवोंमें एक समान ही निश्चित आकारोंवाली ही है, लेकिन भिन्न भिन्न नहीं है। आगे इन्द्रियोंके आकार जो कहे जाएँगे वे भी इस आभ्यन्तर निवृत्तिके आधार पर ही। और इसी लिए चारों इन्द्रियोंमें दोनों निवृत्तियाँ घटित बनती हैं, लेकिन स्पर्शेन्द्रियमें दो भेद ही घटित हैं। चारों इन्द्रियाँ देहावयव रूपमें और स्पर्शेन्द्रिय देहाकार स्वरूपमें ही समझना।

बाह्य निवृत्तिको तलवार मानें, तो स्वच्छ पुद्गलके समूहरूप आभ्यन्तर निवृत्तिको उसी तलवारकी धार रूप समझना चाहिए। वस्तुतः तलवार या धार एक दूसरेसे भिन्न नहीं है फिर भी कार्य करनेकी उपयोगिता दोनोंमें भिन्न है। इस दृष्टिसे यह भेद है फिर भी दोनों के सहयोग से ही तलवारका कार्य होता है। इस तरह यहाँ भी दोनोंके सहयोगसे ही विषयज्ञान होता है।

दोनों प्रकारकी उपकरणेन्द्रियाँ

वास्तविक रूपसे देखें तो निवृत्ति और उपकरणमें खास तफावत नहीं लगता। लेकिन आभ्यन्तर निवृत्तिको पुद्गलरूप मानें तो आभ्यन्तर उपकरणको उन इन्द्रियोंके पुद्गलमें रही शक्तिरूपमें समझना चाहिए।

दोनों प्रकारकी निवृत्तिको उपकार करे उन्हें उपकरण इन्द्रियाँ कही जाती हैं। ये उपकरणेन्द्रियाँ अर्थात् इन्द्रियोंके अपने विषयोंका अर्थबोध करानेवाली एक प्रकारकी सहायक या उपकारक शक्ति। इसके भी बाह्य आभ्यन्तर दो भेद हैं।

‘बाह्य उपकरण’ अर्थात् इन्द्रियोंके बाह्य आकारकी स्वस्थ रचना और ‘आभ्यन्तर उपकरण’ अर्थात् आभ्यन्तर निवृत्तिके पुद्गलोंमें रही जो शक्ति विशेष वह। बाह्य उपकरण आभ्यन्तर निवृत्तिकी पुद्गल रचनाका उपकारक है। और आभ्यन्तर उपकरण आभ्यन्तर निवृत्तिकी पुद्गल शक्तिका उपकारक है। शायद आभ्यन्तर निवृत्ति हो लेकिन उसमेंसे विषयबोध करानेवाली शक्ति नष्ट हो गई हो तो आभ्यन्तर निवृत्तिकी हाजिरी

होने पर भी विषयबोध न होने दे। इस बोधके लिए वह शक्ति उपकारक है। अतः उसे उपकरणेन्द्रिय कही गई है। अतः आभ्यन्तर उपकरणके बिना केवल निवृत्ति इन्द्रिय बोध करानेमें समर्थ नहीं है।

उदाहरण स्वरूप—निवृत्तिरूप चक्षुइन्द्रिय विद्यमान हो लेकिन अगर बाह्योपकरण स्वरूप बाहरके भागमें पत्थर आदि लगनेसे, बाहरके भागको नुकसान पहुँचे तो आँखसे बराबर देखा नहीं जाता। उसी तरह बाहरके आघात प्रत्याघातका असर निवृत्ति इन्द्रिय (जिसे पुतलीके अंदरका आँखका परदा) को नुकसान पहुँचने पर पुद्गलगत जो शक्ति होती है वह नष्ट हो जानेसे परदा होने पर भी वह इन्द्रिय निरूपयोगी बन जाती है। इस तरह यह बात स्पष्ट होती है। इससे हुआ क्या कि प्रत्येक इन्द्रियमें स्पर्श—रसादि विषयग्रहण तब ही हो सकता है जब उन पुद्गलोंमें उस उस विषयकी ग्रहण शक्तिका अस्तित्व हो। इस तरह उपकरणेन्द्रियकी सार्थकता समझना।

भावेन्द्रियका वर्णन

भाव अर्थात् आत्मिक परिणाम। इन्द्रिय अर्थात् आत्मिक स्वरूप इन्द्रिय।

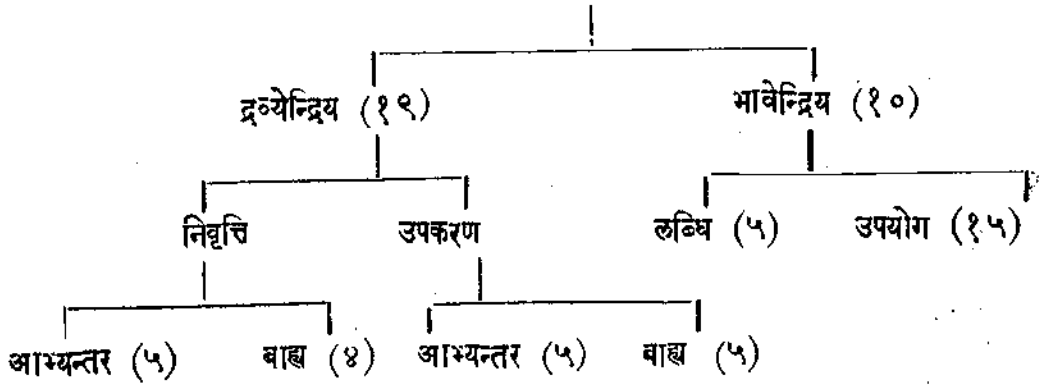
यह भावेन्द्रिय दो प्रकारकी है। १ लब्धि और २ उपयोग। १. लब्धि अर्थात् इन्द्रियोंकी शक्तियाँ २. उपयोग अर्थात् विषय ग्रहण अथवा विषय व्यापार। विशेष व्याख्या नीचे अनुसार है।

लब्धि भावेन्द्रिय— उन उन इन्द्रियोंके स्पर्श—रसादि विषयोंके ज्ञानकी प्राप्तिमें अवरोधक (मतिज्ञानावरणादि) कर्मोंका (आत्माके परिणाम स्वरूप) जो क्षयोपशम विशेष वह। अथवा जीवको इन्द्रियों द्वारा उन उन विषयोंका बोध पानेकी जो शक्ति वहाँ।

उपयोग भावेन्द्रिय— अपनी अपनी ज्ञान—दर्शनावरणीयके क्षयोपशम रूप लब्धि अनुसार, उन उन विषयोंमें आत्माका जो ज्ञान प्रवृत्ति रूप व्यापार—उपयोग वहाँ। अर्थात् आत्मा जिस समय जिस इन्द्रियके उपयोगमें वर्तित हो, उस समय वह उपयोग भावेन्द्रिय कहा जाता है। संक्षेपमें कहें तो स्पर्शादि विषयोंको जाननेकी क्षायोपशमिक शक्ति वह लब्धि इन्द्रिय और विषयज्ञानमें प्रवृत्ति वह उपयोग इन्द्रिय।

५३३. इस तरह नासिकाकी आभ्यन्तर निवृत्ति अखंड है, लेकिन अगर नाकमें प्रलेष्म या मेल जमा हो तो गन्धज्ञान जल्दी नहीं होता। ५३४. इसकी दूसरी तरहसे भी व्याख्याएँ होती हैं। ५३५. उपयोग यह आत्माका परिणामविशेष है। और वह ज्ञानदर्शन स्वरूप है। ५३६. लब्धि, निवृत्ति और उपकरण तीनों द्वारा उन उन विषयोंका सामान्य या विशिष्ट बोध हो वह भी उपयोग भावेन्द्रिय कहलाए।

पांच इन्द्रियाँ (२९ भेद)



अपेक्षासे सर्व जीव एकेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय कैसे ?

सर्व संसारी जीवोंके उपयोग-भावेन्द्रिय (अर्थात् विषयावबोध व्यापार) एक समय पर एक ही होता है, उस अपेक्षासे सर्व संसारी जीव एकेन्द्रिय कहलाते । क्योंकि पंचेन्द्रिय जीवोंमें पांचों इन्द्रियोंका क्षयोपशम होता है, पांचों द्रव्येन्द्रियाँ विद्यमान हों और पांचों इन्द्रियोंके विषय उपस्थित हों फिर भी उपयोग तो एक समय पर एक ही इन्द्रियका प्रवर्तित हो सकता है । परंतु एक समयमें दो इन्द्रियोंका उपयोग कभी नहीं हो सकता । क्योंकि जिस समय पर चक्षु इन्द्रियका उपयोग हो तब शेष चारका उपयोग नहीं ही होता । जिस इन्द्रियके साथ जीवका मन जुड़े वह एक ही इन्द्रिय अपना विषय ग्रहण करनेको प्रवृत्त होती है । आत्माके साथ मन, मनके साथ इन्द्रिय और इन्द्रियके साथ उसका विषय जुड़ता है । उपयोग भावेन्द्रियकी अपेक्षासे सर्व जीवोंको एकेन्द्रिय रूपमें भी सूचित किये ।

यद्यपि उपयोगकी दृष्टिसे एकेन्द्रिय है परंतु लब्धि इन्द्रियकी अपेक्षासे एक इन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके किसी भी जीवको एक समय पर पांचों इन्द्रियोंकी लब्धि हो सकती है । क्योंकि सर्व संसारी छद्मस्थ जीवोंके मतिज्ञानावर्णीय कर्मका क्षयोपशमरूप लब्धि पांचों इन्द्रियोंकी होती है, अतः इस अपेक्षासे सर्व संसारी जीवोंको पंचेन्द्रिय रूपमें पहचाने जा सकते हैं ।

५३७. पांचों इन्द्रियोंके विषय भले विद्यमान हों, लेकिन तब उपयोग तो एक ही विषयका होता है, तो फिर किस विषयका, किस इन्द्रियका प्रथम उपयोग हो ? जवाब यह कि, जीवका अभिलाष अथवा जिस इन्द्रियके क्षयोपशमकी प्रबलता अथवा जिस इन्द्रियके उत्तेजक साधनोंकी जैसी प्रबलता हो, उस इन्द्रियके विषयका शान प्रथम होता है ।

तो फिर दोइन्द्रिय त्रिइन्द्रियका व्यवहार किस तरह होता है ? तो वह व्यवहार तो द्रव्येन्द्रियकी अपेक्षासे किया जाता है।

शंका—आपने एक ही समय पर एक ही उपयोग बताया, लेकिन एक दृष्टांत ऐसा है कि जिसमें एक ही समय पर पांचों इन्द्रियोंका उपयोग या ज्ञान होता है उसका क्या ? और इसके लिए एक दृष्टांत भी है। जैसे कि—

सिर पर बाल न हो ऐसा कोई गंजा मनुष्य, मध्याह्नके समय, खुले सिर, खुले पैर, सुगंधमय, कड़क, मधुर और सुंदर ऐसी लम्बी तिलपपड़ी मुखमें खाता खाता नदी पार कर रहा हो तब एक साथ पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका अनुभव होता रहता है। क्योंकि दोपहरकी धूपसे खुले गंजे सिरमें उष्णस्पर्श और खुले पैर पानीमें चलता होनेसे शीतलस्पर्शका अनुभव होता है, यह स्पर्शानुभव स्पर्शेन्द्रियका विषय है। तिलपपड़ी मीठी—मधुर लगनेसे मधुरताका अनुभव रसना—जिह्वाका विषयानुभव है। तिलपपड़ीमें इलायची आदि सुगंधी द्रव्य होनेसे घ्राणेन्द्रियका विषयानुभव, तिलपपड़ी लम्बी होनेसे खाते खाते आँसूसे उसके रूप रंगको देखनेसे चक्षुइन्द्रियका विषयानुभव और कड़क होनेसे खाते वक्त कचर—कचर आवाज होती है, वह श्रोत्रेन्द्रियका विषयानुभव, इस तरह एक साथ पांचों इन्द्रियोंके विषयोंका अस्तित्व है। तो फिर यदि कोई पूछे कि पांचोंका उपयोग क्यों न हो ?

समाधान—इस दृष्टांतको ऊपर ऊपरसे देखने पर बराबर लगे, लेकिन वस्तुतः परिस्थिति ऐसी नहीं है। अपने छाद्मस्थिक—अपूर्ण ज्ञानके कारण, या बुद्धिकी परिमितताके कारणसे अनेक समयोंमें होता कार्य एक ही समयमें हुआ ऐसा भ्रम होता है। और हमेशा भ्रमज्ञान असत् है और इससे उसका अनुभव भी असत् है। हमेशा इन्द्रियजनित ज्ञान क्रमिक ही हो सकता है। लेकिन अपनी ग्रहण शक्तकी पामरताके कारण, 'समय' मानके सूक्ष्मकालको देखनेकी या जाननेकी शक्तके अभावमें अनेक समयमें होता कार्य समकालमें या एक ही समय पर हुआ ऐसा आभास होना स्वाभाविक है। उदाहरण स्वरूप सौ कमलके पणोंको कोई वीरपुरुष भालेसे बींधे, तब प्रातिपत्र बींधनेकी क्रिया क्रमशः ही बनी है। हरेक पत्रका भेदन समय अलग ही है। एक के बाद ही दूसरा भेदा जाता है, यह निश्चित—ठोस हकीकत है। फिर भी देखनेवाला स्थूल नजरके कारण ऐसा ही कहेगा कि, नहीं एक साथ ही, एक ही समयमें मैंने छेद डाले। लेकिन यह अनुभव गलत है। उपयोग ज्ञान एक साथ एक ही इन्द्रियका होता है। पांचोंका कमी नहीं होता।

आभ्यन्तर निवृत्तिरूप पांचों इन्द्रियोंके स्थान प्रमाण आकारादि

१. स्थान— (१) स्पर्शेन्द्रिय—मात्र ऊपरकी दीखती चमडी स्पर्शेन्द्रिय है ऐसा नहीं, परंतु चमडीके भागके साथ ही ओतप्रोत बनकर रहा चक्षुसे देखा न जा सके ऐसा पुद्गलोंका बना एक बिल्कुल पतला स्तर है, वही स्पर्श नामकी इन्द्रिय है। यह इन्द्रिय समग्र शरीरके तमाम प्रदेशोंमें व्याप्त होकर रही है। दूसरी इन्द्रियाँ जहाँ जहाँ हैं वहाँ भी स्पर्श तो अवश्य होता ही है। साथ ही यह इन्द्रिय अंदरके भागमें भी ऊपरकी तरह व्याप्त होकर स्वशरीराकारमें रही है। और इसी लिए ऊपरकी चमडीको स्पर्शन इन्द्रियके प्रभावसे स्पर्शानुभवजन्य शीतोष्णादिका ज्ञान होता है। वैसे ठंडा जल या गरम चाय पीने पर अंदरके भागमें भी शीतोष्णादिका अनुभव होता है।

(२) रसनेन्द्रिय—दीखती हुई ऊपरकी जीभ वह नहीं है। वह तो इन्द्रियको रहनेका स्थान—साधन है। इन्द्रिय तो जिह्वाके ऊपर और नीचेके भागमें जिह्वाके पुद्गल प्रदेशके बिच ओतप्रोत होकर रही है। लेकिन वह सिर्फ जीभके बिचके भागमें नहीं होती।

(३) घ्राणेन्द्रिय—दिखाई देती नासिका घ्राणेन्द्रिय नहीं है। परंतु उसके अंदरके पोलेपनमें, ऊपरके भागमें नासिकाके मापके अनुसार रही इन्द्रिय ही घ्राणेन्द्रिय है।

(४) चक्षुइन्द्रिय—दिखाई देता चक्षु या पुतली इन्द्रिय नहीं है। परंतु उसके अंदर पुतलीके मापके अनुसार व्याप्त वस्तु ही इन्द्रिय है।

(५) श्रोत्रेन्द्रिय—कानका ऊपरका भाग कर्णइन्द्रिय नहीं है। परंतु कानके अंदरके परदेमें व्याप्त होकर रहा पौद्गलिक पदार्थ श्रोत्र इन्द्रियरूपमें है।

पांचों इन्द्रियाँ अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अपने चर्मचक्षुसे देखी नहीं जातीं।

२. प्रमाण—माप— कलश पर चढाया हुआ सोनेका गिल्ट कितना पतला होता है? वैसे इन पांचों इन्द्रियोंके पौद्गलिक स्तर अत्यन्त पतले परमाणुओं (—स्कंधों) के बने हैं। उन सबकी मोटाई एक अंगुलके असंख्यातवें भागकी है।

चौडाई और लंबाई सबकी एक समान नहीं हैं। नासिका, नेत्र और कर्ण इन तीन इन्द्रियोंकी लंबाई—चौडाई एक अंगुलके असंख्यातवें भागकी है। जीभकी अंगुल पृथक्त्व अर्थात् दो से नौ अंगुलकी है। और स्पर्शेन्द्रियकी स्वस्व देहाकार प्रमाण समझनेकी है। स्पर्शेन्द्रियका माप—प्रमाण उत्सेधांगुलसे और शेष चारोंकी लंबाई—चौडाईका माप आत्मांगुलसे समझना और मोटाईका माप उत्सेधांगुलसे गिननेका है।

३. आकार— स्पर्शेन्द्रियका आकार, जीवित देहोंका जैसा जैसा आकार हो वैसा वैसा समझना । रसनेन्द्रियका अन्न या खुरपा जैसा । घ्राण (नासिका) इन्द्रियका अति—मुक्त नामके पुष्प या काहल नामके वाद्य जैसा । नेत्र इन्द्रियका मसुरकी दाल जैसा गोल और श्रोत्रेन्द्रियका कदंब पुष्पके जैसा है ।

४. इन्द्रियोंके विषय— स्पर्श, रस—स्वाद, गंध, वर्ण—रंग और शब्द । ये स्पर्शादि एक एक इन्द्रियोंके उत्तरोत्तर विषय हैं । सारांश तात्त्विक रीतसे सोचें तो ये विषय एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं और मूलद्रव्यरूपमें नहीं हैं । एक ही द्रव्यके या पदार्थके ही अलग अलग अंश हैं और इस कारणसे इन विषयोंका अलग अलग स्थान भी नहीं है । इन सबका उनके अंशोंमें सहअस्तित्व होता ही है । क्योंकि एक ही पदार्थके ये सब अविभाज्य अंग हैं । फिर भी इसकी भिन्नता या अवस्थाएँ इन्द्रियों द्वारा समझमें आ सकती हैं ।

अगर कोई शंका करे कि प्रत्येक पदार्थमें तमाम विषय होते हैं, तो स्पर्शेन्द्रियसे सबका ज्ञान क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि क्षायोपशमिकभावसे वर्तित इन्द्रिय—ज्ञान हमेशा मर्यादित होता है । अतः जिस समय जितने विषय उत्कट हों उतनोंका बोध इन्द्रिय कर सकती हैं । मगर अनुत्कट विषयोंका नहीं कर सकतीं । और यह बोध होनेमें भी इन्द्रियोंकी पूर्णता, पटुता, शक्ति इन पर भी आधार रहता है । अन्यथा अमुक अमुक लब्धियाँ ऐसी हैं कि अगर वे प्राप्त हों तो एक ही इन्द्रियसे पांचों विषयोंका बोध ग्रहण किया जा सकता है । यह शास्त्रीय कथन उपरोक्त बातका समर्थन करता है । इतनी भूमिका समझाकर उन उन इन्द्रियोंके विषयोंको समझें ।

स्पर्शन इन्द्रियकी विषय मूर्त ऐसे पौद्गलिक पदार्थमें रहे स्निग्ध—रूक्ष, शीत—उष्ण, मृदु—कर्कश, भारी—हलके इन आठ प्रकारके स्पर्शोंको बतानेका है । रसनाका विषय मूर्त पदार्थमें रहे तीखे, कडुए, मधुर (मीठा), खट्टे और खारे इन पांचों प्रकारके रसों—स्वादोंको बतानेका है । घ्राण इन्द्रियका विषय सुगंध या दुर्गंध बतानेका और आँख इन्द्रियका विषय मूर्त पदार्थोंमें रहे काले, भूरे (या हरे), पीले, लाल, सफेद इन पांच प्रकारके रंगों या वर्णोंको बतानेका है । कर्णेन्द्रियका विषय सच्चित्त (सजीव वस्तुमेंसे निकला, जैसेकि घोड़ेकी आवाज), अच्चित्त (वह पत्थरादि अजीव द्रव्योंमेंसे निकलता, जैसेकि यंत्रोंकी आवाज) और मिश्र (वह जीव—अजीव दोनोंके सहयोगसे निकलता, जैसेकि—बंसी वादन) प्रकारके शब्दोंको सुननेका है । पांच इन्द्रियोंके कुल विषय २३ हैं ।

५. विषयग्रहण—क्षेत्रमर्यादा—स्पर्श, रसन और नासिका, ये तीनों इन्द्रियाँ सामान्यतः नौ योजन (३६ कोस) दूर रहे पदार्थोंका ज्ञान पा सकती हैं, अर्थात् उतनी दूर रहे पदार्थोंमेंसे आए हुए पुद्गलोंका स्पर्श ग्रहण कर सकती हैं, उससे अधिक दूर रहे पुद्गलोंका स्पर्श नहीं कर सकतीं। चक्षु एक लाख योजन दूर रहे (निस्तेज ऐसे पहाड आदि) पदार्थोंको देख सकते, कर्णेन्द्रिय बारह योजन दूर होते शब्दको सुन सकती है।

जबन्यसे चक्षुइन्द्रिय अंगुलके संख्यातवें भाग पर दूर रही वस्तुको और शेष चार अंगुलके असंख्यातवें भागमें रहे विषयोंका अवबोध कर सकती है।

जिस तरह दूरसे मेघगर्जनाकी आवाज कर्णेन्द्रिय सुन सकती है। और वर्षाऋतुमें पहली वृष्टि होने पर दूरसे पृथ्वीमें रही गंध घ्राणसे ग्रहण कर सकते हैं उसी तरह गंधमें तीस्त्रापन है या कडुआहट उसका अनुभव रसनेन्द्रिय कर सकती है। और समुद्र, नदी आदि जलाशयोंको स्पर्श करके दूर दूरसे आते ठंडे पवनसे शीत स्पर्शका अनुभव स्पर्शेन्द्रियको होता है।

६. प्राप्याप्राप्यपन—चक्षु और मन, ये दोनों अपनेको प्राप्त नहीं हुए ऐसे विषयोंको जानते हैं और शेष इन्द्रियाँ स्वप्राप्त विषयोंका ही मानो ध्यान करती हैं।

सामान्यतः सबसे सूक्ष्म इन्द्रिय चक्षु और सबसे बड़ी स्पर्श कहलाती है।

दूसरी एक बात अधिक समझनेकी कि—एक इन्द्रियका काम सामान्यतः दूसरी इन्द्रियसे नहीं हो सकता, लेकिन तपश्चर्यादि द्वारा विशिष्ट लब्धि-शक्ति प्राप्त की हो ऐसे संभिन्नश्रोत लब्धिवाले मुनि एक ही इन्द्रियसे अनेक इन्द्रियोंका काम कर सकते हैं।

इस तरह पांच इन्द्रिय विषयक विवेचन यहाँ पूर्ण होता है।

तिबल — तीन बल

भूमिका—प्राणियोंमें जो ताकत होती है, वह इन तीन बलमेंसे होती है। यहाँ तीन बलसे मन, वचन और काया, इन तीनका बल लेनेका है। विश्वमें ऐसे भी मनुष्य और तिर्यच हैं कि जिनके ये तीनों बल होते हैं। यों तो तीनों बल धारण करनेवाले जीव चारों गतिमें हैं।

मनका बल मिला हो तो जीव मनन, चिंतन या विचार, वचन आदि वचन बलकी प्राप्तिसे वाणी या उच्चार और कायाका बल मिला हो तो हलचल या बर्ताव आदिका बल, इस तरह जीव तीनों बलसे विचार, वाणी और बर्ताव करनेकी लब्धि अथवा शक्ति प्राप्त करता है। ये तीनों शक्तियाँ शरीरधारी जीवमें ही रही होती हैं। इसमें मनो-

बलकी शक्ति से जीव जब मनन, चिंतन या विचार करे तब उसे 'मनोयोग' वाला कहा जाता है। इस तरह उच्चार करनेकी शक्ति या लब्धि वह वचनबल। और उच्चार करना या बोलनेका व्यापार करना उसे 'वचनयोग' कहा जाता है। उस तरह हिलना, चलना, खाना, पीना आदि कार्यजन्य व्यापारोंकी शक्ति उसे कायबल कहा, लेकिन उसका व्यापार चले तब 'काययोग' कहा जाता है। बल शक्ति है और योग शक्तिका व्यापार है, अर्थात् बल कारणरूप और योग कार्यरूप है। बल हो वहाँ योग हो ही ऐसी व्याप्ति नहीं है, लेकिन योग हो वहाँ बल अवश्य हो यह व्याप्ति घट सकती है। बल हो फिर भी अन्य कारणों से अवरोध खड़े हों तो बल व्याप्त नहीं हो सकता।

आत्मामें अनंत वीर्य-शक्ति या सामर्थ्य भरी है। यह शक्ति सामर्थ्य वीर्योतराय नामके (अंतराय नामका घातीकर्मका भेद) अशुभ कर्मके उदयसे दबा हुआ है। इस कर्मका जितना जितना क्षयोपशम होता जाए उतने उतने अंशमें आत्माकी सामर्थ्य प्रकट होती जाए। और उसका सर्वथा विनाश होने पर अर्थात् आत्मप्रदेशोंसे अलग हो जाए तब आत्माकी अनंत शक्ति प्रकट हो जाती है। फिर ऐसी आत्माएँ केवली अथवा सिद्ध कहलाती हैं और फिर उन्हें अन्य पौद्गलिक शक्ति-सहायकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती।

परंतु जो संसारमें अभी हैं ऐसी आत्माओंकी सामर्थ्य कर्मसत्ता द्वारा न्यूनाधिकरूपमें दबी हुई है, ऐसी आत्माएँ कर्मसे पराधीन होनेसे निर्बल हैं, पंगु हैं और निर्बल मनके मनुष्यकी चलनेकी शक्ति होने पर भी, चलनेके लिए लकड़ी आदि आधार या सहारेकी जरूरत रहती है। इस तरह आत्माने अमुक कोटि तक सिद्धि प्राप्त न की हो तब तक अपनी शक्ति प्रकट करनेके लिए उसे मन, वचन, कायाके पुद्गलोंका आलंबन लेना पड़ता है। उसके आधारके बिना वह किसी व्यापार या शक्तिका प्रवर्तन नहीं कर सकती, ऐसा सामान्य सिद्धांत है। संसारी जीवोंके सर्व व्यापार पुद्गलोंके आलंबनसे ही हो सकते हैं।

हम जो विचार करते हैं वे यों ही नहीं कर सकते। हम जो बोलते हैं वह भी यों ही नहीं बोल सकते। हमारी हिलने चलनेकी या बैठने उठनेकी सारी क्रियाएँ भी आत्मा स्वयं नहीं कर सकती। लेकिन उन सबके पीछे आत्मा उनके लायक पुद्गल परमाणुओंके स्कंधों-समूहोंके ग्रहणकी एक क्रिया करती है। ग्रहण किए गए उन पुद्गलोंके बल या सहारे द्वारा तीनों बलोंकी क्रियाओंका योग-व्यापार प्रवर्तन हो सकता।

है। अलबत्ता इन पुद्गल ग्रहण परिणमनादि क्रियाओंको प्रत्यक्ष देख सकनेकी अपनी ज्ञान शक्तिके अभावसे देख नहीं सकते लेकिन ज्ञानी उन्हें अवश्य देख सकते हैं। विश्व पर कुछ प्राणी ऐसे हैं जो शरीरके साथ बोलनेका तथा विचारनेका बल रखते हैं। जबकि कुछ शरीरबलके साथ बोलनेका बल धारण नहीं कर सकते और कुछ विचारबल भी धारण नहीं कर सकते। अस्तु!

१. मनोबल—मृत भावीका यथोचित विचार कर सके वैसी शक्ति। अब इस बलका उपयोग किस तरह होता है वह देखें। जब विचार, मनन या चिंतन करना हो तब आत्मा, काययोग (जिसे जो शरीर हो उस शरीरका समग्र भाग) के आलंबन प्रयत्न द्वारा आकाशमें स्वात्म प्रदेशोंको अवगाहन करके रहे, मनन चिंतनमें उपयोगी (शास्त्रीय भाषामें मनोवर्गणाके) पुद्गल परमाणुओंके स्कंधों—समूहोंको खिंचे, फिर जैसा विचार करना हो वैसे विचाररूपमें उसका परिणमन करे—आयोजित करे, जिससे उन पुद्गलोंके आलंबन द्वारा जीव इष्ट विचार करे, इसे मनोयोग कहा जाता है। अब किया हुआ एक विचार पूर्ण होने पर तुरंत ही उन पुद्गलोंको आत्मा काययोग द्वारा ही पुनः छोड़ देती है और दूसरे विचारोंके लिए पुनः पूर्वोक्त प्रकारके नये पुद्गलोंको पूर्वोक्त रीतसे ग्रहण करती है। छोड़े गये वे पुद्गल परमाणु शीघ्र या देरसे पुनः विश्वके वातावरणमें फैल जाते हैं।

यहाँ काययोग द्वारा पुद्गल ग्रहण होते हैं और मनोयोग द्वारा मनके पुद्गलोंका परिणमन, आलंबन, व्यापार और विसर्जनकी क्रियाएँ होती हैं। तीनों बल—योगमें पुद्गल ग्रहण काययोग द्वारा ही होता है। फिर वे योग अपने कार्यके लिए अपनी रीतसे उन पुद्गलोंका उपयोग—प्रक्रियाएँ करते हैं।

यह मन दो प्रकारका है। 'द्रव्य' और 'भाव'। चिन्तन—मननकी विचारणाके लिए ग्रहण किये गए, अनुकूल (जिसे विचार करना हो उसके अनुरूप) आकार रूपमें परिणत, मनोवर्गणाके जो पुद्गल द्रव्य उन्हें 'द्रव्यमन' कहते हैं। और ग्रहित पुद्गलोंकी मददसे जो विचार उत्पन्न हुआ अर्थात् जो मनोविज्ञान हुआ उसे 'भावमन' कहा जाता है। द्रव्यमनके आलंबनके बिना जीव स्पष्ट विचार नहीं कर सकता। ऐसे दोनों प्रकारके मन गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यच मनुष्योंके होते हैं। और ऐसे जीव शास्त्रमें 'संज्ञी' नामसे परिचित हैं।

मन रहित होनेसे 'असंज्ञी' कहे जाते ऐसे समूर्च्छित पंचेन्द्रिय तिर्यच और मनुष्य, तथा एकेन्द्रियसे लेकर चउरिन्द्रिय तकके जीव इन सबके द्रव्यमन नहीं होते। लेकिन अल्प ऐसा भावमन जरूर होता है। मनःपर्याप्ति नामकर्मके उदयसे जीव यह क्रिया करनेकी ताकत रखता है।

तीर्थकर—सर्वज्ञोंके मात्र द्रव्य मन ही होता है। अब उन्हें भावमनकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि तब तो वे कृतकृत्य हुए होनेसे उन्हें अखिल विश्व त्रैकालिक भावसे आत्मप्रत्यक्ष हुआ होनेसे, अब कुछ भी जाननेके लिए उन्हें विचार करनेरूप रहा ही नहीं। विचार करनेमें उपयोगी कर्म नष्ट हो गया है। सिर्फ दूसरेको जवाब देना हो, तब ही 'द्रव्यमन'को (मनोवर्गणाके पुद्गलोंको) भेजनेकी आवश्यकता पड़ती है। तत्हेतु उसका अस्तित्व स्वीकृत है। साथ ही यह मन शरीरके अमुक भागमें ही रहता है ऐसा नहीं है, परंतु सैमैत्र शरीरमें व्याप्त है, इतना सही कि हृदय भागमें उसका प्रमाण विशेष है।

२. वचनबल—वचन विषयक व्यापार किया जा सके ऐसी शक्ति। अब शक्तिके बलसे ही जीव वचनयोग अर्थात् वचनका व्यापार कर सकता है। बल और योग दोनोंके कारण कार्यभाव द्वारा भाषा प्रवर्तन होता है। वचनबल कारण है, जब वचनयोग (बलका) कार्य है। अब वह वचनबल या वाणीका बल किस तरह उपयोगी बनता है वह देखें।

जीवको जब बोलना हो तब आकाशके अंदर रहे स्वात्मप्रदेशावगाही, भाषा बोलनेमें उपयोगी ऐसे भाषावर्गणाके पुद्गल स्कंधोंको अपने काय (शरीर) योग द्वारा ग्रहण करे अर्थात् खिंचे, फिर जैसा बोलना हो, वैसा वाणीरूपमें परिणत करे अर्थात् उस प्रकार संस्कारित करे, फिर परिणत पुद्गलोंके आलंबनसे वचनका व्यापार करे—बोले—वाणीका उच्चार करे (जिसे वचनयोग कहा जाता है) और तत्पश्चात् साथ साथ उच्चारित या व्याप्त बने भाषाके पुद्गलोंका विसर्जन करे।

यहाँ काययोगसे भाषा वर्गणाके पुद्गलोंका ग्रहण और परिणमन तथा वचनबलसे भाषा बोलनेका और विसर्जनका कार्य होता है। वचनबल श्रेष्ठ हो तो तीव्रोच्चार, मंद

५३८. बलवत्तर कोटिका—विचार समर्थ—मन भले ही न हो, लेकिन सूक्ष्मकोटिका द्रव्यमन—अर्थात् अस्पष्ट मनोविज्ञान—मूर्च्छित मनुष्यकी तरह जरूरत होती है। ऐसा कोई कोई ग्रंथकार मानते हैं। ५३९. दिगम्बर सिर्फ हृदयकमल व्याप्त, और नैयायिक मात्र 'अणु' प्रमाण और अन्य दर्शन विभिन्न रीतसे मानते हैं। लेकिन श्रुताम्बर मान्यता ऊपर कही वह है। ५४०. 'गिण्डइ य काइएणं, निसिरइ तह चाइएणजोएणं।' [आ० नि०]

हो तो मंदोच्चार होता है। लेकिन यह संभाषण बलसे ही शक्य बनता है। पहले समय पर पुद्गलग्रहण, दूसरे समय पर परिणमन और फिर अवलंबन लेने पूर्वक बिसर्जनका कार्य होता है।

भाषाका व्यापार या बोलनेकी प्रवृत्ति जीवके ही होती है। अजीवके होती ही नहीं। ८४ लाख जीवायोनिमेंसे ५२ लाखको तो भाषाका योग ही नहीं है, इन जीवोंके मात्र एक 'स्पर्श' इन्द्रिय ही है, रसना-जीह्वा इन्द्रिय ही नहीं होती। शेष ३२ लाखमेंसे ६ लाख (दो, तीन या चार इन्द्रियवाले) की भाषा अस्पष्ट है। शेष २६ लाख (लगभग)की स्पष्ट भाषा हो सकती है। यह स्पष्ट भाषा भी भाषापर्याप्तिनामकर्मका तथा अंगोपांगनामकर्मका स्पष्ट उदय वृत्तित हो उसे ही होता है। वरना मनुष्य होने पर, जीभके रहने पर भी मूंगापन, तोतलापन आदि प्रकारकी क्षतियोंके कारण बोल नहीं सकता, स्पष्ट वद नहीं सकता, न तो व्यवस्थित संभाषण कर सकता।

भाषाके बारेमें अन्य थोड़ी विचारणा करें

भाषाका व्यवहार मुख द्वारा होता है। इसमें देखनेवालेकी दृष्टिसे तो सहायक रूपमें मुखसे कंठ तकके अवयव दीखते हैं। शायद हम ऐसा समझते हैं कि बोलनेकी क्रियामें मात्र वर्ण, शब्द और मुखादि स्थान ही साधनरूप हैं, और दूसरा नहीं है, तो वह बात बराबर नहीं है। पूर्वोक्त दोनों वस्तुएँ, ऊपरान्त जिसके बिना भाषा बन ही न सके वह वस्तु तो है भाषा बोलनेमें उपयोगी, विश्व न्याप्त एक प्रकारके (भाषा योग्य) पुद्गल परमाणु-स्कंध।

जैन सिद्धान्तकारोंने समग्र विश्वके संचालनमें आठ प्रकारके परमाणु माने हैं। इन परमाणुओंसे (अर्थात् उसके स्कंधोंसे) समस्त विश्व भरा है। और इससे ही विश्वका प्रच्छन्न या प्रकट रूपमें संचालन हो रहा है। इन आठ प्रकारोंमें एक 'भाषा' में उपयोगी हो सके ऐसे परमाणु हैं। ये परमाणु अखिल ब्रह्मांडमें (स्वर्ग-मृत्यु और पाताल आदि) सर्वत्र व्याप्त हैं।

कोई भी जीव जब शब्द बोलनेको तैयार होता है तब तुरंत ही लोहचुंबक जैसे लोहेको ही खिंचता है (अन्यको नहीं) वैसे वह अपने आत्मप्रदेशोंको अवगाहन करके रहे पुद्गलोंको अत्यन्त वेगसे ग्रहण कर लेता है और जिस प्रकारसे बोलना हो उस प्रकारसे (काययोग द्वारा) परिणत करता है, और फिर वचनयोगके बलसे गृहीत पुद्गलोंके सहकारसे भाषाका उद्गम होता है। अर्थात् उच्चार करता है।

इससे तात्पर्य यह निकला कि हरेक जीवोंको बोलनेके लिए भाषा पुद्गलोंकी अनिवार्य आवश्यकता है। काययोग द्वारा पुद्गल ग्रहण और परिणमन तथा वचनयोग द्वारा भाषा पुद्गलोंका वचनरूपमें निर्गमन समझना। यह बात ऊपर कही गई है।

यहाँ बोलती है आत्मा, बोलनेका स्थान है शरीरवर्त्तीमुख, बोलनेका मुख्य साधन (माध्यम) है भाषावर्गणाके पुद्गल, बोलनेकी शक्ति या व्यापार करानेवाला है वचनयोग, इस व्यापारको व्यक्त करनेका साधन वर्ण—अक्षर हैं। यहाँ यह बात भी समझ लेना कि पुद्गल शब्दकी बात जहाँ आई वहाँ पुद्गलसे एक द्रव्य पदार्थ समझना और उसे वर्ण, गंध, रस, स्पर्श अर्थात् रंग, गंध, स्वाद और स्पर्श होते हैं। जैन शास्त्रोंने पुद्गलोंसे क्षीर—नीरकी तरह संमिश्रित भाषाको द्रव्य—पदार्थरूप मानी है। और इस बातका सबूत आजके विज्ञानने साक्षात् करा दी है। उसी बात पर हम आबें।

भाषा पुद्गलका ही पिण्ड है। इस पिण्डमेंसे भाषाका आविष्करण होता है। अतः ही वेहें मूर्त—रूप या आकारवाला है। जैसे शब्द ऐसे पुद्गलके आकार। जो वस्तु पुद्गल रूपमें होती है उसके अनेक स्वभाव होते हैं। जैसेकि ग्रहण—विसर्जन—उपघात, अधः, ऊर्ध्व, तिर्यक्, प्रसरण, वायु और अग्निके संयोगसे ह्रस्व दीर्घ प्रसरण, अल्पाधिक प्रवर्त्तन आदि आदि।

अब जैन शास्त्रोंने शब्दको पुद्गल पदार्थ माना। पदार्थ माना इसलिए कोई चीज—वस्तु बनी। और तब ही उसे फोनोग्राफके रिकार्डमें, टेपरिकार्डमें और बिजलीके तारमें, रेडियोमें, (मेगनेट और इलेक्ट्रीसिटी आदिकी मददसे) पकडा जा सका और बोले गए शब्दोंका बरसों तक अस्तित्व टिक सका। अस्तु।

भाषाके लिए जैन दर्शन ऐसा कहता है कि भाषा ज्यों ही बोली जाती है कि

५४१. वर्णके पांच, गंधके दो, रसके छः और स्पर्शके आठ प्रकार हैं। ५४२. न्यायशास्त्र शब्दको आकाशके गुणरूप मानता है। आकाश अमूर्त—अरूपी है। अतः उसका गुण भी अमूर्त—अरूपी है। ऐसा प्रतिपादन करता है। अगर यह बात सच हो तो, वह आकाशकी तरह सर्वत्र व्याप्त होना चाहिए। लेकिन वैसा देखनेमें नहीं आता। शब्द सर्वत्र नहीं है। श्रोत्रेन्द्रिय दीवार आदिसे उपघात पाती है (रुकती है) और पुद्गलके स्वभाव उसमें देखनेको मिलते हैं। अतः उसे आकाशका गुण मानना असत् है। साथ ही शब्द तो रूपी ही है। अर्थात् आकारवाला है और रूपीका जन्म अरूपीमेंसे कभी नहीं हो सकता। ऊपरान्त शब्दके प्रतिषेध पडते हैं यह बात भी शब्द रूपी है उसे सूचित करता है।

तुरंत ही उसके पुद्गल चार ही समयमें (एक सैकण्डके अँरबोंवें भागमें) समग्र लोक-विश्वके ब्रह्मांडमें व्याप्त हो जाते हैं ।

लेकिन यहाँ इस प्रश्नको अवकाश मिलता है कि-जो शब्द लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक (अरबों अरबों मील) में फैलते हैं । वे क्या मूल पुद्गल ही हैं ? शास्त्र कहता है कि नहीं । मूल पुद्गलोंकी गति-वारह योजन (अर्थात् ४८ कोस) से अधिक नहीं होती । लेकिन फिर अपनी आवाजकी गतिकी समश्रेणीमें वर्तित पुद्गलोंको मूल पुद्गल स्वयं ही वासित करते जाँ अर्थात् अपने शब्द संस्कार देते जाँ और बहुधा तो उन वासित पुद्गलोंके ही शब्द अन्योको सुनने मिल सकते हैं । रेडियोके द्वारा हजारों मील दूरसे बोले जाते शब्द हजारों मील दूर, जो सुने जाते हैं वे वासित किए पुद्गलोद्भव शब्द ही सुनाई देते हैं । हजारों मनुष्योंके या पशुओंके मुखसे निकलते शब्दोंके पुद्गल विश्वमें सर्वत्र देखते देखते प्रसारित होते ही हैं, अग्नि और वायु दोनों पदार्थ, उन्हें पकड़कर ध्वनिरूपमें इच्छित स्थलमें, इष्ट दिशामें प्रसारित कर सकते हैं । आजके वैज्ञानिकोंने शब्द ध्वनिकी तरंगोंके रूपमें फँके जाते हैं यह अनेक रीतोंसे स्पष्ट साबित कर दिया है । अरे ! आज मात्र शब्द ही नहीं, लेकिन इसके ऊपरांत अंधकार, प्रकाश, प्रभा, छाया ये सभी द्रव्य रूपमें हैं । और वे पुद्गल द्रव्य स्वरूप ही है । अर्थात् सभी पदार्थ है । और उन सबमेंसे लहरें या किरणें निकलती ही हैं ।

भाषा यह एक अदभुत चीज है । समग्र जगतका व्यवहार इससे ही चलता है । वर्णोंके न होने पर शब्द नहीं बनते, शब्द न हों तो वाणी नहीं बनती, अच्छा या बुरा करनेमें प्रायः भाषा ही निमित्त बनती है । अतः प्राप्त हुई बोलनेकी शक्तिका बिना कारण दुर्व्यय न करें, अच्छा बोलिए, सत्य बोलिए, पथ्य बोलिए, परिमित बोलिए, जूठे मुँहसे न बोलिए । वाणी तो वशीकरण है । अतः स्वपरके हितमें उसका उपयोग करें । भाषा पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है लेकिन पाठ्य ग्रन्थमें इतना पर्याप्त हैं ।

अंधकार, प्रभा किस तरह पुद्गल रूप है ? उसके विशेष विवेचनको यहाँ स्थान नहीं है ।

५४३. शास्त्रीय शब्दोंमें-अरबोंवाँ नहीं लेकिन असंख्यातवाँ भाग । ५४४. कुछ लोग अंधकारके लिए तेजका अभाव उसका नाम अंधकार ऐसा कहते हैं । कोई उसे वर्ण, गंध, रस, स्पर्श है ऐसा मानते भी नहीं हैं । लेकिन जैन दर्शनने उसे स्वतंत्र पुद्गल द्रव्यपदार्थ माना है । ओलीवर लोज नामके वैज्ञानिकने प्रयोगोंके द्वारा निश्चित किया था कि अंधकार द्रव्य-चीज है । अगर इन प्रयोगोंमें बड़े पैमानेमें सफलता मिलेगी, तो दिनमें भी मैं किसी भी शहरको अंधकारमय कर दूँगा । इस परसे जैन मान्यताएँ सर्वत्र कथित ही हैं इसकी इससे अधिक प्रतीति क्या हो सकती है ?

उसा-उच्छ्वास- नवें उच्छ्वास प्राणकी व्याख्या देता है। इसका पूरा नाम 'श्वासोच्छ्वास' है। लेकिन गाथा छंदका मेल करने अथवा तो उच्छ्वास ऊर्ध्वगमनशील है। श्वासोच्छ्वासमें लेने-छोड़नेकी दोनों क्रियाएँ अन्तर्गत होने पर भी लेनेकी क्रियाका विशेष प्राधान्य है। मनुष्य जीवित है या नहीं? इसका स्पष्ट और शीघ्र ख्याल यह सब उच्छ्वासके ही आभारी होनेसे 'उसा' का किया गया संक्षिप्त प्रयोग गलत नहीं कहलायेगा। और उच्छ्वास लिया तो छोड़नेका तो है ही अतः उच्छ्वासके बाद निःश्वास तो अर्थापत्ति न्यायसे स्वयं आ ही जाती है।

श्वास और उच्छ्वासकी दिखाई देती जो क्रिया है उसे प्राण ही कहा जाएगा। उसकी प्रक्रिया ऐसी है कि श्वासोच्छ्वास लेनेमें उपयोगी ऐसे (श्वास वर्गणके) पुद्गलोंको ग्रहण करने, ग्रहणके बाद श्वासोच्छ्वासरूपमें परिणत करने (या अनुकूल करने) फिर जरा अवलंबन लेकर उस श्वासोच्छ्वासको लेने छोड़नेके व्यापारके द्वारा विसर्जन करनेको प्राण कहा जाता है।

यह सब कैसे बनता है? तो आठ कर्मोंमेंसे छठे नाम कर्ममें श्वासोच्छ्वास नामका एक गौण कर्म है। इस कर्मके उदयसे जीवोंके उच्छ्वासकी लब्धि शक्ति प्राप्त होती है। यह उच्छ्वास लब्धि या शक्तिसे जीव श्वासोच्छ्वासके पुद्गलोंको उच्छ्वास रूपमें परिणत करके श्वासोच्छ्वास लेकर छोड़ सके वैसे प्रकारकी योग्यतावाले बना सकते हैं। अब उस योग्यता प्राप्त पुद्गलों या शक्तिको उपयोगमें लेनी है। क्योंकि उसका उपयोग उच्छ्वास-निःश्वासरूपमें करनेका है, और यह व्यापार अन्य बल-शक्तिकी सहायके बिना नहीं होता। इसके लिए जीवको श्वासोच्छ्वास पर्याप्त-शक्तिकी अनिवार्य जरूरत पड़ती है। इस तरह लब्धि और पर्याप्ति दोनोंके सहयोगसे 'प्राण' (श्वासोच्छ्वासकी क्रिया) उत्पन्न होती है।

श्वासोच्छ्वास लब्धि न होने पर श्वासोच्छ्वास लेनेकी शक्ति या योग्यता होने

५४५. छलांग या कुदान लगानी हो तो प्रथम कमरके द्वारा शरीरको जरा पीछे खिंचकर शरीर संकोचनके द्वारा नया बल जागृत करनेके बाद ही छलांग लगाते हैं; सामान्यतः रेलगाडी भी पीछे धक्का लगानेके बाद ही आगे बढ़ती है। बाणको प्रक्षिप्त करना हो तो उसे प्रथम कानकी तरफ पीछे खिंचकर ही बादमें छोड़ा जाता है। उस तरह श्वासोच्छ्वासके पुद्गलोंको भी तथाप्रकारके प्रयत्न द्वारा अवलंबन लेकर उन पुद्गलोंके अवलंबनके द्वारा ही उत्पन्न हुई विसर्जन योग्य शक्तिके द्वारा श्वास छोड़नेके साथ साथ उन पुद्गलोंका विसर्जन हो जाता है। विसर्जनको अगर साध्य मानें तो अवलंबनको साधन कहा जा सकता।

पर भी उसका व्यापार नहीं हो सकता। इसके लिए पर्याप्तिका बल मिलना ही चाहिए, तब धौंकनी क्रियाशील बन सकती है।

जैसेकि—एक सैनिकने स्वकर्मके प्रतापसे स्वतः बाण छोड़नेकी शक्ति तो प्राप्त की है। परंतु धनुषग्रहणादि क्रियाका सहारा न ले तो शक्ति होने पर भी शक्तिका व्यापार नहीं कर सकता। इस तरह श्वासोच्छ्वास नामकर्मके प्रतापसे श्वासोच्छ्वास ले सके ऐसी लब्धि—शक्ति (श्वा० लब्धि) पाई है। लेकिन श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिके सहकारके बिना श्वास प्राण (लेने—छोड़नेकी क्रिया) रच नहीं सकते, उनके मिलनसे ही प्राण प्रकट होते हैं। इसमें श्वासोच्छ्वास नामकर्म, लब्धि, पर्याप्ति और प्राण चारोंके कार्य बताये। इनमें सामान्यतः कर्म साधन, लब्धि—पर्याप्ति ये सब सहकारणरूप हैं, और प्राण कार्य है।

शंका— श्वासोच्छ्वासके पुद्गलोंको जीव क्या प्राण—नासिका द्वारा ही ग्रहण करके, नासिकाके द्वारा ही छोड़ता है?

समाधान— नहीं, ऐसा नहीं है। इसमें विकल्प है। एक इन्द्रिय, दो इन्द्रियवाले जीव जिनके नासिका होती ही नहीं, उन्हें अपनी तरह नासिकाके द्वारा श्वास लेने छोड़नेका न होनेसे अन्य देखनेवालेको बाह्य श्वासोच्छ्वास क्रिया प्रत्यक्ष दीखती नहीं, लेकिन श्वासोच्छ्वास प्राण उन्हें जरूर होते हैं। अब है तो किस तरह? तो समझना कि समग्र शरीरके प्रदेशोंके द्वारा वे श्वासोच्छ्वासके पुद्गलोंको ग्रहण करके, समग्र शरीरमें ही उन पुद्गलोंको श्वासोच्छ्वासके रूपमें परिणत करके, अवलंबन लेकर सर्व शरीर प्रदेशसे विसर्जन करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि ये जीव मात्र नासिकासे ही नहीं लेकिन सर्वात्मशरीर प्रदेशके द्वारा श्वासोच्छ्वास ग्रहण करते होनेसे उन्हें आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास होता है।

जबकि नासिकावाले जीवोंके तो स्पष्ट रूपसे नासिकासे ही ग्रहण होता है। यह बाहरसे दीखता है अतः उसे बाह्य श्वासोच्छ्वास कहा जाता है। लेकिन प्राण रचनेके लिए होता पुद्गलोंका ग्रहण तो सर्वात्म शरीर प्रदेशके द्वारा ही होता है। लेकिन अपनी सूक्ष्म नजरसे वह दीखता नहीं है। इसे आभ्यन्तर श्वासोच्छ्वास कहा जाता है। उन्हें इस तरह दोनों प्रकारके श्वासोच्छ्वास घटाये जाते हैं।

यहाँ एक बात ख्यालमें रखनी कि श्वासोच्छ्वासमें पुद्गलोंका ग्रहण, परिणमन और विसर्जन सब एक ही काययोग अर्थात् समग्र शरीरसे ही होता होनेसे उस (श्वासो०) नामका अलग योग न मान कर उसका काययोगमें ही समावेश किया है।

कोई ऐसा मानता हो कि मनुष्यादि जो श्वास ग्रहण करते हैं उसमें मात्र नासिका साधन, और आयुःका सहकार यही कारण है, तो वह बात सर्वथा बराबर नहीं है। इस प्राणमें मुख्य हिस्सा पुद्गलोंका ही है। लेकिन अरुपज्ञ उसे प्रत्यक्ष न देख सकनेके कारण अन्यथा बोलें तो उनकी बात यथार्थ नहीं हो जाती।

इस श्वासोच्छ्वाससे यह जीवित है या मृत? इसकी परीक्षा भी आयुष्यके अन्तिम क्षणमें की जाती है। वह जल्दी चले तो आयुष्यके दलियेका जल्दी क्षय माना जाता है और मनुष्यकी मृत्यु नजदीक लाता है।

सामान्यतः जिनका शरीर स्वस्थ और जिनका संसार शांत और सुखी, उनका श्वासोच्छ्वास व्यापार स्थिर, दीर्घ और निराबाध होता है। जैसे कि देव। वे अत्यन्त स्वस्थ और सुखी हैं। तो उनमें (सबसे छोटा) देव ९६ मिनटके अंतर पर एक बार श्वास लेता है।

और जिसका शरीर अस्वस्थ और जिसका संसार अशांत और दुःखी हो उसका श्वास चंचल, गतिशील और कष्टप्रद होता है। जैसे कि नरकके जीव। उनकी श्वास क्रिया प्रतिक्षण अतिशीघ्र चलती होती है।

तात्पर्य यह कि सामान्यतः सुखी जीवोंको श्वासकी अनुकूलता और दुःखी जीवोंको प्रतिकूलता रहती है।

आउ०— आयुष्य। यह दसवाँ प्राण है। इस विषयक विस्तृत विवेचन तो इसी ग्रन्थके पन्ने १७५ से १७८ तकमें दिया है। जिससे यहाँ तो संक्षेपमें ही दिया जाता है। जिदगी, जीवन, आयु या आयुष्य ये प्राणके ही पर्याय हैं। आयुष्य एक प्रकारके पुद्गलोंका समूह रूप ही है। इन पुद्गलोंके आधार पर वह किसी भी एक देहमें शरीरधारी बनकर रह सकता है। किसी भी प्राणीके जीवन-दीपको जलता रखनेवाला आयुष्य कर्मके पुद्गल रूप ही है। इसलिए उसे प्राणसे संबोधित किया है। उसके रहनेकी काल मर्यादा, पुद्गलके समूहका प्रमाण यह सब गत जन्मके कर्म पर आधार रखता है। इसलिए उसके द्रव्यैयुष्य और कालायुष्य ऐसे दो भेद पड़ते हैं। कालायुष्यके अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय ऐसे दो भेद हैं। और अनपवर्त्तनीयके सोपक्रम और निरूपक्रम ऐसे दो भेद हैं। अपवर्त्तनीय आयुष्य सोपक्रम ही होता है।

५४६. अतीन्द्रिय ज्ञानका विषयभूत होनेसे। ५४७. यहाँसे होते भेद-प्रभेद तथा आयुष्य संबंधित अन्य हकीकतोंके लिए देखिए पृष्ठ १७५ से।

द्रव्यायुष्य अर्थात् जितने कर्म पुद्गलोको जीव लेकर आवे उतने पूर्ण करके ही मरे। यह एक निश्चित बात है। लेकिन कालायुष्यमें अर्थात् अमुक बरस जीनेकी मर्यादामें परावर्त्तन जरूर हो सकता है। इसी लिए अकालमें भी जीवन दीपक बुझ जाता है। उस समय भी आयुष्यके सर्व पुद्गल तो अवश्य क्षय पाते हैं, परंतु उसमें सर्व काल स्थितिका क्षय नहीं होता। लेकिन वह स्थिति संक्षिप्त हो सकती है। यह स्थिति सात प्रकारके उपक्रमोंसे तूटनेकी संभावना है। आयुष्य घटनेके असंख्य निमित्त कदम कदम पर खड़े होते हैं। लेकिन बढ़नेका कोई निमित्त विश्वमें अस्तित्वमें नहीं है। और इसका कारण यही है कि आयुष्य गत भवमेंसे नियत होकर बादमें ही जीव आगामी भवकी देह धारण करता है। एक भवका आयुष्य पूर्ण होने पर ही दूसरे भवका उदित होता है। एक देह छोड़कर दूसरी देह धारण करनेमें एक से चार समय तकका समयान्तर रहता है। लेकिन नये भवके आयुष्य कर्मका उदय तो उस समय चालू हो गया ही होता है। लेकिन शरीर संयोग उत्पत्तिके प्रथम समयसे ही पर्याप्ति बनाते शुरु हो जाती है। समग्र संसारमें अन्य प्राणोंके अस्तित्वमें विरह पड़ता है लेकिन आयुष्य प्राणोंका विरह एक समय भी नहीं पड़ता। क्योंकि दूसरे प्राण तो उत्पत्ति स्थानमें उत्पन्न होनेके बाद इन्द्रिय

५४८. एकेन्द्रिय आदि जिस जीवके जितने प्राण होते हैं, उन प्राणोंमें आयुष्यके सिवाय दूसरे प्राणोंका एक भवसे दूसरे भवके बिच अंतर पड़ता है। लेकिन आयुष्यका जरा भी अंतर नहीं पड़ता। पांच इन्द्रिय रूपी प्राण एक भवमेंसे दूसरे भवमें उत्पत्ति स्थानमें पहुँचनेके बाद इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद इन्द्रियप्राण तैयार होता है। शरीरपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद शरीरबल नामका प्राण तैयार होता है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति होनेके बाद श्वासोच्छ्वास प्राण तैयार होता है। भाषा पर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद वचन बल और मनः पर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद मनोबल नामका प्राण तैयार होता है। इस तरह एक भव पूर्ण होनेके बाद दूसरे भवकी शुरुआतसे ही सारे प्राणकी हाजिरी नहीं होती। बिचमें अंतर्मुहूर्त्त आदिका अंतर पड़ता है। परंतु आयुष्य प्राणमें एक समयका भी अंतर नहीं पड़ता। एक भवका आयुष्य जिस क्षणमें संपूर्ण भोगा गया इससे अनंतरक्षणमें आते भवके आयुष्यका भोग शुरु हो जाता है। वक्रागतिसे एक भवमेंसे दूसरे भवमें उत्पन्न होनेवाले जीवको वाटमें बहते (अपान्तरालागतिमें) दूसरे कोई प्राण नहीं होते लेकिन आयुष्यप्राण तो आगामी भवके आयुष्यके भोगकी अपेक्षासे अवश्य होते हैं। मृत्युका समय नजदीक आने पर इन्द्रियाँ, वचनबल, मनोबल आदि प्राण प्रायः क्षीण हो जाते हैं परंतु आयुष्य नामका प्राण तो जीवनके अंतिम समय तक अवश्य होता है। विश्वमें कोई भी संसारी जीव ऐसा नहीं मिलेगा जिसे आयुष्यप्राणका भोग वर्त्तित न हो, इन्द्रियादि दूसरे प्राणोंके लिए तो ऊपर बताए अनुसार अंतर पड़ता है। लेकिन आयुष्यप्राणका अंतर एक समय भी नहीं पड़ता। दूसरे प्राण के सिवा जीवन टिक सकता है, लेकिन आयुष्यके बिना जीवन टिक नहीं सकता अतः सारे द्रव्य प्राणोंमें आयुष्यप्राण मुख्य है। ये सारे इन्द्रियादि दस प्राण अलग अलग कर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाले होनेसे द्रव्यप्राणसे पहचाने जाते हैं।

पर्याप्ति पूरी करे तब प्राप्त होते हैं। अतः दूसरे प्राणोंको उत्पन्न होनेमें अंतर्मुद्दृक्का समय चाहिए। आयुष्यप्राण पूर्ण होने पर शेष सारे प्राण (मृत्युके साथ) स्वप्न हो जाते हैं। आगामी भवमें अपने शुभाशुभ कर्मके हिसाबसे जिस जन्ममें जितने प्राण मिलनेके हों उस जन्ममें उतने प्राप्त कर लेता है। किस जन्ममें किस जीवके कितने प्राण हों ? यह बात करके गाथाका विशेषार्थ पूर्ण किया जाएगा।

किस जीवके कितने प्राण हैं ?—एकेन्द्रियोंके पांच इन्द्रिय प्राणोंमेंसे मात्र एक ही स्पर्शन इन्द्रिय, तीन बलमेंसे कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य ये चार ही प्राण होते हैं। दो इन्द्रिय जीवोंके उन्हीं चारके उपरांत रसना (जीम) इन्द्रिय और वचन-बल अधिक होनेसे छः, त्रिइन्द्रियोंके वे ही छः, उपरांत एक घ्राणेन्द्रिय (नासिका) अधिक होनेसे सात, चत्वारिन्द्रियके वे ही सात, उपरांत चक्षुइन्द्रिय एक बढ़नेसे आठ, असंज्ञि पंचेन्द्रियके आठके उपरांत एक श्रोत्रेन्द्रिय अधिक होनेसे नौ और संज्ञि पंचेन्द्रियके मनो-बल अवश्य होता है अतः उसे दसों प्राण होते हैं।

जीवका सामान्यतः विकासक्रम भी ऐसा है कि वह धीरे धीरे अधिक प्राण प्राप्त करता हुआ आगे बढ़ता है। लेकिन प्राणका विकासक्रम शरीरमें नीचेसे ऊपर जाता हो। शरीरके बाद रसना ही, रसनाके बाद ही नासिका इस तरह।

दूसरी बात ध्यानमें यह रखनी कि मनोबल और मनोयोग अलग चीज है। बल अर्थात् शक्ति और योग अर्थात् व्यापार, ऐसा अर्थ होता है। अर्थात् मनोयोग तब कहा जाए जब जीव विचार कर सके ऐसा बल या शक्ति प्राप्त की हो। यह जो मननशक्ति है उसे ही मनोबल कहना है। अर्थात् अगर मनोबलको साधन कहें तो मनोयोगको साध्य कहा जा सकता है। इस तरह ३४० वीं गाथाका सुविस्तृत अर्थ पूर्ण हुआ। [३४०]

अवतरण—स्थानांग आदि सूत्रमें प्रारंभकी आहारादि चार संज्ञाएँ भगवतीजी आदिमें दस और आचारांग आदिमें सोलह संज्ञाएँ दर्शाई हैं। यहाँ दो गाथाओंके द्वारा दस और सोलह संज्ञाओंको बताते हैं। इनमें प्रथम चारों गतिके प्राणीमात्रमें देखने मिलती दस संज्ञाओं (चेष्टाओं-इच्छाओं)को बताते हैं।

ओंहारे भय — मेहुण — परिग्रहा कोह माण माया य ।
लोमे ओहे लोगे दस सण्णा हुंति सव्वेसिं ॥ ३४१ ॥

[प्र. गा. सं. ७१]

गाथार्थ — विशेषार्थवत् । ॥ ३४१ ॥

विशेषार्थ— संज्ञा दो प्रकारकी है । १. द्रव्यसंज्ञा और २. भावसंज्ञा । पुनः भाव-संज्ञा दो प्रकारकी है । १. मतिज्ञानादिज्ञानरूप और २. अनुभवरूप । यहाँ द्रव्यसंज्ञा या ज्ञानरूपसंज्ञाका विषय नहीं है । यह गाथा तो अनुभव रूपमें दीखती संज्ञाओंकी लणाती है । ये संज्ञाएँ स्वस्व कर्मोदयसे प्राणीमात्रके होती हैं । वे कुल १६ प्रकारकी हैं । इनमें दस तो प्राणीमात्रमें होती हैं । लेकिन आगे आनेवाली गाथामें बताई ६ संज्ञाएँ तीन गतिमें नहीं होतीं, मात्र मनुष्योंके ही होती हैं । अर्थात् मनुष्योंके १६ संज्ञाएँ घटित होती हैं ।

अनुभवरूप संज्ञाओंकी व्याख्या:—

१. आहारसंज्ञा— आहारके अभिलाषरूप जो चेष्टा वह । यह आहारेच्छा जीवके वेदनीय कर्मके उदयसे होती है ।
२. भयसंज्ञा — जीवनमें अनेक प्रकारसे अनुभव किया जाता त्रास वह । यह संज्ञा भय मोहनीयकर्मके उदयसे प्रकट होती है ।
३. मैथुनसंज्ञा— पुरुषको स्त्रीके प्रति और स्त्रीको पुरुषके प्रति, तथा पुरुष-स्त्री उभयके प्रति कामाभिलाषकी जो इच्छाएँ जागें वह ।
४. परिग्रहसंज्ञा— पदार्थ परकी मूर्च्छा—ममता । यह लोभ कषाय मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होती है ।
५. क्रोधसंज्ञा — चेतन या जड़ द्रव्यादिके प्रति अप्रीतिका भाव उत्पन्न करे वह । क्रोध, गुस्सा, रोषादि होता है वह इस संज्ञाके कारण है । यह क्रोध मोहनीयकर्मके उदयसे होता है ।
६. मानसंज्ञा — गर्व, अभिमान या अकड़पन आदि इस संज्ञाके प्रतापसे उत्पन्न होता है । यह मान मोहनीयकर्मके उदयसे जन्म पाता है ।
७. मायासंज्ञा — माया, कपट, प्रपंच करनेके परिणाम स्वरूप है । और वह माया मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है ।

५५०. तुलना करें—आहारभयमैथुनानि तथा क्रोधमानमायाश्च । लोभो लोक ओषसंज्ञा दश सर्वजीवा-
नाम् ॥ (भ. श. ७, टीका) ५५१. दब्बे सच्चित्ताह भावेऽणुभवन जाणणा...

८. लोभसंज्ञा — पदार्थों परकी अत्यन्त आसक्ति और उसके प्रतापसे पदार्थादि संचयका शौक बढ़ता जाए। यह लोभ मोहनीयकर्मके उदयके कारण होता है।
९. ओघसंज्ञा — इस संज्ञाके दो अर्थ अलग अलग ग्रन्थकार करते हैं। वह इस तरह—
 १. *मतिज्ञानावरण कर्मके स्वरूपक्षयोपशमसे शब्द और अर्थ विषयक सामान्य बोध हो वह। और इस अर्थसे यह संज्ञा दर्शनोपयोग रूप हुई। २. अथवा “अन्यक्त उपयोग स्वरूप वह। जिसे सहजभाविनी भी कह सकते। और इस संज्ञाके कारण ही लताएँ स्वयं अपना आश्रय टूटकर दीवार पर या वृक्ष पर स्वतः चढ़ती हैं। इत्यादि जो कार्य अमनस्कोंके होते हैं वे ओघसंज्ञाके ही सूचक हैं।
१०. लोकसंज्ञा— इस संज्ञाके भी ग्रन्थकार दो अर्थ करते हैं। १. *मतिज्ञानावरणीय कर्मके स्वरूपक्षयोपशमसे शब्दार्थ विषयक जो बोध हो वह। और इस अर्थसे यह संज्ञा ‘ज्ञानोपयोग’ रूप है। २. दूसरा अर्थ यह है कि जनताने अपनी अपनी कल्पनाओंसे निश्चित किये निर्णयोंका आदर करना वह। जैसे कि “अपुत्रकी सैद्धान्ति नहीं होती। ब्राह्मणपुत्र देवैर्तुल्य हैं। कुत्तेके यक्षे यमराज है। कुत्ते यमराजको “देखते हैं। मयूरीको स्वपंखोंके बाँधुसे गर्भ रहता है। कर्णका जन्म कानमेंसे हुआ था। अगस्त्य ऋषि समग्र समुद्रपान कर गए।” ऐसी ऐसी अनेक मान्यताओं—संज्ञाओंको ज्ञानावरणीयके क्षयोपशम और मोहनीयके उदयवाले लोग खड़ी करते हैं और प्रचार करते हैं।

* यह प्रवचनसारोद्धार टीकाका अभिप्राय है। ५५२. यह आचारांग नि० गा० ३३ की वृत्तिके अभिप्रायसे। ५५३. वेदिकादि इतर ग्रन्थोंमें एक सुप्रसिद्ध वचन है कि ‘अपुत्रस्य गतिर्नास्ति मोक्षो नैव च नैव च’ (म० स्मृ०) अर्थात् अपुत्रकी गति नहीं होती और मोक्ष तो नहीं ही नहीं है। अर्थात् उसका स्वर्ग-मोक्ष नहीं होता। ५५४. ‘ब्राह्मणाः भूदेवाः’ ब्राह्मण पृथ्वी परके देव हैं। ५५५. यमराजा कुत्तेका रूप लेकर आते हैं और जीवको परलोकमें ले जाते हैं। ५५६. अथवा दूसरी एक सुप्रसिद्ध है कि मयूरी क्षण पर मृतकको लेने यमराज आते हैं। उन्हें कुत्ते देख सकते हैं। इसीलिए कुत्ते रोते हैं और इसी लिए लोग भी रोते कुत्तोंको अमंगल मानकर भगाते हैं। ५५७. दूसरा मानना यह भी है कि मयूरीका अश्रु बिंदु मयूरी चाखे तो भी उसे गर्भ रहता है।

ये "दसों संज्ञाएँ सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकारके जीवोंके होती हैं और चारों गतिके जीवमात्रमें होती हैं।

चारों गति आश्रयी मौलिक चार (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह) संज्ञाओंके स्वाभीकी संख्याका स्थूल विचार करें तो, नरकगतिमें मैथुन संज्ञावाले जीव अल्प, तिर्यचमें परिग्रह संज्ञावाले अल्प, मनुष्योंमें भय संज्ञावाले अल्प और देवोंमें आहार संज्ञावाले अल्प हैं।

किस संज्ञाका कहाँ प्राधान्य ? इसका भी स्थूल विचार करें तो, देवोंमें लोभ संज्ञाका प्राधान्य, मनुष्योंमें मान दशाका, तिर्यचोंमें मायाका और नारकोंमें क्रोध कषायका प्राधान्य है।

वर्तमानमें परिग्रह संज्ञाका प्राबल्य अधिक दीखता है। और इसके बल पर अन्य संज्ञाओंका प्राबल्य बढ़ता है। चारों संज्ञाएँ संसारवर्धक हैं। इनसे अनेक अनिष्ट, दुःख, क्लेश और अशांतिकी आगें जलती हैं। इन चारों आगोंको बुझानी हो और संसारका नाश करना हो तो, उसके प्रतिपक्षी स्वरूप दान, शील, तप और भाव इन चारों धर्मका नितान्त सेवन करना चाहिए। दानधर्मके सेवनसे परिग्रह संज्ञाका नाश, शीलसे मैथुन-वासना संज्ञाका, तपसे आहार संज्ञाका और भावसे मनकी चंचलताकी कमी होती है। इस तरह चारों भावनाएँ अनादिकालसे उत्पन्न हुई बीमारीको दूर करनेका रामबाण उपाय

५५८. क्या एकेन्द्रिय जीवोंमें दस संज्ञाएँ घट सकती हैं ? १. वृक्षोंका जलाहरण 'आहार संज्ञा' को सूचित करता है। २. लज्जावन्ती आदि वनस्पतिके स्पर्श करने पर भयसे संकुचती है वह 'भय संज्ञा'। ३. स्त्रीका आलिंगन या उसका श्रृंगारिक वचनोंसे कुरबक आदि वृक्षका उर्वर होना। तथा श्रृंगार-सञ्ज स्त्रीको देखकर कुएँका पृथ्वीकायिक पारा हर्षावेशमें आकर उछले वह 'मैथुन संज्ञा'। ४. लताएँ वृक्षके आसपास आवृत्त होती हैं वह 'परिग्रह संज्ञा'। ५. कोकनद नामका रक्तकमलका कंद, कोई उसके नजदीक जाए तब अप्रसन्नतासे हुंकार करे वह 'क्रोध संज्ञा'। ६. सोना सिद्धिके लिए उपयोगमें आती रुदन्ती नामकी लता जो रस वर्षा करती है, वह ऐसा जाहिर करती है कि मैं जीती जागती इस सृष्टि पर बैठी हूँ, फिर भी यह जगत् क्यों मेरा उपयोग करके दरिद्रता वृद्ध नहीं करता, यह 'मानसंज्ञा'। ७. बेलें—लताएँ अपने ही फलोंको पत्रादिकसे ढंककर छिपा देती हैं, यही 'माया संज्ञा'। ८. बिस्व-पलाशादि वृक्ष अपनी जड़ें पृथ्वीमें जिस स्थान पर निधान हो उसके पर ही बिछाते हैं यह 'लोभ संज्ञा'। ९. लताएँ फैलती फैलती स्वयं वृक्ष या दीवारका आश्रय पा लेती हैं और ऊपर चढ़ने लगती हैं यह 'ओध संज्ञा' है। १०. रात्रि पडने पर कमलादि पुष्प बंद हो जाते हैं, संकुच जाते हैं, यह 'लोक संज्ञा'। यहाँ स्थूल १० संज्ञाएँ कहीं लेकिन क्षुद्रजंतु, पक्षी, पशु, और यावत् मनुष्यका भी शिकार करती हिसक वनस्पतियाँ भी इस सृष्टि पर विद्यमान हैं। अलग अलग संगीतिके नादसे प्रसन्न होती अनेक प्रकारके आकारों, विचित्रताओं, तरह तरहकी खासियतों और चमत्कारोंके स्वभावोवाली हजारों वनस्पतियाँ हैं। इन वनस्पतियोंका भी एक महा विज्ञान है। इनके अभ्यासके लिए अनेक जिदगियाँ पूरी नहीं पडतीं।

है। संसारवर्धक इन चारों संज्ञाओंको तोड़ने, मोक्षप्रापक चारों धर्मका आराधन करने सतत जागृत रहना मानव जीवनका अनिवार्य कर्तव्य हैं। [३४१] (प्र. गा. सं. ७१)

अवतरण—दस संज्ञाएँ कहकर मात्र मनुष्योंमें १० उपरांतकी अधिक छः संज्ञाओंको कहते हैं।

सुह-दुह मोहा सन्ना, वित्तिगिच्छा, चउदसा मुण्येयव्वा ।

सोए तह धम्मसन्ना, सोल सन्ना हवइ मणुएसु ॥ ३४२ ॥

[प्र. गा. सं. ७२]

गाथार्थ—विशेषार्थवत् । ॥ ३४२ ॥

विशेषार्थ—

११. १. सुख—शातारूप सुखका अनुभव हो वह। यह शातावेदनीयके उदयसे होता है।

१२. २. दुःख—अशातारूप दुःखका अनुभव। यह अशातावेदनीय कर्मोदयसे होता है।

१३. ३. मोह—यह मिथ्या दर्शनरूप है, अर्थात् सत्में असत् और असत्में सत्की बुद्धि होना।

१४. ४. विचिकित्सा—चित्तकी चपलता—विह्वलता या उछाला। यह मोहनीय और ज्ञानावरणीय कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है।

१५. ५. शोक—रुदन, खेद, बेचैनी और वैमनस्यभावको उत्पन्न करनेवाला।

१६. ६. धर्मसंज्ञा—क्षमा, मृदुता, सरलता, सत्य, तप आदि धर्मोंके आसेवनरूप है। यह मोहनीयकर्मके क्षयोपशमसे उदयमें आता है।

ये संज्ञाएँ सम्यग् या मिथ्या दोनों दृष्टिवाले मनुष्योंके संभवित हैं। इस तरह छः संज्ञाएँ पूर्ण हुईं।

इनके सिवा प्रकारान्तरसे जीवोंमें दीर्घकालिकी, हेतुवादिकी और दृष्टिवादिकी ये तीन संज्ञाएँ भी होती हैं। २४ दंडकके द्वारमें इसका वर्णन आया। [३४२] (प्र. गा. सं. ७२)

अवतरण—यह संग्रहणी लघु है या बृहत्? इसके कर्ता कौन? यह क्यों बनाई? इसका खुलासा ग्रन्थकार स्वयं करते हैं।

संखित्ता संघयणी गुरुत्तर संघयणी मज्झओ एसा ।

सिरिसिरि चंदेमुंणिदेण, णिमिया अत्तपढणत्था ॥ ३४३ ॥

५५९. जिनभद्रीया संग्रहणीमें क्षमाश्रमणने ग्रंथका नाम नाणमणंतमणत्थं ता संगहणित्ति नामेणं ॥ १ ॥ यह आद्य गाथामें ही सूचित किया है। जब कि श्री चन्द्रमहर्षिने 'संग्रहणी' नाम इस अंतिम गाथामें सूचित किया है।

गाथार्थ— प्रथम श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणने संक्षिप्त संग्रहणी रची थी। अभ्यासियोंने अन्यान्य गाथाएँ जोड़कर संक्षिप्त या मूल संग्रहणीको ही गुस्तर-बहुत बड़ी बना दी। इस विस्तृत संग्रहणीमेंसे ही उपयोगी हकीकतोंको ग्रहण करके, सम्यग् ज्ञान दर्शन चारित्ररूपी श्री से युक्त, मुनिओंमें श्रेष्ठ ऐसे 'श्रीचन्द्र' मुनिने अपने अध्ययनार्थ पुनः इस (संक्षिप्त) संग्रहणी निर्माण की अर्थात् रची। ॥ ३४३ ॥

विशेषार्थ— आठवीं सदीमें हुए महान भाष्यकार भगवान श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण पूज्यने, अपनी बुद्धिरूपी मथनीसे श्रुतशाल रूप सागरका मंथन करके, अज्ञान विषसे मूछित बने भव्य जीवोंको, पुनर्जीवन देनेमें अमृतके समान एक 'संखित्तासंग्रहणी' संक्षिप्त संग्रहणी उद्घृत की। अर्थात् जो आत्माएँ अधिकारकी दृष्टिसे, बुद्धिमन्दताके कारणसे या समयके अभावसे, बड़े शास्त्रोंका अध्ययन कर सकनेवाले नहीं थे, उन जीवोंको भी अखिल विश्वके अंदर रहे पदार्थोंमेंसे यत्किंचित् पदार्थोंका बोध सुगम रीतसे हो, इसलिए महत्त्वकी गाथाओंको आगमादिक ग्रन्थोंमेंसे अलग करके, अथवा तो महत्त्वके विषयोंको संक्षिप्त रूपमें गाथाबद्ध करके संग्रहरूपमें नवीन गाथाएँ तैयार हुई जिन्हें 'संग्रहणी' (—यीं संग्रहणि) शब्दसे पहचानी गई।

प्रस्तुत संग्रहणी श्री चन्द्रीया टीकाके उल्लेख अनुसार संक्षिप्त अर्थात् अनुमानतः २७३ गीथा आसपास (२७० से २८०?) की थी परंतु इसके पंरें मूल टीका

५६०. जिनभद्रीया संग्रहणीमें क्षमाश्रमणजीने आदि या अंतमें कहीं भी स्वनाम सूचित नहीं किया है। लेकिन टीकाकार श्री मलयगिरिजीने यामकुचत 'संग्रहणी' जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यः' इस उल्लेखसे इसके कर्ता भाष्यकार श्री जिनभद्रगणिजी है, ऐसा स्पष्ट हो जाता है। ५६१. कृतिभेदका ख्याल रहे इसलिए जिनभद्रीया कृतिको 'संग्रहणी', श्री चन्द्रमहर्षिकी कृतिको 'संक्षिप्त संग्रहणी' और ३४४-४५, इन दोनों गाथाओंको 'संक्षिप्ततर संग्रहणी' के रूपमें पहचानने तो अयोग्य नहीं हैं। ५६२. शास्त्रान्तरेषु प्रशापनादिषु विस्तरेणाभिहिता अर्थाः संक्षिप्य गृह्यन्ते प्रतिपाद्यत्वेनाभिधीयन्तेऽस्यामिति [सं० गा० २७२ टीका] पन्नवणादि आगमादि शास्त्रोंमें प्रतिपादित किये अर्थोंको (शब्दों द्वारा) संक्षिप्त करके जिसके अंदर प्रतिपादित किए गए हों वैसी रचनाको 'संग्रहणी' शब्दसे पहचानी जाती है। ...अभिधीयन्ते यथा ग्रन्थ-पद्धत्या सा [मलयगिरिकृत सं० टीका] ५६३. प्रहेरणि [उ० ६३८] रित्यौषादिकेऽणि प्रत्यये संग्रहणिः इतोऽकृत्यर्थादिति [सि० २-४-३२] विकल्पेन डी. प्रत्यये च संग्रहणी। ५६४. इयं पूर्वं भगवता जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणेन...उद्घृता...संक्षिप्ता संग्रहणी। ५६५. मूलसंग्रहणी २७० से २८० लगभग मान-वाली थी इसका प्रमाण क्या? तो संग्रहणी टीकाकारने किया "ननु यदि संक्षिप्तया प्रयोजनं तर्हि मूल-संग्रहण्येवाऽस्तु किं पुनः प्रयासेन प्रायस्तस्या अप्येतावान्माश्रवात्" यह उल्लेख। यहाँ श्री चन्द्रीया संग्रहणीके टीकाकार श्री देवभद्रसूरिजीने जिनभद्रीया संग्रहणीको प्रायः शब्दसे लगभग २७५ आसपासके

अर्थात् प्रथम टीका जो रची गई उस टीकामें साक्षीभूत या उपयोगी जो गाथाएँ दी थीं उनमेंसे और अन्यान्य प्रकरणादिक ग्रन्थोंमेंसे कतिपय गाथाओंको उठाकर अभ्यासकर्त्तोंने श्री जिनभद्राया संक्षिप्त संग्रहणीके साथ जोड़ना शुरु किया और फिर कंठस्थ करने लगे, फिर स्वाध्यायके लिए कागजके पत्रों पर लिखी जाने लगीं, परिणाम स्वरूप उन लिखित प्रतियोंमें लगभग चारसौ और पांचसौ दोनों मानवाली संग्रहणियोंका जन्म हुआ, और

गाथामानवाली बताई। उस अरसेके सार्वभौम टीकाकार श्री मलयगिरिजी, जो जिनभद्राया संग्रहणीके टीकाकार हैं, उनकी मुद्रित की गई, पं. श्री दानविजयजी संशोधित प्रतिमें जो टीका की है वह ३६७ गाथा की है। लेकिन उसी प्रतिमें टीका पूरी होने पर तुरंत ही मूल गाथाएँ छापी हैं, ये ३५३ गाथाएँ छापी हैं और टीका ३६७ की है फिर भी मूल ३५३ क्यों छापीं ? इसके समाधानके रूपमें संस्कृतमें टिप्पण दिया है। उसमें बताया है कि “कुछ प्रतियाँ हमें ५००, ५७५, ४०० से कुछ अधिक इस तरह भिन्नभिन्न प्रमाणवाली मिलीं इससे लगा कि प्रक्षिप्तताका कोई नियम ही नहीं रहा, अतः मूल कर्त्ताने स्वयं ही ३५३ गाथाएँ बनाई थीं और १४ गाथाएँ (३५३+१४=३६७) तो प्रक्षिप्त थीं। उन्हें हमने मूल संग्रहमें न छापीं” लेकिन सवाल यह है कि टिप्पणकार पन्थासजीने किस आधार पर यह निश्चित किया ? लेकिन मान लें कि उन्होंने किसी प्रबल आधार पर लिखा होगा, तो फिर दूसरा प्रश्न यह होता है कि श्री टीकाकार श्री देवभद्रजीने लगभग ३०० गाथाएँ अर्थात् अभी मुद्रित हुई २७५ गाथाओंका उल्लेख क्यों किया होगा ? साथ ही दूसरी बात यह भी है कि प्रक्षेप गाथासे तो प्रमाण श्री देवभद्रजीके कहने अनुसार तो ३७५ से ४९० तकका है, तो उतना कहना चाहिए। इसके बदले पं. श्री दानविजयजीने चौदह गाथाओंको ही प्रक्षिप्त क्यों कहीं ? क्या मलयगिरिजीने टीकामें १४ गाथाओंको ही प्रक्षिप्त रूपमें मानी होगी ? (मैं यह निश्चित नहीं कर सका।) दोनों संग्रहणीकारोंकी मुद्रित गाथाएँ भिन्नभिन्न संख्यावाली मिलती हैं। जिसके कारण एक बड़ी अराजकता संग्रहणी ग्रन्थक्षेत्रमें सर्जित हुई है। इस विषयक चौकस निर्णय लेनेके लिए विशिष्ट प्रयत्न अपेक्षित है। शक्य होगा तो प्रस्तावनामें परामर्श करूँगा।

५६६. मूलटीका (आद्य) किसकी थी ? तो श्री हरिभद्रसूरिजीकी, उसका प्रमाण क्या ? तो श्री मलयगिरिवरने जिनभद्राया (३६७ गाथाकी) संग्रहणीकी स्वकृतटीकामें और श्री देवभद्रसूरिजीने श्री चन्द्रायाकी टीकामें किये हुए उल्लेख। १. अथेयं प्रक्षेपाथेति कथमवसीयते ? उच्यते, मूलटीकाकारेण हरिभद्रसूरिणा लेशतोऽस्या असूचनात् ! [गा० ७३ टीका] इसके सिवाय श्री हरिभद्रसूरिजीका नामोल्लेख ६, ६५, १०२, १५३, १५६, १८६, १९१, ३२५ इन गाथाओंकी टीकामें भी किया है। २. तथा च मूल टीकायां हरिभद्रसूरिः। [गा० २६९ टीका] ५६७. ‘मूलटीकागता भिरन्यान्याभिश्च प्रक्षेपगाथाभिर्वृद्धिं नीयमानाऽधुना यावत् किञ्चिन्मून चतुःशतीमाना पञ्चशतीमाना च गुरुतरा संजाता।’ ग्रन्थका नाम जो ‘संग्रहणी’ है, उस शब्दका अर्थ इतना ही कि जिसमें संग्रह किया गया हो वह ‘संग्रहणी’। यह अर्थ सदाके लिए निश्चित होनेसे श्री चन्द्रमहर्षिके समयमें, गाथामानमें जितनी अराजकता न थी उससे अनेक गुनी बीसवीं सदी तकमें अभ्यासी वर्गने कर डाली है। जिन्हें जिन्हें आगमोंमें या टीकाओंमें जो जो गाथाएँ अपनी अपनी दृष्टिसे कष्ट करने योग्य या जानने योग्य लगीं, उन्होंने अपनी प्रियगाथाओंको मूलकृतियोंमें जोड़कर पठना शुरु कर दिया, फिर वे लिखी बाने लगीं। विद्यार्थियोंके मनको ऐसा भी हुआ होगा कि यह तो ‘संग्रह’ कृत है अतः यथेष्ट जोड़ किया जा सकता है। परिणाम स्वरूप हमें तरह तरहसे मानवाली

उन्होंने कायमी स्थान ले लिया । आज दोनों प्रकारकी संख्या भरपूर हस्तप्रतियाँ उपलब्ध होती हैं यह उसका सबूत है ।

बारहवीं सदीमें जन्मे श्री चन्द्रगुनीश्वरने देखा कि “विद्यार्थियोंने तो मूलसंग्रहणीको बहुत विस्तृत कर दी है, और इसी कारणसे कंठस्थ करनेमें श्रम भी अधिक पड़ता है, साथ ही कुछ अर्थहीन दीर्घता दीखती है, इसलिए उसका पुनरुद्धार करना अर्थात् संक्षिप्त बनानी चाहिए” अतः उन्होंने क्या किया कि प्रथम लगभग ४००, या ५०० गाथायुक्तवाली जो संग्रहणियाँ थीं उनमेंसे, साथ ही उस वक्तकी विद्यमान दो टीकाओंमें जो अर्थ था उसे सोच-विचार कर, उसमेंसे तारतम्य निकालकर, तथा शब्दोंकी भरमारसे अर्थहीन गाथा विस्तार था अर्थात् जो अर्थ दो गाथाओंसे कहा जा सके उसे उससे अधिक गाथाओंसे व्यक्त किया गया हो उसे संक्षिप्त कर डालनेका निश्चय किया । साथ ही सामान्य वाक्योंको छोड़कर, साथमें कुछ नवीन हकीकतोंको जोड़ा, इन सारे प्रयत्नोंके अंतमें गंभीरार्थक शब्दों और भाषा रचनाके कौशल्य द्वारा २७१ गाथा प्रमाणरूप इस श्री चन्द्रीय संग्रहणीकी रचना जन्मी । तार्पर्य यह कि लगभग ४००, ५०० गाथाओंवाली कृतियोंके हिसाबसे इसमें १५०, २०० गाथाओंकी भारी कमी होने पाई ।

शंका—यदि आपको संक्षिप्तका ही प्रयोजन था तो, मूलसंग्रहणी जो स्वयं संक्षिप्त ही थी, उससे स्वोद्देश पार पड़ जाता, तो फिर यह प्रयत्न क्यों किया ?

समाधान—इसका जवाब टीकाकार श्री देवभद्रसूरिजी जो प्रस्तुत संग्रहणीके टीकाकार हैं और संग्रहणीकार महर्षिके शिष्य हैं, वे २७१ वीं गाथा-टीकामें खुलासा करते हैं कि—“गुरुश्रीने स्वकृत संग्रहणीमें जितना अर्थ संग्रह किया है उतना संग्रह मूलसंग्रहणीमें नहीं ही है, संक्षिप्तरूपमें समान है लेकिन ‘थोड़े’ शब्द और

संग्रहणीकी प्रतियाँ जैन भंडारोंमेंसे उपलब्ध होती हैं । दूसरी दृष्टिसे देखें तो ऐसी अराजकता एक अति महत्वपूर्ण सूचन कर देती है कि इस ग्रन्थका अध्यापन-अध्यापन जैनसंघमें कितनी हद तक सचिकर बना होगा ? आजके ज्ञानभंडारोंमें प्रायः संग्रहणीकी सचित्र या अचित्र प्रतियाँ कम-ब्यादा प्रमाणमें जो प्राप्त होती हैं वे उसके व्यापक प्रचारके कारण हैं । ५६८. ‘किञ्चित्तदुभयवृत्तिगतस्य’ श्री चन्द्रीय टीकाकार (गा० २७१) के उल्लेखसे उस समय दो टीकाएँ थीं । एक तो हरिभद्रसूरिजीकी और दूसरी क्या लेवें ? क्या ११३९ में रची गई शीलभद्राया वृत्ति हो सकती है ? ५६९. एक ही अर्थके लिए शब्द क्रियापद, विशेषण आदिका विशेषतः उपयोग किया जाए तो गाथायुक्त बढ जाए । इसी अर्थके सूत्ररचनाके नियमानुसार जरूरी शब्दोंसे संक्षेपमें प्रस्तुत किया जाए तो अर्थ लगभग वही रहने पर भी गाथायुक्त कम किया जा सके ।

अधिक अर्थ, उसमें नहीं है, वे इसमें हैं, अतः हमारे कृपालु गुरुदेवका प्रयास सप्रयोजन और सफल है ।

पुनः कोई तर्क करे कि इतना अधिक अर्थसंग्रह करके विशिष्ट क्यों बनाई ? उसका जवाब संग्रहणीकार (गुरु) स्वयं ही मूलगाथामें देते हैं कि, 'अक्षयपदणत्था' [गा०२७१] मेरे अपने स्वाध्यायार्थ बनाई ।

ऐसा उल्लेख करके सचमुच ! उन्होंने एक जैनश्रमणमें जो होनी चाहिए ऐसी निरभिमानता और सरलताका ही परिचय कराया है। उत्तम, गुणज्ञ और कुलीन आत्माएँ कभी भी अपने परोपकारकी या कार्यकी बधाई गानेके बजाय स्वोपकारको ही आगे धरते हैं। क्योंकि ये महामतिमहर्षि समझते हैं कि स्वोपकारमें परोपकार अपने आप समाया होता ही है। 'लघुतामें प्रभुता समझना' इसका नाम ।

श्रीचन्द्रमहर्षिके शिष्य वास्तविक बातको प्रस्तुत करते हैं—

खुद संग्रहणीकारके शिष्य श्री देवभद्रसूरिजी जो सत्य हकीकत जानते थे, वे स्वयं ही इसी संग्रहणीकी टीकामें बताते हैं कि "हमारे पूज्य गुरुदेवश्री जिन्होंने मानकषायको संपूर्ण क्षीण कर डाला था, वे गंभीर मनवाले हमारे तारक गुरुदेवश्री उद्दंडता व्यक्त हो ऐसे शब्द प्रयोग करना कभी पसंद नहीं करते थे। इसी लिए उन्होंने अक्षयपदणत्था अर्थात् अपने अभ्यासके लिए की, ऐसा बताया लेकिन सचमुच हकीकत यह थी कि उनका यह सफल प्रयत्न नवदीक्षितों और अल्प बुद्धिघना आत्माओंके लिए ही था और यह बात हम उनके सब शिष्य स्पष्ट और अच्छी तरह जानते हैं। टीकामें मैंने जब यह बात लिखी तब मेरे अन्य साथी मुनिवरोंने बताया कि—'ऐसे महामतिमान, श्रुतज्ञानके भंडारसमान और करुणाहृदयी ऋषीने 'अक्षयपदणत्था'—अपने अभ्यासके लिए ऐसा अत्यल्प लघुतासूचक वाक्य बोलना नहीं चाहिए था ।

इसके जवाबमें टीकाकारने स्वगुरुकी लघुताको न्याय देने, प्रस्तुत उद्गारोंको अंकित करते हुए बताया कि "यह लघुता ही उनकी श्रुतसंपत्ति तथा महत्ताकी सूचक है। कैसा सुंदर खुलासा !"

साथ ही टीकामें ऐसा बताया है कि, संक्षिप्त रचना, परस्परश्रुतका और स्व—पर शास्त्रका स्वाध्याय और अनुचितन करनेवाले, तथा अपने अपने गच्छ और श्रीसंघके कल्याण आदि व्यापारमें अग्रगण्य सेवा देनेवाले महामुनियोंके शीघ्रपाठ और अर्थचितन आदि करनेमें अवश्य अत्यन्त उपकार करनेवाली है। और इस उपकारबुद्धिकी बात हमारे गुरुदेवने

हम सबके समक्ष की है। इसी लिए मैंने उपरोक्त उल्लेख किया है। अगर मेरी मति-
करूपनासे मैं करूँ तो खुलेपनसे गुरुआशातनाका मैं भागीदार बनूँ।

इस तरह टीकाकारने स्वगुरुदेवकी उपकारशीलता और अनुग्रहबुद्धिकी रसिक
हकीकत प्रस्तुत करके स्वगुरुगौरव और भक्ति दिखाई है। धन्य हो! ऐसे गुरु-शिष्योंके
जोड़को! हमारा उन्हें अनंत वंदन।

श्री चन्द्रीया संग्रहणी यहाँ पूर्ण होती है। उसके बादकी गाथाएँ पुनः प्रक्षेप रूपमें
दी हैं। और अंतिम गाथा उनके किसी अनुरागी विद्यार्थीने बनाई होगी। [३४३]

ॐ अर्हं नमः

*

श्रीधरणेन्द्रपद्मावतीपूजिताय-श्रीशंखेश्वरपार्श्वनाथाय नमः।

अवतरण-यह 'श्रीचन्द्रीया' संग्रहणी उत्कृष्टकी अपेक्षा जघन्य है ही लेकिन
उससे भी अत्यंत संक्षिप्त संग्रहणी है, जो सिर्फ दो गाथाके मानवाली और प्रख्यात है,
तथा जो मात्र २४ द्वारोंके नाम मात्रका ही निर्देश करनेवाली है। ये सुप्रसिद्ध गाथाएँ
श्रीचन्द्रमहर्षिकृत नहीं हैं, आगमोक्त हैं। यहाँ उन्हें उद्धृत समझना।

संखित्तैर्यैरी उ इमा संरीरमोगाहणा य संघयणा ।

सन्ना संटाण कसाय लेसं इदिअ दु समुग्घाया ॥ ३४४ ॥

"दिदिठ-दंसण-नाणे जोगुवओगे तहा किमाहारे । उववाय-ठिइ-समुग्घाय-चवणं गह्वरगह्वं चैव ॥ ३६६ ॥

पज्जेत्ति किमाहारे सन्निं-गह्वं-आगह्व-वेएँ ॥ ३४५ ॥

५७०. जिनभद्रीया संग्रहणीमें उपरोक्त गाथाएँ (तफावतयुक्त) नीचे अनुसार दी हैं।

सरीरोगाहणसंघयणसंटाणकसाय हुंति सण्णाओ । लेसिदिअसमुग्घाए सन्नी वेए अ पज्जत्ति ॥ ३६५ ॥

दिदिठ-दंसण-नाणे जोगुवओगे तहा किमाहारे । उववाय-ठिइ-समुग्घाय-चवणं गह्वरगह्वं चैव ॥ ३६६ ॥

इस गाथामें २४ द्वारोंसे युक्त संक्षिप्त संग्रहणी जिस क्रमसे दर्शायी है उससे जिनभद्रीया संग्रहणी
की गाथाओंके क्रममें अंतर (फर्क) आ गया है। वहाँ शरीरोगाहणसंघयणसंटाणकसाय...इस
प्रकार क्रम है।

इसके उपरान्त श्रीचन्द्रीयाकारने गाथा २७२ (अपनी चालू गाथा ३४४) के दु समुग्घाया पदकी
टीका करते हुए 'समुद्घात'का द्वार एक नहीं लेकिन दो है ऐसा सूचित किया है। क्योंकि समुद्घात
के दो प्रकार हैं। इसलिए, दोनोंके लिए अलग-अलग द्वार समझना चाहिए। और यही बात योग्य है
ऐसी प्रतीति इनकी पूर्वकालीन जिनभद्रीया संग्रहणीकी कुछ परिवर्तनयुक्त संक्षिप्त संग्रहणी स्वरूप गाथाएँ ही
कराती है। वहाँ गाथा ३६५ में समुग्घाय तथा गाथा ३६६ में समुग्घाय ऐसा दोनों समय समुद्घात
पदका उपयोग करके समुद्घात के द्वार दो गिनने हैं, ऐसी स्पष्ट रूपसे पृष्ठ रखा ही है। दोनोंके टीका-
कार भी इसी प्रकार ही संमत हुए हैं। लेकिन वर्तमानमें जो प्रकरण 'दंडक' शब्दसे प्रसिद्ध है उनके
कर्ता-रचयिता उपर्युक्त मतसे अलग पड़ते हैं। यह नीचे दी गयी हकीकत से स्पष्ट हो जायेगा।

- गाथार्थ— १. शरीर, २. अवगाहना, ३. संघयण, ४. संज्ञा, ५. संस्थान, ६. कषाय, ७. लेख्या, ८. इन्द्रिय, ९. जीव समुद्घात, १०. अजीव समुद्घात,

वर्तमानमें हमारे वहाँ जीवविचारादि प्रसिद्ध चार प्रकरणोंके अंदर एक दंडकका प्रकरण आता है। अलबत्ता उसका असली नाम क्या है? यह तो रचनाकार ही जाने! क्योंकि उसे आदि या अंतमें कहीं पर भी सूचित किया नहीं है। लेकिन सत्रहवीं सदीके टीकाकार श्री रूपचन्द्रमुनिजी इसके तीन नाम सूचित करते हैं। पहला लघुसंग्रहणी, दूसरा विचारषट्त्रिंशिका और तीसरा षट्त्रिंशिका। इनमें पहला नाम टीकाके मंगलाचरणमें, दूसरा अंतिम ४४वीं गाथाकी टीकामें और तीसरा टीकाकी प्रशस्तिमें है। अंतिम दोनों नाम तो लगभग एक समान ही है, इस लिए 'लघुसंग्रहणी' और 'विचारषट्त्रिंशिका' ये दोनों नाम ही प्रमुख हैं; फिर भी सोचने पर एक ही नाम टीकाकारको अभीष्ट है ऐसा समझमें आता है। उनके कारणोंको जानना यहाँ पर ठीक नहीं है इस लिए नीचे जो विषय प्रस्तुत है उसे ही देखते हैं।

संग्रहणीसूत्र जिसको आज-कल सभी लोग 'बृहत्संग्रहणी' अथवा 'बड़ी संघयणी' (अथवा संग्रहणी) के नामसे पहचानते हैं। इसमें संक्षिप्ततर संग्रहणीके रूपमें ऊपर जो दो गाथाएँ छपी हुई हैं उसी गाथाको ही उसी आनुपूर्वी पर इसी दंडक प्रकरणके प्रारंभमें ही गाथा २ और ३ के रूपमें दी है। गाथाओंमें संपूर्ण समानता होने पर भी अर्थकी दृष्टिसे 'दंडक' के रचयिता स्वयं संग्रहणी मूल और टीकाके आशयसे अलग पड़ते हैं।

संग्रहणीकी दोनों गाथाएँ (और उनके सभी टीकाकार भी) समुद्घातका द्वार एक नहीं लेकिन दो माननेका सूचन करती हैं, जब कि दंडक प्रकरणके रचयिता गजसारमुनिजी दोनों समुद्घातोंका एक ही द्वार मनाते हैं। इसका सबूत दंडककी २० वीं गाथा ही है। मत्वादि तीनों अज्ञानोंको जो चौबीस दंडकोमें दिये गये हैं, वही इसी गाथामें मिलते हैं। यदि २४ द्वारोंमें उस द्वारकी गिनती न होती तो दंडकमें उसका स्वतंत्र स्वरूप वे करते ही नहीं, लेकिन गजसारमुनिजीने प्रस्तुत दोनों गाथाओंमें अज्ञान द्वार शब्द द्वारा सूचित नहीं किया है तो किस आधार पर उन्होंने ऐसी प्ररूपणा की? तो इसके उत्तरमें २४ द्वारोंको संग्रहरूप गाथाओंकी टीका करते हुए ग्रन्थकारने लिखा है कि—

ज्ञानसाहचर्यादप्राप्त्यनुक्तमपि त्रिधाऽज्ञानं...। पतन्सूत्रे नोक्तं बहिर्गम्यम् । और अज्ञान द्वारकी व्याख्या करते २० वीं गाथाकी टीकामें वे लिखते हैं कि—'अथ गाथान्तर्भूतं त्रयोदशमद्वारं निरूप्यते । ज्ञानद्वारान्तोऽज्ञानद्वारमन्तर्भूतं तच्च प्रादुष्कृतम् ॥ इत्यादि । वे प्राचीन प्ररूपणासे अलग क्यों पड़ते हैं? तो हमें लगता है कि इस प्ररूपणाका कोई प्राचीन आधार जरूर होना चाहिए और उसके लिए आगमस्थ दोनों गाथाओंका विवरण जाँचना जरूरी बनता है।

इसके अतिरिक्त भावनगरकी प्रसारक सभाकी ओरसे वि. सं. १९९१ की सालमें प्रकाशित क्षमाश्रमण कृत संग्रहणीकी अनुवादयुक्त पुस्तिकामें पीछे दिये गये यंत्र संग्रहमें ३६ वाँ जो यंत्र दिया गया है, वहाँ ज्ञान तथा अज्ञान इस प्रकार दो द्वार बताये हैं और समुद्घातका एक ही द्वार बताया है।

इसके उपरान्त इस ग्रन्थकी प्रथमावृत्तिमें मैंने भी जल्दीमें अनुवाद पूर्ण करनेकी धूनमें तथा अपने फर्जके प्रति बेपरवाह रहनेके कारण दंडक प्रकरणके मतानुसार २४ द्वार ही बताये हैं। और अब इस समय मैंने अपनी गलती सुधार ली है।

११. दृष्टि, १२. दर्शन, १३. ज्ञान, १४. योग, १५. उपयोग, १६. उपपात संख्या, १७. च्यवन संख्या, १८. स्थिति=आयुष्यमर्यादा, १९. पर्याप्ति, २०. किमाहार, २१. संज्ञी, २२. गति, २३. आमति, २४. वेद। इस तरह २४ द्वारोंकी यह संक्षिप्त संग्रहणी है। ॥ ३४४-३४५ ॥

विशेषार्थ—ये दोनों गाथाएँ अमुक आगमग्रन्थोंमें तथा उनके अंगभूत ग्रन्थोंमें प्रसंगोपात देखने मिलती हैं। हमारे यहाँ वर्तमानमें प्रारंभके पाठ्यक्रममें पंच प्रतिक्रमणके बाद जीवविचार, नवतत्त्व और दंडक आदि प्रकरणोंका जो अभ्यास करवाया जाता है, इनमें दंडक प्रकरणमें ये ही गाथाएँ (उद्धृत करके) दी गयी हैं।

पन्नवर्णों सूत्र—टीका तथा लोकप्रकाश आदि ग्रन्थोंमें संसारी जीवोंका विस्तृत स्वरूप ३६-३७ द्वारों द्वारा वर्णित किया है।

जबकि जिनके नाम लेने लायक (योग्य) हैं ऐसे मूलगाथाके २४ द्वारोंका विस्तृत वर्णन प्रत्येक द्वार पर संग्रहणीके टीकाकारोंने यहाँ किया है। इसके तथा अन्य ग्रन्थोंके आधार पर प्रस्तुत द्वारोंकी जानकारी अब यहाँ दी जाती है।

इसी दृश्य—अदृश्य विश्वमें सूक्ष्म या स्थूल, दृश्य या अदृश्य प्रकारके एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके अनंत जीव रहते हैं। इन्हीं जीवोंकी जीवनस्थिति और जीवन विकास कैसा होता है? यह समझनेके लिए संलग्न अनेकानेक विषयोंका ज्ञान जरूरी होता है। इस संपूर्ण ज्ञानके अभाव के कारण हम सारी बातोंको जाननेके लिए असमर्थ हैं। इस लिए शास्त्रकारोंने ब्राह्म एवं जरूरी बातोंका जो संग्रह किया है, उसे यहाँ समझाया जाता है। इसमें सबसे पहले 'शरीरद्वार' समझाया जायेगा। क्योंकि यह मुख्य चीज है। बिना शरीर कोई संसारी जीव हो सकता ही नहीं है। सारे विश्वमें ऐसे शरीरधारी जीव अनंत हैं। ये सभी जीव पाँच प्रकारके शरीरोंमें बँटे हुए (विभाजित) हैं। और आठ प्रकारकी ब्राह्म पुद्गल वर्गणामेंसे पाँच प्रकारकी विभिन्न वर्गणा द्वारा इन्हीं पाँचों विभिन्न शरीरोंका निर्माण होता है।

१. शरीर [शरीर] द्वार—'शरीर' शब्दकी व्युत्पत्ति सोचने पर लगता है—शीर्यते—विशीर्यते तच्छरीरं। अर्थात् शीर्ण—विशीर्ण अथवा विस्तराव अथवा विनाशयुक्त स्वभाववाला अथवा पूरण—गलन स्वभाववाला जो होता है, उसे शरीर कहा जाता है।

५७१. पन्नवर्णा ठाणार्हे बहुवचनं द्विई विसेसाय। [पन्नवणासूत्र गा० ४ से ७]

५७२. भेदास्थानानि पर्याप्तिः ॥ [सर्ग ३, श्लो. २ से ६]

यह बात भी सही है। कोई भी शरीर पुद्गल अथवा परमाणुओंके समूहसे बना है और इन्हीं पुद्गल परमाणुओंका यह स्वभाव है कि वे एक ही स्थितिमें हमेशा रहते नहीं हैं, इनमें आंशिक अथवा सर्वथा संयोग-वियोग अथवा पूरण-गलनादि होता ही रहता है। इसी कारणसे ही हमारे शरीरमें अच्छे-बुरेपनकी स्थितियाँ सृष्टी होती हैं। और किसी एक समय पर इसका सर्वथा अंत भी होता है। अर्थात् धारण किये गये शरीरके परमाणुओंकी भस्म भी हो जाती है। ऐसी विनाशी और औदयिक भावसे (—कर्मोदयसे) प्राप्त होती शरीरोंकी भिन्न भिन्न स्थिति, स्वभाव तथा कर्तव्यके कारण पाँच प्रकार बताते हैं। १. औदारिक, २. वैक्रिय, ३. आहारक, ४. तैजस और ५. कर्मण।

१. औदारिक शरीर—‘उदारैः पुद्गलैर्जातम्’ अर्थात् उदार पुद्गलोंसे जो बना है, वह है औदारिक। यहाँ उदार शब्द उत्तम, स्थूल और प्रधान इन तीनोंका वाचक है। अर्थात् उत्तम पुद्गलोंका जो बना हुआ है वह। स्थूल पुद्गल स्कंधोंसे (परमाणुओंके बाहुल्यसे) जो बना हो वह अथवा पाँचों शरीरमें जो प्रधान स्थान भुगतता है वह।

धर्मसाधना तथा मोक्षकी प्राप्ति, अपने जैसे ही औदारिक शरीरकी मदद मिलती है, अतः इसे उत्तम पुद्गलोंयुक्त कहा गया है। हमारे शरीरके पुद्गल स्कंध दूसरे चार शरीरके पुद्गल स्कंधोंकी अपेक्षा बड़े होनेसे ‘स्थूल’ कहा है। अथवा औदारिक शरीरकी अवगाहना अन्य शरीरोंकी अपेक्षासे बड़ी अर्थात् एक हजार योजनसे भी अधिक होनेके कारण भी स्थूल कहा है तथा तीर्थकर, गणधर तथा चक्रवर्ती इत्यादि इस शरीरको ही धारण करते हैं। सभी शरीरोंमें प्रधान माना जाता है इस लिए ‘प्रधान’ कहा है।

यह शरीर चौकस प्रकारके (औदारिक वर्गणाकी जातिके) पुद्गल स्कंधोंसे रचाया जा सकता है।

यह शरीर रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि—हड्डियाँ, मज्जा तथा वीर्य इत्यादि सात धातुओंसे बनता है। लेकिन हरेक जीवमें ये सातों धातु होनी ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है, इसमें न्यूनाधिकपन भी हो सकता है। क्योंकि इसका संबंध जीवकी विकास स्थितिके साथ है।

५७२. जब कि सभी परमाणु एक समान होते हैं, परंतु परमाणुओंके स्कंध और स्कंधोंकी वर्गणाएँ तथा इनमें परमाणुओंकी जो संख्या होती है इनके कारण उसके कार्योंमें भिन्नता खर्जाती है।

यह विभिन्न प्रकारके वर्ण-रंग, गंध, रस-स्वाद और स्पर्शवुक्त होता है, और शरीरधारी सूक्ष्म निगोदके जीवोंसे लेकर तमाम मनुष्यों तथा तिर्यचोंमें होता है, जिसे आगे बताया जायेगा। यह शरीर संपूर्ण जन्मपर्यंतका ही होता है। इस लिए बीचमें न तो इसे नया औदारिक बनाया जा सकता है और न तो पुराना समझकर छोड़ा जा सकता है।

२. वैक्रिय शरीर-वि-क्रिया। वि अर्थात् विविध। क्रिया अर्थात् क्रिया। ये विविध क्रिया जिसमें हो सकती है उसका नाम है 'वैक्रिय'। दूसरे शब्दोंमें समझें तो विविध या विशिष्ट प्रकारकी रूप-क्रिया करनेमें जो समर्थ होता है, उस शरीरको वैक्रिय कहा जाता है।

इस शरीरको हम अपनी प्रामिक भाषामें बहुरूपी अथवा जादुगरी शरीर कह सकते हैं। क्योंकि यह शरीर अमुक-चौकस प्रकारके वैक्रिय पुद्गल स्कंधोंका बन सकता है। ये वैक्रिय स्कंध इसी औदारिक जातिके स्कंधोंसे सूक्ष्म होते हैं। और इन्हीं स्कंधोंका स्वभाव पारा जैसा है। इसके कारण एक शरीरमेंसे अनेक शरीर, समान अथवा असमान असंख्य रूप तथा असंख्य रूपमेंसे एक बना सकते हैं। इसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म सूईका भाग जितना या बड़ेसे बड़ा हजारो मील जितना बना सकते हैं, पतलेसे मोटा या मोटेसे पतला, किसी भी अवस्थावाला, किसी भी जातिके रूपवाला बना सकते हैं, आकाशगामीमेंसे पृथ्वी-गामी, पृथ्वीगामीमेंसे आकाशगामी, हलकेसे भारी या भारीसे हल्का, दृश्य अदृश्य रूप बन जाता है, ऐसे यथोचित मर्यादानुसार जो-जो जातिके रूप-आकार बनाना चाहते हैं, यह सब इसी शरीरसे शक्य बनता है। इस प्रकार यह शरीर विचित्र प्रकारका अथवा अद्भुत हम मान सकते हैं।

वैक्रिय शरीर औदारिक शरीरमें आयी हुई सात धातुओंसे रहित होता है। उसमें वैक्रिय लब्धिसे शोभाके लिए उत्पन्न किये हुए कृत्रिम दाँत, नाखून, केशादिक हो सकते हैं। देवोंके वैक्रिय शरीरमें दाँत, नाखून, केश और अस्थि-हड्डियाँ जैसे सस्त (कठिन) भाग अवश्य हो सकते हैं, लेकिन वे औदारिक शरीरके दाँत, अस्थि इत्यादिकी तरह अदलील अथवा कुरूप लगते नहीं हैं।

यह शरीर (वैक्रिय) भवप्रत्ययिक तथा लब्धिप्रत्ययिक दो प्रकारका होता है। समग्र जन्माश्रयी देवलोकके देव और नरकगतिके नारकी जीवोंके लिए भवप्रत्ययिक वैक्रिय होता

है। और लब्धिप्रत्ययिक—वह तपश्चर्यादिक गुणों द्वारा प्राप्त हो सकता है। यह लब्धि-प्रत्ययिक शरीर गर्भज मनुष्य, तिर्यच और कितनेक बादर पर्याप्ता वायुकायके लिए होता है। लब्धिसे उत्तर वैक्रिय करना हो तब अथवा भवप्रत्ययिक वैक्रिय शरीरको उत्तर वैक्रिय रचना हो तब वैक्रिय समुदघात नामकी एक विशिष्ट क्रिया करनी पडती है। और उसके द्वारा तत्प्रायोग्य पुद्गल ग्रहण करनेके बाद ही शरीरकी रचना कर सकते हैं।

३. आहारक शरीर—यह शरीर समग्र भवपर्यंत नहीं रहता है। साथ ही इस शरीरको मनुष्य जरूरत पडने पर बना भी सकते हैं। मनुष्यमें समी मनुष्य नहीं, लेकिन चारित्रको लेकर चौदह पूर्वधर, मनःपर्यव आदि ज्ञानको प्राप्त करनेवाले ज्ञानी तथा यथायोग्य लब्धि—शक्ति प्राप्त करनेवाले ही ऐसा शरीर अमुक कारण उपस्थित होने पर बना सकते हैं। इतना जरूरी स्पष्टीकरण करके मूल बात पर आते हैं।

चौदह पूर्व जितने विशाल ज्ञानकी प्राप्ति करनेवाले तथाविध लब्धि—शक्तिधारी, श्रुतकेवलीके नामसे प्रसिद्ध मुनिराजों इत्यादिके द्वारा जो आहीयते—गृह्यते अर्थात् ग्रहण किया जाता है अथवा केवलज्ञानीके पास जीवादिक सूक्ष्म पदार्थोंके संदेहोंका समाधान जिस शरीर द्वारा ग्रहण किया जा सकता है, उसे आहारक शरीर कहा जाता है।

इस शरीरको कौन धारण कर सकता है ? तो इसका उत्तर है कि—श्रुतकेवली (चौदह पूर्वधर) भगवंत तथा चौदह पूर्वका अवगाहन तथा तपश्चर्या आदिके द्वारा उत्पन्न आमर्षोषधि (आमर्ष=असहिष्णुता, क्रोध अथवा क्रोप) आदि लब्धिवाले मुनिवर, मनःपर्यवज्ञानी तथा आहारक लब्धिवाले जंघाचरण तथा विद्याचरण आदि मुनिवरगण इस शरीरको धारण करते हैं।

आस्त्रि वे क्यों रचते हैं ? तो इसके विषयमें ऐसा बताया गया है कि—किसी समय पर द्रव्यानुयोगादिके तात्त्विक चिंतनमें संदेह पडता हो और उसका समाधान स्वयं मिलता न हो, तथा समाधानकी आतुरता और आवश्यकता असाधारण हो, तब उस समाधानकी प्राप्तिके लिए वे इसे रचते हैं। इसके लिए उस समय सेवा—तपश्चर्याके द्वारा अपने आपको आहारक शरीरमें परिवर्तन कर सके ऐसी लब्धि—शक्ति या गुण जिस आत्मामें उत्पन्न हुए हैं, वे इसी शक्ति द्वारा इसे रच सकते हैं। अर्थात् अपने मनसे अपना वीर्य धुमा देते हैं। जल्दीसे आहारक शरीर रच सके ऐसे जगतमें वर्तित पुद्गल स्कंधोंको (समुदघात नामक आहारक एक विशिष्ट क्रियासे) ग्रहण करके, अपने एक हाथकी बंद मुट्ठी प्रमाण छोटा—सा शरीर बना लेते हैं। फिर अपने आत्मबलसे वे

इस नूतन शरीरको पास (नजदीक, समीप) ही विचरण करते केवली तीर्थकर या केवली भगवंतके पास पहुँचाते हैं। केवली तो अपने केवलज्ञानके बलसे आये हुए उस शरीरको देखते हैं और आहारक शरीर मुनिके संदेहका समाधान केवली भगवंत बराबर करते हैं। यह समाधान हो जानेके बाद शरीर वापस चला जाता है। तथा ग्रहण किए गये आहारक शरीर प्रायोग्य पुद्गल परमाणुओंका विसर्जन कर देते हैं। जिस प्रकार किसी समाधानके लिए शरीर ग्रहण करते हैं उसी प्रकार जिनेश्वरदेवकी समवसरणकी ऋद्धि देखनेके लिए अथवा कोई जीवदया आदिके महान् लाभके लिए भी यह शरीर रचते हैं। इसी शरीरसे अंतर्मुहूर्तमें ही सर्व कार्य निपटाना (समेट लेना) पड़ता है।

यह शरीर अनुत्तर विमानके देवोंके महान् शरीरसे भी अधिक मनोहर तेजस्वी, स्फटिक रत्नके समान अति निर्मल और स्वच्छ होता है।

इस आहारक शरीरकी लब्धि एक जीवको अपने संसारकाल दरमियान भिन्न भिन्न भवकी अपेक्षासे अधिकमें अधिक चार बार प्राप्त होती है।

यहाँ एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि उत्तर वैक्रिय शरीर, गुणप्रत्ययिक वैक्रिय शरीर तथा आहारक शरीर रचना हो तब शरीर द्वारा (वैक्रिय तथा आहारक) समुद्घात नामकी आत्माकी एक विशिष्ट क्रिया होती है। इसी क्रियाके द्वारा ही वे उसी विभिन्न शरीरके वर्गणायोग्य पुद्गलोंका अपने आत्मप्रदेशों द्वारा अवगाहित क्षेत्रमेंसे ग्रहण करता है तथा उससे ही इन्हीं विभिन्न उत्तर शरीरोंकी रचना कर सकते हैं। एक ही व्यक्ति चाहे कितने ही शरीरोंकी रचना क्यों न करे, लेकिन मूल शरीरमें आये हुए आत्मप्रदेशोंका उत्तरशरीरके आत्मप्रदेशोंके साथका सम्बन्ध जंजीरकी समान अटूट रहता है।

४. तैजस शरीर—जगतमें तैजस जातिके उष्ण पुद्गल स्कंध रहा है। इसी जातिके पुद्गल स्कंधोंसे जो शरीर बनता है उसे तैजस शरीर कहा जाता है। यह शरीर बहुत ही सूक्ष्म शरीर है। जिस प्रकार ऊपर तीनों शरीरोंमें इन्द्रियाँ होती है, उस प्रकार इस शरीरमें इन्द्रियाँ होती नहीं है। इसका सामान्य आकार भले ही हो, लेकिन अमुक जातिका विशिष्ट आकार जो मिलता है ऐसा भी नहीं है। यह शरीर अति अविकसित ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म (निगोद) जीवसे लेकर अतिविकसित हर किसी संसारी जीवमें रहा है। यह हमारी सामान्य छात्रस्थिक दृष्टिसे अगोचर है। (प्रायः) यह शरीर अन्य शरीर (औदारिक, वैक्रिय) के साथ ही रहता है। यह शरीर अनादिकालसे लेकर मोक्ष जानेके अंतिम

समय तक अविरहरूप आत्माके साथ हरेक जीवमें एकरूप होकर रहता है। अपने अपने शरीरसे व्याप्त होकर वह रह सकता है। इतना ही नहीं, यह शरीर जीवके साथ साथ जन्मजन्मान्तर रहता भी है। अगर यह न होता तो जनमके साथ ही जीव जो आहार ग्रहण करता है, उसका पाचन नहीं होता और शरीरका गठन भी नहीं होता।

इस शरीरके कार्य कौन-कौनसे हैं? उन्हें देखिये— इस शरीरके कारण ही हमारे शरीरमें उष्णता (गरमी, ऊष्मा) रहती है। दूसरे शब्दोंमें देखें तो हमारे शरीरमें जो गरमी होती है वह मुख्यतः इसके प्रभावसे ही होती है। आयुर्वेदमें 'जठराग्नि' के रूपमें जो पहचाना जाता है, वह इसी शरीरका ही अग्नि है। शरीरमें आहारादिकको पचानेके लिए यह गरमी ही शरीरको मदद करती है। यह शरीर निग्रह तथा अनुग्रह भी करता है। अर्थात् तपश्चर्या आदि शुभ प्रवृत्तियोंके द्वारा तैजस लब्धि या शीत लब्धिकी प्राप्ति हुई हो तो जीव तैजस लब्धिके प्रभावसे अपने शरीरके बाहर तैजस-गरमी निकाल सकता है अथवा जो बुझार आता है। वह तैजस शरीर जठरके स्थानमें अधिक मात्रामें रहता है, जिसकी गरमी समग्र शरीरमें फैल जानेसे शरीर गरम गरम हो जाता है, इसे हम बुझार कहते हैं। वे तेजोलेइया द्वारा सर्वत्र गरमी फैलाकर अनुग्रह बुद्धिपूर्वक हिमसे होनेवाले भयंकर नुकसानको रोक सकते हैं अथवा विद्वेष बुद्धि जागने पर (तैजस समुद्रघातसे) शरीर बाहर निकाले गये तैजस (अति उष्ण) पुद्गल स्क्वोंसे सामनेवालेको भस्म कर डालते हैं। यह तैजस शरीर किसी भी चीजको भस्मीभूत करनेके लिए समर्थ होता है।

इतना ही नहीं, यह लब्धि जिसमें होती है, उसमें इससे विपरीत शीत लब्धि भी साथ साथ ही होती है। अतः अनुग्रह या उपकारक बुद्धिसे प्रज्वलित किसी चीजको बुझाते हैं अथवा जलनेवालोंको शांत करनेके लिए शीत परमाणुओंके किरणोंको छोड़कर सामनेवालोंको शांत करते हैं। अगर अपना शरीर जला हुआ बताना चाहते हैं अथवा तेजोमय बताना चाहते हैं, तब वैसा उपयोग भी कर सकते हैं, तथा बर्फसे भी अधिक शीत बनाना हों तब वैसा भी कर सकते हैं।

५७४. इसी तैजस लब्धिके प्रभावसे ही श्रुषिगण शाप देकर भस्मीभूत करते हैं। इस प्रकार शाप तथा अनुग्रह (कृपा) और उष्ण तथा शीतलेइया में तैजस शरीर कारणभूत है। इस लिए ही तत्त्वार्थ-राजवार्तिकमें तैजस शरीरके निःसरणात्मक और अनिःसरणात्मक ऐसे दो भेद बताये हैं। एक भीतर रहकर तथा दूसरा बाहर निकलकर कार्य करता है।

इस प्रकार जलाने तथा बुझानेको दोनों^{५७५} प्रक्रियाएँ करनेकी विशिष्ट लब्धि-शक्ति यह शरीर धारण कर सकता है।

५. **कार्मण शरीर**—संसारमें आत्मा और कर्म ये दोनों चीजे मुख्य हैं। जिसे पुरुष तथा प्रकृति भी कहा जाता है। आत्मा यह एक स्वतंत्र द्रव्य है। उसका अपना मूल स्वभाव अनंत ज्ञानमय—दर्शनमय एवं चारित्रमय है। वह अरोगी, अकषायी, अनामी तथा अविनाशी इत्यादि है। लेकिन 'कर्म' नामक द्रव्य अनादिसे साथ होनेके कारण उसका अपना मूल स्वभाव या स्वरूप दब गया है।

कर्म क्या है? इसका प्रत्युत्तर है कि वह एक प्रकारके विश्व व्यापी कर्मयोग्य पुद्गलस्कंध ही है। ये पुद्गलस्कंध अपने आप दूसरोंको निग्रह या अनुग्रह, सुख या दुःखके कारण बनते नहीं हैं, लेकिन आत्मा जब शुभ या अशुभ, अच्छी या बुरी, विचार—वाणी या वर्तन द्वारा प्रवृत्ति करती है तब उस शरीरधारी आत्माकी अवगाहनामें आये हुए कर्मके स्कंध स्वयं खींचकर जीवके आत्मप्रदेशोंके साथ जुड़ जाते हैं। और जुड़ानेके साथ ही उन पुद्गल स्कंधोंमें सुख—दुःख आदि देनेकी एक ही शक्ति—स्वभाव आविर्भाव पाता है। उसी शक्तिके आविर्भावके साथ साथ ही उस शक्तिका प्रकार, उसकी कालमर्यादा, उसका प्रभाव तथा प्रमाण भी तय (सुकरर) होता है। अब आत्माकी साथ क्षीरनीरके (दूध—पानीके) समान एकरूप बने हुए कर्म यथायोग्य समय पर परिपाक (पूर्ण विकसित) होते ही उन कर्मोंकी सुख—दुःख देनेकी शक्तियाँ खुली हो जाती हैं। और जीवको इसका यथायोग्य अनुभव करना पड़ता है। जहाँ तक संसारमें परिभ्रमण रहता है वहाँ तक उसका अस्तित्व भी रहता ही है।

जीवोंके विचार, वचन तथा वर्तन अनंत प्रकारके होनेसे कर्म भी अनंत प्रकारके हैं, लेकिन इन्हीं अनंत प्रकारोंको व्यक्त करना, सुनना या समझना असंभवित होनेसे सर्वज्ञ भगवंतोंने इसका वर्गीकरण दिया है। इस प्रकार उनको १५८ प्रकारोंमें समाविष्ट किया है। बादमें १५८ का फिरसे वर्गीकरण करके उसे आठ प्रकारोंमें संक्षिप्त किया है। इस प्रकार सामान्य रूपसे मुख्य कर्म आठ है, लेकिन उनकी उत्तर प्रकृतियाँ (प्रकार) १५८ होती हैं। इन्हीं १५८ प्रकारके कर्म—प्रदेशों या परमाणुओंका जो समूह पिंड है उसे ही 'शरीर' शब्द लगाकर 'कार्मण शरीर' इस नामसे शास्त्रकारोंने

५७५. जिस प्रकार शीतल ऐसे समुद्रमें से (वडवानल नामक) अग्निका तथा जलसभर बाबलमेंसे विजलीका उद्भव होता है।

पहचान करवायी हैं। इसका मतलब यह कि यह शरीर कर्मका समूहरूप है। यह शरीर प्रत्येक जीवात्माओंके असंख्य आत्मप्रदेशोंके साथ तैजस शरीरकी तरह अनादिकालसे जुड़ा हुआ है। सिर्फ इतना ही नहीं, लेकिन मोक्षप्राप्तिके अन्तिम समय तक अविरहरूप रहता भी है। लेकिन इतना विशेष समझें कि कर्मकी १५८ की संख्या अंत तक रहती ही है ऐसा नहीं होता, इसमें परिवर्तन हो सकता है। नामकर्मके अंदरकी कार्मणशरीर नामकर्मकी प्रकृतिके द्वारा कार्मणवर्गणाओंका ग्रहण-विसर्जन होता रहता है।

यह कर्मशरीर अथवा कार्मणशरीर दूसरे सभी शरीरोंकी और खुद अपनी भी उत्पत्तिमें मूल कारणभूत है। अरे! सारे संसारको खड़ा करनेवाला यह कार्मणशरीर ही है। यह शरीर स्वयं किसी सुख या दुःखकी अनुभूति नहीं कर सकता है। अथवा कर्म का बंध या निर्जरा इसे होती नहीं है। वह स्वयं कर्म रूप जरूर है, फिर भी उसे कर्मबंध लगता नहीं है, इस लिए उससे कर्मका उपभोग भी नहीं हो सकता है तथा क्षय भी नहीं हो सकता है। इस प्रकार सुख हो या दुःख इसका भोग (उपभोग) शेष चार शरीरोंसे ही होता है।

तैजस कार्मण बावतमें कुछ—एक बातका यहाँ पर खास ध्यान रखना है कि प्रत्येक आत्मा जब एक गतिमेंसे दूसरी गतिमें जाती है तब अर्थात् वर्तमान दृश्य शरीर अवसान पानेके बाद जब नया शरीर धारण करता है, तब इसी बीचके अति सूक्ष्मकाल दरमियान आत्माकी साथ और दो शरीर अर्थात् तैजस और कार्मण भी जुड़े हुए होते ही हैं। और बादमें इन्हीं दोनों शरीरोंका अस्तित्व समग्र विवक्षित जन्म दरमियान ही नहीं लेकिन समग्र संसार पर्यन्त रहता है। लेकिन जीवको जन्म जन्मान्तरके लिए भटकानेवाला शरीर तो एक मात्र कार्मण ही है, तैजस नहीं। लेकिन बिना तैजस कार्मण अकेला कभी भी होता ही नहीं है यह बात भी उतनी ही निश्चित है।

अब कार्मणके साथ उष्णतामानयुक्त तैजस शरीर होनेसे इलेक्ट्रीकसीटी (विजली) के समान आत्माको गति सहायक बन सकता है।

अगर किसीको यह शंका हो कि जीव, मृत्युके समय दोनों शरीरोंके साथ ही दृश्य शरीरमेंसे बाहर निकलता है तथा जन्मके समय दोनों शरीरोंके साथ ही उत्पत्ति स्थानमें प्रवेश करता है तो फिर वे दोनों शरीर हमें क्यों नहीं दिखायी पड़ते हैं ?

५७६. कुछ आचार्य सिर्फ एक कार्मणको ही अनादिकालसे जीवके साथ जुड़ा हुआ मानते हैं और तैजस तो लम्बिसे प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं।

तो इसका समाधान इस प्रकार है कि—शरीर वे पौद्गलिक द्रव्य हैं। इन्हें आकारादि होता है, फिर भी ये शरीर इतने तो अति सूक्ष्म होते हैं कि हमारे चर्म-चक्षुसे वे नहीं दिखायी देते हैं। और साथ-साथ आत्मा भी हमें नहीं दिखायी पड़ती है। लेकिन इससे वस्तुका अस्तित्व ही नहीं है ऐसा कभी भी समझना नहीं चाहिए।

प्रारंभके तीनों शरीरोंकी गमनागमनकी भर्यादा अंकुशित है। जब कि अंतिम दो शरीर समग्र लोकमें हर जगह आ-जा सकते हैं।

तैजस-कर्मण शरीर तथा आत्मा इतने तो सूक्ष्मानवाले होते हैं कि दीवारों, घरों, पर्वतों तथा पृथ्वी आदि किसीसे भी पराभव या प्रतिघात पाते नहीं है। ये वायुकी तरह हर किसी जगहसे पसार हो सके ऐसे अति सूक्ष्मातिसूक्ष्म नतीजा होते हैं। साथ ही परभवमें जाकर जो तुरंत ही आहार ग्रहण करते हैं यह इसी शरीरके कारण ही हो सकता है।

औदारिक शरीरसे उत्तरोत्तरके शरीर क्रमानुसार सूक्ष्म-सूक्ष्मतर होते जाते हैं। इस शरीर-योग्य पुद्गलस्कंधोंमें उत्तरोत्तर परमाणुओंका बाहुल्य अधिक होता है, जिसके कारण उसका स्वरूप भी उत्तरोत्तर सूक्ष्म बनता जाता है।

ये पाँचों शरीर भिन्न-भिन्न वर्गणसे बने होनेसे हरेक शरीर अलग-अलग विशेषताओंको धारण करते हैं। ये हरेक स्वतंत्र हैं। इनमें प्रारंभके तीनों शरीरोंको इन्द्रियादि अंगोपांग होते हैं, जब कि शेष दो शरीरोंमें इसका अभाव होता है।

वे पाँचों शरीरोंका वर्णन करनेके बाद अब इन्हीं शरीरोंसे संबंधित अन्य दस बातोंका स्वरूप कहा जाता है।

१. कारण भेद—अगर किसीको यह शंका हो कि पाँचों शरीरोंकी रचना तथा कार्यमें भिन्नता क्यों होती है? वे सभी एक ही प्रकारके एक समान कार्य क्यों नहीं करते हैं? तो ऐसी शंकाके समाधानके लिए 'कारण' प्रस्तुत करना चाहिए। इस लिए यहाँ प्रथम कारणकृत भेद दर्शाया है।

जब कि पाँचों शरीर पुद्गल परमाणुओंके ही बने हुए हैं। लेकिन परमाणुओंके स्कंध द्वारा तैयार होती वर्गणा तथा परमाणुओंका संख्याप्रमाण ये दोनों कारणोंसे परमाणुओंके स्कंधोंके कार्यमें भिन्नता आती है। परमाणुओंके जातिभेदसे ही कार्यभेद जनमता है।

विश्वमें प्रवर्तित औदारिकादि आठ प्रकारकी ब्राह्म वर्गणामेंसे (अमुक-अमुक प्रकारके पुद्गल) पाँच शरीरोंके लिए उपयोगी, विभिन्न पाँच वर्गणाओंमेंसे पाँच शरीर बनते हैं।

ये पाँच शरीर क्रमशः सूक्ष्म—सूक्ष्मपरिणामी आदि पुद्गलोंसे बने हैं। अतः औदारिक शरीर अन्य चारों शरीरोंसे स्थूल पुद्गलोंका बना हुआ है। उसीसे वैक्रिय शरीरके पुद्गल अधिक सूक्ष्म, यों उत्तरोत्तर शरीर क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्मतर सूक्ष्मतर पुद्गलके बने होते हैं। इसके अतिरिक्त ये आठों वर्गणाएँ, जिन पर समस्त जगत का आधार है, इन्हीं आठों वर्गणाओंमें पहली वर्गणा भी औदारिक ही है। इससे भी यह कल्पना हो सकती है कि वह स्थूल पुद्गलोंका ही होगा तथा आठवीं अंतिम वर्गणा कर्मण नामकी है, जिसमेंसे कर्मण शरीर बनता है। वह सबसे सूक्ष्म वर्गणा है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा सूक्ष्म जंतु, पशु—पक्षीगण, मनुष्यों इत्यादिके शरीर औदारिक अर्थात् (प्रायः) स्थूल होते हैं। इसका मतलब यह कि इन्हें हम (स्कंध बने तब) अपने चर्मचक्षुसे देख सकते हैं। शेष सभी सूक्ष्म—सूक्ष्मतर होनेसे हम उन्हें देख सकते नहीं हैं।

यहाँ स्थूल तथा सूक्ष्म शब्द पारिभाषिक रूपमें समझना चाहिए। वर्गणाओंमें परमाणुओंका बाहुल्य (ढेर) ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों नतीजा (स्वरूप) सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता जाता है। इसी स्थूल तथा सूक्ष्म नतीजोंको समझनेके लिए दोनोंकी मिसाल देखनी चाहिए।

एक बेंत लम्बी—चौड़ी सोनेकी एक संदूकची है और इससे दोगुने नापकी रूईके चिथडोंमेंसे बनायी हुई दूसरी संदूकची भी है। फिर भी वजनमें (तौलमें) अधिक सोनेकी ही होगी और दूसरी तो एकदम हल्की होती है। एकमें क्षेत्रप्रमाण कम, परंतु प्रदेश—परमाणुओंका गुच्छा अधिक ज्यादा और इससे सघनता अधिक होती है। जब कि रूईकी संदूकचीका क्षेत्रप्रमाण अधिक सही, लेकिन प्रदेश कम होता है। सुवर्णके पुद्गलोंमें सूक्ष्मता अधिक है। इसलिए थोड़ी सी जगहमें अधिक समा जाते हैं और वह वजनदार बनता है, अर्थात् चीज (सुवर्ण) कम फिर भी वजन अधिक। जब कि रूईमें सूक्ष्मता कम है। इसलिए चीज (रूई) अधिक होने पर भी वजन कम—हल्का लगता है। अब यहाँ आप औदारिक शरीर रूईके स्थान पर और कर्मण सुवर्णके स्थान पर घटा सकते हैं। इस प्रकार पाँचों शरीरोंके बीच भी परस्पर ऐसी स्थूलता सूक्ष्मता होती है। इन्हें स्वयं सोच लें।

२. प्रदेशसंख्याकृत मेद—इन्हीं पाँचोंमेंसे सबसे कम प्रदेश औदारिकके है। तथा उसके बादके शरीरोंमें संख्याकी दृष्टिसे क्रमशः वृद्धि होती जाती है। पहला औदारिक शरीर अल्प परमाणुवाले पुद्गल स्कंधोंका (अनंत होने पर भी अन्य चारकी अपेक्षा),

उसके प्रदेशोंसे असंख्यगुने प्रदेश वैक्रिय शरीरमें, उससे असंख्यगुने प्रदेश आहारक शरीरके पुद्गल स्कंधोंमें, आहारककी संख्यासे अनंतगुने प्रदेश तैजसमें और तैजससे अनंतगुने प्रदेश कार्मण शरीरमें होते हैं।

यहाँ एक बात अचरजभरी यह है कि उत्तरोत्तर शरीरका आरंभक द्रव्य परिमाण पूर्व पूर्व शरीरोंसे अधिक है, फिर भी शरीरकी सूक्ष्मता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, इसका कारण परमाणुओंके नतीजेकी विचित्रता ही है।

दूसरी बात यह भी समझना जरूरी है कि एक परमाणु वह स्कंध (द्रव्य) नहीं है, लेकिन दो परमाणु इकट्ठे होनेके बाद ही उन दोनोंको 'स्कंध'से पहचाना जाता है। इस प्रकार दो से लेकर अंतिम असंख्य तथा अनंत परमाणुओंके अनंतानंत स्कंध विश्वमें होते हैं। उन हरेक शरीरके योग्य अनंत वर्गणाएँ भी हैं तो कोई भी एक वर्गणामें अनंत स्कंध भी हो सकते हैं। तथा एक-एक स्कंधमें अनंत परमाणु भी होते हैं।

३. स्वामिकृत भेद—पहला औदारिक शरीर संमूर्च्छिम, गर्भज ऐसे सभी तिर्यच और सभी मनुष्योंमें होता है। दूसरा वैक्रिय देवों तथा नारकके जीवोंमें तथा कुछ-कुछ लब्धि प्राप्त वायुकायके (बादर पर्याप्ता) जीव तथा संज्ञि पंचेन्द्रिय-तिर्यच-मनुष्योंमें भी होता है। आहारकशरीर वह तो कोई विशिष्ट लब्धिवंत आहारक लब्धिधारी चौदहपूर्वधरोंको ही प्राप्त होता है। तैजस और कार्मण शरीरको सभी संसारी जीव धारण करते हैं। अतः यह शरीर चारों गतिके सभी जीवोंको होते ही हैं। ये दोनों शरीर अनादिकालसे जीवके साथ ही हैं। और जीव जिस-जिस गतिमें जाता है वहाँ ये साथ-साथ ही होते हैं। अर्थात् जब तक जीवका मोक्ष नहीं होता है, तब तक एक पलके लिए भी इन्हीं शरीरोंका विरह सहना पड़ता नहीं है। ये सभी आत्मप्रदेश और कार्मणशरीरके सभी प्रदेश क्षीरनीरकी तरह परस्पर मिलजुलकर एक रहते हैं। इसी कारणसे कोई भी जीव (शरीर पर्याप्तिके बाद) तीन शरीरोंसे कम शरीरवाला नहीं माना जाता है।

औदारिक शरीर जीव कौन कौनसे हैं? ऐसा तर्क मनमें उठता है तब हमारी स्थूल दृष्टि सजीव मनुष्य-पशु-पक्षीगण तक जाकर ही रूक जायेगी। लेकिन दृष्टिको विशाल बनाइए और सोचिए तो तुरंत समझमें आयेगा कि पाताल, पृथ्वी तथा स्वर्ग-आकाशमें चलते-फिरते-उड़ते करोड़ों प्रकारके जंतु, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति ये सभी जीव औदारिक शरीर हैं। मानव जातिके उपयोगमें आती सभी भोगोपभोगकी

चीजें औदारिक जीवोंके सप्राण-निष्प्राण कलेवरों (शरीरों) से ही बनी हुई है। ये सभी चीजें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पतिसे ही होती हैं। कुछ द्रव्य सजीव होते हैं और उपयोगी बनते हैं तो कुछ जीव निर्जीव होनेके बाद उपयोगमें लिए जाते हैं। जैसे कि रहनेके मुकाम, खाने-पीने-पहनने-ओढ़नेकी चीजें, तमाम प्रकारके वाहन, शस्त्र, धातु, रत्न या पत्थर, लकड़ ये सभी औदारिक हैं। एक प्रकारसे देखा जायँ तो सारा विश्व जंतुमय है। और 'जीवो जीवस्य जीवनम्' (अथवा 'भक्षणम्') जीवका जीवन जीव ही है, इसी न्यायसे सब चल रहा है। यहाँ पर साथ-ही साथ यह बताना जरूरी है कि एक जीवमें एक साथ कितने शरीर हो सकते हैं ?

जीव (मृत्यु पाकर) एक भवके शरीरका त्याग करके दूसरे भवका शरीर धारण करने जाता है तब, प्रयाण और प्राप्तिके बीच अत्यल्प (बहुत ही कम) समयमें सिर्फ (बिना इन्द्रियादि अंगोपांग) तैजस, कार्मण ये दोनों शरीर होते हैं। इसी शरीरके साथ ही जीवका जन्म-मरण होता है। इसलिए उत्पन्न होनेके बाद तथा शरीरपर्याप्त पूर्ण होनेके बाद स्वभव प्रायोग्य (औदारिक या वैक्रिय) शरीर रचना जब हो गयी हो तब मरण पर्यन्त तीन शरीरवाला अवश्य होता है। मनुष्यों और तिर्यचोंमें अविच्छिन्नरूप औदारिक, तैजस, कार्मण तथा देव नारकोमें भी तीन शरीर होते हैं। सिर्फ वहाँ औदारिककी जगह पर वैक्रिय समझ लेना। सामान्य रीतसे ऊर्ध्व और अधो ये दोनों स्थान ऐसे हैं कि जहाँ वैक्रिय शरीर प्राप्त हो सकता है। जन्मान्तरके कर्मसे ऐसे शरीर पानेके अधिकारी जीव ही वहाँ उत्पन्न होते हैं।

यहाँ एक बात स्पष्ट समझ लें कि कोई मुनिराज, तपश्चर्यादि द्वारा प्राप्त लब्धिसे आहारक शरीर जब बनाते हैं तब औदारिक शरीर मुनिके चार शरीरवाले समझना चाहिए। वैक्रिय तथा आहारक इन दोनों शरीरोंको समकालमें कभी भी रच सकते नहीं हैं। इस लिये कमसे कम दो (मतांतरसे सिर्फ एक ही) और अधिकसे अधिक जीव चार शरीरधारी हो सकते हैं।

तैजस, कार्मण ये दोनों शरीर भव्य जीवों (जो मोक्षमें जानेवाले होते हैं वे) के लिए अनादिसांत होते हैं। जहाँ तक शरीर है वहाँ तक संसार है। इन शरीरोंका

५७८. आहारक शरीर मुनिमें वैक्रिय शरीर रचनेकी शक्ति होती है, लेकिन एक साथ दो दो लब्धिका उपयोग हो सकता नहीं है। इसलिए चार शरीर कहे हैं। लेकिन सत्ताकी अपेक्षासे पाँचों शरीर बनानेकी शक्ति उनमें होती है।

संग जब छूट जाता है तब ही जीवका मोक्ष होता है। क्योंकि मोक्षमें कोई भी शरीर साथ साथ नहीं होता। कर्म है वहाँ शरीर है। कर्मका संपूर्ण नाश होनेके बाद कारण जानेसे कार्य भी नष्ट हो जाता है। अभव्य जीव किसी भी काल पर मोक्षमें जाते ही नहीं हैं। इस लिए उन जीवोंके लिए दोनों शरीर अनादि अनंतकालके और भव्य जीवों (जो मोक्षमें जानेवाले होनेसे) के लिए अनादि सांत होते हैं।

गर्भज जीव सर्व प्रथम गर्भमें आता है और उसके बाद ही जन्म धारण करता है। जब कि समूर्च्छिम जीवोंमें गर्भ धारण करना न होनेसे पृथ्वी, वायु, जलादिके योगोंसे उनका प्रारंभसे ही एकाएक जन्म हो जाता है।

४. विषयकृत भेद— यहाँ विषय शब्दका अर्थ 'क्षेत्र' समझना है। इसलिए उसी हरेक शरीरकी हरेक क्षेत्राशयी गति कहते हुए यह समझना है कि औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट गति लाखों योजन दूर आये हुए तेरहवें रुचक द्वीपके रुचक पर्वत तक होती है। कोई कोई औदारिक शरीरी मुनिगण — जिन्होंने तपश्चर्यादि द्वारा जंघाचरण जैसी विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त की हैं उनका शरण लेकर 'इस' गतिको समझें और विद्याचारण मुनिगण — विद्याधरोंकी गति आठवें नंदीश्वर द्वीप तक तथा ऊर्ध्वगति मेरुके पांडुकवन तक ही समझें।

वैक्रिय शरीरी जीवोंका गमनागमन तिर्यक् असंख्य द्वीप—समुद्र तक और ऊर्ध्वाधो-गमन देव आश्रयी (देवाश्रित) चौथी नरकपृथ्वीसे लेकर अच्युत देवलोक तक होता है। आहारक शरीरी महाविदेह क्षेत्र तक और कर्मणका गति विषय समग्र चौदह राजलोकमें होता है। क्योंकि जीवका उत्पत्तिस्थान सर्वत्र होता है। इतना ही नहीं, ये दोनों शरीर संसारी जीवोंके साथ संसार हो तब तक अविनाभावीपन होते हैं। इसके सिवा समुद्रघातकी अपेक्षासे भी व्याप्ति ले सकते हैं।

५. प्रयोजनकृत भेद— १. औदारिक शरीरका प्रयोजन धर्म अधर्मका उपार्जन, सुख—दुःखका अनुभव तथा केवलज्ञान अथवा मोक्षादिककी प्राप्ति है। इस शरीरके ये सब कार्य—लाभ हैं। और अगर यह लाभ प्राप्त होता है तो सिर्फ इसी शरीरवालोंको ही होता है।

२. एकसे अनेक और अनेकसे एक, सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे सूक्ष्म, अवकाश-मार्गसे स्वशरीर द्वारा गमनागमन तथा श्रीसंघके अथवा अन्य किसीके भी कार्यमें मदद करना आदि वैक्रिय शरीरके प्रयोजन हैं।

३. शास्त्रके सूक्ष्म अर्थका बोध पानेके लिए अथवा उसके संशयके समाधानके लिए अथवा जिनेश्वरदेवकी समवसरणादिककी ऋद्धि आदि देखनेके कार्यमें आहारक शरीर उपयोगी बनता है।

४. भोजनको पचानेका, तेजो और शीत लेश्याको छोड़नेका तथा जरूरत पड़ने पर किसीको शाप अथवा अनुग्रह वरदान देनेका कार्य तैजस शरीरके प्रभावसे ही शक्य बनता है।

५. स्वास तौर पर अन्यान्य भवमें गमन करनेका कार्य कर्मण शरीरका नतीजा है। संक्षिप्तमें कहे तो पाँचों शरीरका मुख्य प्रयोजन उपभोग^{५७९} है।

६. प्रमाणकृत भेद—मनुष्य, पशु, पक्षी, दोइन्द्रिय आदि क्षुद्र जंतु तथा वनस्पति इत्यादिका शरीर औदारिक होता है। यह शरीर अधिकसे अधिक कितना विराट (बड़ा) हो सकता है? तो इसके प्रत्युत्तरमें शास्त्रोंमें बताया है कि कुछ अधिक ऐसे एक हजार योजन। यह मान प्रत्येक वनस्पतिआश्रयी कहता है। प्रेमाणांगुलसे एक हजार योजन गहरे समुद्रादि जलाशयोंमें, जिस भागमें उत्सेधांगुलसे एक हजार योजनकी गहराई हो वहाँ खीलते कमल आदि वनस्पतिका है। यहाँ पर अधिकता जो बतायी है उसे सिर्फ जलकी सपाटीसे जितना ऊपर रहता है उतनी ही समझें और स्वयंभूरमणके मत्स्योंका शरीर भी हजार योजन होता है।

वैक्रिय शरीरकी ऊँचाई एक लाख योजनसे कुछ अधिक होती है। यह मान देवोंके उत्तर वैक्रिय तथा मनुष्यके लडिधप्रत्ययिक वैक्रिय शरीराश्रयी समझें। यह वैक्रिय शरीर देव तथा मनुष्य दोनों कर सकते हैं। उस समय सिर्फ देव ही चार अंगुल जमीनसे ऊपर और मनुष्य जमीनस्पर्शी रहते हैं। जिसे 'कुछ अधिक' की सफलता मनुष्याश्रयी समझें

तैयार बने हुए आहारक शरीरकी ऊँचाई एक हाथकी ही होती है। तैजस और कर्मणका मान चौदहराजलोक प्रमाण होता है और लोककी चारों ओर व्याप्त होकर रहता है। यह प्रमाण कोई जीव केवली समुद्रघात करता है और अपने आत्मप्रदेशोंको समग्र लोकव्यापी बनाता है तब ये आत्मप्रदेश तैजस कर्मणसे संनद्ध होता है। इसी कारणसे उक्त मान घटमान बनता है।

५७९. तत्त्वार्थसूत्रमें 'निरूपभोगमन्यत्' सूत्र द्वारा अमुक अपेक्षासे कर्मणको निरूपभोगी कहा है।

५८०. एक हाथकी अपेक्षासे एक हजार योजनका क्षेत्र ३२ कोटियुग होता है इसलिए संख्यात-युग क्षेत्र माना जाता है।

७. अवगाहनाकृत भेद— अवगाहनाका अर्थ होता है किसी मी चीजको लेकर नापनेकी वावत अथवा दूसरे शब्दोंमें देखें तो किसी मी वस्तुको लेकर नापनेकी प्रक्रियाको अवगाहना कहते हैं। यहाँ तो सिर्फ पाँच शरीर अपने लिए कितना अवकाशक्षेत्र रोकता है, इतना ही काफी (पर्याप्त) समझना है। व्याख्या एवं परिभाषाकी सरलताके लिए आहारक शरीरसे ही शुरु करते हैं। आहारक शरीर सब (पाँचों शरीरकी अपेक्षा) से अल्प अवकाश प्रदेशोंको अवगाहता (रोकता) है। क्योंकि उसका मान एक ही हाथका होता है, क्योंकि उसका यह निश्चितमान है। इसी कारणसे संख्यातगुण अवकाश प्रदेशमें औदारिक शरीर अवगाह कर रहता है। क्योंकि औदारिक शरीर छेवटपर एक हजार योजन प्रमाणयुक्त है। इससे मी संख्यातगुना क्षेत्रावगाह वैक्रिय शरीरका होता है, जो एक लाख योजन तक फैल सकता है। इस वैक्रियावगाहसे मी असंख्यगुने अवकाश प्रदेशावगाही तैजस कार्मण ये दोनों शरीर हैं। केवली-समुद्घातके समय उतना अवकाशक्षेत्र, परिवद्ध (संलग्न, घेरा हुआ) होनेसे तैजस कार्मणकी अवगाहना मरण समुद्घातादिके प्रसंग पर गति-आगतिके नियमानुसार विभिन्न मानकी मी हो सकती है। इसे ग्रन्थान्तरसे मी जान सकते हैं।

८. स्थितिकृत भेद—औदारिक शरीरका स्थिति (टिकाव) काल जघन्यसे लेकर अंतर्मुहूर्त तक और उत्कृष्टसे लेकर तीन पर्योपम (युगलिक मनुष्य-तिर्यचोंकी अपेक्षासे), देवों तथा नारकोंको लेकर जन्मसिद्ध भवप्रत्ययिक वैक्रियका काल ३३ सागरोपम है। उत्तर वैक्रिय अथवा कृत्रिम वैक्रियका स्थितिकाल लगभग कह चुके हैं फिर मी पुनः याद करें तो देवोंके उत्तर वैक्रियके पंद्रह दिन, नारकोंका अंतर्मुहूर्त, मनुष्य तिर्यच तथा लब्धि प्रत्ययिक वैक्रियका अंतर्मुहूर्त होता है। आहारकका (उ.) स्थितिकाल अंतर्मुहूर्त तथा तैजस कार्मणका जघन्योत्कृष्ट स्थितिकाल भव्याश्रयी अनादिसांत और अभव्याश्रयी अनादिअनंत है। अंतिम दो के सिवा शेष तीनों शरीरोंका जघन्य स्थितिकाल अंतर्मुहूर्त होता है।

९. अल्पबहुत्वकृत भेद— इन्हीं पाँचोंमें आहारक शरीर सबसे अल्प संख्यामें है। क्योंकि उसका सृजन कमी-कमी ही होता है। जघन्यसे तो वह एक या दो होते हैं और उत्कृष्टसे कोई काल पर नौ हजार मी हो सकते हैं। इससे मी असंख्यगुने वैक्रिय शरीर होते हैं, क्योंकि उसके स्वामी देव-नारक असंख्य होते हैं इसलिए। और

इससे भी असंख्यगुने औदारिक शरीर हैं। यद्यपि साधारण वनस्पतिके जीव अनंत हैं। अनंत होनेके कारण औदारिक शरीर अनंता क्यों नहीं है? इस प्रश्नका समाधान यह है कि अनंत जीवोंका शरीर पुनः एक होता है। इस अपेक्षासे साधारण वनस्पति के जीव अनंत होने पर भी उसके शरीर तो असंख्याता ही होते हैं। इस प्रकार तिर्यचोंको भी अनंता मानते हैं फिर भी हरेकेके शरीरका हिसाब लगाये तो उपर्युक्त मतानुसार असंख्यातका ही होता है। शास्त्रोंने भी इस प्रकार की विवक्षा की है। इससे भी तैजस-कर्मण शरीर अनंतगुने हैं। क्योंकि वे हरेक संसारी जीवोंमें अलग-अलग अवश्य होते ही हैं जो परस्पर संख्यासे समान है।

१०. अन्तर (विरहकाल) कृत भेद—किसी एक जीवको लेकर औदारिक शरीरका विरहकाल सोचें, तो जघन्यसे लेकर एक समयके और उत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्त्ताधिक ३३ सैंगैरोपमका होता है। इस प्रकार वैक्रियका जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट वनस्पतिका कर्षिस्थितिमान अनुसार समझें। आहारक शरीरका जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अर्धपुद्गलपरावर्त और तैजस कर्मणके लिए तो अन्तर ही नहीं है। इस प्रकार यह एक जीवाश्रयी घटना कह सुनायी। अनेक जीवोंकी अपेक्षासे सोचें तो चारों शरीरमेंसे किसीको भी विरहकाल होता ही नहीं है।

इस प्रकार शरीरद्वार पूर्ण हुआ।

२. अवगाहना—जघन्योत्कृष्ट द्रष्टिसे कौनसे जीवमें कौनसे शरीरकी ऊँचाई आदि मान (प्रमाण) कितना होता है? इसे बताना अवगाहना है। और यह अवगाहना-मान तो इसी ग्रन्थमें ही अनेक जगह पर बताया गया है। इस लिए उसके पुनरावर्तनकी अब जरूरत नहीं है।

३. संघयण—इसका संस्कृत पर्याय है **संहननम्**। इसके दो अर्थ हैं। इसमें

५८१. असंख्यातके भी असंख्य प्रकार हैं। ५८२. वर्तमान औदारिक शरीरका आयुष्य पूर्ण होनेके बाद ऋजुगतिसे तिर्यच अथवा मनुष्यगतिमें जनमनेवाला उत्पत्तिके प्रथम समय पर औदारिक शरीरयोग्य आहारके पुद्गल ग्रहण करता है। इसी अपेक्षासे उसे एक समझें, लेकिन शरीरपर्याप्त पूर्ण होनेकी अपेक्षासे सोचने पर तो अंतर्मुहूर्त्त समझना चाहिए। ५८३. कोई चारित्रवान् जीव भवान्तमें वैक्रिय शरीर रचकर तथा अन्तर्मुहूर्त्त तक जाकर आयुष्य क्षय होते ही ऋजुगतिसे अनुत्तरमें उत्पन्न होता है, उस आश्रयी (संबंधमें) सोच लें। ५८४. आवलिकाके असंख्यातवें भाग जितने पुद्गलपरावर्त वो, पुनः पुनः वहाँ ही उत्पन्न होते हैं इसी द्रष्टिसे। ५८५. पुनः चारित्रप्राप्तिके लिए उतना काल ही होनेसे।

पहला अर्थ है 'अस्थिनिचय' माने हड्डियोंका संचय अर्थात् अमुक रीतसे एकत्र होना अथवा रचनाविशेष वह । और दूसरा अर्थ है 'शक्तिविशेष' अर्थात् शरीरके पुद्गलोंको जो मजबूत बनाता है वह । इस संहननके छः प्रकार हैं । इसके वर्णनके लिए देखिए गाथा १५९-६० ।

४. संज्ञा—आहारादि संज्ञाओंके वर्णनके लिए देखिए गाथा ३४१-४२ का विवेचन ।

५. संस्थान—संस्थान अर्थात् शरीरका आकारविशेष अर्थात् पुद्गलकी अमुक प्रकारकी रचनाविशेष वह । ये संस्थान समचतुरसादि छः प्रकारके होते हैं जिनका वर्णन गाथा १६३-६५ के विवेचन प्रसंगमें कहा गया है ।

संस्थानके विषयमें जानने योग्य जो हकीकत इससे पूर्व नहीं बतायी है उसे यहाँ जानकारीके लिए दी जाती है ।

संस्थान अर्थात् आकार । ये आकार अनेक प्रकार के विश्वमें प्रवर्तमान हैं । ये आकार जीव, अजीव दोनोंमें होता है । जो शरीरधारी होता है उसे सामान्यतः जीव शब्दसे और अशरीरीको आत्मा शब्दसे पहचाननेका नियम है । आत्माके लिए तो कोई भी संस्थान है ही नहीं, इस लिए उसे अनित्यसंस्थानवाला कहा जाता है । जीवके देहधारी आकारोंके लिए शास्त्रमें, पृथ्वीके शरीरके लिए मसूरकी दाल, पानीके लिए बुलबुला, अग्निके लिए सूर्ज अथवा उसका समूह तथा वायुके लिए धजा कहा है । इसके अतिरिक्त भीतर ही भीतर अनेक चित्रविचित्र आकृतियाँ भी होती हैं । ये आकृतियाँ पुद्गलरूप शरीरकी ही होती हैं । दो इन्द्रियसे लेकर चार इन्द्रियवाले जीवोंके लिए 'हुंडक' संस्थान कहा है जो श्लाघनीय (प्रशंसनीय) और रुचिकर नहीं है । इसमें अनेक आकार मिल आते हैं । पंचेन्द्रिय जीवों में मनुष्य-देव, नारक, तिर्यच, तिर्यचोंमें-पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर, उरपरिसर्प, भूजपरिसर्प, चार पैरवाले इत्यादिमें भातभातके रूप, आकार, चित्रविचित्र और अद्भूत लगे वैसे शरीर होते हैं । उन समीका समाविष्ट पूर्वोक्त समचतुरसादि छः संस्थानोंमें किया जाता है ।

५८६-५८७. संघयणमट्ठिनिचयो । संहननम्-अस्थिनिचयः=शक्तिविशेष इत्यन्ये ।

[स्था० ६, ठा० ३, उ० ३] दृढीक्रियन्ते शरीरपुद्गला येन तत् ॥

५८८. सदसलक्ष्णोपेतप्रतीकसन्निवेशजम् । शुभाशुभाकाररूपं षोढा संस्थानमङ्गिनाम् ॥ [लो. प्र.]

रूपी ऐसे अजीव पदार्थोंके पाँच संस्थान

परिमण्डले, २. वृत्त (गोलाकार). ३. त्रिकोण (त्रिभुज), ४. चतुष्कोण—चौकोन
आयत (लम्बा, विस्तृत)—दीर्घ ।

परिमंडल—जो बीचमें पोला और गोल होता है उसे परिमंडल कहते हैं । जैसे चूड़ी । वृत्त अर्थात् बिना पोलापन वृत्ताकार प्रतरकी तरह ठोस (घन) गोल । मिसालके तौरपर कुम्हारका चक्र, भोजनकी थाली, रूपया इत्यादि । त्रिकोणमें सिंघाडा, चौकोन (चतुष्कोण) में पादपृष्ठ—कुंभी आदि और आयत (लम्बा, विस्तृत) में दंड, लकड़ी इत्यादि ।

ये सभी आकार घन और प्रतरसे दो भेदवाले हैं । और इनमें परिमंडलको छोड़कर शेष चार पुनः ओजप्रदेशसे तथा युग्मप्रदेशसे दो-दो भेदवाले हैं । ओजप्रदेशी संस्थान उसे कहा जाता है जो विषमसंख्यावाले (अर्थात् एकी अंककी संख्यावाले) प्रदेशोंसे बनता है । और जो समसंख्या (अर्थात् दो की संख्यावाले) प्रदेशसे बनता है उसे युग्मप्रदेशी कहा जाता है । जबकि परिमंडलमें तो प्रंतर और घन ये दो ही विभाग हैं । अब हम उन्हीं सभी प्रकारोंको क्रमशः समझ लेते हैं ।

१—परिमंडल

प्रतरपरिमंडल—यह बीस प्रदेशी बीस प्रदेशावगाही होता है । पूर्वादि चारों दिशाओंमें चार-चार अणु तथा विदिशामें एकैक अणु स्थापनेसे यह आकार बनता है । सबसे आद्य-जघन्य से जघन्य प्रतर यह है । इससे छोटा कमी भी होता ही नहीं है ।

घनपरिमंडल—ये चालीस प्रदेशी चालीस प्रदेशावगाही होते हैं । पूर्वोक्त बीस प्रदेशोंके ऊपर बीस प्रदेश रखनेसे वह घन बनता है । घनपरिमंडलका यह आद्य आकार है ।

२—वृत्त

ओजप्रदेश प्रतरवृत्त—यह संस्थान पाँच अणुसे निष्पन्न, पाँच अवकाश प्रदेशावगाह है । यह आकार एक अणुमध्यमें और चारों दिशामें संलग्न चार स्थापनेसे छोटेसे छोटा पंचप्रदेशी वृत्ताकार बनता है ।

युग्मप्रदेश प्रतरवृत्त—यह प्रतरवृत्त बारह प्रदेशका तथा बारह प्रदेशावगाही होता है । चार आकाशप्रदेशोंके ऊपर चार अणु स्थापनेसे तथा उसके चारों ओर वृत्ताकारमें आठ अणु स्थापनेसे बारह प्रदेशी प्रतराकार बनता है ।

५८९. परिमंडले य वृत्ते तसे चउरंस आयए चैव, घनवयरेषढमवल्लं ओयवएसे य जुम्मे य ॥
[उत्तरा. निर्मुक्ति] ५९०-५९१. प्रतर अर्थात् समतल और घन अर्थात् ठोस लड्डू जैसा ।

ओजप्रदेश घनवृत्त—प्रतरकी बात पूर्ण करनेके बाद अब घन समजाते हैं। यह घन सप्तप्रदेशी सप्तप्रदेशावगाही होता है। पूर्वोक्त पंचप्रदेशी प्रतरवृत्तके मध्यके अणु के ऊपर तथा नीचे एक एक अणु स्थापनेसे (रखनेसे) $५+२=७$ प्रदेशी संस्थानका निर्माण होता है।

युग्मप्रदेश घनवृत्त—यह प्रदेशवृत्त बत्तीस प्रदेशी और बत्तीसावगाही है। पूर्वोक्त बारह प्रदेशी प्रतरवृत्त बनाकर उसके ऊपर दूसरे बारह प्रदेश रखनेके बाद उन्हीं हरेकके मध्यमें चार और इन्हीं समी के नीचे फिरसे चार अणु स्थापनेसे घनवृत्ताकार बन जाता है।

३—त्र्यस्र (त्रिकोण, त्रिभूजाकार)

ओजप्रदेशी प्रतरत्र्यस्र—यह संस्थान त्रिप्रदेशी और त्रिप्रदेशावगाही होता है। तिरछे (वक्र) अंतररहित दो अणु पहले रखिए। इसके बाद पहलेके नीचे एक अणु रखनेसे त्रिप्रदेशी संस्थान बन जाता है।

युग्मप्रदेशी प्रतरत्र्यस्र—यह संस्थान छः प्रदेशी और छः प्रदेशावगाही है। अंतररहित तिरछे तीन अणु पहले रखिए। इसमें पहले तिरछे अणुके ऊपर तथा नीचे दो-दो अणु रखनेसे तथा दूसरे तिरछे अणुके नीचे भी एक अणु स्थापनेसे इष्टाकार बन जायेगा।

ओजप्रदेशी घनत्र्यस्र—यह संस्थान ३५ प्रदेशी तथा इतने ही प्रदेशावगाही है। इसकी रचना करनेके लिए सबसे पहले अंतररहित—संलग्न ऐसे ऐसे तिरछे पाँच अणुकी स्थापना करें। उसके बाद इसी हरेकके नीचे तिरछे ही क्रमशः चार, तीन, दो और एक ऐसे पाँच प्रदेशोंकी स्थापना करें, इस प्रकार पंद्रहप्रदेशी प्रतर हुआ। अब इसके ऊपर हरेक पंक्तिके अन्त्याणु (अंतिम अणु) को छोड़कर छः, इसी प्रकार तीन और एक अणु रखें। इस प्रकार अब कुल मिलाकर ३५ प्रदेशात्मक घनत्र्यस्र बन जायेगा।

युग्मप्रदेशी घनत्र्यस्र—यह संस्थान चार प्रदेश तथा चार प्रदेशावगाह है। प्रतरके समय हमने जिस प्रकार त्रिप्रदेशात्मक त्रिकोणप्रतर बनाया था उसी प्रकार बनाकर उसके ऊपर तथा नीचे एक-एक अणु स्थापनेसे घन आकार बन जाता है।

४—चतुरस्र

ओजप्रदेशी प्रतरचतुरस्र—यह संस्थान नौ प्रदेशी नौ प्रदेशावगाही है। इसमें तिरछी संलग्न तीन-तीन प्रदेशात्मक तीन पंक्तियाँ स्थापनेसे नौ प्रदेशी आकृतिका निर्माण होता है।

युग्मप्रदेशी प्रतरचतुरस्र—यह चार प्रदेशी और चार प्रदेशावगाही है। यह तिरछे दो-दो प्रदेशकी दो पंक्तियाँ बनानेसे होता है।

ओजप्रदेशी घनचतुरस्र—यह संस्थान २७ प्रदेशी तथा २७ प्रदेशावगाही है। पूर्वोक्त प्रतर चतुरस्रके समय स्थापित नौ प्रदेशात्मक प्रतरके ऊपर तथा नीचे नौ-नौ अणु स्थापित करनेसे यह रचना बनती है।

युग्मप्रदेशी घनचतुरस्र—यह अष्टप्रदेशी तथा अष्टप्रदेशावगाही है। इसमें चार-प्रदेशके प्रतर चतुरस्रके ऊपर तथा नीचे चार अणु स्थापनेसे बनता है।

५—आयत (लम्बा, विस्तृत)

आयतके दो प्रकार हैं—१. ओज और २. युग्म। लेकिन इन दोनोंके घन तथा प्रतर के अतिरिक्त श्रेणि प्रकार भी इस संस्थानमें निष्पन्न होता है। इस प्रकार यह संस्थान तीन-तीन प्रकारकी स्थापना बताते हैं।

ओजप्रदेशी श्रेणिआयत—यह संस्थान त्रिप्रदेशी-त्रिप्रदेशावगाह है। इसकी रचना तिरछे अंतररहित तीन प्रदेश रखनेसे होती है।

युग्मप्रदेशी श्रेणिआयत—यह तिरछे संलग्न दो अणु स्थापनेसे होता है।

ओजप्रदेशी प्रतरायत—पंद्रह प्रदेशी तथा पंद्रह प्रदेशावगाही यह संस्थान है। इसमें पहलेकी तरह तीन पंक्तियोंमें पाँच पाँच अणु प्रस्थापित किये जाते हैं।

युग्मप्रदेशी प्रतरायत—यह छः प्रदेश तथा छः प्रदेशावगाही है। यह संस्थान भी पहलेके समान दो पंक्तियोंमें तीन-तीन-अणु रखनेसे बनता है।

ओजप्रदेशी घनायत—इसमें ४५ प्रदेश तथा ४५ प्रदेशावगाह मिलते हैं। पूर्वोक्त पंद्रह प्रदेशका प्रतरायत जिस प्रकार बनाया था उसी प्रकार बनाकर उसके नीचे तथा ऊपर पंद्रह-पंद्रह अणु प्रस्थापित किये जाते हैं।

युग्मप्रदेशी घनायत—यह बारह प्रदेशी तथा बारह प्रदेशावगाही संस्थान है। यहाँ भी पूर्वोक्त छः प्रदेशके प्रतरायत पर उसी प्रकार ही बारह प्रदेश रखनेसे घन आकृति हो जायेगी।

इस प्रकार इससे छोटे आकार असंभवित है। यहाँ पर सबसे छोटी आकृतियाँ ऊपर बता दी हैं। इससे बढ़ते-बढ़ते उत्कृष्टपनसे संख्य-असंख्य यावत् अनंत प्रदेशी आकार बनते हैं। इन आकृतियोंकी संभवित झाँकी (छाया) उसके चित्रोंके माध्यमसे बता सकते हैं। इन्हीं आकृतियोंके अतिरिक्त पाँच संस्थानोंके सहयोगसे दूसरे असंख्य संस्थान-आकार अथवा आकृतियाँ निष्पन्न होते हैं।

६—कैसाय (कषाय)

इसका अर्थ सींचें तो कृष्=अर्थात् संसार और आय का अर्थ होता है लाभ । इसका अर्थ यह हुआ कि जिससे संसारवृद्धि—भवभ्रमणका लाभ हो उसे कषाय कहते हैं । यह कषायका अति प्रसिद्ध अर्थ है ।

कषाय विषय पर तो बहुतसे पन्ने लिख सकते हैं, लेकिन यहाँ तो संक्षिप्तरूपसे ही २४ दंडक की व्याख्या करनी है इसलिए महत्त्वका जरूरी विवेचन ही कहा जायेगा । ये कषाय कि जिनके कारण इस संसारका परिभ्रमण चलता ही रहता है, उनके मूल प्रकार चार है—१. क्रोध, २. मान, ३. माया और ४. लोभ ।

यहाँ एक बात यह ध्यानमें रखनी है कि आम तौर पर कुछ लोगोंके मनमें ऐसा गलत ख्याल घर कर गया है कि कषाय माने मात्र रोष, गुस्सा और द्वेष आदि होता है । लेकिन ऐसा नहीं है । कषाय तत्त्वमें तो जीवके सैकड़ो भाव रहता है । इसमें क्रोधके अतिरिक्त दूसरे तीन—मान, माया तथा लोभ और उसके उपप्रकार भी आ जाता है । इसी कारणसे कषायका अर्थ विस्तृत होता है । अब इन्हीं चारों प्रकारोंका अर्थ सोचें ।

क्रोध—यह कषाय मैत्री—दोस्ती, प्रेम, स्नेह और प्रीतिका नाश करता है । और जब भी क्रोध, गुस्सा या रोष आ जाता है तब इसके चिह्न शरीर पर दिखायी पड़ते हैं । अर्थात् चेहरा लाल लाल हो जाना, आँखें भयंकर हो जाना, होठोंका कांपना तथा शरीरमें कंप उत्पन्न होना इत्यादि । इतना ही नहीं आगे चलकर कठोर और असभ्य शब्द वचन (बाणी) के द्वारा तथा शारीरिक चेष्टाओं द्वारा व्यक्त होते हैं । ये सभी क्रिया—प्रतिक्रियाएँ क्रोध नामक कषाय कर्मसे ही उत्पन्न होती हैं । कोई क्रोधित व्यक्ति क्रोध करते समय ली गयी अपनी किसी तस्वीरको एकदम शांत होनेके बाद जब देखता है तब क्रोध अपने चेहरेको कितना विकृत बना सकता है ? उसका सच्चा ख्याल आ सकता है ।

५९२. 'कषाय' शब्दकी विभिन्न व्युत्पत्तियाँ विभिन्न आगमोंकी टीकाओंमें देखनेको मिलता है । जैसेकि—कृषन्ति विलिखन्ति कर्मक्षेत्रं सुखदुःखफलयोग्यं कुर्वन्ति। कलुषयन्ति वा जीवमिति अथवा कलुषयन्ति शुद्धस्वभावं सन्तं कर्ममलिनं कुर्वन्ति जीवमिति कषायाः । अथवा कल्पयन्ते बाध्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति कषं कर्म भवो वा तदायो लाभ एषां यतः । कल्पयन्तेऽस्मिन्प्राणी पुनः पुनरावृत्तिभावमनुभवति कषोपलकथ्यमाणकनकवदिति । कषः संसारः तस्मिन्नासमन्तादयन्ते गच्छन्त्येभिरसुमन्त इति । अथवा कषाया इव कषायाः ॥ इत्यादि ॥

मान—इस कषायका उदय प्रवर्तमान होता है तब मानी स्वभावके कारण दूसरोंकी अथवा दूसरोंके कार्यकी इर्षा और अपनी महत्ता, श्रेष्ठता या उत्कर्ष बतानेकी इच्छा हरदम जागृत रहा करती है। और इसकी ताकत जब बढ़ती है तब यह वाणी-बस्ताव (व्यवहार, आचरण) के द्वारा भी व्यक्त होता है। इन्हीं कारणोंसे ऐसी व्यक्ति अभिमानी, गर्वित (गर्वीला), अकड़, अहंकारी उन्मत्त (मतवाला, पागल, सनकी), उद्धत, स्वच्छन्दी आदि विशेषणोंके योग्य बन जाती है। ऐसी मानदशा उत्पन्न करनेवाले कर्मको मान कषायकर्म कहा जाता है।

माया—इस कषायकर्मकी उत्पत्तिके साथ ही जीव दूसरोंको छलनेका प्रयत्न करेगा ही। माया नामक यह कषाय कुटिलता, वक्रता, छल, कपट तथा सच्चा जुठा, दूसरोंको छलनेकी अथवा फँसानेकी वृत्ति इत्यादि भाव हमारे मनमें उत्पन्न करता है। लोगोमें ऐसी व्यक्तिको 'मायावी' शब्दसे संबोधन किया जाता है। माया नामक कषायकर्मके उदयके कारण ही जीव इस प्रकार व्यवहार करता है।

लोभ—चेतन-अचेतन पदार्थोंके संग्रहकी अथवा उससे संचय-वृद्धिकी प्रवृत्ति, दूसरे पदार्थोंकी लालसा और तृष्णा, ममत्वभाव, किसीका हड़प कर लेनेकी बुद्धि, "आ जा-फँसा जा, घर जा-भूल जा" का व्यवहार, अति प्रारंभिक प्रवृत्तियाँ यह सब करानेवाला लोभ कषाय नामक कर्म ही है। अपेक्षासे चारों कषायोंमें लोभ ही मुख्य कर्ता-हर्ता कषाय है। क्योंकि लोभ नामक यह कषाय ही प्रेम, विनय और मैत्री तीनोंको खत्म कर डालता है। इसीलिए उसे 'पापका बाप' के रूपमें पहचाना जाता है। सर्व दोषोंकी खान यही है। इस लिए इसे सभी अनर्थोंका मूल कहा गया है।

चारों कषायोंको उद्देशकर आगममें कहा है कि—

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।

माया भित्ताणि नासेइ, लोभो सध्वविणासणो ॥

[दशवैकालिक]

क्रोध प्रेमका सर्वथा नाश करता है। मानसे विनय (नम्रता) का, मायासे मित्रताका (अथवा सरलताका) और लोभसे सर्वका अर्थात् प्रेम, विनय, मित्रता सभीका विनाश होता है। इसलिए शास्त्र कहते हैं कि—

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पापवद्धणं ।

बभे चत्वारि दोसाइं, इच्छंतो द्वियमप्यणो ॥

आत्माका हित चाहनेवाला मनुष्य पापवर्धक ऐसे क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार दोषोंका वमन कर देता है, जिसके कारण आत्मा निर्मल बनती है।

अब इन्हीं दोषोंको किस प्रकार बम कर सकते हैं ? तो इसका भी छोटासा और सरल उपाय बताता हुआ उपकारी महर्षिगण कहता है कि—

उवसमेण हणे कोहं, माणं महकया जिणे ।

मायं चज्जवभावेणं, लोभं संतोसओ जिणे ॥

हे आत्मन् । क्रोधका उदय होनेके साथ ही उपशान्त (संतुष्ट) बनकर, क्षमा रखकर क्रोधके उदयको विफल बना दे, मृदुता (कोमलता)—नम्रतासे मान स्वरूप दुश्मनको तथा मायाकपट (छलना) करनेकी मनोवृत्तिके जागने पर सरलहृदयी बनकर मायाको जीत ले और लोभवृत्तिके जागने पर निःस्पृह बनकर संतोषभाव या अनासक्त भाव धारण करके लोभ पर विजय पा ले ।

इन चारों कषायोंको राग और द्वेष नामक दो विभागोंमें विभाजित किये जाते हैं । इसमें क्रोध और मानका द्वेषके अंतर्गत तथा माया और लोभका रागके अंतर्गत समावेश होता है । मत्तांतरसे मान, माया और लोभ तीनोंका समावेश रागमें होता है । हम तीर्थंकरको संक्षिप्तमें राग—द्वेषरहित जो मानते हैं उसका अर्थ वे चारों कषाय रहित भगवान हैं ऐसा फलित होता है ।

ये कषाय क्षमा—नम्रतादि गुण स्वरूप सम्यक् चारित्रमार्गका आवरण करते हैं । इससे आगे बढ़कर वे क्रोधादिकके भाव उत्पन्न करके असभ्य बरताव भी करवा सकते हैं । और आगे बढ़ता क्रोध तो ऐसा है कि अगर वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया तो नये कर्म बांधनेका अनंत सीलसीला मानो शुरु हो जायेगा । क्रोधादि चारों कषायकी बदनसीबी तो ऐसी है कि क्रोधके समय बँधा हुआ कर्म फिरसे क्रोध हो ऐसा ही बँधेगा और बंधा हुआ कर्म फिरसे जब उदित होता है तब वह तीसरी बार भी वैसा ही बाँधेगा !.... इस प्रकार अनंत सीलसीला जारी ही रहेगा । क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों के तरतम (न्यूनाधिक्य अथवा तारतम्य) भावयुक्त विभिन्न भाव हजारों होते हैं । इर्षा, द्वेष, निंदा इत्यादि ।

ये कषाय मोहनीयकर्मजन्य हैं । इनका उदयमें निजगुणरमणीयता अथवा स्वभाव-दशामें अस्थिरता उत्पन्न कर देता है, जिसके कारण आत्मा अपना मूल स्वभाव प्रकट नहीं कर सकती है, उल्टा परभावमें रमणीयता उत्पन्न करवाकर, दूसरोंकी चीजोंको अपनी मनवानेकी मूल करवाकर, आत्मासे पर मानी जाती चीजोंमें मोह उत्पन्न करवाकर तथा उनमें मेरा—मेरी का भाव पैदा करवाता है ।

अनंत जीवोंकी विविध प्रवृत्तियोंके कारण इनकी भावनाओं तथा विचारोंमें अनंत तारतम्य पड़ते हैं। और इसके कारण ही इनके कषायोंके नतीजेमें भी उतनी ही तर-तमताएँ खड़ी हो सकती है। लेकिन इन अनंत वर्गोंको वाणीसे अथवा लेखनसे व्यक्त करना असंभवित होनेसे इनका वर्गीकरण करके शास्त्रकारोंने मन्द, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम ऐसे मूल चार भेदोंको फिरसे चार प्रकारोंमें बाँट दिये हैं तथा अर्थानुसार इनके चार नाम भी इस प्रकार दिये गये हैं—(१) अनन्तानुबंधी (२) अप्रत्याख्यानी (३) प्रत्याख्यानी और (४) संज्वलन। (१) जिस कारणसे तीनों जगतमें जीव अनंत संसारका अनुबन्ध करते हैं, उसके कारण उसे अनन्तानुबंधी क्रोधादि कहा जाता है। यह कषाय सच्चा विवेक होने ही नहीं देता। (२) सच्ची समझ होनेके बावजूद भी कषायके उदयके कारण जीव थोड़ा-सा भी त्याग नहीं कर सकता है, इस लिए उसे अप्रत्याख्यानी कषाय कहा जाता है। यह कषाय संसारके कामभोगके प्रति जीवको आसक्त रखता है। (३) इस प्रकार जिस कषायके उदयसे जीव सर्वांशसे सावध योग (अशुभ योग) का जो त्याग नहीं कर सकता है उसे प्रत्याख्यानी कषाय कहा जाता है और (४) जिस कषायके उदयसे त्यागी बैरागी ऐसे महात्माओंको भी इष्टकी प्राप्तिमें आनंद तथा अनिष्टकी प्राप्तिमें खेदादिक होता है और मन कुछ कुछ अशांत बन जाता है इसे संज्वलन कषाय कहा जाता है।

मूल कषायके १६ भेद जो इस प्रकार हैं

१. अनन्तानुबंधी	— क्रोध	१. अप्रत्याख्यानी	— क्रोध
२. " "	— मान	२. " "	— मान
३. " "	— माया	३. " "	— माया
४. " "	— लोभ	४. " "	— लोभ
१. प्रत्याख्यानी	— क्रोध	१. संज्वलन	— क्रोध
२. " "	— मान	२. " "	— मान
३. " "	— माया	३. " "	— माया
४. " "	— लोभ	४. " "	— लोभ

इस लिए क्रोध चार प्रकारका है। इसी प्रकार मान आदि भी चार-चार प्रकारके हैं। अब उनमें भी पुनः जीवभेदके कारण अनेक वर्गोंकी रचना होती है। इस लिए उन

१६ कषायोंको पुनः चार-चार प्रकारसे विभाजित करने पर १६ कषायके ६४ भेद बनते हैं। इन भेदोंका वर्णन ग्रन्थविस्तारके भयसे यहाँ दिया नहीं है।

कषायका काल—ये कषाय उत्पन्न होने के बाद वैसे ही वैसे रूपमें कितने समय तक टिक सकते हैं ? जिज्ञासुके इस प्रश्नका उत्तर शास्त्रोंने इस प्रकार दिया है कि ज्ञानदृष्टिसे असंख्य जीवोंके नतीजोंका विश्लेषण और उनकी मर्यादाओंको देखनेके बाद ऐसा लगता है कि संज्वलन कषायका उदय होनेके बाद अगर जल्दीसे शमन होता नहीं है तो अधिकसे अधिक १५ दिन तक टिक सकता है। इस अवधि (अरसा, काल) को पूर्ण होते ही वह किसी भी प्रकारसे जरूर उपशान्त हो जायेगा। प्रत्याख्यानी प्रकारका कषाय अधिकसे अधिक चार मास, अप्रत्याख्यानी एक साल तक और अनंतानुबन्धी जिन्दगीपर्यंत टिकता है। यहाँ पर विवेकदृष्टि रखकर यह समझना है कि सभी कषायोंकी अपनी अपनी समय मर्यादा पूर्ण होते ही आत्मा शांत हो ही जाती है ऐसा कोई निश्चित नियम नहीं है। अगर रागद्वेषकी उग्रता बढ़ भी जाती है तो बादके अथवा आगेके कषायमें जीव चला जायेगा ही, जिस प्रकार संज्वलन युक्त आत्मा पंद्रह दिन होने पर भी शान्त नहीं होती है तो उसे प्रत्याख्यानीके उदययुक्त बनते देर नहीं लगेगी। और इस प्रकार अगर उत्तरोत्तर बढ़ता भी गया तो अनंतानुबन्धीमें भी चला जायेगा। और अनंतानुबन्धीवाला कार्यफल (कार्यपरिणाम) की सुंदरता बढ़ने पर संज्वलनवान् भी बन सकता है। इस प्रकार कषायकी वासना—परिणामका कालमान बताया गया है।

कषायोंकी समिसाल (मिसालके साथ, दृष्टांतके साथ) घटना—कषायोंकी काल-मर्यादा अथवा उनकी मन्दता—तीव्रतादि समझनेके लिए ज्ञानीजनोंने अनेक दृष्टांत खोजकर कषायोंके साथ तुलना करके जिज्ञासुओंको तृप्त किया है।

इसमें संज्वलनका क्रोध जलकी लकीर जैसा, प्रत्याख्यानीका क्रोध धूलकी लकीर जैसा, अप्रत्याख्यानीका पृथ्वीकी दरार जैसा और अनंतानुबन्धीका पहाडकी फूट (दरार)

५९३. ये ६४ भेद भी बहुत जरूरी है। यदि ऐसे चित्रविचित्र भेदोंको न समझे तो कर्मतत्त्व व्यवस्थामें अवरोध (विघ्न) आ जाता है। जिस प्रकार अनंतानुबन्धीका उदय हो ऐसी ही आत्मा नरका-युध्य बाँधकर नरकमें जाती है। अब कृष्णवासुदेव क्षायिक सम्यग्दृष्टिवान् थे जो अनंतानुबन्धीके क्षयवाले और अप्रत्याख्यानीके उदयवाले थे, तो वे तीसरे नरकमें क्यों गये ? इसका समाधान ६४ भेदोंमेंसे ही दे सकते हैं। इसलिए श्री कृष्णवासुदेवका जो अप्रत्याख्यानी कषाय था, वही कषाय अन्त समयपर उग्र बनकर अनंतानुबन्धी जैसा बन गया था। श्रेणिकके लिए भी इस प्रकार ही सोचना चाहिए। बाहुबली मुनिमें संज्वलन मान कषाय पंद्रह दिनके बदले एक साल तक टिका था। वहाँ भी संज्वलनकी उग्रता अप्रत्याख्यानीके कषाय जैसी थी, इस प्रकार समाधान सोचना चाहिए।

जैसा है। ये मिसाल तो इस बातको सूचित करते हैं कि हम जलमें अपनी उँगलीसे लकीर खींचकर (पानीमें) भेद करनेका प्रयत्न तो करते हैं, लेकिन यह भेद कितना समय टिकता है? फलभर ही। ज्यों-ज्यों उँगली आगे बढ़ती जाती है त्यों-त्यों भेदलकीर (भेदरेखा) नष्ट होकर पुनः पानी अभेद हो जाता है। इसके बादके दृष्टांतोंमें उत्तरोत्तर भेदलकीरोंका अस्तित्वमान बढ़ता ही जाता है।

अब संज्वलनका मान बेंत जैसा, प्रत्याख्यानीका लकड़ीके स्तंभ जैसा, अप्रत्याख्यानीका हड्डीके स्तंभ जैसा और अनंतानुबंधीका मान पत्थरके स्तंभ जैसा है। यहाँ पर प्रथम बेंतका प्रकार यह सूचित करता है कि मान प्राप्त होते हुए भी साधु पुरुष कमी भी झुकनेमें देर नहीं लगाते हैं और काष्ठके स्तंभको इससे अधिक देर लगती है, इस प्रकार उत्तरोत्तर समझ लीजिए। व्यवहारमें भी मानी मनुष्यको कड़े (सस्त) स्तंभ जैसा है, ऐसा बोलते हैं। यहाँ दृष्टांतमें (मिसालके तौरपर) स्तंभ ही लिया है।

संज्वलन माया बाँसकी छाल अथवा छिलका जैसी (नरकट अथवा नडके भीतर पतले और बक्र तंतु जो होते हैं वे), प्रत्याख्यानीकी माया उलट-पुलट गोमूत्र-गायकी मूत्रघार जैसी, अप्रत्याख्यानीकी माया मेड़ (मेढा) के सिंग जैसी और अनंतानुबंधीकी माया बाँसके मूल जैसी है। यहाँ नरकटके तंतुका बाल एकदम सीधा हो जाता है। बादमें तो उत्तरोत्तर अधिक से अधिक बक्र होनेके कारण बड़ी विलंबके साथ साध्य होता है।

संज्वलनका लोभ हलदीके रंग जैसा, प्रत्याख्यानीका रंग बैलगाड़ीकी कीट (काजल) जैसा, अप्रत्याख्यानीका नगर (शहर)की नाली (मोरी)के कीचड़ जैसा और अनंतानुबंधीका किरमिज रंग जैसा लगता है। संज्वलनका लोभ हलदी जैसा होनेसे जल्दी दूर होता है। और उत्तरोत्तर रंग अधिक पके होनेके कारण अधिक श्रम साध्य है ऐसा समझना चाहिए।

किस कषायसे कौनसा लाभ मिलता नहीं है?—संज्वलनका उदय रहता है वहाँ तक यथाख्यात चारित्रका गुण अथवा वीतराग अवस्था, प्रत्याख्यानीके उदयसे सर्वविरति सर्वसाधकके त्यागस्वरूप चारित्र परिणाम, अप्रत्याख्यानीके उदयसे देशविरति अर्थात् आंशिक त्यागस्वरूप चारित्र परिणाम और अनंतानुबंधीके उदयसे सम्यग्दर्शनरूप श्रद्धा-परिणामका उदयमान होता नहीं है।

किस कषायसे कौनसी गति मिलती है?—संज्वलन कषायवालोंको (साधुत्व—नेकी—पवित्रता—सज्जनतावाले साधु इत्यादि) मरकर देवगति, प्रत्यास्यानीवालोंको मनुष्य-गति, अप्रत्यास्यानीवालोंको तिर्यचगति और अनंतानुबंधीवालोंको नरकगति प्राप्त होती है।

आखिर ये सभी कषाय जन्मते क्यों हैं?—ये कषाय मोह, माया, ममता, आसक्ति, अज्ञानभावके कारण भूमि, घर—बंगला इत्यादि, शरीर, उपधि (छल धोखेबाजी) और धन—धान्य—वस्त्रादि परिग्रहोंमेंसे जनमता है। एकेन्द्रियोंमें भी कषायभाव प्रच्छन्नरूप होता है।

अल्पबहुत्व—इनमें बिना कषायवाले जीव सबसे कम, इससे अनंतगुने मानकषायी जीव, इससे अधिक क्रोधकषायवाले, इससे भी अधिक मायाकषायीवाले और सबसे अधिक लोभ कषायीवाले जीव होते हैं।

इन चार मुख्य कषायोंके अतिरिक्त कषायके दूसरे सहचारियोंमें हास्य, रति, अरति (विरक्ति—असंतोष—क्रोध—चिंता), भय, जुगुप्सा, शोक और तीन वेद इत्यादि नौ कषाय भी हैं। ये नौ सहचारी कषाय मुख्य चार कषायोंको उद्दीप्त करते हैं। तात्पर्य यह कि हँसना, खुश होना, नाखुश होना, भय, ऊबना, नफरत पैदा होना और शोकार्त दशा बनी रहना तथा स्त्रीका पुरुषसंगामिलाष और वेदन, पुरुषका स्त्रीसंगामिलाष और वेदन तथा स्त्री—पुरुष दोनोंमें परस्पर अभिलाष और वेदन ये सभी भावनाएँ अंतमें तो रागद्वेष ही उत्पन्न कराती है।

कषायोंकी गुणस्थानक मर्यादा—इसमें अनंतानुबंधीका उदय दूसरे गुणस्थानक तक, दूसरे कषायका चौथे तक, तीसरेका पाँचवे तक और चौथेका दसवें गुणस्थानक तक उदय होता है। लेकिन (अधिकारसे) सत्तामें तो चारों कषाय ग्यारहवें गुणस्थानक तक होते हैं।

अनंतानुबंधी क्रोधके उदयके समय शेष तीन कषाय भी उदयमान् होते ही हैं। उसी प्रकार मान, माया इत्यादिके उदयके प्रसंगमें भी शेष तीनोंका अस्तित्व होता है ही। इन कषायोंके विषयमें यद्यपि बहुत कुछ जानने—समझने योग्य बाकी है लेकिन इस पाठ्यग्रन्थमें तो उतना विस्तार हम कहाँ कर सकते हैं?

ये कषाय मोहनीय कर्मके हैं। ये जीवमें मोहदशा—विकलता उत्पन्न करते हैं। इनमेंसे ही राग—द्वेषका जनम और परंपरा (सिलसिला) पैदा होती है, जो पुनः संसार परंपराको जनम देती है। इसी कारणसे ही आठों कर्ममें मोहनीयको सेनापति जैसा अथवा मुख्य

नब्ज (नाडी) जैसा कहा है । शेष सातों कर्मोंके मेलमिलाप (संयुक्ति, संयोग) तथा उसके कटु विपाकमें मोहनीय कर्मकी राग-द्वेषकी अनुभूतियाँ ही मुख्य और महत्त्वपूर्ण हिस्सा लेती हैं । इसलिए अगर उसका नाश पहले हो गया तो शेष सभी कर्मोंका क्षय भी जल्दीसे हो सकता है । इन्हीं कारणोंसे इन कषायोंसे तथा नौ नोकषायोंकी भावनाओंसे सदा बचकर रहना ही इस विषयकी जानकारी पानेका वास्तविक फल है ।

७—लेश्या [लेश्या]

लेश्या आखिर क्या चीज है, इस विषयमें आगमोंकी टीकाओंमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें बहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है, फिर भी 'लेश्या'के विषयमें कुछ कुछ जानकारी गूढार्थक भी रही है । लेकिन यहाँ पर तो संक्षिप्तमें ही लेश्याके विषयमें बताना है । आलिंगन अथवा मिलनके अर्थमें संबंधित 'श्लिष्' धातु परसे 'लेश्या' शब्द बनता है । इससे जिस* चीजके कारण जीव कर्मके साथ जुड़ता है, बंधनग्रस्त होता है, उसका नाम है लेश्या अथवा कृष्णादि विविधरंगी द्रव्योंके संबंधसे उत्पन्न होते आत्माके शुभाशुभ परिणामविशेषको लेश्या कहा जाता है ।

जिस प्रकार स्फटिक रत्नके मणकेमें जिस रंगका धागा पिरोयेंगे तो उसी रंगका ही वह दिखायी देता है, उसी प्रकार आत्मामें जिस-जिस प्रकारके लेश्या द्रव्य उत्पन्न होते हैं; आत्मफल भी उसी प्रकारका ही प्राप्त होगा । यह नतीजा पैदा करनेवाला पुद्गल द्रव्य ही है । यह लेश्या द्रव्य और भाव ये दो प्रकारकी होती है । इनमें द्रव्य-लेश्या पुद्गल स्वरूप होनेके कारण वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त है । द्रव्य लेश्याके आलंबनसे ही जो आत्मपरिणाम उत्पन्न होता है उसे भाव लेश्या कहा जाता है । यह लेश्या अनंत वर्गणा और अनंत प्रदेशयुक्त है । लेकिन यह वर्गणा किस+ प्रकारकी है इसकी जानकारी मिली नहीं है, लेकिन द्रव्यलेश्याके पुद्गल योगान्तर्गत है इस लिए जब तक योग है तब तक उसका अस्तित्व भी है । ये लेश्या द्रव्य कषायोंको उद्दीप्त करनेमें महत्त्वपूर्ण हिस्सा रखते हैं ।

अब यहाँ पर वर्णकी प्रधानताको लक्षित करके स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए वर्ण= रंगके छः प्रकारके नामोंके साथ संकलित करके लेश्याकी कक्षाओंको छः प्रकारमें विभक्त कर दिया है । जिनके नाम अनुक्रमसे इस प्रकार हैं—१. कृष्ण (काला), २. नील,

* श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या ॥ + बादर परिणामी स्कंधयुक्त होनेसे औदारिक अथवा वैक्रिय वर्गणाके प्रकारकी संभवित है ।

३. कापोत (धूसर अथवा कपोत वर्णका), ४. तेजो, ५. पद्म और ६. शुक्ल। ये सभी लेश्याएँ छः प्रकारके जीवोंके अध्यवसायों (प्रयत्न, उद्यम, कोशिश)को दिखाती हैं। इसलिए इन्हीं लेश्याओंसे उस हरेक जीवकी अधमता-उत्तमताकी कक्षा तय होती है। शुरुकी लेश्या एकदम अशुद्ध और अधम कोटिकी है। उसके बादकी दो अशुद्ध होने पर भी प्रारंभिक तीनोंकी एक-दूसरेकी दृष्टिमें पूर्वसे अधिक विशेषतायुक्त उत्तरकी है और अंतिम तीन तो शुभ होनेसे उत्तरोत्तर विकसित होती शुद्ध, शुद्धतर और शुद्धतम प्रकारकी बनती जाती है अर्थात् उत्तरोत्तर वे शुभ प्रकारकी हैं।

१. वर्ण—कृष्णलेश्या अति काले रंगकी, नीललेश्या तोतेके पीच्छके रंग जैसी हरी अथवा कापोत या मयुरके कंठ जैसी नीले रंगकी, कापोत—लाल और नीले रंगके मिश्रणसे उत्पन्न काबरे-चितकबरे रंगकी, तेजो लालचटक घुंघची (चिणोठी)के रंग जैसी, पद्मलेश्या चंपाके फूल जैसी पीले रंगकी और शुक्ललेश्या उज्ज्वल दूधसे भी अधिक श्वेतरंग जैसी होती है।

२. गंध—इनमें पहली लेश्या अत्यन्त दुर्गंधयुक्त एवम् बदबूसे भरपूर, बादकी उससे कुछ कम, तीसरी उससे भी अधिक कम दुर्गंधयुक्त होती है। फिर भी एक प्रकारसे ये तीनों दुर्गंधयुक्त हैं ही और शेष तेजोलेश्या सुगंधयुक्त और उत्तरोत्तरकी लेश्या अधिकाधिक सुवासयुक्त होती है।

३. रस—कृष्णलेश्याका स्वाद अति कडुआ, नीलका अत्यंत तीखा, कापोतका खट्टा, तेजोका सुगंधित सुंदर आमके रसके स्वाद जैसा, पद्मका अंगुरके रस जैसा और शुक्ललेश्याका सकर-गुड़ जैसा मधुर है।

४. स्पर्श—पहली तीन लेश्याओंका स्पर्श शीत और रुक्ष है, जो चित्तके लिए अप्रसन्नकारक है। और अंतिम तीनका स्पर्श स्निग्ध उष्ण है जो चित्तके लिए परमसंतोषोत्पादक है।

इन्हीं छः लेश्याओंमें प्रथम तीन लेश्याओंका वर्णादि चतुष्क अशुभ है। लेकिन उत्तरोत्तर यह प्रमाण कम होता जाता है। इस प्रकार तेजो इत्यादि अंतिम तीनोंका वर्णादि चतुष्क उत्तरोत्तर शुभ, शुभतर-तम प्रकारका समझना चाहिए। क्योंकि प्रारंभिक तीन लेश्याएँ मलिन और अप्रकृष्ट (निदनीय) हैं इसलिए अशुभ होनेके कारण आत्माके

५९५. नील- शब्द प्राचीनकालमें खास तौरपर भूरे रंगके अर्थमें अधिक उपयोगी था। बादमें उसमें अनेक विकल्प आ गये हैं। साथ ही कुछ लोग नीलका अर्थ हरा और श्याम भी करते हैं।

शुभ अध्यक्षवसाय फलमें असहायक है, जब कि अंतिम तीन निर्मल और प्रशस्त है जो आत्माके शुभ अध्यक्षवसाय फलमें (नतीजेमें) सहायक है। इस प्रकार पहली तीन दुर्गति करनेवाली और शेष तीनों "सैद्गति करनेवाली हैं।

चौदहवाँ गुणस्थानक छोड़कर शेष सभी गुणस्थानक पर सर्व संसारी जीवोंमें द्रव्य और भाव ये दोनों लेश्याएँ होती है। लेकिन इतना विशेष है कि देवगण तथा नारकोंकी द्रव्य लेश्या हमेशा एक ही होती है। लेकिन आत्मपरिणाम स्वरूप भाव लेश्याएँ सभी "०" (छः) होती है, जिससे इनके नतीजे बदलते रहते हैं। और सर्वज्ञको छोड़कर शेष मनुष्य तथा तिर्यचोंकी शुक्लको छोड़कर शेष द्रव्य और भाव लेश्या जघन्योत्कृष्टसे अन्तर्मुहूर्तमानयुक्त है। यहाँ शुक्ल लेश्याकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट नौ वर्ष न्यून पूर्वकोड सालकी है।

१. कृष्ण लेश्यावाले जीव वैर लेनेमें निर्दय, अतिक्रोधी, कठोर मनके, आत्मधर्मसे एकदम विमुख, महारंभी और क्रूर होते हैं।

२. नील लेश्याके स्वभाववाले जीव माया दंभमें कुशल (प्रविण), चंचलस्वभाववाले, अति विषयी, असत्यवादी तथा रिश्वतखोर होते हैं।

३. कापोती पाप जैसी बीजको न माननेवाला, मूर्ख और क्रोधी होता है।

४. तेजो लेश्यावान् सरल, दानेश्वरी, सदाचारी, धर्मबुद्धिवान् और अक्रोधी होता है।

५. पद्मलेश्यावाला धर्मिष्ठ, दयावान्, स्थिर स्वभावी, गंभीर, सभीको दान देनेवाला, अतिकुशल बुद्धिवाला और मेधावी होता है।

६. जब कि शुक्ललेश्यावाला जीव अतिधर्मिष्ठ, पापरहित प्रवृत्ति करनेवाला और अत्यंत निर्मल मनवाला होता है।

जामुनके दृष्टांत

छः लेश्यावाले जीवोंकी आत्माकी कक्षा समझनेके लिए हमारे यहाँ जामुनके पेड़वाली घटना सुंदर रूपसे समझायी है। (इससे हरेक लेश्या कैसे अभिप्राय अथवा स्वभावयुक्त होती है उसका ख्याल आयेगा।) जो इस प्रकार है कि—

५९६. सामान्यतः ऐसा नियम है कि जिस लेश्यामें जनम होनेवाला है उसी लेश्यामें ही पूर्व जन्ममें अवसान होता है।

‘ जल्लेसाहं दन्वाहं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसे (सो) उववज्जइ । ’

५९७. इसलिए सातवें नारकी जीवोंको सम्यक्त्वप्राप्ति संभवित हो सकती है।

कोई छः यात्री चलते-चलते जंगलमें जा पहुँचे। वे अधिक परिश्रम और थकानके कारण भूख और तृषासे दुःखी-दुःखी होने लगे। उन्होंने थोड़ी दूरी पर सुंदर जामुनके गुच्छोंसे भरा हुआ एक जामुनका पेड़ देखा। इसलिए ये छः यात्री वहाँ पहुँच गये और जामुन खानेकी इच्छासे उसे लेनेके लिए सोचने लगे। उनमेंसे एक यात्री बोला—“बोलिए भाई ! कच्चे पक़े हरेक प्रकारके जामुन के बहुत-से गुच्छ लटकते हैं। इसलिए जामुन तो बहुत-सारे हैं, लेकिन खानेवाले हम सिर्फ छः लोग ही हैं। क्या करेंगे ?” यह सुनकर छःमेंसे एक यात्री बोल उठा—“अरे ! यार इसमें अधिक सोचना कैसा ? कुल्हाड़ी मारकर पेड़ को ही जल्दी नीचे गिरा दें, ताकि स्वेच्छानुसार खा सकें !” उसकी बात सुनकर नासमझका प्रमाण अधिक होने पर भी पूर्वकी अपेक्षासे जो कुछ अधिक समझदार था उसने कहा—“भाईओं ! ऐसा किस लिए ? थोड़े-से जामुन खानेकी खातिर सारे पेड़का मूलसे ही नाश क्यों ? नहीं ! नहीं !! इसके बदले फलोंसे लदी हुयी बड़ी-बड़ी डालोंको ही क्यों न तोड़ दें ? बादमें जितना चाहे जामुन खा सकेंगे !” तब तीसरा मुसाफिर बोला—“अरे भाईओं ! ऐसा क्यों ? फलोंके गुच्छो-वाली छोटी-छोटी टहनियाँ ही बहुत-सी हैं, इसलिए बड़ी-बड़ी डालोंका विनाश नहीं करना चाहिए ! और बड़ी-बड़ी डाल फिर कब उगेगी ? इसलिए हम-छोटी-छोटी टहनियोंको ही तोड़ दें।” तब उनमेंसे चौथा बोल उठता है—“अरे ! भाई ! आपके सभी विचारोंमें जल्दबाजी है। हम टहनियाँ भी तोड़े तो आखिर क्यों ? हमें जरूरत है जामुनकी, डालियोंकी नहीं; इसलिए डालियोंमें जो गुच्छ है उन्हें ही तोड़ दे।” तब उससे भी अधिक जो बुद्धिशाली था उसने कहा—“भाईओं ! ऐसा क्यों करते हैं ? गुच्छोंको तोड़नेके बदले हममेंसे एक पेड़ पर चढ़कर फलोंको ही तोड़कर ले आये उसमें बुरा (गलत) क्या है ? हमें खाना है जामुन, गुच्छे नहीं।” इस प्रकार वे सभी एकमत हुए इतनेमें अंतिम छट्ठवाँ यात्री जो मौन धारण करके खड़ा था, जिसे पहले पाँचों यात्रियोंके विचार नापसंद थे। वह अति चतुर बुद्धिशाली था। उसने कहा—“देखिए भाईओं ! मेरा अभिप्राय (मत) आपसे भिन्न है। यह आपको पसंद हो या न हो, मैं नहीं कह सकता। लेकिन जिसे मानव हृदय मिला है, उसे मानवताकी दृष्टिसे थोड़ा-सा सोचना चाहिए और कोई भी कार्यमें अपनी विवेक बुद्धिका उपयोग करना चाहिए ! आप सबको भूख लगी है यह बात सच है, लेकिन उसको तृप्त करनेके लिए जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। हमारी आर्य संस्कृति और मानवता ऐसा कार्य करनेसे

इन्कार करती है। इस लिए दूसरोंकी हिंसा करके, कष्ट अथवा दुःख देकर पेट भरना नहीं चाहिए। और एक प्रकारसे बोलूँ तो सजीव ऐसे पेड़का स्पर्श भी करनेकी आपको जरूरत ही नहीं है। क्योंकि जरा (तनिक-थोड़ा) धरती पर तो देखिये ! खाने लायक सैंकड़ो सुंदर जामुन कैसे बिखरे पडे हैं। उन्हें खाकर हम अपनी मूख मिटा सकेंगे ! बिना वजह सजीव ऐसे पेड़का छेदन—भेदन करके जीवहिंसा करनेका पाप क्यों मोल लेना चाहिए ?

इसके अतिरिक्त शास्त्रमें छः चोरोंका दूसरा द्रष्टांत भी आता है।

८-इंदिय [इन्द्रिय]

इस द्वारका वर्णन ३४० वीं गाथाके विवेचनके प्रसंग पर सविस्तार कहा गया है। इस लिए अब यहाँ पुनरुक्तिकी जरूरत नहीं है।

९ - १० - दुसमुग्धाय [द्वि-समुद्घात]

नौवाँ और दसवाँ ये दोनों द्वार समुद्घातके ही हैं। नौवाँ द्वार जीव समुद्घात का और दसवाँ अजीव समुद्घातका है। इसमें सबसे पहले जीव समुद्घातकी व्याख्या करते हैं।

समुद्घात शब्दका अर्थ ऐसा है कि सम् अर्थात् एक साथ और घात अर्थात् नाश। इस प्रकार अर्थ बना कि—आत्मा जिस क्रियाके द्वारा एक साथ बहुतसे कर्मोंका क्षय करती है, उस क्रियाको समुद्घात कहा जाता है।

यह बात कुछ ऐसी है कि जब बंधे हुए कर्म उदित होते हैं तब जीव उन्हें क्रमशः भुगतता है ही। लेकिन क्रमशः भुगतनेका यह कार्य अपनी कालमर्यादा पूर्ण होने तक पूरा हो जाता है, लेकिन कभी-कभी ऐसी परिस्थितियोंका निर्माण होता है कि भुगतनेका कर्म जो अवशेष (बाकी) हो उनमें कुछेक कर्मोंकी नियत कालमर्यादाकी अपेक्षाको तोड़कर कुछेक कर्मोंको अल्प समयमें ही भुगत लेना पड़ता है। और उस स्थितिका निर्माण करनेके लिए जीव आगामी कुछ कर्मोंकी उदीरणाकरण द्वारा उदीरणा करता है अर्थात् आगामी काल पर अथवा अधिक कालमें भुगतने योग्य कर्मोंको उदयावलिका अर्थात् वर्तमान समयमें उदयप्राप्त भुगतता कर्मोंके साथ प्रबल आत्म-प्रयत्नसे शीघ्र भुगतकर आत्मप्रदेशसे अलग कर देता है। ऐसा महाप्रयत्न स्वाभाविक रूपसे अथवा आत्म प्रयत्न द्वारा सात प्रसंग पर होता है। और इस प्रकार समुद्घातके सात प्रकार बनते हैं। १. वेदना, २. कषाय, ३. मरण, ४. वैक्रिय, ५. तैजस, ६. आहारक और ७. केवली।

जीव समुद्घात

१. वेदना समुद्घात—तीसरे वेदनीय नामक कर्ममें अशाता वेदनीय कर्मसे (अर्थात् दुःख-अशांतिसे) पीड़ित आत्मा, कमी कमी अति आकुल-व्याकुल बनती है, तब अनन्त-नन्त स्कंधोंसे परिवृत्त (आवृत्त) अपने अपने आत्मप्रदेशोंको शरीरके बाहर निकालकर उन्हीं प्रदेशोंसे शरीरके मुख, जठरा, कर्णादिकके छिद्रोंको तथा कंधेके भागोंको (कंधेसे मस्तक तक) कैद करके स्वशरीर जितने क्षेत्रमें सघन रीतसे व्याप्त होकर (समचौरस जैसा) अन्तर्मुहूर्त तक उसी स्थितिमें टिका रहे, और उसी समय दरमियान उदीरणाकरण द्वारा दीर्घकाल तक भुगतने योग्य कुल्लेक कर्म पुद्गलोंको उदित करके नाश करता है, उस हरेक कर्मक्षयके साथ साथ नये कर्मोंका ग्रहण होता है और जीवके प्रति नहीं* भी होता ।

२. कषाय समुद्घात—कषायसे राग या द्वेषकी अति तीव्रतासे आकुल बनी हुई आत्मा वेदना समुद्घातके समय उसी प्रक्रिया स्वरूप दीर्घकाल तक भुगतने योग्य कुल्लेक कषाय मोहनीय कर्मोंको चालू उदयके साथ ही भुगतकर नष्ट कर देते हैं । यहाँ भविष्यके कर्मोंको वे वर्तमानमें ज्यों ज्यों भुगतते हैं, त्यों त्यों उस प्रकारके नये नये कर्मोंको ग्रहण भी करते हैं । और अगर ग्रहण नहीं करते हैं तो जीवका मोक्ष ही हो जायेगा । इस कषाय समुद्घातमें चार प्रकारका समुद्घात होता है—क्रोध, मान, माया और लोभका ।

३. मरण समुद्घात—यह समुद्घात आयुष्यकर्मों है । इस लिये वह अवसानके पूर्व एक अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है तब ही होता है । मरणान्तसे व्याकुल बनी हुई आत्मा मरणान्तके पूर्व एक अन्तर्मुहूर्तायुष्य शेष रहता है तब अपने ही आत्मप्रदेशोंसे स्व-शरीरके छिद्रवाले-रिक्त भागोंको भरकर, स्वशरीरकी चौड़ाई जितने स्थूल और लम्बाईमें जघन्यसे अंगुलासंख्य भाग और उत्कृष्टसे एक ही दिशामें समश्रेणीमें उत्पत्ति स्थान तक, आत्मप्रदेशों द्वारा असंख्य योजन प्रमाण व्याप्त हो जायँ और आयुष्यकर्ममें भी अनेक पुद्गलोंका शीघ्र नाश (क्षय) करता है, उसे मरण समुद्घात कहा जाता है । (यहाँ नये पुद्गलोंका ग्रहण होता नहीं है ।)

* जिस प्रकार खंधक अणगरादि लोगोंके लिए । ५९८. हरेक जीव मरण समुद्घात करके ही मृत बनता है ऐसा नहीं है । क्योंकि मरण तथा मरण समुद्घात ये दोनों भिन्न भिन्न चीज है । साथ ही मरण समुद्घात भगवतीजीके अभिप्राय से एक भवमें दो बार हो सकता है । लेकिन मरण तो दूसरे समुद्घातमें अवसान के पूर्व एक अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है तब ही होता है ।

४. वैक्रिय समुद्घात—वैक्रिय लब्धवान् जीव कर्म युक्त ऐसे अपने आत्मप्रदेशोंको शरीरके बाहर निकालकर उन्हें लम्बाई—चौड़ाईमें स्वशरीर तुल्य, तथा लम्बाईमें संख्याता योजन दीर्घ लम्बाकर दंड आकार स्वरूप फैलाकर पूर्वोपाजित वैक्रिय नामकर्मके अनेक प्रदेशोंको उदीरणा द्वारा उदयमान् कराके विनाशके साथ, रचना करनेके लिए निश्चित नये उत्तर वैक्रिय शरीर योग्य पुद्गल स्कन्धोंको ग्रहण करके वैक्रिय शरीर जो बनाता है वह वैक्रिय समुद्घात है । नया वैक्रिय शरीर बनाना हो तब जीवको ऐसा प्रयत्न करना पड़ता है । इसकी सहायतासे ही शरीर बनता है अथवा तैयार होता है ।

५. तैजस समुद्घात—तेजोलेश्याकी लब्धियुक्त जीव स्वशरीरके आत्मप्रदेशोंको प्रबल प्रयत्नोंसे शरीरके बाहर निकालकर, उन्हें उत्कृष्टसे संख्यात योजन दीर्घ तथा स्वदेह प्रमाण लम्बा—चौड़ा दंडाकार रचकर, पूर्वोपाजित तैजस नामकर्मके प्रदेशोंको प्रबल उदीरणाकरणसे उदित करके क्षय (नाश) करनेके हेतुसे, नये तैजस पुद्गलोंको ग्रहण करके तेजोलेश्या अथवा शीतलेश्या छोड़ते हैं ।

किसीके ऊपर तेजो अथवा शीतलेश्या छोड़नी हो तब आत्माको उक्त प्रक्रिया करनी पड़ती है ।

६. आहारक समुद्घात—आहारक लब्धिधारी चौदह पूर्वधर मुनि महात्मा अथवा जिनेश्वरदेवकी समवसरणकी ऋद्धि आदि देखनेके लिए अथवा कोई प्रश्नके समाधानके लिए अपने आत्मप्रदेशोंको अपने शरीरके बाहर निकालकर, उनका उत्कृष्टसे संख्यात योजन दीर्घ तथा स्वदेह प्रमाण युक्त मोटा—सा दंडाकार रचकर, पूर्वोपाजित आहारक नामकर्मके पुद्गलोंको प्रबल उदीरणा द्वारा शीघ्र उदयमें लाकर, निर्जरा करनेके हेतु नये आहारक शरीर योग्य पुद्गल ग्रहण करके आहारक शरीर बनाते हैं ।

७. केवली समुद्घात—जिन्हें केवलज्ञान (त्रिकालज्ञान) प्राप्त हुआ है, वे ही इस समुद्घात करनेके अधिकारी है । यहाँ केवलज्ञानीने आठ कर्मोंमेंसे चार घाती कर्मोंको दूर किये हैं जरूर, लेकिन वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य ये चार अघाती कर्मोंका उदय रहता है । इनमें आयुष्य कर्मकी स्थितिके अलावा शेष तीन कर्मोंकी स्थिति अगर अधिक रहती हो तो ऐसा बनेगा कि आयुष्य तो पूर्ण हो जायेगा लेकिन कर्मका भोग रह जायेगा । अगर कर्मको भुगतना रह भी गया तो केवली भगवंत अशरीरी बनकर मोक्षमें जा नहीं सकते और फिर केवलज्ञानीको तो दूसरा जन्म धारण करना

पड़ता ही नहीं है, अगर होता तो वे अपने जन्मान्तरमें कर्मका भोग जरूर कर सकते। लेकिन अब भवभ्रमणका तो अंत ही हो जाता है। इन सब कारणोंसे चारोंकी स्थिति इस प्रकार एक समान हो जानी चाहिए कि आयुष्यकी पूर्णाहुतिके साथ-साथ शेष तीन कर्म भी सर्वथा निर्जरी सके अथवा क्षय हो सके। और ऐसी स्थितिका सर्जन समुद्रघात जैसे आत्मप्रयत्नोंसे ही संभवित हो सकेगा। यँहँ क्रिया आठ समयकी होती है। केवली भगवान तीन कर्मोंकी दीर्घ विषम स्थितिका क्षय करके, उन्हें सुव्यवस्थित बनानेके लिए अपने आत्मप्रदेशोंको अपने शरीरके बाहर निकालकर पहला समयमें ऊर्ध्व दिशा और अधो दिशाके अन्त तक अर्थात् चौदहंराजलोक प्रमाण लम्बा और अपने शरीरके प्रमाण जितना लम्बा-चौड़ा आत्मप्रदेश दंडाकारमें रचते हैं।

द्वितीय (दूसरा) समयमें पूर्वसे पश्चिम लोकान्त तक वे अपने आत्मप्रदेशोंको विस्तृत करते हैं जिससे आत्मप्रदेशोंका आकार आलमारी जैसा बन जाता है। तीसरे समयमें वे अपने आत्मप्रदेशोंको उत्तर-दक्षिण लोकके छोर तक बड़ा कर देते हैं जिसके कारण ये आत्मप्रदेश मथानी जैसा आकार धारण करते हैं।

इस प्रकार आत्मप्रदेश व्याप्त हो जानेके बाद चौथा समयमें मन्थान-मथानीके बीच जो अंतर है अर्थात् अमी भी आत्मप्रदेश रहित लोकाकाश रहा है उस रिक्त जगहकी पूर्ति स्वात्मप्रदेशोंसे करते हैं। इतना करनेसे केवलज्ञानी भगवन्तके असंख्य आत्मप्रदेश लोकाकाशके प्रत्येक प्रदेश पर चार ही समयमें व्याप्त हो जानेसे उनकी आत्मा लोकव्यापी बन जाती है। क्योंकि एक आत्माके तथा लोकके प्रदेश समान हैं।

तदनन्तर पाँचसे आठ तकके चार समयोंमें आत्मप्रदेशोंका लोकव्यापी जो विस्तार हुआ है उसे पुनः समेट लेते हैं अर्थात् पाँचवे समयमें वे रिक्त जगहमें व्याप्त आत्म-प्रदेशोंको पुनः वापस खींच लेते हैं, छठे समयमें मथानीके (उ.द.) दो पाँसों (पक्षों) को, सातवें समयमें पूर्व - पश्चिममें रचित आलमारी आकारके प्रदेशोंको तथा आठवें समयमें ऊर्ध्वाधो (ऊपर - नीचे) रचित दंडाकार प्रदेशोंको संहार (सिमट) कर अपनी आत्माको पुनः पूर्ण रूपसे मूल देह जैसा बना देते हैं।

५९९. आँखको बन्द करके खोल दें इतनेमें असंख्य समय लगता है। ६००. 'एक ही समय' अर्थात् सेकण्डका असंख्यातवाँ भाग, इतने ही कालमें सैकड़ों ऐसे अरबों मील गति कर सकते हैं। चैतन्य रूपकी यह विलक्षण (अद्भुत) और विराट ताकत कहाँ ? और उसके आगे वामन अर्थात् छोटी (सीमाबद्ध) लगती आजके उपग्रहों अथवा रॉकेटकी ताकत कहाँ ?

यहाँ इस क्रियाकी सहायतासे उदीरणाकरण करना असंभवित होनेसे 'अपवर्तना' नामक करण द्वारा पूर्वोक्त तीन कर्मोंकी दीर्घस्थितिका विनाश करके अपने योग्य स्थिति-वाले बनते हैं ।

जिस प्रकार कोई गीला (मीगा) कपड़ा यों ही पड़ा रहता है तो उसके पानीको सूखनेमें कई घण्टें बीत जाते हैं, लेकिन यदि उस गीले कपड़ेको ठीक तरहसे चौड़ा करके रखें तो उसमेंसे पानी जल्दी सूख जायेगा। ठीक इस प्रकार ही केवली समुद्घातमें भी आत्मप्रदेशोंको सारे लोकमें विस्तृत कर देनेसे दीर्घकर्मोंका जल्दीसे क्षय हो सकता है।

सातोंका प्रकीर्णक अधिकार — केवली समुद्घात आठ समयका और शेष छः अन्तर्मुहूर्तकालमानके होते हैं । इनमेंसे १, ३ और ७ ये तीनोंमें पूर्वकर्मका विनाश और नये कर्मग्रहणका अभाव मिलता है जरूर, लेकिन शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण होता है। जब कि दूसरेमें नये कर्म पुद्गलोंका ग्रहण अधिक और पुरानेका क्षय (नाश) अल्प मात्रामें और ४, ५, ६ में पूर्वोपाजितका विनाश तथा नया कर्मग्रहण होता है।

१, २, ३ समुद्घात आनाभोगिक है इस लिए वह ऐच्छिक स्वरूप बनता नहीं है लेकिन अतिवेदनासे आत्मामें एकाएक आवेग आ जाता है और स्वाभाविक हो जाता है। और बाकीके चार आभोगिक है इस लिए सोच-विचारकर बुद्धिपूर्वक जान-बुझकर ग्रहण किया जाता है। अनेक जन्माश्रयी जीव इनमेंसे आहारक और केवली (अथवा जिन) ये दो समुद्घातोंको छोड़कर शेष पाँचोंका उपयोग अनंत बार करते हैं। इसके बाद आहारक अधिकसे अधिक चार और केवली समुद्घात भवचक्रमें एक ही बार होता है।

शुरुके तीन समुद्घात हरेक वेदनाकषाय अथवा अवसानके प्रसंग पर होते ही है ऐसा नियम नहीं है। इस लिए हरेक जीवोंके लिए वे अनिवार्य बनते हैं ऐसा नहीं है।

अचित्तमहास्कन्धरूप-अजीवसमुद्घातः

अब हम यहाँ 'अजीव समुद्घातः' की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि—अनंत परमाणुओंसे बना हुआ अनंत प्रदेशी कोई स्कंध तथाप्रकारके विस्रसा (क्षीणता—अशक्तता) फलस्वरूप (अथवा स्वाभाविक रूपसे) केवली समुद्घातमें दंडाकार तथा आलमारी आकारमें जिस प्रकारसे बताया गया है उस प्रकारसे ही चार समयमें संपूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त होकर फिरसे बाकीके चार समयमें उन सभी अवस्थाओंको समेटकर मूल अवस्था-वान् अथवा अंगुलके असंख्यात भागरूप बन जाता है, उसे 'अजीव समुद्घात' कहा

जाता है। संपूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त (विस्तृत) होनेकी योग्यतावाले अथवा व्याप्त बने हुए पुद्गलस्कन्ध अनंत है, जिन सबको अचित्त महास्कंधसे पहचाना जाता है। यहाँ यह प्रयत्न जीवद्रव्यका नहीं लेकिन अजीवद्रव्यका है।

११ - द्रष्टि- [द्रष्टि]

विश्वमें पदार्थ दो जातिके हैं—जड़ और चेतन। ये पदार्थ अथवा उनके स्वरूपके प्रति सबकी समान श्रद्धा हो अथवा बन सके ऐसा बनता नहीं है। अगर किसीको कोई पदार्थके प्रति सत्-सच्ची श्रद्धा हो तो कोई दूसरेको उसी पदार्थके प्रति असत् कोटिका भाव भी पैदा हो सकता है। तो कुच्छेक ऐसे भी जीव हो सकते हैं कि जिसमें उस पदार्थके प्रति न तो सत्का भाव मिलेगा और न तो असत् का, लेकिन सत्-असत् अर्थात् सदसत् द्रष्टिका मिश्रण मिलेगा। यद्यपि जीवोंकी समझके प्रकार यों तो हजार हैं, लेकिन उन सबको तीन बर्गोंमें समाविष्ट किया है।

आखिर ऐसा बनता है क्यों? तो जीवोंकी ज्ञान शक्ति अथवा समझ शक्तिकी विभिन्न कक्षाओंके कारण ऐसा बनता है। इन विभिन्न कक्षाओंके सृजनमें निमित्त कौन? तो इसका उत्तर है—हमारे अनेक शुभाशुभ कर्म।

उपर्युक्त तीन कक्षा भेदको शास्त्रीय शब्द देकर विशेष प्रकारसे समझाते हैं। सबसे पहले यहाँ 'द्रष्टि' शब्द एक प्रकारकी मान्यताके अर्थमें समझना है। जीवको अनादिकालसे मिथ्याद्रष्टि प्राप्त हुई है इसलिए मिथ्या, सम्यग् और मिश्र इस क्रमसे विवेचन अब करते हैं।

१. मिथ्याद्रष्टि—कोई पदार्थ जिस स्वरूपमें होता है उसका उसी स्वरूपमें ही स्वीकार करना चाहिये वो सत्य समझ है, लेकिन मिथ्या द्रष्टिका उदय होता है तब कोई शराबी जिस प्रकार अपनी माताको पत्नी अथवा पत्नीको माता समझ बैठता है, उसी प्रकार मिथ्याद्रष्टिवाला धर्मको अधर्म, अधर्मको धर्म, सत्को असत्, असत्को सत्, हेयको उपादेय और उपादेयको हेय स्वरूप स्वीकारता है। यह द्रष्टि आत्माको आत्माका ज्ञान होने देती नहीं है और परस्पर विमुख रखती है।

ऐसी द्रष्टि अनादिकालसे हरेक जीवमें रहती है जो जीवकी विवेकद्रष्टिका विनाश तथा आत्माका नितान्त अहित भी करती है। यह द्रष्टि मिथ्यात्व मोहनीय नामके एक प्रकारके कर्मोदयसे प्राप्त होती है। परंतु सत् प्रयत्नों अथवा साधनोंसे उसका अंत लाकर

सत् दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन सभी जीव ऐसा अंत ला सकते हैं ऐसा बनता नहीं है, अगर ऐसा बनता तो सारा संसार अनोखा (अद्भुत, सुंदर) बन जाँएँ।

२. **सम्यग्दृष्टि**—सम्यग्दृष्टि अर्थात् पदार्थके प्रति सच्ची श्रद्धा। सत्को सत् स्वरूप और असत्को असत् स्वरूप ही जो मानते हैं वह। यह दृष्टि धर्मको धर्म, अधर्मको अधर्म, हेयको हेय और उपादेयको उपादेय ही मानती है। इतना ही नहीं, इसके अतिरिक्त यह दृष्टि आत्माको आत्मसम्मुख करती है जिसके कारण यह सत्यसे परिपूत (पूर्ण रूपसे शुद्ध, अति पवित्र) दृष्टि है।

अनादिकालसे रागद्वेषकी तीव्र चिकनाहटसे मिथ्यादृष्टि—चतुर आत्मा किसी समय कोई विशिष्ट प्रकारके आध्यात्मिक प्रयत्नसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्मोंको अमुक समयके लिए उपशान्त करती है तब उपशम सम्यक्त्व प्राप्त होता है, इस लिए मिथ्यात्वका उपशम जहाँ तक प्रवर्तित होता है वहाँ तक उसकी विवेकदृष्टि टिकी रहती है, लेकिन आत्मा जब फिर से निर्बल बन जाती है तब मिथ्यादृष्टि पुनः उदयमान होती है। इस प्रकार उन मिथ्यात्व मोहनीय कर्मोंमें अमुकका क्षय और अनुदित कर्मका उपशम जब प्रवर्तित रहता है तब वैसी आत्माको क्षयोपशम दृष्टिवाली आत्मा कही जाती है और जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्मका सत्तामेंसे सर्वथा क्षय होता है, उसके क्षयसे कारण उत्पन्न दृष्टिको क्षायिक दृष्टि कही जाती है।

यहाँ उपर्युक्त तीनों दृष्टियाँ अपने-अपने उदयकालपर सम्यग् (सम्यग् दृष्टि) होती है। इनमें उपशम क्षयोपशम दृष्टि ऐसी है कि जो आनेके बाद वापस चली भी जाती है, लेकिन क्षायिक एक ऐसी दृष्टि है कि जो एकबार मिल जाने पर अनंतकाल तक टिकती है। क्योंकि मोहनीयकर्मकी मलिनताका सर्वथा विनाश हुआ है, जिससे उन जीवोंमें सत् पदार्थके प्रति श्रद्धामें अंश मात्र निर्बलता (अश्रद्धा) नहीं होती।

३. **मिश्रदृष्टि**—शुद्ध और अशुद्ध प्रकारके मिथ्यात्वमोहनीय (अर्थात् मिश्रमोहनीय) कर्मोंके उदयवाले जीव मिश्रदृष्टिवाले होते हैं। अर्थात् वे सम्यग्धर्म और मिथ्या धर्म दोनों तरफ आकर्षित होते हैं। यह मिश्रदृष्टि उसके मनमें यह धर्म भी अच्छा है और अन्य धर्म भी अच्छा है ऐसा मिश्रभाव पैदा करवाती है। फलस्वरूप सर्वज्ञोक्त तत्त्वमें राग भी नहीं करवाती है और द्वेष भी नहीं।

ये तीनों दृष्टियाँ दर्शनमोहनीयके घरकी ही हैं। इस कर्मके मलीन और तीव्र रसवाले दिलिये उदयमें होते हैं तब इन्हीं दिलियोंमेंसे मिथ्यादृष्टि (जीवके कुछ उत्तम

फल स्वरूप होनेसे) कुछ दलिक एक प्रकारसे शुद्ध बन जाते हैं, और उसका उदय होता है इसे मिश्रदृष्टि कहते हैं, और जब इतने दलिये अतिशुद्ध बन जाते हैं तथा उनका उदय होता है तब सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

इस संसारमें मिश्रदृष्टिवाले जीव बहुत ही कम, सम्यग्दृष्टिवाले जीव इससे अनंतगुने तथा इससे भी अनंतगुने जीव मिथ्यादृष्टिवाले हैं।

इन दृष्टियोंका अभ्यास करके अथवा उनको समझकर मिथ्या तथा मिश्रदृष्टिका त्याग करना चाहिए और सम्यग्दृष्टिको प्राप्त करनी चाहिए। बिना सम्यग्दृष्टि ज्ञान-क्रिया अथवा चारित्र्यका कोई मूल्य नहीं है। मोक्षका मूलबीज भी यही है। सच्ची दृष्टि अथवा सच्ची श्रद्धा—यह जीवनकी मूलभूत जरूरत है, जिस बातका स्वीकार हमें कोई करेगा ही। इस विषयमें बहुत कुछ जानने योग्य है, जिसे ग्रन्थान्तरसे देखना चाहिए।

शंका—सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टि ये दोनों एक ही चीज है कि अलग-अलग ?

समाधान—यों तो एक प्रकारसे दोनों चीज लगभग एक सी है फिर भी दोनोंके बीच बहुत अरूप भेद भी रहता है। क्योंकि दोनोंकी कक्षा तथा कारणोंमें भेद है। इनमें छद्मस्थ ही सम्यग्दर्शनी और केवली सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। क्योंकि मोहनीय कर्मके दलिये जिनके उदयमान होते हैं और अपाय स्वरूप मतिज्ञान जिनमें होता है उनको ही सम्यग्दर्शन संभवित बनता है। लेकिन इन दोनोंका जिसने सर्वथा विनाश किया है ऐसे केवलीको सम्यग्दृष्टि ही संभवित बनती है। इस प्रकार दर्शनके बजाय दृष्टि अनेकगुना महान् है। सिर्फ इतना ही नहीं, सम्यग्दर्शन और सम्यग्दृष्टिके काल तथा क्षेत्रके बीच भी बहुत-सा अंतर (भेद, फरक) है। 'दर्शन' में तो पौद्गलिक असर मौजूद (उपस्थित) होती है, जब कि 'दृष्टि'में उसका सर्वथा अभाव है और जो स्पष्ट आत्मिकगुण स्वरूप उदयमान होता है।

१२—दंशण (दर्शन)

इस शब्दके सम्यक्त्व, श्रद्धान, चारित्र, अभिप्राय, उपदेश, सामान्य बोधग्रहण, निराकार बोध इत्यादि अनेक अर्थ, शास्त्र और उनके अंगोपांगोंमें बताये हैं। लेकिन यहाँ तो 'दर्शन' शब्द सिर्फ सामान्य अथवा निराकार बोधके अर्थमें समझना है।

६०१. जैन शास्त्रोंने तो 'सम्यग्दर्शन' नामके चैतन्य (आत्मिक) गुण की भूरिभूरि प्रशंसा की है तथा उसको अत्यधिक महत्त्व भी दिया है। मनुस्मृति जैसे जैनेतर (अजैन) ग्रन्थकारने भी जैन मान्यताको ही प्रतिध्वनित करते जो कहा है—सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न बध्यते। दर्शनेन विहीनस्तु संसारः प्रतिपद्यते ॥ (मनु. अ० ६) वह अपेक्षासे ठीक ही है।

हरेक चीज मात्र सामान्य और विशेष इन दोनों प्रकारके गुणधर्मयुक्त होती है । यद्यपि वस्तुके बोधमें आपको खयाल आये या न आये फिर भी दोनों प्रक्रियाका उपयोग (समयान्तर) होता ही है ।

सामान्य धर्म—सामान्य धर्मके पर्यायवाची शब्दोंमें सामान्य रूप, सामान्य बोध, निराकार दर्शन, निर्विकल्प दर्शन, सामान्यार्थ ग्रहण इत्यादि हैं । और विशेष धर्मके—विशेष स्वरूप, विशिष्ट बोध, साकारदर्शन, सविकल्पदर्शन, विशेषार्थग्रहण इत्यादि पर्यायवाची शब्द हैं ।

जो कि वास्तविक रूपमें गहराईसे सोचें तो 'दर्शन' यह भी एक प्रकारका ज्ञान ही है । इस ज्ञानको हम दो विभागोंमें बाँट सकते हैं । एक तो साकारोपयोग रूप ज्ञान और दूसरा निराकारोपयोग रूप ज्ञान । यह दूसरा ज्ञान ही 'दर्शन' कहलाता है । इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह भी है 'यह घट है' इतना सामान्यज्ञान तत्त्वसे तो साँकार स्वरूप होनेसे ज्ञान है ही लेकिन आगे मिलनेवाले विशेष ज्ञानोंकी अपेक्षासे सामान्य स्वरूपयुक्त होनेसे ज्ञानमें दर्शनका उपचार क्रिया है । यह दर्शन उस ज्ञानगुण रूप होनेके विविध प्रकारका बोध इत्यादि करानेके लिए इसको अलग क्रिया गया है ।

मिसालके तौर पर देखें तो— घटको (कुंभको) देखने पर 'यह घट है' (लेकिन पट—बल, परदा, नहीं है) इतना ही जो बोध होता है उसे 'दर्शन' कहा जाता है । यह पहली ही नजरसे होता बोध है । तदनन्तर घट (कुंभ)के विषयमें जो आगे चिंतन किया जाता है तो वह चिंतन विशेष (विशेषण) रूपसे विविध पर्यायोंके स्वरूपमें प्राप्त होनेसे वह ज्ञानकी कक्षामें आता है । वह किस प्रकार आता है ? तो उस घटको देखनेके बाद हमारे मनमें द्रव्य—क्षेत्र—काल और भाव स्वरूप विचार उठते हैं । इसका अर्थ यह है कि कुंभको देखनेके बाद हमारे मनमें ये विचार उठते हैं कि यह घट किस चीजमेंसे बनाया है ? द्रव्यसे — मिट्टीसे । अगर मिट्टीसे....तो मिट्टी भी किस प्रकारकी होगी ? और अगर घट घातुसे बनायी गयी है तो घातु भी किस प्रकारकी है ?....इत्यादि—इत्यादि 'द्रव्य' सम्बन्धी विचार उठते हैं । और 'क्षेत्र' से सोचें तो यह घट किस क्षेत्र (प्रदेश)का होगा ? यह घट पाटणका है, अहमदाबादी है या कश्मिरी ? यह 'क्षेत्र' (स्थल)के रूपमें सोचा गया । 'काल' को लेकर सोचें तो

६०२. इसमें व्यवहार और निश्चय नयकी विविध अपेक्षाएँ हैं जिन्हें ग्रन्थान्तरसे देख लें ।

यह घट किस ऋतुमें उपयोगी हो सकता है ? अथवा किस ऋतुमें किस समय बना होगा ? यह काल सम्बन्धी विचार—चिंतन हुआ । और अब भावसे—आकारसे घट सम्बन्धी सोचें कि—घटका आकार कैसा है, रंग कैसा है, लम्बा है, छोटा है, गोल है कि लम्बगोल है ? इत्यादि चिंतन 'भाव' चिंतन हुआ ।

उपर्युक्त सभी (विशेषों) विशेषणोंको जानना ही वास्तवमें 'ज्ञान' कहलाता है । 'दर्शन'को स्पष्टार्थ समझानेके लिए ही यहाँ पर ज्ञानको समझाया है ।

अब इस दर्शनके भी चार भेद हैं । १. चक्षु, २. अचक्षु, ३. अवधि, ४. केवल ।

१. इनमें चक्षुदर्शन अर्थात् नेत्रवाले प्राणियोंको अपने चक्षु (आँख)से पदार्थका जो निराकार अथवा सामान्यदर्शन होता है वह ।

२. चक्षुके सिवाकी शेष चार इन्द्रियाँ और मन द्वारा वस्तुका जो सामान्य बोध होता है, वह है अचक्षुदर्शन ।

३. इन्द्रियों तथा मनकी सहायताके बिना रूपी द्रव्योंका (चीजोंका) जो सामान्य-दर्शन होता है, वह है अवधिदर्शन ।

४. और तीनों कालके पदार्थोंको सामान्य भावसे सर्व प्रकारोंसे देखना केवलदर्शन कहलाता है ।

यहाँ एक बात खास ध्यानमें रखें कि छद्मस्थोंको प्रथम दर्शनोत्पत्ति और बादमें ज्ञानोत्पत्ति होती है, लेकिन केवलज्ञान प्रकट होनेके साथ ही सबसे पहले समयमें ही ज्ञानोपयोग प्रकट होता है और बादमें दर्शनोपयोग होता है । इस प्रकार वह अनंतकाल तक उसी क्रमसे ही टिके रहते हैं । इस लिए वहाँ केवल एक ही संख्या पर ज्ञान और दो की संख्या पर दर्शन समझ लेना चाहिए ।

१३. नाण—(ज्ञान)

अनेक आगमों तथा उनके टीकादि अंगों और कर्मग्रन्थादिक तथाविध प्रकरणोंमें विभिन्न प्रकारोंसे 'ज्ञान' शब्दकी परिभाषाएँ तथा उसकी व्युत्पत्तियाँ दर्शायी हैं । लेकिन इन सबसे अगर सरल तथा शीघ्रग्राही परिभाषा पेश करनी हो तो यह है कि ^{१०४}जिससे पदार्थका ज्ञान अथवा बोध होता है उसका नाम है ज्ञान ।

६०३. इसलिए ही भगवतीजी, नमुत्थुण आदि में सव्वन्नूण-सव्वदरिसीण ऐसा क्रम देखा जाता है ।

६०४. ज्ञायते परिक्रयते वस्त्वनेनेति ।

हम अच्छी तरह जानते हैं कि अचेतन अथवा निर्जीव पदार्थ अपना या निर्जीव—सजीव वस्तुओंका बोध न तो करता है और न तो करवाता है । क्योंकि उसमें आत्माका अथवा चैतन्यका अस्तित्व है ही नहीं । और जहाँ चैतन्य—आत्मा नहीं है, वहाँ ज्ञान भी नहीं है । ज्ञान तो आत्माका अपना स्वाभाविक गुण है । यह गुण भी अविर्नीभावी है । इस गुणका न तो आदि भी है, और न तो अंत भी । अगर आत्माका आदि—अंत होता तो उसका भी आदि—अंत संभवित बनता ही, लेकिन उसका आद्यन्त (आदि—अंत) नहीं है । ज्ञान आत्माका सहभावी गुण होनेके कारण ही नैयायिकोंकी प्रसिद्ध यत्र—यत्र धूमः तत्र—तत्र वह्निः व्याप्ति पैदा हुई है । इस प्रकार जहाँ—जहाँ धुआँ होता है, वहाँ—वहाँ अग्निका अस्तित्व है ही, इस न्यायसे जहाँ—जहाँ ज्ञान है, वहाँ—वहाँ आत्माका अस्तित्व अवश्य होगा ही । लेकिन यहाँ एक बात विशेष रूपसे समझनी है कि—जहाँ—जहाँ अग्नि वहाँ—वहाँ ' धूम—धुआँ ' ऐसी व्याप्ति कभी होती नहीं है । लेकिन जहाँ—जहाँ आत्मा, वहाँ—वहाँ ज्ञान ऐसी व्याप्ति यहाँ पर जरूर होती है ही । इस प्रकार एकके बिना दूसरा कभी भी हो ही नहीं सकता है, ऐसा निश्चित हुआ । छोटे—से छोटा अति सूक्ष्म निगोदके जीवसे लेकर पृथ्वी—जल—वनस्पति तथा इससे भी बड़े—से बड़े महाकाय हाथी तकके हरेक सजीव देहोंमें (शरीरोंमें) ज्ञानमात्रका अस्तित्व निश्चित हुआ है । लेकिन इसमें फर्क सिर्फ इतना है कि किसीमें इसकी मात्रा न्यून (कम) तो किसीमें अधिक होती है । इस प्रकार न्यूनाधिकके अनंत प्रकार बनते हैं । इन्हीं सब कारणोंसे जीवका लक्षण हुआ—चेतनालक्षणो जीवः । अतः सबसे अल्पशरीरी तथा एकदम अविकसित ' निगोद ' नामसे पहचाने जाते जीवमें भी एक अंशके अनंतवें भाग जितना ज्ञान होता तो है ही । उससे ही ' यह जीव है ' ऐसा विधान करके पहचाना जा सकता है । और अगर ऐसा निकृष्ट आत्यन्तिक कोटिका भी चैतन्य भी न मानें तो जीव और अजीवमें कोई भेद रहता ही नहीं है ।

प्रश्न—ज्ञान तो आत्माका अपना गुण है । फिर उसमें न्यूनाधिकरूप भेद किस लिए ?

उत्तर—वास्तवमें ज्ञानका एक ही रूप है । उसमें कोई भेद (अंतर) नहीं है ।

लेकिन यह कब ? जब कि ज्ञान पूर्ण मात्रामें पैदा हुआ हो तब । लेकिन उसे अपूर्ण

६०५. एक के बिना दूसरा जो न हो सके वह । ६०६. इतनेसे अल्पज्ञानको भी कोई कर्मपुद्गल अपने वशमें नहीं कर सका है । जिस प्रकार क्लोरोफॉर्म अथवा उसकी सूई (इन्जेक्शन) से दर्दी (मरीज) को बेहोश कर दिया जाता है तब उसमें कुछ भी होश नहीं होता । किसी जडकी तरह शून्यता दिख पड़ती है, फिर भी उसमें अव्यक्त चैतन्य नहीं है ऐसा हम नहीं कह सकेंगे । उस प्रकार यहाँ भी समझना ।

रखनेमें कर्मसत्ता बीचमें आकर विविध भेद उत्पन्न करती है। सुवर्ण (सोना) और उसके पीले रंगकी तरह ज्ञान भी हरेक जीवमें अनादिकालसे आत्मामें व्याप्त होता है। इस प्रकार साथ ही साथ कर्म भी अनादिकालसे जुड़े हुए हैं। इनमेंसे एक कर्म (जो सूक्ष्म होते हुए भी द्रव्य पदार्थ रूप है) जिसे शास्त्रीय परिभाषामें 'ज्ञानावरणीय' ऐसा नाम दिया है, उसी कर्मके विविध और विचित्र प्रकारके उदयके कारण ही यह तारतम्य उत्पन्न होता है। प्रस्तुत कर्मका प्रगाढ उदय हो तो ज्ञानमात्रा अत्यन्त अल्प, कर्मका उदय अल्प हो तो ज्ञानप्रकाश अधिक और यदि कर्मका सर्वथा विलय (नाश, लुप्त) हो तो ज्ञानप्रकाश संपूर्णरूपसे प्रकाशमान होता है।

आत्मा नामक चैतन्य द्रव्य ही सब कुछ जाननेवाला (अथवा देखनेवाला) द्रव्य है जो कि हरेकके तन-मनमें दूध घी की तरह व्याप्त रहता है। यह आत्मा असंख्य-प्रदेशी है। इसकी उपर हलके (वजन रहित), भारी (वजनदार), अल्प या अधिक कर्मोंकी पर्त (तह, स्तर) जमी हुई होती है। जिसके कारण आत्माका ज्ञानप्रकाश न्यूनाधिक रूपसे तिरोहित (आच्छादित, ढका हुआ) रहता है। पदार्थके बोधमें सरलता या विषमताकी विचित्र स्थितियाँ अथवा मूर्खता या विद्वत्ताके बीचकी कक्षाएँ—ये सब कारण कर्मके ही आभारी हैं।

प्रश्न—आत्मामें ज्ञानप्रकाश कितना होता है ?

उत्तर—यों तो आत्मामें सत्ता स्वरूप ज्ञानप्रकाश अनंत है लेकिन वह ज्ञानावरणके विविध प्रकारके कर्मों द्वारा विविध रूपमें ढका हुआ है। कर्मके ये सब स्तर (पर्त) पूर्ण रूपसे उखड़ जाये अथवा आवरणके सभी परदे हमेशके लिये हट जाये तो ही ढका हुआ अथवा लुपा हुआ ज्ञानप्रकाश पूर्ण रूपसे आलोकित हो उठेगा और तब ही आत्माको लोकालोकके तीनों कालका सचराचर (विश्व) जड या चैतन्य पदार्थ अथवा उनकी त्रैकालिक अनंत अवस्थाएँ—इन सबका क्रमशः नहीं लेकिन एक ही साथ और एक ही समय पर ज्ञान हो जायेगा। और ऐसा ज्ञानप्रकाश एकबार आत्मामें प्रकट भी हो गया तो फिर उसमें न तो घट-बढ़ होता है और न तो कमी नष्ट होता है। यह उदय होनेके बाद तो अनंतकाल तक टिका रहता है। जैन परिभाषामें इसी प्रकाशको खास तौरपर 'केवलज्ञान', 'सर्वज्ञ' इत्यादि शब्दोंसे पहचाने जाते हैं। यह ज्ञान साक्षात् आत्मप्रत्यक्ष है। साथ ही इसी ज्ञानगुणको जैनशास्त्रोंने स्वमात्र अथवा- परमात्र प्रकाशक न कहकर उभय अर्थात् स्वपरप्रकाशक कहा है। इस लिए ही तार्किक भाषामें

ज्ञानको 'स्वैपरं व्यवसायि' रूप पहचाना गया है। जो स्व और परको जाननेमें समर्थ है ऐसे ही ज्ञानको प्रमाणरूप ठहराया है। ऐसा ही ज्ञान प्रवृत्ति-निवृत्तिमें उप-योगी बनता है।

प्रश्न—आज (वर्तमानमें) कोई अनंतज्ञानप्रकाशी अथवा केवली या सर्वज्ञ है कि नहीं ?

उत्तर—नहीं, इसी भरतक्षेत्रमें आजसे क़रीबन् २४२७ साल पहले भगवान महा-वीरदेवकी पट्ट-परंपरामें जंबूस्वामी नामके एक महामुनि हो गये। वे ही अंतिम केवली या सर्वज्ञ थे। इसके बाद इस कलियुगकी विषम ऐसी अशुभ परिस्थितियाँ बढ़ती ही गयी कि तथाप्रकारकी अति उच्च पवित्रता-निर्मलताकी प्राप्तिके अभावसे ज्ञानावरणीय कर्मका पूर्ण रूपसे क्षय (नष्ट) करनेकी योग्यता ही नहीं रही।

प्रश्न—यह ज्ञानप्रकाश जब तक प्रकट नहीं होता है तब तक जीवोंमें कौन-सा ज्ञान होता है ?

उत्तर—प्रत्येक आत्मामें केवलज्ञानका अनंत प्रकाश पहलेसे ही सत्ताके रूप में तिरो-भूत होकर उपस्थित रहता ही है। और हमने पहले ही बता दिया है कि कर्मरूपी परदोंके कारण वह प्रकाश प्रच्छन्न रहता है। यह अनंतप्रकाश भले ही प्रकट न हो, लेकिन न्यून-तरंतम प्रकाश हरेक जीवोंमें जरूर होता ही है। हरेक जीवको लेकर सोचें तो आत्मा पर मोटे-पतले अनेक प्रकारके आवरणके परदे गिरे पड़े मिलते हैं। यह परदा जितना बारीक (पतला), होता है तो प्रकाश उतना तीव्र (अधिक), और परदा ज्यों-ज्यों मोटा होता जाता है, त्यों-त्यों प्रकाश कम होता जाता है अर्थात् अंधकार बढ़ता जाता है। इस प्रकार जीवमें ज्ञानकी क्षमताकी अनेक कक्षाएँ होती हैं।

पुनः इन अनंत वर्गोंके दो प्रकार पड़ते हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। फिरसे उन दो प्रकारके ज्ञानके असंख्य वर्ग बनते हैं। इनमें अवधि, मनःपर्यव और केवल—ये तीनों प्रत्यक्ष ज्ञानके प्रकार हैं। यद्यपि इतना विशेष रूपमें समझें कि यहाँ अवधि और मनःपर्यव आंशिक रूपमें प्रत्यक्ष भी है; जब कि केवल संपूर्णतः साक्षात् आत्मप्रत्यक्ष है। इस लिए ही इसी ज्ञानको प्रमाणरूप माना गया है। और मति तथा

६०७. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानम् । न्याया०

— स्वार्थव्यवसायात्मिकं ज्ञानम् । चिरं०

— स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् । रत्न०

— सम्यगार्थनिर्णयः प्रमाणम् । प्र० मी० टी०

श्रुत ये दोनों परोक्ष ज्ञान है ।

इन्द्रियोंकी सहायतासे प्राप्त ज्ञानको 'परोक्ष' और इन्द्रियोंकी सहायताके बिना, आत्मामेंसे ही सीधे प्रकट होते ज्ञानको 'प्रत्यक्ष' शब्दसे पहचाना जाता है ।

तात्त्विक रूपसे पाँच ज्ञानके दो प्रकार बनते हैं—(१) छाद्मस्थिक और (२) क्षायिक । इनमें प्रारंभके चार ज्ञानको 'छाद्मस्थिक' और अंतिम केवल एकको 'क्षायिक' कहा जाता है । छाद्मस्थिक ज्ञानको कर्मशास्त्रकी भाषामें अगर कहा जाये तो वह 'क्षायोपशमिक' ज्ञान है और यह ज्ञान कर्मसे आच्छादित है । इसमें सिर्फ क्षायिक ज्ञान ही एक मात्र बिना कर्मावरण होता है । और उत्तरोत्तर ये ज्ञान अधिकाधिक विकास-प्रकाशवाले हैं ।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल इन पाँचों ज्ञानमेंसे पाँचवाँ केवलज्ञान आजसे करीब २४२७ सालोंसे (जंबूस्वामी मोक्षमें जाते ही) विच्छेद हुआ है । अब इस कलियुगमें वह किसीको प्राप्त होगा ही नहीं । इतना ही नहीं, चौथा मनःपर्यव भी करीबन् २४२७ सालोंसे लुप्त हुआ है । शेष तीन ज्ञानोंमेंसे अवधि भी अब तो प्रायः लुप्त-विच्छेद जैसा है, फिर भी उसका थोड़ा-थोड़ा प्रकाश जरूर विद्यमान है, जो कुछ ही व्यक्तियोंमें क्वचित ही देखा जाता है । आज कल बिना कोई दैविक शक्ति^{६०८} दूरके पदार्थका जिसे ज्ञान होता है, यह सब ऐसे ज्ञानबलसे ही संभवित होता है ।

मतिज्ञान—इन्द्रिय, अनिन्द्रिय अथवा दोनों संयुक्त रूप निमित्तोंसे उत्पन्न तथा योग्य प्रदेशमें आये हुए पदार्थादिकका अपनी शक्तिके अनुसार (अर्थरहित) बोध करानेवाला जो ज्ञान है उसे मतिज्ञान कहा जाता है । शास्त्रमें इसी ज्ञानको 'आभिनि-बोधिक' शब्दसे दर्शाया गया है ।

मतिसे ही बुद्धि, स्मृति प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता, अनुमानका ग्रहण होता है । बुद्धिकी सहायतासे हम सब हिताहितका अथवा प्रवृत्ति-निवृत्तिका विचारादि जो कर सकते हैं उसमें मन और (कम-अधिक मात्रामें) इन्द्रियाँ भी कारणभूत हैं ही । यह ज्ञान आत्माको सीधा प्राप्त होता नहीं है, लेकिन बीचमें इन्द्रियाँ और मन रूप दलाल (माध्यम)की जरूरत रहती है । इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञेय इन दोनोंके बीच संबंध

६०८. इसमें उस अपेक्षासे सांध्यवहारिक प्रत्यक्ष भेद है जरूर, लेकिन वह इन्द्रियादि सापेक्ष है, आत्मप्रत्यक्ष नहीं है । ६०९. दैविक शक्तिसे या उपासना बलसे ज्ञात होता है लेकिन उपर्युक्त कारणसे नहीं होता । ६१०. इसका विग्रह सीधा होता नहीं है लेकिन मतिश्च सा ज्ञानं च इति मतिज्ञानम् । पाँचों नामोंमें इस प्रकार करें ।

जोड़नेवाली इन्द्रियादि हैं जिनके द्वारा पदार्थका अवबोध शक्य बनता है। अतः जिसका मन और इन्द्रियाँ निर्बल होता है उसे तो अस्पष्ट और अधूरा ख्याल ही आयेगा।

विषयके साथ मन और इन्द्रियोंका सम्बन्ध होते ही मतिज्ञान हो जाता है और यह बात निश्चित रूपमें समझ लेना कि जिसका जहाँ भी मतिज्ञान हुआ कि तुरंत ही उसका वाचक शब्द सामने आ जानेसे उस विषयका अथवा 'कुछ है' ऐसा अक्षरानुसार वह श्रुतज्ञान भी उपस्थित हो ही जाता है। इस प्रकार मति और श्रुत ये दोनों अन्योन्य अर्थात् पारस्परिक संबंधवाले ज्ञान हैं।

यहाँ शास्त्रका एक सुवर्ण वाक्य है कि—'जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं, जत्थ सुयनाणं तत्थ मइनाणं' अर्थात् जहाँ-जहाँ मतिज्ञान है वहाँ-वहाँ श्रुतज्ञान है और जहाँ-जहाँ श्रुतज्ञान है वहाँ-वहाँ मतिज्ञान है। यह वाक्य यहाँ पर कितना सुसंगत लगता है। क्योंकि जिस-जिस विषयका मतिज्ञान पूर्ण होता है, उस हरेकके वर्णात्मक शब्दोंकी उत्पत्ति हो ही जाती है। और यह शब्दज्ञान है वही श्रुतज्ञान है। साथ साथ उसी श्रुतमें फिरसे मति अपना कार्य अगर जारी (शुरु) रखती है, तो उसमेंसे फिरसे अनेक विकल्पयुक्त मतिज्ञान मिलता जाता है। इतना ही नहीं, उस हरेक विकल्प पूर्ण होते ही पुनः अनेक श्रुतज्ञान भी प्रकट होते जाते हैं। इसे स्पष्ट शब्दोंमें कहे तो मति वह श्रुतका कारण है और श्रुत यह कार्य है।

चार अनंतानुबन्धी कषाय तथा दर्शन मोहनीयत्रिक मिलकर 'दर्शन सप्तक' कर्मका उपशम और क्षयोपशम होनेसे यह मतिज्ञान जीवमें अवग्रहादिकके प्रकाररूप अपायात्मक-निश्चयात्मक बोधरूपमें प्रकट होता है।

कोई भी पदार्थके मतिज्ञानमें, ज्ञाता स्वरूप उसकी आत्माको इन्द्रिय या मन द्वारा जब कोई विषय अथवा कोई एक पदार्थका निकट या दूरवर्ती संबंध होता है तब उत्तरोत्तर अवग्रह (रुकावट-बाधा), ईहा (इच्छा-उद्यम), अपाय (नाश-हानि-खतरा-विपत्ति) और धारणा नामकी चार प्रक्रिया असाधारण गतिसे पसार हो जाती है तब विषय अथवा पदार्थका ज्ञान या बोध पैदा होता है। इन्हीं चार क्रियाओंके नाम हैं—अवग्रह, ईहा, अपाय और धारणा। इनमें अवग्रहके दो प्रकार हैं—'व्यंजनअवग्रह' और 'अर्थअवग्रह'। अब हम इन सबको संक्षिप्तमें समझ लें।

६११-६१२. मन तथा चक्षु अप्राप्यकारी होनेसे उनका व्यंजनावग्रह होता ही नहीं है, अगर श्रोता भी तो अग्निको देखते ही आँखें जल जाती। इस लिए इसका सीधा (सरल) अर्थअवग्रह ही होता है।

विषय अथवा पदार्थका इन्द्रिय अथवा मनके साथ संबंध होते ही आत्मामें अव्यक्त ज्ञानोपयोग शुरु हो जाता है, लेकिन इससे उसे अति अव्यक्त—अस्पष्ट बोध (जिस प्रकार बेहोश स्थितिमें पड़े हुए मनुष्यको जैसा अनुभव होता है वैसा) होता है। इसे 'व्यंजन' अवग्रह कहा जाता है। वहाँ विषय तथा इन्द्रियोंका संयोग पुष्ट होकर ज्ञानोपयोग आगे बढ़ता है तब 'कुछ' है ऐसा ख्याल होता है, उसे अर्थ अवग्रह कहा जाता है।

अब 'कुछ है' तो वह क्या है? इसके विचार या तर्क—वितर्क जो हमारे मनमें उठते हैं उसे ईहा कहा जाता है। इस प्रक्रियाके बाद हमारा मन अब किसी एक निर्णयकी ओर बढ़ता है और अंतमें 'कुछ है' का कोई पक्का निश्चय कर लेता है कि 'यह अमुक ही है, तब ऐसे निर्णयको 'अपाय' (निर्णय) कहा जाता है। और उसी निर्णयके बाद उस पदार्थको अपने मनमें याद रखना या धारण करना उसे धारणा कहा जाता है।

इसी धारणाके संस्कारसे फिरसे अविच्युति, वासना तथा स्मृति—ये तीन भेद उपस्थित होते हैं। कोई कोई व्यक्तिमें पूर्व या उससे भी पूर्वके जन्मका जो ज्ञान—जिसे शास्त्रीय शब्दोंमें जातिस्मरण (जन्म स्मरण) ज्ञानसे पहचाना जाता है वह जो उत्पन्न होता है, यह भी इस (धारणाभेद अनुसार बताये गये) स्मृति—मतिज्ञानका ही प्रकार है। जिसमें बहुत साल पुराना स्मरणका संस्कार निमित्त (कारण) मिलते ही अथवा योग्य समय पर प्रकट हो जाता है और अपना पूर्वभव देखता है। यह ज्ञान हालमें अधिकतर चढती उम्रमें अधिक देखा जाता है।

यह अनिन्द्रिये अर्थात् मनोनिमित्तक मतिज्ञान है।

इस मतिज्ञानके अनेक प्रकार हैं। इन सभी प्रकारोंको वर्गीकृत करके इन्हें २८

६१२. देखिये फूटनोट ६११, पेज नं. ३११।

६१३. मिट्टीसे बने किसी छोटेसे दिवेमें (कोडिएमें) ९९ बूँद सोख जाते हैं और १००वाँ बूँद जब गिरता है तब वह टिक जाता है और पात्र भीग जाता है। यहाँ ९९ बूँदकी हम व्यंजनावग्रहके साथ तुलना कर सकते हैं और १००वें बूँदको अर्थावग्रहके स्थानपर समझ सकते हैं। यहाँ ९९ बूँद १००वें बूँदके सहायक ही थे; जिसके कारण, १००वाँ बूँद टिक सका था। यह परिभाषा तो स्थूल है, सूक्ष्म परिभाषा दूसरे प्रकारकी है। ६१४. १. अवग्रह—Perception. (प्रसेप्शन: प्रत्यक्ष ज्ञान, बोध, अवगम) २. ईहा—Conception. (कन्सेप्शन: अवधारण, संकल्पन) ३. अपाय—Judgment. (जजमेन्ट: निर्णय, न्याय, फैसला) ४. धारणा—Retention. (रिटेन्शन: अवधारण, स्मरण, अवरोधन)

६१५. अनिन्द्रिय यह मनका वाचक शब्द है। देहधारी आत्माकी प्रवृत्ति—निवृत्तिमें इन्द्रियाँ और मन ये दोनों चीज मुख्य हैं। मन इन्द्रिय नहीं है इस लिए उसे उक्त शब्दसे दर्शाया गया है।

'वर्ग'में ही जो समाविष्ट कर दिया है वे इस प्रकार हैं—अर्थावग्रह, ईहा, अपाय और धारणा। इन चार प्रकारको पाँच इन्द्रिय तथा छद्मे मनके साथ गुणनेसे २४ बनते हैं और व्यंजनावग्रह मनचक्षुका बनता न होनेसे अथवा इसकी सिर्फ चार इन्द्रियाँ होनेसे इसके चार भेद अर्थात् $२४ \div ४ = ६$ भेद कुल मिलाकर हो गये। साथ साथ बुद्धिवैशद्यके लिए तथा मतिज्ञानकी विशेषताएँ कैसी कैसी होती है इसकी झलक दिखानेके लिए मिसालके तौरपर दूसरे बारह प्रकार भी बताये हैं। १-२ बहु-अबहु, ३-४ बहुविध-अबहुविध, ५-६ क्षिप्र-अक्षिप्र, ७-८ निश्चित-अनिश्चित, ९-१० संदिग्ध-असंदिग्ध, ११-१२ ध्रुव-अध्रुव। इसका विवरण ग्रन्थान्तरोंसे जान लें। इन सब भेदों परसे 'अवधान' क्या चीज होती है उसका ख्याल आयेगा। यह अवधान भी मुख्यतः मतिज्ञानका ही एक प्रकार है।

सारे विश्वमें जितनी भी बुद्धियाँ काम कर रही हैं, उन सबको चार विभागमें वर्गीकृत कर दिया है। १. औत्पातिकी, २. वैनयिकी ३. कार्मिकी और ४. पारिणामिकी।

१. औत्पातिकी—अन देखी या अन सुनी बातें जब यकायक हमारे सामने आ जाती है जिसके बारेमें इससे पहले हमने कमी थोड़ा भी सोचा न हो, (फिर भी) उसे देखते या सुननेके साथ ही उभयलोक अविरोध, तत्काल, यकायक, फलोपधायक सच्चा निर्णय करनेवाली गतिशील जो बुद्धि है वह।

२. वैनयिकी—गुरु, बुजुर्ग अथवा गुणीजन (संत-महात्मा) से विनय करनेसे प्राप्त जो विशिष्ट बुद्धि होती है वह।

३. कार्मिकी—अर्थात् किसी भी शिल्पकार्यमें या किसी कर्ममें प्रवृत्त रहकर उस कर्ममें ऐसा अनुभवी या निष्णात बन जाता है कि फिर अल्प ही मेहनत (श्रम-परिश्रम) में वह कार्य बड़ी सुंदरतासे और सफलतासे कर दिखाता है तथा अनेक कार्यमें प्रावीण्य (कुशलता, निपुणता) प्राप्त करता है।

४. पारिणामिकी—जो बुद्धि उम्र गुजरते, स्वानुभवसे गहरी करुपना, चिंतन तथा मननके बाद एक ऐसी वेधक दृष्टि आ जाती है कि अमुक विचार, प्रवृत्ति या विषयका

६१६. इस ज्ञानके भेदोंमें भी बहुत-सी अपेक्षाएँ होनेसे २, ४, २८, १६८, ३३६ और ३४० इस तरह विभिन्न प्रकार भी हैं। ये २८ भेदको विभिन्न ढंगसे भी घटाते हैं। ६१७. भगवतीजी आदिमें अपेक्षा रखकर उपर्युक्त २८ भेदोंमें से छः प्रकारके अपाय और छः प्रकारकी धारणाको मतिज्ञानके रूपमें और ईहा अवग्रहमें शेष १६ भेदकी दर्शनके रूपमें विवक्षा की है।

नतीजा (फल) अमुक ही आयेगा, ऐसा समझनेके बाद हिताहितकी प्रवृत्ति—निवृत्तिमें जो बुद्धि जुड़ जाती है वह ।

ये चारों बुद्धि मतिज्ञानके ही प्रकार स्वरूप हैं ।

व्यंजनावग्रहका कालमान जघन्य आवलिकाके असंख्यातवें भागका और उत्कृष्टसे श्वासोच्छ्वास पृथक्त्व, अर्थावग्रहका कालमान निश्चयनसे एक समय और व्यवहारनयसे अन्तर्मुहूर्त तक, ईहा तथा अपायका कालमान अन्तर्मुहूर्त तक और धारणाका संख्याता—असंख्याता भव तक होता है । इससे यह साबित होता है कि धारणाका संस्कार सैंकड़ों—हजारों साल तक टिक सकता है । कुच्छेक घटना या प्रसंगों द्वारा इस बातकी प्रतीति हमें होती है । यह मतिज्ञान एक या एकसे अधिक इन्द्रियोंसे तथा मनसे अथवा मन और इन्द्रियाँ इन दोनोंके संबंधसे होता है । सिर्फ इन्द्रियनिमित्तक मतिज्ञान ही 'मन' की प्राप्तिके बिना जन्मते एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञीपंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें होता है । और अनिन्द्रियनिमित्तक अर्थात् जिसमें इन्द्रियोंका नहीं लेकिन सिर्फ मनका ही व्यापार होता है ऐसा ज्ञान 'स्मृति' नामकी मतिके प्रकारके अंतर्गत आता है । लेकिन जिसमें मन अथवा इन्द्रियाँ इन दोनोंमेंसे किसी एकका भी व्यापार न होने पर भी लता या वल्ली किसी पेड़, दीवार अथवा दालान (बरामदा) पर चढ़ जाती है । यह अस्पष्ट ओषज्ञान सिर्फ मतिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमके कारणसे ही है । वनस्पति जगतमें मनुष्य जैसी भावनाएँ अथवा विविध प्रकारके लक्षण जैसे कि शरमाना, गुस्से होना, हँसना, दूसरे जीवको मारना, मान, माया, लोभ, शृंगारिकभाव इत्यादि देखा जाता है । ये सभी ओषसंज्ञाएँ इसी ज्ञानके ही आभारी हैं । जागृत रहकर मनका विवेकपूर्वक उपयोग अपनी प्रवृत्तिमें करनेवाले हम सबमें इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) निमित्तक मतिज्ञान होता है ।

आत्माको इन्द्रियके विषयोंका अथवा पदार्थका जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह दो प्रकारसे होता है—१. श्रुतनिश्चित और २. अश्रुतनिश्चित ।

एक बार अन्योपदेश अथवा श्रुत—शास्त्रग्रन्थके अध्ययन अध्यापन द्वारा पदार्थ अथवा शब्दोंके वाच्यवाचक भावके संकेतका ज्ञान हो जानेके बाद, फिर जब किसी पदार्थ अथवा शब्दका हृदय अथवा बुद्धिमें यथार्थ मतिज्ञान किया जाता है तब वैसा मतिज्ञान मृतकालीन श्रुतानुसारि, दूसरे शब्दोंमें श्रुतपरिकर्षित होनेसे श्रुतनिश्चित मति कहा जाता है । जिन्हें हम जानते हैं ऐसे अनेक पदार्थ जब हमारी आँखोंके सामने आ जाते हैं

अथवा वैसे पदार्थोंके शब्द सुनते ही उनके रूप तथा गुणादिकका जो शीघ्र ख्याल आ जाता है, यह सब एकबार 'श्रुतनिश्चित' बनी हुई मतिके कारण ही है।

परोपदेश अथवा शास्त्र आदिके किंचित् मात्र अभ्यासके बिना जन्मान्तरके स्वाभाविक रूपसे उत्पन्न मतिज्ञानावरणीय कर्मके विशिष्ट क्षयोपशमसे पैदा होती यथार्थमतिको अश्रुतनिश्चित मतिज्ञान कहा जाता है। अन देखे-अन जाने पदार्थोंके बारेमें बुद्धि पूर्वसे ही तुरंत जो यथार्थ रीतिसे कार्य कर देती है वह। जिसे दैवी उपहार (भेंट)के रूपमें पहचाना जाता है। उपर्युक्त चारों प्रकारकी बुद्धि इसके अंतर्गत आ जाती है।

२. श्रुतज्ञान-इस शीर्षकके पूर्वार्धका 'श्रुत' शब्द किससे बना है? यह ठीक तरहसे सोचें तो उसके गभित अर्थका ख्याल हमें आयेगा। यह श्रुत 'श्रु' श्रवण (सुनना) धातु परसे बना है, जिससे इसकी व्युत्पत्ति होती है-श्रूयते तत् श्रुतम् अर्थात् जो सुना जाता है वह है श्रुत। तो क्या सुनते हैं? इसका उत्तर है अक्षर, शब्द, वाक्य अथवा कोई भी ध्वनि-आवाज। इसलिए एक बात तो तय हो गयी है कि जो शब्दादि हैं वही श्रुत हैं। इस शब्दादिका श्रवण कर्णेन्द्रिय (कान) द्वारा ही होता है और मनकी सहायतासे उसे जानते हैं, समझते हैं। यद्यपि छेवटपर तो समझनेवाला मीतर आत्मा है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि कर्णेन्द्रिय तथा मन द्वारा प्राप्त श्रुत (शब्द) ग्रन्थानुसार जो बोध होता है वही श्रुतज्ञान है।

शंका-तो फिर जिसे कर्ण अथवा श्रोत्रेन्द्रिय नहीं होती, जिसके कारण वह कुछ भी सुन सकता नहीं है, तो क्या उसे श्रुतज्ञान नहीं मिलेगा?

समाधान-उपर्युक्त परिभाषा तो एकदम सरल तथा सर्व सामान्य है। लेकिन इसकी दूसरी परिभाषाएँ जाननेसे इस प्रश्नका समाधान हो जायेगा।

दूसरी परिभाषा-श्रोत्र और नेत्र स्वरूप निमित्तोंसे उत्पन्न श्रुत-ग्रन्थानुसारी जो बोध होता है वह। इस परिभाषासे बधिर (बहरा) न हो और नेत्र या आँखें (दृष्टि) हो तो श्रुतज्ञान हो सकता है। अर्थात् आँखोंसे (पढ़कर) ही शास्त्रादि ग्रन्थों द्वारा श्रुतज्ञान प्राप्त हो सकता है।

तीसरी परिभाषा-इस श्रुतज्ञानके दो प्रकार हैं। एक स्वमति प्राप्त और दूसरा परोपदेश प्राप्त अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंकी सहायताके बिना जन्मान्तरके क्षयोपशमसे भी मति सह श्रुत हो जाती है।

चौथी परिभाषा—‘श्रुत’ का एक अर्थ ‘शास्त्र’ होता है। इसलिए शास्त्र भी एक प्रकारसे श्रुतज्ञान ही है। और इसके कारण ही कार्तिक शुक्ल पंचमीके दिन धर्मशास्त्र-पोथियाँ पधराकर ज्ञान स्थापनाकी रचना की जाती है। और इसके कारण ही इस पंचमीको **ज्ञानपंचमी** तथा दिगम्बरमें इसे ‘श्रुतपंचमी’ शब्दसे पहचाना जाता है। श्रुतोपासक, श्रुताराधना, श्रुतभक्ति, श्रुतालेखन इत्यादि शब्दोंका निर्माण भी इसके कारण हुआ है।

पाँचवीं परिभाषा—‘श्रुत’ शब्दका संस्कृत ‘श्रुतम्’ तथा उसका अर्थ होता है—सुना हुआ। इस लिए सुना हुआ ज्ञान भी ‘श्रुत’ है। यह किस प्रकार ?

तो शास्त्रोंका अर्थ होता है शब्दोंका भण्डार। इन शब्दोंका निर्माण सुननेसे ही हुआ है। तो प्रश्न होता है कि किस प्रकार ? तो तीर्थंकर—अरिहंत—परमात्माने केवल-ज्ञान (सर्वज्ञता) प्राप्त करनेके बाद विश्वके स्वरूपको प्रत्यक्ष देखा और लोकहितार्थके लिए उस स्वरूपका प्रतिपादन सबसे पहले श्रोताओंके बीच किया। उस समय उनके प्रमुख पट्टशिष्योंकी ओरसे ग्रहण की गयी त्रिपदीके आदेशानुसार समीने मिलकर जो विशाल ग्रन्थ रचना की है जिसे ‘द्वादशांगी’ (बारह अंग-शास्त्र) कहा जाता है उसे, तथा उसके सिवा स्वयं भगवंतने जो देशना—प्रवचन जीवनपर्यंत दिये हैं उन्हें, उनको धारण करके जो कण्ठारूढ किया है उन्हें, और बादमें पत्रारूढ बने उन्हें, साथ ही उन्हीं शास्त्रोंको केन्द्रमें रखकर उनके आधार पर जो अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं उन्हें तथा जो आज लिखे जाते हैं तथा भविष्यमें जिन्हें लिखे जायेंगे उन तमामको ‘श्रुत’ कहा जाता है। इन सब कारणोंसे श्रुत शब्द शास्त्रका एक पर्याय ही बन गया है और उस अर्थमें रूढ (प्रचलित) हो गया है। श्रुत, सूत्र, सिद्धान्त, प्रवचन, आगम ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं।

शंका—शब्दों ही श्रुतज्ञान है क्या ?

समाधान—ठीक तरहसे देखा जायँ तो ये शब्द सीधे रूपमें श्रुतज्ञान नहीं है। यह श्रुतज्ञान तो शब्दके वाच्यार्थ ज्ञानको ही (अर्थ ज्ञानको ही) कहा जाता है।

६१८. सुय सुत्त गंथ सिद्ध सासणे आणवयण उवण्णो । पण्णावणामागम इय एगद्धा पव्वजा सुत्ते ॥

[देखिए—विशे. आ. स्था. दश. घृ. छे. इत्यादि]

इसमें शास्त्रके १० पर्यायवाचक नाम दिये हैं।

फिर भी प्रस्तुत वाच्यार्थका वाचक शब्द ही होता है। अतः शब्द स्वयं वाच्यार्थ रूप जो कार्य होता है उसके कारण रूप बनता है। अगर शब्द ही न हो तो ज्ञान किससे प्राप्त करें? इस कारणसे शब्द कारण रूप होने पर भी उसकी महत्ताके लिए कारणको कार्यरूप (औपचारिक) मानकर हमारे यहाँ शब्दको भी 'श्रुतज्ञान' की महोर लगायी गई है।

बाकी सीधे रूपमें तो शब्द 'द्रव्यश्रुत' है। और उस परसे उत्पन्न होता अर्थ-बोधरूप आत्मफल अथवा सच्ची समझ यह 'भावश्रुत' है। संक्षिप्तमें कहे तो वाच्य-वाचक (शब्द और अर्थके) संबंधसे जो बोध उत्पन्न होता है इसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

एक शब्द सुनकर मतिज्ञान जो विस्तृत हुआ तथा उससे उसके अर्थका ज्ञान भी हुआ, और फिर यथार्थ पदार्थ बोध जो हुआ उसे भी श्रुतज्ञान कहा जाता है। अब इसे उल्टाकर देखें तो एक वाच्य पदार्थको देखते मतिज्ञान होते ही इसके साथ साथ ही उसके वाचक शब्दका जो ज्ञान होता है यह भी श्रुतज्ञान है। इस प्रकार वर्ण शब्द श्रुतज्ञानमें मुख्य रूपमें होता है।

अभी श्रुतज्ञानकी छट्ठी परिभाषा कहनेके लिए शंका-समाधान करते हैं।

शंका—उपयुक्त परिभाषाओंसे तो ऐसा आभास (भ्रम) पैदा होता है कि मानो प्राणीमात्रको शब्दबोध एक समान ही होता होगा! तो वह बात ठीक है क्या?

समाधान—नहीं, एक समान बोध कदापि नहीं होता। क्यों नहीं होता? तो इसके लिए जो मौलिक और मुख्य कारण भाग स्वरूप है उसे बताते हैं। इसी कारणमें ही छट्ठी परिभाषा समा जायेगी।

छट्ठी परिभाषा—एक कर्म जिसका नाम श्रुतज्ञानावरणीय है। इस कर्मके क्षयोपशमसे (अमुक कर्मका नाश और अमुकका उपशम) उत्पन्न होते शब्द-लिपि आदि द्रव्य श्रुतका अनुसरण करनेवाला पदार्थबोध—आत्मविचार—नतीजा ही श्रुतज्ञान कहा जाता है।

इस परिभाषासे जन्मान्तरके शुभाशुभ अनेक कर्मोंके द्वारा इस जन्ममें प्राप्य कर्म

६१९. यहाँ शब्दश्रवण यह है मतिज्ञान और इस परसे मिलता पदार्थ बोध श्रुतज्ञान है। उसी प्रकार धुआँ देखकर जो ज्ञान मिलता है वह है मतिज्ञान, और धुआँ परसे अग्निका जो अनुमान होता है वह है श्रुतज्ञान।

मतिज्ञान द्वारा देखे, जाने या सोचे हुए पदार्थ-भावोंके भेद-प्रभेदोंका ज्ञान ही श्रुतज्ञान है। इस प्रकारसे भी हम सोच सकते हैं।

स्थितिके अनुसार बोधमें न्यूनाधिकरूप असंख्य तारतम्य जो प्राप्त होता है वह बात स्पष्ट होती है ।

दूसरी एक बात सिद्धान्तके रूपमें समझ लें कि मतिके बिना श्रुत कभी उत्पन्न होता ही नहीं है । 'मद्गुणं सुयं' *श्रुतमतिपूर्व इत्यादि वचनके अनुसार श्रुत मति-पूर्वक ही होता है ।

यह श्रुतज्ञान मनोनिमित्तक है उस प्रकार अन्य इन्द्रिय निमित्तक भी है । इसलिए यह ज्ञान हित-अहितके क्षेत्रमें प्रवृत्ति-निवृत्ति करानेमें शक्तिशाली (सामर्थ्यवान्) है ।

शंका-मति तथा श्रुत, इन दोनोंके कारणरूप यदि (श्रोत्र इन्द्रियाँ तथा मन ही) है तो फिर ऐसे दो प्रकारके ज्ञानकी जरूरत ही क्या है ? क्या हम एक ही ज्ञान नहीं रख सकते ?

समाधान-दोनोंके बीचका यह अलगाव अथवा अंतर इनके अलग अस्तित्वकी स्वीकृति देता है । मतिज्ञानका कार्य पदार्थके वर्तमानकालके सामान्य भावोंको जणानेका है, जब कि श्रुतज्ञानका कार्य त्रैकालिक तीनों कालके पदार्थोंको जणानेका है । इसका विषयक्षेत्र मतिसे भी बड़ा है । यद्यपि मतिज्ञान जीवमात्रको सर्वत्र अविरत विद्यमान रहता है इसलिए शाश्वत है, जब कि श्रुत^१ अविरत रहता नहीं है इसलिए अशाश्वत (नाश-वंत) है । फिर भी वह मतिसे भी अधिक सूक्ष्म अर्थोंका अनेक प्रकारसे बोध करता है । इस ज्ञानका सामर्थ्य इतना महान् भी है कि श्रुतके बलसे प्रस्तुत ज्ञान व्यवितमें ऐसा अनोखा क्षयोपशम प्रकटाता है कि सर्वज्ञया केवली भगवान किसी भी पदार्थकी जैसी परिभाषा करते हैं वैसी ही परिभाषा करनेमें (सर्वज्ञ न होने पर भी) समर्थ होता है । और ऐसे मुनि 'श्रुत-केवली'के नामसे पहचाने जाते हैं । यह 'केवली' विशेषण छात्रस्थिक चार ज्ञानमेंसे सिर्फ श्रुतको ही प्राप्य होता है । इन सब कारणोंसे मति-श्रुत ज्ञानोंके बीचका अंतर स्पष्ट होता है । इसलिए दोनोंका अस्तित्व अलग-अलग होना बहुत जरूरी है ।

६२०. यह वचन सापेक्ष है । इसका भाव गुरुगमसे जान लेना ।

६२१. श्रुतकेवली जब प्रवचन करते हैं तब यह कोई भी नहीं जान सकता कि ये सर्वज्ञ नहीं हैं । क्योंकि वे पदार्थोंकी वैसी गहरी या अर्धमरी परिभाषा देते हैं ।

६२२. यद्यपि सन्मतिकार तथा उपा० श्री यशोविजयजी महाराजने ज्ञानविन्दुमें श्रुतज्ञान यह एक प्रकारका मतिज्ञान ही है ऐसा साबित किया है ।

श्रुतज्ञानके अनेक प्रकार हैं। लेकिन उन सभीको वर्गीकृत करके चौदह या बीस भेदोंमें समाविष्ट किया गया है। इस परसे अवांतर (मध्यवर्ती-अंतर्गत) प्रकार कैसे कैसे विचित्र (अद्भुत) हो सकते हैं इसकी कल्पना स्वयं कर लेना।

श्रुतज्ञानके व्यापक विचार यदि मंद-तीव्र बुद्धिवालोंको मिले तो उनकी विविध कक्षा और स्थानका ज्ञान पुष्ट होता है, इसलिए इनके प्रकार तथा अर्थ ग्रन्थान्तरसे जान ले। फिर भी यहाँ पर शुरुके (प्रारंभके) श्रुतज्ञानके अक्षर, और अनक्षर नामके दो जरूरी भेदोंका अर्थ समझाकर बाकीके प्रकारोंके सिर्फ नाम बताए जायेंगे।

१. अक्षरश्रुत—इसके तीन प्रकार हैं। १. संज्ञाक्षर २. व्यंजनाक्षर और ३. लब्धयक्षर। संज्ञा शब्दसे दुनियाकी हरेक लिपियाँ अथवा किसी भी लिपिके अक्षररूप आकार समझे। ये हरेक आकार उस हरेक वर्णकी संज्ञाका संकेत करते हैं, जिससे हमें बोध मिलता है। इस लिए ये आकार श्रुतके साधनरूप होनेसे संज्ञाक्षर श्रुत कहा जाता है। अक्षर तथा पदार्थके बीच वाच्यवाचक संबंध है। शब्द वाचक है। इसलिए उसका ज्ञान मतिज्ञान है और उसके निमित्त प्राप्त वाच्यका ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जाता है।

२. व्यंजनाक्षर—अ से ह तकके अथवा जिस-जिस भाषामें जो-जो वर्ण हैं, वे सभी मुख द्वारा उच्चारित होनेसे व्यंजनाक्षर कहलाते हैं।

३. लब्धयक्षर—हमें अक्षरका ज्ञान जो मिलता है, वही लब्धयक्षर है। इस प्रकार शब्द सुननेके साथ ही जिस-जिस अर्थकी प्रतीति होती है उस हरेकके अर्थानुरूप अक्षर—ज्ञानकी प्राप्ति ही लब्धयक्षर है। इसमें दूसरोंके उपदेशकी जरूरत नहीं होती है।

दूसरे प्रकारसे संक्षेपमें कहे तो—लिखे जाते अक्षर वह है संज्ञाक्षर। बोले जाते अक्षर वह है व्यंजनाक्षर और मनमें सोचे जाते या आत्माके बोधस्वरूप मनमें उत्पन्न अश्वकत अक्षर रचना ही लब्धयक्षर है।

२. अनक्षरश्रुत—श्वासोच्छ्वासकी क्रिया, थूकना, खाँसना, छींकना, चुटकी-ताली बजाना, सीटी बजाना इत्यादि। आवाजयुक्त चेष्टाएँ तथा दूसरे मतानुसार नीरव लेकिन

६२३. श्रुतके प्रत्येक अक्षर तथा उसके [संयोग के बारेमें यदि सोचें तो अनुनासिक, अननुनासिक, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तथा उदात्तादि भेदोंसे इनके अनेक भेद होते हैं।

६२४. अगर तत्त्वदृष्टिसे सोचें तो 'शब्द' सुनकर उसे हेयरूप हो तो हेयरूपमें अथवा उपादेयरूप हो तो उपादेयरूपमें अर्थग्रहण करना अक्षरश्रुत है।

६२५. इसका एक अर्थ—जिसका नाश न हो वैसी क्षायोपशमिक शक्ति' भी है।

बोधक क्रियाएँ—मस्तक हिलानेसे, हाथ-पैरकी चेष्टाओंसे अथवा आँखोंके इशारोंसे जो बोध-ज्ञान या समझ प्राप्त होती है वही अनक्षरश्रुत है।

इन दोनों भेदोंमें ही समग्र श्रुतके प्रकार समा जाते हैं फिर भी अभ्यासियोंकी समझ-ज्ञानको विशद बनानेके लिए चौदह या बीस प्रकार दिखाए गए हैं। यहाँ पर शेष १२ तथा प्रकारांतरसे किए गये बीस भेदोंकी व्याख्या बिना नाम मात्र बतायी गई है।

शेष बारह भेद—३-४, संज्ञि-असंज्ञि, ५-६, सभ्यक्-मिथ्या, ७-८, सादि-अनादि, ९-१०, सान्त-अनंत, ११-१२, गमिक-अगमिक, १३-१४, अंग-अनंग।

बीस भेद—१-२, पर्याय-पर्यायसमास, ३-४, अक्षर-अक्षरसमास, ५-६, पद-पदसमास, ७-८, संघात-संघातसमास, ९-१०, प्रतिपत्ति-प्रतिपत्तिसमास, ११-१२, अनुयोग-अनुयोगसमास, १३-१४, प्राभृतप्राभृत-प्राभृतप्राभृतसमास, १५-१६, प्राभृत-प्राभृतसमास, १७-१८, वस्तु-वस्तुसमास, १९-२०, पूर्व-पूर्वसमास।

इस प्रकार मति और श्रुतकी व्यवहार तथा निश्चययुक्त अन्य परिभाषाएँ अनेक प्रकार बनती हैं। इन्हें शास्त्र या गुरुगमसे जान लें।

मति-श्रुतके बगैर (बिना) किसीको भी केवलोत्पत्ति प्राप्त नहीं होती।

३. अवधिज्ञान—पहले 'अवधि' शब्द किस प्रकार बना है तथा इसकी अलग-अलग कैसी व्युत्पत्तियाँ होती हैं यह देखते हैं, जिससे मूल शब्दका रहस्य समजानेसे उसके अर्थका स्पष्ट स्वराल आ सके।

१. अवधानं अवधिः—अवधानका अर्थ होता है निर्णय। तो निर्णय किसका ? तो इसका उत्तर है रूपी पदार्थके साक्षात्कारका। कौन करेगा ? तो आत्मा करेगा। अब इसका भावार्थ यह होता है कि—रूपी पदार्थका आत्म साक्षात् रूप निर्णय अथवा साक्षात्करणरूप जो अर्थ व्यापार है उसका नाम अवधिज्ञान है।

२. 'अव'—अव्ययपूर्वक 'धि' धातु परसे भी 'अवधि' शब्द बनता है। वहाँ 'अव' अधो अर्थका वाचक होनेसे जो वस्तुको नीचे-ही नीचे अधिक और अधिक विस्तृत बता सकते हैं वह। (यद्यपि यह परिभाषा वैमानिक देवोंके लिए अधिक घटित होती है। फिर भी वैमानिकोंकी अवधिको अधिक महत्त्व देनेके लिए ही यह परिभाषा की गयी होगी।)

३. अवधि—यह शब्द मर्यादाके अर्थमें भी प्रयुक्त किया जाता है। विश्वमें प्रवर्तमान रूपी-अरूपी द्रव्योंमेंसे सिर्फ रूपी द्रव्योंको ही बतानेकी मर्यादायुक्त होनेसे उसे 'अवधि' शब्दसे पहचाना गया है।

यह ज्ञान अवधिज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे ही होता है। इस ज्ञानका शाश्वत और दीर्घकालीन अस्तित्व देवलोक तथा नरकमें हैं। जब कि दूसरे नंबरमें मनुष्य तथा तीसरे नंबरमें क्वचित् तिर्यंच आते हैं। यह ज्ञान सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टि दोनोंमें होता है। सम्यग्दृष्टिमें सदसत् बुद्धि विवेकपूर्ण होता है इसलिए उसके ज्ञानको 'अवधि' शब्दसे पहचाना जाता है और मिथ्यादृष्टिमें असत् अज्ञान बुद्धिके कारण सदसत्का विवेक नहीं होता, जिसके कारण उसमें प्रस्तुत प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर भी 'विभंग' शब्दसे पहचाना जाता है।

यह ज्ञान इन्द्रिय अथवा मनके निमित्तके बिना रूपी पदार्थमें द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी मर्यादासे युक्त प्रत्यक्ष बतानेवाला होता है।

यह ज्ञान विभिन्न आत्माओंके क्षयोपशमकी अनेक विचित्रताओंके कारण अनेक प्रकारकी विचित्रताओंसे युक्त प्राप्त होता है। इसके असंख्य प्रकार हैं। लेकिन इन असंख्य प्रकारोंका वर्णन करना असंभवित होनेसे उनके संक्षेपमें मुख्य प्रकार करके पुनः उनके छः उपभेदोंका वर्णन किया जायेगा।

प्रथम इसके दो प्रकार बनते हैं। १. भैर्वप्रत्ययिक और २. गुणप्रत्ययिक। जो अमुक भवस्थलकी (देव नारककी) प्राप्तिके कारणसे ही जन्म लेनेके साथ ही अवश्य प्राप्त हो जाता है, वह भवप्रत्ययिक है और जो विशिष्ट तप-संयमादि गुणोंकी आराधनाके प्रभावसे प्राप्त होता है वह गुणप्रत्ययिक है।

भवप्रत्ययिकके लिए कोई दृष्टांत देना चाहते हैं तो पशु-पक्षीका ही दे सकते हैं। जिस तरह पशु अपने भवस्वभावसे एक बार पानी पीते हैं, पक्षीगणको आकाशमें

६२७. सत्में असत् तथा असत्में सत् की जो बुद्धि होती है वह।

६२८. भवप्रत्ययिक वास्तवमें तो गुणप्रत्ययिक ही होता है। क्योंकि वहाँ भी क्षयोपशम हेतु उपस्थित है ही जो जनमके साथ ही कारणरूप बनता है। इस लिए देव नारक का भव भी क्षयोपशममें कारणरूप माना जाता है।

६२९. प्रायः ऐसा देखा गया है।

उड़नेके लिए सिर्फ उनका जन्म ही जिस प्रकार निमित्त स्वरूप हैं, उसी प्रकार देवलोक तथा नरक एक ऐसा योनि जन्म स्थल है कि वहाँ जो लोग पैदा होते हैं उनमें पैदा होनेके साथ ही अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेसे अवधिज्ञान उत्पन्न हो ही जाता है। फिर उसमें कुछ भी हानि पैदा न होनेसे यह मृत्युपर्यंत वैसा का वैसा ही टिका रहता है। देवलोकके इसी 'अवधि' में हानि, वृद्धि या क्षयका पूर्ण अभाव होनेसे इसके कोई भी प्रकार नहीं है।

अवधिज्ञानका संबंध देवगतिके साथ और इसमें भी वैमानिकके साथ तो विस्तृत तथा महत्स्वरूप होनेके कारण ही ऊपर दूसरे क्रमकी 'व्युत्पत्ति' उससे आश्रित दिखानी पड़ी है। वरना अवधिका संबंध तो चारों गतिमें है।

गुणप्रत्ययिक अवधिके असंख्य प्रकारोंको छः प्रकारोंमें ही विभक्तकर दिए गये हैं। १-२ अनुगामी-अननुगामी, ३-४ वर्धमान-हीयमान, ५-६ प्रतिपैति-अप्रतिपाति।

१. अनुगामी-अर्थात् पीछे-पीछे अनुसरनेवाला अथवा व्यक्तिके साथ साथ ही रहनेवाला। जिसमें जितने क्षेत्रका ज्ञान उत्पन्न हुआ हो, तो वह व्यक्ति जहाँ भी जाती है, ज्ञान उसके साथ साथ ही जायेगा। जिस प्रकार मनुष्यके साथ मनुष्यकी आँखें अथवा हाथमें पकड़ा हुआ लालटेन भी साथ ही आता है और जहाँ कहीं भी जाता है वहाँ वहाँ प्रकाश भी करता है उसी प्रकार।

२. अननुगामी-जो जीवकी साथ साथ नहीं जाता है वह। जिस प्रकार स्तंभ परका कोई दीप, जिस क्षेत्रमें होता है उसी क्षेत्रको ही प्रकाशित करता है, अन्य क्षेत्रको नहीं, उसी प्रकार कोई व्यक्ति जिस क्षेत्रमें उत्पन्न हुई हो उसी क्षेत्रगत पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त कर सकती है, लेकिन दूसरी जगह जाने पर वह ज्ञान साथ साथ नहीं जाता, जिसके कारण वह वहाँ पदार्थका बोधज्ञान नहीं प्राप्त कर सकती।

३. वर्धमान-अर्थात् शुरूमें अंगुलासंख्येय भाग अर्थात् जो अत्यंत सूक्ष्म प्रमाणसे प्रारंभ होता है और कार्यफल (परिणाम) की विशुद्धि अथवा पवित्रता बढ़ने पर शुक्ल पक्षकी चंद्रकलाकी तरह उत्तरोत्तर वृद्धि करते एकदम अलोककाश तक भी पहुँच जाता है वह।

६३०. अथो विस्तारीभावेन धावतीत्यवधिः ।

६३१. नन्दीसूत्र और तत्त्वार्थभाष्यमें ५-६ प्रकारोंको अनवस्थित, अवस्थित ऐसा नामांतर दर्शाते कुछ अर्थान्तर भी बताया गया है।

४. हीयमान—द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव चारों प्रकारसे विस्तृत अवधिज्ञान अपने कार्य फलकी क्रमिक मंदताके कारण दीपकमें तेल कम होने पर जिस प्रकार चिराग निस्तेज होता जाता है (कृष्णपक्षकी चन्द्रकलाकी तरह), उसी प्रकार धीरे धीरे जो ज्ञान कम होता जाता है वह ।

५. प्रतिपाति—जिस प्रकार पवनके थपेडोंसे चिराग तुरंत बुझ जाता है उस प्रकार यह ज्ञान भी अत्यंत सूक्ष्म स्वरूप उत्पन्न होकर लोकाकाशको (अर्बों मील) प्रकाशित करके प्रमादादिके प्रतिकूल कारणोंसे शीघ्र प्रतिपात होता है अथवा लुप्त हो जाता है ।

६. अप्रतिपाति—जो ज्ञान आगे बढ़कर प्रतिपातिकी तरह सिर्फ लोकाकाश तक ही नहीं, लेकिन उससे भी आगे बढ़कर अलोकाकाशके सिर्फ एक आकाश प्रदेशका विषय बनता है वह । यद्यपि अलोकमें रूपी पदार्थ न होनेसे देखनेलायक कुछ है ही नहीं, लेकिन शक्तिकी दृष्टिसे यह बात बतायी है । और यह ज्ञान केवलज्ञानकी प्राप्ति पर्यंत रहता है ।

ऐसे ज्ञानीमें निर्मलता—पवित्रता बढ़नेसे शक्तिके प्रादुर्भावकी दृष्टिसे अलोकमें असंख्य लोकाकाश जितने क्षेत्रका विषय यदि बनता है तो, इस अवधिको 'परमावधि' कही जायेगी । ऐसे ज्ञानीको अंतर्मुहूर्त्तमें अवश्य केवलज्ञान प्राप्त होता है । इतना ही नहीं वे परमाणुओंको भी प्रत्यक्ष देख सकते हैं ।

परमावधिवाला प्रतिपाति अवश्य होता है, लेकिन अप्रतिपातिवालेमें परमावधिज्ञान होता ही है ऐसा नियम नहीं है ।

४. मनःपर्यवज्ञान—यह चौथा ज्ञान है । यह नाम दो शब्दोंसे बना है मन और पर्यव । इनमें 'मन' अथवा 'मनु' धातु परसे 'मन' शब्द बना है । इसका अर्थ मनन, चिन्तन, विचार, संकल्प होता है । यह मन भी अमुक प्रकार—आकारवाले मनोद्रव्य पुद्गलोंसे बना है । 'पर्यव' का अर्थ होता है 'समग्र (संपूर्ण) रूपमें जानना' अर्थात् जीव द्वारा ग्रहण किए गए मनोवर्गणके द्रव्योंको संपूर्ण रूपमें जाननेका नाम ही 'मनः-पर्यव' है । और यही ज्ञान रूपी होनेसे 'मनःपर्यव' ज्ञान कहा जाता है । दूसरा पर्यव

६३२. पर्यव अथवा पर्याय, भिन्न-भिन्न धातु परसे बने हैं फिर भी एक ही अर्थके वाचक हैं ।

६३३. 'मन' ज्ञाने 'मनु' बोधने ॥ मननं मन्यते वाऽनेनेति मनस्तेन मनः ॥

६३४. पर्यव—इसमें परि-अवन परसे पर्यवन बनता है । और बादमें पर्यव बनता है । इसमें गत्यादि अर्थका अन्व धातु है । 'पर्याय' शब्द 'अय' नामकी दण्डक धातु अथवा 'इण' धातु परसे 'अयन' बनकर परि उपसर्ग जोड़नेसे बनता है । इसमें मनःपर्यव शब्द अधिक प्रचलित है ।

अथवा पर्याय का अर्थ 'अवस्था' भी होता है। मनके विचारोंकी विभिन्न अवस्थाएँ जिस ज्ञानसे हम जान सकते हैं उस ज्ञानका नाम मनःपर्यव है।

यह ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी मर्यादासे युक्त अन्य पुरुषके मन द्वारा सोचे गये रूपा पदार्थोंको इन्द्रिय अथवा मनके निमित्त बिना ही प्रत्यक्ष कर दिखाता है।

इस संसारमें जितने जीवोंमें 'मन' हैं उतने जीवोंको शास्त्रमें 'संज्ञी' शब्दसे संबोधित किया गया है। और जिसमें 'मन' नहीं होता उनका परिचय 'असंज्ञी' कहकर दिया है।

एकेन्द्रियसे लेकर चौरिन्द्रिय तकके 'संमूर्च्छिम जीवोंमें मन सर्वथा होता ही नहीं है। इसके कारण उनमें सोचनेकी शक्ति ही नहीं होती। इससे उन्हें असंज्ञी कहा जाता है। बादमें आते हैं पंचेन्द्रिय जीव। लेकिन सभी पंचेन्द्रियोंमें मन नहीं होता। इन्हीं पंचेन्द्रियोंमेंसे संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय असंज्ञी अर्थात् बिना मनके हैं। देवों, नारकों तथा गर्भज पंचेन्द्रिय मनुष्योंमें ही मन होते हैं।

अब मन कौन-सी चीज है? क्या इससे ही सोच मनन कर सकते हैं?

मन दो प्रकारी होता है-१. द्रव्य और २. भाव। इनमें द्रव्यमन पुद्गलरूप होता है अर्थात् वह एक पदार्थ स्वरूप है जिसे वर्ण, गंध, रस, (स्वाद) तथा स्पर्श होता है। यह मन पदार्थ विश्वमें प्रवर्तमान मननयोग्य अमुक प्रकारके अणुओंसे बनता है। अर्थात् शास्त्रमें बताये गए 'मनोवर्गणा' नामक परमाणुओंसे ही यह बनता है। दो परमाणु संख्यासे लेकर अनंत संख्यावाले परमाणुके इसी समूहको 'स्कंध' कहा जाता है। जिससे शास्त्रीय परिभाषामें आत्मा जिसे ग्रहण करते हैं, इसका पूरा नाम कहना हो तो 'मनोवर्गणाके स्कंध' कहा जाता है।

भावमन क्या है? मनके पुद्गलोंको ग्रहण करके जीव जिसे विचारके रूपमें प्रस्तुत करता है वही भावमन है। इस प्रकार अनेक विचारों अथवा शब्दादि आकारोंका नाम

६३५. २१ वे द्वारमें तीन संज्ञाओंका वर्णन किया जायेगा। उसमें 'दीर्घकालिकी संज्ञा' की बात भी कही जायेगी। जिसमें यह 'संज्ञा' होती है उसे 'संज्ञी' कहा जाता है।

६३६. चार गतिमें जनम तीन प्रकारसे बताए हैं-१. सम्मूर्च्छन, २. गर्भ, ३. उपपात। इनमें देव नारकोंमें उपपात, तिर्यच मनुष्योंमें गर्भ तथा सम्मूर्च्छन दोनों भेद लागु पड़ते हैं। इनमें सम्मूर्च्छन जन्मको गर्भधारणादिक होता नहीं है। ऐसे जीव तो जन्मलायक कारण-सामग्री हवा-जल, विष्टामलादिका संयोग होते एकदम पैदा हो जाते हैं। वे कौन-कौन-से हैं यह तो कह चुके हैं।

६३७. समन्ततः मूर्च्छनमिति। अर्थात् चारों ओर कहीं भी शरीरोंका उत्पन्न होना वह।

६३८. तिर्यच तथा मनुष्य दोनोंको लेना।

ही भावमन है अथवा व्यक्ति द्वारा किया गया विचार ही भावमन है। अब इसे अधिक स्पष्टता तथा सरलतासे समझ लें।

यों तो विचार करनेवाला मुख्यतः जीव अथवा आत्मा है। यह आत्मा मन नामके पदार्थकी मददसे कोई भी बाबतका विचार करनेमें शक्तिमान होती है। विचार आनेके साथ ही उसी विचारके अनुरूप चर्म चक्षुसे अदृश्य 'मनोवर्गणा' नामकी जातिके (एक प्रकारके अणुके बने हुए गुच्छे) विश्वव्यापी पुद्गलोंमेंसे स्वदेहावगाह क्षेत्रमेंसे जिस प्रकार लोहचुंबक लोहेको खींचता है उसी प्रकार जीव पुद्गलोंको खींचता है अथवा ग्रहण करता है। इतना ही नहीं, किए गए विचारके अनुरूप उन्हें प्रस्तुत भी करता है। मतलब यह कि उन्हीं विचारके अनुरूप अक्षर-शब्दोंसे लिख सके वैसे अक्षर अथवा शब्दाकारके रूपमें वे पुद्गल क्रमबद्ध सज जाते हैं। इस प्रकार तैयार हुए पुद्गलके आलंबन-सहारेसे ही जीव योग्य रूपसे यथोचित विचार कर सकता है। एक विचार पूर्ण हुआ कि इस विचारके लिए ग्रहण करके संस्कारित किए गए पुद्गलोंको वह बादमें छोड़ देता है। और ये पुद्गल पुनः वातावरणमें (वायुमंडल) मिल जाते हैं। दूसरा विचार करना-बनाना हो तब फिरसे इसी प्रकार पुद्गल ग्रहण परिणमनादिकी क्रिया करनी पड़ती है और आत्मा प्रस्तुत मनके द्वारा विचार करने समर्थ बनती है।

पुद्गलग्रहण, परिणमन, आलंबन, विसर्जन इत्यादि प्रक्रिया जन्मजातसे प्राप्त मनः-पर्याप्ति (काययोगसह)के बलसे होती है।

अब पुद्गलोंसे लिखित अक्षरोंकी तरह कोई तथाप्रकारके आकारोंको देखकर जो भाव समझमें आता है उसे भावमन कहते हैं। कोई भी मनःपर्यवज्ञानी इस मनन व्यापाररूप भावमन को प्रत्यक्ष देख सकता नहीं है। इसका अर्थ इतना ही कि भावमन तो ज्ञानरूप है, जो ज्ञान अमूर्त-अरूपी है जिसका साक्षात्कार छद्मस्थको भी न होकर सिर्फ केवलीको ही होता है।

इस प्रकार अब द्रव्यमन तथा भावमनकी परिभाषा यहाँ पूर्ण हुई। अब जिस ज्ञानकी बात चलती है उस 'मनःपर्यवज्ञान'का कार्य अथवा फल क्या है? उसे देखते हैं।

६३९. उस वर्गणाके पुद्गल १४ राजलोकमें सर्वत्र होते हैं। लेकिन विचार करते समय मन जिन पुद्गलोंको खींचता है उन्हें तो स्वदेहावगाह वर्गणासे ही ग्रहण करता है।

ऊपर हम यह जानकर आये हैं कि—जीव अपने-अपने विचारके लिए इन्हीं विचारोंके अनुरूप आकार-प्रकारमें विचित्र रीतिसे प्रतिबिंबित बने गृहीत पुद्गलोंको देखकर वे जो कुछ सोच रहे हैं, इसके साथ साथ भूतकालमें उन्होंने क्या सोचा था और भविष्यमें वे क्या सोचेंगे ? ऐसा ज्ञानके बलसे जो देख सकता है या जान सकता है और दूसरोंको कह भी सके ऐसा जो ज्ञान है इसे मनःपर्यवज्ञान कहा जाता है ।

जिस प्रकार एक आम आदमी भी दूसरेका मुस्त तथा आँस आदिके भाव परसे उसके विचारोंको समझ सकता है, उसी प्रकार मनःपर्यवज्ञानी मुनिगण भी अक्षरोंकी तरह सजे धजे मनके विचार स्वरूप आकारोंको देखकर, कौन क्या क्या सोच रहे हैं उन्हें जान सकता है ।

यह ज्ञान दूसरी गतिमें नहीं होता, सिर्फ मनुष्यमें ही मिलता है । मनुष्यमें सातवें गुणस्थानक—अप्रमत्त गुणस्थानक पर विराजमान ऋद्धिप्राप्त दीक्षित बने हुए और निरतिचार-पनसे अत्यन्त उच्च चारित्रका पालन करनेवाले सुविशुद्ध परिणामी मुनियोंको ही प्राप्त हो सकता है ।

यह ज्ञान दो प्रकारका है । १. ऋजुमति और २. विपुलमति । जिसमें अंतर (हृदय)की शुद्धि कुछ कम (न्यून) होती है उसे 'ऋजुमति मनःपर्यव' और जिसमें विशुद्धि इससे अधिक होती है उसे 'विपुलमति मनःपर्यव' प्राप्त होता है । इस प्रकार ऋजुमति जब विचारोंको तथा उनकी अवस्थाओंको मर्यादित रूपमें जानते हैं, तब विपुलमति उनसे भी अधिक रूपमें जानते हैं । आगे यही बात कही जायेगी ।

ऋजुमति—यहाँ पर ऋजुका अर्थ सरल न समझते हुए सामान्य समझना है और मत्तिका अर्थ मनन-चिंतन अथवा संवेदन करता है । अर्थात् सामान्य विचार ग्राहिणी शक्ति वह ऋजुमति है । इसका ज्ञानप्राप्तमुनि द्रव्यगत प्रवर्तमान आकारोंको देखकर, अमुक मनुष्यने जो घट (पानी भरनेका पात्र) दिखाया है, वह अमुक रंगका है अथवा अमुक प्रकारका सोचता है ऐसी वस्तु अथवा वस्तुकी अरूप अवस्था मात्रसे जान सकते हैं ।

विपुलमति—शब्दसे ही अर्थ स्पष्ट हो जाता है । (विस्तृत) विपुल विचार ग्राहिणी शक्ति वह विपुलमति है । यह मति ऋजुमतिसे अधिक उच्चतर है । ऋजुमति—ज्ञानीने जिस घटके बारेमें तथा उसकी विशेषताओंके बारेमें जो कुछ भी जाना है, उसी घटके बारेमें विपुलमति ज्ञानी अधिक रूपमें जान सकते हैं, अर्थात् सामनेवाले मनुष्यने घटको

लेकर जो कुछ सोचा है कि-घट किस जातिका है ? कहाँका है ? किसीकी मालिकीका है कि नहीं ? रिक्त है कि भरा हुआ ? कितना पुराना है ? चित्रित अथवा रंगा हुआ है कि नहीं ? इत्यादि अनेक विचारोंको स्पष्ट रूपसे अधिक व्यापकतासे जान सकते हैं ।

यह विपुलमतिज्ञान ऋजुमतिसे अधिक निर्मल है । ऋजुमतिज्ञान केवलज्ञान तक टिका रहता है ऐसा नियम नहीं है । यह ज्ञान आकर चला भी जा सकता है । लेकिन विपुलमतिज्ञान केवलज्ञानके पूर्ववर्ती समय तक अवश्य उपस्थित रहता है ।

सर्वोत्तम ऋद्धिबन्त सच्चे मुनि ही इस प्रकारका ज्ञान धारण कर सकते हैं । और वे सिर्फ मनुष्यलोकवर्ती तथा सिर्फ ढाई द्वीपकेवासी संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यचोंके ही द्रव्यमनको (मनोद्रव्यसे) जान सकते हैं । इस ज्ञानका मुख्य हेतु मनके विचारोंको सिर्फ जानना ही है । लेकिन वे जब जाननेकी ईच्छा करें (ज्ञानका उपयोग करें) तब ही देख-जान सकते हैं । ये केवलीकी तरह सर्वथा आत्म-प्रत्यक्ष नहीं होते ।

५. केवलज्ञान—यहाँ केवलका अर्थ परिपूर्ण, एक ही इत्यादि होता है । यह ज्ञान प्राप्त होनेके साथ ही पूर्ण रूपमें प्रकट होनेसे और श्रुतादि दूसरे किसी भी ज्ञान अथवा इन्द्रियादिक सहायकी अपेक्षा रहती न होनेसे पूर्ण है । इस प्रकार पूर्ण होनेके कारणसे ही 'एक ही' तथा 'परिपूर्ण' दोनों अर्थ उपयुक्त बनते हैं ।

केवलज्ञानका विशेष स्वरूप

प्रारंभमें मत्यादि ज्ञानोंको धारण करनेवाली कोई भी आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य अथवा तपादिककी निर्मल तथा श्रेष्ठ कोटिकी आराधनासे आत्मिक विशुद्धिमें बढ़ती वीतराग अवस्थाकी पूर्णताकी ओर जब बढ़ती रहती है तब, और जब वह चरम सीमा पर पहुँच जाती है तब, आराधनाके प्रतापसे ज्ञानावरणीय कर्मके अवशेष मोहादि कर्मोंके आवरणों (परदों)को सर्वथा चीर डालती है । अर्थात् सृष्टिके सर्वभावोंको जाननेके कार्यमें अब कोई भी अवरोध या आवरण विद्यमान नहीं रहता । ऐसे समय पर ऐसी व्यक्तिमें संपूर्णज्ञान प्रकट होनेसे ही इसे 'केवलज्ञान' कहा जाता है । इस प्रकार केवलज्ञान प्राप्त करनेवाली व्यक्ति 'केवली' अथवा सुप्रसिद्ध शब्दमें 'सर्वज्ञ'के रूपमें पहचानी जाती है ।

आत्मा अरूपी अर्थात् निराकार है और ऐसी एक आत्माके प्रदेश असंख्य होते हैं जो प्रदेश किसी एक शृंखलेकी तरह एक-दूसरेके साथ जुड़े हुए हैं । ये कभी एक-दूसरेसे अलग नहीं होते, यह इसकी विशेषता है । इनमें 'रूचक' ऐसे सांकेतिक शब्दसे परिचित आत्माके आठ रूचक प्रदेशोंके सिवा अन्य तमाम प्रदेशों पर प्रत्येक आत्माने

स्वयं ही अपनी शुभाशुभ प्रवृत्ति द्वारा कर्मण वर्गणाके अनन्तानन्त स्कंधोंके स्तर जमाए हैं। इन्हीं अत्यंत सूक्ष्म स्कंधोंके फलस्वरूप उन्होंने अपने केवलज्ञानके प्रकाशको ढँक दिया है। इस प्रकार इतना ढँक देने पर भी चार ज्ञानोंका प्रकाश खुला रहता है। फिर भी अगर केवलज्ञानको सागर कहे तो (ये भले ही चार ज्ञान हैं फिर भी) इन्हीं छात्र-स्थिक ज्ञानोंको बिन्दु अथवा बुँद मात्र (मुश्किलसे) कह सकते हैं। इन ज्ञानावरण—दर्शना-वरण कर्मण वर्गणाके स्तर ऊपर कहनेके मुताबिक सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तब एक-एक प्रदेशमेंसे अनंत—अनंत ज्ञानप्रकाश आलोकित हो उठता है, जिसके प्रभावसे अखिल विश्वमें व्याप्त रूपी—अरूपी सभी द्रव्य तथा उनके तीनों कालके समस्त पर्यायों—अवस्थाओंका साक्षात्कार (आत्मप्रत्यक्ष) एक साथ एक ही समय पर होता है। प्रारंभमें प्राप्त यह साक्षात्कार (अंतिम) भवकी पूर्णाहति तक रहता है ऐसा नहीं है; लेकिन केवलज्ञानी आत्मा मोक्षमें जाती है तब वह प्रकाश भी साथ साथ ही जाता है और अनंत काल तक टिका रहता है। बीज नष्ट होने पर जिस प्रकार अंकुर फूटते नहीं है, इस प्रकार ये बाधक कारण हमेशके लिए नष्ट होते ही निष्पन्न कार्य कायम बना रहता है।

यहाँ ज्ञानप्राप्तिके आरंभिक समयमें आत्माकी भीतर उसके प्रदेश स्वरूप आयनेमें विश्वके रूपी—अरूपी अनेक द्रव्य तथा उनके त्रैकालिक पर्याय अवस्थाओंके अनन्तानंत प्रतिबिंब पड़ने पर भी जिस प्रकार "दर्पणमें अनेक प्रतिबिंब पड़ने पर भी आयनेके शीशेको जफा (नुकसान) पहुँचती नहीं है, उसी प्रकार केवलीके लिए कुछ भी जाननेमें किसी कठिनाईका सामना करना पड़ता नहीं है। इस ज्ञानकी प्राप्तिके बाद समग्र विश्वके रूपी—अरूपी किसी द्रव्य पर्याय या अंश शेष रहता नहीं है, जिन पर यह ज्ञान प्रकाश नहीं डाल सकता। इसलिए ही इस ज्ञानको लोकालोक प्रकाशक कहा है।

विश्वमें ज्ञेय पदार्थ अनंत है। उन्हें जाननेके लिए ज्ञानकी मात्राएँ (ज्ञानांश) भी अनंत ही होनी चाहिए, इसलिए इसे सन्तुलित (Balance) करनेके लिए आत्माके

६४१. इसका तात्पर्य यह कि न्यूनाधिकरूपसे इन्हीं चारों ज्ञान प्राप्तिके अधिकार उपस्थित होते ही है।

६४२. दूसरा कोई पूर्ण अनुरूप द्रष्टा न मिलनेके कारणसे ही यहाँ पर स्थूल व्यवहारसे समझानेके लिए आयनेका द्रष्टा दिया गया है। एक प्रकारसे तो यह एकदेशीय हुआ। वरना आयना और प्रतिबिंबित पदार्थ—दोनों रूपी है तो आत्मारूप आयना अरूपी और प्रतिबिंबित पदार्थ रूपी—अरूपी दोनों है। दृश्यमान प्रतिबिंबोंकी घटना शब्दसे अकथ्य है तो छात्रस्थिक बुद्धिसे भी अगम्य है। यह एक विलक्षण और अद्भुत बाधत (जरीया) है। जिसमें ज्ञान होता है वही इसे समझ सकता है। विराट (महान्) को विराट ही समझ सकते हैं, हम जैसे वामन नहीं, उसी न्यायसे।

प्रति प्रदेशपर अनंत ज्ञानांश (मात्राएँ) प्रकाशमान होते हैं। एक प्रदेशमें अगर अनंत ज्ञानांश हैं तो (आत्माके) असंख्य प्रदेशमें कितने होंगे इसकी कल्पना कर लेना। इस प्रकार केवलज्ञान अनंत पदार्थ प्रकाशक होनेसे उसे जो 'अनन्तु' कहा है, 'वह सान्बर्धक' है। इसके समान दूसरा कोई ज्ञान ही नहीं है। इसीसे उसे शालमें 'असाधारण' (अलौकिक) विशेषणसे सम्मानित किया गया है। ऐसी अनेक उपमाओं द्वारा इस ज्ञानका महिमा शालोंमें दिखाया गया है। आत्माकी मूलभूत साहजिक शक्तिके रूपमें यह ज्ञान होता है। किसीके मनमें अगर ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि ऐसा ज्ञान धारण करने-वाले (केवलज्ञानी) क्या सचमुच हो सकते हैं? यदि हाँ, तो उसका प्रमाण (सबूत) क्या?

तो इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि दुनियामें जो चीज अरूप मात्रामें होती है तो उसकी मात्राका अंतिम-छोर भी होता है। जिस प्रकार कोई एक कुआँ पानीका छोटा-सा स्थान है तो इसका अंतिम छोर सागर स्पष्टरूपसे विद्यमान है। अथवा अरूप अवकाश (गगन)का अंतिम विराट आकाश है जो हमारे सामने है। उस प्रकार जो हम ज्ञानकी अरूप स्थिति सामान्य वर्गके जीवोंमें देखते हैं तो बादमें उत्तरोत्तर बढ़ते ज्ञानांश-वाले जीव भी इस सृष्टि पर देखे जाते हैं। यह देखकर मनुष्यके मनमें कई बार ये तर्क उठते हैं कि यदि ऐसे ऐसे गहरे और महान् बुद्धिवाले विद्वान इस संसारमें देखे जाते हैं तो बुद्धि कितनी विराट (महान्) होगी? कितनी विशाल और असीम होगी? (और इस प्रकारकी शंका मात्र ही केवलज्ञानके सबूतका सबसे बड़ा प्रमाण है।) तो इस प्रकार उत्तरोत्तर आगे बढ़ती बुद्धिका पर्यवसान भी ज्ञानकी कोई अंतिम विराट या असीम स्थितिमें होना ही चाहिए। तो इसका पर्यवसान 'केवल' ज्ञानमें होता है जो ज्ञानकी पूर्ण अवस्था अथवा चरम सीमा है। यही ज्ञानका अंतिम छोर है इसलिए अब यहाँ अधिक ज्ञानके लिए अरुपांश भी जगह बचती नहीं है।

निगोदके जीव (एक सूक्ष्म साधारण वनस्पति)का ज्ञान यह ज्ञानकी अत्यंत अल्पावस्था है। और केवलज्ञान ज्ञानकी अंतिम अवस्था है। इन दोनोंके बीच ज्ञानकी स्थितियाँ अनंत तारतम्ययुक्त समझ लें।

इस ज्ञानके अस्तित्वकी सिद्धिमें दूसरा समाधान यह है कि-अनुमान भी सामने प्रत्यक्ष बनी हुई चीजोंका ही होता है। अर्थात् परोक्ष माने गए अनुमानगम्य पदार्थोंके

६४३. यहाँ सामान्यकक्षासे लेकर लब्धि अपर्याप्ता तक सूक्ष्म साधारण वनस्पतिका जीव ले सकते हैं।

लिए नियम है कि उन पदार्थोंको किसी एक व्यक्तित्वने भी प्रत्यक्ष रूपमें देखें हैं ही। अगर किसीको आत्मा, कर्म, परलोक आदि पदार्थ गम्य (प्रत्यक्ष) बने हैं तो यह सब केवलज्ञानके बलसे ही होता है। ऐसी व्यक्तियाँ सर्वज्ञ ही हो सकती हैं जिनसे आम जनताको उन सभी नामों और पदार्थोंका बोध मिलता है।

ज्योतिषके अनेक शास्त्र संहिताएँ तथा उनके अंगरूप हस्त सामुद्रिकादिक जो तीनों कालकी यथोचित घटनाओंका ज्ञान देते हैं उनके सर्वोच्च कोटिके ज्ञानको अथवा उनके प्रमुख प्रवक्ता जो हैं उन्हें सर्वज्ञ कहा जाता है। ये केवलज्ञानी अपनी ज्ञानशक्तिसे प्रवचनोंके माध्यमसे अन्य आत्माओंको विश्वके पदार्थोंका स्वरूप, इस संसारमें उपादेय (प्रशस्त, ग्रहण करने योग्य) क्या है? हेय (बुरात्याज्य) क्या है? संसार अथवा मोक्ष क्या चीज है? आत्मा और कर्म क्या है? और दोनोंके बीच कौन-सा संबंध है? दुःख-सुखके कारण कौन-से हैं? इत्यादि असंख्य विषयोंकी स्पष्ट समझ देते हैं। संसारकी असारताका बोध देते हैं जिन पर मोह अथवा आसक्ति रखनेसे भुगतने पड़ते अनेक दुःखों, वैराग्य, अनासक्तभाव तथा पापकी प्रवृत्तिसे दूर रहनेसे प्राप्त शांति तथा सिद्धि आदिके बोध सुनकर हजारों आत्मा दीक्षा अथवा उच्चतम श्रावकपन (गृहस्थधर्म) स्वीकारकर कल्याणमार्गकी आराधना करते हैं। इस प्रकार पाँचों ज्ञानका स्वरूप संपूर्ण हुआ।

अब पाँचों ज्ञानकी जानने लायक कुछ हकीकतोंका संक्षिप्तमें निर्देश करते हैं।

कुछ लोग मति और श्रुतको अलग-अलग मानते हैं तो कुछ लोग श्रुतको ही मतिके अन्तर्गत मानकर श्रुतके अलग विभागको मानते नहीं हैं। तो कुछ लोग मनःपर्यव ज्ञानको अवधिका ही एक प्रकार रूप मानते हैं।

केवली विश्वमें प्रवर्तमान अभिलौप्य (कथन योग्य) और अनभिलाप्य (कथनके अयोग्य) दोनों प्रकारके भावोंको जानते हैं। लेकिन कथन अभिलाप्य भावका ही कर सकते हैं। और इसमें भी अभिलाप्य भावके अनंतवाँ भाग ही सुना सकते हैं। क्योंकि कथन तो अक्षरो द्वारा ही होता है और इन अक्षरोंको कहनेवाली तो भाषा है जो क्रमानुसार व्यक्त होती है। इसके सामने आयुष्य परिमित होता है। इसलिए केवली भगवंत पाससे भी हमें अत्यल्प ज्ञान प्राप्त होता है। यद्यपि यह अत्यल्प ज्ञान भी हमारे लिए तो असाधारण है ही।

जीवको एक ही समयमें मति अथवा केवलकी अपेक्षासे एक अथवा मति, श्रुत दो अथवा तीन या चार ज्ञान एक साथ मिल सकते हैं। लेकिन इनमेंसे उपयोग तो एक ही समयपर एक ही ज्ञानका हो सकता है।

इसके सिवा पाँचों ज्ञानका परस्पर साधर्म्य, वैधर्म्य तथा अन्य स्वरूप ग्रन्थान्तरसे जान लेना।

‘ज्ञान’ तो समग्र विश्वके प्राणियोंके कार्य कारणभावमें जो अविनाभावी संबंधसे जुड़ा हुआ है, और जो सम्यक् अथवा मिथ्याके कारण सुख-दुःखमें निमित्तरूप बनता है और सम्यक् विश्वके संचालनमें मुख्यरूपमें भाग लेता है। यदि इस ज्ञान जैसी चीज ही न होती तो विश्व कैसा होता! इसकी तो कल्पना ही करनी पड़ेगी। लेकिन ‘न हो’ ऐसा बनेगा नहीं।

ये ‘दर्शनगुण’ और ‘ज्ञानगुण’ एक है या विभिन्न? तो अपेक्षासे एक प्रकारसे एक है और अपेक्षासे भिन्न भी है। यद्यपि इस विषयमें बहुत वक्तव्य है जिसे ग्रन्थान्तरसे जान सकते हैं।

समग्र विश्वमें ज्ञान ही एक सच्चा प्रकाश और जीवनका सच्चा राहबर है। यही जीवनके सर्व सुखों तथा शान्तिका मूल है। इसलिए ज्ञान तथा उसके साधन और ज्ञानकी आशातना दूर करें। और इसके साथ ही इसकी कठोर (प्रचण्ड) आराधना—उपासना करें कि कोई न कोई जनममें हमारा प्रस्तुत पुरुषार्थ ज्ञानके भेदभेदसे रहित ऐसे एक अभेद स्वरूप माने जाते केवलज्ञानकी प्राप्तिमें परिणमित हो।

१४. जोग (योग)—योगकी परिभाषा करनेसे पहले हम यह दिखाना चाहते हैं कि अलग अलग ग्रन्थ ‘योग’ शब्दका अर्थ कौन-सा करते हैं।

६४५. ज्ञानकी आशातना आज-कल प्रचण्ड रूपमें बढ़ी है। विज्ञानकी सहायतासे बनाए गए साधनसुविधाओंके कारण ज्ञानकी आशातना सरलतासे हो जाए ऐसी परिस्थितियोंका निर्माण हो गया है। एक प्रकारसे अखबार भी ज्ञान ही है। इसलिए कपड़े, खानेकी चीजें अथवा अन्य सांसारिक कार्योंके लिए उसका उपयोग नहीं करना चाहिए। इसलिए उसमें न तो विष्णु (मल) करना चाहिए और न तो उससे विष्णु साफ़ करना चाहिए। इसी प्रकार पुस्तकोंका भी वैसा ही दुल्पयोग हो रहा है। इसके कारण बड़े-बड़े पाप बँधते हैं। लेकिन दुर्भाग्य तो यह है कि इसके कारण पाप होता है ऐसा प्रजा जानती भी न हो, वहाँ वह बेचारी करे भी क्या? अरे! जैन भी जानते नहीं हैं। और जो जानते भी हैं वे पूरा अमल करते भी नहीं हैं। इसलिए इसका प्रचार करके प्रजाको पापकी राहसे बचाना चाहिए।

६४६. ज्ञान जाननेकी शक्ति होने पर भी ज्ञान न जानना वह भी ज्ञानशक्तिका गुनाह होनेसे ज्ञानावरणीय कर्म बँधता है।

१	योग	अर्थात्	व्यापार कर्म क्रिया ।
२	"	"	अप्राप्त इष्ट चीजका लाभ ।
३	"	"	कर्मके अंतर्गत कौशल्य ।
४	"	"	मन, वचन और काय योग्य प्रवर्तक द्रव्य ।
५	"	"	मन, वचन, कायाका परिस्पंदन कर्ता ।
६	"	"	वीर्य, उत्साह, सामर्थ्य पराक्रमदि ।
७	"	"	आत्माका अध्यवसाय विशेष ।
८	"	"	मोक्षके साथ संबंध बंधा देनेवाले ।
९	"	"	चित्तवृत्ति निरोध ।
१०	"	"	मानसिक स्थिरता ।
११	"	"	मानसिक बंध ।
१२	"	"	मानसिक व्यापार ।
१३	"	"	मोक्ष प्रापक व्यापार ।

इस प्रकार अनेक अर्थोंमें 'योग' शब्दका प्रयोग हुआ है। लेकिन यहाँ तो खास करके नं. १, ४, ५ और ६ के अर्थ ही विशेष रूपसे अभिप्रेत हैं। इस प्रकार ऊपर भावार्थ अथवा शब्दार्थ बतानेके बाद अब उसकी पूर्ण परिभाषा विभिन्न स्थलों पर कहनेके बाद भी अत्यंत जरूरी बननेसे यहाँ दी जाती हैं।

परिभाषाएँ—

१. गमनागमनकी जो क्रिया है वह, अथवा गमनागमनकी क्रियामें जो उपयोगी बनता है उसका नाम है योग ।
२. अथवा चलना, बैठना आदि हररोजकी क्रिया जीव जिनकी सहायतासे करता है उसका नाम योग है ।
३. वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न जीवका परिणाम विशेष ।
४. आत्माका पुद्गलके आलंबनयुक्त व्यापार ।
५. आत्मामें वीर्य-शक्ति-ताकतका स्पंदन ।

इस योगको प्रथम दो प्रकारमें बाँटते हैं (१) द्रव्य और (२) भाव । द्रव्ययोग अर्थात् मन, वचन और कायाके योग प्रवर्तक जो द्रव्य है वे । अथवा तीनोंको परिस्पंदन करानेवाला मन, वचन तथा कायाका जो बाह्य व्यापार है वह । और भावयोग अर्थात्

बाह्य व्यापारमें कारणभूत जो अध्यवसाय, विचार या परिणाम (नतीजा) जो हैं वह अथवा उत्साह, वीर्य, पराक्रम आदि जीवके कार्य ही योग है ।

आत्मामें उत्पन्न होती यह योग-वीर्य शक्ति जिस जिसके साथ जुड़ जाती है, तब यह शक्ति उसी नामसे युक्त अथवा प्रसिद्ध बनती है । यह शक्ति किसके साथ जुड़ जाती है ? तो मन, वचन और काया इन्हीं तीनोंके साथ जुड़ती है, । क्योंकि प्रस्तुत शक्तिका उपयोग तो ये तीनों चीज ही करती हैं । अर्थात् इस शक्तिका उपयोग मन जब सोचनेके लिए करता है तब मनोयोग नामसे, बोलनेके लिए जब उपयोग करता है तब वचनयोग नामसे तथा शारीरिक क्रियाके साथ जुड़ता है तब काययोग नामसे पहचाना जाता है । उपर्युक्त तीनों क्रिया करनेवाली आत्मा ही है । लेकिन वह पुद्गल द्रव्यरूप कर्मको पराधीन होनेसे घूमनेके लिए वृद्धकी लकड़ीके आधारकी तरह अगर योगकी सहायता हो तो ही वह कार्य करनेमें समर्थ बनती है । अथवा तीनों शक्तियाँ उस समय ही कार्यशील बनती है ।

वस्तुतः देखा जाए तो वाणी अथवा मनके द्रव्योंका ग्रहण काययोगसे ही होता है । इसके कारणसे ही इन्हीं तीनों क्रियाओंमें काय व्यापार प्रधान रूप है । इसकी सहायतासे ही गमनादि क्रिया तथा वाचिक, मानसिक आदि व्यापार समर्थ बनते हैं । इसी अपेक्षासे तो मन, वचन और कायाको काययोगके ही प्रकारके रूपमें पहचाना जाता है ।

जिस समय आत्माका काया-शरीर द्वारा व्यापार शुरु हुआ कि तुरंत ही शरीरके जिस व्यापारसे पुद्गलोंका ग्रहण होता है वह अथवा इसी व्यापारको 'काययोग' कहते हैं । अब यह शरीर व्यापार युक्त जिन शब्द पुद्गलोंको बोलनेके लिए बाहर निकालते हैं तब वचनयोग और जब शरीर व्यापारसे मनके पुद्गलोंका चिंतन होता है तब 'मनोयोग' बनता है ।

अब तीनों योगकी व्यवस्था समझाते हैं ।

१. मनोयोग-मनःपर्याप्ति नामकर्मके उदयसे स्वकाययोग द्वारा द्रव्य स्वरूप मनो-योभ्य वर्गणाको ग्रहण करके, मन रूप परिणमित करके, अवलंबन लेकर (उसके द्वारा चिंतन-मनन करके) विसर्जन करनेका जो व्यापार है वह मनोयोग है ।

२. वचनयोग-भाषापर्याप्ति नामकर्मके उदयसे स्वकाययोग द्वारा द्रव्य स्वरूप भाषा वर्गणाको ग्रहण करके भाषा रूप परिणमित करके (जो कुछ कहना है उसे बोलकर) अवलंबित होकर विसर्जन करनेका जो व्यापार है वह वचनयोग है ।

६४७. यह बात तो व्यवहारनयसे है । निश्चयनयसे तो ये तीनों स्वतंत्र हैं ।

३. काययोग—शरीरकी हलन—चलनादि क्रियाओंका जो व्यापार है वह। अब तीनों योगकी समझ अधिक रूपसे प्राप्त हो इसके लिए इसके प्रकार संक्षिप्त अर्थोंके साथ बताते हैं।

चार प्रकारका मनोयोग—सत्य, असत्य, मिश्र और असत्यमृषा (अथवा व्यवहार)।

१. सत्को सत् रूपमें और असत्को असत् रूपमें दिखलाना ही सत्य मनोयोग है।
२. सत्को असत् और असत्को सत् रूपमें दिखलाना ही असत् मनोयोग है। ३. सत् वस्तुको सदसत् रूपसे अर्थात् कुछ अंशमें सत् और कुछ अंशमें असत् अथवा कभी-कभी सत्में सत् और सत्में असत् रूपसे सोचना ही मिश्र मनोयोग है। ४. जिसमें सत्—असत् जैसी विचारणाका कोई स्थान ही न हो ऐसी सर्व सामान्य विचारणाको असत्यमृषा अथवा व्यवहार मनोयोग कहा जाता है। चौथे योगमें मिसालके तौर पर देखें तो—अरे! ओ भाई, तू यहाँ आ, तू जायेगा क्या? तू जरूर जाना! इस प्रकार प्रश्न, आज्ञा (हुकम) अथवा संकेतवाचक भावोंका चिंतन जिसमें होता है वह।

चार प्रकारका वचनयोग—इस वचनयोगको भी मनोयोगके चार प्रकारोंके अनुसार ही समझना। उनमें पूर्वमें चिंतनके रूपमें बात की है तो उसे यहाँ बोलनेके रूपमें घटा लेना। जैसे कि—सत्को सत् रूपसे और असत्को असत्के रूपसे बोलना।

सात प्रकारका काययोग—१. औदारिक, २. औदारिक मिश्र, ३—४. वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र, ५—६. आहारक—आहारक मिश्र और ७ तैर्जस—कर्मण।

एक शरीरके साथ अन्य शरीरका व्यापार चलता है तब मिश्रता विद्यमान होती है। यह कब—कब होती है? उसे ग्रन्थान्तरसे जान लेना।

ये तीनों योग शुभाशुभ कर्मके बंधमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इनके ऊपर ही सुख—दुःख सद्गति—दुर्गति यावत् मुक्ति—मोक्षका आधार रहता है।

इसलिए अगर सुख—शांति—सद्गति और मुक्तिकी ओर आगे बढ़ना हो तो प्रस्तुत तीनों योगोंको शुभ मार्गमें प्रवर्तमान (प्रबल) करनेके लिए सतत जागृतशील बनें जिसके कारण नया कर्मबंधन रुकेगा और पुराना प्रायः नष्ट होता जायेगा। इससे पुण्यबल बढ़ेगा। संवर (संयम—मनोनिग्रह) तथा निर्जराका उदगम होगा और अंतमें इष्ट लक्ष्य पर पहुँचेंगे। यदि तीनोंका अशुभ मार्गमें प्रचलन करेंगे तो चिंता, दुःख, वेदना, व्याधि, अशांति

और अंतमें दुर्गति तथा बंधनके दुःख आपके सामने ही उपस्थित होकर आपका स्वागत करेंगे !

इसलिए हे मेरे प्यारे वाचक ! आपको कौनसा मार्ग अधिक पसंद है ? इसे आप स्वयं ही सोच लीजिए ! और फिर उसी मार्गपर आगे प्रयाण करनेका पुरुषार्थ कीजिए । सुत्रेषु किं बहुना !

१५. उवओग [उपयोग]—वस्तु स्वरूपको जाननेमें जो उपयोगी बनता है, अथवा जिसकी सहायतासे पदार्थका स्वरूप समझमें आता है, अथवा पदार्थके ज्ञानमें आत्मा जिससे जुड़ जाती है वह । ये सभी 'उपयोग'की ही परिभाषाएँ हैं । साथ ही ज्ञान, संवेदन, प्रत्यय आदि शब्द ज्ञानके पर्याय हैं ।

यह उपयोग जीवोंकी ही लक्षण है । और इसके कारण ही जीव द्रव्यमें ही होता है । जीवको छोड़कर अन्य किसी भी द्रव्यमें वह नहीं होता । यह जीव—चेतन द्रव्य तो जड द्रव्यसे सर्वथा भिन्न द्रव्य है जो जीवके उपयोग रूप असाधारण लक्षणोंसे सिद्ध होता है ।

इस उपयोगके दो प्रकार हैं । १. साकारोपयोग और २. अनाकारोपयोग । वस्तुके आकार आदि विशेष स्वरूप पर जब उपयोग विद्यमान होता है तब इसी उपयोगके साथ ज्ञान शब्द संलग्न करनेसे उसे 'ज्ञानोपयोग' अथवा 'साकारोपयोग' कहा जाता है । और जब वह वस्तुके निराकार स्थूल-सामान्य धर्मकी ओर हो तब वह 'दर्शन' शब्दसे युक्त 'दर्शनोपयोग' अथवा 'निराकारोपयोग' कहा जाता है ।

दूसरे शब्दोंमें कहे तो ज्ञान साकारोपयोग स्वरूप है और दर्शन निराकारोपयोग स्वरूप है ।

इससे साकारोपयोगरूप ज्ञानके आठ और निराकारोपयोग रूप दर्शनके चार प्रकार हैं । ज्ञानके आठ भेदोंमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल—ये पाँच प्रकार हैं, और तीन १. मति अज्ञान, २. श्रुत अज्ञान और ३. (अवधिके स्थानपर अवधि अज्ञान बोलते नहीं हैं लेकिन) विभंगज्ञान—अज्ञानमें आते हैं । इस प्रकार ये आठ प्रकार हैं । इन्हीं भेदोंके अंतमें 'उपयोग' शब्द लगानेसे ज्ञानोपयोगके आठ प्रकार समझमें आ

६४९. देखिए—'उपयोगो लक्षणम्' [त. अ. २.] नाणं च दंसणं चैव, चरितं च तत्रो तथा चरित्यं उवओगोय, एवं जीअस्स लक्खणं ॥ [नवतत्त्व मूल]

६५०. अनेक पदार्थोंमेंसे अलग करनेवाले किसी एक हेतुको 'लक्षण' कहते हैं ।

६५१. आकार शब्दसे यहाँ सिर्फ लम्बाई, चौड़ाई आदि अमिप्रेत नहीं है, लेकिन जो पदार्थ जिस प्रकारका होता है वह उसी प्रकारसे अपने ज्ञानमें भासमान होता है ऐसा समझें ।

जाते हैं। दर्शनसे चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल लेना है। इसके हरेकके पीछे 'उपयोग' शब्द लगानेसे चक्षु उपयोग आदि शब्द बनते हैं।

ये बारह प्रकारोंका स्वरूप ग्यारहवें तथा बारहवें द्वारमें बताया गया है। सर्व सामान्य संसारी जीव कर्माधीन होनेसे इनका उपयोग अविरत और पूर्ण रूपसे वर्तित होता नहीं लेकिन नुटक नुटक और अरुपांशसे होता है, जब कि तीर्थकरो, सर्वज्ञों तथा सिद्धोंमें तो अपूर्णता अथवा खण्डितताके प्रतिबंधक कर्मरूप कारणोंका क्षय होनेसे उनमें अविच्छिन्न तथा सर्वांशसे होता है।

१६. उव्वाय [उपपात]—इसका शब्दार्थ तो—'उत्पन्न (पैदा) होना' इतना ही होता है, लेकिन उपलक्षणसे इसकी संख्या तथा विरहकी बात भी इसी द्वारमें कहनेका अभिप्रेत है। इसलिए कौन—सी गतिमें एक ही समय पर (समकालमें) कौन—सी गतिके, कितने जीव संख्यासे पैदा होते हैं अर्थात् जन्म लेते हैं ?

इसके अतिरिक्त विरहकाल प्रमाण कहनेका उद्देश्य भी है कि कौन—सी गतिमें एक जीव उत्पन्न होनेके बाद दूसरे जीवको उत्पन्न होनेमें कितना समय लगता है ?

१७. चवण [च्यवन]—इसका अर्थ होता है क्षय होना अथवा अवसान होना। उपपातकी तरह इस द्वारको भी उपलक्षणकी द्रष्टिसे दो प्रकारसे कहना अभिप्रेत है। अर्थात् किस गतिमेंसे समकाले एक ही कालमें, कितने जीवोंका अवसान होता है और विवक्षित कोई भी गतिमें एक जीवकी मृत्यु होनेके बाद, दूसरे जीवकी मृत्यु होनेके बीच कितना समय व्यतीत है ? इस कालनियमको दर्शाना ही च्यवन विरह है।

१८. ठिई [स्थिति]—अर्थात् आयुष्य मर्यादा कथन। जीवोंके जघन्योत्कृष्ट आयुष्यकी विविध काल मर्यादाको दिखलाना ही 'स्थिति' कहा जाता है।

१९. पञ्जत्ति [पर्याप्ति]—अर्थात् जीवन जीनेकी शक्ति।

उपर्युक्त १६ से १९ तकके चारों द्वारकी परिभाषा इस ग्रन्थमें अच्छी तरहसे की गई है। इसलिए उन्हें यहाँ फिरसे दोहराना ठीक नहीं है।

२०. किमाहारे [किमाहारकः ?] इस प्राकृत शब्दका संस्कृत रूपांतर है किमाहारकः। किमाहारमें दो शब्द हैं—किम्+आहार। इसमें किम्का अर्थ होता है 'क्या' और प्राकृत आहारका अर्थ होता है, 'खानेवाला'। अब ये दोनों अर्थ संकलित करनेपर प्रश्नार्थक वाक्य बन जाता है कि जीव आहारक है या अनाहारक ? इसका

एक अर्थ यह हुआ। अब किमाहार शब्दको सैमासिक मानकर दूसरा अर्थ निकाले तो जीव किस शरीरसे आहार ग्रहण करता है ? और तीसरा अर्थ निकलता है कि कौन्से जीव कितानी दिशाओंमेंसे आये हुए द्रव्योंका आहार करते हैं ? इत्यादि व्याख्या इस द्वारमें कही जायेगी।

इसमें पहले और दूसरे अर्थकी परिभाषा इसी ग्रन्थकी ३३१ वीं गाथाके विवेचनमें (पृष्ठ १९०) कही गयी है।

इसलिए अब यहाँ तीसरे अर्थकी परिभाषा करते हैं। अलवता संग्रहणी ग्रन्थके वाचकोंके लिए यहाँ परिभाषा देना अत्यावश्यक नहीं है फिर भी किमाहारमें यहाँ जरूरी होनेसे दी गयी है। इसी तीसरे अर्थका अनुसरण करके आगमादि ग्रन्थान्तरोंमें इसका दूसरा—'दिगाहार' ऐसा नाम भी दिया गया है।

जैन दर्शनका विश्व चौदहरींलोक प्रमाण है, जिसमें दृश्य विश्व (वर्तमान भारतक्षेत्रवर्ती वर्तित पाँच खण्ड प्रमाण) तो सागरके सामने बूँद जितना भी नहीं है तो अदृश्य विश्व—ब्रह्मांड कितना असीम—विराट होगा ? इसकी तो कल्पना ही करनी पड़ेगी। और यह विश्व सूक्ष्म—स्थूल, स्थिर—अस्थिर, गतिमान—अगतिमान, अति अल्पायुषी—अति दीर्घायुषी इस प्रकार विविध जातिके जीवोंसे व्याप्त है, उनसे ठसाठस भरा हुआ है। स्थूल या सूक्ष्म पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति रूप अनेक जीव वह और स्वर्ग, मृत्यु, पातालवासी सभी देव, पृथ्वी पर विद्यमान सभी मनुष्य—पशुपक्षीगण तथा क्षुद्र जन्तुरूप तिर्यच तथा पृथ्वीके गर्भमें विद्यमान नारक इन सब जीवसृष्टिसे विश्व भरा पड़ा है। इनमेंसे कुछ पृथ्व्यादि सूक्ष्म जीव हवा—अवकाशमें भी रहते हैं। ये जीव लोगोंके बीच भी हैं और लोकके छोर पर या कोने—बोनेमें भी होते हैं। इसी लोकमें सूर्देकी नोकका अरबोंवाँ जितना भाग भी ऐसा नहीं है जहाँ सूक्ष्म जीव नहीं होते !

उपर्युक्त तमाम जीवोंके आहारके तीनों प्रकार सोचनेपर मिले हैं। ओज, लोम और कवल। इनमें यहाँ लोमाहारको लेकर मुख्यतः सोचा गया है। इनमें ओज तथा कवल आहारके लिए क्षेत्र तथा काल मर्यादित है जबकि इसके दोनों अमर्यादित हैं।

६५३. केन वा शरीरेणाहारोऽस्येति किमाहार इत्यपि । (संग्र० टीका)

६५४. के जीवाः कतिम्यो दिग्भ्यः आगतानि द्रव्याण्यहस्तीति ॥ देखिए जीवाभिगम, लोकप्रकाशादि।

६५५. एक राजमें असंख्य योजन=अरबों मील होते हैं। 'राज' यह जैन गणितका क्षेत्रका नाम दिखलानेवाला शब्द है।

६५६. आहार वर्णनके लिए देखिए गाथा १८३ से १८५ तकका अनुवाद।

प्रत्येक जीव मात्र अपनी स्वचाके छिद्रोंसे लोमाहारको अविरतरूपसे ग्रहण करता ही रहता है। अब प्रश्न तो यह है कि हवा अथवा आकाशमें विद्यमान पुद्गलोंका जो ग्रहण होता है, यह अमुक दिशासे होता है कि विभिन्न दिशाओंसे होता है? और दूसरा सबकी ग्रहण दिशा एक समान होती है या न्यूनाधिक होती है? अब इन प्रश्नोंका उत्तर यह है कि—

आहार्य पुद्गलोंके लिए निर्व्याघातपन हो तो आहार ग्रहण छः दिशाओंसे होता है। व्याघात अर्थात् रोकनेवाला, निर्व्याघात अर्थात् नहीं रोकनेवाला। अब यहाँ ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि हवा अथवा अवकाशी आहारको कोई रोकनेवाला है क्या? इसका उत्तर है हाँ,—तो किस प्रकार रोकते हैं? हमारे चौदहराज स्वरूप अनंत विश्वका आकार कटिपर हाथ देकर दोनों पैरोंको चौड़ा करके सीधा खड़े किसी पुँरुषाकार जैसा लगता है। पैरसे सिर तक चारों ओरसे चौदहराज प्रमाण है, लेकिन चौड़ाईमें अनेक परिवर्तन है। इस चौदहराजको 'लोक' शब्दसे पहचाना जाता है। इसकी चारों ओर परिवृत्ताकारमें लोकसे भी अनंतगुना अलोक रहा है। इसी अलोकके आगे तो लोक एक मात्र बिन्दु—बूँदके समान है। इस लोकमें त्रस (जीवोंका एक प्रकार), स्थावर इत्यादि हरेक जातिके जीव हैं, संक्षिप्तमें सभी प्रकारके (छः प्रकारके) द्रव्य हैं। लेकिन अलोकमें कोई पुद्गलद्रव्य नहीं है, वहाँ सिर्फ जड़ आकाश—अवकाश—रिक्तता है।

अब चौदहराजलोकके निष्कूट भागमें अर्थात् अंतिम छोर पर विदिशामें तीक्ष्णवाला प्रजितनी जगहमें कोई सूक्ष्म एकेन्द्रिय (सिर्फ शरीरधारी) जीव मिसालके तौरपर अग्नि-कोणमें उपस्थित होता है तब उसे तीन ही दिशाओंसे आहार ग्रहण होता है। क्योंकि पूर्व, दक्षिण तथा अंधोंमें अलोक है। लेकिन अलोकमें आहार पुद्गल होते ही नहीं हैं, इसलिए वह दिशा बंध है। शेष पश्चिम, उत्तर तथा उर्ध्वदिशामेंसे आहार ग्रहण होता है, क्योंकि वहाँ लोक है। (इसके लिए देखिए चित्र नं. ७२)

६५७. पुरुषाकारकी उपमाको सर्वदेशीय नहीं समझना चाहिए। क्योंकि इससे लोक चिपटा हो जायेगा लेकिन लोक वैसा नहीं है।

६५८. ये छः द्रव्य जीव, अजीव, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल और काल समझे।

६५९. पृथ्वी आदि पाँच सूक्ष्म एकेन्द्रिय और बादर वायु पर्याप्ता अथवा अपर्याप्ता कोई भी लें।

६६०. उत्तर, दक्षिण दिशा होने पर भी ऊर्ध्व अथवा दिशाकी कल्पना भी हो सकते हैं।

• इस वस्तु सचमुच चित्रसे भी शानी गुरुगमसे प्रत्यक्षमें बहुत सरलतासे समझाते हैं।

दूसरा कोई जीव थोड़ा पश्चिम दिशाकी ओर रहा हो तो पूर्व दिशा खुली हो जानेसे (अलोक दूर होते ही) उस दिशामेंसे आहार प्राप्तिकी संभावना (शक्य) बनते ही (सिर्फ अधो तथा दक्षिण दोनों दिशाओंको छोड़कर) चार दिशाओंमेंसे आहार प्राप्त कर सकता है। चौदहराजलोकके ऊर्ध्व भाग पर तथा अधो भाग पर विद्यमान अंतिम प्रतरको लक्षित करके यह बात कही गयी है। लेकिन भीतरके दूसरे—तीसरे प्रतर पर हो तो इसका क्या? अगर जीव वहाँ विद्यमान है तो इसको पाँचों दिशाओंसे आहार मिलता है, क्योंकि नीचेसे ऊपर अथवा ऊपरसे नीचेकी ओर (उर्ध्वाधो दोनों आश्रयी) गया इसलिए (प्रतरका व्यवधान आते ही) ऊर्ध्व अथवा अधो दिशा खुली हो जानेसे उन्हीं दिशाओंमेंसे आहारकी दिशा बढ़ती है।

अब ऊपरके प्रतरोंमें बीचमें जितने भी जीव हैं, उन्हें सभी दिशाओंमें लोक ही होनेके कारण छः दिशाओंसे आहार मिल सकता है। जिस प्रकार उबलते हुए तेलके बीच पुआ अथवा पूरी तथा जलमें उपस्थित स्पंजका टुकड़ा छः दिशाओंसे क्रमानुसार तेल और जल ग्रहण करता है।

त्रस जीवोंको सर्वत्र छः दिशाओंसे आहार ग्रहण होता है। क्योंकि वे चौदहराजलोकके मध्यभाग (त्रसनाडी)में होते हैं। और उस जगह पर चारों ओरसे परिवृत्त लोकाकाश है जिसमें आहार योग्य पुद्गल द्रव्योंका सदा अस्तित्व रहता है। इस प्रकार किमाहार द्वार पूर्ण हुआ।

अनंत प्रदेशी, असंख्य आकाश प्रदेशावगाही, एक समयसे लेकर असंख्य काल तक आहार स्वरूप रहनेवाले, वर्ण, गंध, रस, स्पर्शवाले, स्वात्म प्रदेशावगाही ऐसे पुद्गलोंका आहार जीव ग्रहण करते हैं।

२१. "संज्ञि [""संज्ञी]—जिसे संज्ञा वर्तित होती है उसे 'संज्ञी' कहा जाता

६६१. तीन, चार या पाँच दिशाओंका आहार, लोकके पर्यंत भाग पर विद्यमान जीवोंके लिए ही होता है।

६६२. गायामें 'सन्नि' ऐसा उल्लेख क्यों किया है वह सोचनीय है। क्योंकि शेष सभी द्वार उस हरेक चीज अथवा गुणके नामयुक्त हैं, नहीं कि उस हरेक वस्तु अथवा गुणके नामयुक्त व्यक्तिके, यह देखते हुए इसमें भी दूसरीबार 'सन्ना' शब्दका प्रयोग कर सकते थे। इस विषयमें सोचनेपर ऐसा लगता है कि एकबार सन्ना शब्द आ ही गया है इसलिए दूसरीबार फिरसे समानार्थी शब्दका प्रयोग करनेसे कोई द्विधा उत्पन्न न हो ऐसे कोई कारणसे ही किया होगा अथवा दीर्घादि संज्ञावाला संज्ञी शब्द ही खरा है ऐसा बतानेके कोई हेतुसे ताच्छिल अर्थमें संज्ञी शब्दका उपयोग किया होगा।

६६३. संज्ञाऽस्यातीति संज्ञी।

है। इसी २४ द्वारकी गाथामें सन्ना और संज्ञी ये दोनों शब्द दो द्वार के सूचक हैं। उनमें प्रथम 'सन्ना' शब्द संज्ञाका द्योतक है और दूसरा शब्द संज्ञा नहीं, लेकिन 'संज्ञी' है। इसलिए प्रथम शब्द सिर्फ गुणवाचक (—अथवा दर्शक) है और दूसरा संज्ञा जिनमें हो वैसे व्यक्तियोंका सूचक है।

यहाँ कौनसी संज्ञा परसे संज्ञी समझें? तो इसका उत्तर है कि जो विचार करनेका बल धारण करती है। तो विचार कौन कर सकता है? इसका उत्तर है जिसके पास मन है वह। तो मन किसके पास होता है? तो पाँचों इन्द्रियवाले जीवोंके पास होता है। तो क्या सभी पंचेन्द्रियोंके पास होता है क्या? नहीं, जो मनःपर्याप्तसे पर्याप्ता है उन्हें ही होता है। तात्पर्य यह कि मनःपर्याप्तसे पर्याप्ता ऐसे पंचेन्द्रियोंको ही 'संज्ञी' कहा जाता है और पृथ्वीकायसे लेकर समूच्छिम पंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें स्पष्ट मन न होनेसे ऐसे जीवोंको 'असंज्ञी' कहा जाता है।

शंका—शास्त्रमें तो आहार, भय, मैथुनादि दस प्रकारकी संज्ञा एकेन्द्रियादि जीवोंमें कही है, तो आप उन्हें भी संज्ञी क्यों नहीं कहते हैं?

समाधान—आहारादि संज्ञाएँ भले ही हो लेकिन वे सब सामान्य प्रकारकी हैं। साथ ही वे सब मोहोदयसे उत्पन्न होनेके कारण महत्त्वपूर्ण और शोभनरूप नहीं हैं। जिस प्रकार 'सौ' रूपयेकी मुडीवाला धनवान नहीं कहा जा सकता है, उसी प्रकार सामान्य संज्ञाओंसे युक्त हर किसीको 'संज्ञी' नहीं कहा जा सकता है। इसलिए उसको यहाँ ग्रहण करना नहीं है। लेकिन यहाँ तो विशिष्ट ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न मनःपर्याप्तसे पर्याप्ता मनोज्ञानवाले जीवकी जो संज्ञा है वही महत्त्वपूर्ण और सुंदरतम है। इसलिए उसका ही ग्रहण यहाँ उचित है।

तो मनवाले जीवोंके लिए कौनसी संज्ञा है? तो इनके लिए त्रिकाल विषयक दीर्घकालिकी संज्ञा है। शास्त्रमें जीवोंको "संज्ञी —असंज्ञी जो कहे जाते हैं वह इसी महान् संज्ञाको लक्षित करके ही। आहारादि सामान्य संज्ञाको लेकर नहीं।

अब गाथामें तो मूल पद संज्ञी है। उसे ध्यानमें रखकर अर्थ करें तो संज्ञीके प्रकार कितने हैं? इसे समझना चाहिए।

६६४. अन्य ग्रन्थोंमें 'संज्ञी' के लिए 'समनस्क' और असंज्ञीके लिए 'अमनस्क' शब्दका प्रयोग हुआ है।

१. “दीर्घकालिक्युपदेश २. हेतुवादोपदेश और ३. द्रष्टिवादोपदेश । इन्हीं तीन संज्ञाओंसे जो युक्त होता है उसे “संज्ञी” कहा जाता है । लेकिन एक ही जीवमें ये तीनों एक साथ होनी ही चाहिए ऐसा नियम न समझें ।

१. दीर्घकालिकी — जिसमें दीर्घकालका स्मरण होता है, अर्थात् जिसमें ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता, विमर्श इत्यादिकी विचारणा की जाती है, उसे दीर्घकालिकी कहते हैं ।

जिस प्रकार ‘ईहा’ अर्थात् सदर्थकी समीक्षा, बादमें ‘अपोह’ अर्थात् करनेका निर्णय, बादमें ‘मार्गणा’ अर्थात् अनुकूल संयोग क्या है ? उसका विचार करना, बादमें ‘गवेषणा’ अर्थात् प्रतिकूल धर्म कौन-कौनसे हैं ? इनकी विचारणा, तत्पश्चात् ‘चिन्ता’ अर्थात् ऐसा क्यों हुआ ? अब अभी इसका क्या किया जायँ तथा भविष्यमें उसके विषयमें क्या-क्या सोचें आदि त्रैकालिक पर्यालोचन किया जाता है । ये प्रस्तुत संज्ञाके धर्म हैं ।

उत्तरोत्तर उक्त विचारोंको सर करनेके बाद अब ‘विमर्श’ अर्थात् निर्णय करता है कि “यह चीज इस प्रकारकी ही हो सकती है, यह चीज भूतकालमें अमुक प्रकारकी ही थी और भविष्यमें उसका ऐसा ही होगा” यह जिस प्रकार कोई आँसोवाला मनुष्य चिराग आदिकी रोशनीके सहायसे पदार्थका ज्ञान स्पष्ट रूपसे प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार यह विमर्श, मनोलब्धि सम्पन्न ऐसे मनोद्रव्यके आलम्बनसे उत्पन्न होता है । जिससे पूर्वापर अनुसंधान करने यथावस्थित अर्थनिर्णय कर सकता है ।

इसकी संक्षिप्त परिभाषा यह है कि—कोई भी चीजक अतीत, वर्तमान तथा अनागत ये तीनों काल संबंधी अर्थका अपने क्षयोपशमके अनुरूप सोचनेवाली जो शक्ति है, उसे ‘दीर्घकालिकी’ संज्ञा कहा जाता है । ऊपरके कथनानुसार ऐसी संज्ञावाला जीव कुछ साल पहले अमुक कार्य अमुक रीतसे किया था, इसका नतीजा अमुक आया था, अब आज उस प्रकारसे करनेपर कौनसा नतीजा सामने आयेगा और भविष्यमें भी इसका नतीजा क्या आयेगा ? इस प्रकारकी दीर्घ, लम्बा, गहरा, साधक-बाधक संयोगोंका स्याल करनेपूर्वक वैचारिक शक्ति रखता है । यह संज्ञीकी बात हुई ।

६६५. दीर्घवर्तीको सिर्फ ‘कालिकी’ शब्दसे भी पहचाना जा सकता है । दीर्घकालिका जिसमें स्मरण हो वह ।

६६६. उपदेशः कथनम्—इस प्रकार उपदेश शब्दका अर्थ ‘कथन’ भी कर सकते हैं ।

६६७. संज्ञानं संज्ञा, सम्यग्ज्ञानातीति संज्ञा ।

अब जो लोग ईहासे लेकर विमर्श तककी विचारणा करनेमें अशक्त है उसे 'असंज्ञी' कहा जायेगा। इसमें समूर्च्छिम पंचेन्द्रियसे लेकर पृथ्वीकाय तकके जीव आ जाते हैं। यद्यपि इन्हीं समूर्च्छिम पंचेन्द्रियोंको मनोद्रव्यग्रहणाभावके कारण स्पष्ट द्रव्यमन न होनेसे असंज्ञी कहा है, लेकिन इनमें सर्वथा समझ नहीं होती है ऐसा नहीं समझना चाहिए। स्वरूपतर मनोलब्धिका (भावमनका) अस्तित्व तो इनमें भी होता है जिसके कारण वे उत्तरोत्तर अस्फुट अर्थको समझ सकते हैं। इसलिए उनके लिए भी अव्यक्त और अतीव अरूपतर कुछ भावमन स्वीकारना ही पड़ेगा। एकेन्द्रिय वनस्पत्यादिमें अव्यक्तरूपसे (अस्पष्टरूपसे) आहारादि दस संज्ञाएँ जो देखी जाती हैं ये सब इसी भावमनके कारणसे हैं।

शास्त्रोंमें 'संज्ञी-असंज्ञी' जीव इत्यादि जो शब्द आते हैं, वहाँ सामान्य कक्षाकी आहारादि संज्ञावाले जीवोंको छोड़कर विशिष्ट प्रकारकी समझदारी रखनेवाले सिर्फ दीर्घकालिकी संज्ञायुक्त जीवोंको समझना चाहिए। इस बातका ख्याल हमेशा रखें।

यह दीर्घकालिकी संज्ञा मनःपर्याप्तवाले गर्भज पंचेन्द्रिय मनुष्य, तिर्यच, देव तथा नारकोमें देखी जाती है।

२. हेतुवादीपदेश (हेतुवादिकी) — 'हेतुका अर्थ है—कारण अथवा निमित्त'। इस प्रकारसे हेतुका जिसमें कथन होता है उसे हेतुवाद कहा जाता है और उसी वादका उपदेश (प्ररूपणा) जिसमें होता है उसे हेतुवादिकी संज्ञा कहा जाता है। यह इसका शब्दार्थ हुआ।

अब इसका भावार्थ यह है कि—अपने शरीरके परिपालनके लिए जो जीव बुद्धिपूर्वक इष्ट पदार्थमें या कार्यमें प्रवृत्ति तथा अनिष्ट पदार्थ या कार्यसे निवृत्ति रखते हैं वैसे जीव हेतुवादिकी संज्ञावाले हैं।

ऐसे जीव धूप लगते ही मनसे सोचकर धूपसे छाँवमें और ठंड लगते ही उससे बचनेके लिए धूपमें लाभ लेनेके लिए दौड़ जाते हैं। यद्यपि उनके सुख-दुःखका यह

६६८. आहारादि संज्ञाएँ तो है लेकिन वे ओषध्य सामान्य प्रकारकी और अत्यल्प तथा मोहोदयजन्य है। इसलिए उनका ग्रहण यहाँपर अनुचित और असंगत है। अतः यहाँ तो शुभ मानी जाती ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमजन्य दीर्घकालिकी आदि संज्ञाओंका ग्रहण ही समझें।

६६९. 'संप्रधारण' संज्ञा यह इसका दूसरा नाम है।

६७०. कोई-कोई ग्रन्थमें कोई अपेक्षासे पहले हेतुवादीपदेश और बादमें दीर्घकालिकी ऐसा क्रम है। लेकिन सिद्धान्तकारोंको यह क्रम मान्य नहीं है। वे तो इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि शास्त्र-सिद्धान्तमें संज्ञी-असंज्ञी जीवोंका ग्रहण होना यह कोई दूसरी या तीसरी संज्ञासे नहीं, लेकिन पहली 'कालिकी' संज्ञासे संज्ञी हो उनका ही ग्रहण होता है। इसकी प्रतीति करानेके लिए उक्त क्रम योग्य है।

तर्क प्रायः वर्तमानकाल तक ही सीमित होनेसे कईवार ऐसा भी बनता है कि वर्तमान समयके दुःखसे ऊबकर उससे छुटकारा पानेके लिए सुखका मार्ग खोजते हैं। लेकिन भूत-भविष्यको परस्पर संकलित विचार करनेकी विशिष्ट बुद्धिके अभावसे कईवार सुखके लिए की गयी प्रवृत्ति दुःखका कारण बन जाती है और अतीतके अनुभवोंकी स्मृति भी रहती नहीं है। और भावि सोच-विचार करनेकी तीव्र शक्ति न होनेसे वे धूपको छोड़कर छाँवमें चले तो जाते हैं लेकिन यह जगह दूसरे प्रकारसे अधिक कष्टदायक हो जायेगी इस बातका ध्यान नहीं रखेंगे। क्योंकि यह संज्ञा विशेष करके वर्तमान समयका ही बोध कराती है।

यह संज्ञा दो इन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके समस्त संमूर्च्छिम जीवोंमें होती है इसलिए उन्हें भी 'संज्ञी' तो मानना पड़ेगा ही।

दूसरी एक बात यह भी समझ लीजिए कि—पृथ्व्यादि पाँच एकेन्द्रिय जीवोंको भी इसी संज्ञासे 'असंज्ञी' माना जाता है। ये जीव भी बुद्धिपूर्वक इष्टानिष्ट प्रवृत्ति-निवृत्ति करते नहीं हैं। यद्यपि आहारादि संज्ञा होनेसे इन्हीं जीवोंके लिए भी 'संज्ञी' विशेषणका प्रयोग क्यों न करे ऐसा तर्क हो सकता है, लेकिन ऊपर देख आये हैं उस प्रकार अत्यंत अव्यक्त रूप होनेसे उसे यहाँ छोड़ दिया है।

३. द्रष्टिवादोपदेश (द्रष्टिवादोपदेशिकी)—प्रथम शब्दार्थ—भावार्थको देखते हैं। द्रष्टि=दर्शन और वाद=उसका कथन, अर्थात् द्रष्टिवादका कथन उपदेशकी अपेक्षाको बतानेवाली जो संज्ञा है वह।

दूसरा अर्थ सम्यग्दर्शनादि संबंधक कथनकी अपेक्षायुक्त अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्श्रुतज्ञानकी अपेक्षायुक्त जो संज्ञा है उसे द्रष्टिवादोपदेशिकी कहा जाता है।

इन समीका संकलित अर्थ यह हुआ कि—जो जीव निश्चित सम्यग्दृष्टि होते हैं और अपने विशिष्ट श्रुतज्ञानके क्षयोपशमवाले और योग्य रूपसे हिताहितमें प्रवृत्ति-निवृत्ति करनेवाले हैं उन्हें द्रष्टिवादोपदेशिकी संज्ञावाले जीव कहे जाते हैं।

यों तो यह संज्ञा सम्यग्दर्शनकी अपेक्षासे चारों गतिमें होती है, लेकिन यहाँ पर मुख्यतः विशिष्ट श्रुतज्ञान तथा विशिष्ट चारित्रको लक्षित करके ही कथन किया जाता है, इसलिए मनुष्योंको लेकर ही यह संज्ञा घटित की जाती है। जिन मनुष्योंमें सम्यग्दर्शन इत्यादि गुण होते हैं उन्हें ही यह संज्ञा प्राप्त हो सकती है।

इनमें प्रथम संज्ञा त्रिकालविषयिकी, दूसरी वर्तमानविषयिकी तथा तीसरी मोक्ष-मार्गाभिमुखी है। इन सबमें तीसरी संज्ञा सर्वोत्तम प्रकारकी है। इसलिए इस संज्ञाका आविर्भाव हो ऐसी भावना-आकांक्षा रखनी चाहिए।

२२. गई (गति)—इसका अर्थ होता है गमन। अथवा जीव कहाँ कहाँ उत्पन्न होते हैं यह। इसकी व्याख्या हमने इसी ग्रन्थके प्रारंभमें ही बता दी है।

२३. आगई (आगति)—किन-किन गतियोंसे जीव किस-किस गतिमें आते हैं उसे बताना ही आगति है। इसकी व्याख्या भी अनुवादमें इससे पूर्व आ गयी है।

२४. वेए (वेद)—इस पदके अनेक अर्थ हैं। लेकिन यहाँ पर इसका एक ही अर्थ 'मैथुनाभिलाष' अभिप्रेत है। यह अभिलाष पुरुष (वेद) स्त्री (वेद) तथा नपुंसक (वेद) इत्यादि तीन प्रकारसे प्रख्यात है।

१. पुरुषवेद—जिस प्रकार श्लेष्मके रोगीको खट्टी चीजोंके प्रति स्वाभाविक आकर्षण रहता है, उसी प्रकार इस वेदकर्मके उदयसे पुरुषोंके लिए विजातीय रूप मानी जाती स्त्रियोंके प्रति दर्शन, स्पर्शन तथा समागम आदिकी जो इच्छाएँ—वासनाएँ पैदा होती हैं उसे पुरुषवेद कहा जाता है।

इस प्रकारका वेदोदय पुरुषोंमें मिलता है। यह वेद घासमें अग्नि समान है। अर्थात् जिस प्रकार कोई घासको जलाता है तो घास एकदम धधककर बादमें तुरंत बुझ जाता है, उसी प्रकार स्त्री दर्शनसे प्रारंभ होता हुआ वेदोदय स्पर्शनादिसे आगे बढ़ता हुआ स्त्रीके साथ समागम (मैथुनक्रीड़ा) हो जानेके (प्रायः) बाद तुरंत शम जाता है।

२. स्त्रीवेद—पित्त प्रकोपवालोंको जिस प्रकार मधुर द्रव्यके प्रति स्वाभाविक रूपसे अभिलाषा जनमती है, उसी प्रकार इस वेदके उदयसे स्त्रियोंमें विजातीय पुरुषके प्रति दर्शन, स्पर्शन तथा यावत् समागम तककी अभिलाषा—इच्छा प्रकट होती है।

इसका वेदोदय स्त्रियोंमें मिलता है। इसे उपलेकी अग्निकी उपमा दी गयी है। अर्थात् जैसे उपलेका अग्नि एक छोरसे सुलगकर बादमें धीरे धीरे आगे बढ़ता हुआ पूरे उपलेको ही जला देता है तथा लम्बे अरसे तक जलता ही रहता है, वैसे पुरुषके दर्शनादिकसे यह वेदाग्नि प्रकट होकर स्पर्शनादिकी आहूतिसे बढ़ता हुआ अंतमें समागम तक पहुँचकर शमन होनेके बाद भी टिकी रहता है, अर्थात् यह शीघ्र उपशान्त होता नहीं है।

३. नपुंसकवेद—जिस प्रकार पित्त तथा श्लेष्म (कफ)के दरदीको मज्जिकके प्रति सहजरूपसे रूचि—आकर्षण प्रकट होता है, उसी प्रकार नपुंसकवेद कर्मके उदयसे स्त्री—पुरुष दोनोंके प्रति मैथुनादि सेवनकी स्वाभाविक इच्छा प्रकट होती है।

प्रकट होनेके बाद यह इच्छा इतनी तो प्रबल बनती है कि इसका शमन जल्दी होता नहीं है और लम्बे काल तक सेवनके बाद ही तृप्त होता है। इसलिए इस वेदकी इच्छाको 'नगरकी आग'की उपमा दी गयी है। जिस प्रकार नगरकी आग एक साथ—संलग्न बसवाटवाले—बस्तीवाले घरोंको एकके बाद एक सुलगाती जाती है और बहुत लम्बे कालके बाद बुझ जाती है।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पुरुष, स्त्री या नपुंसकको पहचाननेके लिए कोई चिह्न (लिङ्ग) है क्या? तो उत्तर है—हाँ है।

पुरुषलिङ्ग—शरीरमें विद्यमान सात धातुओंमेंसे 'शुक्र' (वीर्य) धातुके साथ साथ चेहरे पर दाढ़ी—मूँछ, सीना तथा पैर पर बाल, शारीरिक कठोरपन, ताकत, पराक्रम, निडरता, लज्जाशीलताका अभाव, गंभीरता तथा धैर्य इत्यादि होता है। और स्पष्ट मूत्र-द्वार युक्त पुरुष चिह्न अर्थात् लिङ्गाकार गुप्तेन्द्रिय होती है, उसे पुरुष—नर कहा जाता है।

स्त्रीलिङ्ग—इसमें यहाँ सात धातुओंमेंसे शुक्रके स्थान पर 'रज' होती है। योनि, शारीरिक सुकोमलता, दाढ़ी—मूँछका पूर्ण अभाव, छाती—पैर पर भी बालका बहुधा अभाव, शारीरिक सुकोमलपन, नाजुकता, शिथिल मनोबल, लज्जा, तुच्छता तथा चपलता (चांचल्य) आदि अनेक गुण होते हैं। साहजिक चपलता, साहस, माया, कपट, बिना बजह असत्य बोलनेकी बुरी आदत, शारीरिक शृंगारमें अधिक आसक्ति इत्यादि गुण जिसमें होते हैं उसे स्त्री—नारी कहते हैं।

नपुंसकलिङ्ग—इसमें पुरुष और स्त्री दोनोंके चिह्नोंका अस्तित्व—नास्तित्व देखा जाता है। अर्थात् इसमें कुछ चिह्न (लक्षण) पुरुषके मिलते भी है और नहीं भी मिलते हैं। उसी प्रकार स्त्रीके भी कुछ लक्षण मिलते भी है तो कुछ नहीं भी मिलते हैं। अर्थात् इसमें दोनोंकी मिश्रता देखी जाती है।

यद्यपि नपुंसकलिङ्गके भी अनेक भेद हैं। लेकिन यहाँ दो भेदोंका ही दिग्दर्शन पर्याप्त है।

योनि—स्तनके साथ साथ पुरुषका चिह्न तथा मूँछ भी हो तो उसे 'स्त्री—नपुंसक' और योनिकी जगह पर अगर पुरुष चिह्नके साथ दाढ़ी—मूँछ तथा स्त्री लक्षण स्वरूप इरपोक

स्वभाव, कमर पर हाथ रखकर रास्तेमें लटक-मटककर बोलना—चलना, संक्षिप्तमें स्त्री जीवन प्रधान गुणोंका प्राधान्य हो ऐसा पुरुष नपुंसक कहलाता है। इसलिए उसे 'पुरुष-नपुंसक'के रूपमें पहचानते हैं।

इस प्रकार तीन वेदके साथ तीन लिंगका भी संबंध होनेसे उनका स्वरूप यहाँ समझाया गया है। [३४५]

इस प्रकार चौबीस द्वारोंका वर्णन समाप्त हुआ

अवतरण—प्रथम '३४३' गाथा पूर्ण होते ही ग्रन्थ समाप्त तो हो ही गया था लेकिन तदनन्तर ग्रन्थकारने ही लघुतर संग्रहणीकी दो गाथाएँ जो बतायी थीं वे भी पूर्ण हो गयी हैं। इनमें '३४३' गाथाओंमें तो ७२ गाथाएँ प्रक्षेपात्मक थीं। आगमोक्त सुप्रसिद्ध लघुतर संग्रहणी स्वरूप दो (३४४-३४५) गाथाएँ भी सविस्तारसे कह चुके हैं। लेकिन अब कुल चार गाथाओंका अर्थ कहते हैं। ये गाथाएँ श्रीचन्द्रमहर्षिका संतानोंने अथवा अन्य किसीने क्षेपकके रूपसे रख दी है। यद्यपि यहाँ पर वे गाथाएँ प्रस्तुत भी नहीं हैं, लेकिन पहली आवृत्तिमें दी गयी थी इसलिए पुनः देता हूँ। इस गाथामें अठारह भावराशियोंके नाम मिलते हैं।

तिरिंआ मणुआ काया, तहाऽग्गंबीआ चउक्का चउरो ।

देवा नेरइया वा, अट्ठारस भावरासीओ ॥ ३४६ ॥

[प्र. गा. सं. ७३]

गाथार्थ—१. तिर्यंच, २. मनुष्य, ३ काय और ४. अमबीज आदिके चार चतुष्कोको निम्नानुसार समझें।

१. तिर्यंच चतुष्कमें—दोइन्द्रिय, तीइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीव।
२. मनुष्य चतुष्कमें—कर्मभूमि, अकर्मभूमि, अंतर्द्वीप तथा संमूर्च्छिम जातिके।
३. काय चतुष्कमें—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस (तेज)काय तथा वायुकायका ग्रहण करें।
४. अमबीजोंमें—मूलबीज, स्कंधबीज, अमबीज तथा पर्वबीज।

इस प्रकार कुल १६ भेद हुए। अब देव तथा नरकको मिलाकर कुल १८ भेद भावराशिके समझें। ॥ ३४६ ॥

६७२. नपुंसक अनेक प्रकारके होते हैं। पुरुषके रूपमें जन्म लेनेके बाद पीछेसे वह स्त्री रूप तथा स्त्री रूपमें जन्म लेनेके बाद पीछेसे वह पुरुष रूप भी बन जाते हैं। इस प्रकार पीछेसे-भी नपुंसक बन जाते हैं।

विशेषार्थ—यहाँ पर गाथाके क्रमानुसार ही अर्थका क्रम लिखा गया है, लेकिन आत्मिक विकासकी प्रारंभिक दृष्टिसे तो अग्रबीज, काय, तिर्यच तथा मनुष्य इस प्रकार भी क्रम रखा जाये तो भी गलत नहीं होगा।

ये भावराशियाँ क्यों बनायी होगी? तो अध्यात्म भावना व्यक्त करनेके लिए ही बनायी होगी ऐसा लगता है।

भावना किस प्रकारसे व्यक्त करें?

तो सुबहमें उठकर, स्वस्थ बनकर यह चिंतन करे कि मैं कौन हूँ? इसका उत्तर है—मैं आत्मा हूँ। कहाँसे आयी हूँ? तो मैं अपने आप यों ही पैदा नहीं हुआ अथवा अपने आप आकाशमेंसे पैदा नहीं हुआ हूँ, लेकिन अन्य किसी जन्ममेंसे मैं आया हूँ। और जब तक मुक्त दशा—मोक्ष नहीं मिलेगा, तब तक मरकर अन्यान्य जन्मोंमें चौरासीके चक्रमें घूमता ही रहूँगा, इत्यादि।

सबसे पहले १८ भावराशियोंमें उपर्युक्त तीनों प्रश्नोंको सोच लेना है। जैसे कि, मेरी आत्मा अनादिकालसे कहाँ थी? तो आत्माके जीवनका मूलस्थान निगोद (साधारण वनस्पतिकाय) जो अत्यन्त अविकसित दशायुक्त है वहाँ थी और वहाँ अव्यक्तरूपसे महाकण्टोको भुगतकर तथा भव्यताके योगसे बादर निगोदमें आयी और वहाँसे प्रत्येक वनस्पतिमें आती हुई अग्रबीज चतुष्कमें उत्पन्न हुई। वहाँ सृष्टिकी सभी वनस्पतियोंके रूपमें जनम धारण किया और इस प्रकार करते—करते अकाम निर्जराके योगसे कायचतुष्क पृथ्वी, जल, तेज, तथा वायुकायके भवोंमें परिभ्रमण किया। फिर वहाँसे भी ऊपर उठनेके योग प्राप्त होते ही क्रमशः तिर्यच चतुष्क अर्थात् दोइन्द्रिय, तीइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय, संज्ञी—असंज्ञी तिर्यच पंचेन्द्रिय अर्थात् पशु—पक्षी आदिके भवोंको धारण किया, तदनन्तर मनुष्य चतुष्कमें अर्थात् अकर्मभूमि, कर्मभूमि तथा ५६ अंतर्द्वीपमें मनुष्यरूप जन्म धारण किए। इतना सोचनेके बाद वह स्वयं मूल बात पर आ जाये कि, हालमें मैं संज्ञी—पंचेन्द्रिय मनुष्यके रूपमें इस भवमें हूँ। वर्तमानमें मुझमें बुद्धि, शक्ति, विवेक, समझ ये सब यथायोग्य है, तो फिर अब मेरा कौन—कौनसा फर्ज रहता है? इत्यादि सोचें। इतना ऊपर उठनेके बाद अब मुझे किस प्रकारका जीवन जीना चाहिए, उसे सोचना चाहिए। श्री तीर्थंकर देवोंने जिस प्रकारका जीवन जीनेको कहा है उसी प्रकारका त्याग और वैराग्ययुक्त जीवन अगर नहीं जीऊँगा तो मेरा क्या होगा? इतना ऊपर उठनेके

बाद तथा इतनी विकासशील दशा प्राप्त होनेके बाद फिरसे पुनः तु जो नीचे पटक जायेगा, तो पुनः एकदम अविकसित दशायुक्त भवमें फिरसे चला जायेगा। इसलिए चेतन! आरंभ, समारंभ, पापकी प्रवृत्तियाँ छोड़ दे। निर्मल तथा पवित्र जीवन जीना सीख लें! सर्वथा चारित्रिकी प्राप्ति न कर सके तो देशविरति चारित्रिका स्वीकार कर लें; और इतना एक नियम बना ले कि कमसे कम हिंसासे अगर जीवन निर्वाह हो सके तो अधिक हिंसा नहीं करेगा तथा कमसे कम जरूरतसे चल सके तो अधिक जरूरत कमी भी न रखें। ये दो सामान्य नियम भी होंगे तो भी जीवन बहुत उन्नत, सुख-शान्तियुक्त तथा धर्ममय बन जायेगा! जीवनमें अहिंसा, संयम तथा तपका प्रकाश फैल जायेगा। इसके फलस्वरूप उत्तरोत्तर अनेक मानसिक, वाचिक, कायिक दुःखों तथा क्लेशोंका अंत हो जायेगा और जीवन धन्य बन जायेगा। जीवन मुक्त दशाके पथ पर तु आगे बढ़ता ही जायेगा और परंपरासे अनंत सुखका स्थान स्वरूप मुक्तिसुखका अधिकारी बन जायेगा। [३४६] (प्र. गा. सं. ७३)

अवतरण—अब यहाँ अप्रस्तुत गाथा दी जाती है जो कितनी आवलिकाओंसे एक मुहूर्तकालमान बनता है? यह बात बताती है।

एगाकोडी सतसट्टी-लक्खा सत्तहत्तरी सहस्सा य।

दोय सया सोलहिआ, आवलिया इगमुहुत्तम्मि ॥ ३४७ ॥

(प्र. गा. सं. ७४)

गाथार्थ—एक करोड़, सडसठ लाख, सतहत्तर हजार, दो सौ सोलह [१, ६७, ७७, २१६] आवलिकाओंका एक मुहूर्त बनता है अर्थात् उतनी आवलिकाओंसे एक मुहूर्त कालमान होता है। ॥ ३४७ ॥

विशेषार्थ—अन्य भारतीय संस्कृतियोंमें कालमान वाचक मुहूर्त, घड़ी (घटी), पल, त्रिपल आदि अनेक शब्द हैं। पाश्चात्य देशोंमें घण्टा, मिनट, सेकण्ड आदि शब्द हैं। यद्यपि भारतीय जैन संस्कृति यह सर्वज्ञमूलक है, इसलिए इसमें उनसे भी अधिक सूक्ष्मतर कालमान वाचक अनेक शब्द हैं। इसी जैन संस्कृतिमें सूक्ष्मतर मानके लिए समय शब्दका प्रयोग किया जाता है। इस समय शब्दके बाद तुरंत ही आवलिका नामसे पहचाने जाते कालमान है, तदनन्तर मुहूर्त मान आता है। इस मानकी सूची (तालिका) इसी ग्रन्थके पृष्ठ २८ से ३१ तक दी गयी है।

- जब असंख्य समय [चतुर्थ जघन्य युक्त^{१०} असंख्याताके जितना] एक साथ मिलते हैं तब एक आवलिका बनती है और ऐसी १६७७७२१६ आवलिकाएँ पसार होती है तब एक मुहूर्त होता है। यह मुहूर्त वर्तमानकालमें प्रचलित अंग्रेजी कालमानके साथ नापनेसे ४८ मिनटका बनता है। दूसरे अर्थमें देखें तो २४ मिनटकी एक घड़ी, ऐसी दो घड़ी अथवा ४८ मिनटका एक मुहूर्त बनता है।

प्रिय वाचकगण ! जरा कल्पना तो कीजिए कि एक मिनटकी आवलिकाएँ कितनी हुई ? तो करीबन् साडेतीनलाख। तो कहिए कि कितने सूक्ष्म कालमान सर्वज्ञकेथित जैन दर्शनमें दिखाए गए हैं। तब समय मान कितना सूक्ष्म होगा इसे कल्पनासे सोच लें।

आजके आविष्कारक (वैज्ञानिक) एटम तथा स्पुतनिक (कृत्रिम-मानव सर्जित उपग्रह) रॉकेटोंकी आश्चर्यजनक खोज भले ही करें, लेकिन तीर्थंकर सर्वज्ञके चैतन्यविज्ञानको तथा उनकी अंतिम सूक्ष्मताओंको वे कदापि लौघ नहीं सकेंगे, यह एक निर्विवाद इकीकृत है। तीर्थंकर सर्वज्ञ तो अणुको भी देख-जान सकते थे। आजके वैज्ञानिक उसी अणुशक्तिसे एक सेकण्डके अरबोंवे भागको भी नापनेमें जो समर्थ बने हैं और अभी तो आगे बढ़ते ही जाते हैं, फिर भी वे असर्वज्ञ=छद्मस्थ ज्ञानद्रष्टि 'परमाणु'को खोज नहीं सकेंगे। अरे ! 'समय'को भी नाप सकेंगे नहीं। क्योंकि 'परमाणु' ही सबसे अंतिम पदार्थमान है तो 'समय' सबसे अंतिम कालमान है। (एक सेकण्डके असंख्यातवे भाग पर समय मान आता है) इन दोनों मानों-प्रमाणोंको सर्वज्ञके बिना देखनेमें कोई समर्थ नहीं है, और इस मानको जाननेके लिए यांत्रिकशक्तिका सहकार कमी भी सफल हो सकेगा ही नहीं।

पदार्थ तथा कालकी सूक्ष्मता और स्थूलताके अंतिम रहस्यको भी आजका विज्ञान भले ही नहीं लौघ सकता, फिर भी आजका भौतिक विज्ञान ही सर्वज्ञकेथित सत्त्योंकी सहायताके लिए एकदम ही साथ साथ आगे बढ़ रहा है। शास्त्रोंकी कुछ बातोंको आजका बुद्धिमान वर्ग अथवा अल्पश्रद्धालु या अश्रद्धालु वर्ग हँसकर जो टाल देता था तथा उसका मजाक उड़ाता था और अशक्य कहकर असत् मानता था उन्हीं अनेक शास्त्रीय कथनोंको विज्ञान आज तादृश कर रहा है। (मैं इसकी सूची तथा तुलना आमुख-प्रस्तावनामें करना चाहता हूँ।)

६७३. संख्य, असंख्य तथा अनंतकाल किसे कहते हैं ? इसका विस्तृत स्वरूप जाननेके लिये मेरी लिखी हुई 'बृहत्संग्रहणी सूत्रके पाँच परिशिष्टों' नामक पुस्तिका पढ़िए।

यद्यपि विज्ञान ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जायेगा त्यों त्यों नये नये चमत्कारिक आविष्कार देखनेको जरूर मिलेंगे और तब काल तथा नापकी सूक्ष्म गिनती तथा कुब्जेक सर्वज्ञकथित सिद्धान्तोंकी त्रैकालिक सत्यता सामने आती जायेगी। अभी-अभी ही 'अमेरिकन रीपोर्ट' में यह प्रकट हुआ है कि "अमेरिकामें एक ऐसी अणुघड़ी तैयार हुई है जो एक ही सेकण्डमें २४ अरबों बार 'टिक-टिक' अवाज करेगी। इसके अतिरिक्त एक मिनटमें छः करोड़ तस्वीर खींच सके वैसा एक कैमेराका भी संशोधन हुआ है," आदि। यद्यपि यह बात शास्त्रके किसी पन्ने पर लिखी हुई मिलती तो आजका मनुष्य उसे गलत या असंभव कहकर मजाकमें उड़ा देता, लेकिन यह बात वैज्ञानिकोंने कही है इसलिए निःशंक होकर तथा बिना कोई तर्क उठाये माननेको तैयार हो जायेगा। हमारे शास्त्रोंमें यह बात मिलती है कि एक निमेष मात्रमें (आँसूका एक ही पलकभरमें) असंख्य समय गुजर जाते हैं। कुछ समयके बाद आजका विज्ञान इसी बातका समर्थन करता हुआ कोई एलान जरूर करेगा ही।

हे प्रिय वाचकगण। यदि जड़विज्ञान सेकण्डके अरबोंवें भागका संशोधन कर सकता है तथा पदार्थके एक इंचके दस करोड़वें अथवा उनसे भी अधिक भागोंका नाप बता सकता है, तो फिर आत्माका यह चैतन्यविज्ञान पदार्थके सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुको तथा कालके समयको बता सके इसमें कौनसा आश्चर्य रहता है ? [३४७]

(प्र. गा. सं. ७४)

अवतरण—अब पूर्वोक्त आवलिकाओंके कालमें अथवा एक मुहूर्तकालमें जीव अधिकसे अधिक कितने भव कर सकता है ? उसे बताते हैं।

पणसट्टि सहस्र पणसय, छत्तीसा इगमुहुत्त खुड्भवा ।

दोय सया छप्पन्ना, आवलिआ एगखुड्भवा ॥ ३४८ ॥

(प्र. गा. सं. ७५)

गाथार्थ—एक मुहूर्त अथवा १,६७,७७,२१६ आवलिका जितने समयमें जीव (निगोदावस्थामें) ६५५३६ क्षुद्र-अरूपातिअरूप भव करते हैं। इस प्रकार एक क्षुल्लक भव २५६ आवलिका प्रमाण हुआ। ॥ ३४८ ॥

विशेषार्थ—चार गति और उनकी ८४ लाख जीवायोनिमें ज्यों सागरोपम जितने बड़े बृहद्काल प्रमाणके भव है, त्यों साल, दिवस, मुहूर्त अथवा घड़ी इत्यादि मानवाले

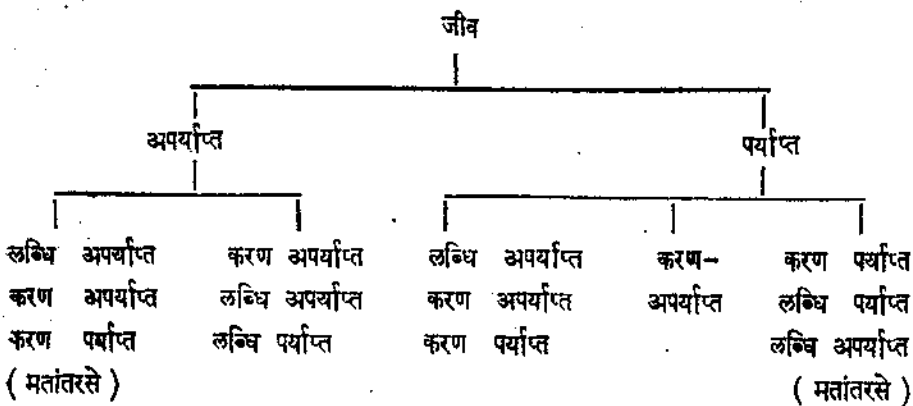
मी अनेक भव हैं। लेकिन इनमें सबसे अल्पतम मानवाला भव कौनसा है? ऐसा कोई प्रश्न करें तो इसका उत्तर एक ही है—२५६ आवलिकाओंका। इस लिए इसको कुलक भवरूप पहचानवाया जाता है। इससे कम आवलिकाका भव कभी होता ही नहीं है। इस जीवका लघुतम संसार २५६ आवलिकाका है।

महानुभाव ! संसारकी विषम विचित्रताएँ और आयुष्यकी क्षणभंगुरताका विचार तो कीजिए ! हम भी ऐसे अल्पतम मानवाले भवोंमें अनेकवार जन्म-मरण कर चुके हैं। अब फिरसे उसी महादुःस्वदायी यात्रा पर पहुँच न जायँ इस लिए आप सबको आरंभ समारंभोंको तथा पापाचरणोंको छोड़कर, पवित्र अहिंसामय धर्माचरणमें और आगे बढ़नेके लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए। [३४८] (प्र. गा. सं. ७५)

॥ ऋजु-वक्रागतिमें आहारमान यन्त्र ॥ [गाथा-३३०]

गतिप्रकार	व्य. नयसे कालमान	निश्चय नयसे कालमान
ऋजु	१ समय	अनाहारीपन नहीं है
एकवक्रा	२ "	१ समय
द्विवक्रा	३ "	२ "
त्रिवक्रा	४ "	३ "
चतुर्वक्रा	५ "	४ "

॥ पर्याप्त-अपर्याप्त भेद व्यवस्था यन्त्र ॥ [गाथा-३३८]



॥ पाँच प्रकारके शरीरोंमें अनेक विषय स्थापना प्रदर्शक यन्त्र ॥ [गाथा-३४४]

उपयुक्त द्वार	औदारिक शरीर	वैक्रिय शरीर	आहारक शरीर	तैजस शरीर	कामंज शरीर
१. कारणकृत विशेष	स्थूल पुद्गल्लोका	औदारिकसे सूक्ष्म	वैक्रियसे सूक्ष्म	आहारकसे सूक्ष्म	तैजससे सूक्ष्म
२. प्र. सं. कृत वि.	अति अल्प	औ. से असंख्यगुना	वै. से असंख्यगुना	आहा. से अनंतगुण	तै. से अनंतगुण
३. स्वामिकृत विशेष	सर्व त्रिविध, मुख्य	देव-नाटक ग. तिरिनरो वा. प. वायुकायको	कुछ १४ पूर्वधरको	सर्व संसारी जीवोंको	सर्व संसारी जीवोंको
४. विषयकृत विशेष	ऊर्ध्वपंडुकवन, त्रिविक् रुचकद्वीपके रुचकपर्वतपर	असंख्य द्वीप-समुद्र	महाविदेह तक	लोकान्त [और परभव जाते] तक	लोकान्त [विग्रह गतिमें]
५. प्रयोजनकृत विशेष	धर्माधर्म - मोक्षप्राप्ति	एक-अनेक, स्थूल वादर संघसहायादिक निमित्तक	सूक्ष्मसंशय छेदनेके लिए त्रिनशुद्धि दर्शनादि	भ्राप-वरदान-तेजोलैख्या अन्न पाचनदि	अन्य भवमें गतिमान
६. प्रमाणकृत भेद	साधिक १००० योजन	साधिक एक लाख योजन	१ मुण्डा हाथ	संपूर्ण लोकाकाश	संपूर्ण लोकाकाश
७. अवसाहनाकृत भेद	आहार से संख्यगुना प्रदेशमें	औदा. से संख्य गुना आकाश प्रदेशमें	असंख्य अवकाश प्रदेशोंमें	वैक्रियसे असंख्यगुण प्रदेशोंमें	तैजस तुल्यप्रदेश
८. स्थितिकृत भेद	जघ. अन्तर्मुं, उ. ३ पश्योपम	ज. १००० साल, उ. ३३ सा. उ. वै. चार अंतर्मुं. उ. अर्धमास	जघन्य अन्तर्मुहुत उत्कृष्ट अन्तर्मुहुत	मव्य और अनादि सान्त अमव्य और अनादि अनंत	तैजसकी परिभाषाके अनुसार
९. अस्पवद्भुत्व भेद	वै. से असंख्य गुना	असंख्य	९००० [उ. कालपर]	अनंत	अनंत
१०. अंतर एक जीवाश्रयी	साधिक ३३ सागरोपम	आवल्किा के असंख्य भाग, पुद्गल परावर्तके समय जितने	अर्धपुद्गल परावर्त	अन्तर नहीं है	अन्तर नहीं है
११. अनेकजीवाश्रयी	अन्तर नहीं है	अन्तर पड़ता ही नहीं है	ज. समय, उ. ६ मास	अन्तर नहीं है	अनंत कभी भी होता ही नहीं है

॥ षड् लेश्यावर्णादि विषयकयंत्र ॥ [गाथा-३४४]

लेश्यानाम	वर्ण	गंध	रस	स्पर्श	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१ कृष्णलेश्या	कृष्ण	दुरभिंगंध	कटुक तीखा	शीत-ऋक्ष	अन्तर्मुहूर्त	२ अन्तर्मुहूर्त अधिक ३३ सागरोपम
२ नीललेश्या	नील	"	"	"	"	पल्योपमासंख्येय भागाधिक १० सा०
३ कापोतलेश्या	कपोत वर्ण	"	तूरा	"	"	पल्योपमासंख्येय भागाधिक ३ सा०
४ तेजोलेश्या	रक्त वर्ण	सुरभिंगंध	मिष्ट	स्निग्ध-उष्ण	"	पल्योपमासंख्येय भागाधिक २ सा०
५ पद्मलेश्या	पीत वर्ण	"	मिष्टतर	"	"	दो अन्तर्मुहूर्त अधिक १० सागरोपम
६ शुक्ललेश्या	श्वेत वर्ण	"	मिष्टतम	"	"	दो अन्तर्मुहूर्त अधिक ३३ सागरोपम

॥ सप्तसमुद्घातमें सप्तविषय स्थापना यन्त्र ॥ [गाथा--३४४]

समुद्घातके नाम	स्थामि कौन	कालमान	व्यापित क्षेत्र	कौन से कर्म से ?	आकार	फल प्राप्ति	कितनी बार होती है ?
१ वेदना समु०	वेदनासे व्याकुल जीवको	अन्त-मुहूर्त	स्वदेह प्रमाण	अशान्ता वेदनीय	देह दंडाकार	वेदनीय कर्मकी अतिनिर्जरा	सर्व भवमें
२ कषाय समु०	कषायसे अति व्याकुल आत्मा	"	"	कषाय मोहनीय	"	कषायकी अतिनिर्जरा	अनंतबार
३ मृत्यु समु०	अयोगीको छोड़कर सभी जीवोंमें अन्तर्मु० आयु शेष रहता है	"	दीर्घ-उत्पत्ति क्षेत्र तक	आयुष्य	दंड कुहनी-हल-गोमूत्रिका	आयुष्यकी अति शीघ्र निर्जरा	"
४ वैक्रिय समु०	उत्तर वैक्रिय रचयिताको	"	संख्येय योजन	वै० शरीर नामकर्म	दण्डाकार	वै० कर्मनिर्जरा, ग्रहण	एक भवमें दो बार
५ तैजस समु०	तेजोलेश्या छोड़नेवाले जीवको	"	"	तैजस शरीर नामकर्म	दीर्घ दण्डाकार	तैजस कर्मनिर्जरा, ग्रहण	अनंत बार
६ आहारक समु०	लब्धिवंत चौदह पूर्वधरको	"	महाविदेह तक	आहा० देह नाम-कर्म	"	आ० कर्मनि० ग्रहण	भव चक्रमें ४ बार
७ केवली समु०	सद्योगी केवलीको	८ समय	संपूर्ण लोकाकाश	नाम-गोत्र वेदनीय नामकर्म से	दंड कषाय-मंथन लोकाकार	नाम-गोत्र-वेदनीय स्थिति आयुः जितनी होती है	सर्व भवमें एक बार

॥ पाँचों इन्द्रियोंके विषय सम्बन्धी भिन्न भिन्न विषयोंका स्थापना यन्त्र ॥ [गाथा-३४४]

नव प्रकार	१. स्पर्शनेन्द्रिय	२. रसनेन्द्रिय	३. घ्राणेन्द्रिय	४. चक्षुरिन्द्रिय	५. श्रोत्रेन्द्रिय
१. दीर्घ प्रमाण	अंगुलका असंख्यातर्वा भाग	अंगुलका असंख्यातर्वा भाग	अंगुलका असंख्यातर्वा भाग	अंगुलका असंख्यातर्वा भाग	अंगुलका असंख्या- तर्वा भाग
२. विस्तार प्रमाण	स्वदेह प्रमाण	आत्मांगुल पृथक्त्व	आत्मांगुलका असंख्या- तर्वा भाग	आत्मांगुलका असंख्या- तर्वा भाग	आत्मांगुलका असं- ख्यातर्वा भाग
३. उ० विषय ग्रहण अंतर	नव योजन (आत्मां- गुल पर)	नवयोजन पूर्ववत्	नव योजन पूर्ववत्	साधिक १ लाल योजन	१२ योजन (आत्मां- गुलसे)
४. ज० से विषय ग्रहण अंतर	अंगुलांसंख्य भाग	अंगुलांसंख्य भाग	अंगुलांसंख्य भाग	अंगुलांसंख्य भाग	अंगुलांसंख्य भाग
५. प्राप्यकारी या अप्राप्य- कारी	प्राप्यकारी	प्राप्यकारी	प्राप्यकारी	प्राप्यकारी	प्राप्यकारी
६. बद्धस्पृष्ट-स्पृष्ट या अस्पृष्ट ?	बद्धस्पृष्ट	बद्धस्पृष्ट	बद्धस्पृष्ट	अस्पृष्ट	स्पृष्ट
७. प्रमाण अल्पबहुत्व	रसनेन्द्रियसे असंख्य- गुना	घ्राणेन्द्रियसे असंख्य- गुना	श्रोत्रसे असंख्यगुना	सर्वसे अस्यावाहना	चक्षुसे संख्येयगुना
८. कितने प्रदेशवाली है ?	रसनेन्द्रियसे असंख्य- गुना	घ्राणे०से असंख्यगुना	श्रोत्रसे असंख्यगुना	अनंत प्रदेशी	चक्षुसे संख्येयगुना
९. द्रव्येन्द्रियां कितनी हैं ?	१	१	२	२	२

अवतरण—श्रीचन्द्रीयाके कर्ता सूरिवरकृत यह गाथा नहीं है। परंतु उनके गच्छके या परंपराके अथवा तो उनके प्रति आदर-सम्मान रखनेवाले किसी व्यक्तिने बनाकर जोड़ दी है। श्रीचन्द्रमहर्षिने तो मूलगाथा २७१ में ही मात्र स्वनामोल्लेख कर दिया है, परंतु वहाँ पर गच्छ या गुरुजीका नाम बताया नहीं है, अतः उसका निर्देश करने के लिए अथवा भविष्यमें प्रस्तुत महर्षि अन्य किसी गच्छके होंगे, ऐसा कोई मान न लें इस उद्देश से यह नूतनगाथा बनाकर जोड़ दी हो तो असंभव नहीं है। अपितु जो कुछ भी हो। यह गाथा एक नई वस्तुका भी सूचन कर देती है। वह यह कि—इस गाथा रचयिताने इस श्रीचन्द्रीया संग्रहणी को 'संग्रहणीरत्न' के नामसे परिचित किया है।

मलधारिहेमसूरीण सीसलेसेण विरइयं सम्मं ।

संघयणिरयणमेयं नंदउ जा वीरजिणत्तित्थं ॥ ३४९ ॥

गाथार्थ—मलधारिगच्छके श्री हेमचन्द्रसूरीश्वरजीके बालशिष्य श्री चन्द्रमहर्षिसे श्रेष्ठ रूपमें विरचित यह संग्रहणीरत्न अर्थात् इस नामका यह ग्रन्थ श्री श्रमण भगवान महावीरजिनका तीर्थ जब तक विद्यमान हो तब तक विद्यमान रहें! ॥ ३४९ ॥

विशेषार्थ—विक्रमकी बारहवीं शताब्दीमें विद्यमान महाराजा कर्णदेवसे संप्राप्त 'मलधारि' विरुद्धधारी श्री हर्षपुरीय गच्छके भूषणरूप श्रीमद् अंभयदेवसूरि महाराज (तीसरे) के पट्टरत्न श्रीमद् हेमचन्द्रसूरीजी और उन्हींके पाठ पर आये हुए उन्हींके शिष्य 'श्रीचन्द्र' नामके महर्षि हुए। उन्होंने यह सुंदर और श्रेष्ठ 'संग्रहणीरत्न' का निर्माण किया।

इस गाथामें 'संग्रहणीरयण' शब्द प्रयोजित है। अतः इस ग्रन्थको 'संग्रहणीरत्न' ऐसा नाम अर्पण करनेका लालच हमको भी हो जाए यह स्वाभाविक है और अमुक प्रकारसे योग्य भी है, परंतु ऐसा साहस तब ही किया जा सके जब मूलकर्ता या टीकाकारने वैसा नाम सूचित किया हो। तो प्रश्न अब यह रहा कि क्या मूलकर्ता या टीकाकारने वैसा नाम सूचित किया है? तो उत्तर है—नहीं। इस ग्रन्थ की ही अन्तिम मुद्रित गाथामें स्वकृतिको स्पष्ट रूपसे सिर्फ संग्रहणी नाम ही दिया है। टीकाकारने भी

६७४. नवांगी टीकाकारसे भिन्न । ६७५. कलिकालसर्वज्ञसे भिन्न ।

६७६. अलबत्ता पंद्रहवीं शताब्दी या उसके पूर्व तथा पश्चात् की संग्रहणीकी मूलगाथाकी संख्येय हस्तप्रतियोंमें संग्रहणी की गाथाएँ समाप्त होने पर 'इति श्री चन्द्रसूरिविरचित संग्रहणीरत्न समाप्त' इस प्रकारकी या लगभग इससे मिलती जुलती पंक्ति लिखकर सर्वने इस संग्रहणी को 'संग्रहणीरत्न' शब्दसे परिचित की है तथा असल गाथामान २७४ का पाया गया है।

वही नाम प्रस्तुत किया है। अतः आधार हीन 'रत्न' शब्द जोड़नेके प्रलोभनमें आकृष्ट होना मुझे उचित नहीं लगा।

साथ ही क्षेपक गाथाके रचयिताने श्रीचन्द्रमहर्षि के कृतिके प्रति प्रस्तुत आदर-भावसे लोकवर्ती पदार्थोंको रत्नकी तरह प्रकाशित करनेवाली होनेसे, स्वतंत्र नाम देकर, गर्भित रूपमें यह कृति 'रत्न' जैसी तेजस्वी तथा कीमती है ऐसे आर्थिक उद्देशसे अथवा तो जिनभेद्रीया से इसे भिन्न कही जा सके ऐसे किसी हेतुसे क्या इस शब्दका प्रयोग किया होगा ?

इस संग्रहणीको बृहत् ऐसा विशेषण लगाकर बृहत्संग्रहणी अथवा बड़ीसंग्रहणी इस नाणकी प्रसिद्धता कैसे हुई ? इसके लिए एक संभावित अनुमान यह किया जा सके कि इसी संग्रहणी ग्रन्थकी मूल २७२-२७३ तथा चालूसिर्फ ३४४ और ३४५ वीं इन दो गाथाओंको ही टीकाकारोंने 'लघुसंग्रहणी' शब्दका विरुद्ध दिया। अतः फिर सैकड़ों गाथाओंके संग्रहवाली संपूर्ण कृतिको, अभ्यासियोंने बृहद् विशेषण देकर प्रसिद्धि दी हो।

साथ ही हस्तलिखित प्रतिके अन्तमें "त्रैलोक्यदीपिका अथवा बृहत्संग्रहणी" ऐसा नाम भी मिलता है। अतः प्रथम आवृत्ति के प्रसंग पर मैंने भी इसी नामको प्रसिद्धि दी थी। यद्यपि उस समय पिछला विभाग शीघ्र पूर्ण करने का फर्ज पड़नेसे इस विषयमें विशेष संशोधन या विचार करनेका समय ही नहीं लिया था। साथ ही यह रचना तीनों लोक के पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाली तो है ही। अतः नामकी यथार्थता समझकर मैंने भी प्रस्तुत नामको ग्रन्थके मुख्य नामके रूपमें छपवाया था।

वर्तमानमें प्रचलित 'दंडक' नामके प्रकरणको भी उसके टीकाकार रूपचंद्र मुनिजीने दंडक प्रकरणकी टीका करते हुए किये गये "लघुसंग्रहणीटीकां, करिष्येऽहं मुदा" के उल्लेखसे दंडक प्रकरणको लघुसंग्रहणी शब्दसे सूचित करने लगते हैं। इसका कारण यह संभाव्य है कि भले ही ग्रन्थका नाम 'दंडक' है तथा चौबीसों दंडकोंकी गिनती सिर्फ एक ही गाथा में पूर्ण होती है लेकिन २४ द्वारोंवाली संग्रहणी रूप तीसरी

६७७. यदि इस कृतिका 'संग्रहणीरत्न' ऐसा नामकरण करें तो जिनभद्रीयासे स्पष्ट रूपमें अलग परिचय सरल हो जाए। यद्यपि आज तो दोनों कृतियाँ 'संग्रहणी सूत्र' अथवा 'बृहत्संग्रहणी' या बड़ी संग्रहणी (-या संग्रहणी) शब्दसे ही श्रीसंघको परिचित है। अतः नाममें सुधार करना या नहीं इसे सोचेंगे। संग्रहणी 'सूत्र' रूपमें भी प्रचलित होनेकी प्रबल प्रथा होनेसे मैंने भी इसी तरह परिचय दिया। लेकिन 'प्रकरण' कहना अधिक उचित है।

तथा चौथी ये दो गाथाएँ ही हैं, २४ दंडकमें इन्हीं गाथाओंका अवतरण महत्त्वपूर्ण रहा है। इन्हीं दो गाथाओंका प्राधान्य ध्यानमें रखकर समग्र कृतिको पूर्वाचार्योंने भी इसी नामसे सूचित की हो यह संभाव्य है। दंडकके टीकाकार भी दंडकको 'लघुसंग्रहणी' नाम देनेको लालायित हुए हो तो असंभाव्य नहीं है।

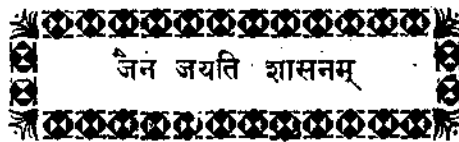
इस तरह यहाँ 'संग्रहणीरत्न,' व्यवहारमें बड़ी संग्रहणीके नामसे परिचित, अनेक विषयोंके भण्डार जैसा इस रोचक बोधक, महान् ग्रन्थका भाषान्तर पूर्ण हुआ।

अन्तमें देव—गुरु कृपासे शरीरके अत्यन्त प्रतिकूल संयोगोंके बिच भी पूर्णता प्राप्त यह अनुवाद पाठकोंके सम्यक् ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की पुष्टि, वृद्धिके लिए हो तथा सर्व के मंगल तथा कल्याण का निमित्त बनो ! यही एक अभ्यर्थना।

प्रान्तमें मतिमंदता, शीघ्रता, अनुपयोग आदिके कारण श्री सर्वज्ञकथित कथनसे कोई भी विपरीत प्ररूपणा हुई हो तथा मुद्रणकी जो कुछ अशुद्धियाँ रह पाई हों उसका श्रीसंघके समक्ष त्रिविध रूपमें क्षमायाचनाके साथ मिच्छामिदुकुडं चाहता हूँ और मेरी अपनी क्षतियोंका निर्देशन करनेकी पाठकोंसे विनम्र विनती करता हूँ । [३४९]

(मूल गाथा २७४—प्रक्षेप गाथा ७५, संपूर्ण गाथामान=३४९)

यहाँ महान् संग्रहणी ग्रन्थका भाषान्तर समाप्त होता है



पूर्ति—

जैन गणितानुसार एक अंगुलके इंच तथा एक योजनके मील कितने होते हैं ?

जैन शास्त्रोंमें गणितकी एक स्वतंत्र पद्धति है । इसमें मापके विशिष्ट पारिभाषिक शब्द भी आयोजित हैं । उस पारिभाषिक गणितानुसार अंगुल या योजन आदि मापके इंच, योजन आदि कितने होते हैं इसकी समझ यहाँ दी गई है । यद्यपि योजन किसे कहा जाए ? इसके बारेमें अनेक विसंवाद प्रवर्तित हैं ।

वर्तमान विश्वमें विदेशी चिद्धानों—विज्ञानियोंने पिछले सैकड़ों सालोंसे भौगोलिक तथा खागोलिक पदार्थोंकी ऊँचाई—नीचाई की कक्षा निश्चित करनेको समुद्री तल अर्थात् सी—लेवल को ध्रुव बनाया । क्योंकि माप निश्चित करनेको कोई भी एक स्थान निश्चित न हो तो गिनती किससे सम्बन्धित करें ?

जिस तरह आम तौर पर सी—लेवल निश्चित हुआ है उसी तरह जैन शास्त्रकारोंने अपने त्रैलोक्यवर्ती पदार्थोंके मापके लिए (प्रायः शाश्वता) समभूतला शब्दसे परिचित स्थानको ध्रुव मध्यबिन्दु निश्चित किया है यह स्थान हमारी इस धरतीके नीचे है, परिचय हेतु इस ग्रन्थके पृष्ठ १०० से १०३ देखिये ।

इस युगमें अति तीव्र गतिसे आगेरूच करते हुए विज्ञानके मापके साथ अपनी गणनाकी तुलना करनेकी तीव्र जिज्ञासा अभ्यासियोंको होती है अतः अत्यावश्यक सूचि नीचे दी गई है ।

जैन गणितके हिसाबसे ४०० कोस का एक योजन निश्चित हुआ है । वर्तमान गणितकी परिभाषामें इस योजनका विभाजन मीलमें करें तो सूक्ष्म गणनाके हिसाबसे ३६३६.३६ मील होते हैं और स्थूल गणना करें तो ३६०० मील हों । ज्योतिषचक्र के मापोंको मीलमें परिवर्तित करना हो तो सूक्ष्म गणना के लिए ३६३६.३६ से तथा स्थूलके लिए ३६०० से गुननेसे इष्ट संख्या प्राप्त होती है ।

ज्योतिषचक्रके माप, मीलोंने हिसाबसे किस प्रकार हैं इसे प्रथम देखें

व्यवहारमें चार कोसका १ योजन होता है । शास्त्रीय व्यवहारमें ४०० कोसका १ योजन होता है । ऐसे एक योजन की मीलोंने हिसाबसे सूक्ष्म गिनती करें तो ३६३६.३६ मील होते हैं और स्थूल गिनती करें तो ३६०० मील होते हैं । ज्योतिष—चक्रके मापों के मीलकी सूक्ष्म गिनती ३६३६.३६ से तथा स्थूल गिनती ३६००से गुननेसे इष्ट संख्या उपलब्ध होती है ।

तारेकी ऊँचाई	७९० यो०	मील प्रमाण	२८,४४,०००
सूर्यकी	८०० यो०	"	२८,८०,०००
चंद्रकी	८८० यो०	"	३१,६८,९००
नक्षत्रोंकी	८८४ यो०	"	३१,८२,४००
बुधकी	८८८ यो०	"	३१,९६,८००
शुक्रकी	८९१ यो०	"	३२,०७,६००
गुरुकी	८९४ यो०	"	३२,१८,४००
मंगलकी	८९७ यो०	"	३२,२९,२००
शनिकी	९०० यो०	"	३२,४०,०००

स्थूल गणितकी गणनासे (लगभग) ३६०० मील का एक योजन प्रमाण निश्चित किया जाता है, यह ऊपर बताया गया है। लेकिन अगर सूक्ष्म गणना अनुसार चौकस माप निकाला जाय तो ३६३६.३६ मील प्रमाण होता है। इस प्रमाणानुसार गिननेसे तारे के २,८७,२७२/४० मील, सूर्यके २९,०९,०८८/०० मील, चंद्रके ३१,९९,९६०/८० मील होते हैं। इस तरह अन्य गणना भी कर लें !

शास्त्रीय मापोंकी इंच, मील आदि में तुलना

सूचि—जैन गणितशास्त्रमें महत्त्वपूर्ण तीन माप बताये हैं। १. उत्सेधांगुल २. प्रमाणांगुल और ३. आत्मांगुल। इन शास्त्रीय मापोंकी वर्तमान प्रचलित मापके साथ किस प्रकार तुलना की है यह नीचे बताया है।

उत्सेधांगुलसे तुलना

- १ उत्सेधांगुल अर्थात् लगभग १ $\frac{१}{३}$ इंच
- १ उत्सेधांगुल हाथ अर्थात् लगभग १७ से १८ इंच
- १ " कोस " " २ $\frac{१}{३}$ मील
- १ " योजन " " ९ मील

प्रमाणांगुलसे तुलना

- १ प्रमाणांगुल अर्थात् ४०० उत्सेधांगुल
- १ प्रमाणांगुल योजन अर्थात् १६०० कोस
- १६०० कोसके मील लगभग ३६००

- * ५०० धनुषके हाथ एक हजार होते हैं । नियमानुसार दो हजार हाथके ४८ हजार अंगुल होते हैं ।
- * भगवान श्री महावीर प्रभुजीकी काया १२० अंगुलकी थी । भगवान आत्मांगुलसे अर्थात् अपनी कायाके अंगुलके मापसे पाँच हाथके थे । इन पाँच हाथके अंगुल (५×२४ अंगुलसे गुननेसे) १२० होते हैं । इस तरह १२० का मेल हो जाता है ।

दिगम्बर जैन ग्रन्थका आधार क्या कहता है ?

- * हम श्वेताम्बर शास्त्रके माननेवाले हैं । लेकिन अन्य दिगम्बर ग्रन्थोंमें श्वेताम्बरसे थोड़ा फर्क है । हम ४०० गुने उत्सेधांगुलको एक प्रमाणांगुल मानते हैं जबकि दिगम्बर ५०० गुने उत्सेधांगुलको एक प्रमाणांगुल मानते हैं । उनकी सूक्ष्म गणनामें १ योजनके ४५४५.४५ मील होते हैं ।
- * दिगम्बर मतसे भगवान महावीरकी काया आत्मांगुलसे ४ हाथकी अर्थात् ($४ \times २४ = ९६$) अंगुलकी होती है ।

श्वेताम्बर मतसे स्थूल गणनासे उपर बताया गया है कि एक योजनके मील ३६०० होते हैं जबकि दिगम्बर मतकी स्थूल गणना से १ योजनके ४५०० मील होते हैं । लेकिन इस मापकी बराबर सूक्ष्म गणना करें तो ४५४५.४५ मील होंगे ।

—समाप्त—

श्री शत्रुंजयगिरिविराय नमः
मुद्रण समाप्त वि. सं. २०४६

